

Chapter एक

मुनियों की जिज्ञासा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे प्रभु; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव (वसुदेव-पुत्र) या आदि भगवान् श्रीकृष्ण को; जन्म-आदि—उत्पत्ति, पालन तथा संहार; अस्य—प्रकट ब्रह्माण्डों का; यतः—जिनसे; अन्वयात्—प्रत्यक्ष रूप से; इतरतः—अप्रत्यक्ष रूप से; च—तथा; अर्थेषु—उद्देश्यों में; अभिज्ञः—पूर्ण रूप से अवगत; स्व-राट्—पूर्णरूप से स्वतन्त्र; तेने—प्रदान किया; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान; हृदा—हृदय की चेतना; यः—जो; आदि-कवये—प्रथम सर्जित जीव के लिए; मुह्यन्ति—मोहित होते हैं; यत्—जिनके विषय में; सूरयः—बड़े-बड़े मुनि तथा देवता; तेजः—अग्नि; वारि—जल; मृदाम्—पृथ्वी; यथा—जिस प्रकार; विनिमयः—क्रिया-प्रतिक्रिया; यत्र—जहाँ पर; त्रि-सर्गः—सृष्टि के तीन गुण, सृष्टिकारी शक्तियाँ; अमृषा—सत्यवत्; धाम्ना—समस्त दिव्य सामग्री के साथ; स्वेन—अपने से; सदा—सदैव; निरस्त—अनुपस्थिति के कारण त्यक्त; कुहकम्—मोह को; सत्यम्—सत्य को; परम्—परम; धीमहि—मैं ध्यान करता हूँ।

हे प्रभु, हे वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण, हे सर्वव्यापी भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। मैं भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करता हूँ, क्योंकि वे परम सत्य हैं और व्यक्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के समस्त कारणों के आदि कारण हैं। वे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सारे जगत से अवगत रहते हैं और वे परम स्वतंत्र हैं, क्योंकि उनसे परे अन्य कोई कारण है ही नहीं। उन्होंने ही सर्वप्रथम आदि जीव ब्रह्माजी के हृदय में वैदिक ज्ञान प्रदान किया। उन्हीं के कारण बड़े-बड़े मुनि तथा देवता उसी तरह मोह में पड़ जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि में जल या जल में स्थल देखकर कोई माया के द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है। उन्हीं के कारण ये सारे भौतिक ब्रह्माण्ड, जो प्रकृति के तीन गुणों की प्रतिक्रिया के कारण अस्थायी रूप से प्रकट होते हैं, वास्तविक लगते हैं जबकि ये अवास्तविक होते हैं। अतः मैं उन भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करता हूँ, जो भौतिक जगत के भ्रामक रूपों से

सर्वथा मुक्त अपने दिव्य धाम में निरन्तर वास करते हैं। मैं उनका ध्यान करता हूँ, क्योंकि वे ही परम सत्य हैं।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव को नमस्कार करना प्रत्यक्ष रूप से वसुदेव तथा देवकी के दिव्य पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण को इंगित करता है। इस तथ्य की अधिकाधिक व्याख्या इस ग्रंथ में सुस्पष्ट रूप से की जाएगी। यहाँ पर श्री व्यासदेव दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही आदि भगवान् हैं और अन्य सभी रूप उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पूर्ण अंश या अंशांश हैं। श्रील जीव गोस्वामी ने अपनी कृती *कृष्ण-सन्दर्भ* में इस विषय की विशद व्याख्या की है और आदि जीव ब्रह्मा ने अपने ग्रन्थ *ब्रह्म-संहिता* में श्रीकृष्ण विषयक यथेष्ट व्याख्या की है। *सामवेद* उपनिषद् में भी बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण देवकी के दिव्य पुत्र हैं। इसीलिए इस स्तुति का यह पहला कथन बताता है कि भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं। यदि परम भगवान् किसी दिव्य नाम से जाने जा सकते हैं, तो वह कृष्ण शब्द ही होना चाहिए जिसका अर्थ है सर्वाकर्षक। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कई स्थलों पर स्वयं को आदि भगवान् घोषित किया है और इसकी पुष्टि अर्जुन के द्वारा तथा नारद, व्यास आदि बड़े-बड़े मुनियों द्वारा भी की गई है। *पद्म पुराण* में यह भी कहा गया है कि भगवान् के असंख्य नामों में से कृष्ण नाम सर्वप्रमुख है। वासुदेव नाम भगवान् के पूर्ण अंश का सूचक है और भगवान् के अन्य सभी रूप, जो वासुदेव से अभिन्न हैं, इस ग्रन्थ में बताये गये हैं। वासुदेव नाम विशिष्ट रूप से वसुदेव तथा देवकी के दिव्य पुत्र का सूचक है। संन्यासियों में सिद्ध *परमहंसों* द्वारा श्रीकृष्ण का ध्यान सदा ही किया जाता है।

वासुदेव अथवा भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं। जितनी भी वस्तुओं का अस्तित्व है, वे सभी भगवान् से ही उद्भूत हैं। ऐसा किस तरह है, इसकी व्याख्या इस ग्रंथ के अगले अध्यायों में की गई है। महाप्रभु श्री चैतन्य ने इस ग्रन्थ को निर्मल पुराण कहा है, क्योंकि इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य आख्यान है। *श्रीमद्भागवत* का इतिहास भी अत्यन्त महिमा-मय है। इसका संकलन श्री व्यासदेव ने दिव्य ज्ञान में परिपक्वता प्राप्त करने के पश्चात् किया। उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु श्री नारदजी के अनुदेशों के अंतर्गत इसकी रचना की। व्यासदेव ने समस्त

वैदिक वाङ्मय का संकलन किया जिसमें चारों वेद, वेदान्त सूत्र (या ब्रह्म सूत्र), पुराण, महाभारत इत्यादि सम्मिलित हैं। किन्तु वे इतने पर भी संतुष्ट नहीं हुए। जब उनके गुरु नारद ने उनके इस असंतोष को देखा, तो उन्होंने उनको भगवान् कृष्ण के दिव्य कार्यकलापों के विषय में लिखने का उपदेश दिया। ये दिव्य कार्यकलाप इस ग्रन्थ के दशम स्कंध में विशेष रूप से वर्णित हैं। किन्तु इसका सार-तत्त्व प्राप्त करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे-धीरे ज्ञान विकसित करके क्रमशः आगे बढ़े।

यह स्वाभाविक है कि चिन्तनशील मनुष्य सृष्टि का उद्गम जानना चाहता है। रात्रि में वह आकाश में तारों को देखता है और स्वाभाविक है कि वह उनके निवासियों के विषय में कल्पनाएँ करता है। ऐसी जिज्ञासा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, क्योंकि उसकी चेतना विकसित है, जो पशुओं की तुलना में उच्च है। श्रीमद्भागवतम् के रचयिता ऐसी जिज्ञासाओं का सीधा उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त सृष्टियों के उद्गम हैं। वे न केवल ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, वरन् उसके संहर्ता भी हैं। इस दृश्य जगत की उत्पत्ति भगवान् की इच्छा से किसी काल में होती है, कुछ काल तक इसका परि-पालन होता है और तब उनकी ही इच्छा से इसका संहार हो जाता है। अतएव समस्त जागतिक कार्यों के पीछे उनकी परम इच्छा रहती है। निस्सन्देह, ऐसे अनेक नास्तिक हैं जो स्रष्टा पर विश्वास नहीं करते, किन्तु वे अल्पज्ञान के कारण ऐसा करते हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञानी ने अन्तरिक्ष उपग्रह बनाये हैं, जिन्हें किसी-न-किसी युक्ति से बाह्य आकाश में प्रक्षिप्त किया जाता है और दूर बैठे विज्ञानी के निर्देश से ये कुछ काल तक आकाश में उड़ते रहते हैं। इसी प्रकार असंख्य तारों तथा ग्रहों से युक्त सारे ब्रह्माण्ड भगवान् की बुद्धि द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

वैदिक साहित्य में यह कहा गया है कि परम सत्य, पुरुषोत्तम भगवान् समस्त पुरुषों में प्रधान हैं। प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा से लेकर एक छोटी-से-छोटी चींटी तक सारे जीव ही जीव हैं। ब्रह्मा से ऊपर भी अपनी अपनी क्षमताओं वाले अन्य व्यक्तित्व हैं और भगवान् भी ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। जिस तरह अन्य जीव व्यक्ति हैं, उसी तरह भगवान् भी एक व्यक्ति हैं। किन्तु परमेश्वर या परम

पुरुष में उत्कृष्टतम बुद्धि होती है और उनमें विभिन्न प्रकार की श्रेष्ठतम अचिन्त्य शक्तियाँ होती हैं। यदि मनुष्य का मस्तिष्क अन्तरिक्ष-उपग्रह बना सकता है, तब तो कोई भी बहुत आसानी से कल्पना कर सकता है कि मनुष्य से उच्चतर कोटि का मस्तिष्क ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ बना सकता है जो कहीं अधिक श्रेष्ठ हों। विचारवान व्यक्ति इस तर्क को आसानी से स्वीकार कर लेगा, किन्तु कुछ ऐसे कट्टर नास्तिक होते हैं, जो इससे कभी सहमत नहीं होंगे। श्रील व्यासदेव परम बुद्धिमान को परमेश्वर रूप में पूरी तरह स्वीकार करते हैं और इस परम बुद्धिमान को *पर, परमेश्वर* या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में सम्बोधित करते हुए नमस्कार करते हैं। यह *परमेश्वर* श्रीकृष्ण ही हैं जैसाकि व्यासदेव ने *भगवद्गीता* में तथा अपने अन्य शास्त्रों में और विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में स्वीकार किया है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनसे बढ़कर कोई *परतत्त्व* या अन्तिम लक्ष्य नहीं है। इसीलिए श्री व्यासदेव तुरन्त उन *परतत्त्व* श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं जिनकी दिव्य लीलाओं का वर्णन दशम स्कंध में हुआ है।

निष्ठाहीन व्यक्ति सीधे दशम स्कंध में और विशेषकर उन पाँच अध्यायों में पहुँच जाते हैं, जिनमें भगवान् की रासलीला का वर्णन है। *श्रीमद्भागवत* का यह अंश इस महान ग्रन्थ का गुह्यतम अंश है। जब तक किसी को भगवान् का पूरा-पूरा दिव्य ज्ञान प्राप्त न हो ले, तब तक वह भगवान् की पूज्य दिव्य लीलाओं को, जिन्हें *रास-नृत्य* कहा जाता है, तथा गोपियों के साथ उनके प्रेम व्यवहार को ठीक से समझ नहीं सकता। यह विषय अत्यन्त आध्यात्मिक है। केवल ऐसे मुक्त पुरुष, जिन्होंने क्रमशः परमहंस अवस्था प्राप्त कर ली है, इस *रास-नृत्य* का दिव्य आस्वादन कर सकते हैं। अतः श्रील व्यासदेव पाठक को अवसर प्रदान करते हैं कि भगवान् की लीलाओं के सार का आस्वादन करने के पूर्व वे धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार का विकास करें। इसीलिए वे जान बूझकर गायत्री मन्त्र *ध्रीमहि* का आवाहन करते हैं। यह गायत्री मन्त्र अध्यात्म में बढ़े-चढ़े व्यक्तियों के निमित्त है। जब कोई गायत्री मन्त्र का उच्चारण करने में सफल हो जाता है, तब वह भगवान् की दिव्य स्थिति तक प्रवेश पा सकता है। अतः गायत्री मन्त्र के सफल जप के लिए

मनुष्य में ब्राह्मण जैसे गुणों का समावेश होना चाहिए या फिर उसे पूर्ण रूप से सतोगुणी होना चाहिए। तभी वह भगवान् के नाम, यश, गुणों आदि की दिव्य अनुभूति प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भगवत भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा प्रदर्शित उनके स्वरूप का आख्यान है और यह अन्तरंगा शक्ति हमारे अनुभवगम्य दृश्य जगत को उत्पन्न करने वाली बहिरंगा शक्ति से भिन्न होती है। श्रील व्यासदेव ने इस श्लोक में इन दोनों शक्तियों में अन्तर स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि प्रकट अन्तरंगा शक्ति वास्तविक है, जब कि भौतिक जगत के रूप में प्रकट होने वाली बहिरंगा शक्ति अनित्य है और मृग-मरीचिका जैसी है। मृग-मरीचिका में वास्तविक जल नहीं रहता, केवल जल का आभास रहता है। वास्तविक जल तो कहीं अन्यत्र रहता है। यह दृश्य जगत एक वास्तविकता जैसा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविकता तो आध्यात्मिक जगत में होती है और यह तो उसकी छाया (प्रतिबिम्ब) मात्र है। परम सत्य तो वैकुण्ठलोक (चिदाकाश) में हैं, भौतिक आकाश में नहीं। भौतिक आकाश में प्रत्येक वस्तु सापेक्ष सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक सत्य किसी अन्य पर आश्रित होता है। यह दृश्य जगत प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया से बनता है और यह अनित्य जगत बद्धजीव के मोहग्रस्त मन को वास्तविकता का भ्रम प्रस्तुत करने वाला होता है। बद्धजीव अनेकानेक योनियों में प्रकट होते हैं जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र जैसे उच्चतर देवता भी सम्मिलित हैं। यथार्थ में प्रकट जगत में कोई वास्तविकता नहीं है। किन्तु यह वास्तविक जैसा प्रतीत होता है। वास्तविकता का अस्तित्व तो वैकुण्ठलोक में है, जहाँ पुरुषोत्तम भगवान् अपनी दिव्य सामग्री के साथ नित्य विद्यमान रहते हैं।

किसी जटिल निर्माण कार्य का मुख्य इंजीनियर निर्माण-कार्य में स्वयं भाग नहीं लेता, किन्तु वह इसके कोने-कोने से परिचित रहता है, क्योंकि सारा कार्य उसी के निर्देशन में सम्पन्न होता है। वह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से निर्माण-कार्य के विषय में हर बात जानता है। इसी प्रकार, भगवान् भी इस दृश्य जगत के सर्वोपरि अभियन्ता होने के कारण इसके कोने-कोने से परिचित हैं, यद्यपि सारे कार्य देवताओं द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इस भौतिक सृष्टि में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक कोई भी स्वतंत्र नहीं है। हर स्थान पर भगवान् का हाथ देखने में आता है। सभी

भौतिक तत्त्वों के साथ-साथ आध्यात्मिक स्फुलिंगो का उद्भव उन्हीं से होता है। इस भौतिक जगत में और जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह भौतिक तथा आध्यात्मिक (अपरा तथा परा) शक्तियों की ही अन्तःक्रियाओं से होता है, जो परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से उद्भूत होती हैं। एक रसायन-शास्त्री अपनी प्रयोगशाला में बैठे-बैठे हाइड्रोजन तथा आक्सीजन मिलाकर जल उत्पन्न कर सकता है। किन्तु वास्तव में जीव तो परमेश्वर के निर्देशानुसार प्रयोगशाला में कार्य करता है और वह रसायनवेत्ता जिन सामग्रियों से कार्य सम्पन्न करता है, वे भगवान् द्वारा प्रदान की गई हैं। भगवान् प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक वस्तु को जानते हैं तथा वे सभी सूक्ष्म बातों को जानने वाले हैं तथा सम्पूर्ण स्वतन्त्र हैं। उनकी तुलना सोने की खान से की जा सकती है, जबकि विभिन्न रूपों वाले दृश्य जगत की तुलना सोने से बनी विविध वस्तुओं से की जा सकती है, जैसे सोने की अँगूठी, हार इत्यादि। सोने की अँगूठी तथा सोने के हार के गुण खान में पाये जाने वाले सोने के ही समान होते हैं, किन्तु खान का सोना परिमाण में भिन्न है। अतः परम सत्य एक ही है और साथ ही साथ भिन्न भी है। परम सत्य के तुल्य पूरी तरह से कुछ भी नहीं है, किन्तु साथ ही, परम सत्य से स्वतन्त्र भी कुछ नहीं है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शिल्पी ब्रह्मा से लेकर एक नगण्य चींटी तक सारे बद्धजीव सृजन का कार्य करते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी परमेश्वर से स्वतन्त्र नहीं है। भौतिकतावादी व्यक्ति व्यर्थ ही सोचता है कि उसके अतिरिक्त कोई अन्य स्रष्टा नहीं है। यह *माया* या भ्रम कहलाता है। अल्पज्ञान के कारण भौतिकतावादी अपनी अपूर्ण इन्द्रियों के परे देख नहीं पाता और इस प्रकार से वह सोचता है कि पदार्थ, किसी श्रेष्ठ बुद्धि के बिना ही, स्वतः आकार ग्रहण करता है। किन्तु श्रील व्यासदेव ने इस श्लोक में इसका खंडन किया है, “चूँकि परम पूर्ण या परम सत्य प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं, अतः परम सत्य के शरीर से स्वतन्त्र कोई भी वस्तु नहीं हो सकती है।” देह के साथ जो कुछ घटित होता है, वह देही को तुरन्त ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार यह सृष्टि उस परम पूर्ण का शरीर है, अतः इस सृष्टि में जो कुछ घटित होता है उसे वे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं।

श्रुति मन्त्र में यह भी कहा गया है कि परम पूर्ण या ब्रह्म समस्त वस्तुओं का चरम उद्गम हैं। प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत है, उन्हीं के द्वारा पालित है और अन्त में उन्हीं में प्रवेश कर जाती है। यही प्रकृति का नियम है। स्मृति मन्त्र में इसी की पुष्टि की गई है। यह कहा गया है कि ब्रह्मा के कल्प के प्रारम्भ में जिस उद्गम से सारी वस्तुएँ उद्भूत होती हैं और अन्ततः जिस आगार में वे प्रवेश करती हैं, वह परम सत्य या ब्रह्म है। भौतिक विज्ञानी यह मानकर चलते हैं कि ग्रह मंडल का उद्गम सूर्य है, किन्तु वे सूर्य का उद्गम नहीं बता पाते। यहाँ पर इस चरम उद्गम की व्याख्या की गई है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार ब्रह्मा, जो सूर्य के तुल्य माने जा सकते हैं, परम स्रष्टा नहीं हैं। इस श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान भगवान् के द्वारा प्रदान किया गया। कोई चाहे तो यह तर्क कर सकता है कि प्रथम जीव होने के नाते, ब्रह्मा को प्रेरित नहीं किया जा सकता था क्योंकि उस समय कोई दूसरा व्यक्ति जिवित न था। यहाँ पर यह कहा गया है कि परमेश्वर ने गौण स्रष्टा ब्रह्मा को प्रेरित किया जिससे वे सृजन कार्य कर सकें। अतः समस्त सृष्टि के पीछे जो परम बुद्धि कार्य करती है, वह परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे ही पदार्थ की समग्रता को गठित करने वाली सर्जक शक्ति यानी प्रकृति का निरीक्षण करते हैं। अतएव श्री व्यासदेव ब्रह्मा की नहीं, अपितु परमेश्वर की पूजा करते हैं जो सृष्टि-कार्यों में ब्रह्मा का मार्गदर्शन करने वाले हैं। इस श्लोक में अभिज्ञः तथा स्वराट् शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। ये दो शब्द परमेश्वर और अन्य सभी जीवों में अन्तर बताते हैं। दूसरा कोई भी जीव अभिज्ञः अथवा स्वराट् नहीं है, अर्थात् कोई भी जीव न तो पूरी तरह जानता है, न ही पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। यहाँ तक कि सृष्टि करने के लिए ब्रह्मा को भी परमेश्वर का ध्यान करना होता है। तो फिर आइन्स्टाइन जैसे महान विज्ञानियों के विषय में क्या कहा जा सकता है? ऐसे विज्ञानियों का मस्तिष्क निश्चित रूप से किसी मनुष्य की उपज नहीं है। जब कोई विज्ञानी ऐसा मस्तिष्क नहीं बना सकता, तो फिर उन मूर्ख नास्तिकों का क्या कहना जो भगवान् की सत्ता को चुनौती देते हैं? यहाँ तक कि मायावादी निर्विशेषवादी जो अपने को भगवान् से एकाकार होने की डींग मारते रहते हैं, न तो अभिज्ञः हैं, न स्वराट्। ऐसे निर्विशेषवादी भगवान् का तादात्म्य प्राप्त करने के लिए

ज्ञानार्जन हेतु कठिन तपस्या करते हैं। किन्तु अन्ततः वे किसी ऐसे धनी शिष्य पर आश्रित हो जाते हैं, जो मठ तथा मन्दिर बनवाने के लिए उन्हें धन प्रदान करता है। रावण या हिरण्यकशिपु जैसे नास्तिकों को भगवान् की सत्ता का विरोध करने के पूर्व कठिन तपस्या करनी पड़ी थी, किन्तु अन्त में वे असहाय बन गये और जब भगवान् क्रूर मृत्यु के रूप में उनके समक्ष प्रकट हुए, तो वे अपने आपको बचा नहीं पाये। यही हाल उन आधुनिक नास्तिकों का है, जो भगवान् की सत्ता की अवमानना करते हैं। ऐसे नास्तिकों को वैसा ही दण्ड मिलेगा, क्योंकि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। जब-जब लोग ईश्वर की सत्ता की उपेक्षा करते हैं, तब-तब प्रकृति तथा उसके नियम उन्हें दण्ड देते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के इस सुप्रसिद्ध श्लोक द्वारा भी होती है—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः—जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब हे अर्जुन! में स्वयं अवतरित होता हूँ।*'' (*भगवद्गीता* ४.७)

परमेश्वर परम पूर्ण हैं, इसकी पुष्टि समस्त *श्रुति मन्त्रों* द्वारा होती है। *श्रुति मन्त्रों* में ही कहा गया है कि परम पूर्ण भगवान् ने पदार्थ के ऊपर दृष्टि फेरी तो सारे जीव उत्पन्न हो गये। ये जीव भगवान् के अंश-रूप हैं। वे ही इस विशाल भौतिक सृष्टि को आध्यात्मिक स्फुलिंग रूपी बीज से आविष्ट करते हैं और इस प्रकार सृजनात्मक शक्तियाँ चालू हो जाती हैं जिससे अनेक आश्चर्यजनक सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। नास्तिक यह तर्क कर सकता है कि ईश्वर घड़ीसाज से अधिक पटु नहीं हैं, किन्तु ईश्वर इससे अधिक पटु होते हैं, क्योंकि वे मशीनों के नर तथा मादा दोनों रूपों को उत्पन्न कर सकते हैं। फिर ये विविध नर-मादा मशीनें, ईश्वर के आदेश की प्रतीक्षा किये बिना, अपनी जैसी असंख्य मशीनें उत्पन्न करती जाती हैं। यदि मनुष्य ऐसी मशीन का जोड़ा बना सके जो उसके अनदेखे ही अन्य मशीनें उत्पन्न कर सके, तब जाकर वह ईश्वर की बुद्धि के पास पहुँच सकता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक मशीन पर अलग-अलग कार्य करना होता है। अतः ईश्वर की तरह कोई भी व्यक्ति सृजन नहीं कर सकता। ईश्वर का अन्य नाम *असमौर्ध्व* है, जिसका अर्थ है कि कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। *परं सत्यम्* वे हैं जिनके न तो कोई समतुल्य है न उनसे श्रेष्ठ। इसकी पुष्टि *श्रुति मन्त्रों* में की गई है। ऐसा कहा गया है कि इस

भौतिक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व भगवान् ही विद्यमान थे जो हर किसी के स्वामी हैं। उन्होंने ही ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान का उपदेश किया। इन्हीं भगवान् की आज्ञा सब प्रकार से पालनीय है। जो कोई भव-बन्धन से छूटना चाहता है, उसे उनकी शरण में जाना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी की गई है।

जब तक मनुष्य परमेश्वर के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक उसका मोहग्रस्त होना निश्चित है। जब कोई बुद्धिमान पुरुष कृष्ण के चरणारविन्द की शरण ग्रहण करके कृष्ण को समस्त कारणों का कारण मान लेता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में भी कहा गया है, तभी वह व्यक्ति *महात्मा* बन सकता है। किन्तु ऐसे महात्मा यदा-कदा ही दिखते हैं। केवल ऐसे महात्मा समझ सकते हैं कि भगवान् ही समस्त सृष्टियों के आदि कारण हैं। वे *परम* या परम सत्य हैं, क्योंकि अन्य सारे सत्य उनसे जुड़े हुए हैं। वे सर्वज्ञ हैं। उनके लिए कोई मोह नहीं होता।

कुछ मायावादी विद्वान तर्क करते हैं कि *श्रीमद्भागवत* की रचना श्री व्यासदेव ने नहीं की और इन्हीं में कुछ लोग अपने विचार रखते हैं कि यह ग्रन्थ आधुनिक रचना है और वोपदेव नामक किसी व्यक्ति ने लिखा है। ऐसे व्यर्थ के तर्कों का खण्डन करते हुए श्री श्रीधर स्वामी कहते हैं कि कई प्राचीनतम पुराणों में *भागवतम्* का उल्लेख हुआ है। *भागवत* का पहला श्लोक गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ होता है। इसका उल्लेख प्राचीनतम पुराण, *मत्स्य पुराण* में है। उस पुराण में *भागवत* में आये गायत्री मन्त्र का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि आध्यात्मिक उपदेशों से युक्त अनेक कथाएँ हैं जो गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ होती हैं और उसमें वृत्रासुर का इतिहास दिया गया है। यह भी उल्लेख है कि जो कोई पूर्णमासी के दिन इस महान ग्रन्थ का दान करता है उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है और वह भगवान् के धाम वापस जाता है। अन्य पुराणों में भी *भागवत* का सन्दर्भ आया है, जिसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि यह ग्रंथ बारह स्कन्धों में पूर्ण हुआ है, जिसमें अठारह हजार श्लोक हैं। *पद्म पुराण* में भी गौतम तथा महाराज अम्बरीष की वार्ता में *भागवत* का उल्लेख हुआ है। वहाँ पर राजा को उपदेश दिया गया है कि यदि वे भवबन्धन से मोक्ष चाहते हैं, तो नियमित रूप से *श्रीमद्भागवत* का पाठ करें। ऐसी परिस्थितियों

के अन्तर्गत *भागवत* की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। विगत पाँच सौ वर्षों में अनेक प्रकाण्ड विद्वानों तथा आचार्यों, यथा जीव गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु के पश्चात् भी अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने *भागवत* पर विशद टीकाएँ की हैं। ऐसे में गम्भीर अध्येता को चाहिए कि दिव्य उपदेशों के अधिक आस्वादन के लिए इन सबका अध्ययन करे।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने मौलिक तथा शुद्ध यौन-मनोविज्ञान (आदि-रस) की विशेष विवेचना की है, जो समस्त भौतिक उन्माद से रहित है। यह सारी भौतिक सृष्टि विषयी जीवन के सिद्धान्त के आधार पर गतिशील है। आधुनिक सभ्यता में विषयी जीवन ही सारे कार्यकलापों का केन्द्रबिन्दु है। जिधर भी कोई अपना मुख मोड़ता है, उधर उसे विषयी जीवन का प्राधान्य देखने को मिलता है। अतः विषयी जीवन अवास्तविक नहीं है। इसकी वास्तविकता आध्यात्मिक जगत में अनुभव की जाती है। भौतिक विषयी जीवन तो मौलिक तथ्य का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है। वास्तविक तथ्य तो परम सत्य में है, अतः परम सत्य कभी निराकार नहीं हो सकता। निराकार रहते हुए शुद्ध यौन जीवन रख पाना सम्भव नहीं है। फलस्वरूप निर्विशेषवादी चिन्तकों ने गर्हित सांसारिक विषयी जीवन को अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया है, क्योंकि उन्होंने परम सत्य की निराकारता (निर्विशेषता) पर अत्यधिक बल दिया है। इसीलिए काम के वास्तविक आध्यात्मिक रूप को न जानने के कारण, मनुष्यों ने विकृत भौतिक विषयी जीवन को ही सब कुछ मान रखा है। रुग्ण भौतिक अवस्था के विषयी जीवन तथा आध्यात्मिक विषयी जीवन में अन्तर है।

यह *श्रीमद्भागवत* पूर्वा ग्रहरहित पाठक को धीरे-धीरे अध्यात्म की पूर्णवस्था तक ले जाने वाला है। यह मनुष्य को भौतिक कार्यों के तीन प्रकार—सकाम कर्म, काल्पनिक दर्शन तथा कार्यकारी देवताओं की पूजा से ऊपर उठाने में सक्षम बनाएगा जिनका विधान वैदिक श्लोकों में है।

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
 वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
 श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
 सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिकता; प्रोज्झित—पूर्ण रूप से अस्वीकृत; कैतवः—सकाम विचार से प्रच्छन्न; अत्र—यहाँ; परमः—सर्वोच्च; निर्मत्सराणाम्—शतप्रतिशत शुद्ध हृदय वालों के; सताम्—भक्तों को; वेद्यम्—जानने योग्य; वास्तवम्—वास्तविक; अत्र—यहाँ; वस्तु—वस्तु, चीज; शिवदम्—कल्याण; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उन्मूलनम्—समूल नष्ट करना; श्रीमत्—सुन्दर; भागवते—भागवत पुराण में; महा-मुनि—महामुनि (व्यासदेव) द्वारा; कृते—संग्रह किया गया, रचना की गई; किम्—क्या है; वा—आवश्यकता; परैः—अन्य; ईश्वरः—परमेश्वर; सद्यः—तुरन्त; हृदि—हृदय में; अवरुध्यते—टढ़ हो गया; अत्र—यहाँ; कृतिभिः—पवित्र व्यक्तियों द्वारा; शुश्रूषुभिः—संस्कार द्वारा; तत्-क्षणात्—अविलम्ब ।

यह भागवत पुराण, भौतिक कारणों से प्रेरित होने वाले समस्त धार्मिक कृत्यों को पूर्ण रूप से बहिष्कृत करते हुए, सर्वोच्च सत्य का प्रतिपादन करता है, जो पूर्ण रूप से शुद्ध हृदय वाले भक्तों के लिए बोधगम्य है। यह सर्वोच्च सत्य वास्तविकता है जो माया से पृथक् होते हुए सबों के कल्याण के लिए है। ऐसा सत्य तीनों प्रकार के संतापों को समूल नष्ट करने वाला है। महामुनि व्यासदेव द्वारा (अपनी परिपक्वावस्था में) संकलित यह सौंदर्यपूर्ण भागवत ईश्वर-साक्षात्कार के लिए अपने आप में पर्याप्त है। तो फिर अन्य किसी शास्त्र की क्या आवश्यकता है? जैसे जैसे कोई ध्यानपूर्वक तथा विनीत भाव से भागवत के सन्देश को सुनता है, वैसे वैसे ज्ञान के इस संस्कार (अनुशीलन) से उसके हृदय में परमेश्वर स्थापित हो जाते हैं।

तात्पर्य : धर्म में चार मूल विषय सम्मिलित हैं—पुण्य कर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतुष्टि तथा भवबन्धन से मोक्ष। अधार्मिक जीवन बर्बर अवस्था है। वस्तुतः मानव जीवन का समारम्भ धर्म के सूत्रपात से होता है। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—ये पशु जीवन के चार नियम (लक्षण) हैं। ये चारों पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से लागू होते हैं। किन्तु मनुष्यों में एक अतिरिक्त कार्य धर्म होता है। धर्म के बिना मनुष्य-जीवन पशु जीवन से ज्यादा अच्छा नहीं है।

अतः प्रत्येक मानव समाज में धर्म का कोई न कोई रूप पाया जाता है, जिसका उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार है और जो ईश्वर के साथ मनुष्य के शाश्वत सम्बन्ध को बताने वाला है।

मानव सभ्यता की निम्नतर अवस्थाओं में भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने के लिए सदैव होड़ लगी रहती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है। ऐसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्य धर्म की ओर मुड़ता है। इस तरह वह कुछ भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए पुण्य कर्म या धार्मिक कार्य करता है। किन्तु यदि ऐसे भौतिक लाभ अन्य साधनों से प्राप्त हो जाते हैं, तो तथाकथित धर्म उपेक्षित हो जाता है। आधुनिक सभ्यता का यही हाल है। मनुष्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होता जा रहा है अतः वर्तमान समय में वह धर्म में अधिक रुचि नहीं लेता। गिरजाघर, मसजिदें या मन्दिर एक तरह से अब निर्जन हैं। लोगों की रुचि अपने पूर्वजों द्वारा बनाए गये धार्मिक स्थलों में न होकर फैक्ट्रियों, दुकानों तथा सिनेमाघरों की ओर अधिक है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म का आचरण किसी न किसी आर्थिक लाभ के लिए ही किया जाता है। आर्थिक लाभ की आवश्यकता इन्द्रियतृप्ति के लिए पड़ती है। प्रायः इन्द्रियतृप्ति की खोज से ऊब कर मनुष्य मोक्ष की ओर मुड़ता है और परमेश्वर से तदाकार होने का प्रयत्न करता है। फलस्वरूप, ये सारी दशाएँ केवल इन्द्रियतृप्ति के विभिन्न प्रकार बन जाती हैं।

वेदों में उपर्युक्त चारों कर्मों की संस्तुति नियामक के रूप में की गई है, जिससे इन्द्रियतृप्ति के लिए अनावश्यक स्पर्धा उत्पन्न न हो। किन्तु *श्रीमद्भागवत* इन्द्रियतृप्ति सम्बन्धी इन सब कर्मों से परे है। यह नितान्त दिव्य साहित्य है, जो उन्हीं शुद्ध भगवद्भक्तों द्वारा समझा जा सकता है, जो स्पर्धात्मक इन्द्रियतृप्ति से परे रहते हैं। इस भौतिक जगत में पशु तथा पशु, मनुष्य तथा मनुष्य, समाज तथा समाज और राष्ट्र तथा राष्ट्र के मध्य तीक्ष्ण स्पर्धा चल रही है। लेकिन भगवान् के भक्त ऐसी स्पर्धा से बहुत ऊपर रहते हैं। वे भौतिकतावादी व्यक्ति से स्पर्धा नहीं करते, क्योंकि वे भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग पर होते हैं, जहाँ जीवन शाश्वत तथा आनन्दमय होता है। ऐसे अध्यात्मवादी द्वेषरहित और शुद्ध हृदय वाले होते हैं। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति

से ईर्ष्या करता है, अतएव स्पर्धा चलती रहती है। लेकिन भगवान् के दिव्य भक्त न केवल भौतिक ईर्ष्या-द्वेष से रहित होते हैं, अपितु सबका कल्याण चाहते हैं और वे ईश्वर को केन्द्र मानकर एक स्पर्धारहित समाज स्थापित करने का प्रयास करते रहते हैं। स्पर्धारहित समाज की वर्तमान समाजवादी विचारधारा कृत्रिम है, क्योंकि उसमें तानाशाह के पद के लिए स्पर्धा चलती है। वेदों की दृष्टि से या सामान्य जन के क्रियाकलापों की दृष्टि से, इन्द्रियतृप्ति ही भौतिक जीवन का मूलाधार है। वेदों में तीन मार्ग बताये गये हैं। पहला है श्रेष्ठतर लोकों की प्राप्ति के उद्देश्य से सकाम कर्म करना। दूसरा है देवलोक जाने के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करना और तीसरा है परम सत्य तथा उनके निर्विकार पक्ष का साक्षात्कार करके उससे तदाकार होना।

किन्तु परम सत्य का निराकार पक्ष ही सर्वोत्कृष्ट नहीं है। इससे भी बढ़कर परमात्मा-स्वरूप है और इसके भी ऊपर है परम सत्य या भगवान् का साकार रूप। *श्रीमद्भागवत* परम सत्य के साकार स्वरूप के विषय में जानकारी प्रदान करता है। यह समस्त निर्विशेषवादी साहित्य तथा वेदों के ज्ञानकाण्ड विभाग से श्रेष्ठ है। यह कर्मकाण्ड विभाग तथा उपासना काण्ड विभाग से भी उच्चतर है, क्योंकि यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा का निर्देश करता है। कर्म-काण्ड में और अधिक इन्द्रियतृप्ति के लिए स्वर्ग जाने की स्पर्धा चलती है। इसी प्रकार ज्ञान-काण्ड तथा उपासना-काण्ड में भी स्पर्धा चलती है। *श्रीमद्भागवत* इन सबों से श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका लक्ष्य परम सत्य है, जो इन समस्त विभागों का मूल है। *श्रीमद्भागवत* से मूल तत्त्व तथा श्रेणियाँ दोनों जाने जा सकते हैं। यह मूल तत्त्व परम सत्य परमेश्वर हैं और अन्य सारे उद्भासन शक्ति के सापेक्ष रूप हैं।

मूल तत्त्व से अलग कुछ नहीं है, किन्तु साथ ही, सारी शक्तियाँ मूल तत्त्व से पृथक् हैं। यह विचारधारा विरोधमूलक नहीं है। *श्रीमद्भागवत वेदान्त सूत्र* के इस एक-तथा-अनेक युगपत् दर्शन (भेदाभेदवाद) को स्पष्ट रूप से घोषित करता है, जो *जन्माद्यस्य* सूत्र से प्रारम्भ होता है।

यह ज्ञान कि भगवान् की शक्ति भगवान् के साथ एक तथा उनसे भिन्न भी है, उन मनोधर्मियों पर करारी चपत है, जो इस शक्ति को परमेश्वर के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। जब यह ज्ञान

वास्तविक रूप से समझ में आ जाता है, तो अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद की धारणा अपूर्ण लगने लगती है। इस दिव्य चेतना का विकास, जो एक ही समय में एक तथा भिन्न की विचारधारा पर दीक्षित हो जाने से तीनों प्रकार के कष्टों से तुरन्त ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ये तीन प्रकार के कष्ट हैं—(१) मन तथा शरीर से उत्पन्न दुख, (२) अन्य जीवों द्वारा पहुँचाये गये दुख तथा (३) प्राकृतिक विपदाओं से उत्पन्न दुख जिन पर किसी का वश नहीं होता है। *श्रीमद्भागवत* का शुभारम्भ परम पुरुष के प्रति भक्त के आत्मसमर्पण (शरणागति) से होता है। भक्त भलीभाँति जान रहा होता है कि वह भगवान् से एक होते हुए भी उसकी स्थिती उनके नित्य दास के रूप में है। भौतिक विचारधारा के अनुसार मनुष्य झूठे ही अपने को अपने आसपास की सब चीजों का स्वामी मानता है, इसीलिए वह जीवन में तीन प्रकार के संतापों से पीड़ित रहता है। किन्तु ज्योंही उसे नित्य दास रूप में अपनी इस वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है, तो वह तुरन्त इन सभी कष्टों से मुक्त हो जाता है। जीव जब तक भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता है, तब तक वह परमेश्वर का दास नहीं बन सकता। भगवान् की सेवा मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप की विशुद्ध चेतना द्वारा की जाती है। इस सेवा से वह समस्त भौतिक अवरोधों से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

इससे भी बढ़कर, *श्रीमद्भागवत* श्री व्यासदेव द्वारा *वेदान्त-सूत्र* पर की गई व्यक्तिगत टीका है। इसका लेखन उन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन की परिपक्वावस्था में नारदजी के अनुग्रह से किया। श्री व्यासदेव भगवान् नारायण के प्रामाणिक अवतार हैं, अतः उनकी प्रामाणिकता पर किसी प्रकार का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। वे अन्य सभी वैदिक साहित्य के भी रचयिता हैं, तो भी वे *श्रीमद्भागवत* के अध्ययन को उन सबों से बढ़कर बताते हैं। अन्य पुराणों में विभिन्न विधियाँ दी गई हैं, जिनके द्वारा देवताओं की पूजा की जा सकती है। किन्तु *भागवत* में केवल परमेश्वर का उल्लेख है। परमेश्वर समग्र शरीर हैं और अन्य सारे देवता इस शरीर के विभिन्न अंग हैं। फलस्वरूप परमेश्वर की पूजा करने पर अन्य देवताओं को पूजने की आवश्यकता नहीं रहती।

परमेश्वर तुरन्त ही भक्त के हृदय में स्थित हो जाते हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *श्रीमद्भागवत* को निर्मल पुराण बताया है, अतः यह अन्य समस्त पुराणों से भिन्न है।

इस दिव्य सन्देश को ग्रहण करने की उचित विधि यह है कि इसे विनीत भाव से सुना जाय। चुनौती देने की प्रवृत्ति से इस दिव्य सन्देश को ग्रहण करने में मदद नहीं मिल सकती। यहाँ पर उचित मार्गदर्शन के लिए जो एक शब्द प्रयुक्त है, वह है *शुश्रूषु*। मनुष्य को इस दिव्य सन्देश को सुनने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। निष्ठापूर्वक सुनने (श्रवण करने) की कामना ही इसकी पहली योग्यता है।

कम भाग्यशाली व्यक्ति इस *श्रीमद्भागवत* को सुनने में बिल्कुल रुचि नहीं दिखाते। इसकी विधि सरल है, किन्तु इसे व्यवहार में लाना कठिन है। भाग्यहीन व्यक्तियों को व्यर्थ सामाजिक तथा राजनीतिक बातें सुनने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है, किन्तु जब उन्हें भक्तों की सभा में *श्रीमद्भागवत* सुनने के लिए आमन्त्रित किया जाता है, तो वे सहसा अन्यमनस्क हो उठते हैं। कभी-कभी *भागवत* के व्यवसायी कथावाचक सहसा भगवान् की गुह्य लीलाओं में पहुँच जाते हैं और उनकी व्याख्या यौन (अश्लील) साहित्य के रूप में करते हैं। *श्रीमद्भागवत* तो प्रारम्भ से सुनने के लिए निर्मित है। जो लोग इस ग्रन्थ को आत्मसात् कर सकते हैं, उनका उल्लेख इसी श्लोक में है, “कोई व्यक्ति अनेक पुण्य कर्मों के बाद *श्रीमद्भागवत* सुनने के योग्य बन पाता है।” महामुनि व्यासदेव बुद्धिमान एवं विचारवान व्यक्तियों को आश्वासन देते हैं कि *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने से उन्हें भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो सकता है। वेदों में वर्णित साक्षात्कार की विभिन्न अवस्थाओं को पार किये बिना ही, इस सन्देश को ग्रहण करने के लिए सहमत होने मात्र से, मानव परमहंस पद को तुरन्त प्राप्त कर सकता है।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निगम—वैदिक साहित्य; कल्प-तरो:—कल्पतरु का; गलितम्—पूर्णत रूप से परिपक्व; फलम्—फल; शुक—श्रीमद्भागवत के मूल वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी के; मुखात्—होठों से; अमृत—अमृत; द्रव—तरल अतएव सरलता से निगलने योग्य; संयुतम्—सभी प्रकार से पूर्ण; पिबत—पान करो; भागवतम्—भगवान् के साथ चिर सम्बन्ध के विज्ञान से युक्त ग्रन्थ को; रसम्—रस (जो आस्वाद्य है वह); आलयम्—मुक्ति प्राप्त होने तक या मुक्त अवस्था में भी; मुहुः—सदैव; अहो—हे; रसिकाः—रस का पूर्ण ज्ञान रखने वाले रसिक जन; भुवि—पृथ्वी पर; भावुकाः—पटु तथा विचारवान्।

हे विज्ञ एवं भावुक जनों, वैदिक साहित्य रूपी कल्पवृक्ष के इस पक्व फल श्रीमद्भागवत को जरा चखो तो। यह श्री शुकदेव गोस्वामी के मुख से निस्सृत हुआ है, अतएव यह और भी अधिक रुचिकर हो गया है, यद्यपि इसका अमृत-रस मुक्त जीवों समेत समस्त जनों के लिए पहले से आस्वाद्य था।

तात्पर्य : पिछले दो श्लोकों से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है कि श्रीमद्भागवत दिव्य साहित्य है, जो अपने दिव्य गुणों के कारण अन्य समस्त वैदिक शास्त्रों को पीछे छोड़ देता है। यह समस्त लौकिक कार्यकलापों तथा लौकिक ज्ञान से परे है। इस श्लोक में बताया गया है कि श्रीमद्भागवत न केवल उत्कृष्ट साहित्य है, अपितु यह समस्त वैदिक साहित्य का परिपक्व फल है। दूसरे शब्दों में, यह सभी वैदिक ज्ञान का नवनीत (सार) है। यह सब दृष्टि में रखते हुए, यह समझना चाहिए कि धैर्य एवं नम्रता से श्रवण करना निश्चित रूप से आवश्यक है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीमद्भागवत द्वारा प्रदत्त सन्देशों तथा उपदेशों को अत्यन्त आदर के साथ तथा ध्यानपूर्वक ग्रहण करे।

वेदों की तुलना कल्पवृक्ष से की गयी है, क्योंकि उनमें मनुष्य के लिए ज्ञेय सारी बातें पाई जाती हैं। उनमें सांसारिक आवश्यकताओं के साथ-साथ आध्यात्मिक साक्षात्कार का भी वर्णन हुआ है। वेदों में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सैन्य, चिकित्सीय, रासायनिक, भौतिक, पराभौतिक विषयों से सम्बद्ध ज्ञान के नियामक सिद्धान्त तथा जीवन के लिए जो भी आवश्यक है, सभी का समावेश है। इनसे भी बढ़कर, इसमें आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए विशेष निर्देश हैं। नियामक ज्ञान में जीव को क्रमशः आध्यात्मिक स्तर तक ऊपर उठाया जाता है और सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो यह जान लेना है कि भगवान् समस्त रसों के आगार हैं।

इस भौतिक जगत में उत्पन्न होने वाले प्रथम जीव ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक, सारे जीव इन्द्रियों द्वारा कोई न कोई रस प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। इन इन्द्रिय सुखों को पारिभाषिक रूप से रस कहा जाता है। ऐसे रस कई प्रकार के होते हैं। प्रामाणिक शास्त्रों में बारह रसों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—(१) रौद्र (क्रोध), (२) अद्भुत (आश्चर्य), (३) शृंगार (दाम्पत्य प्रेम), (४) हास्य (प्रहसन), (५) वीर (शौर्य), (६) दया (करुणा), (७) दास्य (दासता), (८) सख्य (मैत्रीभाव), (९) भयानक (भय), (१०) बीभत्स (आघात), (११) शान्त (उदासीनता) तथा (१२) वात्सल्य (माता पिता का स्नेह)।

इन समस्त रसों का समग्र सार स्नेह या प्रेम है। मूल रूप से प्रेम के ऐसे लक्षण उपासना, सेवा, मैत्री, वात्सल्य तथा दाम्पत्य प्रेम के रूप में प्रकट होते हैं। जब ये पाँच अनुपस्थित होते हैं, तो प्रेम अप्रत्यक्ष रूप में क्रोध, आश्चर्य, हास्य, वीरता, भय, बीभत्सता आदि में प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है, तो यह शृंगार रस हुआ। किन्तु यदि ऐसे प्रेम में बाधा पहुँचती है तो आश्चर्य, क्रोध, आघात या भय तक उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी दो व्यक्तियों के प्रेम सम्बन्धों का अन्त नृशंस हत्या में होता है। ऐसे रसों का प्रदर्शन मनुष्य तथा मनुष्य के मध्य और पशु तथा पशु के बीच प्रदर्शित होता है। इस जगत में रस का ऐसा आदान-प्रदान न तो मनुष्य तथा पशु के बीच हो पाता है, न ही मनुष्य तथा अन्य किसी योनि के साथ। ऐसे रस का आदान-प्रदान तो एक जैसी योनि के जीवों में ही होता है। किन्तु जहाँ तक आत्माओं का प्रश्न है, वे गुणात्मक रूप से परमेश्वर के समरूप हैं। इसीलिए प्रारम्भ में रसों का आदान-प्रदान आध्यात्मिक जीव (जीवात्मा) तथा आध्यात्मिक परम पूर्ण, भगवान् के साथ होता था। यह आध्यात्मिक आदान-प्रदान या रस, आध्यात्मिक जगत में जीवों तथा परमेश्वर के बीच, पूरी तरह पाया जाता है।

इसीलिए श्रुति मन्त्रों में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को “समस्त रसों का निर्झर स्रोत” कहा गया है। जब जीव परमेश्वर की संगति करता है और उनके साथ अपने स्वाभाविक रस का आदान-प्रदान करता है, तो वह सचमुच सुखी होता है।

ये श्रुति मन्त्र बताते हैं कि प्रत्येक जीव का एक स्वाभाविक स्वरूप होता है, जिसमें भगवान् के साथ एक विशिष्ट प्रकार के रस का आदान-प्रदान किया जाता है। केवल मुक्त अवस्था में इस मौलिक रस का पूर्ण रूप से अनुभव हो पाता है। भौतिक जगत में रस का अनुभव विकृत रूप में होता है जो अस्थायी होता है। इस प्रकार भौतिक जगत में रस का प्रदर्शन रौद्र (क्रोध) आदि-आदि भौतिक रूप में होता है।

अतएव जो व्यक्ति कार्यकलापों के मूल तत्त्व रूप इन विभिन्न रसों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही मूल रसों के छद्म स्वरूपों को भौतिक जगत में प्रतिबिम्बित होते समझ सकता है। विद्वान् अध्येता वास्तविक रस का उसके आध्यात्मिक रूप में आस्वादन करना चाहता है। प्रारम्भ में वह परमेश्वर से एकाकार होना चाहता है। इस प्रकार अल्पज्ञ अध्यात्मवादी, विभिन्न रसों को जाने बिना, पूर्ण आत्मा से एकाकार होने के बोध से ऊपर नहीं जा पाते।

इस श्लोक में यह निश्चित रूप से कहा गया है कि वह आध्यात्मिक रस, जिसका आस्वादन मुक्त अवस्था में भी किया जाता है, श्रीमद्भागवत के साहित्य में अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि यह वैदिक ज्ञान का पक्व फल है। इस दिव्य साहित्य का विनीत भाव से श्रवण करने पर मनुष्य मनवांछित पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकता है। किन्तु मनुष्य को इस बात में अत्यन्त सावधानी बरतनी होगी कि इस सन्देश का श्रवण सही स्रोत से किया जाए। श्रीमद्भागवत को पूर्णतया उपयुक्त स्रोत से ही प्राप्त किया गया है। इसे वैकुण्ठलोक से ले आने वाले नारद मुनि हैं, जिन्होंने इसे अपने शिष्य श्री व्यासदेव को प्रदान किया। श्री व्यासदेव ने इस संदेश को अपने पुत्र शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया और फिर उन्होंने इसे महाराज परीक्षित को उनकी मृत्यु से केवल सात दिन पूर्व प्रदान किया। श्रील शुकदेव गोस्वामी अपने जन्म से ही मुक्त आत्मा थे। यहाँ तक कि वे अपनी माता के गर्भ में ही मुक्त थे और जन्म के पश्चात् उन्हें किसी प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण नहीं करनी पड़ी। जन्म के समय कोई भी व्यक्ति न तो लौकिक दृष्टि से, न ही आध्यात्मिक दृष्टि से कुशल होता है। किन्तु पूर्ण रूप से मुक्त आत्मा होने के कारण, श्री शुकदेव गोस्वामी को आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए किसी प्रकार की विकास विधि का अनुसरण नहीं करना पड़ा।

अपितु तीनों गुणों से परे पूर्ण रूप से मुक्त पद पर स्थित रह कर भी, वे उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के इस दिव्य रस के प्रति आकर्षित हुए, जिनकी अर्चना मुक्त जीवों द्वारा वैदिक मन्त्रों से की जाती है। परमेश्वर की लीलाएँ मुक्त जीवों को, संसारी लोगों की अपेक्षा, अधिक आकर्षक लगती हैं। भगवान् किसी भी दृष्टिकोण से निराकार नहीं हैं, क्योंकि दिव्य रस की निष्पत्ति केवल व्यक्ति के साथ ही सम्भव है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन है और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने क्रमबद्ध रूप में इनका वर्णन किया है। इस प्रकार से विषय-वस्तु सभी वर्गों के मनुष्यों को भाने वाली है, चाहे वे मुक्तिकामी हों या परब्रह्म के साथ तादात्म्य की इच्छा करने वाले हों।

संस्कृत में शुक शब्द का अर्थ तोता भी होता है। जब कोई पका फल ऐसे पक्षियों की लाल चोंच से काट दिया जाता है, तो उसकी मिठास बढ़ जाती है। वैदिक फल जो ज्ञान में पूर्ण विकसित तथा पक्व है, वह श्रील शुकदेव गोस्वामी के होठों से निकला है, जिनकी तुलना तोते से की गई है, इसलिए नहीं कि उन्होंने अपने विद्वान पिता से जिस रूप में सुना था उसी रूप में सुना दिया, अपितु अपनी उस क्षमता के कारण जिसके बल पर उन्होंने इस कृति को सभी वर्गों को भाने वाले रूप में प्रस्तुत किया।

श्रील शुकदेव गोस्वामी के होठों से कथावस्तु इस प्रकार निस्सृत हुई है कि जो भी निष्ठावान श्रोता विनीत भाव से सुनता है, वह तत्काल इसके दिव्य रस का आस्वादन करता है, जो भौतिक जगत के विकृत रसों से भिन्न है। यह पक्व फल सर्वोच्च कृष्णलोक से एकाएक नहीं आ गिरा। प्रत्युत यह गुरु-शिष्य परम्परा की शृंखला से होता हुआ, सावधानी पूर्वक बिना किसी परिवर्तन या अवरोध के नीचे तक आया है। ऐसे मूर्ख लोग जो दिव्य गुरु-शिष्य परम्परा से सम्बद्ध नहीं हैं, वे रास नृत्य के सर्वोच्च दिव्य रस को, उन शुकदेव गोस्वामी के चरणचिह्नों का अनुगमन किए बिना, समझने का प्रयत्न करके भयंकर भूल करते हैं, जिन्होंने इस फल को दिव्य अनुभूति की अवस्थानुसार अत्यन्त सावधानी से प्रस्तुत किया है। मनुष्य को चाहिए कि शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुषों को ध्यान में रखकर *श्रीमद्भागवत* की स्थिति को जानें, जिन्होंने विषय का प्रतिपादन

बड़ी सावधानी से किया है। *भागवत* की यह शिष्य-परम्परा बताती है कि भविष्य में भी *श्रीमद्भागवत* को ऐसे व्यक्ति से समझा जाय, जो श्रील शुकदेव गोस्वामी का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हो। ऐसा व्यावसायिक व्यक्ति जो अवैध रूप से *भागवत* सुना कर व्यापार चलाता है, वह शुकदेव गोस्वामी का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का पेशा एकमात्र अपनी जीविका कमाना है। अतः ऐसे व्यवसायी व्यक्तियों के भाषण नहीं सुनने चाहिए। ऐसे व्यक्ति इस गम्भीर विषय को समझने की क्रमिक विधि का अभ्यास किये बिना, सीधा गुह्यतम अंशों को सुनाते हैं। वे सामान्य रूप से रास-नृत्य की कथावस्तु में गोता लगाने लगते हैं और मूर्ख किस्मके लोग इसका बुरा अर्थ लगाते हैं। कुछ लोग इसे अनैतिक बताते हैं और अन्य लोग अपनी मूर्खतापूर्ण व्याख्याओं के द्वारा इस पर पर्दा डालने का प्रयास करते हैं। उनमें श्रील शुकदेव गोस्वामी के चरणचिह्नों पर चलने की लेशमात्र इच्छा नहीं रहती।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि रस के गम्भीर छात्र को श्रील शुकदेव गोस्वामी से चली आने वाली शिष्य-परम्परा से *भागवत* का सन्देश प्राप्त करना चाहिए, जिन्होंने *भागवत* का वर्णन दिव्य विज्ञान के विषय में अल्पज्ञानी उन संसारी लोगों की तुष्टि के लिए किसी मनमाने ढंग से नहीं, अपितु शुरू से सुनियोजित ढंग से प्रारम्भ किया है। *श्रीमद्भागवत* को इतनी सावधानी से प्रस्तुत किया गया है कि निष्ठावान तथा गम्भीर व्यक्ति तुरन्त वैदिक ज्ञान के इस पक्व फल का आनन्द, शुकदेव गोस्वामी या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के मुख से निस्सृत अमृत रस का पान करके, उठा सकता है।

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।

सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नैमिषे—नैमिषारण्य नामक जंगल में; अनिमिष-क्षेत्रे—विष्णु को (जो पलक नहीं मारते) विशेष रूप से प्रिय स्थल में; ऋषयः—ऋषिगण; शौनक-आदयः—शौनक आदि; सत्रम्—यज्ञ; स्वर्गाय—स्वर्ग में जिनकी महिमा का गायन होता है ऐसे भगवान् के लिए; लोकाय—तथा भक्तों के लिए जो सदैव भगवान् के सम्पर्क में रहते हैं; सहस्र—एक हजार; समम्—वर्ष; आसत—सम्पन्न किया।

एक बार नैमिषारण्य के वन में एक पवित्र स्थल पर शौनक आदि महान ऋषिगण भगवान् तथा उनके भक्तों को प्रसन्न करने के लिए एक हजार वर्षों तक चलने वाले यज्ञ को सम्पन्न करने के उद्देश्य से एकत्र हुए।

तात्पर्य : पिछले तीन श्लोक *श्रीमद्भागवत* के उपोद्घात के रूप में थे। अब इस महान ग्रंथ का मुख्य विषय प्रस्तुत किया जा रहा है। *श्रीमद्भागवत* प्रथम बार श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा सुनाये जाने के बाद, अब दूसरी बार नैमिषारण्य में सुनाया जा रहा था।

वायवीय तन्त्र में कहा गया है कि इस विशिष्ट ब्रह्माण्ड के शिल्पी ब्रह्मा ने एक ऐसे विराट चक्र की कल्पना की, जो ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर सके। इस विराट चक्र की धुरी एक विशिष्ट स्थान पर स्थित की गई, जिसे नैमिषारण्य कहते हैं। इसी प्रकार से नैमिषारण्य के वन का एक अन्य प्रसंग *वराह पुराण* में आता है, जिसमें यह कहा गया है कि इस स्थान पर यज्ञ करने से आसुरी लोगों की शक्ति घटती है। अतएव ब्राह्मण लोग ऐसे यज्ञों को नैमिषारण्य में करना श्रेष्ठ समझते हैं।

भगवान् विष्णु के भक्त उनकी प्रसन्नता के लिए सभी प्रकार के यज्ञ करते हैं। भक्तगण निरन्तर भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, जबकि पतित जीव भौतिक सुखों में आसक्त रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भौतिक जगत में भगवान् विष्णु की इच्छा के अतिरिक्त जिस किसी कारण से कोई भी कर्म किया जाता है, कर्ता के लिए वह और अधिक बन्धन का कारण होता है। इसीलिए ऐसा आदेश दिया गया है कि सारे कर्म विष्णु तथा उनके भक्तों की प्रसन्नता के लिए यज्ञरूप में सम्पन्न किये जाँय। इससे प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त होगी।

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जनसामान्य का कल्याण करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। फलस्वरूप शौनक आदि ऋषि एक महान तथा निरन्तर चलने वाले यज्ञ-अनुष्ठान को सम्पन्न करने के उद्देश्य से इस नैमिषारण्य नामक पवित्र स्थान पर एकत्र हुए। भुलकड़ लोग शान्ति तथा सम्पन्नता पाने का सही मार्ग नहीं जानते, किन्तु साधु पुरुष इसे भलीभाँति जानते हैं। फलस्वरूप वे समस्त लोगों के कल्याण के लिए ऐसा कर्म करना चाहते हैं, जिससे विश्व में शान्ति आ सके। वे

समस्त जीवों के शुभचिन्तक मित्र हैं और वे व्यक्तिगत कष्ट झेलकर भी समस्त लोगों के कल्याण के लिए भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् विष्णु एक विशाल वृक्ष के तुल्य हैं तथा देवता, मनुष्य, सिद्ध, चारण, विद्याधर एवं अन्य सारे जीवों सहित बाकी सब इस वृक्ष की शाखाएँ, उपशाखाएँ तथा पत्तियाँ जैसे हैं। यदि वृक्ष की जड़ को पानी से सींचा जाय, तो वृक्ष के सारे भागों का स्वयमेव पोषण होता जाता है। केवल उन शाखाओं तथा पत्तों का पोषण नहीं होता, जो वृक्ष से अलग हो गए हैं। वे निरन्तर सींचते रहने पर भी धीरे-धीरे सूख जाते हैं। इसी प्रकार जब यह मानव समाज अलग हुए शाखाओं तथा पत्तियों की तरह भगवान् से रहित हो जाता है, तो उसकी सिंचाई (पोषण) नहीं की जा सकती और जो ऐसा करता भी है, वह अपनी शक्ति तथा साधनों का अपव्यय करता है।

आधुनिक भौतिकतावादी समाज परमेश्वर से अपना सम्बन्ध तोड़े हुए है। उसकी सारी योजनाएँ जो नास्तिक नेताओं द्वारा तैयार की जाती हैं, वे पग-पग पर विफल होंगी यह निश्चित है। फिर भी वे जगने का नाम नहीं लेते।

इस युग में जागृति लाने की निर्दिष्ट विधि भगवान् के पवित्र नामों का सामूहिक कीर्तन है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी विधियों तथा साधनों को अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। बुद्धिमान लोग उनके उपदेशों का लाभ वास्तविक शान्ति तथा सम्पन्नता लाने के लिए उठा सकते हैं। श्रीमद्भागवत भी उसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। आगे चलकर इसकी विशद व्याख्या की जायेगी।

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः ।

सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे (मुनिगण) ; एकदा—एक दिन; तु—लेकिन; मुनयः—मुनिगण; प्रातः—प्रातःकाल; हुत—जलाकर; हुत-अग्नयः—यज्ञ की अग्नि; सत्-कृतम्—आदर समेत; सूतम्—श्री सूत गोस्वामी को; आसीनम्—बैठा कर; पप्रच्छुः—पूछा; इदम्—इस पर (निम्नलिखित); आदरात्—आदरपूर्वक।

एक दिन यज्ञाग्नि जलाकर अपने प्रातःकालीन कृत्यों से निवृत्त होकर तथा श्रील सूत गोस्वामी को आदरपूर्वक आसन अर्पण करके ऋषियों ने सम्मानपूर्वक निम्नलिखित विषयों पर प्रश्न पूछे।

तात्पर्य : आध्यात्मिक सेवाओं के लिए प्रातःकाल सर्वश्रेष्ठ समय होता है। ऋषियों ने *भागवत* के वक्ता के लिए ससम्मान एक ऊँचा आसन अर्पण किया, जिसे व्यासासन कहते हैं। श्री व्यासदेव समस्त मनुष्यों के मूल आध्यात्मिक उपदेष्टा हैं। अन्य सारे उपदेशक उनके प्रतिनिधि माने जाते हैं। प्रतिनिधि वही है जो श्री व्यासदेव के दृष्टिकोण को सही-सही प्रस्तुत कर सके। श्री व्यासदेव ने *भागवत* का सन्देश श्रील शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया और श्री सूत गोस्वामी ने उनसे (श्री शुकदेव गोस्वामी से) इसे सुना। श्री व्यासदेव के सारे प्रामाणिक प्रतिनिधियों को शिष्य-परम्परा में गोस्वामी समझना चाहिए। ये गोस्वामी अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करके पूर्ववर्ती आचार्यों के पथ में दृढ़ रहते हैं। वे *भागवत* पर मनमाने व्याख्यान नहीं देते, अपितु अपने उन पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुगमन करते हुए अत्यन्त सावधानी से सेवा करते हैं, जिन्होंने उन तक दिव्य संदेश को यथारूप पहुँचाया।

भागवत के श्रोतागण वक्ता से अर्थ स्पष्ट करने के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं, किन्तु चुनौती की भावना से ऐसा नहीं करना चाहिए। श्रोता को चाहिए कि वक्ता तथा विषयवस्तु के लिए अत्यन्त सम्मान के साथ प्रश्न पूछे। *भगवद्गीता* में भी इसी विधि का निर्देश किया गया है। मनुष्य को उपयुक्त स्रोतों से विनयपूर्वक श्रवण करके दिव्य विषय सीखना चाहिए। इसीलिए इन मुनियों ने वक्ता सूत गोस्वामी को अत्यन्त सम्मानपूर्वक सम्बोधित किया।

ऋषय ऊचुः

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ ।

आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—कहा; त्वया—आपके द्वारा; खलु—निश्चय ही; पुराणानि—परिपूरक वेदों को जिनमें रोचक कथाएँ हैं; स—इतिहासानि—इतिहासों समेत; च—तथा; अनेक—समस्त पापों से मुक्त; आख्यातानि—कहा गया;

अपि—यद्यपि; अधीतानि—सुपठित; धर्म-शास्त्राणि—प्रगतिशील जीवन के लिए सही निर्देश देने वाले शास्त्र ग्रन्थ;
यानि—ये सब; उत—व्याख्या की गई।

मुनियों ने कहा : हे पूज्य सूत गोस्वामी, आप समस्त प्रकार के पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हैं। आप धार्मिक जीवन के लिए विख्यात समस्त शास्त्रों एवं पुराणों के साथ-साथ इतिहासों में निपुण हैं, क्योंकि आपने समुचित निर्देशन में उन्हें पढ़ा है और उनकी व्याख्या भी की है।

तात्पर्य : गोस्वामी या श्री व्यासदेव के प्रामाणिक प्रतिनिधि को समस्त पापों से मुक्त होना चाहिए। कलियुग के चार प्रमुख पाप हैं—(१) स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध, (२) पशु-वध, (३) मादक द्रव्य सेवन तथा (४) सभी प्रकार की द्यूत-क्रीड़ा। किसी गोस्वामी को व्यासासन पर बैठने का तभी साहस करना चाहिए, जब वह इन सभी पापों से मुक्त हो। जो उपर्युक्त पापों से रहित न हो और जो आचरण से निष्कलंक नहो, उसे व्यासासन पर न बैठाया जाय। उसे न केवल इन सभी पापों से मुक्त होना चाहिए, अपितु समस्त शास्त्रों में या वेदों में पारंगत होना चाहिए। पुराण भी वेदों के ही अंग हैं एवं महाभारत या रामायण जैसे इतिहास भी वेदों के ही अंग हैं। आचार्य अथवा गोस्वामी को इन ग्रन्थों से पूर्ण रूप से अवगत होना चाहिए। उनको पढ़ने की अपेक्षा उनका श्रवण तथा उनकी व्याख्या (कीर्तन) अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल श्रवण तथा व्याख्या द्वारा शास्त्रों के ज्ञान को आत्मसात् किया जा सकता है। श्रवण का अर्थ है सुनना तथा कीर्तन का अर्थ है समझाना या कहना। श्रवण तथा कीर्तन ये दोनों विधियाँ प्रगतिशील आध्यात्मिक जीवन के लिए अति आवश्यक हैं। जिन लोगों ने उपर्युक्त स्रोत से विनयपूर्वक श्रवण करके दिव्य ज्ञान को भलीभाँति समझ लिया है, वे ही इस विषय की समुचित व्याख्या कर सकते हैं।

यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः ।

अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यानि—वह सब; वेद-विदाम्—वेदों के पंडित; श्रेष्ठः—ज्येष्ठतम, वयोवृद्ध; भगवान्—ईश्वर के अवतार; बादरायणः—व्यासदेव; अन्ये—अन्य; च—तथा; मुनयः—मुनिगण; सूत—हे सूत गोस्वामी; परावर-विदः—विद्वानों में जो भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान से परिचित होता है; विदुः—ज्ञाता।

हे सूत गोस्वामी, आप ज्येष्ठतम विद्वान एवं वेदान्ती होने के कारण ईश्वर के अवतार व्यासदेव के ज्ञान से अवगत हैं और आप उन अन्य मुनियों को भी जानते हैं जो सभी प्रकार के भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान में निष्णात हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र या बादरायणी वेदान्त-सूत्र की स्वाभाविक टीका है। इसे स्वाभाविक कहा जाता है, क्योंकि व्यासदेव वेदान्त-सूत्र तथा समस्त वैदिक साहित्य के सार रूप इस श्रीमद्भागवत के ग्रन्थकार हैं। व्यासदेव के अतिरिक्त अन्य ऋषिगण यथा गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि तथा अष्टावक्र छह विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के ग्रन्थकार हुए हैं। आस्तिकता की पूर्ण व्याख्या वेदान्त-सूत्र में है, जबकि अन्य दार्शनिक चिन्तन प्रणालियों में समस्त कारणों के परम कारण के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कोई व्यासासन पर तभी बैठ सकता है जब वह दर्शन की समस्त प्रणालियों से अवगत हो जिससे वह अन्य समस्त प्रणालियों के खण्डन में भागवत के आस्तिकतावाद को प्रस्तुत कर सके। श्रील सूत गोस्वामी उपयुक्त शिक्षक थे, इसीलिए नैमिषारण्य के मुनियों ने उन्हें व्यासासन पर बैठाया। श्रील व्यासदेव को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे प्रामाणिक 'शक्त्यावेश' अवतार हैं।

वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वेत्थ—पूर्ण रूप से निष्णात; त्वम्—आप; सौम्य—शुद्ध तथा सरल व्यक्ति; तत्—वह; सर्वम्—समस्त; तत्त्वतः—वास्तव में; तत्—उनका; अनुग्रहात्—अनुग्रह से; ब्रूयुः—कहेंगे; स्निग्धस्य—विनीत; शिष्यस्य—शिष्य का; गुरवः—गुरुजन; गुह्यम्—गुप्त, रहस्य; अपि उत—से युक्त।

इससे भी अधिक, चूँकि आप विनीत हैं, आपके गुरुओं ने एक सौम्य शिष्य जानकर आप पर सभी तरह से अनुग्रह किया है अतः आप हमें वह सब बतायें जिसे आपने उनसे वैज्ञानिक ढंग से सीखा है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जीवन की सफलता का रहस्य गुरु को तुष्ट करने तथा उनकी शुभाशीष प्राप्त करने में है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु के विषय में अपने सुप्रसिद्ध आठ श्लोकों में इस प्रकार गाया है : “मैं अपने गुरु के चरणारविन्दों में नमस्कार करता हूँ। उनको तुष्ट करके ही कोई भगवान् को प्रसन्न कर सकता है और जब वे अप्रसन्न रहते हैं, तो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में विघ्न ही विघ्न आते हैं।” अतः यह आवश्यक है कि शिष्य अपने प्रामाणिक गुरु के प्रति अत्यन्त आज्ञाकारी तथा विनीत रहे। श्रील सूत गोस्वामी शिष्य के इन सारे गुणों से ओतप्रोत थे, अतः उन पर विद्वान एवं स्वरूपसिद्ध आध्यात्मिक गुरुओं तथा श्रील व्यासदेव तथा अन्य गुरुओं की कृपा दृष्टि थी। नैमिषारण्य के मुनियों को पूर्ण विश्वास था कि श्रील सूत गोस्वामी प्रामाणिक व्यक्तित्व हैं, इसीलिए वे उनसे सुनने के लिए उत्सुक थे।

तत्र तत्राञ्जसायुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम् ।

पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तत्रः शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; तत्र—वहाँ; अञ्जसा—सहज; आयुष्मन्—दीर्घ जीवन का आशीर्वाद पाये; भवता—आपके द्वारा; यत्—जो कुछ; विनिश्चितम्—निश्चित किया; पुंसाम्—जनसामान्य के लिए; एकान्ततः—नितान्त; श्रेयः—परम कल्याण; तत्—उस; नः—हमको; शंसितुम्—समझाने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

अतएव, दीर्घायु की कृपा प्राप्त आप सरलता से समझ में आने वाली विधि से हमें समझाइये कि आपने जन साधारण के समग्र एवं परम कल्याण के लिए क्या निश्चय किया है?

तात्पर्य : भगवद्गीता में आचार्य की पूजा की संस्तुति की गई है। आचार्य तथा गोस्वामी निरन्तर जनसाधारण के कल्याण, विशेष रूप से उनके आध्यात्मिक कल्याण, के विचारों में लीन रहते हैं। आध्यात्मिक कल्याण होने पर भौतिक कल्याण स्वतः हो जाता है। अतएव आचार्यगण सामान्य जनता को आध्यात्मिक कल्याण के लिए उपदेश देते हैं। इस कलियुग या कलहप्रिय लौह-युग की अक्षमताओं को देखते हुए, मुनियों ने सूत गोस्वामी से प्रार्थना की कि वे सारे शास्त्रों का निचोड़ प्रस्तुत करें, क्योंकि इस युग के लोग सभी प्रकार से पतित हो गये हैं। अतः मुनियों ने

समग्र कल्याण की जिज्ञासा की। यही लोगों का परम कल्याण है। इस युग के लोगों की पतित अवस्था का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से हुआ है।

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः ।

मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः; अल्प—न्यून; आयुषः—आयु, जीवन अवधि; सभ्य—विद्वत्समाज का सदस्य; कलौ—कलियुग में; अस्मिन्—यहाँ पर; युगे—युग में; जनाः—लोग, जनता; मन्दाः—आलसी; सुमन्द-मतयः—पथभ्रष्ट; मन्द-भाग्याः—अभागे; हि—और तो और; उपद्रुताः—विचलित।

हे विद्वान्, कलि के इस लौह-युग में लोगों की आयु न्यून है। वे झगड़ालू, आलसी, पथभ्रष्ट, अभागे होते हैं तथा साथ ही साथ सदैव विचलित रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्त सामान्य जनों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। जब नैमिषारण्य के मुनियों ने इस कलियुग के लोगों की अवस्था का विश्लेषण किया, तो उन्होंने देखा कि उनकी आयु कम होगी। कलियुग में आयु कम होने का कारण अपर्याप्त आहार नहीं, अपितु अनियमित आदतें हैं। आदतों को नियमित करके तथा सादा भोजन करके कोई भी व्यक्ति अपना स्वास्थ्य बनाये रख सकता है। अधिक भोजन करना, अधिक इन्द्रियतृप्ति, दूसरों की दया पर अत्यधिक आश्रित रहना एवं रहन-सहन के कृत्रिम मानक मनुष्य की प्राणशक्ति तक को चूस लेते हैं। फलस्वरूप जीवन की अवधि घट जाती है।

इस युग के लोग न केवल भौतिक दृष्टि से, अपितु आत्म-साक्षात्कार के मामले में भी अत्यन्त आलसी हैं। यह मनुष्य-जीवन विशेष रूप से आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है। अर्थात् मनुष्य को जानना चाहिए कि मैं क्या हूँ, संसार क्या है और परम सत्य क्या है। मनुष्य जीवन वह साधन है, जिससे जीव इस भौतिक जगत में कठिन जीवन-संघर्ष के कष्टों को मिटा सकता है और अपने सनातन घर, भगवद्धाम को लौट सकता है। किन्तु भ्रष्ट शिक्षा पद्धति के कारण लोगों में आत्म-साक्षात्कार की इच्छा ही नहीं उठती। यदि वे इसके विषय में जानते भी हैं, तो दुर्भाग्यवश वे पथभ्रष्ट शिक्षकों के शिकार बन जाते हैं।

इस युग में लोग न केवल विभिन्न राजनीतिक वर्गों तथा दलों के शिकार हैं, अपितु विभिन्न प्रकार के इन्द्रियतृप्ति करने वाले विपथनों से भी ग्रस्त हैं, जैसे कि सिनेमा, खेलकूद, जुआ, क्लब, संसारी पुस्तकालय, बुरी संगति, धूम्रपान, मदिरा-पान, छलावा, चोरी, मनमुटाव आदि-आदि। अनेकानेक व्यस्तताओं के कारण उनके मन सदैव विचलित एवं चिन्ताओं से ग्रस्त रहते हैं। इस युग में अनेक धूर्त लोग अपने-अपने धार्मिक पंथ खड़े कर देते हैं, जो किन्हीं शास्त्रों पर आधारित नहीं होते और प्रायः ऐसे लोग ही, जो इन्द्रियतृप्ति के व्यसनी हैं, ऐसी संस्थाओं के प्रति आकृष्ट होते रहते हैं। फलस्वरूप धर्म के नाम पर अनेक पापकर्म किये जाते हैं, जिसके कारण लोगों को न तो मानसिक शान्ति मिल पाती है, न स्वास्थ्य-लाभ हो पाता है। अब छात्र (ब्रह्मचारी) वर्ग का पालन नहीं किया जाता और गृहस्थ लोग गृहस्थाश्रम के विधि-विधानों का पालन नहीं करते। फलस्वरूप, तथाकथित वानप्रस्थ तथा संन्यासी जो ऐसे गृहस्थाश्रमों से आते हैं, अपने कठोर पथ से आसानी से विचलित हो जाते हैं। कलियुग में सारा परिवेश श्रद्धाविहीनता से पूर्ण है। लोग अब आध्यात्मिक मूल्यों में रुचि नहीं दिखाते। अब तो भौतिक इन्द्रियतृप्ति ही सभ्यता का मानदण्ड बनी हुई है। ऐसी भौतिक सभ्यता को बनाये रखने के लिए मनुष्य ने जटिल किस्मके राष्ट्रों तथा समुदायों का निर्माण किया है और विभिन्न गुटों में निरन्तर प्रत्यक्ष तथा शीत युद्ध की आशंका बनी रहती है। अतएव आज के मानव समाज के विकृत मानदण्डों के कारण आध्यात्मिक स्तर को उठा पाना अत्यन्त कठिन हो गया है। नैमिषारण्य के ऋषिमुनि पतितात्माओं को मुक्त करने के लिए उत्सुक हैं, अतएव वे श्रील सूत गोस्वामी से उपचार पूछ रहे हैं।

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।

अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया ।

ब्रूहि भद्राय भूतानां येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भूरीणि—बहुमुखी; भूरि—अनेक; कर्माणि—कर्म, कर्तव्य; श्रोतव्यानि—सीखने योग्य; विभागशः—विषयानुसार; अतः—अतएव; साधो—हे साधु; अत्र—यहाँ पर; यत्—जो कुछ; सारम्—निष्कर्ष; समुद्धृत्य—चुनाव करके; मनीषया—अपने ज्ञान के अनुसार सर्वश्रेष्ठ; ब्रूहि—कृपा करके बताएँ; भद्राय—कल्याण के लिए; भूतानाम्—जीवों के; येन—जिससे; आत्मा—आत्मा; सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाती है।

शास्त्रों के अनेक विभाग हैं और उन सबमें अनेक नियमित कर्मों का उल्लेख है, जिनके विभिन्न प्रभागों को वर्षों तक अध्ययन करके ही सीखा जा सकता है। अतः हे साधु, कृपया आप इन समस्त शास्त्रों का सार चुनकर समस्त जीवों के कल्याण हेतु समझायें, जिससे उस उपदेश से उनके हृदय पूरी तरह तुष्ट हो जायें।

तात्पर्य : आत्मा अथवा स्व को पदार्थ तथा भौतिक तत्त्वों से पृथक् माना जाता है। इसका स्वरूप स्वभावतः आध्यात्मिक है, अतः यह किसी भी परिणाम के भौतिक आयोजनों से तुष्ट नहीं होता। सम्पूर्ण शास्त्र तथा आध्यात्मिक उपदेश इसी आत्मा की तुष्टि के निमित्त हैं। विभिन्न कालों तथा विभिन्न स्थानों में नाना-विध जीवों के लिए अनेक प्रकार के उपायों की संस्तुति की जाती है। फलस्वरूप, प्रामाणिक शास्त्रों की संख्या अनगिनत है। इन शास्त्रों में विभिन्न विधियों तथा नियमित कर्मों का विधान है। इस कलिकाल में सामान्य जनता की पतित अवस्था को ध्यान में रखते हुए, नैमिषारण्य के मुनियों ने श्री सूत गोस्वामी से अनुरोध किया कि वे इन समस्त शास्त्रों का सार कह सुनायें, क्योंकि इस युग में पतितात्माओं के लिए वर्णाश्रम पद्धति में इन विविध शास्त्रों के उपदेशों को पढ़ना तथा समझ पाना सम्भव नहीं है।

मनुष्यों को आध्यात्मिक स्तर तक उठाने के लिए वर्णाश्रम वाले समाज को सर्वोत्कृष्ट संस्था माना जाता था, किन्तु कलियुग के कारण इन संस्थाओं के विधि-विधानों को पूरा कर पाना सम्भव नहीं रह गया है। न ही जन-साधारण के लिए वर्णाश्रम संस्था द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार अपने-अपने परिवारों से सम्बन्ध-विच्छेद कर पाना सम्भव है। सारा परिवेश विरोध से व्याप्त है। इस पर विचार करते हुए यह देखा जा सकता है कि इस युग में सामान्य जनो का आध्यात्मिक उत्थान अत्यन्त कठिन है। जिस कारण से मुनियों ने इस विषय को श्री सूत गोस्वामी के समक्ष रखा, उसकी व्याख्या अगले श्लोकों में की गई है।

सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सूत—हे सूत गोस्वामी; जानासि—आप जानते हो; भद्रम् ते—आपका कल्याण हो; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—शुद्ध भक्तों का; पतिः—रक्षक; देवक्याम्—देवकी के गर्भ में; वसुदेवस्य—वसुदेव से; जातः—उत्पन्न; यस्य—जिसके उद्देश्य से; चिकीर्षया—सम्पन्न करने हेतु।

हे सूत गोस्वामी, आपका कल्याण हो। आप जानते हैं कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् देवकी के गर्भ से वसुदेव के पुत्र के रूप में किस प्रयोजन से प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् का अर्थ है सर्वशक्तिमान ईश्वर जो समस्त ऐश्वर्यों, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा तपस्या के नियंता हैं। वे अपने शुद्ध भक्तों के रक्षक हैं। यद्यपि ईश्वर सबों पर समभाव रखने वाले हैं, तो भी वे अपने भक्तों पर विशेष कृपालु रहते हैं। सत् का अर्थ है परम सत्य। जो लोग परम सत्य के सेवक या दास हैं, वे सात्वत कहलाते हैं। ऐसे शुद्ध भक्तों की रक्षा करने वाले भगवान् सात्वतों के रक्षक कहलाते हैं। भद्रं ते अर्थात् 'आपका कल्याण हो' से मुनियों द्वारा वक्ता से परम सत्य के विषय में जानने की उत्सुकता का द्योतक है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेव की पत्नी देवकी से प्रकट हुए। वसुदेव आध्यात्मिक पद के प्रतीक हैं जिसमें परमेश्वर का प्राकट्य होता है।

तत्रः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् ।

यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वे; नः—हमको; शुश्रूषमाणानाम्—जो प्रयत्नशील हैं; अर्हसि—करना चाहिए; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; अनुवर्णितुम्—पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुगमन करते हुए व्याख्या करने के लिए; यस्य—जिसका; अवतारः—अवतार; भूतानाम्—जीवों के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; च—तथा; भवाय—उन्नति के लिए; च—तथा।

हे सूत गोस्वामी, हम भगवान् तथा उनके अवतारों के विषय में जानने के लिए उत्सुक हैं। कृपया हमें पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिये गये उपदेशों को बताइये, क्योंकि उनके वाचन श्रवण तथा कहने सुनने दोनों से ही मनुष्य का उत्कर्ष होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर परम सत्य के दिव्य सन्देश के श्रवण हेतु आवश्यक शर्तें प्रस्तुत की गई हैं। पहली शर्त यह है कि श्रोता को अत्यंत निष्ठावान तथा सुनने के लिए उत्सुक होना चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि वक्ता मान्य आचार्यों की शिष्य-परम्परा में से हो। जो लोग भौतिकता में लिप्त

रहते हैं, वे परमेश्वर के दिव्य-सन्देश को नहीं समझ पाते। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में मनुष्य धीरे-धीरे शुद्ध होता जाता है। अतः उसे शिष्य-परम्परा में होना चाहिए और विनीत भाव से श्रवण करने की कला सीखनी चाहिए। सूत गोस्वामी तथा नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि इन शर्तों को पूरा करते हैं, क्योंकि श्रील सूत गोस्वामी श्रील व्यासेदव की परम्परा के हैं और नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि निष्ठावान जीव हैं, जो सत्य जानने के लिए लालायित हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यकलाप, उनका अवतार, उनका जन्म, आविर्भाव या तिरोधान, उनके स्वरूप, उनके नाम इत्यादि उन लोगों के जानने योग्य हैं, जो समस्त शर्तों को पूरा करते हैं। ऐसे उपदेश अध्यात्म के पथपर अग्रसर सभी मनुष्यों के सहायक होते हैं।

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।

ततः सद्यो विमुच्येत यद्विभेति स्वयं भयम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

आपन्नः—फँसे हुए; संसृतिम्—जन्म-मृत्यु के चक्र में; घोराम्—अत्यन्त उलझे; यत्—जो; नाम—परम नाम; विवशः—अनजाने में; गृणन्—उच्चारण करते हुए; ततः—उससे; सद्यः—तुरन्त; विमुच्येत—मुक्त हो जाता है; यत्—जो; विभेति—डरता है; स्वयम्—स्वयं; भयम्—साक्षात् भय।

जन्म तथा मृत्यु के जाल में उलझे हुए जीव, यदि अनजाने में भी कृष्ण के पवित्र नाम का उच्चारण करते हैं, तो तुरन्त मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि साक्षात् भय भी इससे (नाम से) भयभीत रहता है।

तात्पर्य : वासुदेव अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सभी के परम नियन्ता हैं। इस सृष्टि में कोई ऐसा नहीं है जो सर्वशक्तिमान के क्रोध से भयभीत न हो। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस जैसे विकट असुर तथा ऐसे ही अन्य शक्तिशाली जीव भगवान् द्वारा मार डाले गये। पराक्रमी वासुदेव ने अपनी सारी निजी शक्तियाँ अपने नाम को प्रदान कर रखी हैं। प्रत्येक वस्तु उनसे सम्बन्धित है और प्रत्येक वस्तु की अपनी पहचान उनमें ही निहित है। यहाँ पर यह कहा गया है कि कृष्ण के नाम से साक्षात् भय तक भयभीत रहता है। यह इस बात का सूचक है कि कृष्ण का नाम भगवान् कृष्ण से अभिन्न है। अतः कृष्ण का नाम स्वयं कृष्ण के ही समान शक्तिमान है। उनमें तनिक भी

अन्तर नहीं है। अतः बड़े से बड़े संकट की स्थिति में भी भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का लाभ उठाया जा सकता है। कृष्ण के दिव्य नाम को, चाहे अनजाने में या बाध्य होकर, उच्चरित करने पर जन्म तथा मृत्यु की झंझट से उबरा जा सकता है।

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।

सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; पाद—चरणकमल; संश्रयाः—शरणागत; सूत—हे सूत गोस्वामी; मुनयः—बड़े-बड़े मुनिगण; प्रशमायनाः—परमेश्वर की भक्ति में लीन; सद्यः—तुरन्त; पुनन्ति—पवित्र हो जाते हैं; उपस्पृष्टाः—केवल संगति से; स्वर्धुनी—पवित्र गंगा का; आपः—जल; अनुसेवया—उपयोग में लाने से।

हे सूत गोस्वामी, जिन महान ऋषियों ने पूर्ण रूप से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है, वे अपने सम्पर्क में आने वालों को तुरन्त पवित्र कर देते हैं, जबकि गंगा जल दीर्घकाल तक उपयोग करने के बाद ही पवित्र कर पाता है।

तात्पर्य : भगवान् के शुद्ध भक्त पवित्र गंगा जल से भी अधिक शक्तिमान होते हैं। मनुष्य गंगाजल के दीर्घकालीन प्रयोग से ही आध्यात्मिक लाभ पा सकता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त की कृपा से मनुष्य तुरन्त ही पवित्र हो सकता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि चाहे कोई जन्म से शूद्र हो या स्त्री या वैश्य हो वह भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सकता है और इस तरह वह भगवद्धाम को वापस लौट सकता है। भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करने का अर्थ है, शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण करना। जिन शुद्ध भक्तों का एकमात्र कार्य भगवान् की सेवा करना है, वे *प्रभुपाद* तथा *विष्णुपाद* कहलाते हैं जो ऐसे भक्तों के भगवान् के चरणकमलों के प्रतिनिधि होने का द्योतक है। अतः जो भी व्यक्ति शुद्ध भक्त को अपना गुरु मान कर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। भगवान् के ऐसे भक्त भगवान् के ही समान आदरणीय हैं, क्योंकि वे भगवान् की गुह्यतम सेवा में लगे रहते हैं और वे उन पतितात्माओं का इस भवसागर से उद्धार कराते हैं, जिन्हें भगवान् अपने धाम में वापस बुलाना चाहते हैं। शास्त्रों के अनुसार ऐसे शुद्ध भक्तों को तो उप-प्रभु कहा जाता है। शुद्ध भक्त का

निष्ठावान शिष्य अपने गुरु को भगवान् के तुल्य मानता है, किन्तु अपने आपको भगवान् के दासों का भी दास समझता है। यही शुद्ध भक्ति का मार्ग है।

को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेऽयकर्मणः ।

शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; वा—बल्कि; भगवतः—भगवान् का; तस्य—उनका; पुण्य—पुण्यात्मा; श्लोक-ईड्य—स्तुतियों द्वारा पूजनीय; कर्मणः—कर्म; शुद्धि-कामः—समस्त पापों से उद्धार की इच्छा करने वाला; न—नहीं; शृणुयात्—सुनता है; यशः—यश; कलि—कलह के युग का; मल-अपहम्—शुद्धि करने वाला।

इस कलहप्रधान युग के पापों से उद्धार पाने का इच्छुक ऐसा कौन है, जो भगवान् के पुण्य यशों को सुनना नहीं चाहेगा ?

तात्पर्य : कलियुग अपने कलह प्रधान लक्षणों के कारण अत्यन्त निकृष्ट युग है। यह पापाचारों से इस प्रकार परिपूरित है कि थोड़ी सी नासमझी से बड़ी भारी लड़ाई हो जाती है। जो भगवद्भक्ति में लगे हैं, जिन्हें आत्म-श्लाघा की कोई इच्छा नहीं है और जो कर्मों के फल तथा शुष्क दार्शनिक ज्ञान से मुक्त हैं, वे ही इस जटिल युग के बन्धन से छूट सकते हैं। जनता के नेता शान्ति तथा मैत्री से रहने के लिए उत्सुक तो हैं, किन्तु उन्हें भगवान् की महिमा के श्रवण की सरल विधि के बारे में कोई जानकारी नहीं है। इसके विपरीत, ऐसे नेता भगवत्महिमा के प्रचार के विरोधी हैं। दूसरे शब्दों में, मूर्ख नेता भगवान् के अस्तित्व को ही नकारना चाहते हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य के नाम पर ऐसे नेता प्रति वर्ष नई-नई योजनाएँ बनाते हैं। किन्तु भगवान् की प्रकृति की दुर्लभ जटिलताओं के कारण, उन्नति की ये सारी योजनाएँ निरन्तर विफल होती रहती हैं। उनके पास यह देख पाने की दृष्टि ही नहीं है कि शान्ति तथा मैत्री के उनके सारे प्रयास विफल हो रहे हैं। लेकिन यहाँ पर इस अवरोध को पार करने के लिए संकेत मिलता है। यदि हम वास्तविक शान्ति चाहते हैं, तो हमें भगवान् कृष्ण को समझने का मार्ग खोल देना चाहिए और उनके महिमामय कार्यों के लिए उनका यशोगान करना चाहिए जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में अंकित है।

तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।

ब्रूहि नः श्रद्धधानानां लीलया दधतः कलाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उनके; कर्माणि—दिव्य कर्म; उदाराणि—उदार; परिगीतानि—प्रसारित; सूरिभिः—महात्माओं द्वारा; ब्रूहि—कृपया कहें; नः—हमसे; श्रद्धधानानाम्—आदरपूर्वक ग्रहण करने के लिए उद्यत; लीलया—लीलाओं से; दधतः—धारण किये हुए; कलाः—अवतार।

उनके दिव्य कर्म अत्यन्त उदार तथा अनुग्रहपूर्ण हैं और नारद जैसे महान् विद्वान् मुनि उनका गायन करते हैं। अतः कृपया हमें उनके अपने विविध अवतारों में सम्पन्न साहसिक लीलाओं के विषय में बतायें, क्योंकि हम सुनने के लिए उत्सुक हैं।

तात्पर्य : भगवान् कभी भी निष्क्रिय नहीं होते, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग सूचित करते हैं। उनके कर्म उदार तथा भव्य हैं। उनकी सृष्टियाँ, चाहे भौतिक हों या आध्यात्मिक, समान रूप से आश्चर्यजनक हैं और समस्त विविधताओं से परिपूर्ण हैं। इनका गुणगान श्रील नारद, व्यास, वाल्मीकि, देवल, असित, मध्व, श्री चैतन्य, रामानुज, विष्णु-स्वामी, निम्बार्क, श्रीधर, विश्वनाथ, बलदेव, भक्तिविनोद, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा अन्य अनेक विद्वानों एवं स्वरूपसिद्ध आत्माओं द्वारा किया जाता है। भौतिक एवं आध्यात्मिक ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ ऐश्वर्य, सौंदर्य तथा ज्ञान से परिपूर्ण हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत् अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के कारण अधिक भव्य है। भौतिक सृष्टियाँ कुछ काल के लिए अध्यात्म जगत् के विकृत प्रतिबिम्बों के रूप में प्रकट होती हैं और उनकी तुलना सिनेमा से की जा सकती है। वे उन अल्पज्ञ लोगों को आकृष्ट करती हैं, जो मिथ्या वस्तुओं द्वारा आकृष्ट होते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्तियों को वास्तविकता का कुछ ज्ञान नहीं रहता और वे मिथ्या भौतिक स्वरूप को ही सब कुछ मान बैठते हैं। किन्तु अधिक बुद्धिमान व्यक्ति, जिन्हें व्यास तथा नारद जैसे मुनियों का मार्गदर्शन प्राप्त है, जानते हैं कि भगवान् का शाश्वत राज्य अधिक सुखी, अधिक विशाल तथा आनन्द एवं ज्ञान से नित्य परिपूर्ण है। जो लोग भगवान् के कार्यकलापों तथा उनके दिव्य धाम से परिचित नहीं हैं, उन्हें वे अवतार ले करके अपनी लीलाओं के माध्यम से अवगत कराते हैं, जिनमें वे अपने दिव्य धाम में संगति के शाश्वत आनन्द को

प्रदर्शित करते हैं। ऐसे कार्यकलापों से भगवान् भौतिक जगत के बद्धजीवों को आकृष्ट कर लेते हैं। इन बद्धजीवों में से कुछ भौतिक इन्द्रियों के मिथ्या भोग में लिप्त रहते हैं और कुछ आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) के अपने वास्तविक जीवन को नकारते रहते हैं। ये अल्पज्ञ व्यक्ति कर्मि अर्थात् सकाम कर्म करने वाले तथा ज्ञानी अर्थात् शुष्क मनोधर्मी कहलाते हैं। किन्तु इन दो प्रकार के व्यक्तियों के भी ऊपर अध्यात्मवादी होता है, जो सात्वत या भक्त कहलाता है और जो न तो उग्र भौतिक कार्यकलापों में, न ही भौतिक चिन्तन में लीन रहता है। वह तो भगवान् की वास्तविक सेवा में तत्पर रहता है जिससे उसे सर्वोच्च आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता है, जो कर्मियों तथा ज्ञानियों के लिए दुर्लभ है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के परम नियन्ता के रूप में भगवान् के असीम श्रेणियों के विविध अवतार होते हैं। ब्रह्मा, रुद्र, मनु, पृथु तथा व्यास जैसे अवतार तो उनके भौतिक गुणात्मक अवतार हैं, लेकिन राम, नृसिंह, वराह तथा वामन जैसे अवतार उनके दिव्य अवतार कहलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इन समस्त अवतारों के प्रधान स्रोत हैं। अतएव वे ही समस्त कारणों के कारण हैं।

अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः ।

लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आख्याहि—वर्णन करें; हरेः—भगवान् के; धीमन्—हे बुद्धिमान; अवतार—अवतार; कथाः—कथाएँ; शुभाः—शुभ, कल्याणप्रद; लीला—साहसिक कार्य; विदधतः—सम्पन्न; स्वैरम्—लीलाएँ; ईश्वरस्य—परम नियन्ता की; आत्म—निजी, अपनी; मायया—शक्तियों से।

हे बुद्धिमान सूतजी, कृपा करके हमसे भगवान् के विविध अवतारों की दिव्य लीलाओं का वर्णन करें। परम नियन्ता भगवान् के ऐसे कल्याणप्रद साहसिक कार्य तथा उनकी लीलाएँ उनकी अन्तरंगा शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगतों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं हजारों रूपों में अवतरित होते हैं और इन विविध दिव्य रूपों में वे जो-जो साहसिक कार्य करते

हैं, वे सभी कल्याणप्रद होते हैं। जो लोग ऐसे कार्यों के समय उपस्थित रहते हैं तथा जो ऐसे कार्यों की दिव्य गाथाओं को सुनते हैं, वे दोनों लाभान्वित होते हैं।

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।

यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—लेकिन; न—नहीं; वितृप्यामः—तृप्त हो जाएँगे; उत्तम-श्लोक—भगवान्, जिनका यशोगान दिव्य श्लोकों से किया जाता है; विक्रमे—साहसिक कार्य; यत्—जो; शृण्वताम्—निरन्तर सुनने से; रस—रस के; ज्ञानाम्—भिज्ञों को; स्वादु—स्वाद लेते हुए; स्वादु—सुस्वादु, स्वादिष्ट; पदे पदे—पग पग पर।

हम उन भगवान् की दिव्य लीलाओं को सुनते थकते नहीं, जिनका यशोगान स्तोत्रों तथा स्तुतियों से किया जाता है। उनके साथ दिव्य सम्बन्ध के लिए जिन्होंने अभिरुचि विकसित कर ली है, वे प्रतिक्षण उनकी लीलाओं के श्रवण का आस्वादन करते हैं।

तात्पर्य : लौकिक कहानियों, कल्पित कथाओं या इतिहास तथा भगवान् की दिव्य लीलाओं में महान अन्तर होता है। समग्र ब्रह्माण्ड के इतिहास भगवान् के अवतारों की लीलाओं से भरे हुए हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराण विगत युगों के इतिहास हैं, जिनमें भगवान् के अवतारों की लीलाओं के अभिलेख हैं, अतः बारम्बार पढ़ने पर भी वे नये के नये लगते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई चाहे तो भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत का आजीवन बारम्बार पाठ करता रहे, फिर भी उसे उनमें ज्ञान का नवीन प्रकाश दिखेगा। लौकिक समाचार गतिहीन होते हैं, किन्तु दिव्य समाचार गतिशील होते हैं, जिस प्रकार कि आत्मा गतिशील है और पदार्थ गतिहीन है। जिन मनुष्यों ने दिव्य विषयों को समझने के लिए सुरुचि का विकास किया है, वे ऐसी कथाएँ सुनते कभी थकते नहीं। लौकिक कार्यकलापों से मनुष्य शीघ्र तृप्त हो जाता है, किन्तु दिव्य या भक्तिमय कार्यकलापों से कभी तृप्ति नहीं होती। उत्तमश्लोक उस साहित्य की ओर संकेत करता है, जो अज्ञानता के निमित्त नहीं है। लौकिक साहित्य तो तमोगुणी होता है, किन्तु आध्यात्मिक साहित्य सर्वथा भिन्न होता है। दिव्य साहित्य तमोगुण से परे होता है और इसे ज्यों-ज्यों और पढ़ा जाता है, त्यों-त्यों यह अधिक प्रकाशवान बनता जाता है तथा इस दिव्य विषय की अनुभूति और अधिक

होती जाती है। तथाकथित मुक्त व्यक्ति अहं ब्रह्मास्मि शब्दों को बारम्बार उच्चरित करते संतुष्ट नहीं होते। ब्रह्म की ऐसी कृत्रिम अनुभूति उबाऊ है, फलतः वे भी वास्तविक आनन्द उठाने के लिए श्रीमद्भागवत की कथाओं की ओर मुड़ते हैं। जो लोग इतने भाग्यशाली नहीं हैं, वे परार्थवाद और दुनियायी परोपकार की ओर मुड़ते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मायावाद दर्शन लौकिक है, जबकि भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत का दर्शन दिव्य है।

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः ।

अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कृतवान्—किये गये; किल—कौन-कौन से; कर्माणि—कार्य; सह—सहित; रामेण—बलराम; केशवः—श्रीकृष्ण ने; अतिमर्त्यानि—अलौकिक; भगवान्—भगवान्; गूढः—प्रच्छन्न; कपट—ऊपर से; मानुषः—मनुष्य।

भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम सहित मनुष्य की भाँति क्रीड़ाएँ कीं और इस प्रकार से प्रच्छन्न रह कर उन्होंने अनेक अलौकिक कृत्य किये।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण या भगवान् पर मानव-विकास तथा पशु-विकास के सिद्धान्त लागू नहीं होते। आजकल, विशेष रूप से भारत में, इस सिद्धान्त का बोलबाला है कि तपस्या तथा आत्म-संयम के बल पर मनुष्य ईश्वर बन जाता है। चूँकि भगवान् राम, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु को प्रमाणभूत शास्त्रों में बताये गये संकेतों के आधार पर ऋषियों तथा मुनियों ने भगवान् के रूप में पहचाना था, अतएव अनेक धूर्त व्यक्तियों ने अपने खुद के अवतारों की सृष्टि करली है। अब तो भगवान् के अवतार का गढ़ा जाना, विशेष रूप से बंगाल में, सामान्य व्यापार बन चुका है। कोई भी लोकप्रिय व्यक्ति कुछ योग-शक्तियाँ दिखलाकर तथा बाजीगरी के कुछ करतब दिखलाकर, लोकप्रिय मत-प्रस्ताव द्वारा भगवान् का अवतार बन जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार के अवतार न थे। वे अपने आविर्भाव काल से ही वास्तविक रूप से भगवान् थे। वे अपनी तथाकथित माता के समक्ष चतुर्भुज विष्णु रूप में प्रकट हुए थे और फिर अपनी माता के अनुरोध पर बालक रूप में परिणत हो गये थे। वे तुरन्त ही अपनी इस माता को छोड़कर गोकुल में अपने एक और भक्त के यहाँ चले गये, जहाँ उन्हें नन्द महाराज तथा यशोदा माता ने

अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार श्री बलराम भी, जो भगवान् कृष्ण के पूरक हैं, श्री वसुदेव की अन्य पत्नी से उत्पन्न बालक समझे जाते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनका जन्म तथा उनके कर्म दिव्य हैं और जो भाग्यशाली व्यक्ति उनके जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जान लेता है, वह तुरन्त मुक्त होकर भगवद्धाम को जा सकता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति का ज्ञान ही मुक्त होने के लिए पर्याप्त है। भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रकृति का वर्णन नौ स्कंधों में हुआ है और दसवें स्कंध में उनकी विशिष्ट लीलाएँ दी गई हैं। इस ग्रन्थ को ज्यों-ज्यों कोई पढ़ता है, त्यों-त्यों यह सब ज्ञात होता जाता है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि भगवान् ने माता की गोद में से ही अपनी अलौकिकता प्रदर्शित की और उनके सारे के सारे कार्यकलाप अतिमानवीय हैं (यथा सात वर्ष की आयु में गोवर्धन पर्वत को उठाना) और ये सारे कार्य उन्हें वास्तविक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सिद्ध करते हैं। इतने पर भी अपने योगावरण के कारण वे अपने तथाकथित माता-पिता तथा अन्य परिजनों द्वारा सदैव एक सामान्य मानव शिशु ही समझे जाते रहे। जब भी वे कोई अत्यन्त पराक्रमी कार्य करते, उनके माता-पिता उसे अन्य रूप में ग्रहण करते। इस प्रकार वे अपने पुत्र के प्रति अविचल प्रेम से सदा तुष्ट रहते। अतएव नैमिषारण्य के ऋषिगण उन्हें मनुष्यवत् बताते हैं, लेकिन वास्तव में वे परम शक्तिमान भगवान् हैं।

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् ।

आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कलिम्—कलियुग (कलहप्रिय लौह युग) ; आगतम्—आया हुआ; आज्ञाय—जानकर; क्षेत्रे—भूभाग में; अस्मिन्—इस; वैष्णवे—विशेष रूप से भगवान् के भक्तों के लिए; वयम्—हम; आसीनाः—बैठे हुए; दीर्घ—दीर्घकालीन; सत्रेण—यज्ञ द्वारा; कथायाम्—शब्दों में; स-क्षणाः—अपने अवकाश के समय; हरेः—भगवान् के।

यह भलीभाँति जानकर कि कलियुग का प्रारम्भ हो चुका है, हम इस पवित्र स्थल में भगवान् का दिव्य सन्देश सुनने के लिए तथा इस प्रकार यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दीर्घसत्र में एकत्र हुए हैं।

तात्पर्य : सत्य युग, स्वर्णयुग अथवा रजत एवं ताम्रयुग अर्थात्, त्रेता या द्वापर युग की भाँति यह कलियुग आत्म-साक्षात्कार के लिए तनिक भी उपयुक्त नहीं है। सत्य युग में एक लाख वर्ष की उम्र वाले लोग आत्म-साक्षात्कार के लिए दीर्घकालीन ध्यान करने में समर्थ थे। तथा त्रेता युग में जब जीवन की अवधि दस हजार वर्ष की थी, तो महान यज्ञों के अनुष्ठान से आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया जाने लगा और द्वापर युग में जब जीवन-अवधि एक हजार वर्ष हो गई, तो भगवान् की पूजा द्वारा यह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया जाने लगा। किन्तु इस कलियुग में अधिकतम् जीवन-अवधि केवल एक सौ वर्ष की है और वह भी कठिनाइयों से पूर्ण है, अतः इसमें आत्म-साक्षात्कार के लिए जिस विधि की संस्तुति की गई है, वह है भगवान् के पवित्र नाम, यश तथा उनकी लीलाओं का श्रवण और कीर्तन करना। नैमिषारण्य के ऋषियों ने यह विधि ऐसे स्थान में प्रारम्भ की जो भगवद्भक्तों के लिए ही था। उन्होंने एक हजार वर्ष की दीर्घ अवधि तक की भगवान् की लीलाएँ सुनने के लिए अपने आप को तैयार किया था। इन ऋषियों के उदाहरण से हमें यह सीखना चाहिए कि *भागवत* का नियमित श्रवण तथा कीर्तन ही आत्म-साक्षात्कार का एकमात्र साधन है। अन्य सारे प्रयास समय का अपव्यय मात्र हैं, क्योंकि उनसे कोई लाभप्रद परिणाम नहीं निकलता। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने *भागवत-धर्म* की इस पद्धति का उपदेश किया और यह भी बतलाया कि भारतभूमि में जन्म लेने वालों का यह दायित्व है कि वे श्रीकृष्ण के सन्देशों का, प्रमुख रूप से *भगवद्गीता* के संदेश का, प्रचार-प्रसार करें। जब कोई *भगवद्गीता* की शिक्षाओं को ठीक से समझ जाय, तो उसे चाहिए कि आत्म-साक्षात्कार के लिए अधिक प्रकाश प्राप्त करने हेतु *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करे।

त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।

कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आपने; नः—हम सबों को; सन्दर्शितः—मिलाया है; धात्रा—भाग्य से; दुस्तरम्—दुर्लभ; निस्तितीर्षताम्—पार करने की इच्छा करने वालों के लिए; कलिम्—कलियुग को; सत्त्व-हरम्—अच्छे गुणों को हरण करने वाला; पुंसां—मनुष्य का; कर्ण-धारः—कप्तान; इव—सदृश; अर्णवम्—समुद्र।

हम मानते हैं कि दैवी इच्छा ने हमें आपसे मिलाया है, जिससे मनुष्यों के सत्त्व का नाश करने वाले उस कलि रूप दुर्लभ सागर को तरने की इच्छा रखने वाले हम सब आपको नौका के कप्तान के रूप में ग्रहण कर सकें।

तात्पर्य : कलियुग मनुष्यों के लिए अत्यन्त खतरनाक है। यह मानव जीवन तो आत्म-साक्षात्कार के ही निमित्त मिला है, किन्तु इस युग की करालता के कारण लोग जीवन के लक्ष्य को पूरा भूल चुके हैं। इस युग में आयु क्रमशः घटती जायेगी। लोग अपनी स्मृति, कोमल भावनाएँ, बल तथा उत्तम गुण खो देंगे। इस युग की विषमताओं की सूची इस ग्रन्थ के बारहवें स्कन्ध में दी गई है। अतः जो लोग इस जीवन का उपयोग आत्म-साक्षात्कार में करना चाहते हैं, उनके लिए यह युग अत्यन्त दुष्कर है। लोग इन्द्रियतृप्ति में इतने अधिक व्यस्त हैं कि वे आत्म-साक्षात्कार को पूरी तरह भूल चुके हैं। उन्मत्तता से वशीभूत वे साफ-साफ कहते हैं कि आत्म-साक्षात्कार की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे यह नहीं समझते कि यह संक्षिप्त जीवन आत्म-साक्षात्कार की विशाल यात्रा का एक मात्र क्षण है। समूची शिक्षा-पद्धति इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख है और यदि कोई विद्वान इस पर थोड़ा भी सोचे, तो वह देखेगा कि इस युग के सारे बच्चों को जानबूझ कर तथाकथित शिक्षारूपी वधशालाओं में भेजा जा रहा है। अतएव विद्वान पुरुषों को इस युग के प्रति सचेष्ट रहना है और यदि वे इस घोर कलियुग रूपी समुद्र को पार करना चाहते हैं तो उन्हें नैमिषारण्य के ऋषियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिए और श्री सूत गोस्वामी या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि को नाव के कर्णधार के रूप में स्वीकार करना चाहिए। वह नाव *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* के रूप में ही भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश ही है।

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।

स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ब्रूहि—कृपया कहें; योग-ईश्वरे—समस्त योग शक्तियों के स्वामी; कृष्णे—भगवान् कृष्ण; ब्रह्मण्ये—परम सत्य; धर्म—धर्म; धर्मणि—रक्षक; स्वाम्—अपना; काष्ठाम्—धाम; अधुना—इस समय; उपेते—चले गये; धर्मः—धर्म; कम्—किसकी; शरणम्—शरण में; गतः—गया हुआ।

चूँकि परम सत्य, योगेश्वर, श्रीकृष्ण अपने निज धाम के लिए प्रयाण कर चुके हैं, अतएव कृपा करके हमें बताएँ कि अब धर्म ने किसका आश्रय लिया है ?

तात्पर्य : धर्म मूल रूप से साक्षात् भगवान् द्वारा स्थापित आचार-संहिता है। जब भी धर्म के सिद्धान्तों का दुरुपयोग होता है या उसकी उपेक्षा की जाती है, तो धर्म की स्थापना करने के लिए भगवान् स्वयं अवतरित होते हैं। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* में किया गया है। यहाँ पर नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि इन्हीं सिद्धान्तों के विषय में पूछ रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर आगे दिया गया है। *श्रीमद्भागवत* भगवान् की दिव्य वाणी का स्वरूप है। इस प्रकार यह दिव्य ज्ञान एवं धर्म का पूर्ण स्वरूप है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत, “मुनियों की जिज्ञासा” नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

दिव्यता तथा दिव्य सेवा

व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः ।

प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—व्यास ने कहा; इति—इस प्रकार; सम्प्रश्न—पूर्ण जिज्ञासा; संहृष्टः—पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; विप्राणाम्—वहाँ के मुनियों का; रौमहर्षणिः—रौमहर्षण के पुत्र, उग्रश्रवा; प्रतिपूज्य—उनको धन्यवाद देकर; वचः—शब्द; तेषाम्—उनके; प्रवक्तुम्—उन्हें उत्तर देने के लिए; उपचक्रमे—प्रयत्न किया।

रौमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा (सूत गोस्वामी) ने ब्राह्मणों के सम्यक् प्रश्नों से पूर्णतः प्रसन्न होकर उन्हें धन्यवाद दिया और वे उत्तर देने का प्रयास करने लगे।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने सूत गोस्वामी से छह प्रश्न पूछे और अब वे एक एक करके उनका उत्तर दे रहे हैं।

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं

द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।

पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-

स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यम्—जिसको; प्रव्रजन्तम्—संन्यास लेते समय; अनुपेतम्—जनेऊ (यज्ञोपवीत) संस्कार किये बिना; अपेत—संस्कार न करके; कृत्यम्—करणीय कर्तव्य; द्वैपायनः—व्यासदेव ने; विरह—वियोग से; कातरः—भयभीत होकर; आजुहाव—पुकारा; पुत्र इति—हे पुत्र; तत्—मयतया—इस प्रकार लीन होकर; तरवः—सारे वृक्षों ने; अभिनेदुः—उत्तर दिया; तम्—उसको; सर्व—समस्त; भूत—जीवों के; हृदयम्—हृदय; मुनिम्—मुनि को; आनतः अस्मि—नमस्कार करता हूँ।

श्रील सूत गोस्वामी ने कहा : मैं उन महामुनि (शुकदेव गोस्वामी) को सादर नमस्कार करता हूँ जो सबों के हृदय में प्रवेश करने में समर्थ हैं। जब वे यज्ञोपवीत संस्कार अथवा

उच्च जातियों द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठानों को सम्पन्न किये बिना संन्यास ग्रहण करने चले गये तो उनके पिता व्यासदेव उनके वियोग के भय से आतुर होकर चिल्ला उठे, “हे पुत्र,” उस समय जो वैसी ही वियोग की भावना में लीन थे, केवल ऐसे वृक्षों ने शोकग्रस्त पिता के शब्दों का प्रतिध्वनि के रूप में उत्तर दिया।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम प्रथा में अनुयायियों द्वारा पालन करने के लिए अनेक कर्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं। ऐसे कर्तव्यों में निर्देश है कि वेदों का अध्ययन करने वाले जिज्ञासु को प्रामाणिक गुरु के पास जाकर अपने को शिष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करनी होती है। जो प्रामाणिक गुरुओं अथवा आचार्य से वेदों का अध्ययन करने के लिए सुयोग्य हैं, जनेऊ (यज्ञोपवीत) उनका प्रतीक है। श्री शुकदेव गोस्वामी ने ये संस्कार नहीं किये, क्योंकि वे जन्म से ही मुक्तात्मा थे।

सामान्य रूप से मनुष्य साधारण जीव के रूप में जन्म लेता है और शुद्धीकरण संस्कारों के द्वारा उसका दुबारा जन्म होता है। जब उसे नया प्रकाश दिखता है और वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए दिशा खोजता है, तो वेदों के उपदेश हेतु वह गुरु के पास जाता है। गुरु केवल निष्ठावान जिज्ञासु को ही शिष्य रूप में अपनाते हैं और उसे जनेऊ (यज्ञोपवीत) प्रदान करते हैं। इस प्रकार से मनुष्य दूसरी बार जन्मता है या द्विज बनता है। द्विज बनने के बाद वह वेदों का अध्ययन करता है और वेदों में पटु होने पर वह विप्र बनता है। विप्र या योग्य ब्राह्मण परम ब्रह्म का साक्षात्कार करता है और तब तक आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करता रहता है, जब तक वह वैष्णव अवस्था तक नहीं पहुँच जाता। वैष्णव अवस्था यह किसी ब्राह्मण के लिए स्नातकोत्तर अवस्था है। प्रगतिशील ब्राह्मण को निश्चित रूप से वैष्णव बनना चाहिए, क्योंकि वैष्णव ही स्वरूपसिद्ध विद्वान ब्राह्मण होता है।

श्रील शुकदेव गोस्वामी प्रारम्भ से ही वैष्णव थे, अतः उन्हें वर्णाश्रम-धर्म के संस्कारों की कोई आवश्यकता न थी। वर्णाश्रम-धर्म का चरम लक्ष्य अपरिष्कृत मनुष्य को भगवान् के शुद्ध भक्त या वैष्णव में बदलना है। अतः जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी वैष्णव द्वारा स्वीकृत किए जाने

पर वैष्णव बन जाता है, चाहे उसका जन्म या पूर्व कर्म कैसे भी रहे हों, उसे ब्राह्मण माना जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस सिद्धान्त को स्वीकर किया था और श्रील हरिदास ठाकुर को *नामाचार्य* बनाया था, यद्यपि हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था। निष्कर्ष यह है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी जन्म से ही वैष्णव थे, अतः वे ब्राह्मणत्व से समन्वित थे। उन्हें किसी प्रकार के संस्कार करने की आवश्यकता न थी। कोई भी निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति, चाहे वह किरात हो, या हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकश, आभीर, शुम्भ, यवन, खस, या इनसे भी निम्न हो, वैष्णवों की कृपा से उसका उद्धार हो जाता है और वह सर्वोच्च दिव्य पद को प्राप्त करता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी श्री सूत गोस्वामी के गुरु थे, अतः वे नैमिषारण्य के मुनियों के प्रश्नों के उत्तर देने के पूर्व अपने गुरु को नमस्कार करते हैं।

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-

मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।

संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं

तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; स्व-अनुभावम्—आत्म-अनुभवी; अखिल—समस्त; श्रुति—वेदों का; सारम्—सार, निष्कर्ष; एकम्—एकमात्र; अध्यात्म—दिव्य; दीपम्—दीपक; अतितितीर्षताम्—पार जाने की इच्छा से; तमः अन्धम्—गहन अन्धकारमय भौतिक अस्तित्व; संसारिणाम्—भौतिकतावादी मनुष्यों का; करुणया—अहैतुकी कृपा से; आह—कहा; पुराण—पुराण, वेदों के पूरक ग्रंथ; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; तम्—उन; व्यास-सूनुम्—व्यासदेव के पुत्र को; उपयामि—नमस्कार करता हूँ; गुरुम्—गुरु को; मुनीनाम्—मुनियों के।

मैं समस्त मुनियों के गुरु, व्यासदेव के पुत्र (शुकदेव) को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने संसार के गहन अंधकारमय भागों को पार करने के लिए संघर्षशील उन निपट भौतिकतावादियों के प्रति अनुकम्पा करके वैदिक ज्ञान के सार रूप इस परम गुह्य पुराण को स्वयं आत्मसात् करने के बाद अनुभव द्वारा कह सुनाया।

तात्पर्य : इस स्तुति में श्रील सूत गोस्वामी *श्रीमद्भागवत* की पूर्ण भूमिका का सार प्रस्तुत करते हैं। *श्रीमद्भागवत* वेदान्त-सूत्रों की सहज पूरक टीका है। व्यासदेव ने वैदिक ज्ञान का सार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से वेदान्त-सूत्र या ब्रह्म-सूत्र का संकलन किया था। *श्रीमद्भागवत* इस सार

का सहज भाष्य है। श्रील शुकदेव गोस्वामी वेदान्त-सूत्र के पूर्ण रूप से अनुभूत पंडित थे, अतः उन्होंने इस टीका की स्वयं भी अनुभूति की थी। और जो अज्ञानता के सागर को पूरी तरह से पार करना चाहते हैं, ऐसे मोहग्रस्त भौतिकतावादी व्यक्तियों पर असीम कृपा करके उन्होंने इस गुह्य ज्ञान को प्रथम बार सुनाया।

इस पर तर्क करना निरर्थक है कि भौतिकतावादी व्यक्ति सुखी हो सकता है। कोई भी भौतिकतावादी जीव—चाहे वह महान् ब्रह्मा हो, या कि क्षुद्र चींटी, सुखी नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति सुख की स्थायी योजना बनाता है, किन्तु वह प्रकृति के नियमों से परास्त हो जाता है। अतः भौतिकतावादी संसार ईश्वर की सृष्टि का सर्वाधिक अन्धकारमय भाग कहलाता है। तथापि दुखी भौतिकतावादी व्यक्तियों के इससे निकलने की मात्र इच्छा करने से ही वे बाहर निकल सकते हैं। दुर्भाग्यवश वे इतने मूर्ख हैं कि बाहर निकलना चाहते ही नहीं। अतः उनकी तुलना उस ऊँट से की जाती है, जिसे कैंटीली टहनियाँ पसन्द हैं, क्योंकि रक्त से सनी टहनियों का स्वाद उसे अच्छा लगता है। वह ऐसा समझ नहीं पाता कि यह तो उसका अपना ही रक्त है, जो काँटों के द्वारा जीभ के कट जाने से निकलता है। इसी प्रकार भौतिकतावादी व्यक्ति को अपना खुद का रक्त मधु की तरह मीठा लगता है और वह अपनी ही भौतिक कृतियों से परेशान होने पर भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति *कर्मी* कहलाते हैं। ऐसे लाखों कर्मियों में से कुछ ही भौतिक व्यापार से उब कर इस भूलभुलैया से निकल भागना चाहते हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति *ज्ञानी* कहलाते हैं। वेदान्त-सूत्र ऐसे ही ज्ञानियों के लिए है। किन्तु परमेश्वर का अवतार होने के कारण, श्रील व्यासदेव को पूर्वानुमान हो गया था कि धूर्त लोग वेदान्त-सूत्र का दुरुपयोग कर सकते हैं, इसीलिए उन्होंने वेदान्त-सूत्र के पूरक रूप में *भागवत-पुराण* की रचना की। यह स्पष्ट कथन है कि यह *भागवत* ब्रह्म-सूत्रों का मूल भाष्य है। श्रील व्यासदेव ने अपने पुत्र श्रील शुकदेव को भी *भागवत* का उपदेश दिया, जो पहले से अध्यात्म अवस्था को प्राप्त एक मुक्त पुरुष थे। श्रील शुकदेव ने स्वयं इसकी अनुभूति की और तब इसका व्याख्यान किया। श्रील शुकदेव की

कृपा से *भागवत-वेदान्त-सूत्र* उन सभी निष्ठावान लोगों के लिए सुलभ है जो भवसागर से उबरना चाहते हैं।

श्रीमद्भागवत वेदान्त-सूत्र का अद्वितीय भाष्य है। श्रीपाद शंकराचार्य ने जानबूझ कर इसे नहीं छुआ, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि इस सहज टीका को मात देना उनके लिए कठिन होगा। उन्होंने 'शारीरक-भाष्य' लिखा और उनके तथाकथित अनुयायियों ने *भागवत* को 'नवीन' कृति कहकर इसका तिरस्कार किया। *भागवत* के विरुद्ध मायावाद सम्प्रदाय द्वारा ऐसे प्रचार से किसी को भ्रमित नहीं होना चाहिए। इस प्रास्तविक श्लोक से नौसिखिए जिज्ञासु को यह जानना चाहिए कि *भागवत* एकमात्र दिव्य साहित्य है, जो परमहंसों तथा ईर्ष्या-द्वेष रूपी भौतिक रोग से मुक्त व्यक्तियों के लिए है। मायावादी भगवान् के प्रति ईर्ष्यालु होते हैं, यद्यपि श्रीपाद शंकराचार्य ने भगवान् नारायण को सृष्टि से ऊपर (परे) बताया है। ये ईर्ष्यालु मायावादी *भागवत* तक नहीं पहुँच पाते, किन्तु जो लोग सचमुच इस भवसागर से पार निकलने के इच्छुक हैं, वे *भागवत* का आश्रय ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इसका प्रवचन मुक्त पुरुष श्रील शुकदेव गोस्वामी ने किया है। यह वह दिव्य प्रकाशपुंज है जिसके द्वारा ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् के रूप में अनुभूति किये जाने वाले दिव्य परम सत्य को भली भाँति देखा जा सकता है।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नारायणम्—भगवान् को; नमः—कृत्य—नमस्कार करके; नरम् च एव—तथा नारायण ऋषि को; नर-उत्तमम्—सर्वश्रेष्ठ मनुष्य; देवीम्—देवी; सरस्वतीम्—विद्या की अधिष्ठात्री को; व्यासम्—व्यासदेव को; ततः—तत्पश्चात्; जयम्—विजय प्राप्त करने के लिए; उदीरयेत्—घोषित करे।

विजय के साधनस्वरूप इस श्रीमद्भागवत का पाठ करने (सुनने) के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् नारायण को, नरोत्तम नरनारायण ऋषि को, विद्या की देवी माता सरस्वती को तथा ग्रंथकार श्रील व्यासदेव को नमस्कार करे।

तात्पर्य : सारा वैदिक साहित्य तथा सारे पुराण इस भौतिक जगत के गहनतम भागों पर विजय प्राप्त करने के लिए हैं। जीव अनादि काल से भौतिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त होने के कारण ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल चुका है। इस भौतिक जगत में उसका जीवन-संघर्ष अविरत चलने वाला है और इस के लिए कोई योजना बनाकर जीव का इसमें से निकल पाना सम्भव नहीं है। यदि वह इस अविरत जीवन-संघर्ष पर विजय पाना चाहता है, तो उसे ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को पुनःस्थापित करना होगा। जो भी इस प्रकार के निवारक उपाय अपनाना चाहता है, उसे वेदों तथा पुराणों जैसे साहित्य का आश्रय लेना होगा। मूर्ख लोगों का कहना है कि पुराणों का वेदों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ये पुराण विभिन्न प्रकार के लोगों के लिए वेदों की पूरक व्याख्याएँ हैं। सभी मनुष्य एक से नहीं होते। कुछ लोग सतोगुणी होते हैं, कुछ रजोगुणी होते हैं और कुछ तमोगुणी होते हैं। पुराणों को इस प्रकार से विभक्त किया गया है कि किसी भी श्रेणी के लोग उनसे लाभ उठा सकते हैं और धीरे-धीरे अपनी खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त करके कठोर जीवन-संघर्ष से बाहर निकल सकते हैं। श्रील सूत गोस्वामी पुराणों के पाठ की विधि प्रदर्शित करते हैं। जो लोग वैदिक साहित्य तथा पुराणों के उपदेशक बनना चाहते हैं, वे इस विधि का पालन कर सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* निष्कलंक पुराण है और यह विशेषकर उनके लिए है, जो स्थायी रूप से भव-बन्धन से छूटने के इच्छुक हैं।

मुनयः साधु पृष्ठोऽहं भवद्विर्लोकमङ्गलम् ।

यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—हे मुनियों; साधु—यह प्रासंगिक है; पृष्ठः—पूछा गया; अहम्—मैं; भवद्विः—आप लोगों के द्वारा; लोक—संसार; मङ्गलम्—मंगल, कल्याण; यत्—क्योंकि; कृतः—बनाया गया; कृष्ण—भगवान्; सम्प्रश्नः—संगत प्रश्न; येन—जिससे; आत्मा—स्व; सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न होता है।

हे मुनियों, आपने मुझसे ठीक ही प्रश्न किया है। आपके प्रश्न श्लाघनीय हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से है और इस प्रकार वे विश्व-कल्याण के लिए हैं। ऐसे प्रश्नों से ही पूर्ण आत्मतुष्टि हो सकती है।

तात्पर्य : चूँकि पहले कहा जा चुका है कि *भागवत* के द्वारा परम सत्य को जाना जा सकता है, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के प्रश्न उचित हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर, परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं कि सारे वेदों में भगवान् कृष्ण की खोज की उत्कंठा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस तरह कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न सारी वैदिक जिज्ञासाओं के सार-समाहार हैं।

सारा संसार प्रश्नों तथा उत्तरों से परिपूर्ण है। सारे पक्षी, पशु तथा मनुष्य शाश्वत प्रश्नों एवं उत्तरों में व्यस्त हैं। भोर होते ही सारे पक्षी अपने-अपने नीड़ों में प्रश्नों तथा उत्तरों में लग जाते हैं और शाम होते ही वही पक्षी वापस आकर पुनः प्रश्नोत्तर में व्यस्त हो जाते हैं। मनुष्य भी, जब तक प्रगाढ़ निद्रा में सो नहीं जाता, प्रश्नोत्तर में व्यस्त रहता है। व्यापारी बाजारों में प्रश्नोत्तर में लगे रहते हैं और इसी प्रकार न्यायालय में वकील तथा विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में विद्यार्थी भी व्यस्त रहते हैं। सांसद भी संसद में प्रश्नोत्तर में ही लगे होते हैं और राजनीतिज्ञ तथा प्रेस-प्रतिनिधि भी प्रश्नोत्तर में मशगूल दिखते हैं। यद्यपि ये लोग जीवन भर ऐसे प्रश्न तथा उत्तर करते रहते हैं, किन्तु रंचमात्र तुष्ट नहीं हो पाते। आत्मा की तुष्टि तो केवल कृष्ण विषयक प्रश्नोत्तरों से ही हो सकती है।

कृष्ण हमारे अंतरंग स्वामी, मित्र, पिता या पुत्र तथा माधुर्य प्रेम के लक्ष्य (प्रियतम) हैं। कृष्ण को भूल कर हमने प्रश्नों तथा उत्तरों के अनेक विषय बना लिये हैं, किन्तु इनमें से किसी से भी हमें पूर्ण तुष्टि नहीं हो पाती। कृष्ण के अतिरिक्त सारी वस्तुएँ क्षणिक तुष्टि प्रदान करने वाली हैं, अतः यदि हम पूर्ण तुष्टि चाहते हैं, तो हमें कृष्ण विषयक प्रश्नों तथा उत्तरों को ग्रहण करना होगा। बिना प्रश्न किये या उत्तर दिये हम क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते। चूँकि *श्रीमद्भागवत* कृष्ण विषयक प्रश्नों तथा उत्तरों को बताने वाला ग्रंथ है, अतएव हम इस दिव्य साहित्य के पठन तथा श्रवण मात्र से परम तुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* को समझ कर समस्त सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक विषयों से सम्बद्ध समस्याओं का हल खोज निकाले। *श्रीमद्भागवत* तथा कृष्ण समस्त वस्तुओं के सार हैं।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—मनुष्यों के लिए; परः—दिव्य; धर्मः—वृत्ति; यतः—जिससे; भक्तिः—भक्ति;
अधोक्षजे—अध्यात्म के प्रति; अहैतुकी—अकारण; अप्रतिहता—अखण्ड; यया—जिससे; आत्मा—आत्मा;
सुप्रसीदति—पूर्ण रूप से प्रसन्न होता है।

सम्पूर्ण मानवता के लिए परम वृत्ति (धर्म) वही है, जिसके द्वारा सारे मनुष्य दिव्य भगवान् की प्रेमा-भक्ति प्राप्त कर सकें। ऐसी भक्ति अकारण तथा अखण्ड होनी चाहिए जिससे आत्मा पूर्ण रूप से तुष्ट हो सके।

तात्पर्य : इस कथन के द्वारा श्री सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं। ऋषियों ने सूत जी से अनुरोध किया था कि वे समस्त प्रामाणिक शास्त्रों का सार प्रस्तुत करें, जिससे पतितात्माएँ या जनसामान्य उसे सरलता से ग्रहण कर सकें। वेदों में मनुष्य के लिए दो प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं। एक प्रवृत्ति-मार्ग या इन्द्रिय-भोग का मार्ग कहलाती है और दूसरी निवृत्ति-मार्ग या त्याग का मार्ग कहलाती है। भोग का मार्ग निकृष्ट है और परम कारण के हेतु निवृत्ति का मार्ग श्रेष्ठ है। जीव का भौतिक जीवन एक प्रकार से वास्तविक जीवन की रुग्ण अवस्था है। वास्तविक जीवन तो ब्रह्मभूत अवस्था अर्थात् आध्यात्मिक अस्तित्व है, जहाँ जीवन सनातन, आनन्दमय तथा ज्ञान से परिपूर्ण है। भौतिक जीवन नाशवान, मोहपूर्ण तथा कष्टमय है। इसमें सुख तो है ही नहीं। यहाँ केवल कष्टों से छुटकारा पाने का व्यर्थ प्रयास मात्र है और कष्टों का क्षणिक नाश मिथ्या ही सुख कहलाता है। अतः बढ़ते जाने वाले भौतिक भोग का मार्ग नाशवान, कष्टमय तथा मोहपूर्ण होने के कारण निकृष्ट है। किन्तु भगवद्भक्ति श्रेष्ठ धर्म कहलाती है, क्योंकि वह मनुष्य को सनातन, आनन्दमय एवं ज्ञान से परिपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर करती है। जब इसमें निकृष्ट गुण मिल जाते हैं तो यह कभी-कभी दूषित हो जाती है। उदाहरणार्थ, भौतिक लाभ के लिये की गई भक्तिमय सेवा प्रगतिशील निवृत्ति मार्ग में बाधक है। इस रुग्ण जीवन को भोगने की अपेक्षा संन्यास या सर्वत्याग श्रेष्ठतर वृत्ति है। ऐसे भोग से केवल रोग के

लक्षण बढ़ते हैं और उसकी अवधि भी बढ़ जाती है। अतः भगवद्भक्ति शुद्ध होनी चाहिए, अर्थात् उसमें भौतिक सुखोपभोग की रंचमात्र कामना नहीं रहनी चाहिए। अतः मनुष्य को चाहिए कि वृथा की कामना, सकाम कर्म तथा दार्शनिक तर्क-वितर्क से रहित भगवद्भक्ति रूपी उच्च कोटि की वृत्ति को स्वीकार करे। इसीसे उनकी सेवा में शाश्वत सन्तोष प्राप्त होगा।

हमने जानबूझ कर धर्म को वृत्ति कहा है, क्योंकि धर्म शब्द का मूल अर्थ है “वह जो किसी के अस्तित्व को सम्हाले रखता है।” जीव के अस्तित्व इसी बात पर निर्भर है कि वह अपने कार्यों को भगवान् कृष्ण के साथ अपने सनातन सम्बन्ध में समन्वित करे। कृष्ण समस्त जीवों के मध्यवर्ती घुरी हैं और वे अन्य समस्त जीवों अथवा शाश्वत रूपों में सर्वाकर्षक व्यक्तित्व हैं। प्रत्येक एवं समस्त जीवों का दिव्य जगत में एक शाश्वत रूप होता है और कृष्ण उन सबों के लिए परम आकर्षक हैं। कृष्ण परम पूर्ण हैं और अन्य सभी उनके अंश-प्रत्यंश हैं। इनमें सेवक तथा सेव्य का सम्बन्ध है; यह दिव्य है और हमारे भौतिक अनुभव से सर्वथा भिन्न है। यह सेवक-सेव्य भाव घनिष्ठता का सर्वाधिक अनुकूल रूप है। जैसे जैसे भक्तिमय सेवा की प्रगति होगी, मनुष्य को इसका अनुभव होगा। हर व्यक्ति को इस भौतिक अस्तित्व की बद्ध अवस्था में भी भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करनी चाहिए। इससे मनुष्य को क्रमशः वास्तविक जीवन का संकेत प्राप्त हो सकेगा और पूर्ण तुष्टि का आनंद मिलेगा।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—कृष्ण के प्रति; भगवति—भगवान् के प्रति; भक्ति-योगः—भक्ति सम्बन्ध; प्रयोजितः—व्यवहृत; जनयति—उत्पन्न करता है; आशु—तुरन्त ही; वैराग्यम्—वैराग्य, विरक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; यत्—जो; अहैतुकम्—अकारण।

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा संसार से वैराग्य प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा को जो लोग भौतिक भावात्मक व्यापार की भाँति मानते हैं, वे यह तर्क कर सकते हैं कि शास्त्रों में तो यज्ञ, दान, तपस्या, ज्ञान, योग तथा इसी प्रकार की दिव्य साक्षात्कार की विधियों की संस्तुति की गई है। उनके मतानुसार भक्ति अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा तो उन लोगों के लिए है, जो उच्च कोटि के कर्म नहीं कर पाते। सामान्यतः यह कहा जाता है कि भक्ति उपासना-पद्धति तो शूद्रों, वैश्यों तथा अल्पबुद्धिमान स्त्री वर्ग के लिए है। किन्तु यह वास्तविक तथ्य नहीं है। भक्ति मार्ग समस्त दिव्य कर्मों में सर्वोपरि है। फलतः यह उत्कृष्ट होने के साथ ही साथ सरल भी है। यह उन शुद्ध भक्तों के लिए उत्कृष्ट है, जो परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं, और यह उन नवदीक्षितों के लिए सुगम है, जो भक्ति रूपी घर की दहलीज पर हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना एक महान विज्ञान है और यह सब जीवों के लिए खुला हुआ है, जिसमें शूद्र, वैश्य, स्त्रियाँ तथा शूद्र से भी निम्नकुल में उत्पन्न लोग सम्मिलित हैं, तो फिर गुणसम्पन्न ब्राह्मणों तथा महान स्वरूपसिद्ध राजाओं जैसे उच्च कोटि के लोगों के विषय में कहना ही है? यज्ञ, दान, तप इत्यादि नाम से प्रचलित अन्य उच्च कोटि के कार्य: ये सभी सूत्र—उप सिद्धान्त हैं जो शुद्ध तथा वैज्ञानिक भक्ति-पद्धति का अनुगमन करते हैं।

दिव्य अनुभूति के मार्ग में ज्ञान तथा वैराग्य के सिद्धान्त दो महत्त्वपूर्ण कारक हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक विधि भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रत्येक वस्तु के पूर्ण ज्ञान तक ले जाती है और इस पूर्ण ज्ञान का फल यह होता है कि मनुष्य भौतिक राग से विरक्त होकर आध्यात्मिक कार्यों में अनुरक्त हो जाता है। भौतिक राग से विरक्त होने का अर्थ पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाना नहीं है, जैसाकि अल्पज्ञान वाले लोग सोचते हैं। नैष्कर्म का अर्थ है, ऐसे कर्म न करना जिनका अच्छा या बुरा प्रभाव पड़े। निषेध का अर्थ सकारात्मक का निषेध नहीं है। अनावश्यक कार्यों का निषेध अनिवार्य का निषेध नहीं है। इसी प्रकार भौतिक रूपों से विरक्ति का अर्थ सकारात्मक रूप को नकारना नहीं है। भक्ति उपासना-पद्धति तो सकारात्मक रूप की अनुभूति के लिए निर्मित है। जब सकारात्मक रूप का साक्षात्कार हो जाता है, तो नकारात्मक रूप स्वतः विलग हो जाते हैं। अतः

भक्ति उपासना-पद्धति के विकास के साथ-साथ, वास्तविक रूप की सकारात्मक सेवा में व्यावहारिक रूप से जुड़ जाने से मनुष्य सहज रूप से निम्न कोटि की वस्तुओं से विलग होता जाता है और श्रेष्ठ वस्तुओं से जुड़ जाता है। इसी प्रकार भक्ति उपासना-पद्धति जीव का सर्वोच्च धर्म होने के कारण वह उसे भौतिक इन्द्रिय सुख से बाहर निकालती है। यही शुद्ध भक्त का लक्षण है। वह न तो मूर्ख होता है, न ही वह निकृष्ट शक्तियों में लगा रहता है, और न ही उसके पास भौतिक मूल्य होते हैं। यह केवल शुष्क चिन्तन से सम्भव नहीं। यह तो केवल भगवत्कृपा से ही सम्भव हो पाता है। निष्कर्ष यह है कि जो शुद्ध भक्त है वह अन्य सभी उत्तम गुणों से पूर्ण होता है यथा—ज्ञान, वैराग्य आदि, किन्तु जिसमें केवल ज्ञान तथा वैराग्य होता है वह भक्ति उपासना-पद्धति के नियमों से ठीक से परिचित हो, यह आवश्यक नहीं है। भक्ति मानवजाति का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—वृत्ति; स्वनुष्ठितः—अपने पद के अनुसार सम्पन्न; पुंसाम्—मनुष्यों का; विष्वक्सेन—भगवान् (पूर्ण अंश) की; कथासु—कथा में; यः—जो है; न—नहीं; उत्पादयेत्—उत्पन्न करता है; यदि—यदि; रतिम्—आसक्ति; श्रमः—व्यर्थ श्रम; एव—निरा; हि—निश्चय ही; केवलम्—पूर्ण रूप से।

मनुष्य द्वारा अपने पद के अनुसार सम्पन्न की गई वृत्तियाँ यदि भगवान् के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न न कर सकें, तो वे निरी व्यर्थ का श्रम होती हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की जीवन के प्रति विभिन्न अवधारणाओं के अनुसार वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। निपट भौतिकतावादी के लिए, जो स्थूल शरीर से परे कुछ भी नहीं देख पाता, इन्द्रियों से परे कुछ भी नहीं है। अतएव उसकी वृत्तियाँ संकेन्द्रित और विस्तारित स्वार्थ तक ही सीमित रहती हैं। यह संकेन्द्रित स्वार्थ अपने ही शरीर के चारों ओर केन्द्रित रहता है—सामान्य रूप से यह निम्न पशुओं में देखा जाता है। विस्तारित स्वार्थ मानव-समाज में दिखता है और यह परिवार, समाज, समुदाय, राष्ट्र तथा विश्व के दृष्टिकोण से शारीरिक सुख के इर्द-गिर्द घूमता है। इन निपट

भौतिकतावादियों के ऊपर मनोधर्मी तर्कवादी होते हैं, जो मनोजगत में उड़ान भरते रहते हैं और उनकी वृत्तियों में कविता बनाना तथा दार्शनिकपन या शरीर तथा मन के वही सीमित स्वार्थ के उद्देश्य से कोई 'वाद' चलाना सम्मिलित होते हैं। किन्तु शरीर तथा मन के ऊपर सुप्त आत्मा है, जो यदि शरीर में न रहे तो सारे शारीरिक तथा मानसिक स्वार्थ व्यर्थ एवं शून्य हो जाँय। किन्तु कम बुद्धिमान लोगों को आत्मा की आवश्यकताओं की कोई जानकारी नहीं होती।

चूँकि मूर्ख लोगों को न तो आत्मा की कोई जानकारी होती है और न इसकी ही कि वह शरीर तथा मन के विचार-क्षेत्र से किस तरह परे है, फलस्वरूप वे अपनी-अपनी वृत्तियों से संतुष्ट नहीं रहते। यहाँ पर आत्म-संतुष्टि का प्रश्न उठाया गया है। आत्मा स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से परे है। वह शरीर तथा मन का एक सशक्त सक्रिय तत्त्व है। सुप्त आत्मा की आवश्यकता को जाने बिना केवल शरीर तथा मन को तुष्ट करके कोई सुखी नहीं रह सकता। शरीर तथा मन तो आत्मा के व्यर्थ के बाह्य आवरण मात्र हैं। आत्मा की आवश्यकताएँ पूरी होनी ही चाहिए। केवल पंछी के पिंजड़े की सफाई करके पंछी को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। मनुष्य को इस पंछी की खुद की आवश्यकताएँ जाननी चाहिए।

आत्मा की आवश्यकता यह है कि वह भौतिक बन्धन के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलना चाहता है और पूर्ण स्वतन्त्रता की अपनी इच्छा को पूरा करना चाहता है। वह इस विशालतर ब्रह्माण्ड की आच्छादित दीवारों के बाहर जाना चाहता है। वह स्वतन्त्र प्रकाश तथा आत्मा का दर्शन करना चाहता है। उसे पूरी स्वतन्त्रता तब प्राप्त होती है, जब वह पूर्ण आत्मा, भगवान्, को मिलता है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर के प्रति प्रसुप्त स्नेह रहता है; आध्यात्मिक जीवन का प्राकट्य स्थूल शरीर तथा मन के माध्यम से स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ के प्रति विकृत प्रेम के रूप में होता है। अतएव हमें उन वृत्तियों (धर्म) में लगना होता है, जिनसे हमारी दैवी चेतना जगे। ऐसा परमेश्वर की दिव्य लीलाओं के श्रवण एवं कीर्तन द्वारा ही सम्भव है और ऐसी कोई भी वृत्ति जो मनुष्य को परमेश्वर के दिव्य सन्देश का श्रवण तथा कीर्तन करने में अनुरक्त नहीं करती है, यहाँ पर ऐसी वृत्ति को समय का अपव्यय बताया गया है। ऐसा इसलिए है कि अन्य वृत्तियाँ (चाहे वे

किसी भी 'वाद' के रूप में हों) आत्मा को मुक्ति नहीं दिला सकतीं। यहाँ तक कि मोक्षकामियों के कर्म भी व्यर्थ माने जाते हैं, क्योंकि वे समस्त स्वतन्त्रताओं के मूल स्रोत को नहीं जान पाते। निपट भौतिकतावादी व्यावहारिक रूप से देख सकता है कि उसका भौतिक लाभ काल तथा स्थल से बँधा है, चाहे वह इस लोक में हो या अन्यत्र। यदि वह स्वर्गलोक में भी चला जाये, तो उसकी लालायित आत्मा को वहाँ भी स्थायी वास नहीं मिलेगा। इस लालायित आत्मा को पूर्ण भक्ति की पूर्ण वैज्ञानिक विधि द्वारा तुष्ट किया जाना चाहिए।

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थयोपकल्पते ।

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—वृत्ति का; हि—निश्चय ही; आपवर्ग्यस्य—अन्तिम मोक्ष का; न—नहीं; अर्थः—अन्त, लक्ष्य; अर्थाय—भौतिक लाभ के लिए; उपकल्पते—साधन के हेतु; न—न तो; अर्थस्य—भौतिक लाभ का; धर्म—एक-अन्तस्य—धर्म में लगे हुए के लिए; कामः—इन्द्रियतृप्ति के; लाभाय—लाभ हेतु; हि—सही सही; स्मृतः—ऋषियों द्वारा बताया गया है।

समस्त वृत्तिपरक कार्य निश्चय ही परम मोक्ष के निमित्त होते हैं। उन्हें कभी भौतिक लाभ के लिए सम्पन्न नहीं किया जाना चाहिए। इससे भी आगे, ऋषियों के अनुसार, जो लोग परम वृत्ति (धर्म) में लगे हैं, उन्हें चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के संवर्धन हेतु भौतिक लाभ का उपयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : हम पहले ही बता चुके हैं कि पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक अस्तित्व से विरक्ति भगवान् की शुद्ध भक्तिमय सेवा के पीछे-पीछे स्वतः आ जाते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो मानते हैं कि धर्म सहित समस्त प्रकार की वृत्तियाँ, भौतिक लाभ के निमित्त हैं। संसार के किसी भी भाग में किसी भी साधारण व्यक्ति की सामान्य प्रवृत्ति यही होती है कि धार्मिक या अन्य वृत्ति के बदले कोई न कोई भौतिक लाभ प्राप्त हो। यहाँ तक कि वैदिक साहित्य में भी, समस्त धार्मिक कृत्यों के लिए भौतिक लाभ का प्रलोभन दिया गया है और अधिकांश लोग ऐसे धार्मिकता के प्रलोभनों अथवा आशीर्वादों के प्रति आकृष्ट होते हैं। तो फिर ऐसे तथाकथित धार्मिक लोग भौतिक लाभों के प्रति क्यों आकृष्ट होते हैं? क्योंकि भौतिक लाभ से इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है और

इच्छाओं की पूर्ति से इन्द्रियतृप्ति होती है। वृत्तियों के इस चक्र में तथाकथित धार्मिकता भी आती है, जिसके बाद भौतिक लाभ और भौतिक लाभ के बाद इच्छापूर्ति होती है। इन्द्रियतृप्ति पूरी तरह से व्यस्त समस्त प्रकार के व्यक्तियों का सामान्य मार्ग है। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के निर्णय अनुसार, इस श्लोक में सूत गोस्वामी के कथन द्वारा इसका निषेध किया गया है।

मनुष्य को चाहिए कि केवल भौतिक लाभ के लिए ही कोई वृत्ति न अपनाये। न ही भौतिक लाभ का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाय। भौतिक लाभ का सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इसका वर्णन आगे हुआ है।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कामस्य—इच्छाओं का; न—नहीं; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; प्रीतिः—तृप्ति; लाभः—लाभ; जीवेत—आत्मसंरक्षण;
यावता—जितना; जीवस्य—जीव का; तत्त्व—परम सत्य की; जिज्ञासा—पूछताछ, उत्कंठा; न—नहीं; अर्थः—अन्त,
लक्ष्य; यः च इह—अन्य जो भी; कर्मभिः—वृत्तियों के द्वारा।

जीवन की इच्छाएँ इन्द्रियतृप्ति की ओर लक्षित नहीं होनी चाहिए। मनुष्य को केवल स्वस्थ जीवन की या आत्म-संरक्षण की कामना करनी चाहिए, क्योंकि मानव तो परम सत्य के विषय में जिज्ञासा करने के निमित्त बना है। मनुष्य की वृत्तियों का इसके अतिरिक्त, अन्य कोई लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य : पूर्ण रूप से मोहग्रस्त भौतिक सभ्यता गलत तरीके से इन्द्रियतृप्ति की इच्छापूर्ति की दिशा में अग्रसर है। ऐसी सभ्यता में, जीवन के सभी क्षेत्रों में, इन्द्रियतृप्ति ही चरम लक्ष्य होता है। चाहे राजनीति हो या कि समाज सेवा, परोपकार, परहितवाद या धर्म, यहाँ तक कि मोक्ष में भी वही इन्द्रियतृप्ति के रंग की प्रधानता बढ़ती ही जा रही है। राजनीतिक क्षेत्र में लोगों के नेता अपनी-अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए परस्पर झगड़ते हैं। मतदाता भी नेताओं को तभी मानते हैं, जब वे उनकी इन्द्रियतृप्ति कराने का वचन देते हैं। जब मतदाता अपनी इन्द्रियतृप्ति में असन्तुष्ट हो जाते हैं, तब वे नेता को पदच्युत करा देते हैं। नेताओं द्वारा मतदाताओं की इन्द्रियों की तृप्ति न करके

उन्हें सदैव निराश करना पड़ता है। अन्य क्षेत्रों में भी यह लागू होता है; कोई भी जीवन की समस्याओं के प्रति गम्भीर नहीं है। यहाँ तक कि परम सत्य से तदाकार होने के इच्छुक पथगामी (मुमुक्षु) भी इन्द्रियतृप्ति के लिए आध्यात्मिक हत्या करने तक को उद्यत रहते हैं। किन्तु *भागवत* का कथन है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं जीना चाहिए। इन्द्रियों की तृप्ति वहीं तक की जाय, जहाँ तक आत्म-संरक्षण हेतु आवश्यकता हो, इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। चूँकि शरीर इन्द्रियों से बना है और ये इन्द्रियाँ कुछ न कुछ तृप्ति चाहती हैं, अतः ऐसी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कुछ विधि-विधान बनाये गये हैं। किन्तु इन्द्रियाँ अनियन्त्रित भोग के लिए नहीं हैं। उदाहरणार्थ, विवाह यानी स्त्री तथा पुरुष की युति सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है, किन्तु यह इन्द्रिय-भोग के लिए नहीं होता। स्वेच्छ निरोध के अभाव में परिवार नियोजन के लिए प्रचार करना पड़ता है, किन्तु मूर्ख लोग यह नहीं जानते हैं कि परम सत्य की खोज में लगते ही स्वतः परिवार नियोजन हो जाता है। परम सत्य की खोज करने वाले कभी भी अनावश्यक इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि परम सत्य की खोज के कार्य में वे पूरी तरह व्यस्त रहते हैं। अतएव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परम सत्य की खोज को ही चरम लक्ष्य बनाना चाहिए। इससे मनुष्य सुखी होगा क्योंकि वह तरह-तरह की इन्द्रियतृप्ति में कम लिप्त होगा। और वह परम सत्य क्या है, इसकी व्याख्या आगे की गई है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वदन्ति—वे कहते हैं; तत्—वह; तत्त्व-विदः—विद्वान लोग; तत्त्वम्—परम सत्य को; यत्—जो; ज्ञानम्—ज्ञान; अद्वयम्—अद्वैत; ब्रह्म इति—ब्रह्म नाम से जाना जाने वाला; परमात्मा इति—परमात्मा नाम से जाना जाने वाला; भगवान् इति—भगवान् नाम से जाना जाने वाला; शब्द्यते—कहलाने वाले हैं।

परम सत्य को जानने वाले विद्वान अध्यात्मवादी (तत्त्वविद) इस अद्वय तत्त्व को ब्रह्म,

परमात्मा या भगवान् के नाम से पुकारते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हैं और इनमें कोई गुणात्मक भेद नहीं है। अतः ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् गुणात्मक रूप से एक ही हैं। इसी को उपनिषदों के जिज्ञासु निर्विशेष ब्रह्म के रूप में, हिरण्यगर्भ या योगीजन अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में तथा भक्तगण भगवान् के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् अर्थात् परमेश्वर का स्वरूप परम सत्य का अन्तिम शब्द है। परमात्मा भगवान् का आंशिक स्वरूप है और निर्विशेष ब्रह्म भगवान् का वैसा ही तेज है, जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्यदेव के लिए हैं। कभी-कभी उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के अल्पज्ञ जिज्ञासु अपनी-अपनी अनुभूति के पक्ष में तर्क करते हैं, किन्तु जो लोग परम सत्य के वास्तविक दृष्टा हैं, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि एक ही परम सत्य के ये तीन लक्षण भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न दिखते हैं।

जैसाकि *भागवत* के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है, परम सत्य परम-पूर्ण, सर्वज्ञ तथा सापेक्षता के मोह से सर्वथा मुक्त हैं। इस सापेक्ष जगत में ज्ञाता ज्ञेय से भिन्न होता है, किन्तु परम सत्य में ज्ञाता और ज्ञेय एक ही होते हैं। सापेक्ष जगत में ज्ञाता जीवंत आत्मा या परा शक्ति है, जबकि ज्ञेय निष्क्रिय पदार्थ या अपरा शक्ति के रूप में होता है। अतः यहाँ परा तथा अपरा शक्ति का द्वैत है, किन्तु निरपेक्ष जगत में ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों एक ही परा शक्ति के होते हैं। परम शक्तिमान की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं होता, लेकिन शक्तियों की गुणवत्ता में अन्तर होता है। परम जगत तथा जीवात्माएँ एक ही पराशक्ति से बने हैं, लेकिन यह भौतिक जगत अपरा शक्ति है। जीव अपरा शक्ति के सम्पर्क में रहने से मोहग्रस्त हो जाता है और यह सोचता है कि वह अपरा शक्ति से सम्बन्धित है। अतः भौतिक जगत में सापेक्षता का भाव है। किन्तु परम पूर्ण में ज्ञाता तथा ज्ञेय में अन्तर नहीं होता और प्रत्येक वस्तु पूर्ण (परम) होती है।

तच्छ्रद्धधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; श्रद्धाऽनाः—गम्भीर जिज्ञासु; मुनयः—मुनिगण; ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; युक्तया—से समन्वित;
पश्यन्ति—देखते हैं; आत्मनि—अपने में; च—तथा; आत्मानम्—परमात्मा को; भक्त्या—भक्ति से; श्रुत—वेद से;
गृहीतया—भलीभाँति ग्रहण किया गया।

ज्ञान तथा वैराग्य से समन्वित गम्भीर जिज्ञासु या मुनि, वेदान्त-श्रुति के श्रवण से ग्रहण की हुई भक्ति द्वारा परम सत्य की अनुभूति करता है।

तात्पर्य : भगवान् वासुदेव जो परम सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के समान हैं, उनकी भक्तिमय सेवा की प्रक्रिया से परम सत्य की अनुभूति होती है। ब्रह्म उनका दिव्य शारीरिक तेज है और परमात्मा उनका आंशिक स्वरूप है। फलतः ब्रह्म या परमात्मा की अनुभूति परम सत्य की आंशिक अनुभूति मात्र है। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं—कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा भक्त। कर्मी भौतिकतावादी होते हैं, किन्तु शेष तीन अध्यात्मवादी होते हैं। भक्त प्रथम श्रेणी के अध्यात्मवादी होते हैं, जिन्होंने परम पुरुष का साक्षात्कार कर लिया है। दूसरी श्रेणी में वे अध्यात्मवादी आते हैं, जिन्होंने परम पुरुष के पूर्ण अंश का आंशिक साक्षात्कार किया है और तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जिन्हें परम पुरुष की दिव्य झाँकी का आभास मात्र होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में कहा गया है, परम पुरुष का साक्षात्कार भक्तिमय सेवा द्वारा किया जाता है, जिसके पीछे पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक संगति से वैराग्य सन्निहित रहते हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि भक्तिमय सेवा के बाद ज्ञान तथा भौतिक संगति से वैराग्य आते हैं। चूँकि ब्रह्म तथा परमात्मा की अनुभूति उन परम सत्य की अपूर्ण अनुभूतियाँ हैं, अतः ब्रह्म तथा परमात्मा को प्राप्त करने के साधन अर्थात् ज्ञान तथा योग मार्ग भी परम सत्य की अनुभूति के अपूर्ण साधन हैं। भक्ति ही एकमात्र पूर्ण विधि है जिससे गम्भीर जिज्ञासु को परम सत्य की अनुभूति हो सकती है, क्योंकि भक्ति की नींव पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक संग से वैराग्य के ऊपर खड़ी होती है और वेदान्त-श्रुति के श्रवण द्वारा सुदृढ़ होती है। अतः ऐसा नहीं है कि भक्ति अल्पज्ञ अध्यात्मवादियों के निमित्त होती है। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय। तृतीय श्रेणी के भक्त या नवदीक्षित भक्त, जो ज्ञानविहीन होते हैं, वे भौतिक संगति से विरक्त नहीं होते। वे तो मन्दिर में अर्चा-विग्रह की पूजा की प्रारम्भिक प्रक्रिया के प्रति ही आकृष्ट होते हैं। ऐसे भक्त भौतिक भक्त कहलाते हैं।

ऐसे भक्त आध्यात्मिक लाभ की अपेक्षा भौतिक लाभ के प्रति अधिक आसक्त रहते हैं। अतः मनुष्य को इस भौतिक भक्ति से उन्नति करके भक्ति की द्वितीय अवस्था प्राप्त करनी होती है। इस द्वितीय अवस्था में भक्त को भक्ति की दिशा में चार तत्त्व दिखाई पड़ते हैं—परम ईश्वर, उनके भक्त, अज्ञानी तथा ईर्ष्यालु। मनुष्य को कम से कम इस द्वितीय श्रेणी के भक्त की अवस्था तक उठना होता है, जिससे वह परम सत्य को जानने का पात्र बन सके।

अतः तृतीय श्रेणी के भक्त को भक्ति सम्बन्धी अनुदेश *भागवत* के प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त करने होते हैं। पहली श्रेणी का *भागवत* सुस्थापित भक्त है और दूसरा है *भागवतम्* जो ईश्वर का सन्देश है। अतः तृतीय श्रेणी के भक्त को भक्ति के उपदेशों की शिक्षा लेने के लिए किसी सच्चे भक्त के पास जाना होता है। ऐसा भक्त कोई व्यवसायी व्यक्ति नहीं होता, जो *भागवत* को व्यापार समझकर अपनी जीविका कमाता हो। ऐसे भक्त को सूत गोस्वामी की तरह शुकदेव गोस्वामी का प्रतिनिधि होना चाहिए और उसे समस्त जनता के चतुर्दिक् कल्याण के लिए भक्ति उपासना-पद्धति का उपदेश करना चाहिए। नवजिज्ञासु भक्त को प्रामाणिक व्यक्तियों से सुनने में तनिक भी रुचि नहीं रहती। ऐसा नवजिज्ञासु भक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के हेतु किसी व्यावसायिक व्यक्ति से सुनने का दिखावा करता है। इस प्रकार के श्रवण तथा कीर्तन से सारा मामला गडबड़ा गया है, अतः इस दोषपूर्ण विधि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में निहित भगवान् के दिव्य संदेश निस्सन्देह दिव्य विषय हैं, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्हें किसी व्यावसायिक व्यक्ति से ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह उन्हें उसी प्रकार दूषित कर देता है जिस प्रकार सर्प अपनी जीभ के स्पर्श मात्र से दूध को विषाक्त कर देता है।

अतएव निष्ठावान भक्त को चाहिए कि वह अपनी उन्नति के लिए उपनिषद्, वेदान्त जैसे वैदिक साहित्य को तथा पूर्ववर्ती आचार्यों अथवा गोस्वामियों द्वारा छोड़े गये (संकलित) अन्य साहित्य को सुने। ऐसे साहित्य का श्रवण किये बिना मनुष्य सच्ची उन्नति नहीं कर सकता। बिना श्रवण किये तथा आदेशों का पालन किये बिना भक्ति का प्रदर्शन निरर्थक है और यह भक्ति के पथ में अवरोध जैसा है। अतएव जब तक श्रुति, स्मृति, पुराण या पञ्चरात्र प्रमाणों जैसे सिद्धान्तों

पर भक्ति स्थापित न हो, तब तक भक्ति के ऐसे प्रदर्शन को तत्काल त्याज्य समझना चाहिए। किसी अनधिकृत भक्त को कभी भी शुद्ध भक्त की मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। वैदिक साहित्य से ऐसे संदेशों को आत्मसात् करके अपने भीतर अन्तर्यामी परमात्मा को निरंतर देखा जा सकता है। यह समाधि कहलाती है।

अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; पुंभिः—मनुष्य द्वारा; द्विज-श्रेष्ठाः—हे द्विजों में श्रेष्ठ; वर्ण-आश्रम—चार वर्णों तथा जीवन के चार आश्रमों के; विभागशः—विभाजन से; स्वनुष्ठितस्य—अपने कर्तव्यों का; धर्मस्य—वृत्तिपरक; संसिद्धिः—सर्वोच्च सिद्धि; हरि—भगवान् को; तोषणम्—तुष्ट या प्रसन्न करना।

अतः हे द्विजश्रेष्ठ, निष्कर्ष यह निकलता है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपने कर्तव्यों को पूरा करने से जो परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है, वह है भगवान् को प्रसन्न करना।

तात्पर्य : सारे विश्व भर में मानव समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभक्त है। चार वर्ण हैं : बुद्धिमान वर्ग, योद्धा वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। ये वर्ण अपने कर्म तथा गुण के अनुसार विभाजित किए गए हैं, जन्म के अनुसार नहीं। फिर जीवन के चार आश्रम भी हैं। इनके नाम हैं : विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ तथा भक्त जीवन। मानव समाज का परम हित इसी में है कि जीवन इसी तरह ही विभाजित हो, अन्यथा कोई भी सामाजिक संस्था स्वस्थ विकास नहीं कर सकती। इनमें से जीवन के प्रत्येक विभाग का लक्ष्य परम सत्ता भगवान् को प्रसन्न करना है। मानव समाज के इस संस्थागत कार्य को वर्णाश्रम धर्म के रूप में जाना जाता है, जो सुसंस्कृत जीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। वर्णाश्रम धर्म का निर्माण इसलिए किया गया है कि परम सत्य की अनुभूति हो सके। इसका निर्माण एक विभाग का दूसरे पर कृत्रिम आधिपत्य के लिए नहीं किया गया है। जब इन्द्रियतृप्ति की अत्यधिक आसक्ति के कारण जीवन का लक्ष्य, अर्थात् परम सत्य का साक्षात्कार चूक जाता है, तब जैसाकि पहले कहा जा चुका है, स्वार्थी लोगों द्वारा वर्णाश्रम धर्म का उपयोग कमजोर वर्ग पर कृत्रिम आधिपत्य दिखाने के लिए किया जाता है।

कलियुग में अर्थात् कलहप्रधान युग में, यह कृत्रिम आधिपत्य पहले से चालू है, किन्तु जो लोग सयाने हैं वे जानते हैं कि वर्ण तथा आश्रम विभाग सहज सामाजिक व्यवहार तथा उच्च विचारयुक्त आत्म-साक्षात्कार के लिए है, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं।

यहाँ पर *भागवत* का कथन है कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य या वर्णाश्रम धर्म की चरम सिद्धि यह है कि हम सब मिलकर परमेश्वर को प्रसन्न रखें। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.१३) में भी हुई है।

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; एकेन—एक, एकाग्र; मनसा—मन के ध्यान द्वारा; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों के; पतिः—रक्षक; श्रोतव्यः—सुनने योग्य; कीर्तितव्यः—गुणगान के योग्य; च—तथा; ध्येयः—स्मरण करने योग्य; पूज्यः—पूजने के योग्य, पूजनीय; च—तथा; नित्यदा—निरन्तर।

अतएव मनुष्य को एकाग्रचित से उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विषय में निरन्तर श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा पूजन करना चाहिए, जो भक्तों के रक्षक हैं।

तात्पर्य : यदि परम सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य है, तो इसे हर सम्भव साधन से अवश्य करना चाहिए। उपर्युक्त वर्णों तथा आश्रमों में से हर एक में गुणगान, श्रवण, स्मरण तथा पूजन—ये चार विधियाँ सामान्य वृत्तियाँ हैं। इन जीवन-सिद्धान्तों के बिना कोई रह नहीं सकता। जीवों के कार्यकलाप जीवन के इन्हीं चार विभिन्न सिद्धान्तों में व्यस्त रहने में निहित हैं। विशेष रूप से आधुनिक समाज में तो मुख्यतया सारे कार्यक्रम श्रवण तथा कीर्तन पर ही मुख्यतया आधारित हैं। कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी सामाजिक हैसियत कैसी भी क्यों न हो, वह कुछ ही काल में विख्यात हो जाता है यदि दैनिक समाचारपत्र उसका गुणगान करते हों, चाहे ये गुणगान झूठे हों या सच। कभी-कभी किसी दल विशेष के राजनीतिक नेताओं का विज्ञापन समाचार पत्रों में प्रसारित होता है और ऐसे गुणगान की विधि से एक नगण्य व्यक्ति भी अल्प समय में महत्त्वपूर्ण बन जाता है। किन्तु अयोग्य व्यक्ति के ऐसे झूठे प्रचार से न तो उस व्यक्ति का

लाभ होता है, न समाज का। भले ही ऐसे प्रचार की क्षणिक प्रतिक्रिया हो ले, किन्तु इसका प्रभाव स्थायी नहीं होता। अतः ऐसे कार्य समय का अपव्यय है। गुणगान तो उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का करना चाहिए, जिन्होंने हमारे सामने प्रकट होने वाली प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की। हम इसकी विस्तृत व्याख्या *भागवत* के *जन्माद्यस्य* वाले प्रथम श्लोक के आरम्भ में ही कर चुके हैं। अन्यो का गुणगान करने या अन्यो के विषय में सुनने की प्रवृत्ति को गुणगान के वास्तविक लक्ष्य परमेश्वर की ओर मोड़ना चाहिए। इससे सुख उपजेगा।

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।

छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; अनुध्या—स्मृति रूपी; असिना—तलवार से; युक्ताः—युक्त, समन्वित; कर्म—कर्म की; ग्रन्थि—गाँठ; निबन्धनम्—बँधी हुई; छिन्दन्ति—काटते हैं; कोविदाः—बुद्धिमान; तस्य—उसका; कः—कौन; न—नहीं; कुर्यात्—करेंगे; कथा—सन्देश, कथाएँ; रतिम्—ध्यान।

हाथ में तलवार लिए बुद्धिमान मनुष्य भगवान् का स्मरण करते हुए कर्म की बँधी हुई ग्रंथि को काट देते हैं। अतएव ऐसा कौन होगा जो उनके सन्देश की ओर ध्यान नहीं देगा?

तात्पर्य : भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आने से आध्यात्मिक स्फुलिंग एक ग्रंथि उत्पन्न कर देती है। अतः जो कर्म के घात-प्रतिघात से मुक्त होने का इच्छुक होता है, उसे इस ग्रंथि को काटना होता है। मुक्ति का अर्थ है, कर्म के चक्र से छूटना। जो व्यक्ति निरन्तर भगवान् की दिव्य लीलाओं का स्मरण करता है, उसे स्वतः यह मुक्ति मिल जाती है। इसका कारण यह है कि परम भगवान् की सारी लीलाएँ भौतिक शक्ति के गुणों से परे होती हैं। ये सारी दिव्य लीलाएँ परम सर्वा-कर्षक होती हैं, और इस प्रकार भगवान् के आध्यात्मिक कार्य का सतत सान्निध्य बद्ध जीव को क्रमशः आध्यात्मिक बना देता है तथा सान्निध्य से बद्धजीव क्रमशः आध्यात्मिक बना देता है तथा अन्ततः उसकी भौतिक बन्धन की ग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है।

अतएव भवबन्धन से मुक्ति मिलना भक्ति का गौण फल है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति से ही मुक्ति निश्चित नहीं होती। ऐसे ज्ञान के ऊपर भक्ति का लेप चढ़ाना जरूरी है, जिससे

अन्ततः भक्ति की ही प्रधानता बनी रहे। तभी मुक्ति सम्भव होती है। यहाँ तक कि सकाम कर्मियों के कर्म भी, यदि वे भक्ति से लेपित हों, तो उन्हें मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं। भक्ति से लेपित कर्म *कर्मयोग* कहलाता है। इसी प्रकार भक्ति से लेपित अनुभव-गम्य ज्ञान *ज्ञानयोग* कहलाता है। किन्तु शुद्ध भक्तियोग ऐसे कर्म तथा ज्ञान से स्वतन्त्र है, क्योंकि यह अकेले, न केवल बद्ध जीवन से मोक्ष दिलाने वाला है, अपितु भगवान् की प्रेमाभक्ति भी प्रदान करने वाला है।

अतएव किसी भी ऐसे विवेकशील व्यक्ति को जो मध्यम स्तर के अल्पज्ञ व्यक्ति से ऊपर है, उसे भगवान् के बारे में श्रवण करके, उनका गुणगान करके, उनका ध्यान तथा पूजन करके निरन्तर उनका स्मरण करना चाहिए। भक्ति की यही सम्यक् विधि है। वृन्दावन के गोस्वामी, जिन्हें श्री चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देने के लिए अधिकृत किया था, इस नियम का दृढ़ता से पालन करते रहे और उन्होंने हमारे लाभ के लिए दिव्य विज्ञान का प्रभूत साहित्य तैयार किया। उन्होंने विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के लिए *श्रीमद्भागवत* तथा ऐसे ही अन्य प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर विविध मार्ग बनाये हैं।

शुश्रूषोः श्रद्धधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।

स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

शुश्रूषोः—श्रवण में व्यस्त; श्रद्धधानस्य—श्रद्धापूर्वक; वासुदेव—वासुदेव की; कथा—संदेश, कथा में; रुचिः—लगाव; स्यात्—सम्भव बन जाता है; महत्-सेवया—शुद्ध भक्तों की सेवा करके; विप्राः—हे द्विजगण; पुण्य-तीर्थ—समस्त पापों से शुद्ध हुआ की; निषेवणात्—सेवा से।

हे द्विजो, जो भक्त समस्त पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हैं, उनकी सेवा करने से महान सेवा हो जाती है। ऐसी सेवा से वासुदेव की कथा सुनने के प्रति लगाव उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : जीव के बद्ध जीवन का कारण भगवान् के विरुद्ध विद्रोह है। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो देव कहलाते हैं और कुछ ऐसे हैं जो असुर कहलाते हैं, क्योंकि ये परमेश्वर की सत्ता के विरुद्ध रहते हैं। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में असुरों का विशद वर्णन किया गया है, जिसमें कहा गया है कि उन्हें जन्म-जन्मान्तर अज्ञान की निम्नतर अवस्थाओं में रखा जाता है। अतः उन्हें

पशु योनियों में रहना होता है, जिससे उन्हें परम सत्य, भगवान् की कोई जानकारी नहीं रहती। ये असुर भगवान् की इच्छानुसार उनके मुक्त सेवकों की कृपा से विभिन्न देशों में धीरे-धीरे ईश्वर-चेतना में परिशोधित किये जाते हैं। ईश्वर के ऐसे भक्त भगवान् के अन्तरंग पार्षद होते हैं और जब वे समाज को ईश्वरविहीन होने के खतरे से बचाने के लिए आते हैं, तो वे ईश्वर के शक्तिशाली अवतार, उनके पुत्र, उनके दास या उनके पार्षद कहलाते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी मिथ्या तौर पर अपने को ईश्वर नहीं कहता। यह तो असुरों द्वारा घोषित निन्दा है और ऐसे असुरों के दानवी अनुयायी भी इन बहुरूपियों को ईश्वर या उनका अवतार मान लेते हैं। प्रामाणिक शास्त्रों में भगवान् के अवतार के विषय में निश्चित जानकारी मिलती है। जब तक प्रामाणिक शास्त्रों से पुष्टि न हो ले, तब तक किसी को ईश्वर या ईश्वर का अवतार नहीं मानना चाहिए।

वास्तव में जो भक्त भगवद्धाम जाने के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि भगवान् के सेवकों को भगवान् के रूप में मानें। भगवान् के ऐसे दास महात्मा या तीर्थ कहलाते हैं और वे विशिष्ट देश-काल के अनुसार उपदेश देते हैं। भगवान् के सेवक लोगों को भगवद्भक्त बनने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कभी यह सहन नहीं कर सकते कि कोई उन्हें ईश्वर कहे। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशानुसार साक्षात् भगवान् थे, किन्तु वे भक्त की तरह बने रहे। जो लोग उन्हें ईश्वर रूप में जानते थे, वे उन्हें ईश्वर कहकर पुकारते थे, किन्तु तब वे अपने कानों को हाथों से बन्द करके भगवान् विष्णु के नाम का कीर्तन करने लगते थे। वे स्वयं को ईश्वर कहलवाने का घोर विरोध करते थे, यद्यपि वे निस्संदेह साक्षात् भगवान् थे। भगवान् हमें उन धूर्तों से आगाह करने के लिये ऐसा आचरण करते हैं, जो अपने को ईश्वर कहलवाते हैं।

ईश्वर के दास ईश्वरीय चेतना का प्रसार करने के लिए आते हैं। बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे उनके साथ हर तरह से सहयोग करें। भगवान् अपनी प्रत्यक्ष सेवा की अपेक्षा अपने दास की सेवा किये जाने से अधिक प्रसन्न होते हैं। भगवान् तब अत्यधिक प्रसन्न होते हैं, जब वे यह देखते हैं कि उनके भक्तों का समुचित आदर हो रहा है, क्योंकि वे भगवान् की सेवा के लिए सभी प्रकार के कष्ट उठाते हैं, अतः वे उन्हें अत्यन्त प्रिय होते हैं। *भगवद्गीता* (१८.६९) में भगवान्

घोषित करते हैं कि उन्हें उस भक्त के समान अन्य कोई प्रिय नहीं है, जो उनकी महिमा का प्रचार करते हुए अपना सर्वस्व संकट में डालता है। भगवान् के सेवकों की सेवा करके कोई भी धीरे-धीरे उन सेवकों के गुणों को प्राप्त करता है और इस प्रकार वह भगवान् की महिमा सुनने के योग्य बन जाता है। भगवद्भाम में प्रवेश पाने के लिए भक्त की पहली योग्यता यह है कि वह भगवान् के विषय में सुनने को उत्सुक हो।

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

शृण्वताम्—जिन्होंने कथा सुनने की रुचि उत्पन्न कर ली है; स्व-कथाः—अपनी वाणी; कृष्णः—भगवान्; पुण्य—पावन; श्रवण—सुनना; कीर्तनः—कीर्तन करना; हृदि अन्तः स्थः—अपने हृदय के भीतर; हि—निश्चय ही; अभद्राणि—पदार्थ को भोगने की इच्छा; विधुनोति—स्वच्छ करता है, विमल बनाता है; सुहृत्—उपकारी; सताम्—सत्यनिष्ठ के।

प्रत्येक हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित तथा सत्यनिष्ठ भक्तों के हितकारी भगवान् श्रीकृष्ण, उस भक्त के हृदय से भौतिक भोग की इच्छा को हटाते हैं जिसने उनकी कथाओं को सुनने में रुचि उत्पन्न कर ली है, क्योंकि ये कथाएँ ठीक से सुनने तथा कहने पर अत्यन्त पुण्यप्रद हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण की कथाएँ उनसे अभिन्न हैं। अतएव जब भी अपराध-रहित होकर भगवान् के बारे में श्रवण तथा उनका गुणगान किया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वहाँ पर भगवान् कृष्ण दिव्य शब्द के रूप में उपस्थित हैं जो साक्षात् भगवान् के समान ही शक्तिमान हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु अपने शिक्षाष्टक में स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि भगवान् के पवित्र नाम में भगवान् की सारी शक्तियाँ निहित हैं और उन्होंने अपने असंख्य नामों को वही शक्ति प्रदान की है। इसके लिए कोई समयावधि निश्चित नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार ध्यानपूर्वक तथा आदरपूर्वक पवित्र नाम का जप कर सकता है। भगवान् हम पर इतने दयालु हैं कि वे हमारे समक्ष दिव्य शब्द के रूप में साक्षात् उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश हममें भगवान् के नाम और उनकी लीलाओं को सुनने तथा उनका महिमा-गान करने

के प्रति कोई रुचि नहीं है। हम पहले ही पवित्र शब्द के श्रवण तथा कीर्तन के प्रति रुचि उत्पन्न करने के विषय में बता चुके हैं। इसे भगवान् के शुद्ध भक्त की सेवा करके प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान् अपने भक्तों के साथ परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। जब भगवान् देखते हैं कि भक्त उनकी सेवा में प्रवेश पाने के लिए पूर्ण निष्ठा से तत्पर है और फलस्वरूप उनके विषय में सुनने का इच्छुक है, तो वे भक्त के भीतर से इस तरह से कार्य करते हैं कि भक्त उनके पास सरलता से वापस चला जाये। भगवान् हमारी अपेक्षा अधिक उत्सुक हैं कि हम उनके पास वापस जाएँ। किन्तु हममें से अधिकांश भगवान् के धाम में वापस नहीं जाना चाहते। केवल कुछ ही ऐसे हैं जो भगवान् के पास वापस जाना चाहते हैं। किन्तु जो कोई भी भगवद्धाम में वापस जाना चाहता है, श्रीकृष्ण सब तरह से उसकी सहायता करते हैं।

कोई तब तक भगवान् के धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता, जब तक कि वह समस्त प्रकार के पापों से मुक्त न हो जाए। भौतिक पाप हमारे द्वारा भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने की इच्छाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। ऐसी इच्छाओं से पिंड छुड़ा पाना बहुत कठिन है। भक्त के लिए भगवद्धाम वापस जाने के मार्ग में कामिनी तथा कंचन मुख्य बाधाएँ हैं। भक्तिपथ के अनेक दिग्गज इन प्रलोभनों के शिकार हो जाते हैं और इस प्रकार से मुक्ति पथ से लौट आते हैं, किन्तु जब स्वयं भगवान् मनुष्य की सहायता करते हैं, तो भगवत्कृपा से सारी प्रक्रिया सुगम बन जाती है।

कामिनी तथा कंचन के संसर्ग में आकर अशान्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक जीव लम्बे समय से—व्यावहारिक दृष्टि से कहें तो अनादि काल से ऐसी वस्तुओं से जुड़ा रहा है और इस बेगानी प्रकृति से छुटकारा पाने में समय लगता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के यश का श्रवण करने में जुट जाता है, तो धीरे-धीरे उसे अपनी असली स्थिति की अनुभूति हो जाती है। भगवत्कृपा से ऐसे भक्त को प्रचुर शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह विघ्नों से अपनी रक्षा कर सकता है और सारे अनर्थ उसके मस्तिष्क से क्रमशः दूर हो जाते हैं।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
 भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नष्ट—समाप्त; प्रायेषु—प्रायः शून्य; अभद्रेषु—समस्त अमंगलों से; नित्यम्—नियमित रूप से; भागवत—श्रीमद्भागवत या शुद्ध भक्त की; सेवया—सेवा द्वारा; भगवति—भगवान् में; उत्तम—दिव्य; श्लोके—स्तुतियाँ; भक्तिः—प्रेमाभक्ति, सेवा; भवति—(उत्पन्न) होती है; नैष्ठिकी—अटल, अविचल।

भागवत की कक्षाओं में नियमित उपस्थित रहने तथा शुद्ध भक्त की सेवा करने से हृदय के सारे दुख लगभग पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं और उन पुण्यश्लोक भगवान् में अटल प्रेमाभक्ति स्थापित हो जाती है, जिनकी प्रशंसा दिव्य गीतों से की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर हृदय से उन अमंगलकारी वस्तुओं को निकालने का उपचार दिया गया है, जो आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अवरोधरूप हैं। यह उपचार है भागवतों की संगति करना। भागवत दो प्रकार के होते हैं—एक तो ग्रंथ-भागवत और दूसरे भक्त-भागवत। ये दोनों ही भागवत कारगर औषधियाँ हैं और इनमें से कोई एक या दोनों ही अवरोधों को हटाने वाले हैं। भक्त-भागवत ग्रन्थ-भागवत के ही समान है, क्योंकि भक्त-भागवत ग्रन्थ-भागवत के अनुसार ही जीवन-यापन करता है और ग्रन्थ-भागवत तो भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों अर्थात् भागवतों के ज्ञान से पूर्ण है ही। भागवत ग्रन्थ तथा भागवत व्यक्ति अभिन्न हैं।

भक्त-भागवत भगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। अतः भक्त-भागवत भक्त को प्रसन्न करने से ग्रन्थ-भागवत ग्रन्थ का लाभ उठाया जा सकता है। मानवीय तर्क यह नहीं समझ पाता कि किस प्रकार भक्त-भागवत या ग्रन्थ-भागवत की सेवा द्वारा कोई भक्ति के पथ पर अग्रसर होता है। किन्तु ये तथ्य हैं जिनकी व्याख्या श्रील नारददेव द्वारा की गई है, जो अपने पूर्वजन्म में एक दासी के पुत्र थे। दासी ऋषियों की टहल करती थी और इस तरह वह भी उनके सम्पर्क में आया। केवल उनके सम्पर्क से तथा उनका जूठन खाकर यह दासी-पुत्र श्रील नारददेव नामक महान भक्त तथा एक महान व्यक्तित्व बन सका। भागवतों की संगति के ऐसे चमत्कारी प्रभाव होते हैं। इन प्रभावों को व्यावहारिक रूप से समझने के लिए यह ध्यान देना आवश्यक है कि भागवतों की

ऐसी निष्कलुष संगति से दिव्य ज्ञान अवश्यमेव बड़ी आसानी से प्राप्त होगा, जिससे मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में स्थिर हो जाता है। वह भागवतों के मार्गदर्शन में भक्ति में जितनी ही प्रगति करता है, उतना ही वह भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में स्थिर होता जाता है। अतएव ग्रन्थ-भागवत की कथाओं को भक्त-भागवत से ही प्राप्त करना जरूरी है और इस प्रकार इन दोनों भागवतों के संयोग से नवदीक्षित भक्त की प्रगति होती रहेगी।

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।

चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; रजः—रजोगुण में; तमः—तमो गुण; भावाः—परिस्थिति; काम—काम तथा इच्छा; लोभ—लालसा; आदयः—आदि आदि; च—तथा; ये—जो भी हैं; चेतः—मन; एतैः—इनसे; अनाविद्धम्—प्रभावित हुए बिना; स्थितम्—स्थित होकर; सत्त्वे—सत्त्वगुण में; प्रसीदति—परम प्रसन्न होता है।

ज्योंही हृदय में अटल प्रेमा भक्ति स्थापित हो जाती है, प्रकृति के रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव जैसे काम, इच्छा तथा लोभ हृदय से लुप्त हो जाते हैं। तब भक्त सत्त्वगुण में स्थित होकर परम सुखी हो जाता है।

तात्पर्य : अपनी सामान्य संवैधानिक स्थिति में जीव आध्यात्मिक आनन्द में पूर्ण रूप से तुष्ट रहता है। यह स्थिति ब्रह्मभूत या आत्मानन्दी अर्थात् आत्मतुष्टि की स्थिति कहलाती है। यह आत्मतुष्टि किसी निष्क्रिय मूर्ख की तुष्टि जैसी नहीं होती। निष्क्रिय मूर्ख अज्ञानावस्था में रहता है, किन्तु आत्मतुष्टि आत्मानन्दी इस भौतिक जगत से परे होता है। सिद्धि की यह अवस्था अटल भक्ति में स्थित होते ही प्राप्त हो जाती है। भक्तिमय सेवा कोई निष्क्रियता नहीं, अपितु आत्मा की अनन्य सक्रियता है।

आत्मा की यह सक्रियता पदार्थ के संसर्ग से अपमिश्रित (दूषित) हो जाती है। फलतः काम, इच्छा, लोभ, निष्क्रियता, मूर्खता तथा निद्रा के रूप में रुग्ण कार्यकलापों का उदय होता है। भक्तिमय सेवा का प्रभाव रजोगुण तथा तमोगुण के इन प्रभावों के पूर्ण निराकरण होने पर प्रकट होता है। तब भक्त तुरन्त ही सत्त्वगुण में स्थित हो जाता है और वह उन्नति करता हुआ वासुदेव के

पद या शुद्ध-सत्त्व के पद की ओर उठने को अग्रसर होता है। केवल इस शुद्ध-सत्त्व की अवस्था में कोई व्यक्ति भगवान् के शुद्ध प्रेम के कारण अपने समक्ष कृष्ण को सदा देख सकता है।

भक्त सदैव शुद्ध-सत्त्व में रहता है, अतः वह किसी को हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु एक अभक्त, चाहे कितना ही शिक्षित क्यों न हो, सदैव हानिप्रद होता है। भक्त न तो मूर्ख होता है न रजोगुणी। हानि पहुँचाने वाले, मूर्ख तथा रजोगुणी व्यक्ति भगवद्भक्त नहीं बन सकते, भले ही वे अपने बाहरी वेश से अपने आपको भक्त क्यों न प्रदर्शित करें। भक्त में सदैव ईश्वर के सद्गुण पाये जाते हैं। इन गुणों की मात्रा भले ही भिन्न हो, किन्तु गुणता की दृष्टि से भक्त तथा भगवान् एक समान होते हैं।

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रसन्न—सफूर्त; मनसः—मन से; भगवत्-भक्ति—भगवान् की भक्ति के; योगतः—सम्पर्क से; भगवत्—भगवान् का; तत्त्व—ज्ञान; विज्ञानम्—वैज्ञानिक; मुक्त—मुक्त हुआ; सङ्गस्य—संगति का; जायते—हो जाता है।

इस प्रकार शुद्ध सत्त्व में स्थित होकर, जिस मनुष्य का मन भगवान् की भक्ति के संसर्ग से प्रसन्न हो चुका होता है उसे समस्त भौतिक संगति से मुक्त होने पर भगवान् का सही वैज्ञानिक ज्ञान (विज्ञान तत्त्व) प्राप्त होता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.३) में कहा गया है कि हजारों सामान्य मनुष्यों में से कोई एक भाग्यशाली होता है, जो जीवन-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। अधिकांश लोग रजोगुण तथा तमोगुण से प्रेरित होते हैं और इस प्रकार वे काम, इच्छा, लोभ, अज्ञान तथा निद्रा में सदैव लिप्त रहते हैं। ऐसे अनेक मनुष्य रूपी पशुओं में से कोई एक ऐसा वास्तविक रूप में मनुष्य होता है, जो मानव जीवन की जिम्मेदारी को जानता है और निर्दिष्ट किए गये कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयास करता है। जीवन में इस प्रकार की सफलता प्राप्त किए हुए हजारों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में वैज्ञानिक ढंग से जान सकता

है। *भगवद्गीता* (१८.५५) में ही कहा गया है कि श्रीकृष्ण के विज्ञान को केवल भक्तियोग की प्रक्रिया के द्वारा जाना जा सकता है।

ठीक इसी बात की उपर्युक्त श्लोक में पुष्टि हुई है। कोई भी सामान्य व्यक्ति, यहाँ तक कि जिसने मानव-जीवन में सफलता प्राप्त कर ली है वह भी, भगवान् के विषय में सही-सही या वैज्ञानिक ढंग से जान नहीं सकता। मानव-जीवन में सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब वह यह समझ लेता है कि वह पदार्थ का प्रतिफल नहीं, अपितु आत्मा है। और ज्योंही वह यह समझ लेता है कि उसे पदार्थ से कुछ लेना-देना नहीं है, त्योंही वह भौतिक लालसा त्याग देता है और आध्यात्मिक जीव के रूप में अनुप्राणित हो जाता है। यह सफलता तभी मिलती है, जब मनुष्य रजोगुण तथा तमोगुण से ऊपर उठ गया हो, या दूसरे शब्दों में, जब वह योग्यता के आधार पर वास्तविक रूप में ब्राह्मण हो। 'ब्राह्मण' शब्द सत्त्व गुण का प्रतीक है। अन्य सारे लोग जो सत्त्व गुण में नहीं हैं, वे या तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या शूद्रों से भी अधम होते हैं। उत्तम गुणों के कारण ब्राह्मण अवस्था मनुष्य जीवन की सर्वोच्च अवस्था है। अतः जब तक मनुष्य में कम से कम ब्राह्मण के गुण न हों, तब तक वह भक्त नहीं हो सकता। भक्त अपने कर्म के कारण पहले से ब्राह्मण रहता है, किन्तु यह उसकी चरम परिणति नहीं है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे ब्राह्मण को वास्तव में दिव्य अवस्था प्राप्त करने के लिए वैष्णव होना चाहिए। शुद्ध वैष्णव मुक्त आत्मा होता है और ब्राह्मण पद से भी ऊपर होता है। भौतिक अवस्था में ब्राह्मण भी बद्धजीव होता है, क्योंकि ब्राह्मण अवस्था में ब्रह्म-बोध तो हो जाता है, किन्तु परमेश्वर के विज्ञान का अभाव रहता है। मनुष्य को ब्राह्मण अवस्था को पार करके *वसुदेव* अवस्था प्राप्त करनी होती है ताकि वह भगवान् कृष्ण को समझ सके। परमेश्वर का विज्ञान (भगवत्तत्त्व) आध्यात्मिकता के स्नातकोत्तर छात्रों के अध्ययन का विषय है। मूर्ख या अल्पज्ञ लोग परमेश्वर को नहीं जान पाते, इसीलिए वे अपनी-अपनी सनक के अनुसार कृष्ण की व्याख्या करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि ब्राह्मण अवस्था प्राप्त करने पर भी भौतिक गुणों के कल्मष से मुक्त हुए बिना कोई भगवान् के

विज्ञान को नहीं समझ पाता। जब योग्य ब्राह्मण यथार्थ रूप में वैष्णव बन जाता है, तो वह मुक्ति की प्रबुद्धावस्था में यह जान पाता है कि वास्तव में भगवान् क्या हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भिद्यते—भिद जाती है; हृदय—हृदय की; ग्रन्थिः—गाँठें; छिद्यन्ते—खण्ड-खण्ड हो जाते हैं; सर्व—सभी; संशयाः—भ्रम, संदेह; क्षीयन्ते—समाप्त हो जाते हैं; च—तथा; अस्य—उसकी; कर्माणि—सकाम कर्मों की शृंखला; दृष्टे—देखने के पश्चात्; एव—निश्चय ही; आत्मनि—स्वयं आत्मा को; ईश्वरे—प्रधान या स्वामी में।

इस प्रकार हृदय की गाँठ भिद जाती है और सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जब मनुष्य आत्मा को स्वामी के रूप में देखता है, तो सकाम कर्मों की शृंखला समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : भगवान् का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है, उसी के साथ ही साथ अपने आपको भी देखना। जहाँ तक आत्मारूप में जीव की पहचान की बात है, उसके सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ एवं भ्रान्तियाँ हैं। भौतिकतावादी लोग तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते और अनुभवमूलक दार्शनिक आत्मा को बिना स्वरूप वाले निर्विशेष रूप में मानते हैं। किन्तु अध्यात्मवादी इस बात की पुष्टि करते हैं कि आत्मा तथा परमात्मा दो विभिन्न सत्ताएँ हैं, जो गुणवत्ता में एक समान हैं किन्तु परिमाण में भिन्न-भिन्न हैं। बहुत से अन्य सिद्धान्त भी हैं, किन्तु जब भक्तियोग की विधि से श्रीकृष्ण का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तो ये भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ दूर हो जाती हैं। श्रीकृष्ण सूर्य के समान हैं और परम सत्य विषयक भौतिकतावादी तर्क-वितर्क गहनतम अर्धरात्रि के समान हैं। ज्योंही हृदय में कृष्णरूपी सूर्य उदित होता है, त्योंही परम सत्य तथा जीवात्मा सम्बन्धी भौतिक कल्पनाओं का अन्धकार दूर हो जाता है। सूर्य की उपस्थिति में अन्धकार नहीं रह सकता और अज्ञान के अन्धकार में छिपा सापेक्ष सत्य, परमात्मा रूप में सबके हृदय में वास करने वाले कृष्ण की कृपा से स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

भगवद्गीता (१०.११) में भगवान् कहते हैं कि अपने शुद्ध भक्तों पर विशेष अनुग्रह करने के लिए भगवान् स्वयं अपने भक्त के हृदय में शुद्ध ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करके, सारे संशयों के गहन अन्धकार को दूर कर देते हैं। अतएव भगवान् द्वारा भक्त के हृदय को प्रकाशित करने का दायित्व अपने ऊपर लेने के कारण, जो भक्त उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा होता है वह अन्धकार में नहीं रह सकता। उसे परम एवं सापेक्ष सत्य के विषय में सब कुछ ज्ञात होता रहता है। भक्त कभी भी अन्धकार में नहीं रह सकता और चूँकि भगवान् द्वारा उसे प्रकाश प्राप्त होता है, अतएव उसका ज्ञान निश्चय ही पूर्ण होता है। किन्तु जो लोग अपनी खुद की सीमित शक्ति से चिन्तन करते हैं, उनके साथ ऐसा नहीं होता। पूर्ण ज्ञान *परम्परा* या निगमनीय (तर्कपूर्ण) ज्ञान कहलाता है। यह एक प्राधिकारी से विनीत श्रोता तक पहुँचता है, जो सेवा तथा समर्पण द्वारा प्रामाणिक होता है। ऐसा नहीं है कि कोई परमेश्वर के प्रमाण को चुनौती भी दे और उन्हें जान भी ले। उन्हें अधिकार है कि ऐसे ललकारने वाले जीव के समक्ष प्रकट ही न हों, जो परम पूर्ण का क्षुद्र स्फुलिंग मात्र है और ऐसा स्फुलिंग जो माया के अधीन है। भक्तगण विनीत होते हैं, अतः यह दिव्य ज्ञान भगवान् से ब्रह्मा को, ब्रह्मा से उनके पुत्रों तथा शिष्यों को क्रमानुसार प्राप्त होता है। इस विधि में ऐसे भक्तों के अन्तःकरण में स्थित परमात्मा द्वारा सहायता मिलती है। दिव्य ज्ञान को सीखने की यही सही विधि है।

इस अनुभूति के द्वारा भक्त आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को सही-सही समझ पाता है, क्योंकि आत्मा तथा पदार्थ की गाँठ भगवान् द्वारा खोली जाती है। यह ग्रन्थि अहंकार कहलाती है, जिससे जीव झूठे ही अपने को भौतिक पदार्थ मानता है। अतएव ज्योंही यह ग्रन्थि ढीली पड़ती है, संशय के सारे बादल तुरंत छँट जाते हैं। मनुष्य अपने स्वामी का दर्शन करने लगता है और सकाम कर्मों के बन्धन को समाप्त करके वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। भौतिक जगत में जीव स्वयं सकाम कर्म की शृंखला की सृष्टि करता है और जन्म-जन्मांतर तक इन कर्मों के अच्छे तथा बुरे फलों को भोगता रहता है। किन्तु ज्योंही वह भगवान् की प्रेममय सेवा में लग जाता है,

त्योंही वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर उसके कर्मों से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती।

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; वै—निश्चय ही; कवयः—सारे अध्यात्मवादी; नित्यम्—अनादि काल से; भक्तिम्—भगवान् की सेवा;
परमया—परम; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नता के साथ; वासुदेवे—श्रीकृष्ण में; भगवति—भगवान्; कुर्वन्ति—करते हैं;
आत्म—आत्मा को; प्रसादनीम्—जो प्रमुदित करने वाली है।

अतएव, निश्चय ही सारे अध्यात्मवादी अनन्त काल से अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करते आ रहे हैं, क्योंकि ऐसी भक्ति आत्मा को प्रमुदित करने वाली है।

तात्पर्य : यहाँ पर विशिष्ट रूप से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति की विशेषता का वर्णन हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण 'स्वयंरूप' भगवान् हैं और श्रीबलदेव, संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा नारायण जैसे अन्य समस्त रूपों से लेकर पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, युगावतार तथा भगवान् के अन्य हजारों स्वरूप श्रीकृष्ण के पूर्ण अंश एवं समाकलित रूप हैं। जीवात्माएँ भगवान् से पृथक् हुए उनके भिन्नांश हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर के आदि रूप और दिव्यता की इति हैं। वे उन उच्च अध्यात्मवादियों के लिए अधिक आकर्षक हैं, जो भगवान् की दिव्य लीलाओं में भाग लेते हैं। श्रीकृष्ण तथा बलदेव के अतिरिक्त, भगवान् के अन्य रूपों के साथ, वैसी घनिष्ठता स्थापित नहीं हो पाती जितनी कि ब्रजभूमि में भगवान् की दिव्य लीलाओं में होती है। ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाएँ नई हों, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोग समझते हैं; उनकी लीलाएँ शाश्वत हैं और ब्रह्माजी के एक दिन में एक बार यथा समय प्रकट होती हैं, जिस प्रकार प्रत्येक चौबीस घंटों की समाप्ति पर पूर्व में सूर्य का उदय होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।

स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः

श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सत्त्वगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—प्रकृति के; गुणाः—गुण; तैः—उनके द्वारा; युक्तः—समन्वित; परः—दिव्य; पुरुषः—पुरुष; एकः—एक; इह अस्य—इस भौतिक जगत का; धत्ते—स्वीकार करता है; स्थिति-आदये—उत्पत्ति, पालन तथा संहार आदि को.; हरि—विष्णु भगवान्; विरिञ्चि—ब्रह्मा; हर—शिवजी; इति—इस प्रकार; संज्ञाः—विभिन्न स्वरूप; श्रेयांसि—चरम लाभ; तत्र—वहाँ; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व—सात्त्विक; तनोः—रूप; नृणाम्—मनुष्यों का; स्युः—प्राप्त किया।

दिव्य भगवान् प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हैं और वे भौतिक जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, इन तीन गुणात्मक रूपों को ग्रहण करते हैं। इन तीनों रूपों में से सत्त्व गुण वाले विष्णु से सारे मनुष्य परम लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : पहले जैसा यह कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति उनके पूर्ण अंशों के रूप में की जाय, उसकी पुष्टि इस कथन द्वारा होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके सर्व पूर्ण अंश विष्णु-तत्त्व हैं। श्रीकृष्ण के बाद अगला प्राकट्य बलदेव का होता है, बलदेव के बाद संकर्षण, संकर्षण के बाद नारायण और नारायण से दूसरे संकर्षण, तब इन संकर्षण से विष्णु पुरुष-अवतार का प्राकट्य होता है। विष्णु अथवा सत्त्व गुण के विग्रह इस भौतिक जगत के पुरुष अवतार हैं और क्षीरोदकशायी विष्णु या परमात्मा नाम से जाने जाते हैं। ब्रह्मा रजस् के विग्रह हैं और शिव तमस् के। ये तीनों इस भौतिक जगत के तीनों गुणों के विभागाध्यक्ष हैं। विष्णु के सत्त्वगुण से इस सृष्टि का प्राकट्य सम्भव होता है और जब इसे विनष्ट करना होता है, तो शिवजी अपने ताण्डव-नृत्य से इसे नष्ट कर देते हैं। भौतिकतावादी तथा मूर्ख मनुष्य क्रमशः ब्रह्मा तथा शिव की पूजा करते हैं। किन्तु विशुद्ध अध्यात्मवादी सत्त्वगुण के रूप विष्णु की पूजा उनके विविध रूपों में करते हैं। विष्णु परमात्मा के लाखों-करोड़ों अभिन्न तथा भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। अभिन्न रूप ईश्वर कहलाते हैं और भिन्न रूप जीव कहलाते हैं। 'जीव' तथा 'ईश्वर' दोनों के ही अपने मूल आध्यात्मिक रूप होते हैं। जीव कभी-कभी भौतिक शक्ति के वशीभूत होते रहते हैं, किन्तु विष्णु के रूप सदैव इस शक्ति को अपने वश में रखते हैं। जब भगवान् विष्णु इस भौतिक जगत में

प्रकट होते हैं, तो वे माया के वशीभूत बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए आते हैं। ऐसे जीव इस भौतिक जगत में स्वामी (प्रभु) बनने की आन्तरिक इच्छा लेकर आते हैं और इस तरह वे प्रकृति के तीन गुणों में फँस जाते हैं। फल स्वरूप जीवों को विविध अवधि का बन्दी जीवन बिताने के लिए अपना भौतिक आवरण बदलते रहना पड़ता है। इस भौतिक जगत का बन्दीगृह भगवान् के आदेश से ब्रह्मा द्वारा सृजित होता है और एक कल्प के अंत में शिवजी द्वारा सारी वस्तुएँ नष्ट कर दी जाती हैं। किन्तु जहाँ तक इस बन्दीगृह की देखभाल का प्रश्न है, वह विष्णु द्वारा उसी प्रकार सम्पन्न किया जाता है, जिस तरह राज्यसत्ता द्वारा बन्दीगृह की देखभाल की जाती है। अतएव जो भी व्यक्ति जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था जैसे संतापों से पूर्ण इस संसार रूपी बन्दीगृह से छूटना चाहता है, उसे ऐसी मुक्ति के लिए भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना चाहिए। भगवान् विष्णु की पूजा भक्तिमय सेवा द्वारा ही सम्भव है, किन्तु यदि कोई इस भवरूपी बन्दीगृह-जीवन को चालू रखना चाहता है तो वह ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वरुण जैसे विभिन्न देवताओं से क्षणिक सुख के लिए तत्सम्बन्धी सुविधाओं की याचना कर सकता है। किन्तु कोई भी देवता बन्दी जीव को इस जगत के बद्ध जीवन से नहीं छुड़ा सकता। केवल विष्णु ही इसे कर सकते हैं। अतएव चरम लाभ भगवान् विष्णु से ही प्राप्त किया जा सकता है।

पार्थिवादारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः ।

तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्वह्मदर्शनम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पार्थिवात्—पृथ्वी से; दारुणः—ईधन; धूमः—धुँआ; तस्मात्—उससे; अग्निः—अग्नि; त्रयी—वैदिक यज्ञ; मयः—से बना; तमसः—तमोगुण में; तु—लेकिन; रजः—रजोगुण; तस्मात्—उससे; सत्त्वम्—सतोगुण; यत्—जो; ब्रह्म—परम सत्य; दर्शनम्—साक्षात्कार।

अग्निकाष्ठ मृदा का रूपान्तर है, लेकिन काष्ठ से बेहतर धुँआ है। अग्नि उससे भी उत्तम है, क्योंकि अग्नि से (वैदिक यज्ञों से) हमें श्रेष्ठ ज्ञान के लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार रजोगुण तमोगुण से बेहतर है, लेकिन सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि सत्त्वगुण से मनुष्य परम सत्य का साक्षात्कार कर सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् की भक्तिमय सेवा से ही इस भौतिक जगत के बद्ध जीवन से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके आगे यहाँ पर यह बताया गया है कि मनुष्य को सत्त्वगुण के पद तक ऊपर उठना होता है, जिससे वह भगवान् की भक्ति के योग्य बन सके। किन्तु यदि प्रगति में बाधाएँ आएँ, तो सक्षम गुरु के निर्देशन से *तमस* पद से भी धीरे-धीरे *सत्त्व* पद तक ऊपर उठा जा सकता है। अतः निष्ठावान व्यक्तियों को चाहिए कि प्रगति के लिए प्रामाणिक दक्ष गुरु के पास जाएँ जो उन्हें *तमस्*, *रजस्* या *सत्त्व* की किसी भी अवस्था से मुक्ति पद तक ले जा सके।

अतएव यह मानना एक भूल होगी कि पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के किसी भी गुण या किसी भी रूप की पूजा करना समान रूप से लाभप्रद होगा। विष्णु के अतिरिक्त, भौतिक शक्ति के वशीभूत होकर सारे भिन्नांश प्रकट होते रहते हैं, अतएव भौतिक शक्ति के विविध रूप जीव को उस *सत्त्व* के पद तक ऊपर उठने में मदद नहीं देते, जो अकेला ही मनुष्य को भव-बन्धन से छुड़ा सके।

जीवन की असभ्य अवस्था या निम्न पशु जीवन तमोगुण द्वारा नियन्त्रित होता है। मनुष्य की सभ्य अवस्था, जिसमें उसे नाना प्रकार के लाभों की कामना रहती है, रजोगुणी अवस्था है। इस अवस्था में भगवान् की रंचमात्र अनुभूति हो पाती है जो दर्शन, कला तथा चारित्रिक एवं नैतिक सिद्धान्तों से युक्त संस्कृति के रूप में प्रकट होती है, किन्तु *सत्त्वगुण* इससे भी उच्चतर गुणावस्था है, जिससे परम सत्य के साक्षात्कार में वास्तविक सहायता मिलती है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा, विष्णु तथा हर नामक अधिष्ठाता देवों की विभिन्न पूजा विधियों तथा उनसे प्राप्त होने वाले फलों में गुणात्मक अन्तर होता है।

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।

सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

भेजिरे—की सेवा; मुनयः—मुनियों ने; अथ—इस प्रकार; अग्रे—पूर्वकाल में; भगवन्तम्—भगवान् के प्रति; अधोक्षजम्—अध्यात्म, गुणातीत; सत्त्वम्—अस्तित्व; विशुद्धम्—प्रकृति के तीनों गुणों से परे; क्षेमाय—परम लाभ प्राप्त करने के लिए; कल्पन्ते—योग्य हैं; ये—जो; अनु—अनुसरण करते हैं; तान्—वे; इह—इस संसार में।

पूर्वकाल में समस्त महामुनियों ने भगवान् की सेवा की, क्योंकि वे प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं। उन्होंने भौतिक परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए और फलस्वरूप परम लाभ प्राप्त करने के लिए पूजा की। अतएव जो कोई इन महामुनियों का अनुसरण करता है वह भी इस भौतिक संसार में मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

तात्पर्य : धर्माचरण का प्रयोजन न तो भौतिक लाभ प्राप्त करना है, न ही आत्मा और पदार्थ के अन्तर को बताने वाले सरल ज्ञान को अर्जित करना है। धार्मिक अनुष्ठानों का चरम उद्देश्य अपने आपको भौतिक बन्धन से छुड़ाना और उस दिव्य जगत में स्वतन्त्रता का जीवन पुनः प्राप्त करना है, जहाँ भगवान् ही प्रधान रहते हैं। अतएव धार्मिक नियमों का संचालन स्वयं भगवान् द्वारा होता है तथा धर्म का उद्देश्य महाजनों अर्थात् भगवान् के अधिकृत प्रतिनिधियों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। भगवान् के ऐसे बारह महाजन हैं, जो धर्म के उद्देश्य को जानते हैं और वे सभी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे रहते हैं। जो लोग अपना हित चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि इन महाजनों का अनुसरण करें और उससे परम लाभ प्राप्त करें।

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।

नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मुमुक्षवः—मोक्षकामी व्यक्ति; घोर—भयानक; रूपान्—रूपों को; हित्वा—त्याग कर; भूत-पतीन्—देवतागण; अथ—इस कारण से; नारायण—भगवान् के; कलाः—स्वांशों; शान्ताः—परम आनन्दमय; भजन्ति—पूजा करते हैं; हि—निश्चय ही; अनसूयवः—द्वेषरहित।

जो लोग मोक्ष के प्रति गम्भीर हैं, वे निश्चय ही द्वेषरहित होते हैं और सबका सम्मान करते हैं। किन्तु, फिर भी वे देवताओं के घोर रूपों का अस्वीकार करके, केवल भगवान् विष्णु तथा उनके स्वांशों के कल्याणकारी रूपों की ही पूजा करते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जो विष्णु कोटि के रूपों के मूल रूप हैं, वे दो भिन्न कोटियों में अपना विस्तार करते हैं—पूर्ण या समग्र अंश तथा भिन्न अंश। भिन्नांश सेवक हैं और *विष्णु-तत्त्व* के पूर्णांश सेव्य तथा पूज्य हैं।

भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त सारे देवता भी भिन्नांश हैं। वे *विष्णु-तत्त्व* की कोटि में नहीं आते। *विष्णु-तत्त्व* वे पुरुष हैं, जो भगवान् के आदि रूप के ही समान शक्तिमान हैं और वे विभिन्न कालों तथा परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न कोटि की शक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं। भिन्नांश सीमित शक्ति वाले होते हैं। उनमें विष्णुतत्त्वों की तरह असीम शक्ति नहीं होती। अतः *विष्णु-तत्त्वों* या भगवान् नारायण के पूर्णांशों की गणना कभी भिन्नांशों के साथ नहीं करनी चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है तो वह पाषण्डी अर्थात् पाखंडी होने का अपराध करता है। इस कलियुग में अनेक मूर्ख व्यक्ति ऐसा अवैध अपराध करते हैं और दोनों कोटियों को समान बताते हैं।

ये विभिन्न अंश अपनी-अपनी भौतिक शक्तियों के अनुसार विभिन्न पदों पर आसीन हैं—यथा काल-भैरव, श्मशान-भैरव, शनि, महाकाली तथा चण्डिका। इन देवताओं की पूजा वे ही लोग करते हैं, जो तमोगुण की निम्नतम अवस्था में होते हैं। ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश तथा अन्य ऐसे ही देव उन लोगों द्वारा पूजे जाते हैं, जो भौतिक भोग से प्रेरित होने के कारण रजोगुणी होते हैं। किन्तु जो सचमुच सतोगुणी हैं, वे केवल *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं। *विष्णु-तत्त्वों* के अनेक नाम तथा रूप हैं—यथा नारायण, दामोदर, वामन, गोविन्द तथा अधोक्षज।

सुयोग्य ब्राह्मण शालिग्राम शिला द्वारा निरूपित *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं और क्षत्रिय तथा वैश्य जैसे कुछ उच्चतर वर्ण के लोग भी सामान्यतया *विष्णु-तत्त्वों* की पूजा करते हैं।

सतोगुणी योग्यतम ब्राह्मण कभी भी अन्यो की पूजा विधि से ईर्ष्या नहीं करते। वे अन्य देवताओं का पूर्ण आदर करते हैं, यद्यपि काल-भैरव या महाकाली जैसे देवताओं का रूप अन्यन्त भयानक है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि परमेश्वर के ये सारे भयानक लक्षण विभिन्न परिस्थितियों में उनके विभिन्न सेवकों के रूप हैं। किन्तु, इतने पर भी, वे देवताओं के भयानक तथा आकर्षक दोनों ही रूपों को त्याग कर केवल विष्णुरूपों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, क्योंकि

वे भौतिक जगत से मोक्ष पाने की उत्कट इच्छा रखते हैं। सारे देवता, यहाँ तक कि देवों में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा तक, किसी को मोक्ष नहीं दिला सकते। हिरण्यकशिपु ने अमर होने के लिए कठोर तपस्या की थी, किन्तु उसके पूज्य देव ब्रह्मा उसे वैसा वर देकर प्रसन्न नहीं कर सके। इसीलिए विष्णु के अतिरिक्त अन्य कोई *मुक्तिपाद* या मुक्ति के प्रदाता भगवान् नहीं कहलाते। सारे देवता भी भौतिक सृष्टि के अन्य जीवों की भाँति इस भौतिक सृष्टि के संहार के समय नष्ट हो जाते हैं। जब वे स्वयं मुक्ति नहीं पा सकते तो फिर अपने भक्तों को वे किस तरह मुक्ति दिला सकते हैं? ये देवता अपनी पूजा करने वालों को कुछ क्षणिक लाभ ही प्रदान कर सकते हैं, परम लाभ नहीं।

यही कारण है कि मुमुक्षुजन देवताओं की पूजा का परित्याग करते हैं, यद्यपि वे उनमें से किसी के प्रति असम्मान नहीं दिखाते।

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै ।

पितृभूतप्रजेशादीन्श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; प्रकृतयः—उस स्वभाव का; सम-शीलाः—एक ही कोटि के; भजन्ति—पूजा करते हैं; वै—निश्चय ही; पितृ—पितरगण; भूत—अन्य जीव; प्रजेश-आदीन्—प्रजापति इत्यादि; श्रिया—सम्पन्नता; ऐश्वर्य—सम्पत्ति तथा शक्ति; प्रजा—सन्तति, सन्तान; ईप्सवः—ऐसी इच्छा करते हुए।

जो लोग रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं वे पितरों, अन्य जीवों तथा उन देवताओं की पूजा करते हैं, जो सृष्टि सम्बन्धी कार्यकलापों के प्रभारी हैं, क्योंकि वे स्त्री, धन, शक्ति तथा सन्तान का लाभ उठाने की इच्छा से प्रेरित होते हैं।

तात्पर्य : यदि मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जाने के बारे में गम्भीर है तो उसे किसी भी कोटि के देवता की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२०, २३) में ऐसा स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग भौतिक भोगों के पीछे पागल रहते हैं, वे अपने क्षणिक लाभ के लिए विभिन्न देवताओं के पास जाते हैं, किन्तु ऐसे लाभ तो अल्पज्ञों के लिए हैं। हमें कभी भी भौतिक भोग की इच्छा को प्रबल नहीं बनाना चाहिए। भौतिक भोग जीवन में उतना ही अपनाया जाय जितना जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए जरूरी हो, न उससे कम, न ज्यादा।

अधिक भौतिक भोग अपनाने का अर्थ है, अपने आप को भौतिक संसार के कष्टों से अधिकाधिक बाँधना। जो लोग भौतिकता में निमग्न हैं, उन्हें अधिक धन, अधिक स्त्रियाँ तथा झूठी कुलीनता जैसी वस्तुएँ चाहिए, क्योंकि वे विष्णु की पूजा से प्राप्त होने वाले लाभ से अनजान रहते हैं। विष्णु की पूजा से इस जीवन में लाभ तो मिलता ही है, किन्तु मृत्यु के बाद अगले जीवन में भी लाभ मिलता है। इन सिद्धान्तों को भूल कर जो लोग अधिक धन, अधिक स्त्रियाँ तथा अधिक सन्तान चाहते हैं, ऐसे लोग विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। जीवन का लक्ष्य जीवन के कष्टों को समाप्त करना है, उन्हें बढ़ाना नहीं।

भौतिक सुख के लिए देवताओं के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये देवता भगवान् के दास मात्र हैं। फलतः ये जल, वायु, प्रकाश आदि के रूप में जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने के लिए बाध्य हैं। *मनुष्य को चाहिए कि जीने के लिए कठोर श्रम करे और इसी श्रम के फल से भगवान् की पूजा करे। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।* उसे भगवान् में श्रद्धा रखते हुए उचित ढंग से अपने वृत्तिपरक धर्म का पालन करना चाहिए। इससे वह धीरे-धीरे भगवान् के धाम पहुँच सकेगा।

जब भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रजधाम में विद्यमान थे, तो उन्होंने इन्द्र की पूजा बन्द करा दी थी और ब्रजवासियों को सलाह दी थी कि वे अपने व्यवसाय (कर्म) द्वारा ईश्वरकी पूजा करें और उनमें श्रद्धा रखें। भौतिक लाभ के लिए बहुदेव-पूजा धर्म की विकृति है। *भागवत* के प्रारम्भ में ही इस प्रकार की धार्मिकता की निन्दा *कैतवधर्म* कह कर की गई है। संसार में केवल एक ही धर्म है जिसका पालन हर एक को करना चाहिए और वह है *भागवत-धर्म* जो केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा सिखाता है, अन्य किसी की नहीं।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।

वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ २८ ॥

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।

वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव—भगवान्; परा:—परम लक्ष्य; वेदा:—प्रामाणिक शास्त्र; वासुदेव—भगवान्; परा:—पूजा करने के लिए; मखा:—यज्ञ; वासुदेव—भगवान्; परा:—प्राप्त करने के साधन; योगा:—यौगिक साज-सामग्री; वासुदेव—भगवान् के; परा:—उनके अधीन; क्रिया:—सकाम कर्म; वासुदेव—भगवान्; परम्—परम; ज्ञानम्—ज्ञान; वासुदेव—भगवान्; परम्—सर्वश्रेष्ठ; तप:—तपस्या; वासुदेव—भगवान्; पर:—सर्वोच्च गुण; धर्म:—धर्म; वासुदेव—भगवान्; परा:—चरम; गति:—जीवन का लक्ष्य।

प्रामाणिक शास्त्रों में ज्ञान का परम उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं। यज्ञ करने का उद्देश्य उन्हें ही प्रसन्न करना है। योग उन्हीं के साक्षात्कार के लिए है। सारे सकाम कर्म अन्ततः उन्हीं के द्वारा पुरस्कृत होते हैं। वे परम ज्ञान हैं और सारी कठिन तपस्याएँ उन्हीं को जानने के लिए की जाती हैं। उनकी प्रेमपूर्ण सेवा करना ही धर्म है। वे ही जीवन के चरम लक्ष्य हैं।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों में पुष्टि हुई है कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही पूजा के पात्र हैं। वैदिक साहित्य का लक्ष्य भी यही है कि भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाय और हमारी भूली हुई प्रेममयी सेवा को पुनरुज्जीवित किया जाय। यही वेदों का सार-तत्त्व है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि भगवान् द्वारा *भगवद्गीता* में अपने ही शब्दों में इस प्रकार की गई है : वेदों का चरम उद्देश्य केवल उन्हें जानना है। सारे प्रामाणिक शास्त्र भगवान् द्वारा, श्रील व्यासदेव के शरीर के रूप में अवतरित होकर भौतिक प्रकृति से बद्ध पतितात्माओं को भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण कराने के लिए निर्मित किये गये हैं। कोई भी देवता भौतिक बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता। यही समस्त वैदिक ग्रन्थों का निर्णय है। निर्विशेषवादी, जिन्हें भगवान् के व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं होता, भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को कम बताते हैं, क्योंकि वे उन्हें भी अन्य समस्त साधारण जीवों के समान बताते हैं। इसी कारण से निर्विशेषवादियों को बड़ी ही कठिनाई से भौतिक बन्धन से मुक्ति मिल पाती है। वे अनेक जन्मों तक दिव्य ज्ञान का अनुशीलन करने के बाद ही उनकी शरण में जा पाते हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है कि वैदिक कर्म याज्ञिक अनुष्ठानों पर टिके हैं। यह सच है। किन्तु ऐसे सारे यज्ञ वासुदेव की वास्तविक अनुभूति के लिए भी होते हैं। वासुदेव का अन्य नाम यज्ञ है और *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट कहा गया है कि सारे यज्ञ तथा कर्म, यज्ञ या भगवान् विष्णु

को प्रसन्न करने के लिए ही किये जाने चाहिए। यही बात योग-पद्धति पर भी लागू होती है। योग का अर्थ है परमेश्वर से सम्पर्क स्थापित करना। किन्तु, इस विधि में आसन, ध्यान, प्राणायाम जैसी शारीरिक क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं और ये सब परमात्मास्वरूप अन्तर्यामी वासुदेव पर ध्यान केन्द्रित करने के निमित्त होती हैं। परमात्मा-साक्षात्कार तो वासुदेव का आंशिक साक्षात्कार है और यदि कोई इस प्रयास में सफल होता है, तो उसे वासुदेव का पूर्ण साक्षात्कार होता है। किन्तु अधिकांश योगी दुर्भाग्यवश शारीरिक विधि से प्राप्त यौगिक शक्तियों के द्वारा विपथ हो जाते हैं। ऐसे दुर्भाग्यशाली योगियों को अगले जन्म में विद्वान् ब्राह्मणों या सम्पन्न वैश्यों के कुल में जन्म दिया जाता है, जिससे वे वासुदेव-साक्षात्कार के अधूरे कार्य को पूरा कर सकें। यदि ऐसे भाग्यवान् ब्राह्मण तथा वैश्य-पुत्र अवसर का लाभ उठाते हैं, तो साधु पुरुषों की संगति से उन्हें सरलता से वासुदेव-साक्षात्कार हो जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे भाग्यशाली लोग भौतिक सम्पत्ति तथा सम्मान से पुनः वशीभूत हो जाते हैं और अपने जीवन-लक्ष्य को व्यवहारतः भूल जाते हैं।

ज्ञान के अनुशीलन में भी यही बात लागू होती है। *भगवद्गीता* के अनुसार ज्ञान के अनुशीलन के लिए अठारह बातें हैं। ज्ञान के ऐसे अनुशीलन से मनुष्य क्रमशः अभिमानरहित, मदरहित, अहिंसक, सहिष्णु, सरल, गुरुभक्त तथा आत्मसंयमी बन जाता है। ज्ञान के अनुशीलन से वह घर-बार से अनासक्त हो जाता है और जन्म, मृत्यु जरा तथा व्याधि के कष्टों से अवगत हो जाता है। ज्ञान का सारा अनुशीलन भगवान् वासुदेव की भक्तिमय सेवा में जाकर समाप्त होता है। अतएव वासुदेव ही ज्ञान की समस्त शाखाओं के अनुशीलन के चरम लक्ष्य हैं। ज्ञान का जो अनुशीलन वासुदेव के मिलन के दिव्य स्तर तक ऊपर उठा सके, वही वास्तविक ज्ञान है। *भगवद्गीता* में भौतिक ज्ञान की विविध शाखाओं को *अज्ञान* की संज्ञा देकर तिरस्कृत किया गया है। भौतिक ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रियों की तृप्ति करना है, जिसका अर्थ हुआ भौतिक जीवन को दीर्घ बनाना और इस प्रकार तीनों तापों का जारी रहना। अतः इस भौतिक जगत में कष्टमय जीवन की दीर्घ बनाना ही अज्ञान है। किन्तु यदि यही भौतिक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान की दिशा में अग्रसर होता है,

तो वह कष्टमय भौतिक अस्तित्व का अन्त करने में सहायक हो जाता है और वासुदेव धरातल पर आध्यात्मिक-जीवन का शुभारम्भ होता है।

यही बात समस्त तपस्याओं को लागू होती है। *तपस्या* का अर्थ ही है किसी उच्चतर जीवन-उद्देश्य के लिए स्वेच्छा से शारीरिक कष्टों को सहना। रावण तथा हिरण्यकशिपु ने इन्द्रियतृप्ति को उद्देश्य बनाकर नाना प्रकार के दारुण शारीरिक कष्ट झेले थे। कभी-कभी आधुनिक राज-नेता भी अपना राजनीतिक काम साधने के लिए कठिन तपस्याएँ करते हैं। यह वास्तव में तपस्या नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वासुदेव को जानने के लिए स्वेच्छा से शारीरिक असुविधाएँ स्वीकार करें, क्योंकि वास्तविक तपस्या की यही विधि है। अन्यथा अन्य सारी तपस्याएँ रजोगुणी तथा तमोगुणी मानी जाती हैं। रजोगुण तथा तमोगुण से जीवन के कष्टों का अन्त नहीं हो सकता। केवल सत्त्वगुण ही जीवन के तीनों तापों को कम कर सकता है। भगवान् कृष्ण के माता-पिता के रूप में प्राख्यात वसुदेव तथा देवकी ने वासुदेव को पुत्र रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या की थी। भगवान् कृष्ण समस्त जीवों के जनक हैं (*भगवद्गीता* १४.४) अतएव वे समस्त जीवों में आदि पुरुष हैं। वे ही समस्त भोक्ताओं में आदि भोक्ता हैं। अतएव कोई उन्हें उत्पन्न करने वाला पिता नहीं हो सकता, जैसाकि अज्ञानी लोग सोचते हैं। वसुदेव तथा देवकी की घोर तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया। अतएव यदि कोई तपस्या करनी है, तो ज्ञान की पराकाष्ठा, वासुदेव, को लक्ष्य बनाकर ही की जानी चाहिए।

वासुदेव आदि भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, आदि भगवान् असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं। रूपों का ऐसा विस्तार उनकी विविध शक्तियों द्वारा सम्भव हो पाता है। उनकी शक्तियाँ भी अनेकानेक हैं। गुणता में उनकी अन्तरंगा शक्तियाँ श्रेष्ठ होती हैं और बहिरंगा शक्तियाँ निकृष्ट होती हैं। *भगवद्गीता* (७.४-६) में इन्हें क्रमशः *परा* तथा *अपरा* प्रकृति कहा गया है। अतएव अन्तरंगा शक्तियों के द्वारा विविध रूपों में होने वाला उनका विस्तार श्रेष्ठ होता है और बहिरंगा शक्तियों द्वारा होने वाला विस्तार निकृष्ट होता है। जीवात्माएँ भी उन्हीं के विस्तार (अंश) हैं। जो जीवात्माएँ उनकी अन्तरंगा शक्ति के विस्तार से उद्भूत होते हैं, वे नित्य

मुक्त होते हैं और जो भौतिक शक्तियों से उद्भूत होते हैं, वे नित्य बद्ध होते हैं। अतएव ज्ञान, तप, त्याग तथा कर्म का सारा अनुशीलन हम पर पड़ने वाले प्रभावों को बदलने के लिए किया जाना चाहिए। इस समय हम सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा नियन्त्रित हो रहे हैं, अतएव इसके प्रभाव (फल) को बदलने के लिए हमें आध्यात्मिक शक्ति का अनुशीलन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो महात्मा हैं या जिनके हृदय इतने विशाल हो चुके हैं कि वे भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं, वे अन्तरंगा शक्ति के वश में रहते हैं और इसका फल यह होता है कि ऐसे विशाल हृदय वाले लोग बिना विचलित हुए भगवान् की सेवा में लगे ही रहते हैं। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए और यही समस्त वैदिक साहित्य का निर्णय है। किसी को सकाम कर्म या दिव्य ज्ञान के विषय में शुष्क चिन्तन करने की जरूरत नहीं है। सभी को चाहिए कि तुरन्त भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में लग जाएं। मनुष्य को न तो उन विभिन्न देवताओं की पूजा करनी चाहिए, जो सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का कार्य करने वाले भगवान् के हाथ की भाँति हैं। ऐसे अंशुल शक्तिशाली देवता हैं, जो भौतिक जगत की बाह्य व्यवस्था की देख-रेख करते हैं। वे सब भगवान् वासुदेव के सहायकों के समान हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माजी तथा शिवजी की गणना भी देवताओं में होती है, किन्तु भगवान् विष्णु या वासुदेव तो सदा दिव्य पद पर रहते हैं। यद्यपि वे भौतिक जगत के सतोगुण को स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी वे समस्त भौतिक गुणों से परे रहते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। एक बन्दीगृह में बन्दी होते हैं और बन्दीगृह के व्यवस्थापक भी होते हैं। किन्तु बन्दी तथा व्यवस्थापक दोनों राजा के नियमों से बँधे होते हैं। लेकिन यदि कभी-कभार राजा बन्दीगृह में आता है, तो वह बन्दीगृह के नियमों से बँधा नहीं होता। राजा सदैव बन्दीगृह के नियमों से परे होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह भगवान् इस भौतिक जगत के नियमों से परे होते हैं।

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।

सदसद्रूपया चासौ गुणमयागुणो विभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—ही; इदम्—इस; ससर्ज—उत्पन्न किये गये; अग्रे—पहले; भगवान्—भगवान्; आत्म-मायया—अपनी निजी शक्ति से; सत्—कारण; असत्—प्रभाव, फल; रूपया—रूपों के द्वारा; च—तथा; असौ—वही भगवान्; गुण-मय—भौतिक प्रकृति के गुणों में; अगुणः—दिव्य; विभुः—परम।

इस भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में, उन भगवान् (वासुदेव) ने अपने दिव्य पद पर रहकर अपनी ही अन्तरंगा शक्ति से कारण तथा कार्य की शक्तियाँ उत्पन्न कीं।

तात्पर्य : भगवान् कि स्थिति सदैव दिव्य रहती है, क्योंकि भौतिक जगत की सृष्टि के लिए आवश्यक कारण-कार्य शक्तियाँ भी उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की गई हैं। अतएव वे भौतिक गुणों से अप्रभावित रहते हैं। उनका अस्तित्व, रूप, कार्य तथा साज सामग्री, ये सब भौतिक सृजन के पहले से विद्यमान थे।* वे पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं और उन्हें इस भौतिक जगत के गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि ये गुण भगवान् के आध्यात्मिक गुणों से भिन्न हैं।

*मायावाद विचारधारा के प्रधान श्रीपाद शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* के अपने भाष्य में श्रीकृष्ण के इस दिव्य पद को स्वीकार किया है।

footnote ends here.

तथा विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।

अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तथा—उनके द्वारा; विलसितेषु—यद्यपि कार्य में; एषु—इन; गुणेषु—भौतिक प्रकृति के गुणों में; गुणवान्—गुणों से प्रभावित होने वाला; इव—मानो; अन्तः—भीतर; प्रविष्टः—घुसा हुआ; आभाति—प्रतीत होता है; विज्ञानेन—दिव्य चेतना से; विजृम्भितः—पूर्ण रूप से प्रकाशित।

भौतिक पदार्थ की उत्पत्ति करने के बाद, भगवान् (वासुदेव) अपना विस्तार करके उसमें प्रवेश करते हैं। यद्यपि वे प्रकृति के गुणों में रहते हुए उत्पन्न जीवों में से एक जैसे लगते हैं, किन्तु वे सदैव अपने दिव्य पद पर पूर्ण रूप से आलोकित रहते हैं।

तात्पर्य : जीवात्माएँ भगवान् के विभिन्न अंश-प्रत्यंश हैं और जो बद्ध-जीवात्माएँ आध्यात्मिक जगत में रहने लायक नहीं हैं, उन्हें इस भौतिक जगत में डाल दिया जाता है जिससे वे जी भरकर पदार्थ का भोग कर सकें। परमात्मा के रूप में तथा जीवों के नित्य सखा के तौर पर

भगवान् अपने किसी एक पूर्ण अंश के द्वारा जीवों के साथ रहकर उनके भौतिक भोगों में पथप्रदर्शक बनते हैं और उनके सारे कार्यकलापों के साक्षी रहते हैं। जहाँ जीवात्माएँ भौतिक भोग करते हैं, वहीं भगवान् भौतिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना अपने दिव्य पद पर बने रहते हैं। श्रुतियों में कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं।* इनमें से एक वृक्ष का फल खा रहा है और दूसरा उसकी गतिविधियाँ देख रहा है। यह साक्षी भगवान् है और फल को खाने वाला पक्षी जीवात्मा है। फल खाने वाला (जीवात्मा) अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है और भौतिक जगत के सकाम कर्मों में बुरी तरह व्यस्त है, जब कि भगवान् (परमात्मा) सदैव दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण रहते हैं। परमात्मा तथा बद्धजीव में यही अन्तर है। बद्धजीव या जीवात्मा प्रकृति के नियमों के वशीभूत रहता है, जबकि परमात्मा भौतिक शक्ति के नियन्त्रक हैं।

*द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यन्यौः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डक उपनिषद् ३.१.१)

footnote ends here. (... delete while forming in quark)

यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।

नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—उसी तरह; अवहितः—से युक्त; वह्निः—अग्नि; दारुषु—काष्ठ में; एकः—एक; स्व-योनिषु—अपनी योनियों में; नाना इव—अनेक जीवों की तरह; भाति—प्रकाशित होता है; विश्व-आत्मा—परमात्मा रूप भगवान्; भूतेषु—जीवों में; च—तथा; तथा—उसी तरह; पुमान्—परम पुरुष।

परमात्मा रूप में भगवान् सभी वस्तुओं में उसी तरह व्याप्त रहते हैं जिस तरह काष्ठ के भीतर अग्नि व्याप्त रहती है और इस प्रकार यद्यपि वे एक एवं अद्वितीय हैं, वे अनेक प्रकार से दिखते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव अपने किसी एक पूर्णांश से सारे भौतिक जगत में विस्तार करते हैं और उनका अस्तित्व परमाणु ऊर्जा तक के भीतर देखा जा सकता है। पदार्थ,

प्रतिपदार्थ, प्रोटान, न्यूट्रान आदि भगवान् के परमात्मा रूप के विभिन्न परिणाम हैं। जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है या दूध से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार परमात्मा रूप में भगवान् की उपस्थिति उन दिव्य विषयों के वैध श्रवण तथा कीर्तन की सम्मत विधि द्वारा अनुभव की जा सकती है, जिनका वर्णन उपनिषदों तथा वेदान्त जैसे वैदिक साहित्य में विशेष रूप से हुआ है। *श्रीमद्भागवत* ऐसे वैदिक साहित्य की प्रामाणिक व्याख्या है। भगवान् की अनुभूति दिव्य सन्देश के श्रवण द्वारा की जा सकती है और दिव्य विषय को अनुभव करने का एकमात्र यही तरीका है। जिस प्रकार किसी अन्य अग्नि द्वारा जलाने पर काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार मनुष्य की दैवी चेतना अन्य दैवी अनुकम्पा से ही प्रकाशित की जा सकती है। श्री श्रीमद् पूज्य गुरु काष्ठ रूप जीवात्मा में विनम्रता से श्रवण करने वाले कर्णों द्वारा समुचित दिव्य सन्देश प्रविष्ट कराकर आध्यात्मिक अग्नि प्रज्वलित करा सकते हैं। अतएव विनम्रता से सुनने की इच्छा के साथ ही समुचित गुरु के पास जाना चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे दैवी अस्तित्व की अनुभूति हो जाती है। पशुता तथा मानवता का भेद इसी विधि पर आधारित है। मनुष्य ठीक से सुन सकता है, जबकि पशु ऐसा नहीं कर सकता।

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।

स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

असौ—वे परमात्मा; गुण-मयैः—प्रकृति के गुणों से प्रभावित; भावैः—स्वाभाविक रूप से; भूत—उत्पन्न; सूक्ष्म—सूक्ष्म; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्मभिः—जीवों द्वारा; स्व-निर्मितेषु—अपनी ही सृष्टि में; निर्विष्टः—प्रवेश करके; भुङ्क्ते—भोग के लिए प्रेरित करते हैं; भूतेषु—जीवों में; तद्-गुणान्—प्रकृति के वे गुण।

भौतिक जगत के तीन गुणों से प्रभावित हुए जीवों के देह में परमात्मा प्रविष्ट होते हैं और सूक्ष्म मन के द्वारा तीन गुणों के फल भोगने के लिए जीवों को प्रेरित करते हैं।

तात्पर्य : सर्वाधिक बुद्धिमान जीव ब्रह्मा से लेकर नगण्य चींटी तक जीवों की ८४,००,००० लाख योनियाँ हैं और ये सब की सब अपने सूक्ष्म मन तथा स्थूल शरीर की इच्छाओं के अनुसार भौतिक संसार का भोग करती हैं। स्थूल भौतिक शरीर सूक्ष्म मन की अवस्थाओं पर आधारित

होता है और इन्द्रियाँ जीव की इच्छानुसार उत्पन्न की जाती हैं। भगवान्, परमात्मा रूप में, जीव को भौतिक सुख प्राप्त करने में सहायक बनते हैं, क्योंकि जीव अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी भौतिक सुख प्राप्त करने में पूर्ण रूप से अक्षम है। वह इच्छा करने वाला है और भगवान् उसका नियमन करने वाले हैं। आशय यह है कि सारे जीव भगवान् के अंश हैं, अतएव वे भगवान् से अभिन्न हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने विविध शरीरधारी जीवों को अपना पुत्र कहा है। पुत्रों के सुख एवं दुख परोक्ष रूप से पिता के भी सुख एवं दुख होते हैं; तो भी पुत्रों के सुख-दुख से पिता प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होते। वे इतने दयालु हैं कि वे जीव के साथ परमात्मा रूप में निरन्तर बने रहते हैं और जीव को वास्तविक सुख की ओर प्रेरित करते रहते हैं।

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।

लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्मुरादिषु ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भावयति—पालन करते हैं; एषः—इन सबका; सत्त्वेन—सतो गुण से; लोकान्—ब्रह्माण्ड भर में; वै—सामान्य रूप से; लोक-भावनः—समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी; लीला—कार्यकलाप; अवतार—अवतार; अनुरतः—भूमिका ग्रहण करते हुए; देव—देवता; तिर्यक्—निम्न पशु; नर—आदिषु—मनुष्यों में।

इस प्रकार सारे ब्रह्माण्डों के स्वामी देवताओं, मनुष्यों तथा निम्न पशुओं से आवासित सारे ग्रहों का पालन-पोषण करने वाले हैं। वे अवतरित होकर शुद्ध सत्त्वगुण में रहने वालों के उद्धार हेतु लीलाएँ करते हैं।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड अनगिनत हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य ग्रह हैं, जिनमें विविध गुणों वाले विभिन्न कोटि के जीव निवास करते हैं। भगवान् (विष्णु) इनमें से प्रत्येक लोक में तथा प्रत्येक जीव-समूह में अवतरित होते रहते हैं। वे उनके बीच अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे उनमें भगवान् के धाम वापस जाने की रुचि उत्पन्न हो। भगवान् अपनी मूल दिव्य अवस्था को बदलते नहीं, अपितु देश, काल तथा समाज के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं।

कभी वे स्वयं अवतरित होते हैं तो कभी किसी उपयुक्त जीव को अपना प्रतिनिधि बनाकर उसे शक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु प्रत्येक दशा में प्रयोजन एक ही रहता है—भगवान् चाहते हैं कि दुख उठाने वाला जीव उनके पास अर्थात् भगवद्धाम वापस आ जाय। सारे जीव जिस सुख के पीछे दीवाने रहते हैं, वह असंख्य ब्रह्माण्डों में और भौतिक ग्रहों के किसी भी कोने में कहीं भी प्राप्य नहीं है। जीव जिस शाश्वत सुख की कामना करता है, वह केवल भगवान् के धाम में उपलब्ध है, किन्तु विस्मरणशील जीव, प्रकृति के गुणों के वश में आकर, भगवान् के धाम के विषय में कुछ भी नहीं जानता। अतः भगवान् अपने धाम का सन्देश प्रसारित करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं या ईशपुत्र के रूप में अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि बनकर आते हैं। ऐसे अवतार या ईशपुत्र, भगवद्-धाम जाने के सन्देश का प्रचार केवल मानव समाज में ही नहीं करते हैं, बल्कि उनका काम सभी समाजों में, देवताओं में तथा मनुष्यों के अतिरिक्त अन्यो में भी चलता रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “दिव्यता तथा दिव्य सेवा” नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

समस्त अवतारों के स्रोत : कृष्ण

सूत उवाच

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः ।

सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; जगृहे—स्वीकार किया; पौरुषम्—पुरुष अवतार रूप में पूर्णांश; रूपम्—रूप; भगवान्—भगवान्; महत्-आदिभिः—भौतिक जगत के अवयवों सहित; सम्भूतम्—इस तरह उत्पन्न; षोडश-कलम्—सोलह मुख्य सिद्धान्त; आदौ—प्रारम्भ में; लोक—ब्रह्माण्ड; सिसृक्षया—उत्पन्न करने के विचार से।

सूतजी ने कहा : सृष्टि के प्रारम्भ में, भगवान् ने सर्वप्रथम विराट पुरुष अवतार के रूप में अपना विस्तार किया और भौतिक सृजन के लिए सारी सामग्री प्रकट की। इस प्रकार सर्वप्रथम भौतिक क्रिया के सोलह तत्त्व उत्पन्न हुए। यह सब भौतिक ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने के लिए किया गया।

तात्पर्य : भगवद्गीता का मत है कि भगवान् कृष्ण अपने पूर्णांशों के विस्तार से इन भौतिक ब्रह्माण्डों का पालन करते हैं। अतः यह पुरुष रूप उसी सिद्धान्त की पुष्टि है। आदि भगवान् वासुदेव या कृष्ण भगवान् जो राजा वसुदेव या राजा नन्द के पुत्र के रूप में विख्यात हैं, समस्त ऐश्वर्यों, शक्तियों, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा वैराग्य से परिपूर्ण हैं। उनके ऐश्वर्यों का एक अंश निराकार ब्रह्म के रूप में प्रकट होता है, तो एक अंश परमात्मा रूप में। उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण का यह पुरुष रूप भगवान् का मूल परमात्मा स्वरूप है। भौतिक सृष्टि में तीन पुरुष रूप होते हैं और यह रूप, जो कारणोदकशायी विष्णु कहलाता है, तीनों में से प्रथम है। अन्य रूप हैं, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु जिनके बारे में हम क्रमशः जानेंगे। इन कारणोदकशायी विष्णु के रोमकूपों से असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं।

भगवद्गीता में यह भी उल्लेख है कि भौतिक जगत निश्चित अवधि के लिए उत्पन्न किया जाता है और फिर विनष्ट कर दिया जाता है। यह सृजन तथा संहार बद्धजीवों या नित्य बद्धजीवों

के कारण भगवान् की इच्छा से किया जाता है। नित्य बद्धजीवों में वैयक्तिक भाव या अहंकार होता है, जो उन्हें इन्द्रिय-भोग का आदेश देता है, क्योंकि स्वाभाविक रूप से उन्हें ये भोग नहीं मिल सकते। भगवान् ही एकमात्र भोक्ता हैं और शेष सब भोग्य हैं। जीव पराधीन भोक्ता हैं। लेकिन नित्य बद्धजीव इस स्वाभाविक अवस्था को भूल जाने के कारण ही भोग की दृढ़ इच्छा करता है। बद्धजीवों को भौतिक जगत में पदार्थ को भोगने का अवसर दिया जाता है, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप समझने का अवसर भी प्रदान किया जाता है। जो जीव इतने भाग्यशाली होते हैं कि भौतिक संसार में अनेकानेक जन्मों के बाद इस सत्य को ग्रहण करके वासुदेव के चरणकमलों की शरण में जाते हैं, वे नित्यमुक्त जीवों के साथ भगवान् के धाम में प्रवेश करने के अधिकारी होते हैं। इसके पश्चात् ऐसे भाग्यशाली जीवों को समय समय पर सृजित इस भौतिक सृष्टि में आने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जो जीव स्वाभाविक सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते, वे इस सृष्टि के प्रलय के समय *महत्-तत्त्व* में पुनः मिल जाते हैं। जब पुनः सृष्टि होती है तो यह *महत्-तत्त्व* पुनः उन्मुक्त होता है। इस *महत्-तत्त्व* में भौतिक प्राकट्य की सारी सामग्री विद्यमान होती है, जिनमें बद्धजीव भी सम्मिलित रहते हैं। मूलतः यह *महत्-तत्त्व* सोलह अंशों में विभक्त किया जाता है। ये हैं—पाँच स्थूल भौतिक तत्त्व तथा ग्यारह कर्मेन्द्रियाँ। यह स्वच्छ आकाश में बादल के समान होता है। आध्यात्मिक आकाश में ब्रह्म का तेज चतुर्दिक् फैला रहता है और समग्र मंडल दिव्य प्रकाश से जाज्वल्यमान रहता है। इस विस्तृत असीम आध्यात्मिक आकाश के किसी कोने में *महत्-तत्त्व* एकत्र होता है और आकाश का जितना भाग *महत्-तत्त्व* से ढका रहता है वह भौतिक आकाश कहलाता है। *महत्-तत्त्व* का यह भाग सम्पूर्ण आध्यात्मिक आकाश का नगण्य अंश होता है। इस *महत्-तत्त्व* के भीतर असंख्य ब्रह्माण्ड रहते हैं। ये सारे ब्रह्माण्ड कारणोदकशायी विष्णु या महाविष्णु के द्वारा भौतिक आकाश पर केवल दृष्टिपात करने से उत्पन्न होते हैं।

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।

नाभिहृदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अम्भसि—जल में; शयानस्य—लेटे हुए; योग-निद्राम्—ध्यान में सोये हुए; वितन्वतः—विस्तार करते हुए; नाभि—नाभि रूपी; हृद—सरोवर के; अम्बुजात्—कमल से; आसीत्—प्रकट हुआ; ब्रह्मा—जीवों के पितामह; विश्व—ब्रह्माण्ड का; सृजाम्—शिल्पी; पतिः—स्वामी।

पुरुष के एक अंश ब्रह्माण्ड के जल के भीतर लेटते हैं, उनके शरीर के नाभि-सरोवर से एक कमलनाल अंकुरित होता है और इस नाल के ऊपर खिले कमल-पुष्प से ब्रह्माण्ड के समस्त शिल्पियों के स्वामी ब्रह्मा प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : प्रथम पुरुष कारणोदकशायी विष्णु हैं। उनकी त्वचा के छिद्रों से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और यह पुरुष इन प्रत्येक ब्रह्माण्डों में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। वे आधे ब्रह्माण्ड में लेटे हुए हैं, जो उनके शरीर के जल से भर जाता है। इन गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से एक कमलनाल निकलता है, जो ब्रह्मा का जन्मस्थल है। ब्रह्माजी समस्त जीवों के पिता हैं और ब्रह्माण्ड की सुघड़ अभिकल्पना तथा संचालन में लगे समस्त देवता रूप शिल्पियों के स्वामी हैं। इस कमलनाल के भीतर ग्रहमंडल के चौदह लोक हैं, जिनमें से पृथ्वीग्रह तथा वैसे ही अन्य ग्रह मध्य में स्थित हैं। इसके ऊपर की ओर उत्तम ग्रहमंडल हैं और सबसे ऊपरी लोक ब्रह्मलोक या सत्यलोक कहलाता है। पृथ्वी-ग्रहमंडल से नीचे की ओर सात अधोलोक हैं, जिनमें असुर तथा अन्य ऐसे ही भौतिकतावादी जीव निवास करते हैं।

गर्भोदकशायी विष्णु से क्षीरोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है, जो समस्त जीवों के सामूहिक परमात्मा हैं। वे हरि कहलाते हैं और उन्हीं से ब्रह्माण्ड के सारे अवतारों का विस्तार होता है।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि पुरुष-अवतार तीन रूपों में प्रकट होते हैं—पहले कारणोदकशायी हैं, जो महत्-तत्त्व में समग्र भौतिक तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, दूसरे गर्भोदकशायी हैं, जो प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और तीसरे क्षीरोदकशायी विष्णु हैं, जो प्रत्येक भौतिक पदार्थ—चाहे वह जैव हो या अजैव—सबके परमात्मा हैं। जो व्यक्ति भगवान् के इन पूर्ण रूपों को जानता है, वह ईश्वर को ठीक से समझता है। इस तरह का ज्ञाता जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि की

भौतिक स्थिति से मुक्त हो जाता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। इस श्लोक में महाविष्णु के विषय में सारांश दिया गया है। महाविष्णु अपनी मुक्त इच्छा से आध्यात्मिक आकाश के कुछ भाग में लेटे रहते हैं। इस तरह वे कारण सागर में लेटे हुए प्रकृति पर दृष्टि फेरते हैं, जिससे तुरन्त *महत्-तत्त्व* की सृष्टि होती है। इस प्रकार से भगवान् की शक्ति से विद्युत्-उन्मेषित होकर प्रकृति अनेक ब्रह्माण्डों को जन्म देती है, जिस प्रकार समय आने पर वृक्ष में असंख्य फल लग जाते हैं। वृक्ष का बीज बोने वाला किसान होता है और समय पाकर वृक्ष या लता में अनेक फल प्रकट होते हैं। कोई भी घटना किसी कारण के बिना नहीं घटती। इसीलिए कारण-सागर *कारणाण्व* कहलाता है। हमें मूर्खतावश सृष्टि के नास्तिकतावादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में नास्तिकों का वर्णन हुआ है। नास्तिक सृष्टि पर विश्वास नहीं करता, किन्तु वह सृष्टि का कोई अच्छा सिद्धान्त भी नहीं दे सकता। भौतिक प्रकृति में पुरुष के बिना सृजन करने की शक्ति नहीं है, जिस प्रकार कि प्रकृति अर्थात् स्त्री, पुरुष के बिना अर्थात् नर से सम्बन्ध स्थापित किये बिना शिशु उत्पन्न नहीं कर सकती। पुरुष गर्भाधान करता है और प्रकृति प्रसव करती है। जिस प्रकार बकरे के गले में लगी मांसल थैलियों से दूध की आशा नहीं की जा सकती, यद्यपि वे स्तन जैसी लगती हैं, उसी प्रकार हमें भौतिक तत्त्वों से किसी प्रकार की सृजनात्मक शक्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। हमें पुरुष की शक्ति में विश्वास करना चाहिए, जो प्रकृति का गर्भाधान करने वाले हैं। चूँकि भगवान् की इच्छा ध्यानमग्न होकर लेटने की थी, अतः भौतिक शक्ति ने तुरन्त असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न कर दिये और इनमें से प्रत्येक में भगवान् लेट गये। इस प्रकार भगवान् की इच्छा से तुरन्त ही सारे ग्रह तथा विभिन्न सामग्री उत्पन्न हो गई। भगवान् में अनन्त शक्तियाँ हैं, अतः वे इच्छानुसार अपनी योजना पूरी करते हुए कार्य कर सकते हैं, यद्यपि वे स्वयं कुछ नहीं करते। कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर। यही वेदों का निर्णय है।

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।

तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अवयव—शारीरिक विस्तार; संस्थानैः—में स्थित; कल्पितः—कल्पित किया गया; लोक—निवासियों के ग्रह; विस्तरः—विभिन्न; तत् वै—लेकिन वह है; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप; विशुद्धम्—शुद्ध; सत्त्वम्—अस्तित्व; ऊर्जितम्—सर्वश्रेष्ठ ।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि समस्त ब्रह्माण्ड के ग्रहमंडल पुरुष के विराट शरीर में स्थित हैं, किन्तु उन्हें सर्जित भौतिक अवयवों से कोई सरोकार नहीं होता। उनका शरीर नित्य आध्यात्मिक अस्तित्वमय है जिसकी कोई तुलना नहीं है।

तात्पर्य : परम सत्य के विराट्-रूप या विश्व-रूप की धारणा विशेष रूप से नवदीक्षितों के लिए है, जो भगवान् के दिव्य रूप के विषय में सोच सकने में अक्षम होते हैं। उनके लिए रूप का अर्थ इस भौतिक जगत से सम्बद्ध कोई वस्तु है, अतएव प्रारम्भ में भगवान् की शक्ति के विस्तार पर ध्यान एकाग्र करने के लिए ब्रह्म की विरोधी कल्पना आवश्यक होती है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् महत्-तत्त्व के रूप में अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं, जिसमें सभी भौतिक अवयव सम्मिलित रहते हैं। एक तरह से भगवान् की शक्ति का विस्तार तथा स्वयं भगवान् एक हैं, किन्तु साथ ही साथ महत्-तत्त्व भगवान् से भिन्न भी है। फलस्वरूप, भगवान् की शक्ति तथा भगवान् एक ही साथ भिन्न तथा अभिन्न हैं। इस तरह विराट्-रूप की अवधारणा, विशेष रूप से निर्विशेषवादियों के लिए, भगवान् के नित्य रूप से अभिन्न है। भगवान् का यह नित्य रूप महत्-तत्त्व की सृष्टि के पहले से विद्यमान रहता है और यहाँ पर इस बात पर बल दिया गया है कि भगवान् का नित्य रूप प्रकृति के गुणों से परम आध्यात्मिक या दिव्य है। यही दिव्य रूप भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता है और अनेक अवतारों के रूप में उनका स्वरूप वैसे ही दिव्य गुण वाला बना रहता है, उसमें महत्-तत्त्व का किंचित स्पर्श तक नहीं होता।

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं

सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पश्यन्ति—देखते हैं; अदः—पुरुष का; रूपम्—रूप; अदभः—पूर्ण; चक्षुषा—आँखों से; सहस्र-पाद—हजारों पाँव; ऊरु—जंघाएँ; भुज-आनन—हाथ तथा मुख; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; सहस्र—हजारों; मूर्ध—शिर; श्रवण—कान; अक्षि—आँखें; नासिकम्—नाक; सहस्र—हजारों; मौलि—मालाएँ; अम्बर—वस्त्र; कुण्डल—कर्णाभूषण; उल्लसत्—चमकते हुए।

भक्तगण अपने विमल (पूर्ण) नेत्रों से उस पुरुष के दिव्य रूप का दर्शन करते हैं जिसके हजारों-हजार पाँव, जंघाएँ, भुजाएँ तथा मुख हैं और सबके सब अद्वितीय हैं। उस शरीर में हजारों सिर, आँखें, कान तथा नाक होते हैं। वे हजारों मुकुटों तथा चमकते कुण्डलों से अलंकृत हैं और मालाओं से सजाये गये हैं।

तात्पर्य : हम अपनी वर्तमान भौतिक इन्द्रियों से दिव्य भगवान् को रंचमात्र भी नहीं देख पाते। हमारी वर्तमान इन्द्रियों को भक्तिमय सेवा की प्रक्रिया द्वारा ठीक करने की आवश्यकता है, तभी भगवान् स्वयं हमें दर्शन देते हैं। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि शुद्ध भक्तिमय सेवा द्वारा ही दिव्य रूप भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं। इस तरह वेदों में भी पुष्टि हुई है कि केवल भक्ति ही मनुष्य को भगवान् की ओर ले जा सकती है और केवल भक्ति से भगवान् प्रकट होते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भी कहा गया है कि भगवान् सदैव उन भक्तों को दिखते हैं, जिनकी आँखों में भक्ति रूपी अंजन लगा रहता है। अतएव हमें भगवान् के दिव्य रूप की जानकारी ऐसे व्यक्तियों से प्राप्त करनी होती है, जिन्होंने भक्ति के अंजन से रंजित आँखों से उनका दर्शन किया है। इस भौतिक जगत में भी हम वस्तुओं को सदा अपनी आँखों से नहीं देखते; कभी-कभी हम उन लोगों के अनुभव से देखते हैं जिन्होंने उन्हें पहले से देखा है या कुछ काम किया है। यदि दुन्यवी वस्तुओं के अनुभव किये जाने की यह विधि है, तो फिर दिव्य विषयों में यह पूरी तरह लागू होती है। अतएव केवल धैर्य तथा दृढ़ता से ही परम सत्य सम्बन्धी दिव्य विषय तथा उनके विविध रूपों के सम्बन्ध में अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। नवदीक्षितों के लिए वे स्वरूपहीन हैं, किन्तु दक्ष सेवक के लिए वे दिव्य रूप से युक्त होते हैं।

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।

यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह (रूप) ; नाना—अनेक; अवताराणाम्—अवतारों का; निधानम्—स्रोत; बीजम्—बीज; अव्ययम्—अविनाशी; यस्य—जिसका; अंश—पूर्ण अंश; अंशेन—भिन्नांश से; सृज्यन्ते—उत्पन्न होते हैं; देव—देवता; तिर्यक्—पशु; नर-आदयः—मनुष्य इत्यादि ।

यह रूप (पुरुष का द्वितीय प्राकट्य) ब्रह्माण्ड के भीतर नाना अवतारों का स्रोत तथा अविनाशी बीज है। इसी रूप के कणों तथा अंशों से देवता, मनुष्य इत्यादि विभिन्न जीव उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : महत्-तत्त्व में असंख्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर लेने के बाद, यह पुरुष इन ब्रह्माण्डों में से प्रत्येक में, द्वितीय पुरुष—गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रविष्ट हुए। वहाँ पर जब उन्होंने देखा कि ब्रह्माण्ड भर में अंधकार ही अंधकार तथा अवकाश है, विश्राम के लिए कहीं कोई आश्रय नहीं है, तब उन्होंने अपने पसीने के जल से आधे ब्रह्माण्ड को भर दिया और स्वयं उसी जल में लेट गए। यह जल गर्भोदक कहलाता है। तब उनकी नाभि से कमलनाल अंकुरित हुई और उस फूल की पंखुड़ियों पर ब्रह्माण्ड के प्रमुख शिल्पी ब्रह्मा का जन्म हुआ। ब्रह्मा ब्रह्माण्ड के शिल्पी हुए और भगवान् ने विष्णु रूप में इस ब्रह्माण्ड के पालन का भार अपने ऊपर ले लिया। ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रकृति के रजोगुण से हुई और विष्णु सत्त्वगुण के स्वामी बने। विष्णु समस्त गुणों से परे होने के कारण भौतिक प्रभावों से सदा अलग रहते हैं। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। ब्रह्मा से रुद्र (शिव) उत्पन्न हुए, जो तमोगुण के स्वामी हैं। वे भगवान् की इच्छा से सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करते हैं। अतएव ये तीनों—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव गर्भोदकशायी विष्णु के ही अवतार हैं। ब्रह्मा से दक्ष, मरीचि, मनु आदि अनेक देवता अवतरित हुए जिन्होंने ब्रह्माण्ड में जीवों का जनन किया। वेदों में इन गर्भोदकशायी विष्णु की स्तुति *गर्भस्तुति* के स्तोत्रों के रूप में की जाती है, जिनका प्रारम्भ हजारों शिरो आदि वाले भगवान् के वर्णन से होता है। गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं और यद्यपि वे इस ब्रह्माण्ड के भीतर शयन करते प्रतीत होते हैं, किन्तु वे सदैव दिव्य हैं। इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है। विष्णु, जो कि गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण

अंश हैं, विश्वभर के जीवों के परमात्मा हैं और वे ब्रह्माण्ड के पालनकर्ता या क्षीरोदकशायी विष्णु कहलाते हैं। इस प्रकार मूल पुरुष के तीन रूप जाने जाते हैं। इस ब्रह्माण्ड के भीतर जितने भी अवतार हैं, वे इसी क्षीरोदकशायी विष्णु से उद्भूत होते हैं।

विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न असंख्य अवतार होते रहते हैं, किन्तु इनमें से कुछ अत्यन्त प्रमुख हैं—यथा मत्स्य, कूर्म, वराह, राम, नृसिंह, वामन तथा अनेक दूसरे अवतार। ये अवतार *लीला अवतार* कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त गुणावतार भी होते हैं—यथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव (या रुद्र) जो प्रकृति के विभिन्न गुणों के लिए उत्तरदायी हैं।

भगवान् विष्णु परमेश्वर से अभिन्न हैं। शिवजी, परमेश्वर तथा जीवों की बीच की स्थिति में हैं और ब्रह्मा सदैव *जीव-तत्त्व* होते हैं। जो सर्वोच्च पुण्यात्मा जीव या भगवद्भक्त है, भगवान् द्वारा उसको सृष्टि करने की शक्ति प्रदान की जाती है और वह ब्रह्मा कहलाता है। उनकी शक्ति सूर्य जैसी है, जो मणि-माणिक्यों द्वारा प्रतिबिम्बित होती रहती है। जब ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करने के लायक कोई जीव नहीं होता, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा बनकर इस कार्यभार को ग्रहण करते हैं।

शिवजी कोई सामान्य जीव नहीं हैं। वे भगवान् के पूर्णांश हैं, लेकिन भौतिक प्रकृति के प्रत्यक्ष संसर्ग में रहने के कारण उन्हें विष्णु जैसा दिव्य स्थान प्राप्त नहीं है। उनमें दूध तथा दही जैसा अन्तर है। यों तो दही दूध ही है, फिर भी वह दूध के स्थान पर उपयोग में नहीं लाया जा सकता।

इसके बाद मनुओं के अवतार आते हैं। ब्रह्मा के जीवन के एक दिन (हमारे सौर वर्षों की गणना के अनुसार $43,00,000 \times 1,000$ वर्ष) में चौदह मनु होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के एक मास में 420 मनु तथा ब्रह्मा के एक वर्ष में 4,080 मनु होते हैं। ब्रह्माकी आयु 100 वर्ष की है, अतः ब्रह्मा के जीवन में $4,080 \times 100$ या 4,08,000 मनु होते हैं। ब्रह्माण्डों की संख्या अनगिनत है और इनमें से प्रत्येक में एक-एक ब्रह्मा होते हैं और ये सब पुरुष के श्वास लेने और छोड़ने जितने समय में उत्पन्न तथा विनष्ट हो जाते हैं। अतएव कल्पना की जा सकती है कि पुरुष के एक श्वास काल में कितने लाखों मनु होते होंगे।

इस ब्रह्माण्ड के प्रमुख मनु इस प्रकार हैं—स्वयंभुव मनु के रूप में यज्ञ, स्वारोचिष मनु के रूप में विभु, उत्तम मनु के रूप में सत्यसेन, तामस मनु के रूप में हरि, रैवत मनु के रूप में वैकुण्ठ, चाक्षुष मनु के रूप में अजित, वैवस्वत मनु के रूप में वामन (वर्तमान युग वैवस्वत मनु के अधीन है), सावर्णि मनु के रूप में सार्वभौम, दक्ष-सावर्णि मनु के रूप में ऋषभ, ब्रह्म-सावर्णि मनु के रूप में विश्वक्सेन, धर्म-सावर्णि मनु के रूप में धर्मसेतु, रुद्र-सावर्णि मनु के रूप में सुधामा, देव-सावर्णि मनु के रूप में योगेश्वर और इन्द्र-सावर्णि मनु के रूप में वृहद्भानु। ये चौदह मनुओं के एक समुच्चय के नाम हैं जो ४,३०,००,००,००० वर्षों का काल पूरा करते हैं।

फिर युगावतार भी होते हैं। युगों के नाम हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग। प्रत्येक युग के अवतारों का रंग भिन्न होता है। ये रंग हैं श्वेत, लाल, काला तथा पीला। द्वापरयुग में भगवान् कृष्ण काले रंग में प्रकट हुए और कलियुग में चैतन्य महाप्रभु पीले रंग में प्रकट हुए।

इस प्रकार शास्त्रों में भगवान् के समस्त अवतारों का उल्लेख मिलता है। किसी भी धूर्त के लिए अवतार बनने की गुंजाईश नहीं है, क्योंकि अवतार का उल्लेख शास्त्रों में रहता है। कोई भी अवतार अपने को ईश्वर का अवतार घोषित नहीं करता, अपितु ऋषिगण शास्त्रों में उल्लिखित लक्षणों के आधार पर उन्हें स्वीकार करते हैं। शास्त्रों में अवतार के लक्षणों तथा उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले विशेष सन्देश (कार्य) का उल्लेख रहता है।

प्रत्यक्ष अवतारों के अतिरिक्त असंख्य 'शक्त्यावेश' अवतार होते हैं। इनका भी प्रामाणिक शास्त्रों में उल्लेख रहता है। ऐसे अवतारों को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से शक्ति प्राप्त रहती है। जब उन्हें प्रत्यक्ष शक्ति मिली है, तो वे *अवतार* कहलाते हैं, किन्तु जब उन्हें अप्रत्यक्ष शक्ति मिलती है, तब वे *विभूतियाँ* कहलाते हैं। प्रत्यक्ष 'शक्त्यावेश' अवतारों में कुमारगण, नारद, पृथु, शेष, अनन्त आदि हैं। जहाँ तक विभूतियों का सम्बन्ध है, इनका स्पष्ट वर्णन *भगवद्गीता* के विभूतियोग अध्याय में हुआ है। ऐसे समस्त प्रकार के अवतारों के स्रोत गर्भोदकशायी विष्णु हैं।

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ।

चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; एव—ही; प्रथमम्—पहला; देवः—परमेश्वर; कौमारम्—कुमारगण (अविवाहित); सर्गम्—सृष्टि;
आश्रितः—अधीन; चचार—सम्पन्न किया; दुश्चरम्—करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर; ब्रह्मा—ब्रह्मा की कोटि में;
ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने की तपस्या में; अखण्डितम्—अविच्छिन्न।

सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम ब्रह्मा के चार अविवाहित पुत्र (कुमारगण) थे, जिन्होंने
ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए परम सत्य के साक्षात्कार हेतु कठोर तपस्या की।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत की पहले उत्पत्ति, फिर पालन और तब एक निश्चित कालावधि
के बाद संहार होता रहता है। अतएव जीवों के पिता ब्रह्मा की विशिष्ट कोटियों के अनुसार सृष्टियों
के भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। जैसाकि ऊपर कहा गया है, कुमारगणों की उत्पत्ति भौतिक जगत की
कौमार-सृष्टि में हुई। उन्होंने हमें ब्रह्म-साक्षात्कार की विधि सिखाने के लिए स्वयं ब्रह्मचारी
रहकर कठिन व्रत का पालन किया। ये सारे कुमार 'शक्त्यावेश' अवतार हैं। ये कठिन व्रत पालन
करने के पूर्व ही योग्य ब्राह्मण बन चुके थे। इसी उदाहरण से यह सुझाव प्राप्त होता है कि मनुष्य
को केवल जन्म से नहीं अपितु गुण से ब्राह्मण की योग्यताएँ प्राप्त कर लेनी चाहिए। तभी वह
ब्रह्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में अपने को लगाए।

द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम् ।

उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—दूसरा; तु—लेकिन; भवाय—कल्याण के लिए; अस्य—इस पृथ्वी के; रसातल—निम्नतम भागमें; गताम्—
गयी हुई; महीम्—पृथ्वी को; उद्धरिष्यन्—उठा कर; उपादत्त—स्थापित किया; यज्ञेशः—स्वामी या परम भोक्ता;
सौकरम्—सूकर का; वपुः—अवतार।

समस्त यज्ञों के परम भोक्ता ने सूकर का अवतार (द्वितीय अवतार) स्वीकार किया
और पृथ्वी के कल्याण हेतु उसे ब्रह्माण्ड के रसातल क्षेत्र से ऊपर उठाया।

तात्पर्य : यहाँ संकेत यह है कि भगवान् के प्रत्येक अवतार के लिए उनके द्वारा सम्पन्न होने
वाले विशेष कार्य का भी उल्लेख रहता है। बिना कार्य-विशेष के कोई अवतार नहीं हो सकता
और ऐसा कार्य सदा ही अद्वितीय होता है। ऐसे कार्यों का किसी जीव द्वारा सम्पन्न किया जाना

असम्भव होता है। शूकर का अवतार पृथ्वी को गन्दे पदार्थ के रसातल भाग से बाहर निकालना था। गन्दे स्थान से कोई चीज उठाना शूकर का कार्य है और सर्व-शक्तिमान भगवान् ने यह आश्चर्य असुरों को कर दिखाया, जिन्होंने पृथ्वी को ऐसे गंदे स्थान में छिपा दिया था। भगवान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। यद्यपि उन्होंने शूकर की भूमिका निभाई तो भी वे सदैव दिव्य स्थिति में रहते हुए भक्तों के द्वारा पूजित होते हैं।

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः ।

तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तृतीयम्—तीसरा; ऋषि-सर्गम्—ऋषिसर्ग; वै—निश्चय ही; देवर्षित्वम्—देवताओं में ऋषि का अवतार; उपेत्य—स्वीकार करके; सः—उन्होंने; तन्त्रम्—वेदों का भाष्य; सात्वतम्—विशेष रूप से भक्ति के लिए; आचष्ट—संग्रह किया; नैष्कर्म्यम्—निष्काम; कर्मणाम्—कर्म का; यतः—जिससे।

ऋषियों के सर्ग में, भगवान् ने देवर्षि नारद के रूप में, जो देवताओं में महर्षि हैं, तीसरा शक्त्यावेश अवतार ग्रहण किया। उन्होंने उन वेदों का भाष्य संकलित किया जिनमें भक्ति मिलती है और जो निष्काम कर्म की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शक्त्यावेश अवतार महर्षि नारद सम्पूर्ण जगत में भक्तिमय सेवा का प्रचार करते हैं। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विभिन्न लोकों में तथा समस्त योनियों के सारे बड़े-बड़े भगवद्भक्त उनके शिष्य हैं। श्रीमद्भागवत के संकलनकर्ता श्रील व्यासदेव भी उनके शिष्यों में से एक हैं। नारद-पञ्चरात्र, जो भगवद्भक्ति विषयक वेदों का भाष्य है, उन्हीं के द्वारा रचित है। यह नारद-पञ्चरात्र कर्मियों को कर्म-बन्धन से मुक्ति दिलाने की शिक्षा देता है। बद्धजीव अधिकांश सकाम कर्म के प्रति आसक्त होते हैं, क्योंकि वे अपने श्रम द्वारा जीवन का आनन्द भोगना चाहते हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड समस्त योनियों के सकाम कर्मियों से भरा पड़ा है। सभी प्रकार की आर्थिक विकास-योजनाएँ इन सकाम कर्मों में सम्मिलित हैं। किन्तु प्रकृति का नियम यह है कि प्रत्येक क्रिया की परिणामकारी प्रतिक्रिया होती है और कर्म करने वाला अच्छे या बुरे कर्मफल से बँधा होता है। अच्छे कर्म का फल तदनुरूप भौतिक सम्पन्नता है, जबकि बुरे कर्म का फल तदनुरूप

भौतिक कष्ट होता है। फिर भी भौतिक दशाएँ चाहे वे तथाकथित सुख हों या दुख हों, अन्ततः दुख का ही कारण बनते हैं। मूर्ख भौतिकतावादियों को यह पता ही नहीं होता कि मुक्त अवस्था में शाश्वत सुख कैसे प्राप्त करना चाहिए। श्री नारद इन मूर्ख सकाम कर्मियों को बताते हैं कि किस तरह वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहिए। वे संसार के रुग्ण मनुष्यों को निर्देश देते हैं कि किस प्रकार उनके वर्तमान पेशे से उनका आध्यात्मिक उत्थान हो सकता है। वैद्य दूध की बनी वस्तु खाने से अपच से पीड़ित रोगी को दूध से ही बना दही खाने का उपचार बताता है। अतः रोग का कारण तथा उसका उपचार एक ही हो सकता है, किन्तु उपचार करने वाले को नारद के समान ही कुशल वैद्य होना चाहिए। *भगवद्गीता* का भी यही उपदेश है कि अपने श्रम के फल से भगवान् की सेवा करनी चाहिए। इससे 'नैष्कर्म्य' या मुक्ति का पथ सुलभ हो सकेगा।

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।

भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोदुश्चरं तपः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तुर्ये—चौथी बार; धर्म—कला—धर्मराज की पत्नी से; सर्गे—उत्पन्न; नर—नारायणौ—नर तथा नारायण; ऋषी—ऋषि; भूत्वा—होकर; आत्म-उपशम—इन्द्रिय निग्रह द्वारा; उपेतम्—प्राप्ति के लिए; अकरोत्—किया; दुश्चरम्—अत्यन्त कठिन; तपः—तपस्या।

चौथे अवतार में भगवान् राजा धर्म की पत्नी के जुड़वाँ पुत्र नर तथा नारायण बने। फिर उन्होंने इन्द्रियों को वश में करने के लिए कठिन तथा अनुकरणीय तपस्या की।

तात्पर्य : राजा ऋषभ ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था कि भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए तपस्या ही मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य (धर्म) है, अतएव हमें शिक्षा देने के लिए ही भगवान् ने आदर्श प्रस्तुत करते हुए स्वयं ऐसा किया। भगवान् भुलकड़ जीवों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। अतः वे स्वयं आते हैं और अपने पीछे आवश्यक आदेश छोड़ जाते हैं। वे बद्धजीवों को भगवद्धाम वापस बुलाने के लिए अपने उत्तम पुत्रों को भी प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं। हाल ही में, अभी सबों की स्मृति में ही, भगवान् चैतन्य भी ऐसे ही कार्य के लिए, इस लौह उद्योग के युग

में पतित आत्माओं पर विशेष कृपा करने के लिए प्रकट हुए थे। नारायण अवतार की पूजा आज भी हिमालय पर्वत स्थित बदरीनारायण में की जाती है।

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।

प्रोवाचासुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पञ्चमः—पाँचवाँ; कपिलः—कपिल; नाम—नामक; सिद्धेशः—सिद्धों में श्रेष्ठ; काल—समय द्वारा; विप्लुतम्—नष्ट; प्रोवाच—कहा; आसुरये—आसुरि नामक ब्राह्मण से; साङ्ख्यम्—सांख्यशास्त्र, तत्त्वज्ञान; तत्त्व-ग्राम—सृष्टिकारी तत्त्वों का समूह; विनिर्णयम्—भाष्य।

भगवान् कपिल नामक पाँचवाँ अवतार सिद्धों में सर्वोपरि है। उन्होंने आसुरि ब्राह्मण को सृष्टिकारी तत्त्वों तथा सांख्य शास्त्र का भाष्य बताया, क्योंकि कालक्रम से यह ज्ञान वि-नष्ट हो चुका था।

तात्पर्य : सृष्टिकारी तत्त्वों की कुल संख्या चौबीस है। सांख्य दर्शन में इनमें से प्रत्येक तत्त्व की विशद व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन को यूरोपीय विद्वानों द्वारा सामान्य रूप से तत्त्वदर्शन कहा जाता है। सांख्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है, “जो भौतिक तत्त्वों के विश्लेषण द्वारा अच्छी तरह से व्याख्या करे।” भगवान् कपिल ने इसे सर्वप्रथम किया, जिन्हें यहाँ पर पाँचवाँ अवतार कहा गया है।

षष्ठमत्रैरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।

आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

षष्ठम्—छठवाँ; अत्रेः—अत्रि का; अपत्यत्वम्—पुत्रत्व; वृतः—माँगने पर; प्राप्तः—प्राप्त किया गया; अनसूयया—अनसूया द्वारा; आन्वीक्षिकीम्—अध्यात्म के विषय पर; अलर्काय—अलर्क को; प्रह्लाद-आदिभ्यः—प्रह्लाद तथा अन्यो को; ऊचिवान्—बताया।

पुरुष के छठे अवतार अत्रि मुनि के पुत्र थे। वे अनसूया की प्रार्थना पर उनके गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अलर्क, प्रह्लाद तथा अन्यो (यदु, हैहय आदि) को अध्यात्म के विषय में उपदेश दिया।

तात्पर्य : भगवान् ऋषि अत्रि तथा अनसूया के पुत्र, दत्तात्रेय के रूप में अवतरित हुए। ब्रह्माण्ड पुराण में पतिव्रता पत्नी के प्रसंग में, भगवान् द्वारा दत्तात्रेय के रूप में अवतार लेने की कथा का वर्णन हुआ है। उसमें कहा गया है कि ऋषि अत्रि की पत्नी अनसूया ने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के समक्ष प्रार्थना की, “हे प्रभो! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और मुझसे वर माँगने को कहते हैं, तो मेरी प्रार्थना है कि आप तीनों मिलकर मेरे पुत्र बनें।” उन्होंने यह प्रार्थना स्वीकार की और भगवान् ने दत्तात्रेय के रूप में आत्म-दर्शन की स्थापना की तथा अलर्क, प्रह्लाद, यदु, हैहय आदि को विशेष रूप से इसका उपदेश दिया।

ततः सप्तम आकृत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ।

स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सप्तमे—सातवाँ; आकृत्याम्—आकृति के गर्भ से; रुचेः—प्रजापति रुचि के द्वारा; यज्ञः—यज्ञ रूप में भगवान् का अवतार; अभ्यजायत—अवतरित हुए; सः—वे; याम-आद्यैः—यम इत्यादि से; सुर-गणैः—देवताओं के द्वारा; अपात्—शासन किया; स्वायम्भुव-अन्तरम्—स्वाम्भुव मनु का काल परिवर्तन (मन्वन्तर)।

सातवें अवतार प्रजापति रुचि तथा उनकी पत्नी आकृति के पुत्र यज्ञ थे। उन्होंने स्वायम्भुव मनु के बदलने पर शासन सँभाला और अपने पुत्र यम जैसे देवताओं की सहायता प्राप्त की।

तात्पर्य : भौतिक जगत की विधि-व्यवस्था बनाये रखने के लिए, देवताओं द्वारा ग्रहण किये जाने वाले प्रशासकीय पद, अत्यन्त उन्नत पुण्यशाली जीवों को प्रदान किये जाते हैं। जब ऐसे पुण्यात्माओं का अभाव होता है, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र आदि के रूप में अवतरित होकर शासन भार सँभालते हैं। स्वायम्भुव मनु (आधुनिक युग वैवस्वत मनु का है) के काल में कोई ऐसा उपयुक्त जीव न था, जो इन्द्रलोक के राजा इन्द्र का पद ग्रहण कर सके। उस समय भगवान् स्वयं इन्द्र बन गये। यम आदि अपने पुत्रों तथा देवताओं की सहायता से भगवान् यज्ञ ने संसार का शासन सँभाला।

अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।

दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अष्टमे—आठवाँ अवतार; मेरुदेव्याम् तु—की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से; नाभे:—राजा नाभि; जातः—जन्म लिया;
उरुक्रमः—सर्वथा शक्तिमान् भगवान्; दर्शयन्—दिखाया; वर्त्म—रास्ता; धीराणाम्—पूर्ण लोगों का; सर्व—सभी;
आश्रम—जीवन के चारों आश्रमों द्वारा; नमस्कृतम्—समादरित, वंदनीय।

आठवाँ अवतार राजा ऋषभ के रूप में हुआ। वे राजा नाभि तथा उनकी पत्नी मेरुदेवी के पुत्र थे। इस अवतार में भगवान् ने पूर्णता का मार्ग दिखलाया जिसका अनुगमन उन लोगों द्वारा किया जाता है, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से संयमित कर लिया है और जो सभी वर्णाश्रमों के लोगों द्वारा वन्दनीय हैं।

तात्पर्य : मानव समाज स्वाभाविक रूप से जीवन के आश्रमों तथा वर्णों के अनुसार आठ वर्गों में विभाजित है—चार वृत्तिपरक तथा चार सांस्कृतिक उत्थान से सम्बद्ध विभाग। बुद्धिजीवी वर्ग, शासक वर्ग, उत्पादक वर्ग और श्रमजीवी वर्ग—ये चार वृत्तिपरक वर्ग हैं। विद्यार्थी जीवन, गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ जीवन एवं संन्यासी जीवन—ये आध्यात्मिक साक्षात्कार के पथ पर सांस्कृतिक उत्थान के चार सोपान हैं। इनमें से संन्यास आश्रम सर्वोच्च माना जाता है और संन्यासी समस्त वर्णों एवं आश्रमों का वैधानिक गुरु होता है। संन्यास आश्रम में भी सिद्धावस्था के लिए चार अवस्थाएँ होती हैं—कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य तथा परमहंस। परमहंस अवस्था सिद्धि की चरमावस्था है। सभी इस आश्रम का आदर करते हैं। राजा नाभि तथा मेरुदेवी के पुत्र महाराज ऋषभ भगवान् के अवतार थे। उन्होंने अपने पुत्रों को तपस्या द्वारा सिद्धि मार्ग का पालन करने का उपदेश दिया, क्योंकि तपस्या से जीवन पवित्र बनता है और मनुष्य को आध्यात्मिक सुख का लाभ होता है, जो दिव्य है और निरन्तर बढ़ने वाला है। प्रत्येक जीव सुख की खोज में रहता है, किन्तु कोई यह नहीं जानता कि शाश्वत एवं असीम सुख कहाँ उपलब्ध होगा। मूर्ख लोग वास्तविक सुख के स्थान पर भौतिक इन्द्रिय-सुख की खोज करते हैं, किन्तु ऐसे मूर्ख लोग यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार का अस्थायी तथाकथित इन्द्रिय-सुख तो कूकर-सूकर भी भोगते हैं। कोई भी पशु, पक्षी या जन्तु इस इन्द्रिय-सुख से वंचित नहीं है। प्रत्येक योनि में, जिसमें मनुष्य योनि भी सम्मिलित है, ऐसा सुख प्रचुरता से उपलब्ध होता है। किन्तु मनुष्य जीवन ऐसे सस्ते

सुख के निमित्त नहीं मिला है। मनुष्य जीवन तो आत्म-साक्षात्कार द्वारा शाश्वत तथा असीम सुख प्राप्त करने के लिए मिला है। यह आत्म-साक्षात्कार तपस्या अर्थात् स्वेच्छा से कष्ट सहकर तथा भौतिक सुख से दूर रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। जो लोग भौतिक आनन्द से अपने को पृथक् रखने में पटु हैं, वे धीर अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विचलित न होने वाले व्यक्ति कहलाते हैं। केवल ऐसे ही धीर व्यक्ति संन्यास आश्रम ग्रहण कर सकते हैं और क्रमशः परमहंस पद को प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी पूजा समाज का हर व्यक्ति करता है। राजा ऋषभ ने इस सन्देश का प्रचार किया और अन्तिम समय वे समस्त शारीरिक आवश्यकताओं से विलग हो गये, जो दुर्लभ अवस्था है जिसका अनुकरण मूर्ख नहीं कर पाते, लेकिन सभी लोग इसकी पूजा करते हैं।

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।

दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ऋषिभिः—मुनियों द्वारा; याचितः—माँगे जाने पर; भेजे—स्वीकार किया; नवमम्—नवाँ; पार्थिवम्—पृथ्वी के शासक; वपुः—शरीर; दुग्ध—दुहते हुए; इमाम्—ये सब; ओषधीः—पृथ्वी की उपजें; विप्राः—हे ब्राह्मणों; तेन—के द्वारा; अयम्—यह; सः—वह; उशत्तमः—अत्यन्त आकर्षक।

हे ब्राह्मणों, मुनियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर, भगवान् ने नवें अवतार में राजा (पृथु) का शरीर स्वीकार किया जिन्होंने विविध उपजें प्राप्त करने के लिए पृथ्वी को जोता। फलस्वरूप पृथ्वी अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक बन गई।

तात्पर्य : राजा पृथु के उत्पन्न होने के पूर्व, उनके पापी पिता के कुशासन के कारण, अत्यन्त अशान्ति छाई थी। बुद्धिमान व्यक्तियों (अर्थात् मुनियों तथा ब्राह्मणों) ने भगवान् से न केवल अवतरित होने के लिए प्रार्थना की, अपितु उन्होंने इस राजा को सिंहासन से उतार भी दिया। राजा का कर्तव्य है कि वह पवित्र हो और अपनी प्रजा के सर्वांगीण कल्याण का ध्यान रखे। राजा जब भी अपने कर्तव्य-पालन में कुछ असावधानी बरते, तो बुद्धिमान व्यक्तियों को चाहिए कि उसे सिंहासन से उतार दें। किन्तु ये बुद्धिमान व्यक्ति खुद सिंहासन पर नहीं बैठते, क्योंकि उनके जिम्मे जनकल्याण के और भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य रहते हैं। अतः राजसिंहासन पर न बैठकर,

उन्होंने भगवान् से अवतार लेने की प्रार्थना की और भगवान् महाराज पृथु के रूप में प्रकट हुए। असली बुद्धिमान व्यक्ति या योग्य ब्राह्मण कभी भी राजनैतिक पदों की चाह नहीं करते। महाराज पृथु ने पृथ्वी से अनेक उत्पाद खोज निकाले। ऐसा राजा प्राप्त करके, न केवल प्रजा प्रसन्न हुई, अपितु पृथ्वी का सारा दृश्य भी सुन्दर तथा आकर्षक हो गया।

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—रूप; सः—उसने; जगृहे—स्वीकार किया; मात्स्यम्—मछली का; चाक्षुष—चाक्षुष; उदधि—जल; सम्प्लवे—बाढ़, प्रलय; नावि—नाव में; आरोप्य—रख कर; मही—पृथ्वी; मय्याम्—डूबा हुआ; अपात्—रक्षा की; वैवस्वतम्—वैवस्वत; मनुम्—मनुष्य के पिता, मनु को।

जब चाक्षुष मनु के युग के बाद पूर्ण जलप्रलय हुआ और सारा जगत जल में डूब गया था, तब भगवान् मछली (मात्स्य) के रूप में प्रकट हुए और वैवस्वत मनु को नाव में रखकर उनकी रक्षा की।

तात्पर्य : भागवत के मूल भाष्यकार श्रीपाद श्रीधर स्वामी के मतानुसार प्रत्येक मनु के बदलने पर सदैव प्रलय नहीं होता। फिर भी चाक्षुष मनु के कार्यकाल के पश्चात् यह प्रलय सत्यव्रत को अद्भुत लीला दिखाने के उद्देश्य से किया गया। लेकिन श्रील जीव गोस्वामी ने प्रामाणिक शास्त्रों (विष्णु धर्मोत्तर, मार्कण्डेय पुराण, हरिवंश आदि) से निश्चित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि प्रत्येक मनु के बाद प्रलय होता ही है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी श्रील जीव गोस्वामी का अनुमोदन किया है और भागवतामृत से प्रत्येक मनु के पश्चात् ऐसे जल प्लावन के उद्घरण दिये हैं। इसके अतिरिक्त, भगवान् अपने भक्त सत्यव्रत पर विशेष अनुग्रह प्रदर्शित करने के लिए इसी विशेष युग में स्वयं अवतरित हुए।

सुरासुराणामुदधिं मथ्नातां मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सुर—आस्तिकों; असुराणाम्—तथा नास्तिकों का; उदधिम्—समुद्र में; मथ्नाताम्—मथन करते हुए; मन्दराचलम्—मन्दराचल पर्वत को; दध्ने—धारण किया; कमठ—कच्छप; रूपेण—के रूप में; पृष्ठे—पीठ पर; एकादशे—ग्यारहवाँ; विभुः—महान्।

भगवान् का ग्यारहवाँ अवतार कच्छप के रूप में हुआ, जिनकी पीठ ब्रह्माण्ड के आस्तिकों तथा नास्तिकों के द्वारा मथानी के रूप में प्रयुक्त किये जा रहे मन्दराचल पर्वत के लिए आधार बनी।

तात्पर्य : एक बार आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही समुद्र से अमृत निकालने में जुटे थे, जिससे वे सब प्राप्त अमृत पीकर अमर हो सकें। उस समय मन्दराचल पर्वत मथानी की तरह प्रयुक्त किया गया और समुद्र के जल में भगवान् के अवतार कच्छप की पीठ को पर्वत के लिए आधार बनाया गया।

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च ।

अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

धान्वन्तरम्—धन्वन्तरि नामक भगवान् का अवतार; द्वादशमम्—बारहवाँ; त्रयोदशमम्—तेरहवाँ; एव—निश्चय ही; च—तथा; अपाययत्—पीने के लिए दिया; सुरान्—देवताओं को; अन्यान्—अन्यों को; मोहिन्या—सुन्दरी द्वारा; मोहयन्—मोहते हुए; स्त्रिया—स्त्री के रूप में।

बारहवें अवतार में भगवान् धन्वन्तरि के रूप में प्रकट हुए और तेरहवें अवतार में उन्होंने स्त्री के मनोहर सौंदर्य द्वारा नास्तिकों को मोहित किया और देवताओं को पीने के लिए अमृत प्रदान किया।

चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रदैत्येन्द्रमूर्जितम् ।

ददार करजैरूरावेरकां कटकृद्यथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

चतुर्दशम्—चौदहवें; नार-सिंहम्—आधा मनुष्य तथा आधा सिंह शरीर वाले भगवान् का अवतार; बिभ्रत्—अवतरित हुए; दैत्य-इन्द्रम्—नास्तिकों का राजा; ऊर्जितम्—अत्यन्त बलिष्ठ; ददार—चीर डाला; करजैः—नाखूनों से; ऊरौ—गोद में; एरकाम्—बेंत को; कट-कृत्—बढ़ई; यथा—जिस तरह।

चौदहवें अवतार में भगवान् नृसिंह के रूप में प्रकट हुए और अपने नाखूनों से नास्तिक हिरण्यकशिपु के बलिष्ठ शरीर को उसी प्रकार चीर डाला, जिस प्रकार बढ़ई लट्ठे को चीर देता है।

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।

पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिपिष्टपम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पञ्चदशम्—पन्द्रहवाँ; वामनकम्—बौना ब्राह्मण; कृत्वा—धारण करके; अगात्—गये; अध्वरम्—यज्ञ स्थल में; बलेः—राजा बलि के; पद-त्रयम्—केवल तीन पद; याचमानः—माँगते हुए; प्रत्यादित्सुः—मन में लौटाने की इच्छा करते हुए; त्रि-पिष्टपम्—तीनों लोकों का राज्य।

पन्द्रहवें अवतार में भगवान् ने बौने ब्राह्मण (वामन) का रूप धारण किया और वे महाराज बलि द्वारा आयोजित यज्ञ में पधारे। यद्यपि वे हृदय से तीनों लोकों का राज्य प्राप्त करना चाह रहे थे, किन्तु उन्होंने केवल तीन पग भूमि दान में माँगी।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान भगवान् किसी को भी थोड़ा-थोड़ा देकर पूरे ब्रह्माण्ड विश्व का राज्य प्रदान कर सकते हैं और इसी प्रकार से एक छोटा-सा भूखण्ड माँगने के बहाने ब्रह्माण्ड का राज्य वापस भी ले सकते हैं।

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।

त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अवतारे—भगवान् के अवतार में; षोडशमे—सोलहवें; पश्यन्—देखते हुए; ब्रह्म-द्रुहः—ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा करने वाले; नृपान्—राजाओं को; त्रिः-सप्त—सात का तीन गुना, इक्कीस बार; कृत्वः—किया था; कुपितः—क्रुद्ध; निः—रहित; क्षत्राम्—प्रशासक वर्ग से; अकरोत्—किया; महीम्—पृथ्वी को।

सोलहवें अवतार में भगवान् ने (भृगुपति के रूप में) क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया, क्योंकि वे ब्राह्मणों (बुद्धिमान वर्ग) के विरुद्ध किये गये विद्रोह के कारण उनसे क्रुद्ध थे।

तात्पर्य : यह अपेक्षा की जाती है कि क्षत्रिय या प्रशासक वर्ग उन बुद्धिमान मनुष्यों के निर्देश से इस लोक का शासन चलायेंगे, जो प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर शासकों को निर्देश देते हैं। शासक इसी निर्देश के अनुसार शासन चलाते हैं। जब कभी क्षत्रिय या शासक वर्ग विद्वान तथा बुद्धिमान ब्राह्मणों के आदेशों की अवज्ञा करते हैं, तो वे बलपूर्वक उनके पदों से हटा दिये जाते हैं और बेहतर प्रशासन की व्यवस्था की जाती है।

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।

चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सप्तदशे—सत्रहवें अवतार में; जातः—उत्पन्न हुआ; सत्यवत्याम्—सत्यवती के गर्भ से; पराशरात्—पराशर मुनि द्वारा; चक्रे—तैयार किया; वेद-तरोः—वेदों के कल्पवृक्ष की; शाखाः—शाखाएँ; दृष्ट्वा—देखकर; पुंसः—सामान्य जन; अल्प-मेधसः—अल्पज्ञ।

तत्पश्चात् सत्रहवें अवतार में भगवान्, पराशर मुनि के माध्यम से सत्यवती के गर्भ से श्री व्यासदेव के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने यह देखकर कि जन-सामान्य अल्पज्ञ हैं, एकमेव वेद को अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त कर दिया।

तात्पर्य : मूल रूप से वेद एक है। किन्तु श्रील व्यासदेव ने मूल वेद को चार में विभाजित कर दिया—साम, यजुर्, ऋग्, तथा अथर्व—और तब इन सबकी व्याख्या पुराणों तथा महाभारत जैसी विविध शाखाओं के रूप में की। सामान्य लोगों के लिए वैदिक भाषा तथा विषय अत्यन्त कठिन होते हैं। उन्हें केवल अत्यन्त बुद्धिमान तथा स्वरूप-सिद्ध ब्राह्मण ही समझ सकते हैं। किन्तु वर्तमान कलियुग तो अज्ञानी मनुष्यों से भरा पड़ा है। यहाँ तक कि ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने वाली सन्तान भी वर्तमान युग में शूद्रों या स्त्रियों से श्रेष्ठ नहीं होती। द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सांस्कृतिक शुद्धिकरण की प्रक्रिया अर्थात् 'संस्कार' सम्पन्न करेंगे, किन्तु वर्तमान युग के बुरे प्रभावों के कारण तथाकथित ब्राह्मण तथा अन्य उच्च वर्ग के लोग भी सुसंस्कृत नहीं रह गये। वे द्विज-बन्धु कहलाते हैं जिसका अर्थ है द्विजों के मित्र तथा परिजन। लेकिन इन द्विज-बन्धुओं की गिनती शूद्रों तथा स्त्रियों में की जाती है। श्रील

व्यासदेव ने द्विज-बन्धुओं, शूद्रों तथा स्त्रियों जैसे अल्पज्ञों को ध्यान में रखकर वेदों को विविध शाखाओं-प्रशाखाओं में विभाजित किया।

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।

समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नर—मनुष्य; देवत्वम्—देवत्व; आपन्नः—का स्वरूप ग्रहण करके; सुर—देवता; कार्य—कर्म; चिकीर्षया—सम्पन्न करने के लिए; समुद्र—हिन्द महासागर; निग्रह-आदीनि—निग्रह इत्यादि.; चक्रे—किया; वीर्याणि—अतिमानवीय पराक्रम; अतः परम्—तत्पश्चात्।

अठारहवें अवतार में भगवान् राजा राम के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने देवताओं के लिए मनभावन कार्य करने के उद्देश्य से हिन्द महासागर को वश में करते हुए समुद्र पार के निवासी नास्तिक राजा रावण का वध करके अपनी अतिमानवीय शक्ति का प्रदर्शन किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीराम ने मनुष्य का रूप धारण किया और ब्रह्माण्ड की व्यवस्था बनाए रखने वाले प्रशासक अधिकारी देवताओं की प्रसन्नता के लिए कुछ कार्य करने हेतु पृथ्वी पर प्रकट हुए। कभी-कभी भौतिक सभ्यता की उन्नति के कारण, भौतिक विज्ञान एवं अन्य कार्यों की सहायता से भगवान् की सुस्थापित व्यवस्था को चुनौती देने के उद्देश्य से, रावण तथा हिरण्यकशिपु जैसे बड़े-बड़े असुर एवं नास्तिक तथा ऐसे अन्य लोग अत्यन्त प्रसिद्ध बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिक साधनों के द्वारा अन्य लोकों को उड़ान भरने का प्रयत्न स्थापित व्यवस्था के प्रति चुनौती है। प्रत्येक लोक की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं और भगवान् की आचार-संहिता के अनुसार उनमें विशेष हेतु के लिए विभिन्न वर्ग के लोग निवास करते हैं। लेकिन भौतिक प्रगति में थोड़ी सी सफलता प्राप्त करके कभी-कभी ईश्वर-विहीन भौतिकतावादी व्यक्ति भगवान् के अस्तित्व को चुनौती देते हैं। रावण इनमें से एक था। वह सामान्य लोगों को, उनमें योग्यता न होते हुए भी, भौतिक साधनों के द्वारा इन्द्रलोक (स्वर्ग) को भेजना चाहता था। वह स्वर्ग तक एक सीढ़ी बना देना चाहता था, जिससे लोगों को उस ग्रह तक पहुँचने के लिए आवश्यक पुण्यकर्म न करने पड़ें। वह भगवान् की सुस्थापित व्यवस्था के विरुद्ध अन्य कार्य करने को भी

उद्यत था। यहाँ तक कि उसने भगवान् श्रीराम की सत्ता को भी चुनौती देकर उनकी पत्नी सीता का अपहरण कर लिया। निस्सन्देह, देवताओं की विनती तथा इच्छा के फलस्वरूप भगवान् राम इस नास्तिक को दण्ड देने के लिए ही आये थे। फलस्वरूप, उन्होंने रावण की चुनौती स्वीकार की। और यह सम्पूर्ण लीला *रामायण* की विषय-वस्तु है। चूँकि रामचन्द्रजी भगवान् थे, अतः उन्होंने ऐसे अतिमानवीय कार्य किये, जिन्हें भौतिक दृष्टि से समुन्नत रावण समेत कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता था। उन्होंने हिन्द महासागर के आर-पार जल में तैरने वाले पत्थरों का राजमार्ग तैयार किया। आधुनिक विज्ञानियों ने भारहीनता के क्षेत्र में खोजें की हैं, किन्तु वे कहीं भी या सर्वत्र ऐसी भारहीनता उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। चूँकि भारहीनता की सृष्टि भगवान् द्वारा की गई है, जिससे वे बड़े-बड़े ग्रहों को वायु में उड़ाते तथा तैराते हैं, अतएव उन्होंने इसी पृथ्वी पर भारहीन पत्थर तैयार करके समुद्र पर पत्थर का ऐसा पुल (सेतु) बना दिया जो बिना स्तम्भों के टिक गया। यही ईश्वरीय शक्ति का प्रदर्शन है।

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।

रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एकोनविंशे—उन्नीसवें में; विंशतिमे—बीसवें में भी; वृष्णिषु—वृष्णि वंश में; प्राप्य—पाकर; जन्मनी—जन्म; राम—बलराम; कृष्णौ—तथा श्रीकृष्ण; इति—इस प्रकार; भुवः—जगत का; भगवान्—भगवान् ने; अहरत्—दूर किया; भरम्—बोझ को।

उन्नीसवें तथा बीसवें अवतारों में भगवान् वृष्णि वंश में (यदु कुल में) भगवान् बलराम तथा भगवान् कृष्ण के रूप में अवतरित हुए और इस तरह उन्होंने संसार के भार को दूर किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भगवान्* शब्द का विशिष्ट उल्लेख यह संकेत है कि बलराम तथा कृष्ण भगवान् के आदि रूप हैं। इसकी अधिक व्याख्या आगे की जायेगी। जैसाकि हम इस अध्याय के प्रारम्भ में देख चुके हैं, भगवान् कृष्ण पुरुष से आये हुए अवतार नहीं हैं। वे साक्षात् परमेश्वर हैं और बलराम भगवान् के प्रथम पूर्णांश हैं। बलदेव से आगे पूर्णांशों की शृंखला का इस

प्रकार विस्तार होता है—वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव हैं और बलदेव संकर्षण हैं।

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।

बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; कलौ—कलियुग में; सम्प्रवृत्ते—अनुघटित होगा; सम्मोहाय—मोहने के लिए; सुर—आस्तिक; द्विषाम्—ईर्ष्यालुओं को; बुद्धः—भगवान् बुद्ध; नाम्ना—नामक; अञ्जन-सुतः—अंजना के पुत्र; कीकटेषु—गया (बिहार) प्रान्त में; भविष्यति—होगा।

तब भगवान् कलियुग के प्रारम्भ में गया प्रान्त में अंजना के पुत्र, बुद्ध के रूप में उन लोगों को मोहित करने के लिए प्रकट होंगे, जो श्रद्धालु आस्तिकों से ईर्ष्या करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के शक्तिशाली अवतार बुद्ध, गया (बिहार) प्रान्त में अंजना के पुत्र रूप में प्रकट हुए और उन्होंने अहिंसा की अपनी खुद की विचारधारा का उपदेश किया और वेदों द्वारा अनुमत पशु यज्ञों तक की भर्त्सना की। जिस समय भगवान् बुद्ध प्रकट हुए, तब जनसामान्य नास्तिक था और पशुमांस को सर्वोपरि स्थान देने लगा था। वैदिक यज्ञों के बहाने प्रायः प्रत्येक स्थान कसाईघर में बदल गया था और बेरोकटोक पशुवध किया जाता था। भगवान् बुद्ध ने दीन पशुओं पर दया करके अहिंसा का उपदेश किया। उन्होंने कहा कि वे वैदिक नियमों में विश्वास नहीं करते। उन्होंने पशुवध के कारण होने वाले मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभावों पर बल दिया। कलियुग के उन अल्पज्ञ व्यक्तियों ने, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, उनके सिद्धान्त का पालन किया और वे कुछ काल तक नैतिक अनुशासन तथा अहिंसा की शिक्षा पाते रहे, जो ईश-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्राथमिक कदम है। बुद्ध ने नास्तिकों को मोहित किया, क्योंकि उनके ऐसे नास्तिक शिष्य ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, लेकिन वे उन बुद्ध में सम्पूर्ण श्रद्धा रखते थे जो स्वयं भगवान् के अवतार थे। इस प्रकार श्रद्धाविहीन व्यक्तियों को भगवान् बुद्ध के रूप में ईश्वर में विश्वास कराया गया। यह भगवान् बुद्ध की कृपा थी कि उन्होंने अश्रद्धालुओं को अपने प्रति श्रद्धालु बनाया।

भगवान् बुद्ध के अवतार के पूर्व पशुवध समाज का प्रमुख अंग बन चुका था। लोगों का दावा था कि ये वैदिक यज्ञ थे। जब वेदों को प्रामाणिक गुरु-शिष्य परम्परा से ग्रहण नहीं किया जाता, तब वेदों का आकस्मिक पाठक वेदों की अलंकारमयी भाषा के फेर में आ जाता है। *भगवद्गीता* में ऐसे मूर्ख विद्वानों (*अविपश्चितः*) के विषय में एक टिप्पणी की गई है। वैदिक साहित्य के मूर्ख विद्वान, जो शिष्य-परम्परा के दिव्य अनुभूत स्रोतों से दिव्य संदेश ग्रहण नहीं करते, उनके लिए भ्रमित होना निश्चित है। उनके लिए *कर्मकाण्ड* ही सब कुछ होता है। उनके ज्ञान में गहराई नहीं रहती। *भगवद्गीता* (१५.१५) के अनुसार—*वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यः*—वेदों की समग्र प्रणाली मनुष्य को क्रमशः भगवान् के पथ पर ले जाने वाली है। वैदिक साहित्य की सारी रूपरेखा ही है परमेश्वर, आत्मा, दृश्य जगत तथा इन सबके सम्बन्धों को जानना। जब यह सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है, तो सापेक्ष कार्य चालू होता है और इस कार्य के फलस्वरूप जीवन का चरम उद्देश्य या भगवान् के धाम वापस जाने का कार्य सरलता से सम्पन्न हो जाता है। दुर्भाग्यवश वेदों के अनधिकारी विद्वान संस्कारों के प्रति अत्यधिक लुब्ध रहते हैं, जिससे सहज प्रगति बाधित होती है।

ऐसी नास्तिक प्रवृत्ति वाले मोहग्रस्त लोगों के लिए, भगवान् बुद्ध आस्तिकता के प्रतीक हैं। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम पशुवध करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहा। पशु के हत्यारे भगवान् के धाम को वापस जाने की दिशा में हानिकारक तत्त्व हैं। पशुवध करने वाले दो प्रकार के होते हैं। कभी-कभी आत्मा को भी “पशु” या “जीव” कहा जाता है। अतः पशुओं का वध करने वाले एवं आत्मा के स्वरूप को भूल जाने वाले, दोनों ही पशु-वधिक हैं।

महाराज परीक्षित ने कहा कि केवल पशुवध करने वाले को ही भगवान् के दिव्य संदेश का स्वाद नहीं मिल पाता। अतः जिन्हें भगवद्मार्ग की शिक्षा दी जानी है, उन्हें सर्वप्रथम उपर्युक्त विधि से *पशुवध की क्रिया को बन्द करना सिखाना होगा। यह कहना मूर्खता है कि पशुवध को आत्म-साक्षात्कार से कुछ लेना-देना नहीं।* इस घातक सिद्धान्त के कारण कलियुग की कृपा से ऐसे अनेक तथाकथित संन्यासी सामने आये हैं, जो वेदों के बहाने पशुवध का उपदेश देते हैं। इस

विषय की व्याख्या भगवान् चैतन्य तथा मौलाना चाँद काजी साहेब की वार्ता में पहले ही की जा चुकी है। वेदों में वर्णित पशुयज्ञ कसाईघरों में अनियन्त्रित पशु-हत्या से भिन्न है। चूँकि असुर लोग या वैदिक साहित्य के तथाकथित पण्डित वेदों में पशुवध का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, फलस्वरूप भगवान् बुद्ध ने बाह्य रूप से वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया। उनके द्वारा वेदों का यह तिरस्कार लोगों को पशु-हत्या के पाप से बचाने तथा बेचारे दीन पशुओं को उनके बड़े भाई के द्वारा वध किये जाने से बचाने के लिए किया गया, जो विश्वबन्धुत्व, शान्ति, न्याय तथा समानता का नारा बुलन्द करते हैं। पशु-हत्या होते रहने पर कोई न्याय नहीं हो सकता। भगवान् बुद्ध इसे पूरी तरह रोकना चाहते थे, फलतः उनका अहिंसा सम्प्रदाय न केवल भारत में, अपितु देश के बाहर भी प्रचारित होता गया।

शास्त्रीय दृष्टि से भगवान् बुद्ध का दर्शन नास्तिकवाद कहलाता है, क्योंकि वह परमेश्वर को नहीं मानता और वेदों का बहिष्कार करता है। किन्तु भगवान् द्वारा यह छलावा मात्र है। भगवान् बुद्ध परमेश्वर के अवतार हैं, अतएव वे वैदिक ज्ञान के मूल संस्थापक हैं। फलस्वरूप, वे वैदिक दर्शन का निषेध नहीं कर सकते। किन्तु उन्होंने ऊपरी रूप से इसका निषेध किया, क्योंकि *सुरद्विष* या वे असुर जो सदैव भगवद्भक्तों से ईर्ष्या करते हैं, वेदों का हवाला देकर गोवध या पशु-हत्या का समर्थन करते हैं और अब यह आधुनिक संन्यासियों द्वारा किया जा रहा है। भगवान् बुद्ध ने वेदों के प्रमाण का ही सर्वथा निषेध किया। यह केवल सैद्धान्तिक है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें भगवान् का अवतार न स्वीकार किया गया होता। न ही वैष्णव आचार्य जयदेव कवि ने दिव्य गीतों में उनकी पूजा की होती। भगवान् बुद्ध ने वेदों के प्रमाण की स्थापना के लिए (तथा शंकराचार्य ने भी) उस काल के लिए अनुकूल विधि से वेदों के मूलभूत नियमों का उपदेश किया। इस प्रकार भगवान् बुद्ध तथा आचार्य शंकर दोनों ने ही आस्तिकता का मार्ग प्रशस्त किया और वैष्णव आचार्यों ने, विशेष रूप से भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने, लोगों को भगवद्धाम वापस जाने का मार्गदर्शन कराया।

हमें प्रसन्नता है कि लोग भगवान् बुद्ध के अहिंसा आन्दोलन में रुचि ले रहे हैं। लेकिन क्या वे इसे गम्भीरतापूर्वक लेंगे और पशुओं के कसाईघरों को एकदम बन्द करा देंगे? यदि ऐसा नहीं होता, तो अहिंसा सम्प्रदाय का कोई अर्थ नहीं है।

श्रीमद्भागवत की रचना कलियुग के आरम्भ के पूर्व ही (पाँच हजार वर्ष पूर्व) हुई थी और भगवान् बुद्ध का आविर्भाव लगभग दो हजार छह सौ वर्ष पूर्व हुआ था। अतः श्रीमद्भागवत में भगवान् बुद्ध की भविष्यवाणी की गई है। ऐसा प्रामाणिक शास्त्र-ग्रन्थ है। ऐसी अनेक भविष्यवाणियाँ हैं जो एक-एक करके पूरी होती जा रही हैं। ये सब श्रीमद्भागवत की सार्थकता का सूचक होगी, क्योंकि यह किसी त्रुटि, मोह, छल तथा अपूर्णता से रहित है जो कि बद्धजीवों के चार दोष हैं। मुक्तात्माएँ इन दोषों से ऊपर हैं, अतएव वे सुदूर भविष्य की घटनाओं की भविष्यवाणी कर सकती हैं।

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।

जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; असौ—वही भगवान्; युग-सन्ध्यायाम्—युगों के बीच में; दस्यु—लुटेरे; प्रायेषु—प्रायः; राजसु—शासक; जनिता—जन्म लेगा; विष्णु—विष्णु नामक; यशसः—‘यशा’ कुलनामयुक्त; नाम्ना—नाम से; कल्किः—भगवान् का अवतार; जगत्-पतिः—जगत के स्वामी।

तत्पश्चात् सृष्टि के सर्वोसर्वा भगवान् दो युगों के सन्धिकाल में कल्कि अवतार के रूप में जन्म लेंगे और विष्णु यशा के पुत्र होंगे। उस समय पृथ्वी के शासक लुटेरे बन चुके होंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् द्वारा कल्कि रूप में अवतार लेने की एक और भविष्यवाणी है। उन्हें दो युगों के सन्धिकाल में अर्थात् कलियुग के अन्त तथा सत्ययुग के प्रारम्भ में जन्म लेना है। सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि, इन चार युगों का चक्र मास-चक्र की भाँति चलता रहता है। वर्तमान कलियुग ४,३२,००० वर्ष तक चलेगा जिसमें से कुरुक्षेत्र युद्ध तथा राजा परीक्षित के राज्य के अन्त के बाद से लगभग ५,००० वर्ष बीत चुके हैं। अतः ४,२७,००० वर्ष अभी भी शेष हैं। इस काल के बाद कल्कि अवतार होगा जैसा कि श्रीमद्भागवत में भविष्यवाणी की गई है। उनके

पिता एक विद्वान् ब्राह्मण विष्णु यशा होंगे और उनका ग्राम सम्भल बताया गया है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, ये सारी भविष्यवाणियाँ कालक्रम में सिद्ध होंगी। *श्रीमद्भागवत* की यही प्रामाणिकता है।

अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।

यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अवताराः—अवतार; हि—निश्चय ही; असङ्ख्येयाः—असंख्य; हरेः—हरि के, भगवान् के; सत्त्व-निधेः—अच्छाई (सतो गुण) के सागर के; द्विजाः—ब्राह्मण; यथा—जिस तरह; अविदासिनः—अक्षय; कुल्याः—नाले; सरसः—विशाल झीलों के; स्युः—है; सहस्रशः—हजारों।

हे ब्राह्मणों, भगवान् के अवतार उसी तरह असंख्य हैं, जिस प्रकार अक्षय जल के स्रोत से निकलने वाले (असंख्य) झरने।

तात्पर्य : भगवान् के अवतारों की यहाँ पर दी गई सूची पूर्ण नहीं है। यह केवल समस्त अवतारों की आंशिक झलक है। अन्य अनेक अवतार हैं—यथा श्रीहयग्रीव, हरि, हंस, पृथिवी, विष्णु, सत्यसेन, वैकुण्ठ, सार्वभौम, विश्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर, बृहद्भानु तथा प्राचीन युग के अन्य अनेक अवतार। श्री प्रह्लाद महाराज ने अपनी स्तुति में कहा है, “हे प्रभु, आप अपने भक्तों के पालन तथा अभक्तों के संहार के लिए उतने ही अवतार धारण करते हैं, जितनी कि जलचर, वनस्पतियाँ, सरीसृप, पक्षी, जन्तु, मनुष्य, देवता आदि योनियाँ हैं। इस प्रकार आप विभिन्न युगों की आवश्यकतानुसार स्वयं अवतरित होते हैं। कलियुग में आप भक्त के वेश में अवतरित हुए हैं।” कलियुग में भगवान् का यह अवतार भगवान् चैतन्य महाप्रभु के रूप में है। *भागवत* तथा अन्य शास्त्रों में ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् के अवतार का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* में भी परोक्ष रूप में कहा गया है कि यद्यपि भगवान् के अनेक अवतार हुए हैं यथा राम, नृसिंह, वराह, मत्स्य, कूर्म आदि, लेकिन कभी-कभी भगवान् खुद अवतरित होते हैं। अतः भगवान् कृष्ण तथा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु अवतार नहीं हैं, अपितु वे अन्य समस्त अवतारों के मूल उद्गम हैं। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की

गई है। इस तरह भगवान् उन असंख्य अवतारों के अक्षय स्रोत हैं, जिनका उल्लेख सदा नहीं किया जाता। किन्तु ऐसे अवतार विशिष्ट अलौकिक कार्यकलापों के कारण विख्यात होते हैं जो किसी सामान्य जीव द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। भगवान् के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष शक्त्यावेशित अवतारों की यही सामान्य पहचान है। ऐसे कुछ अवतार, जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है, प्रायः पूर्णांश हैं। उदाहरणार्थ, कुमारगण दिव्य ज्ञान से विभूषित थे। नारद भक्ति से आविष्ट थे। महाराज पृथु प्रशासनिक कार्य की शक्ति से युक्त थे। मत्स्य अवतार प्रत्यक्ष पूर्णांश है। इस तरह समग्र ब्रह्माण्डों में भगवान् के असंख्य अवतार उसी तरह से निरन्तर होते रहते हैं, जिस प्रकार जल प्रपातों से निरन्तर जल बहता रहता है।

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।

कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषिगण; मनवः—समस्त मनु; देवाः—सारे देवता; मनु-पुत्राः—मनु की सारी सन्तानें; महा-ओजसः—अत्यन्त शक्तिमान; कलाः—पूर्णांश के अंश; सर्वे—सामूहिक रूप से; हरेः—भगवान् का; एव—निश्चय ही; स-प्रजापतयः—प्रजापतियों सहित; स्मृताः—जाने जाते हैं।

सारे ऋषि, मनु, देवता तथा विशेष रूप से शक्तिशाली मनु की सन्तानें भगवान् के अंश या उन अंशों की कलाएँ हैं। इसमें प्रजापतिगण भी सम्मिलित हैं।

तात्पर्य : जो अपेक्षतया कम शक्तिशाली होते हैं, वे विभूति कहलाते हैं और जो अधिक शक्तिशाली होते हैं, वे आवेश-अवतार कहलाते हैं।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एते—ये सब; च—तथा; अंश—पूर्णांश; कलाः—पूर्णांश के भी अंश; पुंसः—परम पुरुष के; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; तु—लेकिन; भगवान्—भगवान्; स्वयम्—साक्षात्; इन्द्र-अरि—इन्द्र के शत्रु से; व्याकुलम्—विचलित; लोकम्—सारे लोक को; मृडयन्ति—सुरक्षा प्रदान करते हैं; युगे युगे—विभिन्न युगों में।

उपर्युक्त सारे अवतार या तो भगवान् के पूर्ण अंश या पूर्णांश के अंश (कलाएं) हैं, लेकिन श्रीकृष्ण तो आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वे सब विभिन्न लोकों में नास्तिकों द्वारा उपद्रव किये जाने पर प्रकट होते हैं। भगवान् आस्तिकों की रक्षा करने के लिए अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को अन्य अवतारों से पृथक् किया गया है। उनकी गणना अवतारों में की जाती है, क्योंकि अहैतुकी कृपावश वे अपने दिव्य धाम से अवतरित होते हैं। 'अवतार' का अर्थ होता है, "नीचे उतरने वाला।" भगवान् के सारे अवतार, जिसमें स्वयं भगवान् सम्मिलित हैं, विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भौतिक जगत के विभिन्न लोकों में तथा विभिन्न योनियों में अवतरित होते हैं। कभी वे स्वयं आते हैं और कभी उनके अलग अलग पूर्णांश (अंश) या अंशांश (कला) या फिर उनके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आवेशित अंश इस भौतिक जगत में विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् मूल रूप से समस्त ऐश्वर्य, सामर्थ्य, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा वैराग्य से पूर्ण होते हैं। जब ये पूर्णांशों या अंशांशों द्वारा अंशतः प्रकट होते हैं, तो यह समझना चाहिए कि उन विशिष्ट कार्यों के लिए उनकी विभिन्न शक्तियों के प्राकट्य की आवश्यकता होती है। जब कमरे में बिजली के छोटे-छोटे लट्टू जलते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि बिजलीघर केवल इन्हीं लट्टुओं तक सीमित है। उसी बिजलीघर से भारी क्षमता वाले बड़े-बड़े औद्योगिक-डायनैमो चलाये जा सकते हैं। इसी प्रकार भगवान् के अवतार सीमित शक्ति का ही प्रदर्शन करते हैं, क्योंकि उस समय उतनी ही शक्ति की आवश्यकता होती है।

उदाहरणार्थ, भगवान् परशुराम ने विरोधी क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार करके, तथा भगवान् नृसिंह ने अत्यन्त शक्तिशाली नास्तिक हिरण्यकशिपु को मार करके, असामान्य ऐश्वर्य का प्रदर्शन किया। हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली था कि उसके मौंहें टेढ़ी करने से ही काँपने लगते थे। उच्च लोकों के देवता आयु, सौंदर्य, सम्पत्ति, साज-सामग्री तथा अन्य मामलों में, यहाँ के धनी से धनी मनुष्यों से बढ़-चढ़ कर होते हैं। तो भी वे सब हिरण्यकशिपु से भयभीत थे। इस प्रकार हम

कल्पना कर सकते हैं कि इस भौतिक जगत् में हिरण्यकशिपु कितना शक्तिशाली था। किन्तु भगवान् नृसिंह ने अपने नाखूनों से इस हिरण्यकशिपु के भी खण्ड-खण्ड कर दिये। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक दृष्टि से कोई चाहे कितना ही बलशाली क्यों न हो, वह भगवान् के नाखूनों की शक्ति का सामना नहीं कर सकता। इसी प्रकार जामदग्न्य ने समस्त अवज्ञाकारी राजाओं को उनके राज्यों में जाकर मारने की दैवी शक्ति दिखलाई। भगवान् के शक्त्यावेश अवतार नारद तथा पूर्णाक्ष अवतार वराह तथा अप्रत्यक्ष आवेश अवतार भगवान् बुद्ध ने जनसमूह में श्रद्धा उत्पन्न की। राम तथा धन्वन्तरि अवतारों ने उनकी ख्याति का तथा बलराम, मोहिनी एवं वामन ने उनके सौंदर्य का प्रदर्शन किया। दत्तात्रेय, मत्स्य, कुमार तथा कपिल ने उनके दिव्य ज्ञान का प्रदर्शन किया। नर तथा नारायण ऋषियों ने उनके त्याग का प्रदर्शन किया। इस प्रकार भगवान् के समस्त अवतारों ने, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न लक्षणों का प्रदर्शन किया, लेकिन आदि भगवान् कृष्ण ने भगवान् के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट किये। इस प्रकार इसकी पुष्टि होती है कि वे अन्य समस्त अवतारों के उद्गम हैं। और उनका सबसे असामान्य लक्षण तो वह था, जिसमें उन्होंने गोपियों के साथ अपनी लीलाओं के रूप में अपनी अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन किया। गोपियों के साथ उनकी लीलाएँ उनके दिव्य अस्तित्व, आनन्द तथा ज्ञान की स्थिति को प्रकट करने वाली हैं, यद्यपि ये ऊपर से प्रणय (काम) जैसी लगती हैं। गोपियों के साथ उनकी लीलाओं के प्रति विशेष आसक्ति का कभी गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए। *भागवत* के दशम स्कंध में इन लीलाओं का वर्णन है। गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं के दिव्य स्वरूप को समझ पाने के लिए किसी भी जिज्ञासु को यह *भागवत* अन्य नौ स्कंधों द्वारा धीरे-धीरे अग्रसर कराता है।

श्रील जीव गोस्वामी के कथनानुसार यह शास्त्रसम्मत है कि भगवान् कृष्ण अन्य समस्त अवतारों के उद्गम हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् कृष्ण के अवतार का कोई स्रोत है। परम सत्य के सारे लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में पूर्ण रूप से निहित हैं और *भगवद्गीता* में भगवान् स्पष्ट घोषित करते हैं कि उनके समान या उनसे बढ़कर कोई सत्य नहीं है। इस श्लोक में *स्वयम्* शब्द का प्रयोग इसकी पुष्टि करने के लिए किया गया है कि भगवान् कृष्ण स्वयं अपने सिवा

अन्य कोई स्रोत नहीं है। यद्यपि अन्य स्थानों में अवतारों को उनके कार्यों के कारण भगवान् कहा गया है, किन्तु उन्हें कहीं भी पूर्ण पुरुषोत्तम नहीं कहा गया। इस श्लोक में *स्वयम्* शब्द परम श्रेय के रूप में उनकी श्रेष्ठता का सूचक है।

अन्तिम आश्रय रूप कृष्ण एक एवं अद्वय हैं। उन्होंने अपना विस्तार विभिन्न अंशों, कलाओं तथा कणों के रूप में *स्वयं-रूप*, *स्वयं-प्रकाश*, *तद्-एकात्मा*, *प्राभव*, *वैभव*, *विलास*, *अवतार*, *आवेश* तथा *जीव* के नाम से कर रखा है; ये सभी अनगिनत शक्तियों से युक्त हैं जो तत्सम्बन्धी स्वरूपों एवं व्यक्तित्वों के लिए सर्वथा उपयुक्त होती हैं। अध्यात्म विषय के पंडितों ने अन्तिम आश्रय स्वरूप कृष्ण का अत्यन्त सावधानी से अध्ययन करके, उनके ६४ मुख्य गुण बताये हैं। भगवान् के सारे अंशों या श्रेणियों में इन गुणों का कुछ प्रतिशत ही पाया जाता है। लेकिन श्रीकृष्ण में ये गुण शत-प्रतिशत पाये जाते हैं। *स्वयं-प्रकाश* और *तद् एकात्मा* से लेकर अवतार की श्रेणियों तक के उनके निजी विस्तार, जो सब *विष्णुतत्त्व* हैं, उनमें ९३ प्रतिशत तक ये दिव्य गुण पाये जाते हैं। शिवजी में, जो न तो *अवतार* हैं, न *आवेश* और न ही इन दोनों के बीच आते हैं, उनमें लगभग ८४ प्रतिशत गुण पाये जाते हैं। किन्तु जीवन की विभिन्न अवस्थाओं वाले जीवों में ये गुण ७८ प्रतिशत तक पाये जाते हैं। इस भौतिक जगत की बद्ध अवस्था में जीव में ये गुण बहुत थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं और पवित्र जीवों में इनकी मात्रा भिन्न हो सकती है। जीवों में सर्वाधिक पूर्ण जीव ब्रह्मा हैं, जो एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। उनमें ७८ प्रतिशत तक ये गुण पूर्ण मात्रा में पाये जाते हैं। अन्य देवताओं में इन गुणों की मात्रा कम होती जाती है और मनुष्य में तो अत्यल्प मात्रा पाई जाती है। मनुष्य जीवन की पूर्णता का मानदण्ड यह है कि वह इन गुणों को ७८ प्रतिशत तक पूर्ण मात्रा में बढ़ाये। जीव में कभी भी शिव, विष्णु या भगवान् कृष्ण के समान गुण नहीं आ सकते। कोई भी जीव ७८ प्रतिशत गुणों को पूर्ण रूप से विकसित कर, दिव्यता प्राप्त कर सकता है पर वह कभी भी शिव, विष्णु या कृष्ण नहीं बन सकता। हाँ, कालक्रम में वह ब्रह्मा बन सकता है। वे दैवी जीव, जो आध्यात्मिक आकाश के ग्रहों के निवासी होते हैं, वे हरिधाम तथा महेशधाम जैसे विभिन्न आध्यात्मिक ग्रहों में भगवान् के सनातन साथी होते हैं। सब धामों के

ऊपर कृष्ण का धाम है, जो कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहलाता है। जो जीव अपने में ७८ प्रतिशत गुण पूर्ण मात्रा में विकसित कर लेता है, वह इस भौतिक शरीर को त्यागने के पश्चात् कृष्णलोक जाने का भागी बन जाता है।

जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः ।

सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; गुह्यम्—गुप्त; भगवतः—भगवान् का; यः—जो; एतत्—वे सब; प्रयतः—सावधानी से; नरः—मनुष्य; सायम्—शाम को; प्रातः—प्रातःकाल; गृणन्—पाठ करता, बाँचता है; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; दुःख-ग्रामात्—समस्त कष्टों से; विमुच्यते—छूट जाता है।

जो कोई भी भगवान् के गुह्य अवतारों का सावधानीपूर्वक प्रतिदिन सुबह तथा शाम को पाठ करता है, वह जीवन के समस्त दुखों से छूट जाता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् ने घोषणा की है कि जो कोई उनके दिव्य जन्म तथा कर्म के तत्त्वों को जानता है, वह इस अस्थायी भौतिक संसार से छूट कर भगवद्धाम को जाता है। अतएव इस भौतिक जगत में भगवान् के अवतार की गुह्यता को भलीभाँति जान लेने पर भौतिक बन्धन से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। अतः भगवान् का जन्म तथा उनके कर्म, जिन्हें वे जनसामान्य के कल्याण हेतु प्रकट करते हैं, सामान्य नहीं होते। वे गुह्य हैं और जो भक्ति-पूर्वक इस विषय की गम्भीरता को जानना चाहते हैं, उन्हें ही यह रहस्य प्रकट हो पाता है। इस तरह उन्हें भवबन्धन से विमुक्ति प्राप्त हो जाती है। अतः यह सलाह दी गई है कि जो कोई भगवत् के इस अध्याय का, जिसमें भगवान् के विभिन्न अवतारों का वर्णन है, भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक केवल पाठ करता है उसे भगवान् के जन्मों तथा कर्मों का अन्तर्दर्शन प्राप्त हो जाता है। विमुक्ति शब्द इस बात का सूचक है कि भगवान् का जन्म तथा उनके कर्म दिव्य हैं; अन्यथा मात्र उनका पाठ करने से किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव ये गुह्य हैं और जो भक्ति के निर्धारित विधि-विधानों का पालन नहीं करते, वे भगवान् के जन्म तथा कर्म के रहस्यों को जान पाने का अधिकार नहीं रखते।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; रूपम्—रूप; भगवतः—भगवान् के; हि—निश्चय ही; अरूपस्य—जिनका कोई भौतिक रूप नहीं है उनका; चित्-आत्मनः—ब्रह्म के; माया—भौतिक शक्ति, माया; गुणैः—गुणों से; विरचितम्—निर्मित; महत्-आदिभिः—पदार्थ के अवयवों से; आत्मनि—आत्मा में।

भगवान् के विराट रूप की धारणा, जिसमें वे इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, काल्पनिक है। यह तो अल्पज्ञों (तथा नवदीक्षितों) को भगवान् के रूप की धारणा में प्रवेश कराने के लिए है। लेकिन वस्तुतः भगवान् का कोई भौतिक रूप नहीं होता।

तात्पर्य : भगवान् के नाना अवतारों के साथ-साथ उनके विश्व-रूप या विराट-रूप की धारणा का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि ऊपर बताये गये भगवान् के सारे अवतार दिव्य हैं और उनके शरीरों में भौतिकता का रंचमात्र भी स्पर्श नहीं है। उनके शरीर तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता, जैसाकि बद्धजीव में होता है। विराट रूप की कल्पना तो केवल नवदीक्षित पूजकों के लिए है। उन्हीं के लिए भौतिक विराट-रूप प्रस्तुत किया जाता है, जिसकी व्याख्या द्वितीय स्कंध में की जायेगी। विराट-रूप में विभिन्न लोकों के भौतिक रूप को उनके पाँव, हाथ आदि के रूप में कल्पित किया गया है। वस्तुतः ऐसे सब वर्णन नवदीक्षितों के लिए होते हैं। वे पदार्थ से आगे कुछ भी नहीं सोच पाते। भगवान् के भौतिक बोध की गणना उनके वास्तविक रूपों की सूची में नहीं की जाती। परमात्मा रूप में भगवान् प्रत्येक भौतिक रूप के भीतर रहते हैं, यहाँ तक कि परमाणुओं के भी भीतर रहते हैं, लेकिन बाह्य भौतिक रूप तो भगवान् एवं जीव दोनों के लिए कल्पनामात्र है। बद्धजीवों के वर्तमान स्वरूप भी वास्तविक नहीं हैं। निष्कर्ष यह है कि भगवान् के विराट-रूप की धारणा काल्पनिक है। भगवान् तथा जीव दोनों ही जीवंत आत्मा हैं और उनका मूल शरीर आध्यात्मिक (चिन्मय) है।

यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले ।

एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; नभसि—आकाश में; मेघ-ओघः—बादलों का समूह; रेणुः—धूल; वा—तथा; पार्थिवः—मलिनता, धुंधलका; अनिले—वायु में; एवम्—इस प्रकार; द्रष्टरि—देखने वाले को; दृश्यत्वम्—देखने के लिए; आरोपितम्—आरोपित होता है; अबुद्धिभिः—अल्पज्ञों द्वारा।

बादल तथा धूल वायु द्वारा ले जाए जाते हैं, लेकिन अल्पज्ञ लोग कहते हैं कि आकाश मेघाच्छादित है और वायु धूलिमय (मलिन) है। इसी प्रकार वे लोग आत्मा के विषय में भी भौतिक शरीर की धारणाओं का आरोपण करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर आगे और पुष्टि की गई है कि हम उन भगवान् को अपने भौतिक नेत्रों तथा इन्द्रियों से नहीं देख सकते, जो पूर्ण रूप से आत्मा हैं। यहाँ तक कि हम जीवों के भौतिक शरीर में विद्यमान आध्यात्मिक स्फुलिंग तक की पहचान नहीं कर पाते। हम शरीर के बाह्य आवरण या जीव के सूक्ष्म मन की तलाश तो करते हैं, लेकिन हम शरीर के भीतर का आध्यात्मिक स्फुलिंग नहीं देख पाते। अतएव हमें जीव के स्थूल शरीर की उपस्थिति के कारण जीव की उपस्थिति स्वीकारनी पड़ती है। इसी प्रकार, जो लोग भगवान् का दर्शन अपने वर्तमान भौतिक नेत्रों से या भौतिक इन्द्रियों से करना चाहते हैं, उन्हें *विराट-रूप* का ध्यान करने की सलाह दी जाती है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति अपनी कार में बैठ कर कहीं जाता है, जिसे आसानी से देखा जा सकता है, तो उस कार की पहचान उसमें बैठे व्यक्ति से की जाती है। जब राष्ट्रपति अपनी विशिष्ट कार में बैठ कर कहीं जाता है, तो हम कहते हैं, “वह रहा राष्ट्रपति।” उस समय, हम कार की पहचान राष्ट्रपति के साथ करते हैं। इसी प्रकार उन अल्पज्ञ व्यक्तियों को जो बिना जरूरी योग्यता के ईश्वर का तुरन्त दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा दिखाया जाता है कि विशालकाय भौतिक ब्रह्माण्ड भगवान् का रूप है, यद्यपि भगवान् भीतर तथा बाहर सर्वत्र हैं। इस प्रसंग में आकाश के बादल तथा आकाश की नीलिमा का उदाहरण लिया जा सकता है। यद्यपि आकाश की नीलिमा तथा आकाश भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु हम आकाश के रंग को नीला समझते हैं। परंतु यह तो केवल अल्पज्ञ की सामान्य धारणा है।

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम् ।

अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अतः—यह; परम्—परे; यत्—जो; अव्यक्तम्—अप्रकट; अव्यूढ—बिना किसी प्रकार के रूप के; गुण-बृंहितम्—गुणों से प्रभावित; अदृष्ट—अदृश्य, अनदेखा; अश्रुत—अनसुना; वस्तुत्वात्—वैसा होने से; सः—वह; जीवः—जीव; यत्—जो; पुनः-भवः—बारम्बार जन्म ग्रहण करता है।

रूप की इस स्थूल अवधारणा से परे रूप की एक अन्य सूक्ष्म धारणा है, जिसका कोई आकार नहीं होता और जो अनदेखा, अनसुना तथा अव्यक्त होता है। जीव का रूप इस सूक्ष्मता से परे है, अन्यथा उसे बारम्बार जन्म न लेना पड़ता।

तात्पर्य : जिस प्रकार इस स्थूल दृश्य जगत का विचार भगवान् के विराट शरीर के रूप में किया जाता है, उसी प्रकार उनके सूक्ष्म शरीर की भी धारणा है जिसे न तो देखा जा सकता है, न सुना या प्रकट किया जा सकता है। लेकिन वस्तुतः शरीर की ये समस्त स्थूल या सूक्ष्म अवधारणाएँ जीवों से सम्बन्धित होती हैं। जीव का अपना आध्यात्मिक रूप होता है, जो इस स्थूल भौतिक या सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अस्तित्व से परे होता है। ज्योंही जीव इस दृश्य स्थूल शरीर को त्याग देता है, त्योंही स्थूल शरीर तथा मनोवैज्ञानिक क्रियाएं करना बंद कर देती है। वस्तुतः हम कहते हैं कि जीव चला गया, क्योंकि वह न तो दिखता है, न ही सुनाई देता है। यहाँ तक कि जब जीव प्रगाढ़ निद्रा में होता है, तब स्थूल शरीर कार्य नहीं करता होता, तो हम यह जानते हैं कि श्वास लेने के कारण वह शरीर के भीतर है। अतएव जीव के देह से चले जाने (मरने) का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि जीवात्मा का अस्तित्व ही नहीं है। वह यहीं होता है, अन्यथा पुनः पुनः जन्म क्यों होता ?

निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् अपने दिव्य रूप में नित्य विद्यमान रहते हैं, जो जीव के समान न तो स्थूल है, न सूक्ष्म हैं। उनके शरीर की तुलना कभी भी जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों से नहीं की जा सकती। ईश्वर के शरीर की ऐसी सारी भवधारणाएँ काल्पनिक हैं। जीव का अपना सनातन आध्यात्मिक रूप होता है, जो उसके भौतिक कल्मष के कारण ही बद्ध रहता है।

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।

अविद्ययात्मनि कृते इति तद्विद्वददर्शनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जब भी; इमे—इन सबमें; सत्-असत्—स्थूल तथा सूक्ष्म; रूपे—के रूपों में; प्रतिषिद्धे—दूर हो जाने पर; स्व-संविदा—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; अविद्यया—अज्ञान से; आत्मनि—आत्मा में; कृते—आरोपित; इति—इस प्रकार; तत्—वह है; ब्रह्म-दर्शनम्—परमेश्वर के दर्शन की विधि।

जब कभी मनुष्य आत्म-साक्षात्कार द्वारा यह अनुभव करता है कि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों का शुद्ध आत्मा से कोई सरोकार नहीं, उस समय वह अपना तथा साथ ही साथ भगवान् का दर्शन करता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार तथा मोह में यही अन्तर है कि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के रूप में भौतिक शक्ति का क्षणिक या भ्रामक आरोपण आत्मा के बाह्य आवरण हैं। ये आवरण अविद्या से जनित हैं। ऐसे आवरण भगवान् के व्यक्तित्व पर कभी प्रभावशाली नहीं होते। इसको भलीभाँति जान लेना ही मुक्ति या परमेश्वर का दर्शन है। इसका अर्थ यह होता है कि ईश-सदृश अर्थात् आध्यात्मिक जीवन अपनाने से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार सम्भव हो पाता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है, स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की आवश्यकताओं के प्रति अन्यमनस्क होना और आत्मा के कार्यों के प्रति गम्भीर बनना। कार्यों के लिए प्रेरणा आत्मा से उत्पन्न होती है, किन्तु आत्मा की वास्तविक स्थिति न जानने के कारण ऐसे कार्य भ्रामक बन जाते हैं। अविद्या के कारण अपने हित की गणना स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों को ध्यान में रखकर की जाती है, फलस्वरूप सारे कार्य जन्म-जन्मान्तर के कार्यों का सारा ढाँचा ही बिगड़ जाता है। किन्तु जब कोई मनुष्य समुचित अनुशीलन द्वारा आत्मा से भेंट करता है, तब आत्मा के कार्यों का शुभारम्भ होता है। फलस्वरूप, जो व्यक्ति आत्मा के कार्यों में व्यस्त रहता है, वह बद्ध जीवन में रहता हुआ भी 'जीवन्मुक्त' कहलाता है।

आत्म-साक्षात्कार की यह पूर्ण अवस्था किसी कृत्रिम साधन से नहीं, अपितु निरन्तर दिव्य स्थिति में रहने वाले भगवान् के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने से प्राप्त की जाती है। भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं और उन्हीं से सारा

ज्ञान, स्मृति या विस्मृति होती है। जब जीव भौतिक शक्ति (मोह) का भोक्ता बनना चाहता है, तो भगवान् उसे विस्मृति के रहस्य से ढक देते हैं और इस प्रकार जीव स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को ही अपना स्वः मानने का भ्रम पाल लेता है। और जब दिव्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा जीव विस्मृति के पाश से छूटने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, तो भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से जीव के मोहजनित आवरण को हटा देते हैं और वह स्व की अनुभूति करने लगता है। फिर वह बद्ध जीवन से छूटकर अपनी शाश्वत वैधानिक स्थिति में स्वयं को भगवान् की सेवा में लगा लेता है। यह सब भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा या साक्षात् अन्तरंगा शक्ति के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।

सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि, फिर भी; एषा—वे; उपरता—दमित; देवी माया—माया; वैशारदी—ज्ञान से पूर्ण; मतिः—प्रकाश; सम्पन्नः—सेवा परिपूर्ण; एव—निश्चय ही; इति—इस प्रकार; विदुः—जानते हुए; महिम्नि—महिमा में; स्वे—अपनी; महीयते—प्रतिष्ठित।

यदि माया का शमन हो जाता है और यदि भगवत्कृपा से जीव ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, तो उसे तुरन्त आत्म-साक्षात्कार का प्रकाश प्राप्त होता है और वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित (महिमामण्डित) हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् परम ब्रह्म हैं, अतएव उनके रूप, नाम, लीलाएँ, गुण, पार्षद तथा शक्तियाँ उनसे अभिन्न हैं। उनकी दिव्य शक्ति उनकी सर्वशक्तिमत्ता के अनुसार कार्य करती है। वही शक्ति उनकी अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों के रूप में कार्य करती है और वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण इन तीनों शक्तियों में से किसी के भी द्वारा कुछ भी कर सकते हैं। वे अपनी इच्छानुसार बहिरंगा शक्ति को अन्तरंगा शक्ति में बदल सकते हैं। इसीलिए भगवत्कृपा से वह बहिरंगा शक्ति जो इसके इच्छुक जीवों को मोहने के काम में प्रयुक्त की जाती है, भगवान् की इच्छा से बद्धजीव के पश्चात्ताप तथा तपस्या के अनुपात में शमित होती है। फिर यही शक्ति शुद्ध

हुए जीव को आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होने में सहायक बनती है। इस प्रसंग में विद्युतशक्ति का दृष्टान्त उपयुक्त होगा। निपुण विद्युत कर्मी एक ही विद्युतशक्ति को, केवल समंजन के द्वारा, गरम करने तथा ठंडा करने के लिए काम में ला सकता है। इसी प्रकार बहिरंगा शक्ति, जो जीव को मोहग्रस्त करके जन्म-मृत्यु के चक्र में बारम्बार डालती है, भगवत्कृपा से अन्तरंगा शक्ति में परिणत होकर जीव को शाश्वत जीवन प्रदान करती है। जब जीव पर भगवान् ऐसी कृपा करते हैं, तो वह अपनी उपयुक्त स्वाभाविक स्थिति प्राप्त करके शाश्वत आध्यात्मिक जीवन का आनन्द लेता है।

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।

वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; जन्मानि—जन्म; कर्माणि—कर्म; हि—निश्चय ही; अकर्तुः—अकर्ता के; अजनस्य—अजन्मा के; च—तथा; वर्णयन्ति—वर्णन करते हैं; स्म—भूत काल में; कवयः—विद्वान्; वेद-गुह्यानि—वेदों के द्वारा न जाने जा सकने योग्य, गोपनीय; हृत्-पतेः—हृदय के स्वामी के।

इस प्रकार विद्वान् पुरुष उस अजन्मा तथा अकर्ता के जन्मों तथा कर्मों का वर्णन करते हैं, जो वैदिक साहित्य के लिए भी ज्ञेय नहीं हैं। वे हृदयेश हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीव दोनों ही मूल रूप से आध्यात्मिक हैं। अतएव दोनों ही शाश्वत हैं और दोनों में से किसी का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। अन्तर इतना ही है कि भगवान् के तथाकथित जन्म तथा तिरोधान जीवों से भिन्न होते हैं। जन्म लेकर मरने वाले जीव प्रकृति के नियमों से बँधे हुए हैं, लेकिन भगवान् का तथाकथित प्राकट्य तथा तिरोधान, भौतिक प्रकृति का कर्म न होकर, भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। महान ऋषि, मुनि इनका वर्णन आत्म-साक्षात्कार के उद्देश्य से करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है कि भौतिक जगत में उनके तथाकथित जन्म तथा कर्म सब दिव्य हैं। इन कर्मों का ध्यान करने से ही मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है और भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्रुतियों का कथन है कि अजन्मा भी जन्म लेता प्रतीत होता है। परमेश्वर को कुछ करना नहीं होता, लेकिन चूँकि वे सर्वशक्तिमान

हैं, अतएव हर कार्य सहज ही उनके द्वारा सम्पन्न हो जाता है मानो स्वयमेव सम्पन्न हुआ हो। तथ्य तो यह है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान एवं उनके विविध कर्म—ये सभी वैदिक साहित्य के लिए भी परम गुह्य हैं। तो भी ये सब भगवान् द्वारा बद्धजीवों पर दया प्रदान करने के लिए प्रदर्शित किये जाते हैं। हमें भगवान् के कर्मों के आख्यानो (लीलाओं) से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि ये ब्रह्म का ध्यान करने के अत्यन्त सुगम तथा रुचिकर साधन हैं।

स वा इदं विश्वममोघलीलः

सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।

भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः

षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—परमेश्वर; वा—अथवा; इदम्—इस; विश्वम्—प्रकट ब्रह्माण्ड को; अमोघ-लीलः—जिनके कर्म निष्कलंक हैं वे; सृजति—उत्पन्न करते हैं; अवति अस्ति—पालन तथा संहार करते हैं; न—नहीं; सज्जते—से प्रभावित होते हैं; अस्मिन्—उनमें; भूतेषु—समस्त जीवों में; च—तथा; अन्तर्हितः—भीतर रहकर; आत्म-तन्त्रः—स्वतन्त्र; षाट्-वर्गिकम्—भगवान् के षड् ऐश्वर्यों से युक्त; जिघ्रति—सुगन्धि की तरह ऊपर-ऊपर आसक्त; षट्-गुण-ईशः—छहों इन्द्रियों के स्वामी।

जिनके कर्म सदैव निष्कलुष होते हैं वे भगवान् छह इन्द्रियों के स्वामी हैं और छहों ऐश्वर्यों के साथ सर्वशक्तिमान हैं। वे दृश्य ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं, उनका पालन करते हैं और रंचमात्र भी प्रभावित हुए बिना उनका संहार करते हैं। वे समस्त जीवों के भीतर विद्यमान रहते हैं और सदैव स्वतन्त्र होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा जीवों के बीच का मुख्य अन्तर यह है कि भगवान् सृष्टा हैं और जीव सृष्ट हैं। यहाँ पर उन्हें *अमोघ-लीलः* कहा गया है, जो इस बात का द्योतक है कि उनके सृजन में कुछ भी शोचनीय नहीं है। जो लोग उनकी सृष्टि में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं, वे स्वयं विचलित होते हैं। वे समस्त भौतिक सन्तापों से परे हैं, क्योंकि वे छहों ऐश्वर्यों अर्थात् धन, शक्ति, यश, सौंदर्य, ज्ञान तथा त्याग—से सम्पन्न हैं। इस प्रकार वे इन्द्रियों के स्वामी हैं। उनके द्वारा इन दृश्य जगत् की सृष्टि उन जीवों के उद्धार के लिए की जाती है, जो तीन प्रकार के क्लेशों से ग्रस्त हैं। वे उनका पालन करते हैं और समय आने पर, किसी प्रकार से प्रभावित हुए बिना, उनका संहार

कर देते हैं। वे इस भौतिक सृष्टि से बाह्य रूप से उसी तरह सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार किसी सुगन्धयुक्त पदार्थ से सम्बन्धित हुए बिना कोई सुगन्धि का सेवन करता है। अतएव ईशताहीन तत्त्व, समस्त प्रयासों के बावजूद, भगवान् के पास तक नहीं पहुँच पाते।

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातु-
रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः
सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; च—तथा; अस्य—भगवान् का; कश्चित्—कोई; निपुणेन—निपुणता से; धातुः—स्रष्टा का; अवैति—जान सकता है; जन्तुः—जीव; कुमनीषः—अज्ञानी; ऊतीः—भगवान् के कार्य; नामानि—उनके नाम; रूपाणि—उनके रूप; मनः—वचोभिः—मानसिक तर्क या वाणी के द्वारा; सन्तन्वतः—व्यक्त करते हुए; नट-चर्याम्—नाटकीय कर्म, करामात; इव—सदृश; अज्ञः—मूर्ख।

मूर्ख मनुष्य अपने अल्प ज्ञान के कारण भगवान् के रूपों, नामों तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को नहीं जान सकते, क्योंकि वे तो किसी नाटक में एक पात्र की तरह कार्य कर रहे होते हैं। न ही ऐसे मनुष्य अपने तर्क या अपनी वाणी द्वारा भी ऐसी बातों को व्यक्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के दिव्य स्वभाव का कोई भी ठीक से वर्णन नहीं कर सकता। इसीलिए कहा जाता है कि वे मन तथा वाणी की अभिव्यक्ति से परे हैं। फिर भी कुछ ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति हैं, जो अपने अपूर्ण तर्कवितर्क तथा परमेश्वर के कार्यों के दोषपूर्ण वर्णन द्वारा परम सत्य को जानना चाहते हैं। एक साधारणतम व्यक्ति के लिए भगवान् के कर्म, प्राकट्य तथा तिरोधान, भगवान् के नाम, रूप, साज-सामान, व्यक्तित्व तथा उनसे सम्बन्धित सारी वस्तुएँ रहस्यमय (गुह्य) होती हैं। भौतिकतावादियों की दो कोटियाँ हैं—एक सकाम कर्मियों की तथा दूसरी मीमांसकों की। सकाम कर्मियों को परम सत्य की तनिक भी जानकारी नहीं होती और मीमांसक सकाम कर्मों से निराश होकर परम सत्य की ओर मुख मोड़ते हैं तथा शुष्क चिन्तन द्वारा उन्हें जानने का प्रयास करते हैं। ऐसे समस्त लोगों के लिए परम सत्य उसी तरह रहस्यमय बने रहते हैं,

जिस प्रकार बच्चों को जादूगर के करतब। परम पुरुष की जादूगरी से छले जाकर अभक्तगण सदैव अज्ञान में पड़े रहते हैं, भले ही वे सकाम कर्म तथा तर्कवितर्क में कितने ही निपुण क्यों न हों। ऐसे सीमित ज्ञान के द्वारा वे अध्यात्म के गुह्य क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाते। तर्कवादी सकाम कर्मियों से थोड़े बेहतर होते हैं, लेकिन वे भी मोह के चंगुल में रहने से, यह मान लेते हैं कि जिस वस्तु में कोई रूप, नाम, तथा कर्म हो, वह भौतिक शक्ति से उत्पन्न है। ऐसे लोगों के लिए परमात्मा रूपहीन, नामहीन तथा कर्महीन हैं। और चूँकि ऐसे मीमांसक (ज्ञानी) भगवान् के दिव्य नाम तथा रूप की बराबरी संसारी नामों तथा रूपों से करते हैं, अतः वे सचमुच अज्ञानी हैं। इतने अल्पज्ञान से परम पुरुष की वास्तविक प्रकृति तक नहीं पहुँचा जा सकता। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् सदैव, यहाँ तक कि भौतिक जगत के भीतर रहते हुए भी दिव्य अवस्था में रहते हैं। लेकिन अज्ञानी व्यक्ति भगवान् को विश्व की एक महान विभूति मानते हैं और इस प्रकार वे माया द्वारा भ्रमित होते रहते हैं।

स वेद धातुः पदवीं परस्य
 दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।
 योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
 भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—वे ही; वेद—जान सकते हैं; धातुः—स्त्रष्टा की; पदवीम्—महिमा को; परस्य—अध्यात्म का; दुरन्त-वीर्यस्य—अत्यन्त शक्तिशाली का; रथ-अङ्ग-पाणेः—भगवान् कृष्ण का, जो हाथ में रथ का चक्र धारण करते हैं; यः—जो; अमायया—किसी हिचक के बिना; सन्ततया—निरन्तर; अनुवृत्त्या—अनुकूल होकर; भजेत—सेवा करता है; तत्-पाद—उनके चरणों की; सरोज-गन्धम्—कमल की महक।

जो बिना हिचक के अबाध रूप से अपने हाथों में रथ का चक्र धारण करने वाले भगवान् के चरणकमलों की अनुकूल सेवा करता है, वही इस जगत के स्त्रष्टा की पूर्ण महिमा, शक्ति तथा दिव्यता को समझ सकता है।

तात्पर्य : केवल शुद्ध भक्त ही सकाम कर्मों एवं मानसिक तर्क के फलों से मुक्त होने के कारण, भगवान् कृष्ण के दिव्य नाम, रूप तथा उनकी लीलाओं को समझ पाते हैं। इन शुद्ध भक्तों

को भगवान् की अनन्य भक्ति से कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं प्राप्त करना होता। वे बिना हिचक के भगवान् की अनन्य सेवा करते हैं। इस सृष्टि में प्रत्येक प्राणी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् की सेवा कर रहा है। भगवान् के इस नियम से कोई छूटा नहीं है। जो लोग भगवान् के भ्रामक प्रतिनिधि द्वारा बाध्य होकर भगवान् की अप्रत्यक्ष रूप से सेवा कर रहे हैं, वे भगवान् की प्रतिकूल ढंग से सेवा करते हैं। किन्तु जो उनके प्रिय प्रतिनिधि के निर्देशन में प्रत्यक्ष सेवा करते हैं, वे उनकी अनुकूल सेवा करते हैं। ऐसे अनुकूल सेवक भगवद्भक्त ही होते हैं और वे भगवत्कृपा से अध्यात्म के गुह्य क्षेत्र में प्रवेश कर पाते हैं। लेकिन मनोधर्मी सदा अंधकार में ही पड़े रहते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् स्वयं शुद्ध भक्तों को उनकी निरन्तर प्रेमाभक्ति के कारण साक्षात्कार के मार्ग की ओर ले जाते हैं। भगवान् के धाम में प्रवेश पाने का यही रहस्य है। वहाँ प्रवेश पाने के लिए सकाम कर्म तथा तर्कवितर्क की कोई योग्यताएँ नहीं हैं।

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं
यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं
न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; इह—इस संसार में; धन्याः—सफल; भगवन्तः—पूर्ण रूप से ज्ञात; इत्थम्—ऐसा; यत्—जो; वासुदेवे—भगवान् के प्रति; अखिल—सम्पूर्ण; लोक—नाथे—समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी के प्रति; कुर्वन्ति—प्रेरित करते हैं; सर्व—आत्मकम्—शत प्रतिशत; आत्म—आत्मा; भावम्—आह्लाद; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; भूयः—फिर; परिवर्तः—पुनरावृत्ति; उग्रः—भयानक।

इस संसार में केवल ऐसी जिज्ञासाओं द्वारा ही मनुष्य सफल तथा पूर्णतः ज्ञात हो सकता है, क्योंकि ऐसी जिज्ञासाओं से अखिल ब्रह्माण्डों के स्वामी भगवान् के प्रति दिव्य आह्लादकारी प्रेम उत्पन्न होता है और जन्म-मृत्यु की घोर पुनरावृत्ति से शत प्रतिशत प्रतिरक्षा की गारंटी प्राप्त होती है।

तात्पर्य : यहाँ पर सूत गोस्वामी द्वारा शौनक आदि मुनियों की जिज्ञासाओं की प्रशंसा उनकी दिव्य प्रकृति के आधार पर की गई है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, केवल भगवद्भक्त ही

उनको एक समुचित सीमा में जान पाते हैं, अन्य कोई नहीं जान पाता, अतएव भक्तगण समस्त आध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण रूप से ज्ञात होते हैं। परम सत्य का अन्तिम पड़ाव भगवान् ही हैं। निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा भगवान् के ज्ञान में सम्मिलित हैं। अतः जो भगवान् को जान सकता है, वह उनके विषय में, उनकी नाना शक्तियों तथा उनके अंशों के विषय में स्वतः ही सब कुछ जान लेता है। अतएव भक्तों को परम भाग्यशाली (सफल) कहा गया है। भगवान् का शतप्रतिशत भक्त जन्म-मरण के चक्र के भयानक भौतिक तापों के प्रति निश्चेष्ट रहता है।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।

उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।

निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इदम्—इस; भागवतम्—भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथा वाले ग्रन्थ को; नाम—नामक; पुराणम्—वेदों के अनुपूरक; ब्रह्म-सम्मितम्—भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार; उत्तम-श्लोक—भगवान् का; चरितम्—कार्यकलाप; चकार—संकलित किया; भगवान्—भगवान् के अवतार; ऋषिः—श्री व्यासदेव ने; निःश्रेयसाय—परम कल्याण के लिए; लोकस्य—सब लोगों के; धन्यम्—पूर्ण रूप से सफल, धन्य; स्वस्ति-अयनम्—सर्व आनन्दमय; महत्—परिपूर्ण।

यह श्रीमद्भागवत भगवान् का साहित्यावतार है, जिसे भगवान् के अवतार वेदव्यास ने संकलित किया है। यह सभी लोगों के परम कल्याण के निमित्त है और यह सभी तरह से सफल, आनन्दमय तथा परिपूर्ण है।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है कि श्रीमद्भागवत समस्त वैदिक ज्ञान तथा इतिहास की निर्मल वाणी है। इसमें भगवान् के संसर्ग में रहने वाले कतिपय महान भक्तों के चुने हुए चरित्र दिये गये हैं। श्रीमद्भागवत भगवान् कृष्ण का साहित्यावतार है, अतएव यह उनसे अभिन्न है। हमें श्रीमद्भागवत की पूजा उसी सम्मान से करनी चाहिए, जिस तरह हम भगवान् की करते हैं। हम इसके सचेष्ट एवं धीर अध्ययन के द्वारा भगवान् का परम आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार भगवान् पूर्ण प्रकाश, पूर्ण आनन्द तथा सर्वथा पूर्ण हैं, उसी तरह यह श्रीमद्भागवत भी है। हमें श्रीमद्भागवत का पाठ करने से परब्रह्म श्रीकृष्ण का सारा दिव्य प्रकाश प्राप्त हो सकता है, बशर्ते कि हम इसे पारदर्शी गुरु के माध्यम से ग्रहण करें। पुरी में

भगवान् चैतन्य के दर्शनार्थ जितने लोग आते थे उनसे महाप्रभु के निजी सचिव श्रील स्वरूप दामोदर गोस्वामी यही कहा करते थे कि किसी भक्त-भागवत से ही भागवत का अध्ययन करना चाहिए। भक्त-भागवत स्वरूपसिद्ध प्रामाणिक गुरु हैं और वांछित फल प्राप्त करने के लिए उन्हीं से भागवत की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भागवत के अध्ययन से वे सारे लाभ प्राप्त हो सकते हैं, जो भगवान् की साक्षात् उपस्थिति से होते हैं। यह भगवान् कृष्ण के उन समस्त आशीर्वादों को प्रदान करने वाला है, जो भगवान् के साक्षात् सम्पर्क से मिल सकते हैं।

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; इदम्—यह; ग्राहयाम् आस—स्वीकार कराया; सुतम्—उनके पुत्र को; आत्मवताम्—स्वरूपसिद्ध को; वरम्—अत्यन्त आदरणीय; सर्व—समस्त; वेद—वैदिक साहित्य (ज्ञान ग्रन्थ); इतिहासानाम्—समस्त इतिहासों का; सारम्—सार, निष्कर्ष; सारम्—सार; समुद्धृतम्—निकाला हुआ।

स्वरूपसिद्धों में अत्यन्त सम्माननीय श्री व्यासदेव ने समस्त वैदिक वाङ्मय तथा ब्रह्माण्ड के इतिहासों का सार निकाल कर इसे अपने पुत्र को प्रदान किया।

तात्पर्य : अल्पज्ञ लोग संसार के इतिहास को केवल बुद्ध के समय से अर्थात् ६०० ई.पू. से मानते हैं, और इस काल के पूर्व शास्त्रों में उल्लिखित सारे इतिहासों को वे मात्र काल्पनिक कथाएँ मानते हैं। यह तथ्य नहीं है। पुराणों में तथा महाभारत आदि में वर्णित सारी कथाएँ वास्तविक इतिहास हैं, जो न केवल इस लोक से अपितु इस ब्रह्माण्ड के लाखों अन्य लोकों से सम्बन्धित हैं। ऐसे लोगों को कभी-कभी इस जगत से परे अन्य लोकों का इतिहास अविश्वसनीय जान पड़ता है। लेकिन शायद वे यह जानते नहीं हैं कि विभिन्न ग्रह सभी प्रकार से एकसमान नहीं हैं, अतएव अन्य ग्रहों के कुछ ऐतिहासिक तथ्य इस ग्रह के तथ्यों से मेल नहीं खाते। विभिन्न लोकों की भिन्न-भिन्न स्थिति तथा काल एवं परिस्थितियों पर विचार करने पर पुराणों की कहानियों में न तो कोई विचित्रता दिखेगी, न ही वे काल्पनिक लगेंगी। हमें यह कहावत सदैव स्मरण में रखनी चाहिए कि एक व्यक्ति का भोजन किसी दूसरे का काल-कवल बन सकता है। अतएव हमें

चाहिए कि पुराणों की कहानियों तथा इतिहासों को काल्पनिक कह कर उनका तिरस्कार न करें।

व्यास जैसे महर्षियों को अपने साहित्य में काल्पनिक कथाएँ रखने से क्या मिलने वाला था ?

श्रीमद्भागवत में विभिन्न लोकों के इतिहासों से चुने हुए ऐतिहासिक तथ्यों का चित्रण किया गया है। इसीलिए समस्त अध्यात्मवादी इसे महापुराण के रूप में स्वीकार करते हैं। इन इतिहासों की विशिष्टता यह है कि ये सब विभिन्न कालों तथा परिवेशों में भगवान् की लीलाओं से सम्बद्ध हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों में सर्वोपरि हैं और उन्होंने अपने पिता व्यासदेव से इस विषय को ग्रहण किया। श्रील व्यासदेव परम विद्वान् हैं। उन्होंने *श्रीमद्भागवत* की विषय वस्तु को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझ कर सर्वप्रथम अपने महान पुत्र श्रील शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया। इसकी तुलना दूध की मलाई से की गई है। वैदिक वाङ्मय मानो ज्ञान का क्षीर सागर हो। जिस प्रकार नवनीत दुग्ध का सर्वाधिक स्वादिष्ट तत्त्व होता है, उसी तरह यह *श्रीमद्भागवत* भी है, क्योंकि इसमें भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यकलापों के अत्यन्त सुस्वादु, उपदेशात्मक तथा प्रामाणिक विवरण मिलते हैं। किन्तु यदि नास्तिकों तथा व्यवसायी वाचकों से *भागवत* सुनी जाय, जो जनसामान्य के लिए *भागवत* का व्यापार करते हैं, तो उससे कोई लाभ नहीं होता। श्रील शुकदेव गोस्वामी को *भागवत* इसीलिए प्रदान की गयी थी, क्योंकि उन्हें *भागवत* का व्यवसाय नहीं करना था। उन्हें इस व्यापार से परिवार का भरण-पोषण नहीं करना था। इसलिए *श्रीमद्भागवत* को शुकदेव के ऐसे प्रतिनिधि से ग्रहण करना चाहिए, जो संन्यास आश्रम में हो और जिस पर परिवार का बोझ न हो। दूध सचमुच उत्तम एवं पोषक होता है, किन्तु जब कोई सर्प मुँह से इसका स्पर्श कर देता है तो यह पोषक नहीं रह जाता, उल्टे यह मृत्यु का कारण बन जाता है। इसी तरह, जो लोग दृढता से वैष्णव परम्परा में नहीं लगे हैं, उन्हें न तो *भागवत* का व्यापार करना चाहिए और न अनेकानेक श्रोताओं की आध्यात्मिक मृत्यु का कारण बनना चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि समस्त वेदों का उद्देश्य उन्हें (कृष्ण को) जानना है और *श्रीमद्भागवत* तो संचित ज्ञान-रूप साक्षात् श्रीकृष्ण है। अतः यह समस्त वेदों का नवनीत (सार)

है और इसमें श्रीकृष्ण से सम्बन्धित समस्त कालों के ऐतिहासिक तथ्य भरे हैं। वस्तुतः यह समस्त इतिहासों का सार है।

स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ।
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—व्यासदेव के पुत्र ने; तु—पुनः; संश्रावयाम् आस—सुनाया; महा-राजम्—राजा; परीक्षितम्—परीक्षित को; प्राय-उपविष्टम्—अन्न-जल रहित मृत्यु के लिए बैठे; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; परीतम्—घिरे हुए; परम-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा।

व्यासदेव के पुत्र शुकदेव गोस्वामी ने, अपनी पारी में महाराज परीक्षित को भागवत सुनाई जो तब निर्जल तथा निराहार रहकर मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए गंगा नदी के तट पर ऋषियों से घिरे बैठे हुए थे।

तात्पर्य : सारे दिव्य सन्देश शिष्य परंपरा की शृंखला से उचित ढंग से प्राप्त किये जाते हैं। यह शिष्य-शृंखला परम्परा कहलाती है। जब तक भागवत को या अन्य किसी वैदिक ग्रंथ को परम्परा-पद्धति से ग्रहण नहीं किया जाता है, तब तक उसे प्रामाणिक नहीं माना जाता। व्यासदेव ने यह सन्देश शुकदेव गोस्वामी को प्रदान किया और शुकदेव गोस्वामी से इसे सूत गोस्वामी ने प्राप्त किया। अतः भागवत का सन्देश सूत गोस्वामी या उनके प्रतिनिधि से ही प्राप्त करना चाहिए, किसी अप्रासंगिक व्याख्याकार से नहीं।

महाराज परीक्षित को अपनी मृत्यु की सूचना समय से प्राप्त हो गई थी, अतः उन्होंने अपना राज्य तथा परिवार छोड़ दिया और आमरण उपवास करते हुए वे गंगा के किनारे जा बैठे। उनकी राजसी स्थिति के कारण सारे ऋषि, मुनि, चिन्तक, योगी आदि वहाँ पहुँच गये। उन सबों ने उन्हें उनके तात्कालिक कर्तव्य के बारे में कई सुझाव दिये और अन्त में यह तय हुआ कि वे शुकदेव गोस्वामी से भगवान् कृष्ण के विषय में सुनें। इस प्रकार उन्हें भागवत की कथा सुनायी गयी।

मायावादी दर्शन के उपदेशक तथा परब्रह्म के निर्गुण रूप के समर्थक श्रीपाद शंकराचार्य ने भी संस्तुति की है कि मनुष्य को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए;

क्योंकि वाद-विवाद करने से किसी लाभ की आशा नहीं है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में यह स्वीकार किया कि वेदान्त-सूत्र की उन्होंने जो अलंकारमयी वैयाकरणिक व्याख्या की है, उससे मृत्यु के समय कोई सहायता नहीं मिल सकती। आसन्न मृत्यु के निर्णायक समय पर मनुष्य को गोविन्द नाम का जप करना चाहिए। यही सभी बड़े-बड़े अध्यात्मवादियों का कहना है। बहुत काल पूर्व शुकदेव गोस्वामी ने इस सत्य का कथन किया कि अन्त समय में मनुष्य को नारायण का स्मरण करना चाहिए। यही समस्त आध्यात्मिक कार्यों का सार है। इसी शाश्वत सत्य के पालन हेतु महाराज परीक्षित ने श्रीमद्भागवत सुना और सुयोग्य शुकदेव गोस्वामी ने उन्हें इसे सुनाया। भागवत सन्देश के वक्ता तथा श्रोता दोनों ही एक ही माध्यम से मुक्ति पा गए।

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।

कलौ नष्टदशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—कृष्ण के; स्व-धाम—अपने धाम; उपगते—वापस जाने पर; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; आदिभिः—इत्यादि; सह—साथ; कलौ—कलियुग में; नष्ट-दशाम्—जिन लोगों के दृष्टि नष्ट हो चुकी है उनके; एषः—ये सब; पुराण-अर्कः—सूर्य के समान प्रकाशमान पुराण; अधुना—इस समय; उदितः—उदय हुआ है।

यह भागवत पुराण सूर्य के समान तेजस्वी है और धर्म, ज्ञान आदि के साथ कृष्ण द्वारा अपने धाम चले जाने के बाद ही इसका उदय हुआ। जिन लोगों ने कलियुग में अज्ञान के गहन अन्धकार के कारण अपनी दृष्टि खो दी है, उन्हें इस पुराण से प्रकाश प्राप्त होगा।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण का अपना शाश्वत धाम है, जहाँ वे, अपने पार्षदों तथा साज-सामग्री के साथ नित्य भोग करते रहते हैं। उनका नित्य धाम उनकी अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है, जबकि भौतिक संसार उनकी बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। जब वे भौतिक जगत में आते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति में सम्पूर्ण साज-सामग्री का प्रदर्शन करते हैं, जिसे आत्म-माया कहते हैं। भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे अपनी शक्ति (आत्म-माया) द्वारा नीचे उतरते हैं। अतः उनका रूप, नाम, यश, साज-सामग्री, धाम आदि भौतिक सृजन नहीं हैं। वे पतित जीवों के उद्धार हेतु तथा धर्म के सिद्धान्तों की स्थापना के लिए अवतरित होते हैं जिनका वे स्वयं प्रदर्शन करते हैं। ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी धर्म के सिद्धान्तों की स्थापना नहीं कर सकता। या

तो वे, या उनके द्वारा शक्ति-संचारित किया गया सुयोग्य व्यक्ति ही धर्म की संहिता का नियमन कर सकता है। वास्तविक धर्म का अर्थ है ईश्वर को जानना, ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को तथा उनके प्रति अपने कर्तव्य को जानना और जब यह भौतिक शरीर छूटे, तो अपने अन्तिम गन्तव्य को जान लेना। माया के पाश में बँधे बद्धजीव बड़ी मुश्किल से जीवन के इन सिद्धान्तों को जान पाते हैं। उनमें से अधिकांश पशुओं की तरह खाने, सोने, अपनी रक्षा तथा मैथुन में लगे रहते हैं। वे अधिकांशतया धार्मिकता, ज्ञान या मोक्ष के नाम पर इन्द्रिय-भोग में लगे रहते हैं। इस कलह-प्रधान कलियुग में तो वे और भी अंधे बन चुके हैं। कलियुग में सारी जनता पशुओं का राजसी संस्करण बनी हुई है। उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान या दैवी धार्मिक जीवन से कोई सरोकार नहीं। वे इतने अंधे हैं कि उन्हें सूक्ष्म मन, बुद्धि या अहंकार के आगे कुछ भी नहीं दिखता, लेकिन वे ज्ञान, विज्ञान तथा भौतिक सम्पन्नता में प्रगति के प्रति अत्यन्त गर्व का अनुभव करते हैं। वे इस शरीर को त्यागने के बाद कूकर या शूकर बनने के लिए भी तैयार हैं, क्योंकि उन्होंने जीवन के चरम लक्ष्य को दृष्टि से ओझल कर रखा है। भगवान् श्रीकृष्ण कलियुग का प्रारम्भ होने से कुछ काल पूर्व हमारे समक्ष प्रकट हुए थे और कलियुग के प्रारम्भ होते ही वे अपने दिव्य धाम को वापस चले गये। जब तक वे उपस्थित थे, उन्होंने अपने कार्यकलापों से सब कुछ कर दिखलाया। उन्होंने विशेष रूप से *भगवद्गीता* का प्रवचन किया और धर्म के सारे बनावटी नियमों का निर्मूलन किया। इस भौतिक जगत से अपने प्रयाण के पूर्व उन्होंने नारद के माध्यम से श्री व्यासदेव को *श्रीमद्भागवत* का संदेश संकलित करने का अधिकार प्रदान किया। इस प्रकार *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*, ये दोनों ग्रन्थ इस युग के अंधे लोगों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हैं। दूसरे शब्दों में, यदि इस कलियुग के लोग जीवन के वास्तविक आलोक को देखना चाहते हैं, तो उन्हें इन दोनों ग्रंथों की शरण लेनी चाहिए। इससे उनका जीवन-लक्ष्य पूरा हो सकेगा। *भगवद्गीता* *भागवत* का प्रारम्भिक अध्ययन है। *श्रीमद्भागवत* तो जीवन का आश्रय तत्त्व, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण है। अतएव हमें चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* को भगवान् श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व

करता हुआ मानें। जो श्रीमद्भागवत को देख सकता है, वह साक्षात् श्रीकृष्ण को देख सकता है।
वे अभिन्न हैं।

तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेभूरितेजसः ।
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।
सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; कीर्तयतः—कीर्तन करते हुए; विप्राः—हे ब्राह्मणों; विप्र-ऋषेः—ब्रह्मर्षि से; भूरि—अत्यधिक; तेजसः—शक्तिशाली; अहम्—मैं; च—भी; अध्यगमम्—समझ सकता हूँ; तत्र—उस सभा में; निविष्टः—पूर्ण रूप से एकाग्रचित होकर; तत्-अनुग्रहात्—उसकी कृपा से; सः—वही वस्तु; अहम्—मैं; वः—तुमको; श्रावयिष्यामि—सुनाऊँगा; यथा-अधीतम् यथा-मति—अपने अनुभव के आधार पर।

हे विद्वान् ब्राह्मणों, जब शुकदेव गोस्वामी ने वहाँ पर (महाराज परीक्षित की उपस्थिति में) भागवत सुनाया, तो मैंने अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुना और इस तरह उनकी कृपा से मैंने उन महान शक्ति-सम्पन्न ऋषि से भागवत सीखा। अब मैं तुम लोगों को वही सब सुनाने का प्रयत्न करूँगा, जो मैंने उनसे सीखा तथा जैसा मैंने आत्मसात् किया।

तात्पर्य : यदि किसी ने शुकदेव गोस्वामी जैसे स्वरूपसिद्ध महात्मा से भागवत सुना है, तो उसे भागवत के पृष्ठों में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं। लेकिन यदि कोई चाहे कि वह किसी ऐसे व्यर्थ के, किराये के कथावाचक से भागवत सीख सकेगा, जिसके जीवन का उद्देश्य ऐसे कथावाचन से कुछ धन कमाकर उसे विषय-भोग में लगाना है, तो वैसा सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति कामभोग में लगे हुए मनुष्यों का संग करता है, वह श्रीमद्भागवत सीख नहीं सकता है। भागवत के समझने का यही रहस्य है। न ही ऐसे व्यक्ति से भागवत समझा जा सकता है, जो अपने संसारी पाण्डित्य से भागवत की व्याख्या करता हो। यदि कोई भागवत के पृष्ठों में श्रीकृष्ण का दर्शन करना चाहता है, तो उसे शुकदेव गोस्वामी के किसी प्रतिनिधि से ही भागवत समझना होगा, अन्य किसी से नहीं। यही एकमात्र विधि है तथा इसका कोई और विकल्प नहीं है। सूत गोस्वामी शुकदेव गोस्वामी के प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं, क्योंकि वे उस सन्देश को प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसे उन्होंने विद्वान् ब्राह्मण से प्राप्त किया था। शुकदेव गोस्वामी ने भागवत को

उसी रूप में प्रस्तुत किया, जिस रूप में उन्होंने अपने महान पिता से सुना था। उसी तरह सूत गोस्वामी भी *भागवत* को उसी रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, जिस रूप में उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से सुना था। केवल सुनना ही काफी नहीं, मनुष्य को चाहिए कि ध्यानपूर्वक मूल तत्त्व को आत्मसात् करे। *निविष्ट* शब्द बताता है कि सूत गोस्वामी ने *भागवत* के रस को अपने कानों से पिया। *भागवत* को ग्रहण करने की वास्तविक विधि यही है। मनुष्य को चाहिए कि वास्तविक व्यक्ति से अत्यन्त सावधानी से सुने; तभी उसे हर पृष्ठ में भगवान् कृष्ण की उपस्थिति की अनुभूति हो सकती है। यहाँ पर *भागवत* को ग्रहण करने के रहस्य का उल्लेख किया गया है। जिसका मन शुद्ध नहीं है, वह सावधानी से नहीं सुन सकता। जो कर्म में शुद्ध नहीं है, उसका मन शुद्ध नहीं हो सकता। जो आहार, शयन, रक्षा तथा मैथुन में शुद्ध नहीं है, वह कर्म में भी शुद्ध नहीं होगा। लेकिन, यदि कोई सही व्यक्ति से ध्यानपूर्वक सुनता है, तो *भागवत* के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही उसे भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन अवश्य ही हो सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “समस्त अवतारों के स्रोत : कृष्ण” नामक तृतीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

श्री नारद का प्राकट्य

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ।

वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—व्यासदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; संस्तूय—बधाई देकर; मुनीनाम्—बड़े-बड़े साधुओं में; दीर्घ—दीर्घकालीन; सत्रिणाम्—यज्ञ सम्पन्न करने में लगे रहने वाले; वृद्धः—वयोवृद्ध; कुल-पतिः—सभा के अध्यक्ष; सूतम्—सूत गोस्वामी को; बहु-ऋचः—विद्वान्; शौनकः—शौनक ने; अब्रवीत्—सम्बोधित किया।

सूत गोस्वामी को इस प्रकार बोलते देखकर, दीर्घकालीन यज्ञोत्सव में लगे हुए समस्त ऋषियों में विद्वान तथा वयोवृद्ध अग्रणी शौनक मुनि ने सूत गोस्वामी को निम्न प्रकार सम्बोधित करते हुए बधाई दी।

तात्पर्य : विद्वानों की सभा में, जब भी वक्ता को बधाइयाँ दी जाती है या उनको सम्बोधित किया जाता है, तो बधाई देने वाले में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए। उसे सभा का अग्रणी (सभापति) तथा ज्येष्ठ व्यक्ति होना चाहिए। उसे विशद विद्वान भी होना चाहिए। श्री शौनक ऋषि में ये सारी योग्यताएँ थीं, अतः जब श्री सूत गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* को उसी रूप में सुनाने की इच्छा व्यक्त की, जिस रूप में उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से सुना था तथा स्वयं भी उसे आत्मसात् किया था, तो श्री शौनक जी उन्हें बधाई देने के लिए खड़े हुए। आत्म-अनुभूति का यह अर्थ नहीं होता है कि गर्व के कारण, पूर्ववर्ती आचार्य का उल्लंघन करके, कोई अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करे। उसे पूर्ववर्ती आचार्य पर पूरा विश्वास होना चाहिए और साथ ही साथ उसे विषय का ऐसा उत्तम ज्ञान होना चाहिए कि वह किसी विशिष्ट अवसर पर, उस विषय को उपयुक्त ढंग से प्रस्तुत कर सके। *विषय के मूल उद्देश्य का पालन होना चाहिए।* खींचतान कर उसका कोई दुर्बोध अर्थ नहीं निकालना चाहिए, अपितु श्रोताओं को समझाने के लिए उसे रोचक ढंग से प्रस्तुत करना

चाहिए। इसे आत्मसात करना कहा जाता है। सभा के अगुआ शौनक ने वक्ता श्री सूत गोस्वामी के महत्त्व का *यथाधीतम्* तथा *यथामति* कहकर अनुमान लगा लिया था, अतएव परम प्रसन्न होकर वे उन्हें बधाई दे रहे थे। ऐसे व्यक्ति से कभी नहीं सुनना चाहिए जो मूल आचार्य का प्रतिनिधित्व न करता हो। अतएव इस सभा में वक्ता तथा श्रोता दोनों ही प्रामाणिक थे, जिसमें *श्रीमद्भागवत* को दूसरी बार सुनाया जा रहा था। *भागवत* के ऐसे मानक वाचन से वास्तविक उद्देश्य को बिना किसी कठिनाई के स्थिर रखा जा सकता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न किये बिना, बाह्य प्रयोजनों के लिए, *भागवत* का वाचन वक्ता तथा श्रोता दोनों के लिए व्यर्थ का श्रम है।

शौनक उवाच

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर ।

कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने कहा; सूत सूत—हे सूत गोस्वामी; महा-भाग—परम भाग्यशाली; वद—कृपया कहें; नः—हमसे; वदताम्—बोलने वालों में से; वर—आदरणीय; कथाम्—कथा के सन्देश को; भागवतीम्—भागवत की; पुण्याम्—पवित्र; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—परम शक्तिमान; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।

शौनक ने कहा : हे सूत गोस्वामी, जो बोल सकते हैं तथा सुना सकते हैं, उन सबों में आप सर्वाधिक भाग्यशाली तथा सम्माननीय हैं। कृपा करके श्रीमद्भागवत की पुण्य कथा कहें, जिसे महान् तथा शक्तिसम्पन्न ऋषि शुकदेव गोस्वामी ने सुनाई थी।

तात्पर्य : शौनक गोस्वामी प्रसन्नता के कारण सूत गोस्वामी को दो बार 'सूत सूत' कह कर सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे स्वयं तथा सभा के सारे लोग शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहे गये *श्रीमद्भागवत* के पाठ को सुनने के लिए उत्सुक थे। वे किसी ऐसे नकली व्यक्ति से नहीं सुनना चाहते थे, जो निजी स्वार्थ के लिए अपने ही ढंग से व्याख्या करे। सामान्य रूप से *भागवत* के तथाकथित कथावाचक या तो पेशेवर वाचक होते हैं या तथाकथित विद्वान् निर्विशेषवादी होते हैं, जो परम पुरुष की सविशेष दिव्य लीलाओं में प्रवेश नहीं पा सकते। ऐसे निर्विशेषवादी, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, निर्विशेषवादी मत का समर्थन करने वाला कोई न कोई अर्थ निकालते हैं

एवं पेशेवर वाचक तो सीधे दशम स्कंध में पहुँच कर भगवान् की लीलाओं के गुह्यतम अंश की गलत व्याख्या करने लगते हैं। इन दोनों में से कोई भी वाचक *भागवत* सुनाने का अधिकारी नहीं होता। केवल ऐसा व्यक्ति जो शुकदेव गोस्वामी की तरह *भागवत* प्रस्तुत करने को तैयार हो तथा केवल वे लोग जो शुकदेव गोस्वामी तथा उनके प्रतिनिधि से सुनने को तैयार हों, *श्रीमद्भागवत* की दिव्य चर्चा के प्रामाणिक भागीदार हैं।

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना ।

कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कस्मिन्—किस; युगे—युग में; प्रवृत्ता—प्रारम्भ हुआ; इयम्—इस; स्थाने—स्थान पर; वा—अथवा; केन—किस; हेतुना—कारण से; कुतः—कहाँ से; सञ्चोदितः—प्रेरणा पाई; कृष्णः—द्वैपायन व्यास ने; कृतवान्—संकलित किया; संहिताम्—वैदिक साहित्य को; मुनिः—विद्वान्।

यह (कथा) सर्वप्रथम किस युग में तथा किस स्थान में प्रारम्भ हुई और किस कारण इसे प्रारम्भ किया गया? महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने इस साहित्य (ग्रंथ) को संकलित करने की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की?

तात्पर्य : चूँकि *श्रीमद्भागवत* श्रील व्यासदेव की विशिष्ट कृति है, अतएव विद्वान् शौनक मुनि अनेक प्रकार के प्रश्न कर रहे हैं। उन्हें ज्ञात था कि श्रील व्यासदेव अल्पज्ञ स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज परिवारों के पतित जनों को समझाने के लिए वेदों से लेकर *महाभारत* तक की पहले ही व्याख्या कर चुके हैं। *श्रीमद्भागवत* उन सबों से दिव्य है, क्योंकि इसमें कुछ भी संसारी नहीं है। अतएव पूछे गये प्रश्न अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण एवं प्रासंगिक हैं।

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः ।

एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; पुत्रः—पुत्र; महा-योगी—परम भक्त; सम-दृक्—समदर्शी; निर्विकल्पकः—नितान्त ब्रह्मवादी; एकान्त-मतिः—मन की निष्ठा, ब्रह्मवाद में स्थिर; उन्निद्रः—अज्ञान से परे; गूढः—प्रच्छन्न; मूढः—जड़; इव—सदृश; इयेते—प्रतीत होता है।

उनका (व्यासदेव का) पुत्र परम भक्त, समदर्शी ब्रह्मवादी था जिसका मन सदैव ब्रह्मवाद में केन्द्रित रहता था। वह संसारी कर्मों से परे था, लेकिन प्रकट न होने के कारण अज्ञानी-जैसा लगता था।

तात्पर्य : श्रील शुकदेव गोस्वामी मुक्त जीव थे, अतएव वे सदैव जागरूक बने रहे कि वे माया पाश में न फँस जाँय। *भगवद्गीता* में इस जागरूकता की रोचक व्याख्या की गई है। मुक्त जीव तथा बद्धजीव के पृथक्-पृथक् कार्य हैं। मुक्त जीव निरन्तर आध्यात्मिक उपलब्धि के पथ पर अग्रसर होता रहता है, जो बद्धजीव के लिए एक स्वप्न-जैसा है। बद्धजीव मुक्त जीव के वास्तविक कार्यों की कल्पना तक नहीं कर सकता। जबकि बद्धजीव इन आध्यात्मिक कार्यों का स्वप्न देखता है, किन्तु मुक्त जीव जागृत रहता है। इसी प्रकार बद्धजीव के कार्य मुक्त जीव को स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। भले ही ऊपरी तौर पर बद्धजीव तथा मुक्त जीव एक ही घरातल पर लगे, लेकिन वास्तव में वे भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे होते हैं और उनका ध्यान सदैव या तो इन्द्रिय-भोग पर या फिर आत्म-साक्षात्कार की ओर लगा रहता है। बद्धजीव पदार्थ में मग्न रहता है, जबकि मुक्त जीव पदार्थ से पूर्ण रूप से निरपेक्ष रहता है। इस निरपेक्षता की व्याख्या आगे की गई है।

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो हिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अनुयान्तम्—पीछा करते हुए; ऋषिम्—ऋषि; आत्मजम्—अपने पुत्र को; अपि—यद्यपि; अनग्नम्—नग्न नहीं; देव्यः—सुन्दरियों ने; हिया—लज्जा से; परिदधुः—शरीर ढक लिया; न—नहीं; सुतस्य—पुत्र का; चित्रम्—आश्चर्यजनक; तत् वीक्ष्य—यह देखकर; पृच्छति—पूछता है; मुनौ—मुनि (व्यास) को; जगदुः—उत्तर दिया; तव—तुम्हारा; अस्ति—है; स्त्री-पुम्—नर तथा नारी; भिदा—अन्तर; न—नहीं; तु—लेकिन; सुतस्य—पुत्र का; विविक्त—शुद्ध, पवित्र; दृष्टेः—देखने वाले का।

जब श्रील व्यासदेव अपने पुत्र के पीछे-पीछे जा रहे थे, तो नग्न स्नान करती सुन्दर तरुणियों ने वस्त्रों से अपने शरीर ढक लिए, यद्यपि व्यासदेव स्वयं नग्न न थे। लेकिन जब उनका पुत्र वहीं से गुजरा था, तब उन्होंने वैसा नहीं किया था। मुनि ने इसके बारे में पूछा तो

तरुणियों ने उत्तर दिया कि उनका पुत्र पवित्र है और जब वह उनकी ओर देख रहा था, तो उसने स्त्री तथा पुरुष में कोई भेद नहीं माना। लेकिन मुनि तो भेद मान रहे थे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.१८) में कहा गया है कि विद्वान साधु, अपनी आध्यात्मिक दृष्टि के कारण, किसी विद्वान भद्र ब्राह्मण, चण्डाल, कुत्ता या गाय पर समान दृष्टि रखने वाला होता है। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली थी। अतएव उन्होंने स्त्री या पुरुष में भेद नहीं देखा, उन्होंने तो समस्त जीवों को एक भिन्न वेश में देखा। स्नान करती स्त्रियाँ, पुरुष के मन को उसकी चेष्टाओं से जान गई, जिस प्रकार शिशु को देखकर कोई भी यह जान लेता है कि वह कितना निर्दोष है। शुकदेव गोस्वामी सोलह वर्ष के तरुण थे, अतएव उनके शरीर के सभी अंगों का विकास हो चुका था। वे नग्न भी थे और उन्हीं की तरह स्त्रियाँ भी थीं। लेकिन चूँकि शुकदेव गोस्वामी काम-व्यापार से परे थे, अतएव वे निर्दोष प्रतीत हो रहे थे। स्त्रियाँ अपने विशिष्ट गुणों से इसे तुरन्त जान गई, अतएव उन्होंने शुकदेव जी के आने की खास परवाह नहीं की। लेकिन जब उनके पिता उधर से गुजरे, तो स्त्रियों ने तुरन्त वस्त्र ओढ़ लिए। ये स्त्रियाँ उनकी पुत्रियों या पौत्रियों जैसी ही थीं; फिर भी व्यासदेव के आने पर उनमें सामाजिक रिवाज के अनुसार प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि व्यासदेव गृहस्थ की भूमिका निभा रहे थे। गृहस्थ को स्त्री तथा पुरुष में भेद बरतना होता है; अन्यथा वह गृहस्थ नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य को चाहिए कि स्त्री तथा पुरुष के प्रति आसक्ति से रहित होकर शरीर और आत्मा का अन्तर जाने। जब तक उसके मन में ऐसा अन्तर रहे, तब तक उसे शुकदेव गोस्वामी जैसा संन्यासी बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। कम से कम सैद्धान्तिक रूप से मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि जीव न तो नर है न नारी। बाहरी बाने को प्रकृति ने पदार्थ से इसलिए तैयार किया है कि उसमें विपरीत लिंग के लिए आकर्षण उत्पन्न हो, जिससे वह इस भौतिक जगत में फँसा रहे। मुक्त जीव इस विकृत भेद से ऊपर होता है। वह दो जीवों में अन्तर नहीं मानता। उसके लिए सभी एक ही आत्मा हैं। इस आध्यात्मिक दृष्टि की पूर्णता मुक्त अवस्था में है और श्रील शुकदेव गोस्वामी ने वह अवस्था प्राप्त कर ली थी। श्रील

व्यासदेव भी दिव्य अवस्था में थे, किन्तु गृहस्थ होने के कारण प्रथावश, वे अपने को मुक्त जीव नहीं मानते थे।

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान् ।

उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; आलक्षितः—मान्य; पौरैः—नागरिकों द्वारा; सम्प्राप्तः—पहुँचे हुए; कुरु-जाङ्गलान्—कुरु-जांगल प्रदेश में; उन्मत्त—पागल; मूक—गूँगा; जडवत्—मूढ़ के समान; विचरन्—घूमते हुए; गज-साह्वये—हस्तिनापुर में।

कुरु तथा जांगल प्रदेशों में पागल, गूँगे तथा मूढ़ की भाँति घूमने के बाद, जब वे (व्यासपुत्र श्रील शुकदेव) हस्तिनापुर (अब दिल्ली) नगर में प्रविष्ट हुए, तो वहाँ के नागरिकों ने उन्हें कैसे पहचाना?

तात्पर्य : आधुनिक दिल्ली नगर पहले हस्तिनापुर कहलाता था, क्योंकि इसकी स्थापना पहले पहल राजा हस्ती ने की थी। अपना पितृगृह त्यागने के बाद, गोस्वामी शुकदेव पागल की भाँति इधर-उधर भटक रहे थे, अतएव उनकी उच्चस्थ अवस्था को जान पाना नागरिकों के लिए अत्यन्त कठिन था। अतः मुनि को देखकर नहीं, अपितु सुनकर पहचाना जाता है। मनुष्य को चाहिए कि साधु या मुनि के पास दर्शन के लिए नहीं, अपितु सुनने के लिए जाए। यदि वह साधु के वचनों को सुनने के लिए तैयार न हो, तो जाने से कोई लाभ नहीं है। शुकदेव गोस्वामी साधु थे और वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के विषय में प्रवचन कर सकते थे। उन्होंने साधारण नागरिकों की सनकों को सन्तुष्ट नहीं किया। जब उन्होंने *भागवत* पर प्रवचन किया, तब लोग उन्हें पहचान पाये। उन्होंने कभी जादूगर जैसी जादूगरी दिखाने का प्रयास नहीं किया। बाहर से वे जड़, गूँगे, पागल व्यक्ति जैसे प्रतीत हो रहे थे, लेकिन वास्तव में वे महान दिव्य रूप से उच्चस्थ पुरुष थे।

कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ।

संवादः समभूतात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

कथम्—किस तरह; वा—भी; पाण्डवेयस्य—पाण्डु के वंशज (परीक्षित) के; राजर्षेः—राजर्षि; मुनिना—मुनिके;
सह—साथ; संवादः—संवाद, वार्ता; समभूत्—हुआ; तात—हे प्रिय; यत्र—जहाँ; एषा—इस तरह; सात्वती—दिव्य;
श्रुतिः—वेदों का सार।

राजा परीक्षित की इस महामुनि से कैसे भेंट हुई जिसके फलस्वरूप वेदों के इस महान्

दिव्य सार (भागवत) का वाचन सम्भव हो सका ?

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत को यहाँ पर वेदों का सार कहा गया है। यह काल्पनिक कहानी नहीं है जैसाकि गैर जिम्मेदार लोग प्रायः कहते रहते हैं। इसे शुक-संहिता अर्थात् परम मुक्त मुनि, शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया वैदिक स्तोत्र भी कहते हैं।

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वस्तदाश्रमम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (शुकदेव गोस्वामी) ; गो-दोहन-मात्रम्—केवल गाय दुहते समय तक; हि—निश्चय ही; गृहेषु—घर में; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों के; अवेक्षते—प्रतीक्षा करते हैं; महा-भागः—परम भाग्यशाली; तीर्थी—तीर्थ यात्रा; कुर्वन्—करते हुए; तत् आश्रमम्—उस घर को।

वे (शुकदेव गोस्वामी) किसी गृहस्थ के द्वार पर उतनी ही देर रुकते, जितने समय में गाय दुही जा सकती है। वे उस घर को पवित्र करने के लिए ही ऐसा करते थे।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से मिले और उन्होंने श्रीमद्भागवत के मूल पाठ की व्याख्या कह सुनाई। वे किसी भी गृहस्थ के दरवाजे पर आधा घंटा से अधिक (जितने समय में गाय दुह ली जाती है) नहीं रुकते थे और भाग्यशाली गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त करते थे। वे अपनी शुभ उपस्थिति से उस घर को पवित्र करने के लिए ऐसा करते थे। अतएव शुकदेव गोस्वामी ऐसे आदर्श उपदेशक हैं, जो दिव्य पद पर स्थित हैं। जो लोग संन्यास आश्रम में हैं और भगवान् के सन्देश का उपदेश देने के लिए प्रतिबद्ध हैं, उनके कार्यों से उन्हें यह सीखना चाहिए कि दिव्य ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त गृहस्थों से उनका कोई सरोकार नहीं है। गृहस्थ से भिक्षा माँगने का उद्देश्य उसके घर को पवित्र करना होना चाहिए। जिस मनुष्य ने संन्यास ग्रहण कर लिया है उन को चाहिए कि वह गृहस्थ की सांसारिक सम्पन्नता से आकर्षित होकर सांसारिक मनुष्यों का

गुलाम न बन जाय। जो मनुष्य संन्यास आश्रम ग्रहण कर चुकता है इस के लिए ऐसा करना विष-पान तथा आत्महत्या से भी अधिक घातक है।

अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ।

तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अभिमन्यु-सुतम्—अभिमन्यु के पुत्र को; सूत—हे सूत; प्राहुः—कहा जाता है; भागवत-उत्तमम्—प्रथम श्रेणी का भगवद् भक्त; तस्य—उसका; जन्म—जन्म; महा-आश्चर्यम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; कर्माणि—कर्म; च—तथा; गृणीहि—कृपया कहें; नः—हमसे।

कहा जाता है कि महाराज परीक्षित उच्च कोटि के भगवद्भक्त थे और उनके जन्म तथा कर्म अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। कृपया उनके विषय में हमें बताएँ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित का जन्म आश्चर्यजनक है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने उनकी रक्षा उनकी माता के गर्भ में की थी। उनके कार्यकलाप भी आश्चर्यजनक हैं, क्योंकि उन्होंने गाय का वध करने के लिए उद्यत कलि को प्रताड़ित किया। गाय का वध करने का अर्थ है, मानव सभ्यता का विनाश। वे पाप के उत्कट प्रतिनिधि से गाय की रक्षा करना चाहते थे। उनकी मृत्यु भी आश्चर्यजनक है, क्योंकि उन्हें मृत्यु की पूर्व-सूचना प्राप्त हो चुकी थी, जो किसी मर्त्य प्राणी के लिए आश्चर्यजनक है। इस तरह उन्होंने गंगा के तट पर आसीन होकर और भगवान् की दिव्य लीलाओं को सुनते हुए प्रयाण करने की तैयारी कर ली थी। जब तक वे *भागवत* का श्रवण करते रहे, उन्होंने न तो भोजन किया, न जल ग्रहण किया, न ही वे एक क्षण सोये। अतः उनकी सारी बातें आश्चर्यजनक हैं और उनके कार्यकलाप ध्यान से सुनने योग्य हैं। यहाँ पर उनके विषय में विस्तार से सुनने की इच्छा की गई है।

स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः ।

प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सः—वे; सम्राट्—महाराजा; कस्य—किस; वा—अथवा; हेतोः—कारण से; पाण्डूनाम्—पाण्डु के पुत्रों का; मान-वर्धनः—कुल को सम्पन्न करने वाला; प्राय-उपविष्टः—बैठे तथा उपवास करते; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; अनादृत्य—उपेक्षा करके; अधिराट्—प्राप्त किया राज्य; श्रियम्—ऐश्वर्य।

वे एक महान् सम्राट थे और उनके पास उपार्जित राज्य के सारे ऐश्वर्य थे। वे इतने वरेण्य थे कि उनसे पाण्डु वंश की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। तो फिर वे सब कुछ त्याग कर गंगा नदी के तट पर बैठकर क्यों आमरण उपवास करने लगे?

तात्पर्य : महाराज परीक्षित समस्त समुद्रों एवं महासागरों समेत पूरे संसार के चक्रवर्ती सम्राट थे। उन्हें इस राज्य को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ा था। उन्हें वह अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों से उत्तराधिकार में मिला था। इसके साथ ही साथ, वे सुचारु रूप से शासन चला रहे थे, जो उनके पूर्वजों की प्रतिष्ठा के ही अनुरूप था। फलस्वरूप, उनके ऐश्वर्य तथा प्रशासन में कुछ भी अवाँछित नहीं था। तो फिर वे क्यों सारा राजपाट त्याग कर, गंगा के तट पर आमरण उपवास करने लगे? यह आश्चर्यजनक है, अतएव सभी इसका कारण जानने के लिए उत्सुक थे।

नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः

शिवाय हानीय धनानि शत्रवः ।

कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां

युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नमन्ति—झुकते हैं; यत्-पाद—जिनके पाँव के; निकेतम्—नीचे; आत्मनः—अपने; शिवाय—कल्याण के लिए; हानीय—लाकर; धनानि—सम्पत्ति; शत्रवः—शत्रुगण; कथम्—किस कारण से; सः—वह; वीरः—वीर; श्रियम्—ऐश्वर्य; अङ्ग—हे; दुस्त्यजाम्—जिसका छोड़ पाना दुष्कर है उसे; युवा—युवावस्था में; ऐषत—इच्छा की; उत्स्रष्टुम्—त्याग देने के लिए; अहो—अरे; सह—साथ; असुभिः—जीवन के।

वे इतने बड़े सम्राट थे कि उनके सारे शत्रु आकर अपनी भलाई के लिए उनके चरणों पर अपना शीश झुकाते थे और अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित करते थे। वे तरुण और शक्तिशाली थे और उनके पास अलभ्य राजसी ऐश्वर्य था। तो फिर वे अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना जीवन भी, क्यों त्यागना चाह रहे थे?

तात्पर्य : उनके जीवन में कुछ भी अवांछनीय नहीं था। वे नवयुवक थे और शक्ति एवं ऐश्वर्य के साथ जीवन का भोग कर सकते थे, अतएव सक्रिय जीवन से विराम लेने का कोई प्रश्न नहीं उठता था। उन्हें राज्य-कर वसूलने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि वे इतने शक्तिशाली एवं वीर थे कि उनके शत्रु भी उनके चरणों में शीश झुकाते थे और अपने ही हित के लिए अपनी सारी सम्पत्ति भेंट कर जाते थे। महाराज परीक्षित पवित्र राजा थे। उन्होंने शत्रुओं को जीत लिया था, अतएव उनका राज्य वैभव-सम्पन्न था। उसमें प्रचुर अन्न, दूध तथा धातुएँ थीं और सारे पर्वत तथा नदियाँ क्षमताओं से भरपूर थी। फलतः भौतिक दृष्टि से सब कुछ सन्तोषप्रद था। अतएव इस असमय में अपना साम्राज्य एवं जीवन त्याग करने का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए था। मुनिगण इसके विषय में सुनने के लिए आतुर थे।

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शिवाय—कल्याण हेतु; लोकस्य—समस्त जीवों के; भवाय—समुन्नति के लिए; भूतये—आर्थिक विकास के लिए; ये—जो हैं; उत्तम-श्लोक-परायणाः—भगवान् के कार्य के प्रति अनुरक्त; जनाः—लोग; जीवन्ति—जीते हैं; न—लेकिन नहीं; आत्म-अर्थम्—स्वार्थ; असौ—वह; पर-आश्रयम्—अन्यों के लिए शरण; मुमोच—त्याग दिया; निर्विद्य—समस्त प्रकार की आसक्ति से मुक्त होकर; कुतः—किस लिए; कलेवरम्—मर्त्य शरीर को।

जो लोग भगवत्कार्य में अनुरक्त रहते हैं, वे दूसरों के कल्याण, उन्नति तथा सुख के लिए ही जीवित रहते हैं। वे किसी स्वार्थवश जीवित नहीं रहते। अतएव राजा (परीक्षित) ने समस्त सांसारिक वैभव की आसक्ति से मुक्त होते हुए भी, अपने उस मर्त्य शरीर को क्यों त्यागा जो दूसरों के लिए आश्रयतुल्य था?

तात्पर्य : परीक्षित महाराज आदर्श राजा तथा गृहस्थ थे, क्योंकि वे भगवद्भक्त थे। भगवद्भक्त में स्वतः समस्त उत्तम गुण आ जाते हैं और महाराज इसके विशिष्ट उदाहरण थे। व्यक्तिगत रूप से, उन्हें अपने अधिकार में उपलब्ध सांसारिक ऐश्वर्य से कोई आसक्ति न थी।

लेकिन, चूँकि वे जनता की चतुर्दिक् भलाई के लिए राजा बने थे, अतएव वे जनता के कल्याणकार्यों में न केवल इस जीवन में, अपितु अगले जीवन में भी सदैव व्यस्त रहना चाहते थे। वे कसाईघरों की या गोवध की अनुमति नहीं देते थे। वे ऐसे मूर्ख तथा पक्षपाती प्रशासक न थे, जो एक जीव को तो सुरक्षा प्रदान करते और दूसरे का वध होने देते। चूँकि वे भगवद्भक्त थे, अतएव वे यह अच्छी तरह जानते थे कि मनुष्यों, पशुओं, पौधों तथा समस्त जीवित प्राणियों के सुख के लिए किस प्रकार प्रशासन चलाना चाहिए। वे अपने स्वार्थ में रुचि रखने वाले पुरुष न थे। स्वार्थ या तो आत्मकेन्द्रित होता है या आत्म-विस्तारित होता है। वे इन दोनों में से एक भी न थे। उनका स्वार्थ तो परम सत्य, परमेश्वर को प्रसन्न करने में था। राजा परमेश्वर का प्रतिनिधि होता है, अतएव राजा और परमेश्वर का उद्देश्य एक जैसा होना चाहिए। परमेश्वर चाहते हैं कि सारे जीव उनके आज्ञाकारी बनें और इस तरह से सुखी हों। अतः राजा का स्वार्थ इसी में है कि वह अपनी प्रजा का भगवान् के धाम वापस जाने में उनका मार्गदर्शन करे। अतएव प्रजा के कार्यकलापों को इस प्रकार समन्वित किया जाना चाहिए कि सारे लोग अन्त में भगवद्धाम वापस जा सकें। प्रतिनिधि राजा के शासन में सारा साम्राज्य ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहता है। ऐसी दशा में मनुष्यों को पशुओं को खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्न, दुग्ध, फल तथा तरकारियों की प्रचुरता रहती है जिससे मनुष्य तथा पशु जी भरकर खा-पी सकते हैं। यदि सारे जीव आहार तथा आश्रय पाकर सन्तुष्ट हों और नियत नियमों का पालन करें, तो जीव-जीव में परस्पर कोई उपद्रव न हो। महाराज परीक्षित योग्य राजा थे, अतएव उनके शासन में सभी लोग सुखी थे।

तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्ठो यदिह किञ्चन ।

मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; सर्वम्—सारा; नः—हमसे; समाचक्ष्व—स्पष्ट कहें; पृष्ठः—प्रश्न पूछा; यत् इह—यहाँ पर; किञ्चन—वह सब; मन्ये—हम सोचते हैं; त्वाम्—आपको; विषये—सारे विषयों में; वाचाम्—शब्दार्थ; स्नातम्—पूर्ण रूप से ज्ञात; अन्यत्र—छोड़कर; छान्दसात्—वेदों का अंश।

हम जानते हैं कि आप वेदों के कतिपय अंश को छोड़कर अन्य समस्त विषयों के अर्थ में पटु हैं, अतएव आप उन सारे प्रश्नों की स्पष्ट व्याख्या कर सकते हैं, जिन्हें हमने आपसे अभी पूछा है।

तात्पर्य : वेदों तथा पुराणों में वही अन्तर है जो ब्राह्मणों एवं परिव्राजकों में होता है। ब्राह्मण वेदों में वर्णित कुछ सकाम यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए होते हैं, लेकिन परिव्राजकाचार्यों या विद्वान् उपदेशकों का कार्य दिव्य ज्ञान को सबों तक पहुँचाना होता है। अतएव परिव्राजकाचार्य सदा वेद मन्त्रों के उच्चारण में पटु नहीं होते जिनका अभ्यास ब्राह्मणों द्वारा लययुक्त उच्चारण में नियमित रूप से किया जाता है, क्योंकि ब्राह्मण वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने के लिए होते हैं। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भ्रमणशील उपदेशकों (परिव्राजकों) की अपेक्षा ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे एकसाथ एक तथा भिन्न हैं, क्योंकि विभिन्न मार्गों के होते हुए भी उनका लक्ष्य एक है।

वैदिक मन्त्रों में एवं पुराणों तथा इतिहास में जो कुछ वर्णित है, उनमें भी कोई अन्तर नहीं है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *माध्यन्दिन-श्रुति* में उल्लेख हुआ है कि सारे वेद अर्थात् साम, अथर्व, ऋग, यजुर्, पुराण, इतिहास, उपनिषद् आदि परम पुरुष के श्वास से उद्भूत हैं। अन्तर इतना ही है कि सारे वैदिक मन्त्र प्रणव ॐकार से प्रारम्भ होते हैं और इन मन्त्रों का सस्वर पाठ करने के लिए कुछ अभ्यास करना पड़ता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि *श्रीमद्भागवत* वैदिक मन्त्रों की अपेक्षा कम महत्त्व का है। इसके विपरीत, यह समस्त वेदों का पक्व फल है, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त, परम मुक्त पुरुष श्रील शुकदेव गोस्वामी स्वरूपसिद्ध होते हुए भी, *भागवत* के अध्ययन में लीन रहते हैं। श्रील सूत गोस्वामी उन्हीं के चरण-चिह्नों का अनुगमन कर रहे हैं, अतएव उनका स्थान रंचमात्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, भले ही वे वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ में उतने पटु न हों, जो वास्तविक अनुभूति की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक निर्भर करता है। तोता-रटन्त की अपेक्षा अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।

जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; द्वापरे—द्वापर युग में; समनुप्राप्ते—आविर्भाव होने पर; तृतीये—तृतीय; युग—युग; पर्यये—के स्थान पर; जातः—प्रकट हुआ; पराशरात्—पराशर से; योगी—महान ऋषि; वासव्याम्—वसु की पुत्री के गर्भ में; कलया—पूर्ण अंश में; हरेः—भगवान् के।

सूत गोस्वामी ने कहा : जिस समय द्वापर युग का त्रेता युग से अतिव्यापन हो रहा था, तो वसु की पुत्री सत्यवती के गर्भ से पराशर द्वारा महान ऋषि (व्यासदेव) ने जन्म लिया।

तात्पर्य : सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलि चारों युगों अर्थात् का एक कालक्रम होता है। लेकिन, कभी-कभी इनमें अतिव्यापन हो जाता है। वैवस्वत मनु के राज्य काल में चतुर्युगों के अट्टाईसवें चक्र का अतिव्यापन हुआ था और तृतीय युग द्वितीय युग के पहले ही पड़ गया था। ऐसे युग में भगवान् श्रीकृष्ण भी अवतरित होते हैं और इसीलिए कुछ विशेष परिवर्तन हुआ था। महर्षि की माता सत्यवती, वसु (मछुवारे) की पुत्री थी और उनके पिता महामुनि पराशर थे। व्यासदेव के जन्म का यही इतिहास है। प्रत्येक युग तीन कालों में विभाजित होता है और हर काल *संध्या* कहलाता है। व्यासदेव उस युग की तृतीय *संध्या* में प्रकट हुए थे।

स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः ।

विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; कदाचित्—एक बार; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के तट पर; उपस्पृश्य—प्रातःकालीन आचमन से निवृत्त होकर; जलम्—जल से; शुचिः—पवित्र होकर; विविक्ते—एकाग्रता; एकः—अकेले; आसीनः—इस प्रकार बैठे हुए; उदिते—उदय होने वाले; रवि-मण्डले—सूर्य के गोले का।

एक बार सूर्योदय होते ही उन्होंने (व्यासदेव ने) सरस्वती के जल से प्रातःकालीन आचमन किया और मन एकाग्र करने के लिए वे एकान्त में बैठ गये।

तात्पर्य : सरस्वती नदी हिमालय पर्वत के बदरिकाश्रम क्षेत्र में बहती है। अतएव यहाँ पर जिस स्थान को इंगित किया गया है, वह बदरिकाश्रम में 'शम्याप्रास' है, जहाँ श्री व्यासदेव रह रहे हैं।

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा ।

युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पर-अवर—भूत तथा भविष्य का; ज्ञः—जानने वाला; सः—वह; ऋषिः—व्यासदेव; कालेन—समय पाकर; अव्यक्त—अप्रकट; रंहसा—महान शक्ति से; युग-धर्म—युग के अनुरूप कार्य; व्यतिकरम्—विसंगतियाँ, दोष; प्राप्तम्—प्राप्त होने पर; भुवि—पृथ्वी पर; युगे युगे—विभिन्न युगों में।

महर्षि व्यासदेव ने युग के कर्तव्यों में विरोधाभास देखा। कालक्रम में पृथ्वी पर अदृश्य शक्तियों के कारण विभिन्न युगों में ऐसा होता रहता है।

तात्पर्य : व्यासदेव—जैसे ऋषि मुक्त आत्मा होते हैं, अतएव वे भूत तथा भविष्य को स्पष्ट देख सकते हैं। अतएव वे कलियुग में आने वालों की विसंगतियों को देख सके और तदनुसार उन्होंने जनसामान्य के लिए ऐसा प्रबन्ध किया, जिससे वे इस अन्धकारमय युग में प्रगतिशील जीवन का अनुगमन कर सकें। इस कलियुग के सामान्य लोग नाशवान पदार्थ के प्रति अधिक रुचि दिखाते हैं। अज्ञानता के कारण वे जीवन-निधि का मूल्य नहीं समझ पाते और आध्यात्मिक ज्ञान से आलोकित नहीं हो सकते।

भौतिकानां च भावानां शक्तिहासं च तत्कृतम् ।

अश्रद्धानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान् हसितायुषः ॥ १७ ॥

दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।

सर्ववर्णाश्रमाणां यदध्यौ हितममोघदृक् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भौतिकानाम् च—पदार्थ से निर्मित प्रत्येक वस्तु का भी; भावानाम्—कर्म; शक्ति-हासम् च—तथा प्राकृतिक शक्ति का क्षय; तत्-कृतम्—उसके द्वारा किया गया; अश्रद्धानान्—श्रद्धाविहीन का; निःसत्त्वान्—सतोगुण के अभाव के कारण अधीर; दुर्मेधान्—दुर्बुद्धि वाला; हसित—घटा हुआ; आयुषः—जीवन अवधि का; दुर्भगान् च—तथा अभागे; जनान्—जन सामान्य को; वीक्ष्य—देखकर; मुनिः—मुनि; दिव्येन—दिव्य; चक्षुषा—दृष्टि से; सर्व—समस्त; वर्ण-

आश्रमाणाम्—जीवन के समस्त स्तरों तथा आश्रमों का; यत्—जो; दध्यौ—विचार किया; हितम्—कल्याण; अमोघ-
दृक्—पूर्ण ज्ञान से युक्त।

परम ज्ञानी ऋषि, अपनी दिव्य दृष्टि से, युग के प्रभाव से प्रत्येक भौतिक वस्तु की अवनति को देख सकते थे। वे यह भी देख सकते थे कि श्रद्धाविहीन व्यक्तियों की आयु क्षीण होगी और वे सच्चगुण के अभाव के कारण अधीर रहेंगे। इस प्रकार उन्होंने समस्त वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के कल्याण पर विचार किया।

तात्पर्य : काल की अप्रकट शक्तियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे सारे पदार्थ को समय आने पर विस्मृति के गर्भ में डाल देती हैं। चतुर्युग चक्र के अन्तिम युग कलियुग में समय के प्रभाव से सारी भौतिक वस्तुओं की शक्ति का क्षय हो जाता है। इस युग में जनसामान्य की आयु काफी घट जाती है और उसी प्रकार से स्मरण शक्ति भी। पदार्थ की क्रिया की भी उतनी प्रेरणा नहीं रह पाती। धरती भी बीते युगों की भाँति उसी परिमाण में अन्न उत्पन्न नहीं कर पाती। गाएँ भी पूर्व युगों की भाँति दूध नहीं देतीं। शाकों तथा फलों का भी उत्पादन पहले से कम हो जाता है। इस प्रकार सारे जीव, चाहे मनुष्य हों या पशु, प्रचुर मात्रा में पौष्टिक भोजन नहीं पाते। जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं की चाहत के कारण स्वाभाविक रूप से आयु घट जाती है, स्मरण शक्ति कम हो जाती है, बुद्धि अल्प हो जाती है और पारस्परिक व्यवहार में दिखावा आ जाता है।

महर्षि व्यासदेव अपनी दिव्य दृष्टि से इसे देख सके। जिस प्रकार कोई ज्योतिषी मनुष्य के भाग्य को देख सकता है या ज्योतिर्विद चन्द्र तथा सूर्य ग्रहणों की भविष्यवाणी कर सकता है, उसी प्रकार शास्त्रों के भीतर झाँक सकने वाले मुक्तात्मा सारी मानवता का भविष्य पहले से बता सकते हैं। वे अपनी आध्यात्मिक पैनी दृष्टि से यह सब देख सकते हैं।

इस प्रकार से ऐसे सारे अध्यात्मवादी, जो स्वभाविक रूप से भगवद्भक्त होते हैं, जनसामान्य का कल्याण करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। जनता के वास्तविक मित्र वे हैं, तथाकथित जन-नेता नहीं, जो यह भी नहीं जानते कि अगले पाँच मिनटों में क्या होने वाला है। इस युग में जनता तथा उनके तथाकथित नेता सभी अभागे व्यक्ति हैं, जिनकी अध्यात्म ज्ञान में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे कलियुग द्वारा प्रभावित रहते हैं। वे नाना रोगों से व्याकुल होते रहते हैं। उदाहरणार्थ,

आधुनिक युग में क्षय के रोगी हैं और क्षय रोग के अस्पताल भी अनेक हैं, लेकिन पूर्व काल में ऐसा नहीं था, क्योंकि समय इतना प्रतिकूल नहीं था। इस युग के अभागे लोग उन योगियों का स्वागत करते हुए कतराते हैं, जो श्रील व्यासदेव के प्रतिनिधि तथा निःस्वार्थ कार्यकर्ता हैं, जो कुछ न कुछ योजना बनाने में लगे रहते हैं जिससे सभी वर्णों तथा आश्रमों के लोगों का लाभ हो सके। सबसे बड़े मानवतावादी तो वे योगी हैं जो व्यास, नारद, मध्व, चैतन्य, रूप, सरस्वती आदि के संदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सब एक ही हैं। भले ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न हों, लेकिन उनका उद्देश्य एक ही है कि पतितात्माओं को भगवद्धाम वापस भेज कर उनका उद्धार करना।

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।

व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चातुः—चार; होत्रम्—यज्ञ की अग्नियाँ; कर्म शुद्धम्—कर्म की शुद्धि; प्रजानाम्—प्रजा का; वीक्ष्य—देखकर; वैदिकम्—वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार; व्यदधात्—बनाया; यज्ञ—यज्ञ; सन्तत्यै—विस्तार के लिए; वेदम् एकम्—केवल एक वेद को; चतुः-विधम्—चार विभागों में।

उन्होंने देखा कि वेदों में वर्णित यज्ञ वे साधन हैं, जिनसे लोगों की वृत्तियों को शुद्ध बनाया जा सकता है। अतः इस विधि को सरल बनाने के लिए ही उन्होंने एक ही वेद के चार भाग कर दिये, जिससे वे लोगों के बीच फैल सकें।

तात्पर्य : पहले यजुर्वेद नामक एक ही वेद था और उसी में यज्ञ के चार विभागों का विशेष उल्लेख था। लेकिन उन्हें अधिक सरल बनाने के उद्देश्य से वेद को यज्ञ के चार विभागों में बाँट दिया गया, जिससे चारों आश्रमों का वृत्तिपरक धर्म शुद्ध हो सके। ऋग्, यजुर्, साम तथा अथर्व, इन चार वेदों के अलावा पुराण, महाभारत, संहिताएँ आदि पाँचवा वेद कहलाती हैं। श्री वेदव्यास तथा उनके अनेक शिष्य इतिहास प्रवृत्त व्यक्ति थे और वे सब इस कलि की पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु थे। फलस्वरूप, सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों से पुराण तथा महाभारत तैयार किये गये, जिनमें चारों वेदों की शिक्षा दी गई है। पुराणों तथा महाभारत को वेदों का अभिन्न अंग मानने में कोई शंका नहीं होनी चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् (७.१.४) में पुराणों तथा महाभारत को, जिन्हें

सामान्य रूप से इतिहास माना जाता है, पंचम वेद कहा गया है। श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार शास्त्रों की अपनी-अपनी महत्ता आँकने की यही विधि है।

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-आख्याः—चार वेदों के नाम; वेदाः—वेद; चत्वारः—चार; उद्धृताः—पृथक्-पृथक् अंगों में बँटा; इतिहास—ऐतिहासिक प्रलेख (महाभारत); पुराणम् च—तथा सारे पुराण; पञ्चमः—पाँचवा; वेदः—ज्ञान का मूल स्रोत; उच्यते—कहा जाता है।

मूल ज्ञान के स्रोतों (वेदों) के चार पृथक् विभाग किये गये। लेकिन पुराणों में वर्णित ऐतिहासिक तथ्य तथा प्रामाणिक कथाएँ पंचम वेद कहलाती हैं।

तत्रगर्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ऋग्-वेद-धरः—ऋग्वेद के आचार्य; पैलः—पैल नामक ऋषि; साम-गः—सामवेद का; जैमिनिः—जैमिनि नामक ऋषि; कविः—अत्यन्त योग्य; वैशम्पायनः—वैशम्पायन नामक ऋषि; एव—ही; एकः—अकेले; निष्णातः—पटु; यजुषाम्—यजुर्वेद के; उत—यशस्वी।

वेदों के चार खण्डों में विभाजित हो जाने के बाद, पैल ऋषि ऋग्वेद के आचार्य बने और जैमिनि साम वेद के। यजुर्वेद के कारण एकमात्र वैशम्पायन यशस्वी हुए।

तात्पर्य : विभिन्न वेदों को उनके बहुविध विकास के लिए विद्वान व्यक्तियों को सौंप दिया गया।

अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथर्व—अथर्ववेद; अङ्गिरसाम्—अङ्गिरा ऋषि को; आसीत्—सौंपा गया; सुमन्तुः—सुमन्तुमुनि नाम से ज्ञात; दारुणः—अथर्ववेद में गम्भीरता से संलग्न; मुनिः—मुनि; इतिहास-पुराणानाम्—ऐतिहासिक प्रलेखों तथा पुराणों; पिता—पिता; मे—मेरा; रोमहर्षणः—ऋषि रोमहर्षण।

अत्यन्त अनुरक्त रहने वाले सुमन्तु मुनि अंगिरा को अथर्ववेद सौंपा गया और मेरे पिता रोमहर्षण को पुराण तथा इतिहास सौंपे गये।

तात्पर्य : श्रुति मंत्रों में भी कहा गया है कि अथर्ववेद के दृढ़ नियमों का कड़ाई से पालन करने वाले अंगिरा मुनि, अथर्ववेद के अनुयायियों के अग्रणी थे।

त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्नेकधा ।

शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एते—ये सब; ऋषयः—विद्वान्; वेदम्—विभिन्न वेदों को; स्वम् स्वम्—अपने अपने विषयों के; व्यस्यन्—प्रस्तुत किया; अनेकधा—अनेक; शिष्यैः—शिष्य; प्रशिष्यैः—शिष्यों के शिष्य; तत्-शिष्यैः—उनके भी शिष्यों द्वारा; वेदाः—उन वेदों के अनुयायी; शाखिनः—विभिन्न शाखाएँ; अभवन्—इस प्रकार बनीं।

इन सब विद्वानों ने अपनी पारी में, उन्हें सौंपे गये वेदों को अपने अनेक शिष्यों, प्रशिष्यों तथा उनके भी शिष्यों को प्रदान किया और इस प्रकार वेदों के अनुयायियों की अपनी-अपनी शाखाएँ बनीं।

तात्पर्य : ज्ञान के मूल स्रोत वेद हैं। संसारी या दिव्य ज्ञान की कोई ऐसी शाखा नहीं है, जो वेदों के मूल भाष्य से सम्बद्ध न हो। उन्हें केवल विभिन्न शाखाओं के रूप में विकसित कर लिया गया है। मूलतः वे महान, सम्माननीय एवं विद्वान् आचार्यों द्वारा बनायी गईं। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान विभिन्न शिष्य-परम्पराओं द्वारा, भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभाजित होकर, सारे विश्व में वितरित किया गया। अतः वेदों के परे स्वतन्त्र ज्ञान का दावा कोई नहीं कर सकता।

त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।

एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एव—निश्चय ही; वेदाः—ज्ञान के ग्रंथ; दुर्मेधैः—अल्पज्ञों द्वारा; धार्यन्ते—धारण किये जाते हैं; पुरुषैः—मनुष्य द्वारा; यथा—जिस तरह; एवम्—इस प्रकार; चकार—संकलित किया; भगवान्—शक्तिशाली; व्यासः—व्यास मुनि ने; कृपण-वत्सलः—अज्ञानी जनता के प्रति दयालु।

इस प्रकार, अज्ञानी जनसमूह पर अत्यन्त कृपालु ऋषि व्यासदेव ने वेदों का संकलन किया, जिससे कम ज्ञानी पुरुष भी उनको आत्मसात् कर सकें।

तात्पर्य : वेद एक है। यहाँ पर अनेक शाखाओं में इसके विभाजन के कारणों की व्याख्या की गई है। समस्त ज्ञान का बीज वेद, ऐसा विषय नहीं है, जिसे कोई सामान्य व्यक्ति आसानी से समझ सके। ऐसा प्रतिबन्ध है कि जो सुपात्र ब्राह्मण नहीं है, उसे वेद नहीं सीखना चाहिए। इस प्रतिबन्ध की कई प्रकार से गलत व्याख्याएँ की गई हैं। मनुष्यों का एक वर्ग, ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही, ब्राह्मण योग्यता का दावा करता है; वह वेदों के अध्ययन को ब्राह्मण जाति का एकाधिपत्य मानता है। लोगों का दूसरा वर्ग इसे उन जाति वालों पर अन्याय बताता है, जो ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं ले पाते। लेकिन ये दोनों ही दिग्भ्रमित हैं। वेदों का विषय ऐसा है, जिसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा के लिए की थी। अतएव विलक्षण सतोगुणी व्यक्ति ही इस विषय को समझ सकते हैं। रजोगुणी तथा तमोगुणी लोग वेद विषय को नहीं समझ पाते। वैदिक ज्ञान का चरम उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जो लोग रजो तथा तमोगुणी हैं, वे भगवान् को बहुत कम समझ पाते हैं। सत्ययुग में प्रत्येक व्यक्ति सतोगुणी होता था। धीरे-धीरे त्रेता तथा द्वापर युगों में सतोगुण का हास होता गया और जनता भ्रष्ट होती गई। आधुनिक युग में सतोगुण प्रायः शून्य है, अतएव जनता के हित के लिए परम दयालु सम्पन्न ऋषि श्रील व्यासदेव ने वेदों को अनेक प्रकार से विभक्त कर दिया, जिससे वे रजोगुण तथा तमोगुण वाले अल्पज्ञों द्वारा भी समझे जा सकें। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्री—स्त्री वर्ग; शूद्र—श्रमिक वर्ग; द्विज—बन्धूनाम्—द्विजों के मित्रों का; त्रयी—तीन; न—नहीं; श्रुति—गोचरा—समझने के लिए; कर्म—कर्म में; श्रेयसि—कल्याण में; मूढानाम्—मूर्खों का; श्रेयः—परम लाभ; एवम्—इस प्रकार; भवेत्—प्राप्त किया; इह—इससे; इति—इस प्रकार सोचकर; भारतम्—महाभारत; आख्यानम्—ऐतिहासिक तथ्य; कृपया—महत् अनुकम्पावश; मुनिना—मुनि द्वारा; कृतम्—पूरा हुआ है।

महर्षि ने अनुकम्पावश हितकर समझा कि यह मनुष्यों को जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में यह सहायक होगा। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं के लिए महाभारत नामक महान ऐतिहासिक कथा का संकलन किया।

तात्पर्य : द्विज-बन्धु वे हैं जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों या आध्यात्मिक कुलों में जन्म तो लेते हैं, किन्तु अपने पूर्वजों के तुल्य नहीं होते। ऐसे वंशज संस्कारों के अभाव में मान्य नहीं बन पाते। ऐसे संस्कार बालक के जन्म लेने के पहले से ही प्रारम्भ हो जाते हैं और बीजारोपण पहला *गर्भाधान-संस्कार* कहलाता है। जो व्यक्ति *गर्भाधान-संस्कार* अर्थात् आध्यात्मिक परिवार नियोजन की इस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, उसे द्विज कुल में जन्मा नहीं माना जाता है। *गर्भाधान-संस्कार* के बाद अन्य कई संस्कार होते हैं, जिनमें उपनयन संस्कार एक है। यह आध्यात्मिक दीक्षा के समय सम्पन्न होता है। इस विशेष संस्कार के बाद ही कोई द्विज कहलाता है। एक जन्म *गर्भाधान-संस्कार* के समय गिना जाता है और दूसरा, आध्यात्मिक दीक्षा के समय। जो इन महत्त्वपूर्ण संस्कारों से गुजरता है, उसे प्रामाणिक द्विज कहा जा सकता है।

यदि माता तथा पिता आध्यात्मिक परिवार नियोजन अर्थात् *गर्भाधान-संस्कार* का पालन किये बिना केवल वासना-वश सन्तानें उत्पन्न करते हैं, तो ये सन्तानें *द्विज-बन्धु* कहलाती हैं। निश्चित रूप से, ये द्विज-बन्धु नियमित द्विजों के बालकों के समान बुद्धिमान नहीं होते। ऐसे द्विज-बन्धुओं की गणना शूद्रों एवं स्त्रियों के साथ की जाती है, जो स्वभाव से अल्पज्ञ होते हैं। शूद्रों तथा स्त्रियों को विवाह संस्कार के अतिरिक्त कोई अन्य संस्कार नहीं करना होता।

अल्पज्ञ श्रेणी के व्यक्ति, यथा स्त्रियाँ, शूद्र तथा उच्च वर्णों के अयोग्य पुत्र, आवश्यक योग्यताओं से विहीन होते हैं जिससे वे दिव्य वेदों के उद्देश्य को नहीं समझ पाते। ऐसे लोगों के लिए *महाभारत* लिखा गया है। *महाभारत* का उद्देश्य वेदों के उद्देश्य की पूर्ति है, अतः इस *महाभारत* में वेद का सार *भगवद्गीता* सन्निविष्ट है। अल्पज्ञ लोग दर्शन की अपेक्षा कथाओं में अधिक रुचि दिखाते हैं, अतएव वेदों के दर्शन का प्रवचन, भगवान् कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* के रूप में किया गया। व्यासदेव तथा भगवान् कृष्ण दोनों ही दिव्य पद पर हैं, अतएव उन्होंने इस

युग के पतितात्माओं के कल्याण के लिए सहयोग किया। *भगवद्गीता* समस्त वैदिक ज्ञान का सार है। यह आध्यात्मिक मूल्यों का वैसा ही प्रथम ग्रंथ है, जिस प्रकार *उपनिषदे* हैं। वेदान्त दर्शन तो अध्यात्म के स्नातकों के अध्ययन करने का विषय है। केवल स्नाकोत्तर छात्र ही आध्यात्मिक या भगवद्भक्ति में प्रवेश पा सकते हैं। यह एक महान विज्ञान है और इसके परमाचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में स्वयं भगवान् हैं। जो लोग उनके द्वारा शक्ति-प्रदत्त हैं, वे ही दिव्य भगवद्भक्ति में अन्यो को दीक्षित कर सकते हैं।

एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः ।
सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्द्वयं ततः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रवृत्तस्य—संलग्न रहने वाले का; सदा—सदैव; भूतानाम्—जीवों का; श्रेयसि—कल्याण में; द्विजाः—हे द्विजो; सर्वात्मकेन अपि—सभी प्रकार से; यदा—जब; न—नहीं; अतुष्यत्—तुष्ट हो गया; हृदयम्—मन; ततः—उस समय।

हे द्विज ब्राह्मणो, यद्यपि वे समस्त लोगों के समग्र कल्याण कार्य में लगे रहे, तो भी उनका मन भरा नहीं।

तात्पर्य : श्री व्यासदेव अपने आप से सन्तुष्ट नहीं थे, यद्यपि उन्होंने जनसामान्य के चतुर्दिक् कल्याण के लिए वैदिक साहित्य तैयार किया था। ऐसी आशा थी कि वे ऐसे कार्यों से संतुष्ट होंगे, लेकिन अन्ततः वे संतुष्ट नहीं हुए।

नातिप्रसीदद्द्वयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं चोवाच धर्मवित् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अतिप्रसीदत्—अत्यधिक तुष्ट; हृदयः—हृदय में; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—किनारे; शुचौ—पवित्र; वितर्कयन्—विचार करके; विविक्त-स्थः—एकान्त में स्थित; इदम् च—यह भी; उवाच—कहा; धर्म-वित्—धर्म का ज्ञाता।

इस प्रकार मन में असंतुष्ट रहते हुए ऋषि ने तुरन्त विचार करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वे धर्म के सार के ज्ञाता और मन ही मन कहा :

तात्पर्य : ऋषि अपने मन के असन्तोष का कारण ढूँढने लगे। सिद्धि तब तक नहीं मिल पाती, जब तक कोई हृदय से संतुष्ट न हो। हृदय की तुष्टि को पदार्थ से परे ढूँढना होता है।

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥ २८ ॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च प्रदर्शितः ।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धृत-व्रतेन—कठिन व्रत करते हुए; हि—निश्चय ही; मया—मेरे द्वारा; छन्दांसि—वैदिक मन्त्र; गुरवः—गुरुजन;
अग्नयः—यज्ञ की अग्नि; मानिताः—भलीभाँति पूजित; निर्व्यलीकेन—किसी छद्म से रहित; गृहीतम् च—तथा स्वीकृत;
अनुशासनम्—पारम्परिक अनुशासन; भारत—महाभारत के; व्यपदेशेन—संकलन से; हि—निश्चय ही; आम्नाय-
अर्थः—शिष्य-परम्परा की अभिव्यक्ति; च—तथा; प्रदर्शितः—ठीक प्रकार से कहा गया; दृश्यते—जो आवश्यक है, उस
से; यत्र—जहाँ; धर्म-आदिः—धर्म का मार्ग; स्त्री-शूद्र-आदिभिः अपि—यहाँ तक कि स्त्रियों, शूद्रों आदि के द्वारा;
उत—कहा गया।

मैंने कठिन व्रतों का पालन करते हुए वेदों की, गुरु की तथा यज्ञ वेदी की मिथ्याडम्बर के बिना पूजा की है। मैंने अनुशासन का भी पालन किया है और महाभारत की व्याख्या के माध्यम से शिष्य-परम्परा को अभिव्यक्ति दी है, जिससे स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य (द्विजबन्धु) लोग भी धर्म के मार्ग का अवलोकन कर सकते हैं।

तात्पर्य : कठोर अनुशासनिक व्रत तथा शिष्य-परम्परा का पालन किए बिना, कोई भी वेदों के अर्थ को नहीं समझ सकता। अभिलाषी व्यक्ति को चाहिए कि वेदों, गुरुओं तथा याज्ञिक अग्नि की पूजा करे। वैदिक ज्ञान की इन समस्त बारीकियों को, क्रमबद्ध रूप में महाभारत में प्रस्तुत किया गया है ताकि स्त्री वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुलों के अयोग्य व्यक्ति उन्हें समझ सकें। इस युग में मूल वेदों की अपेक्षा महाभारत अधिक आवश्यक है।

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्य सत्तमः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तथापि—यद्यपि; बत—दोष; मे—मेरा; दैह्यः—शरीर में स्थित; हि—निश्चय ही; आत्मा—जीव; च—तथा; एव—भी; आत्मना—अपने से; विभुः—पर्याप्त; असम्पन्नः—विहीन; इव आभाति—प्रतीत होता है; ब्रह्म-वर्चस्य—वेदान्तियों का; सत्तमः—परम।

वेदों के लिए जितनी बातों की आवश्यकता है, यद्यपि मैं उनसे पूर्णरूप से सज्जित हूँ, तथापि मैं अपूर्णता का अनुभव कर रहा हूँ।

तात्पर्य : निस्सन्देह, श्रील व्यासदेव वैदिक उपलब्धियों से परिपूर्ण थे। पदार्थ (जड़ता) में डूबे हुए जीव की शुद्धि वेद-वर्णित कृत्यों से ही सम्भव है, लेकिन चरम उपलब्धि तो भिन्न है। इसे प्राप्त किये बिना, जीव चाहे पूर्णरूप से सज्जित क्यों न हो, दिव्य स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि श्रील व्यासदेव ने संकेत खो दिया था, जिसके कारण वे असन्तुष्ट थे।

किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।

प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा; भागवताः धर्माः—जीवों के भक्ति-कार्य; न—नहीं; प्रायेण—प्रायः; निरूपिताः—संकेत किया; प्रियाः—प्रिय; परमहंसानाम्—सिद्ध पुरुषों का; ते एव—वे भी; हि—निश्चय ही; अच्युत—अचूक; प्रियाः—आकर्षक।

हो सकता है कि मैंने भगवान् की भक्ति का विशेष रूप से कोई संकेत न किया हो, जो सिद्ध जीवों तथा अच्युत भगवान् दोनों को प्रिय है।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव जिस असंतोष का अनुभव कर रहे थे, वह यहाँ पर उन्हीं के शब्दों में व्यक्त हुआ है। यह असन्तोष भगवान् की भक्ति में जीव की सामान्य दशा में अनुभव किया गया था। जब तक कोई सेवा की सामान्य दशा में स्थित नहीं होता, तब तक न तो भगवान् और न ही जीव पूरी तरह संतुष्ट हो सकते हैं। उन्हें इस दोष का अनुभव तब हुआ, जब उनके गुरु नारद मुनि उनके पास आये। इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है।

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।

कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहतम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; खिलम्—अपरा; आत्मानम्—आत्मा; मन्यमानस्य—मन के भीतर सोचते हुए;
खिद्यतः—पश्चात्ताप करते; कृष्णस्य—कृष्ण द्वैपायन व्यास का; नारदः अभ्यागात्—नारद का आगमन हुआ;
आश्रमम्—कुटिया में; प्राक्—पहले; उदाहृतम्—कहा गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जब व्यासदेव अपने दोषों के विषय में पश्चात्ताप कर रहे थे, उसी समय सरस्वती नदी के तट पर स्थित कृष्णद्वैपायन व्यास की कुटिया में नारद जी पधारे।

तात्पर्य : व्यासदेव जिस रिक्तता का अनुभव कर रहे थे, वह उनके ज्ञान के अभाव के कारण न थी। भागवत-धर्म विशुद्ध भगवद् भक्ति है, जहाँ तक अद्वैतवादी की पहुँच नहीं होती। अद्वैतवादी की गणना परमहंसों में नहीं की जाती, जो संन्यास आश्रम में सर्वोच्च होते हैं। श्रीमद्भागवत भगवान् की दिव्य लीलाओं की कथाओं से पूर्ण है। यद्यपि व्यासदेव शक्त्यावेश दिव्य पुरुष थे, तो भी वे असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनके किसी भी ग्रंथ में भगवान् की दिव्य लीलाओं का ठीक से वर्णन नहीं था। इसकी प्रेरणा श्रीकृष्ण ने सीधे व्यासदेव के हृदय में उत्पन्न की, अतएव उन्हें रिक्तता का अनुभव हुआ जैसाकि ऊपर कहा गया है। यहाँ यह निश्चित रूप से बताया गया है कि भगवान् की प्रेमाभक्ति के बिना सब कुछ शून्य है, लेकिन भगवान् की भक्तिमय सेवा में सकाम कर्म या शुष्क चिन्तन का अलग से प्रयास किए बिना ही सब कुछ सम्भव है।

तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः ।

पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तम् अभिज्ञाय—उन्के (नारद के) शुभ आगमन को देखकर; सहसा—एकाएक; प्रत्युत्थाय—उठकर; आगतम्—आये हुए; मुनिः—व्यासदेव ने; पूजयाम् आस—पूजा; विधि-वत्—विधि (ब्रह्मा) को प्रदान किये जाने वाले सम्मान के साथ; नारदम्—नारद को; सुर-पूजितम्—देवताओं द्वारा पूजित।

श्री नारद के शुभागमन पर श्री व्यासदेव सम्मानपूर्वक उठकर खड़े हो गये और उन्होंने सृष्टा ब्रह्मा जी के समान उनकी पूजा की।

तात्पर्य : विधि का अर्थ है प्रथम सृजित जीव ब्रह्मा। वे वेदों के मूल जिज्ञासु तथा आचार्य भी हैं। उन्होंने सर्वप्रथम श्रीकृष्ण से वेदों को सीखा और सबसे पहले नारद जी को पढ़ाया।

अतएव आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में नारद जी द्वितीय आचार्य हैं। वे ब्रह्मा के प्रतिनिधि हैं, अतएव उनका सम्मान समस्त विधियों (नियमों) के पिता ब्रह्मा के समान किया जाता है। इसी प्रकार शृङ्खला के अन्य क्रमागत शिष्यों का भी सम्मान आदि गुरु के प्रतिनिधियों के समान ही किया जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'श्री नारद का प्राकट्य' नामक चतुर्थ अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

नारद द्वारा व्यासदेव को श्रीमद्भागवत के विषय में आदेश

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।

देवर्षिः प्राह विप्रर्षि वीणापाणिः स्मयन्निव ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूतजी ने कहा; अथ—अतएव; तम्—उसको; सुखम् आसीनः—सुखपूर्वक बैठे हुए; उपासीनम्—पास बैठे हुए को; बृहत्-श्रवाः—अत्यन्त सम्मानित; देवर्षिः—देवताओं के परम ऋषि ने; प्राह—कहा; विप्रर्षिम्—ब्राह्मणों के ऋषि (ब्रह्मर्षि) से; वीणा-पाणिः—हाथ में वीणा लिए; स्मयन् इव—मानो हँसते हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह देवर्षि (नारद) सुखपूर्वक बैठ गये और मानो

मुस्कराते हुए ब्रह्मर्षि (व्यासदेव) को सम्बोधित किया।

तात्पर्य : नारद मुस्करा रहे थे, क्योंकि वे महर्षि वेदव्यास को तथा उनके असन्तोष के कारण को भलीभाँति जानते थे। जैसाकि व्यासदेव आगे बतायेंगे, उनका असन्तोष भक्तियोग को सही ढंग से प्रस्तुत न करने के कारण उत्पन्न था। नारद को यह त्रुटि ज्ञात थी और व्यास की दशा से इसकी पुष्टि हो गई।

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।

परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; पाराशर्य—हे पराशर-पुत्र; महा-भाग—परम भाग्यशाली; भवतः—आपका; कच्चित्—यदि यह है; आत्मना—आत्म-साक्षात्कार से; परितुष्यति—तुष्टि होती है; शारीरः—शरीर की पहचान; आत्मा—स्व; मानसः—मन की पहचान; एव—निश्चय ही; वा—तथा।

व्यासदेव को पराशर पुत्र, सम्बोधित करते हुए नारद ने पूछा : क्या तुम मन या शरीर को आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य मान कर सन्तुष्ट हो ?

तात्पर्य : नारद द्वारा व्यासदेव को उनके असंतोष के कारण का यह संकेत था। व्यासदेव को, अत्यन्त शक्तिसम्पन्न ऋषि, पराशर के वंशज होने के कारण, असामान्य पैतृक विशेषाधिकार प्राप्त था, जिससे उनके असंतुष्ट रहने का कोई कारण नहीं होना चाहिए था। महान पिता के महान पुत्र होने के कारण उन्हें चाहिए था कि आत्मा की पहचान शरीर या मन से न करते। अल्प बुद्धि वाले सामान्य जन शरीर को या मन को आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन व्यासदेव को ऐसा नहीं करना चाहिए था। स्वभावतः कोई तब तक प्रसन्न नहीं रह सकता, जब तक सचमुच वह आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त न हो, जो भौतिक शरीर तथा मन से परे है।

जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।

कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासितम्—पूर्ण रूप से पूछा गया; सुसम्पन्नम्—पटु, दक्ष; अपि—होने पर भी; ते—तुम्हारा; महत्-अद्भुतम्—महान तथा अद्भुत; कृतवान्—तैयार किया; भारतम्—महाभारत; यः त्वम्—जो तुमने किया है; सर्व-अर्थ—सम्पूर्ण फलों सहित; परिबृंहितम्—विस्तार से व्याख्या की गई।

तुम्हारी जिज्ञासाएँ पूर्ण हैं और तुम्हारा अध्ययन भी भलीभाँति पूरा हो चुका है। इसमें संदेह नहीं कि तुमने एक महान् एवं अद्भुत ग्रंथ महाभारत तैयार किया है, जो सभी प्रकार के वैदिक फलों (पुरुषार्थों) की विशद व्याख्या से युक्त है।

तात्पर्य : व्यासदेव के विषाद का कारण उनमें पर्याप्त ज्ञान का अभाव नहीं था, क्योंकि छात्र के रूप में उन्होंने वैदिक साहित्य का पूर्ण अवगाहन किया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने महाभारत का संकलन किया जो वेदों की पूर्ण व्याख्या से समन्वित है।

जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत्सनातनम् ।

तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासितम्—पूर्ण रूप से विचारा हुआ; अधीतम्—प्राप्त ज्ञान; च—तथा; ब्रह्म—परम, ब्रह्म; यत्—जो; तत्—उस; सनातनम्—शाश्वत को; तथापि—फिर भी; शोचसि—पश्चात्ताप करते हो; आत्मानम्—अपने आपको; अकृत-अर्थः—व्यर्थ; इव—सदृश; प्रभो—हे महाशय।

तुमने निराकार ब्रह्म विषयक एवं उससे प्राप्त होने वाले ज्ञान को भलीभाँति लिपिबद्ध किया है। तो इतना सब होते हुए, हे मेरे प्रभु, अपने को व्यर्थ समझ कर हताश होने की क्या बात है?

तात्पर्य : वेदान्त-सूत्र या ब्रह्म-सूत्र का संकलन श्री व्यासदेव ने किया है और उसमें निर्गुण ब्रह्म की पूर्ण चर्चा की गई है और यह विश्व की सर्वाधिक सम्मानित दार्शनिक व्याख्या मानी जाती है। इसमें विषय को समेटा गया है और इसकी प्रतिपादन-शैली पाण्डित्यपूर्ण है। अतएव व्यासदेव के दिव्य पाण्डित्य के विषय में सन्देह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तो फिर उन्हें इस प्रकार शोक क्यों करना चाहिए?

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं

तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।

तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं

पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

व्यासः—व्यास ने; उवाच—कहा; अस्ति—है; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; सर्वम्—समस्त; इदम्—यह; त्वया—आपके द्वारा; उक्तम्—कहा गया; तथापि—फिर भी; न—नहीं; आत्मा—आत्मा; परितुष्यते—संतुष्ट करता है; मे—मुझको; तत्—जिसका; मूलम्—जड़; अव्यक्तम्—अदृश्य; अगाध-बोधम्—अगाध ज्ञान वाला मनुष्य; पृच्छामहे—पूछता हूँ; त्वा—आपसे; आत्म-भव—स्वतः उत्पन्न; आत्म-भूतम्—सन्तान।

श्री व्यासदेव ने कहा : आपने मेरे विषय में जो कुछ कहा, वह सब सही है। इन सब के बावजूद मैं संतुष्ट नहीं हूँ। अतएव मैं आपसे अपने असंतोष के मूल कारण के विषय में पूछ रहा हूँ, क्योंकि आप स्वयंभू (बिना भौतिक माता पिता के उत्पन्न ब्रह्मा) की सन्तान होने के कारण अगाध ज्ञान से युक्त व्यक्ति हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति शरीर या मन की पहचान आत्मा के साथ करता है। इस तरह इस भौतिक जगत का सारा ज्ञान या तो शरीर से या मन से सम्बन्धित होता है और यही समस्त विषादों का मूल कारण है। इसका सदा ही पता नहीं चल पाता, भले ही कोई भौतिकतावादी ज्ञान का कितना ही बड़ा पंडित क्यों न हो। अतः ऐसे विषादों के मूल कारण के निराकरण के लिए नारद जैसे पुरुष के पास पहुँचना अच्छा रहता है। नारद के पास क्यों जाया जाय, इसकी व्याख्या आगे की गई है।

स वै भवान् वेद समस्तगुह्य-
मुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।
परावरेण मनसैव विश्वं
सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—इस तरह; वै—निश्चय ही; भवान्—आप; वेद—जानते हैं; समस्त—समग्र; गुह्यम्—गोपनीय; उपासितः—पूजित;
यत्—क्योंकि; पुरुषः—भगवान्; पुराणः—प्राचीनतम्, पुरातन; परावरेण—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् के
नियन्ता; मनसा—मन से; एव—केवल; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; सृजति—उत्पन्न करते हैं; अवति अत्ति—संहार करते हैं;
गुणैः—गुणात्मक पदार्थ से; असङ्गः—निलिप्त।

हे प्रभो, जो कुछ भी गोपनीय है वह आपको ज्ञात है, क्योंकि आप भौतिक जगत के सृष्टा तथा संहारक एवं आध्यात्मिक जगत के पालक आदि भगवान् की पूजा करते हैं जो भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत लगा रहता है, वह समस्त ज्ञान का प्रतीक होता है। ऐसा व्यक्ति जो भक्तिमय सेवा में तो पूर्ण रहता ही है, वह भगवान् के गुणों से भी पूर्ण हो जाता है। इस तरह अष्ट सिद्धियाँ उसके समक्ष नगण्य पड़ जाती हैं। नारद जैसे भक्त अपनी आध्यात्मिक सिद्धि से विलक्षण कार्य कर सकते हैं, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति प्रयास कर रहा है। श्रील नारद शत-प्रतिशत पूर्ण जीव हैं, यद्यपि वे भगवान् के समान नहीं हैं।

त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकी-

मन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ।

परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः

स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; पर्यटन्—विचरण करते हुए; अर्कः—सूर्य; इव—सदृश; त्रि-लोकीम्—तीनों लोकों में; अन्तः-चरः—प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करने वाले; वायुः इव—सर्वव्यापी वायु की भाँति; आत्म—स्वरूपसिद्ध; साक्षी—गवाह; परावरे—कार्य तथा कारण के मामले में; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; धर्मतः—अनुशासन सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत; व्रतैः—व्रत में; स्नातस्य—लीन रहने वाले; मे—मेरा; न्यूनम्—कमी, दोष; अलम्—स्पष्ट रूप से; विचक्ष्व—खोज निकालें।

आप सूर्य के समान तीनों लोकों में विचरण कर सकते हैं और वायु के समान प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए आप सर्वव्यापी परमात्मा के तुल्य हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि नियमों तथा व्रतों का पालन करते हुए दिव्यता में लीन रहने पर भी मुझमें जो कमी हो, उसे खोज निकालें।

तात्पर्य : दिव्य अनुभूति, पुण्यकर्म, देव-पूजा, दान, दया, अहिंसा तथा कड़े अनुशासनिक नियमों के साथ शास्त्रों का अध्ययन—ये सदैव मनुष्य के सहायक बनते हैं।

श्रीनारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।

येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; भवता—तुम्हारे द्वारा; अनुदित-प्रायम्—प्रायः अप्रशंसित; यशः—महिमा; भगवतः—भगवान् की; अमलम्—निष्कलंक, निर्मल; येन—जिससे; एव—निश्चय ही; असौ—वे (भगवान्); न—नहीं; तुष्येत—प्रसन्न होता; मन्ये—मैं सोचता हूँ; तत्—उस; दर्शनम्—दर्शन को; खिलम्—निम्न।

श्री नारद ने कहा : वास्तव में तुमने भगवान् की अलौकिक तथा निर्मल महिमा का प्रसार नहीं किया। जो दर्शन (शास्त्र) परमेश्वर की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट नहीं कर पाता, वह व्यर्थ समझा जाता है।

तात्पर्य : परमात्मा के साथ व्यक्तिगत जीव का वैधानिक सम्बन्ध उस शाश्वत स्वामी के नित्य दास होने का है। भगवान् ने जीवों के रूप में अपना विस्तार इसीलिए किया है कि उन्हें उनसे प्रेमपूर्ण सेवा प्राप्त हो सके और इसीसे भगवान् तथा जीव दोनों को सन्तोष प्राप्त हो सकता है।

वेदव्यास जैसे विद्वान ने वैदिक साहित्य में अनेक विस्तार किये, जिनका अन्त वेदान्त दर्शन में होता है, किन्तु इनमें से किसी में भी भगवान् की महिमा का प्रत्यक्ष गान नहीं हुआ था। शुष्क दार्शनिक चिन्तन ब्रह्म जैसे दिव्य विषय से सम्बन्धित होकर भी भगवान् की महिमा के प्रत्यक्ष गुण गान के बिना तनिक भी आकर्षक नहीं होता। दिव्य अनुभूति के लिए भगवान् अन्तिम शब्द हैं। निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में परम की अनुभूति उतना दिव्य आनन्द प्रदान करने वाली नहीं होती, जितनी कि उनकी महिमा की साक्षात् अनुभूति होती है।

वेदान्त दर्शन के संकलनकर्ता स्वयं व्यासदेव हैं। किन्तु इसके रचयिता होते हुए भी वे विचलित हैं। अतएव उस वेदान्त के पाठक तथा श्रोता उससे कौन-सा दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकेंगे, जिसकी प्रत्यक्ष व्याख्या व्यासदेव ने की ही नहीं? यहीं पर आवश्यकता प्रतीत हुई कि रचनाकार वेदान्त-सूत्र की व्याख्या श्रीमद्भागवत के रूप में करे।

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ।

न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; धर्म-आदयः—धार्मिक आचरण के चारों नियम; च—तथा; अर्थाः—प्रयोजन; मुनि-वर्य—मुनियों में श्रेष्ठ, तुम्हारे द्वारा; अनुकीर्तिताः—बारम्बार वर्णित; न—नहीं; तथा—उसी प्रकार; वासुदेवस्य—भगवान् श्रीकृष्ण का; महिमा—यश; हि—निश्चय ही; अनुवर्णितः—इस प्रकार से निरन्तर वर्णित।

हे महामुनि, यद्यपि आपने धार्मिक कृत्य इत्यादि चार पुरुषार्थों का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु आपने भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया है।

तात्पर्य : श्री नारद द्वारा किया गया निदान तुरन्त घोषित कर दिया जाता है। व्यासदेव के विषाद का मूल कारण उनके द्वारा पुराणों के विविध संस्करणों में जान बूझकर भगवान् की महिमा के वर्णन की उपेक्षा करना थी। यद्यपि उन्होंने सामान्य ढंग से भगवान् (श्रीकृष्ण) की महिमा का वर्णन किया है, किन्तु उतना नहीं जितना कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का वर्णन किया है। ये चारों पुरुषार्थ भगवान् की भक्ति की तुलना में अत्यन्त निकृष्ट हैं। प्रामाणिक विद्वान होने के कारण, श्री व्यासदेव इस अन्तर को भलीभाँति जानते थे। फिर भी इस उत्तम कार्य अर्थात् भक्तिमय सेवा

को अधिक महत्त्व प्रदान न करके उन्होंने अपने बहुमूल्य समय का लगभग दुरुपयोग किया था, जिसके कारण वे विषादग्रस्त थे। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भगवान् की भक्ति में लगे बिना कोई भी अधिक प्रसन्न नहीं रह सकता। *भगवद्गीता* में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

धर्म आदि पुरुषार्थों की शृंखला में मुक्ति अन्तिम पुरुषार्थ है, जिसके बाद मनुष्य शुद्ध भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होता है। यह आत्म-साक्षात्कार या *ब्रह्मभूत* अवस्था कहलाती है। इस *ब्रह्मभूत* अवस्था को प्राप्त करने के बाद मनुष्य सन्तुष्ट हो जाता है। किन्तु यह तुष्टि दिव्य आनन्द की शुरुआत है। मनुष्य को इस सापेक्ष संसार में निरपेक्षता तथा समता प्राप्त करके प्रगति करनी चाहिए। इस समदर्शी अवस्था को पार करके वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थिर हो जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् का यही उपदेश है। निष्कर्ष यह है कि *ब्रह्मभूत* अवस्था बनाये रखने तथा दिव्य अनुभूति की मात्रा को बढ़ाने के लिए नारद ने व्यासदेव को प्रोत्साहित किया कि वे भक्तिमार्ग का उत्सुकतापूर्वक बारम्बार वर्णन करें। इससे उनका सारा विषाद मिट जाएगा।

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षयाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—वह; वचः—वाणी; चित्र-पदम्—अलंकारिक; हरेः—भगवान् का; यशः—महिमा; जगत्—ब्रह्माण्ड; पवित्रम्—पवित्र; प्रगृणीत—वर्णित; कर्हिचित्—मुश्किल से; तत्—उस; वायसम्—कौवे को; तीर्थम्—तीर्थ-स्थान; अशन्ति—सोचते हैं; मानसाः—साधु पुरुष; न—नहीं; यत्र—जहाँ; हंसाः—परमहंस पुरुष; निरमन्ति—आनन्द लेते हैं; अशिक्ष-क्षयाः—दिव्य धाम के वासी।

जो वाणी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के वायुमण्डल को परिशुद्ध करने वाले भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं करती, उसे साधु पुरुष कौवों के स्थान के समान मानते हैं। चूँकि परमहंस पुरुष दिव्य लोक के वासी होते हैं, अतः उन्हें ऐसे स्थान में कोई आनन्द नहीं मिलता।

तात्पर्य : कौवे तथा हंस अपनी भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के कारण एक-से नहीं होते। सकाम-कर्मियों या रजोगुणी व्यक्तियों की तुलना कौवों से की गई है और परमहंस साधु पुरुषों

की तुलना हंसों से की गई है। कौवों को कूड़ा-करकट फेंका जाने वाला स्थान प्रिय लगता है, जिस प्रकार कि कामी सकाम कर्मियों को सुरा, सुन्दरी तथा स्थूल इन्द्रियतृप्ति के स्थान प्रिय लगते हैं। हंसों को वे स्थान प्रिय नहीं लगते, जहाँ कौवे काँव काँव करने और मिल-मिलाप करने के लिए एकत्र होते हैं। वे इसके बजाय प्राकृतिक छटा वाले स्थानों में देखे जाते हैं, जहाँ निर्मल जल का आगार होता है और जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य के नाना रंग के कमलों के नाल सुशोभित रहते हैं। इन दो प्रकार के पक्षियों में यही अन्तर है।

प्रकृति ने विभिन्न योनियों के जीवों को भिन्न-भिन्न मानसिकताएँ दी हैं, अतएव उन्हें एक ही श्रेणी में लाना संभव नहीं है।

इसी प्रकार से विभिन्न मानसिकता वाले व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का साहित्य होता है। अधिकांशतया बाजारू-साहित्य कौवों-सरीखे व्यक्तियों को आकृष्ट करने वाला होता है, जिसमें कामुक विषयों का कूड़ा-करकट भरा रहता है। ऐसे विषय सामान्य रूप से स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से सम्बद्ध होने से संसारी वार्ताएँ कहे जाते हैं। ये संसारी उपमाओं तथा रूपकों वाली अलंकारमयी भाषा में लिखे होते हैं। ऐसा होने पर इनमें भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं रहता। ऐसा पद्य या गद्य, चाहे वह जिस विषय पर भी हो, शव को अलंकृत करने जैसा है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत मनुष्य, जो हंसों के समान हैं, ऐसे मृत साहित्य में रुचि नहीं रखते, क्योंकि यह तो आध्यात्मिक दृष्टि से मृत पुरुषों के लिए ही आनन्द का स्रोत होता है। ऐसा रजो तथा तमो गुणी साहित्य विभिन्न शीर्षकों से वितरित किया जाता है, किन्तु इससे मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हो पाती। अतएव हंस सदृश आध्यात्मिक पुरुषों को ऐसे साहित्य से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे उन्नत पुरुषों को *मानस* भी कहा जाता, क्योंकि वे आध्यात्मिक धरातल पर भगवान् की दिव्य स्वैच्छिक सेवा के आदर्श (मानदण्ड) को बनाये रखते हैं। यह चेतना स्थूल शारीरिक इन्द्रिय-तुष्टि के कार्यों या अहंकारी भौतिक मन के सूक्ष्म चिन्तन के लिए सकाम कर्म करने से रोक देती है।

सामाजिक साहित्यिक जन, विज्ञानी, संसारी कवि, मीमांसक तथा राजनीतिज्ञ जो इन्द्रिय-सुख की भौतिक प्रगति में पूर्ण रूप से लीन रहते हैं, सभी माया के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। उन्हें उन्हीं स्थानों में आनन्द मिलता है, जहाँ तिरस्कृत विषय फेंके जाते हैं। श्रीधर स्वामी के अनुसार यह वेश्यागामियों का आनन्द है।

लेकिन जो साहित्य भगवान् की महिमा का वर्णन करता है, उसका आनन्द वे परमहंस उठाते हैं, जिन्होंने मानव कार्यों के सारतत्व को प्राप्त कर लिया है।

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; वाक्—वाणी; विसर्गः—सृष्टि; जनता—जनसामान्य; अघ—पाप; विप्लवः—क्रान्तिकारी; यस्मिन्—जिसमें; प्रति-श्लोकम्—प्रत्येक श्लोक; अबद्धवति—अनियमित रूप से रचा गया; अपि—होते हुए भी; नामानि—दिव्य नाम आदि.; अनन्तस्य—असीम भगवान् के; यशः—महिमा; अङ्कितानि—चित्रित; यत्—जो; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—गाते हैं; गृणन्ति—स्वीकार करते हैं; साधवः—शुद्ध मनुष्य जो निष्ठावान हैं।

दूसरी ओर, जो साहित्य असीम परमेश्वर के नाम, यश, रूपों तथा लीलाओं की दिव्य महिमा के वर्णन से पूर्ण है, वह कुछ भिन्न ही रचना है जो इस जगत की गुमराह सभ्यता के अपवित्र जीवन में क्रान्ति लाने वाले दिव्य शब्दों से ओतप्रोत है। ऐसा दिव्य साहित्य, चाहे वह ठीक से न भी रचा हुआ हो, ऐसे पवित्र मनुष्यों द्वारा सुना, गाया तथा स्वीकार किया जाता है, जो नितान्त निष्कपट होते हैं।

तात्पर्य : महान चिन्तकों की विशेषता है कि वे बुरे से बुरे में से भी श्रेष्ठतम को खोज निकालते हैं। कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि विष के कुण्ड से भी अमृत ग्रहण कर ले, गंदगी में भी पड़े सोने को स्वीकार करे, अज्ञात कुल की भी उत्तम तथा सुयोग्य पत्नी ग्रहण कर ले और अछूत से या अछूत कुल से सम्बद्ध शिक्षक से भी सदुपदेश प्राप्त करे। ये कुछ नैतिक शिक्षाएँ हैं जो सभी स्थानों पर, बिना किसी अपवाद के, हर एक पर लागू होती हैं। लेकिन

एक सन्त सामान्य व्यक्ति से काफी उच्च स्तर पर होता है। वह निरन्तर परमेश्वर के महिमा-गान में व्यस्त रहता है, क्योंकि परमेश्वर के पवित्र नाम तथा यश का प्रसार करने से जगत का दूषित वातावरण बदल सकता है और *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य साहित्य के प्रसार से लोग अपने व्यवहारों में समझदार हो सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए हमारे समक्ष संकट उत्पन्न हो गया है। हमारे पड़ोसी मित्र चीन ने भारत की सीमा पर सैनिक-आक्रमण कर दिया है। यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र से हमें कोई भी सरोकार नहीं है, लेकिन हम देखते हैं कि इसके पूर्व भी भारत तथा चीन थे और दोनों ही देश बिना किसी दुर्भावना के सदियों से शान्तिपूर्वक रहते रहे थे। इसका कारण यह है कि उन दिनों ईश्वर-चेतना का वातावरण था और इस महिमंडल का प्रत्येक देश ईश्वर से डरता था, शुद्ध हृदय वाला तथा सरल था और राजनीतिक कूटनीति का कोई प्रश्न ही न था। चीन तथा भारत ये दोनों देशों के बीच उस भूमि को लेकर झगड़ा करने का कोई कारण नहीं है, जो बसने के लिए उपयुक्त नहीं है, और निश्चय ही इस मामले पर युद्ध करने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। किन्तु जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कलह के युग कलि के कारण थोड़ी सी उत्तेजना से भी झगड़ा हो सकता है। यह किसी अन्य कारण से नहीं, अपितु इस युग के प्रदूषित वातावरण के कारण है—एक वर्ग के लोग *परमेश्वर के नाम तथा यशोगान को रोकने के लिए* नियमबद्ध प्रचार कर रहे हैं। अतएव विश्व भर में *श्रीमद्भागवत* के सन्देश को प्रसारित करने की परम आवश्यकता है। प्रत्येक जिम्मेदार भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह *श्रीमद्भागवत* के दिव्य संदेश को सर्वोपरि कल्याण तथा वांछित शान्ति लाने के लिए विश्व भर में प्रसारित करे। चूँकि भारत ने अपने इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा की है, अतएव सारे विश्वभर में इतना संघर्ष हो रहा है तथा संकट छाया है। हमारा विश्वास है कि यदि *श्रीमद्भागवत* का दिव्य संदेश विश्व के अग्रणी लोगों तक ही पहुँच सके, तो निश्चित रूप से हृदय-परिवर्तन होगा और लोग सामान्य रूप से इस संदेश का पालन करेंगे। जनता आधुनिक राजनीतिकोरों तथा नेताओं के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। यदि इन नेताओं के ही हृदय परिवर्तित हो सकें, तो विश्व के वातावरण में आमूल परिवर्तन हो सकेगा। हमें

पता है कि जनसामान्य में ईश्वर-चेतना को जगाने तथा विश्व वातावरण का पुनः अध्यात्मीकरण करने के लिए दिव्य संदेशों वाले इस महान ग्रंथ को प्रस्तुत करने का हमारा सद्प्रयास अनेक कठिनाइयों से भरा है। इस विषय को यथेष्ट भाषा में विशेष रूप से विदेशी भाषा में, प्रस्तुत करना निश्चित रूप से विफल प्रयास होगा और चाहे हम जितना भी प्रयास करें इसमें अनेक साहित्यिक त्रुटियाँ रह जाएँगी। लेकिन हमारा विश्वास है कि इस सम्बन्ध में चाहे कितनी भी त्रुटियाँ रह जाएँ, विषय की गम्भीरता पर विचार किया जायेगा और समाज के नेता सर्वशक्तिमान भगवान् के महिमा गान करने के इस ईमानदार प्रयास के कारण इसको स्वीकार करेंगे। जब किसी घर में आग लग जाती है, तो उस घर के रहने वाले अपने पड़ोसियों से, चाहे वे विदेशी हों, सहायता प्राप्त करने के लिए दौड़ जाते हैं और वे बेचारे उनकी भाषा न जानते हुए भी अपने भाव व्यक्त करते हैं और पड़ोसी उनकी आवश्यकता समझ लेते हैं, भले ही वे भाव उनकी भाषा में व्यक्त न हुए हों। *श्रीमद्भागवत* के इस दिव्य संदेश को विश्व के प्रदूषित वायुमण्डल में प्रसारित करने के लिए वैसी ही सहयोग-भावना की आवश्यकता है। आखिर, यह आध्यात्मिक मूल्यों से युक्त तकनीकी विज्ञान है, अतएव हमें तकनीक के विषय में चिन्तित होना है, भाषा के विषय में नहीं। यदि इस महान साहित्य की तकनीकों को विश्व के लोग समझ लें, तो उन्हें सफलता मिल सकती है।

जब विश्व भर की जनता में अनेकानेक भौतिकतावादी कार्य-कलाप चलते रहते हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि कोई व्यक्ति या राष्ट्र तनिक सी उत्तेजना पर किसी दुसरे व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण कर दे। इस कलि या कलह युग का यही नियम है। वातावरण पहले से सभी तरह के भ्रष्टाचार से प्रदूषित है और प्रत्येक व्यक्ति इससे भलीभाँति अवगत है। इन्द्रिय-तृप्ति के भौतिकतावादी विचारों से पूर्ण न जाने कितना अवांछित साहित्य भरा पड़ा है। अनेक देशों में अश्लील साहित्य की जाँच करने तथा उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार द्वारा अनेक समितियाँ नियुक्त की जाती हैं। इसका अर्थ यही है कि न तो सरकार, न ही जिम्मेदार जन-नेता ऐसा साहित्य चाहते हैं, तो भी यह बाजारों में मिलता है, क्योंकि लोग इन्द्रिय-तृप्ति के लिए इसे चाहते हैं। सामान्य रूप से लोग कुछ पढ़ना चाहते हैं (यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है), लेकिन चूँकि

उनके मस्तिष्क दूषित हैं, अतएव वे ऐसा साहित्य पसन्द करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में *श्रीमद्भागवत* जैसे दिव्य साहित्य से न केवल सामान्य जनों के भ्रष्ट मन के कार्यकलाप घटेंगे, अपितु यह उनकी उस चाह को शमित करेगा जिसके लिए वे रोचक साहित्य पढ़ना चाहते हैं। प्रारम्भ में, वे इसे पसन्द न भी करें, क्योंकि जिसे पीलिया हो जाता है वह मिश्री नहीं खाना चाहता, लेकिन हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि मिश्री ही पीलिया का एक मात्र उपचार है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के पठन को लोकप्रिय बनाने का विधिवत् प्रचार कार्य होना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियतृप्ति रूपी पीलिया के लिए मिश्री का काम करेगा। जब लोग इस साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न कर लेंगे, तो वह अन्य साहित्य, जो समाज में विष फैला रहा है, स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

अतः हमारा विश्वास है कि मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* का स्वागत करेगा, भले ही उसके प्रस्तुत रूप में अनेक त्रुटियाँ क्यों न हों, क्योंकि इसकी संस्तुति श्री नारद ने की है, जो कृपा करके इस अध्याय में प्रकट हुए हैं।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

नैष्कर्म्यम्—आत्म-साक्षात्कार (सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर); अपि—के बावजूद; अच्युत—अमोघ भगवान्; भाव—विचार; वर्जितम्—विहीन, से रहित; न—नहीं; शोभते—अच्छा लगता है; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अलम्—धीरे धीरे; निरञ्जनम्—उपाधियों से रहित; कुतः—कहाँ है; पुनः—फिर; शश्वत्—निरन्तर; अभद्रम्—अहितकर, अशुभ; ईश्वरे—ईश्वर के प्रति; न—नहीं; च—तथा; अर्पितम्—अर्पित किया हुआ; कर्म—कर्म; यत् अपि—जो है; अकारणम्—निष्काम।

आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होने पर भी शोभा नहीं देता यदि वह अच्युत (ईश्वर) के भाव से शून्य हो। तो फिर उन सकाम कर्मों से क्या लाभ है, यदि वे भगवान् की भक्ति के लिए काम न आ सकें और जो स्वभावतः प्रारम्भ से ही दुःखप्रद तथा क्षणिक होते हैं?

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, न केवल भगवान् की दिव्य महिमा से विहीन सामान्य साहित्य भर्त्सना के योग्य है, अपितु भक्तिमय सेवा से विहीन निराकार ब्रह्म विषयक वैदिक साहित्य तथा चिन्तन भी भर्त्सना के योग्य है। यदि उपर्युक्त आधार पर निराकार ब्रह्म के चिन्तन की भर्त्सना की जा सकती है, तो उस सामान्य सकाम कर्म के विषय में क्या कहा जाय, जो भक्ति के उद्देश्य की पूर्ति करने वाला है ही नहीं? ऐसे तार्किक ज्ञान तथा सकाम कर्म से किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। सकाम कर्म, जिसमें लगभग सारे लोग लगे रहते हैं, या तो प्रारम्भ में ही या फिर अन्त में सदैव कष्टकारक होता है। यह तभी लाभप्रद हो सकता है, जब इसे भगवद्भक्ति के अधीन किया जाए। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे सकाम कर्म के फल को भगवान् की सेवा में अर्पित कर देना चाहिए, अन्यथा वह भौतिक बन्धन का कारण होता है। सकाम कर्म के प्रामाणिक भोक्ता भगवान् हैं और जब इसे जीव की इन्द्रियतृप्ति में लगाया जाता है, तो यह घोर कष्ट का कारण बन जाता है।

अथो महाभाग भवानमोघदृक्
शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अथो—अतः; महा-भाग—परम भाग्यशाली; भवान्—आप; अमोघ-दृक्—सिद्ध दृष्टा; शुचि—पवित्र, निर्मल; श्रवाः—प्रसिद्ध; सत्य-रतः—सत्य व्रत को पालने वाला; धृत-व्रतः—आध्यात्मिक गुणों में स्थित; उरुक्रमस्य—अलौकिक कार्य करनेवाले (ईश्वर) का; अखिल—सम्पूर्ण जगत का; बन्ध—बन्धन; मुक्तये—मुक्ति के लिए; समाधिना—समाधि के द्वारा; अनुस्मर—बारम्बार सोच कर वर्णन करो; तत्-विचेष्टितम्—भगवान् की विविध लीलाओं को।

हे व्यासदेव, तुम्हारी दृष्टि सभी तरह से पूर्ण है। तुम्हारी उत्तम ख्याति निष्कलुष है। तुम अपने व्रत में दृढ़ हो और सत्य में स्थित हो। अतएव तुम समस्त लोगों को भौतिक बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए भगवान् की लीलाओं के विषय में समाधि के द्वारा चिन्तन कर सकते हो।

तात्पर्य : जनसामान्य की स्वभाव से ही साहित्य के प्रति रुचि होती है। वे अज्ञात के विषय के बारे में किसी अधिकारी से सुनना तथा पढ़ना चाहते हैं, लेकिन उनकी रुचि ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण साहित्य से बिगड़ जाती है, जो इन्द्रियों की तृप्ति कराने वाले विषयों से भरा होता है। ऐसे साहित्य में अनेक प्रकार की लौकिक कविताएँ तथा दार्शनिक कल्पनाएँ दी रहती हैं, जो न्यूनाधिक रूप से माया से प्रभावित रहती हैं और जिनका समापन इन्द्रिय-तृप्ति में होता है। ऐसा साहित्य, यद्यपि सही अर्थ में व्यर्थ होता है, लेकिन अल्पज्ञ लोगों के ध्यान को आकृष्ट करने के लिए खूब सजाया हुआ रहता है। इस प्रकार आसक्त जीव भवबन्धन में अधिकाधिक फँसते जाते हैं और हजारों पीढ़ियों तक उनके मोक्ष की कोई आशा नहीं रहती। वैष्णवों में श्रेष्ठतम श्री नारद ऋषि ऐसे व्यर्थ साहित्य के अभागे शिकारों के प्रति करुणा से अभिभूत होकर, श्री व्यासदेव को ऐसा दिव्य साहित्य रचने के लिए उपदेश देते हैं, जो न केवल आकर्षक हो अपितु सभी प्रकार के बन्धनों से मोक्ष प्रदान कराने वाला भी हो। श्रील व्यासदेव या उनके प्रतिनिधि सुपात्र हैं, क्योंकि वे वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में भलीभाँति प्रशिक्षित हैं। श्रील व्यासदेव तथा उनके प्रतिनिधि अपने आध्यात्मिक प्रकाश के कारण शुद्ध विचार वाले हैं, अपनी भक्ति के कारण दृढ़व्रती हैं और भौतिक कार्यकलापों में सड़ रही पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध हैं। पतितात्माएँ नित्यप्रति नूतन समाचार प्राप्त करने की इच्छुक रहती हैं और व्यासदेव या नारद जैसे अध्यात्मवादी ही उन्हें आध्यात्मिक जगत के असीमित समाचार प्रदान कर सकते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यह भौतिक जगत अखिल सृष्टि का एक मात्र खंड है और यह पृथ्वी सम्पूर्ण भौतिक जगत का एक मात्र अंश है।

सारे विश्व में सहस्रों ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने हजारों-लाखों वर्षों से जनता की सूचना के लिए हजारों साहित्यिक कृतियाँ तैयार की हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश इनमें से किसी के द्वारा भी पृथ्वी पर शान्ति तथा अमनचैन नहीं लाया जा सका। इसका कारण है इन कृतियों की आध्यात्मिक शून्यता। अतएव वैदिक साहित्य, विशेष रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति की जाती है, जिससे भौतिक सभ्यता के उस चंगुल से अभीष्ट छुटकारा प्राप्त हो सके, जिससे मानव

शक्ति का प्रमुख अंश क्षीण होती जा रहा है। *भगवद्गीता* स्वयं भगवान् द्वारा कहा गया संदेश है, जिसका अंकन व्यासदेव द्वारा हुआ और *श्रीमद्भागवत* उन्हीं भगवान् कृष्ण की लीलाओं का दिव्य आख्यान है। शाश्वत शान्ति तथा कष्टों से मुक्ति की जीव की लालसाओं को तुष्ट करने में यह ग्रंथ सर्व समर्थ है। अतएव *श्रीमद्भागवत* पूरे ब्रह्माण्ड के जीवों को समस्त प्रकार के भौतिक बन्धनों से पूर्ण छुटकारा दिलाने के लिए है। भगवान् की लीलाओं का ऐसा दिव्य आख्यान व्यासदेव तथा उनके प्रामाणिक प्रतिनिधियों जैसे मुक्त जीवों द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है, जो निरन्तर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लीन रहते हैं। केवल ऐसे ही भक्तों को भगवान् की लीलाएँ तथा उनकी दिव्य प्रकृति भक्ति के कारण स्वतः प्रकट हो पाती है। दूसरा कोई, चाहे अनेक वर्षों तक चिन्तन क्यों न करे, न तो भगवान् के कार्यों को जान सकता है, न उनका वर्णन कर सकता है। *भागवत्* के वर्णन इतने सूक्ष्म तथा सही होते हैं कि इस महान साहित्य में पाँच हजार वर्ष पूर्व जो भी भविष्यवाणी की गई थी, वह अब सही उतर रही है। अतएव लेखक की दृष्टि भूत, वर्तमान तथा भविष्य को पहचानती है। व्यासदेव जैसे मुक्त व्यक्ति न केवल दृष्टि-शक्ति तथा पाण्डित्य के मामले में पूर्ण हैं, अपितु श्रवण, चिन्तन, अनुभव तथा अन्य सभी ऐन्द्रिय कार्यों में भी सिद्ध होते हैं। मुक्त जीव की इन्द्रियाँ पूर्ण होती हैं और ऐसी पूर्ण इन्द्रियों से ही इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश या भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा की जा सकती है। अतः *श्रीमद्भागवत* वेदों के संकलनकर्ता, परम सिद्ध व्यक्ति श्रील वेदव्यास द्वारा किया गया पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परिपूर्ण वर्णन है।

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः

पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।

न कर्हिचित्क्रापि च दुःस्थिता मति-

र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

ततः—उससे; अन्यथा—पृथक्; किञ्चन—कुछ; यत्—जो भी; विवक्षतः—वर्णन करने के लिए इच्छुक; पृथक्—अलग से; दृशः—दृष्टि; तत्-कृत—उसकी प्रतिक्रिया; रूप—रूप; नामभिः—नामों से; न कर्हिचित्—कभी नहीं; क्रापि—कोई; च—तथा; दुःस्थिता मतिः—दोलायमान मन; लभेत—प्राप्त करता है; वात-आहत—वायु से प्रताड़ित; नौः—नाव; इव—सदृश; आस्पदम्—स्थान।

तुम भगवान् के अतिरिक्त विभिन्न रूपों, नामों तथा परिणामों के रूप में जो कुछ भी वर्णन करना चाहते हो, वह प्रतिक्रिया द्वारा मन को उसी प्रकार आंदोलित करने वाला है, जिस प्रकार आश्रय विहीन नाव को चक्रवात आंदोलित करता है।

तात्पर्य : श्री व्यासदेव वैदिक साहित्य के समस्त वर्णनों के सम्पादनकर्ता हैं, अतएव उन्होंने अनेक प्रकारों से दिव्य अनुभूति का वर्णन किया है—यथा सकाम कर्म, मीमांसा, योगशक्ति तथा भक्तिमय सेवा। इसके अतिरिक्त, उन्होंने विविध पुराणों में अनेक देवताओं की विभिन्न रूपों तथा नामों से पूजा किये जाने की संस्तुति भी की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जन-सामान्य भ्रांत हैं कि वे भगवान् की सेवा में अपना मन किस तरह स्थिर करें; वे आत्म-साक्षात्कार के सही मार्ग को ढूँढने के लिए सदा भ्रांत रहते हैं। श्रील नारददेव वेदव्यास द्वारा संकलित किए गए वैदिक साहित्य की इसी त्रुटि विशेष पर बल दे रहे हैं और इस तरह वे प्रत्येक वस्तु को केवल परमेश्वर से सम्बन्धित करते हुए वर्णन करने के लिए कह रहे हैं। वस्तुतः भगवान् के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। भगवान् विभिन्न विस्तारों (अंशों) के रूप में प्रकट होते हैं। वे पूर्ण वृक्ष के मूल हैं। वे सम्पूर्ण शरीर के मानो उदर हैं। मूल में जल डालना ही वृक्ष को सींचने की सही विधि है। ठीक इसी तरह, पूरे शरीर को शक्ति प्रदान करने के लिए उदर को भोजन प्रदान करना है। इसीलिए श्रील व्यासदेव को चाहिए था कि *भागवत पुराण* के अतिरिक्त अन्य किसी पुराण का संकलन न करते, क्योंकि उसमें रंचमात्र विचलन से आत्म-साक्षात्कार में बड़ा उपद्रव हो सकता है। यदि रंचमात्र विचलन से ऐसा उपद्रव हो सकता है, तो परम सत्य भगवान् से पृथक् विचारों के जानबूझकर किये गए विस्तार के विषय में क्या कहा जाए? देवताओं की पूजा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सर्वेश्वरवाद (बहुदेवतावाद) का जन्म होता है, जिसकी परिणति अनेक धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति में होती है, जो *भागवत* के उन सिद्धान्तों की उन्नति के लिए घातक है, जो दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् के नित्य सम्बन्ध में आत्म-साक्षात्कार के लिए सही दिशा का निर्देश करने वाले हैं। इस प्रसंग में चक्रवात से विचलित नाव का उदाहरण

उपयुक्त है। बहुदेवतावादी का विचलित मन उद्देश्य के स्थिर न होने के कारण कभी भी आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाता।

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः

स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।

यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो

न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

जुगुप्सितम्—अत्यन्त घृणित; धर्म-कृते—धर्म हेतु; अनुशासतः—आदेश के अनुसार; स्वभाव-रक्तस्य—स्वभाव से अनुरक्त; महान्—महान्; व्यतिक्रमः—अनुचित; यद्-वाक्यतः—जिसके उपदेश से; धर्मः—धर्म; इति—इस प्रकार है; इतरः—जन-सामान्य; स्थितः—स्थिर; न—नहीं; मन्यते—सोचते हैं; तस्य—उसका; निवारणम्—निषेध; जनः—वे लोग।

सामान्य लोगों में भोग करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और तुमने धर्म के नाम पर उन्हें वैसा करते रहने के लिए प्रोत्साहित किया है। यह अत्यन्त घृणित तथा अत्यन्त अनुचित है। चूँकि वे लोग तुम्हारे उपदेशों के अनुसार मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं, अतः वे ऐसे कार्यों को धर्म के नाम पर ग्रहण करेंगे और निषेधों की भी परवाह नहीं करेंगे।

तात्पर्य : श्रील नारद ने यहाँ पर महाभारत तथा अन्य साहित्य में उद्धृत सकाम कर्मों के नियमित अनुष्ठानों के आधार पर, श्रील वेदव्यास द्वारा संकलित विभिन्न वैदिक ग्रंथों की भर्त्सना की है। मानव (प्राणियों) में जन्म-जन्मान्तर से दीर्घकालीन भौतिक संगति के कारण, भौतिक शक्ति पर प्रभुता प्राप्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उन्हें मानव जीवन के उत्तरदायित्व का कोई बोध नहीं हो पाता। यह मानव जीवन मोहमय पदार्थ के चंगुल से छूटने का अवसर होता है। वेद भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त हैं। ८४,००,००० योनियों के आवागमन-चक्र में घूमते रहना दण्डित बद्धजीवों के लिए बन्दी जीवन के समान है। मनुष्य योनि इस बन्दी जीवन से बाहर निकलने का सुअवसर होता है, अतएव मनुष्य का एक-मात्र कर्तव्य यह है कि वह भगवान् के साथ अपने भूले हुए सम्बन्ध को पुनः स्थापित करे। ऐसी परिस्थितियों में, धार्मिक कृत्यों की आड़ में इन्द्रिय भोग की योजना बनाने को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। मानवशक्ति के ऐसे

विक्षेप से पथभ्रष्ट सभ्यता का जन्म होता है। श्रील व्यासदेव *महाभारत* इत्यादि में वैदिक व्याख्या के प्रमाण स्वरूप हैं, अतः उनके द्वारा किसी भी रूप में इन्द्रिय भोग को प्रोत्साहन देना आध्यात्मिक विकास में भारी अवरोध है, क्योंकि लोग उन भौतिक कार्यों को त्यागना नहीं चाहेंगे, जो उन्हें भव-बन्धन में जकड़े हुए हैं। मानव सभ्यता की किसी विशेष अवस्था में जब धर्म के नाम पर ऐसे भौतिक कार्यों का (यथा यज्ञ के नाम पर पशु-बलि का) बोलबाला हुआ, तो स्वयं भगवान् बुद्ध के रूप में अवतरित हुए और धर्म के नाम पर पशु-वध बन्द करने के उद्देश्य से वेद-प्रमाण की निन्दा की। नारद को इसका पूर्वाभास हो गया था, अतएव उन्होंने ऐसे साहित्य की निन्दा की। आज भी मांस-भक्षी लोग धर्म के नाम पर किसी देवता या देवी के समक्ष पशु-बलि चढ़ाते हैं, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं वैदिक ग्रंथों में ऐसे नियमित यज्ञों की संस्तुति की जाती है। उन्हें मांसाहार से विरत होने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की संस्तुति की जाती है, लेकिन धीरे-धीरे ऐसे धार्मिक कृत्यों के उद्देश्य भुला दिये जाते हैं और कसाई घर प्रधान बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे मूर्ख भौतिकतावादी व्यक्ति उन लोगों की बातें नहीं सुनना चाहते, जो वैदिक अनुष्ठानों की व्याख्या करने में समर्थ हैं।

वेदों में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन की सफलता न तो किसी बृहद् ग्रंथ के लिखने, न धन संचय करने और न ही सन्तति बढ़ाने में है। इसे अनासक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। लेकिन भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसे आदेशों को अनसुना करते हैं। उनके अनुसार तथाकथित संन्यास आश्रम उन व्यक्तियों के लिए है, जो किसी शारीरिक दोष के कारण जीविका कमाने में अक्षम हैं या उन व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें पारिवारिक सम्पन्नता नहीं मिल पाई।

निस्सन्देह, *महाभारत* जैसे इतिहास-ग्रंथों में आध्यात्मिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों की भी चर्चा है। *महाभारत* में ही *भगवद्गीता* सन्निविष्ट है। *महाभारत* की सम्पूर्ण विचारधारा की अन्तिम परिणति *भगवद्गीता* के इस चरम उपदेश के रूप में होती है कि मनुष्य को चाहिए कि सारी व्यस्तताएँ त्याग कर, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की शरण में जाकर, अपने को पूरी तरह लगा दे। लेकिन भौतिकतावादी प्रवृत्तियों वाले लोग राजनीतिक, अर्थशास्त्र

तथा परोपकारी कार्यों में अधिक रुचि रखते हैं, जिनका उल्लेख *महाभारत* में है और मुख्य विषय अर्थात् *भगवद्गीता* के प्रति कम रुचि दिखाते हैं। श्री नारद व्यासदेव की इस समझौतावादी प्रवृत्ति की प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं और यह उपदेश देते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से यह घोषित करें कि मनुष्य जीवन की मूलभूत आवश्यकता भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को अनुभव करना तथा अविलम्ब भगवान् की शरण में जाना है।

किसी विशेष रोग से पीड़ित मरीज प्रायः उसके लिए वर्जित की गई वस्तुओं को खाने को ललचाता है। लेकिन दक्ष चिकित्सक कभी भी मरीज से समझौता करके उसे कुपथ्य खाने की अनुमति नहीं देता। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि सकाम कर्म में अनुरक्त व्यक्ति को उसकी वृत्ति से पराङ्मुख नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे धीरे-धीरे आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठया जा सकता है। कभी-कभी यह उन लोगों पर लागू होता है, जो बिना किसी आध्यात्मिक अनुभूति के कोरे मीमांसक बने रहते हैं। लेकिन जो भक्ति के पथ पर लगे हैं, उन्हें ऐसे उपदेश की हमेशा आवश्यकता नहीं रहती।

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभो-
रनन्तपारस्य निवृत्तिः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मन-
स्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विचक्षणः—अत्यन्त पटु; अस्य—उसका; अर्हति—के योग्य है; वेदितुम्—जानने के लिए; विभोः—भगवान् का; अनन्त-पारस्य—असीम का; निवृत्तिः—से निवृत्त; सुखम्—भौतिक सुख; प्रवर्तमानस्य—अनुरक्तों का; गुणैः—भौतिक गुणों से; अनात्मनः—आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य; ततः—अतः; भवान्—आप; दर्शय—मार्गदर्शन करें; चेष्टितम्—कार्यकलाप; विभोः—भगवान् के।

भगवान् असीम हैं। केवल वही निपुण व्यक्ति इस आध्यात्मिक ज्ञान को समझने के लिए योग्य है, जो भौतिक सुख के कार्यकलापों से विरक्त हो चुका हो। अतः जो लोग भौतिक आसक्ति के कारण सुस्थापित नहीं हैं, उन्हीं को तुम परमेश्वर के दिव्य कार्यों के वर्णनों के माध्यम से दिव्य अनुभूति की विधियाँ दिखलाओ।

तात्पर्य : ईश्वरीय-विद्या का विज्ञान कठिन विषय है, विशेष रूप से जब उसमें भगवान् के दिव्य स्वभाव का वर्णन हो। यह ऐसा विषय नहीं है, जिसे भौतिक कार्यों में अत्यधिक आसक्त रहने वाले व्यक्ति समझ सकें। केवल वे ही इस महान विज्ञान का अध्ययन कर सकते हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा भौतिक कार्यों से प्रायः निवृत्त हो चुके हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि हजारों-लाखों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो दिव्य अनुभूति में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। और ऐसे हजारों स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों में से कुछ ही व्यक्ति उस विशेष ईश्वरीय ज्ञान को समझ सकते हैं, जिसमें ईश्वर को पुरुष रूप में वर्णित किया जाता है। अतएव नारद श्री व्यासदेव को प्रत्यक्ष उपदेश देते हैं कि वे भगवान् की दिव्य लीलाओं को बताते हुए ईश्वर के विज्ञान का वर्णन करें। व्यासदेव स्वयं इस विज्ञान में पटु हैं और वे भौतिक भोग से विरक्त हैं; अतएव वे इसका वर्णन करने के अधिकारी व्यक्ति हैं और उनके पुत्र, शुकदेव गोस्वामी, उनसे इसे ग्रहण करने के लिए सही व्यक्ति हैं। *श्रीमद्भागवत* सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय विज्ञान है, अतएव यह जनसामान्य पर औषधि का सा प्रभाव दिखा सकता है। चूँकि इस ग्रंथ में भगवान् की दिव्य लीलाएँ हैं, अतएव भगवान् तथा इस ग्रंथ में कोई अन्तर नहीं है। यह ग्रंथ भगवान् का साहित्यावतार है। इस तरह निपट साधारण जन भी भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुन सकते हैं। इससे वे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं और इस तरह क्रमशः भवरोग से शुद्ध हो सकते हैं। यही नहीं, पटु भक्तगण ऐसी नवीन विधियाँ निकाल सकते हैं, जिनसे वे देश तथा काल के अनुसार अभक्तों को बदल सकें। भक्तिमय गतिशील सेवा प्रक्रिया है और पटु भक्तगण भौतिकतावादी जनता की मन्द बुद्धि में इसे प्रविष्ट कराने की कोई सरल विधि निकाल सकते हैं। भगवान् की सेवा के लिए भक्तों द्वारा सम्पन्न किये गये ऐसे दिव्य कार्यकलापों से भौतिकतावादी मनुष्यों के मूर्ख समाज में नवीन जीवन-व्यवस्था लाई जा सकती है। इस ओर भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके परवर्ती अनुयायियों ने विशेष दक्षता दिखलाई है। इस विधि का अनुगमन करते हुए इस कलह-प्रधान युग के भौतिकतावादी मनुष्यों को शान्तिमय जीवन तथा दिव्य अनुभूति की अवस्था प्रदान की जा सकती है।

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-

भजन्नपक्रोऽथ पतेत्ततो यदि ।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं

को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; स्व-धर्मम्—अपने वृत्तिपरक कार्य को; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल; हरेः—हरि (भगवान्) के; भजन्—भक्ति के दौरान; अपक्रः—कच्ची, अप्रौढ़; अथ—के लिए; पतेत्—गिरता है; ततः—उस स्थान से; यदि—यदि; यत्र—जहाँ; क्व—किस तरह का; वा—या (व्यंग्य से); अभद्रम्—प्रतिकूल; अभूत्—होगा; अमुष्य—उसका; किम्—कुछ नहीं; कः वा अर्थः—क्या लाभ है; आप्तः—प्राप्त किया हुआ; अभजताम्—अभक्तों का; स्व-धर्मतः—अपनी वृत्ति में लगे रह कर।

जिसने भगवान् की भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त होने के लिए अपनी भौतिक वृत्तियों को त्याग दिया है, वह कभी-कभी कच्ची अवस्था में नीचे गिर सकता है, तो भी उसके असफल होने का कोई खतरा नहीं रहता। इसके विपरीत, अभक्त, चाहे अपनी वृत्तियों (कर्तव्यों) में पूर्ण रूप से रत क्यों न हो, उसे कुछ भी लाभ नहीं होता।

तात्पर्य : जहाँ तक मानव जाति के कर्तव्यों का सम्बन्ध है, उसके कर्तव्य असंख्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति, न केवल अपने माता-पिता, कुटुम्बियों, समाज, देश, मानवता, अन्य जीवों एवं देवताओं के प्रति कर्तव्यबद्ध है, अपितु महान दार्शनिकों, कवियों, वैज्ञानिकों के प्रति भी है। शास्त्रों का मत है कि मनुष्य ऐसे सारे कर्तव्यों को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर सकता है। अतः यदि कोई इस तरह से करता है और यदि भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में सफल हो जाता है, तो यह शुभ ही है। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य क्षणिक भावावेश में आकर भगवान् की सेवा में समर्पित तो हो जाता है, लेकिन अन्त तक किसी न किसी कारण से, कुसंगतिवश सेवामार्ग से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। भरत महाराज को एक मृग के प्रति आसक्त होने के कारण मृग का शरीर धारण करना पड़ा। जब वे मर रहे थे, तो मृग के विषय में सोच रहे थे। अतएव अगले जन्म में वे मृग बने, लेकिन वे अपने पूर्वजन्म की घटना को भूले नहीं थे। इसी प्रकार शिवजी के चरणों के प्रति अपराध करने के कारण चित्रकेतु का भी पतन हुआ। लेकिन, तो भी, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने पर यहाँ बल

दिया जा रहा है। भले ही इसमें से नीचे गिरने का भय बना रहता है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य भक्ति कार्यों से नीचे गिरता है, लेकिन वह भगवान् के चरणकमलों को कभी भी नहीं भूलता। एक बार भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाने पर वह सभी परिस्थितियों में उनकी सेवा में बना रहेगा। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किञ्चित् भक्ति भी मनुष्य को अत्यन्त घातक स्थिति से बचा सकती है। इतिहास में ऐसी घटनाओं के अनेक उदाहरण हैं। इनमें से अजामिल एक है। अजामिल अपने प्रारम्भिक जीवन में भक्त था, किन्तु युवावस्था में वह भक्ति से च्युत हो गया। तो भी भगवान् ने अन्त में उसकी रक्षा की।

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसी; एव—केवल; हेतोः—कारण का; प्रयतेत—प्रयत्न करना चाहिए; कोविदः—आध्यात्मिक रूप से प्रवृत्त;
न—नहीं; लभ्यते—मिलता है; यत्—जो; भ्रमताम्—विचरण करते हुए; उपरि अधः—ऊपर से नीचे तक; तत्—वह;
लभ्यते—प्राप्त किया जा सकता है; दुःखवत्—दुखों के समान; अन्यतः—पूर्व कर्म के कारण; सुखम्—इन्द्रिय-भोग;
कालेन—समय के साथ; सर्वत्र—सभी जगह; गभीर—सूक्ष्म; रंहसा—उन्नति, प्रगति।

जो व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान तथा तत्त्वज्ञान में रूचि रखने वाले हैं, उन्हें चाहिए कि वे उस सार्थक अन्त के लिए ही प्रयत्न करें, जो उच्चतम लोक (ब्रह्मलोक) से लेकर निम्नतम लोक (पाताल) तक विचरण करने से भी प्राप्य नहीं है। जहाँ तक इन्द्रिय-भोग से प्राप्त होने वाले सुख की बात है, यह तो कालक्रम से स्वतः प्राप्त होता है, जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी हमें दुख मिलते रहते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक स्थान में विभिन्न प्रयासों से अधिकाधिक इन्द्रिय-भोग पाना चाहता है। कुछ मनुष्य व्यापार, उद्योग, आर्थिक विकास, राजनीतिक श्रेष्ठता आदि में लगे हुए हैं, तो कुछ लोग सकाम कर्मों में निरत हैं जिससे अगले जन्म में वे उच्चतर लोकों में जाकर सुख भोग सकें। ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रमा के निवासी *सोमरस* पीकर अधिक इन्द्रिय-भोग करने

में समर्थ हैं और उत्तम उपकारी कार्य (पुण्य) करने से पितृलोक की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय-भोग के लिए इस जीवन में या मृत्यु के बाद अगले जीवन में अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। कुछ लोग मशीनों की व्यवस्था के द्वारा चन्द्रमा या अन्य लोकों तक पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं, क्योंकि वे बिना पुण्य कार्य किये ही इन लोकों में पहुँचने के इच्छुक हैं। लेकिन ऐसा होने वाला नहीं है। परमेश्वर के नियम के अनुसार, विभिन्न कोटि के जीवों को उनके द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही उन्हें विभिन्न लोकों की प्राप्ति हो सकती है। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है, केवल पुण्यकर्म से ही मनुष्य का जन्म अच्छे कुल में हो सकता है और उसे ऐश्वर्य, उत्तम शिक्षा तथा अच्छा स्वरूप प्राप्त हो सकता है। हम यह भी देखते हैं कि इस जन्म में भी उत्तम कर्म से ही मनुष्य को अच्छी शिक्षा या सम्पत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार हमें उत्तम कर्म के द्वारा ही अगले जन्म में मनवांछित पद प्राप्त होते हैं। अन्यथा ऐसा न होता कि दो व्यक्ति एक ही समय तथा एक ही स्थान में उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न पद पाते हैं। यह पूर्व कर्म के कारण है। लेकिन ऐसे सारे भौतिक पद अस्थायी हैं। यहाँ तक कि सर्वोच्च ब्रह्मलोक तथा निम्नतम पाताल में भी ये पद हमारे कर्मों के अनुसार बदलते रहते हैं। दार्शनिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति को चाहिए कि ऐसे परिवर्तनशील पदों के लोभ में न आये। उसे आनन्द तथा ज्ञान का स्थायी जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उसे पुनः इस कष्टप्रद भौतिक जगत में या अन्य किसी लोक में फिर से न लौटना पड़े। दुख तथा मिश्रित सुख इस भौतिक जीवन के दो लक्षण हैं और ये दोनों ही ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों में भी पाये जाते हैं। ये देवताओं के जीवन में भी पाये जाते हैं और कूकर-सूकर के जीवन में भी। समस्त जीवों के दुखों तथा सुखों में गुण तथा परिमाण का अन्तर रहता है, लेकिन कोई ऐसा नहीं जो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त हो। इसी प्रकार सबका सुख भी नियत है। कोई चाहे कितना प्रयास क्यों न करे, किसी को ये वस्तुएँ न तो कम न ही अधिक मिलेंगी। यदि मिल भी जायें, तो ये पुनः चली भी जायेंगी। अतएव मनुष्य को इन व्यर्थ की वस्तुओं में समय नहीं गँवाना चाहिए; उसे तो केवल भगवान् के पास वापस जाने के लिए प्रयास करना चाहिए। यही हर एक के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-
 न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
 स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-
 विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; जनः—व्यक्ति; जातु—किसी समय; कथञ्चन—किसी तरह; आव्रजेत्—नहीं आता;
 मुकुन्द-सेवी—भगवान् का भक्त; अन्यवत्—अन्यों की तरह; अङ्ग—हे प्रिय; संसृतिम्—भौतिक जगत; स्मरन्—स्मरण
 करते हुए; मुकुन्द-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमल; उपगूहनम्—घूमते हुए; पुनः—फिर; विहातुम्—त्यागने की इच्छा
 से; इच्छेत्—इच्छा; न—कभी नहीं; रस-ग्रहः—जिसने रसास्वादन किया है; जनः—व्यक्ति ।

हे प्रिय व्यास, यद्यपि भगवान् कृष्ण का भक्त भी कभी-कभी, किसी न किसी कारण
 से नीचे गिर जाता है, लेकिन उसे दूसरों (सकाम कर्मियों आदि) की तरह भव-चक्र में
 नहीं आना पड़ता, क्योंकि जिस व्यक्ति ने भगवान् के चरणकमलों का आस्वादन एक बार
 किया है, वह उस आनन्द को पुनः पुनः स्मरण करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर
 सकता ।

तात्पर्य : भगवद्भक्त स्वतः संसार के सम्मोहन से विरत हो जाता है, क्योंकि वह रसग्रह
 होता है, अर्थात् वह भगवान् के चरणकमलों का आस्वादन कर चुका होता है । निश्चय ही, ऐसे
 अनेक उदाहरण हैं जिनमें भगवान् के भक्त कुसंगति के कारण नीचे गिरे हैं, मानो सकाम कर्मी
 हों, जिनका पतन सदैव होता रहता है । किन्तु नीचे गिरने पर भी भक्त को कभी कर्मी के समान
 पतित नहीं समझना चाहिए । कर्मी अपने कर्मों के फल को भोगता है, जबकि भक्त भगवान् द्वारा
 प्रताड़ित होने के कारण सुधर जाता है । एक अनाथ बालक तथा एक राजपुत्र के कष्ट एक-से नहीं
 होते । अनाथ वास्तव में दीन होता है, क्योंकि उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता,
 लेकिन एक धनवान का लाड़ला पुत्र, भले ही अनाथ-जैसा लगे, किन्तु वह सदैव अपने समर्थ
 पिता के संरक्षण में रहता है । भगवद्भक्त कभी-कभी कुसंगतिवश सकाम कर्मी की नकल करता
 है । सकाम कर्मी भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व जताना चाहता है । इसी प्रकार एक नवजिज्ञासु
 भक्त भी मूर्खतावश भक्तिमय सेवा के बदले कुछ भौतिक शक्ति संचित करने की सोचता है ।

कभी-कभी ऐसे मूर्ख भक्तों को स्वयं भगवान् कष्ट में डाल देते हैं। और यदि वे विशेष अनुग्रह करते हैं, तो उसका सारा भौतिक साज-सामान हर लेते हैं। ऐसी कार्यवाही से, व्यग्र हुए भक्त के सारे मित्र तथा कुटुम्बी उसका साथ छोड़ देते हैं और भगवान् की कृपा से उसे पुनः चेत जाता है और वह अपनी भक्ति सही ढंग से करने लगता है।

भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि ऐसे पतित भक्तों को किसी अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण कुल में या सम्पन्न वैश्य परिवार में जन्म लेने का अवसर दिया जाता है। ऐसी दशा में भक्त उतना भाग्यशाली नहीं होता जितना कि भगवान् द्वारा प्रताड़ित भक्त, जिसे एक तरह से असहायवस्था में रख दिया जाता है। जो भक्त भगवान् की इच्छा से असहाय बन जाता है, वह इन उत्तम कुलों में उत्पन्न भक्तों से अधिक भाग्यशाली होता है। उत्तम कुलों में उत्पन्न ये पतित भक्त कम भाग्यशाली होने के कारण भगवान् के चरणकमलों को भूल सकते हैं, लेकिन असहाय अवस्था को प्राप्त भक्त अधिक भाग्यशाली होता है, क्योंकि वह अपने को चारों ओर से असहाय पाकर भगवान् के चरणकमलों में तेजी से लौट आता है।

शुद्ध भक्ति मय सेवा आध्यात्मिक दृष्टि से इतनी आस्वादनीय है कि भक्त स्वतः भौतिक भोग के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है। प्रगतिशील भक्ति की दिशा में यह पूर्णता का प्रतीक है। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को स्मरण में रखता है और उन्हें एक क्षण भी नहीं भुलाता, भले ही उसे तीनों लोकों का ऐश्वर्य क्यों न मिल जाये।

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—सम्पूर्ण; विश्वम्—विश्व; भगवान्—भगवान्; इव—प्रायः वैसा ही; इतरः—ऊपर से भिन्न; यतः—जिससे; जगत्—संसार; स्थान—अवस्थित हैं; निरोध—संहार; सम्भवाः—उत्पत्ति; तत् हि—विषयक; स्वयम्—अपने आप; वेद—जानो; भवान्—आप; तथा अपि—फिर भी; ते—तुमको; प्रादेश-मात्रम्—मात्र सारांश; भवतः—तुमको; प्रदर्शितम्—बताया गया।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं विश्व स्वरूप हैं तथापि उससे निर्लिप्त भी हैं। उन्हीं से यह दृश्य जगत उत्पन्न हुआ है, उन्हीं पर टिका है और संहार के बाद उन्हीं में प्रवेश करता है। तुम इस सबके विषय में जानते हो। मैंने तो केवल सारांश भर प्रस्तुत किया है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त के लिए मुकुन्द, भगवान् श्रीकृष्ण सम्बन्धी धारणा सगुण तथा निर्गुण दोनों ही होती है। व्यक्तित्वविहीन विश्व-स्थिति भी मुकुन्द है, क्योंकि यह मुकुन्द की शक्ति का ही प्राकट्य है। उदाहरणार्थ, वृक्ष अपने में पूर्ण इकाई है लेकिन पत्तियाँ तथा शाखाएँ वृक्ष से प्रकट हुए अंश (अंग) स्वरूप हैं। वृक्ष की पत्तियाँ तथा शाखाएँ भी वृक्ष हैं, लेकिन वृक्ष स्वयं न तो पत्तियाँ है, न शाखाएँ। वेदों का यह कथन है कि समस्त दृश्य जगत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह बताता है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु परमब्रह्म से उद्भूत है, अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अंग के रूप में हाथ तथा पाँव शरीर कहलाते हैं, लेकिन पूर्ण इकाई के रूप में शरीर न तो हाथ है, न पाँव। भगवान् तो शाश्वतता, ज्ञान तथा सौंदर्य के दिव्य रूप हैं, अतएव भगवान् की शक्ति की सृष्टि भी अंशतः सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत होती है। इसलिए बहिरंगा शक्ति, माया के प्रभाव से सारे बद्धजीव भौतिक प्रकृति के बन्धन में बँधे हुए हैं। वे इसे ही सब कुछ मान लेते हैं, क्योंकि उन्हें आदि कारण भगवान् का कोई ज्ञान नहीं होता। न ही उन्हें इसका पता रहता है कि शरीर के अंगों को यदि सम्पूर्ण शरीर से विलग कर दिया जाय, तो हाथ या पाँव वही हाथ पाँव नहीं रह जाते जैसे कि वे शरीर से संयुक्त होने पर थे। इसी प्रकार ईश्वर-विहीन सभ्यता, पूर्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से कट कर छिन्न हाथ या पाँव की तरह होती है। ऐसे अंग हाथ तथा पाँव जैसे भले ही लगें, लेकिन उनमें वह क्षमता नहीं रह जाती। भगवद्भक्त श्रील व्यासदेव इसे भलीभाँति जानते हैं। श्रील नारद उन्हें आगे इस विचार को पल्लवित करने की सलाह देते हैं जिससे बन्धन में फँसे हुए बद्धजीव उनसे शिक्षा ग्रहण करके भगवान् को आदि कारण के रूप में समझ सकें।

वैदिक मत के अनुसार, भगवान् स्वभावतः पूर्ण शक्तिमान हैं और इस प्रकार उनकी सर्वोपरि शक्तियाँ सदैव पूर्ण तथा उनसे अभिन्न होती हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाश एवं इन दोनों

की सामग्रियाँ भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों का प्राकट्य हैं। बहिरंगा शक्ति अपेक्षतया निकृष्ट है और अन्तरंगा शक्ति श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ शक्ति (परा) जीवनी शक्ति है, अतएव यह पूर्ण रूप से अभिन्न है, लेकिन बहिरंगा शक्ति, निष्क्रिय होने के कारण अंशतः अभिन्न है। किन्तु ये दोनों ही शक्तियाँ न तो समस्त शक्तियों के जनक भगवान् के समान हैं, न उनसे बढ़कर हैं। ऐसी शक्तियाँ सदैव उनके अधीन होती हैं, जिस प्रकार कि विद्युत शक्ति, चाहे वह कितनी ही तेजोमय क्यों न हो, सदैव इंजीनियर के नियंत्रण में रहती है।

मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणी उन्हीं भगवान् की अन्तरंगा शक्तियों से उत्पन्न हैं। इस प्रकार जीव भी भगवान् से अभिन्न है। किन्तु वह कभी भी न तो भगवान् के तुल्य है और न उनसे श्रेष्ठ। भगवान् तथा सारे जीव व्यष्टि व्यक्ति हैं। भौतिक शक्तियों के द्वारा जीव भी कुछ न कुछ सृजन करते रहते हैं, किन्तु उनकी कोई भी सृष्टि न तो भगवान् की सृष्टियों के समान होती है, न उनसे बढ़कर। मनुष्य एक छोटा-सा खिलौना-जैसा स्पुतनिक बनाकर बाह्य आकाश में प्रक्षेपित कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वह पृथ्वी या चन्द्रमा जैसा ग्रह बनाकर भगवान् की भाँति उसे वायु में तैरा सकता है। अल्पज्ञ लोग अपने को भगवान् के समान बताते हैं, लेकिन वे कभी भी भगवान् के तुल्य नहीं हो सकते हैं और न कभी होंगे। मनुष्य, पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बाद, भगवान् के गुणों का एक बहुत बड़ा प्रतिशत (७८ प्रतिशत) प्राप्त कर सकता है, तो भी भगवान् से आगे बढ़ पाना या उनके तुल्य हो पाना असम्भव है। केवल रुग्ण दशा में ही मूर्ख व्यक्ति भगवान् से एक होने का दावा करता है और इस तरह वह माया द्वारा भ्रमित होता रहता है। अतएव भ्रमित जीव को भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार करनी चाहिए और उनकी प्रेममय सेवा करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जीवों की उत्पत्ति ही इसीलिए हुई है। इसके बिना विश्व में किसी प्रकार की शान्ति या सौहार्द नहीं आ सकता। श्रील नारद श्रील व्यासदेव को *भागवत* में इस विचार को विस्तार देने का उपदेश देते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसी विचार की व्याख्या की गई है कि भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाओ। पूर्ण मानव का यही एकमात्र कार्य है।

त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्
 परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
 अजं प्रजातं जगतः शिवाय त-
 न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; आत्मना—अपने आप से; आत्मानम्—भगवान् को; अवेहि—ढूँढो; अमोघ-दृक्—पूर्ण दृष्टि वाला; परस्य—अध्यात्म का; पुंसः—भगवान्; परमात्मनः—परमात्मा का; कलाम्—अंश; अजम्—अजन्मा; प्रजातम्—जन्म लिया गया; जगतः—संसार के; शिवाय—कल्याण के लिए; तत्—उस; महा-अनुभाव—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की; अभ्युदयः—लीलाएँ; अधिगण्य-ताम्—विस्तार से बताओ।

तुममें पूर्ण दृष्टि है। तुम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जान सकते हो, क्योंकि तुम भगवान् के अंश के रूप में विद्यमान हो। यद्यपि तुम अजन्मा हो, लेकिन समस्त लोगों के कल्याण हेतु इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हो। अतः भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का अधिक विस्तार से वर्णन करो।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव भगवान् श्रीकृष्ण के शक्त्यावेश अवतार हैं। वे भौतिक जगत के पतित जीवों के उद्धार हेतु अपनी अहैतुकी कृपावश अवतरित हुए। पतित तथा विस्मृत जीव भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा से विच्छिन्न रहते हैं। सारे जीव भगवान् के अंश हैं और उन के सनातन सेवक हैं। अतएव सारा वैदिक साहित्य इन्हीं पतित जीवों के लाभ हेतु कर्मबद्ध किया गया है। पतित जीवों का यह कर्तव्य है कि ऐसे साहित्य का लाभ उठाएँ और भव-बन्धन से अपने को मुक्त करें। यद्यपि श्रील नारद ऋषि श्रील व्यासदेव के औपचारिक गुरु हैं, लेकिन श्रील व्यासदेव गुरु पर निर्भर नहीं हैं, क्योंकि वे मूल रूप से अन्य सबों के गुरु हैं। चूँकि वे आचार्य का कार्य कर रहे हैं, अतः उन्होंने अपने आचरण से लोगों को यह प्रदर्शित किया है कि मनुष्य को गुरु बनाना चाहिए, भले ही वह साक्षात् ईश्वर ही क्यों न हो। भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु, सभी ने परमेश्वर के अवतार होते हुए भी औपचारिक गुरु स्वीकार किये, यद्यपि अपने दिव्य स्वभाव के कारण वे समस्त ज्ञान के आगार थे। सामान्य जनता

को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाकमलों का दिशा-निर्देश करने के लिए वे स्वयं, व्यासदेव के अवतार के रूप में, भगवान् की दिव्य लीलाओं का उद्घाटन कर रहे हैं।

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; हि—निश्चय ही; पुंसः—प्रत्येक व्यक्ति का; तपसः—तपस्या के द्वारा; श्रुतस्य—वेदों के अध्ययन से; वा—अथवा; स्विष्टस्य—यज्ञ का; सूक्तस्य—आध्यात्मिक शिक्षा का; च—तथा; बुद्धि—ज्ञान का अनुशीलन; दत्तयोः—दान; अविच्युतः—अचूक; अर्थः—प्रयोजन; कविभिः—मान्य विद्वान् द्वारा; निरूपितः—निष्कर्ष रूप में प्राप्त किया गया, वर्णित; यत्—जो; उत्तमश्लोक—भगवान् जिनका वर्णन चुने हुए श्लोकों (पद्य) से किया जाता है; गुण-अनुवर्णनम्—दिव्य गुणों का वर्णन।

विद्वन्मण्डली ने यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला है कि तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा स्तुति-जप का अचूक प्रयोजन (उद्देश्य) उत्तमश्लोक भगवान् की दिव्य लीलाओं के वर्णन में जाकर समाप्त होता है।

तात्पर्य : मनुष्य के मस्तिष्क का विकास कला, विज्ञान, दर्शन, भौतिकी, रसायन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ज्ञान की उन्नति के लिए हुआ है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन द्वारा मानव-समाज को जीवन की पूर्णता प्राप्त हो सकती है। जीवन की इस पूर्णता का अन्त परम पुरुष विष्णु की प्राप्ति में होता है। अतः श्रुति का निर्देश है कि जो वास्तविक रूप में ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, उन्हें भगवान् विष्णु की सेवा की आकांक्षा करनी चाहिए। दुर्भाग्यवश जो लोग विष्णु-माया के बाह्य सौंदर्य से मुग्ध हो गए हैं, वे यह नहीं समझ पाते हैं कि पूर्णता या आत्म-साक्षात्कार की चरम परिणति विष्णु पर निर्भर करती है। विष्णु-माया का अर्थ है इन्द्रिय-भोग, जो क्षणिक तथा दुःखमय है। जो लोग विष्णु-माया के चंगुल में फंसे हुए हैं, वे ज्ञान की उन्नति का उपयोग इन्द्रिय-भोग के लिए करते हैं। श्री नारद मुनि ने बताया है कि विराट् ब्रह्माण्ड की सारी सामग्री (साज-समान) भगवान् की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य मात्र है, क्योंकि उन्होंने अपनी अकल्पनीय शक्ति के द्वारा सृजित जगत की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को गति प्रदान की है।

वे उन्हीं की शक्ति से उद्भूत हैं, उनकी शक्ति पर आधारित हैं और प्रलय के बाद उन्हीं में लीन हो जाती हैं। अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है, किन्तु साथ ही वे सदैव उनसे भिन्न रहते हैं।

जब ज्ञान की उन्नति का सदुपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाता है, तो सारी प्रक्रिया परिपूर्ण बन जाती है। भगवान् तथा उनका दिव्य नाम, यश, महिमा इत्यादि सभी कुछ उनसे अभिन्न हैं, अतएव समस्त मुनियों तथा भगवद्भक्तों ने संस्तुति की है कि कला, विज्ञान, दर्शन, भौतिकी, रसायन, मनोविज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं का उपयोग पूर्ण रूप से तथा एकान्तिक भाव में भगवान् की सेवा के लिए किया जाय। कला, साहित्य, पद्य, चित्रकला आदि का उपयोग भगवान् के यशोगान में किया जा सकता है। उपन्यासकार, कवि तथा विख्यात साहित्यकार सामान्य रूप से कामुक विषयों के लेखन में लगे रहते हैं, किन्तु यदि वे भगवान् की सेवा में लग जायें तो वे भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन कर सकते हैं। वाल्मीकि एक महान कवि थे और उसी प्रकार व्यासदेव एक महान लेखक हैं और ये दोनों ही भगवान् की लीलाओं का उद्घाटन करने में लगे रहे और इसी कारण वे अमर हो गये हैं। इसी प्रकार विज्ञान तथा दर्शन का उपयोग भी भगवान् की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए कोरे सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहने से कोई लाभ नहीं है। दर्शन तथा विज्ञान को भगवान् की महिमा को प्रस्थापित करने में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। समुन्नत लोग विज्ञान के माध्यम से परम सत्य को जानने के लिए उत्सुक होते हैं, अतएव महान वैज्ञानिक का यह कर्तव्य है कि वैज्ञानिक आधार पर भगवान् के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रयास करे। इसी प्रकार दार्शनिक चिन्तनों का उपयोग परम सत्य को संवेदना-युक्त तथा सर्वशक्तिमान के रूप में स्थापित करने में किया जाना चाहिए। इसी प्रकार से ज्ञान की अन्य समस्त शाखाओं का उपयोग सदा भगवान् की सेवा के लिए किया जाना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि की गई है। वह सारा “ज्ञान” अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यदि उसे भगवान् की सेवा में न लगाया जाय। उन्नत ज्ञान का वास्तविक सदुपयोग भगवान् की महिमा को स्थापित करना है और यही वास्तविक लक्ष्य है। भगवान् की

सेवा में लगा हुआ सारा वैज्ञानिक ज्ञान तथा इसी प्रकार के सारे कार्यकलाप वास्तव में हरि कीर्तन अर्थात् भगवान् की महिमा का गायन है।

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—प्राचीन काल में, पहले; अतीत-भवे—पूर्व कल्प में; अभवम्—हो गया; मुने—हे मुनि; दास्याः—दासी का; तु—लेकिन; कस्याश्चन—किसी; वेद-वादिनाम्—वेदान्त के अनुयायियों का; निरूपितः—लगा हुआ; बालकः—छोटा नौकर; एव—केवल; योगिनाम्—भक्तों की; शुश्रूषणे—सेवा में; प्रावृषि—वर्षा ऋतु के चार मासों में; निर्विविक्षताम्—साथ रहते हुए।

हे मुनि, पिछले कल्प में मैं किसी दासी के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जो वेदान्त सिद्धान्तों के अनुयायी ब्राह्मणों की सेवा करती थी। जब वे लोग वर्षा ऋतु के चातुर्मास में साथ-साथ रहते थे, तो मैं उनकी सेवा टहल (व्यक्तिगत सेवा) किया करता था।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि ने यहाँ पर भगवान् की भक्ति से सिक्त वातावरण की अद्भुतता का संक्षिप्त वर्णन किया है। वे एक अत्यन्त महत्त्वहीन माता-पिता की सन्तान थे। उनकी शिक्षा ठीक से नहीं हुई थी। तो भी उनकी समस्त शक्ति भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण वे अमर मुनि बन गये। ऐसी होती है भक्तिमय सेवा की शक्ति। सारे जीवात्मा भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, अतएव उनकी सार्थकता भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने में है। जब ऐसा नहीं हो पाता, तो मनुष्य की वह स्थिति माया कहलाती हैं। अतएव ज्योंही मनुष्य अपनी पूरी शक्ति को इन्द्रिय-भोग में न लगाकर भगवान् की सेवा में लगाता है, तो माया का सारा भ्रम दूर हो जाता है। श्री नारदमुनि के पूर्वजन्म के निजी उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् की सेवा भगवान् के प्रामाणिक सेवकों की सेवा से ही प्रारम्भ होती है। भगवान् कहते हैं कि मेरे दासों की सेवा मेरी निजी सेवा से बढ़कर है। भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से अधिक मूल्यवान है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की सेवा में निरन्तर रत रहने वाले भगवान् के किसी प्रामाणिक सेवक को चुने, उसे

अपना गुरु बनाए और उस गुरु की सेवा में अपने को लगाए। ऐसा गुरु एक पारदर्शी माध्यम है, जिससे उन भगवान् का दर्शन किया जा सकता है, जो भौतिक इन्द्रियों के बोध से परे हैं। प्रामाणिक गुरु की सेवा के अनुपात से ही भगवान् उसे अपनी अनुभूति कराते हैं। भगवान् की सेवा में मानव-शक्ति का सदुपयोग मुक्ति का प्रगतिशील पथ है। प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में भगवान् की सेवा करने पर, सारी विराट सृष्टि तुरन्त भगवान् से अभिन्न बन जाती है। सक्षम गुरु को वह कला ज्ञात रहती है, जिससे प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् के यशोगान के लिए किया जा सकता है, अतः उनके मार्गदर्शन से भगवान् के सेवक की दिव्य कृपा से सारे जगत को वैकुण्ठ धाम में परिणत किया जा सकता है।

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।

चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; मयि—मुझ में; अपेत—न भोगकर; अखिल—सभी प्रकार की; चापले—रुचियाँ; अर्भके—बालक में;
दान्ते—इन्द्रियों को वश में करके; अधृत-क्रीडनके—खेल-कूद की आदतों में अभ्यस्त न होकर; अनुवर्तिनि—
आज्ञाकारी; चक्रुः—प्रदान किया; कृपाम्—अहैतुकी कृपा; यद्यपि—यद्यपि; तुल्य-दर्शनाः—स्वभाव से निष्पक्ष;
शुश्रूषमाणे—श्रद्धावान् के प्रति; मुनयः—वेदान्त के अनुयायी मुनिगण; अल्प-भाषिणि—मितभाषी, कम बोलने वाले।

यद्यपि वे स्वभाव से निष्पक्ष थे, किन्तु उन वेदान्त के अनुयायियों ने मुझ पर अहैतुकी कृपा की। जहाँ तक मेरी बात थी, मैं इन्द्रियजित था और बालक होने पर भी खेलकूद से अनासक्त था। साथ ही, मैं चपल न था और कभी भी जरूरत से ज्यादा बोलता नहीं था (मितभाषी था)।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं, “सारे वेद मेरी खोज कर रहे हैं।” भगवान् श्री चैतन्य का कहना है कि वेदों के केवल तीन विषय हैं—भगवान् के साथ जीवों का सम्बन्ध स्थापित करना, भक्ति कर्म करना तथा इस प्रकार से भगवद्धाम जाने का परम उद्देश्य प्राप्त करना। इस तरह इन वेदान्तवादियों से भगवान् के शुद्ध भक्त के संकेत मिलते हैं। ऐसे वेदान्तवादी या

भक्तिवेदान्त भक्ति के दिव्य ज्ञान का वितरण निष्पक्ष भाव से करते हैं। उनके लिए न कोई मित्र है और न कोई शत्रु; न कोई शिक्षित है और न अशिक्षित; न कोई विशेष रूप से अनुकूल है और न कोई प्रतिकूल। भक्तिवेदान्तीजन यह देखते हैं कि लोग सामान्य रूप से झूठी कामोद्दीपक वस्तुओं में अपना समय गँवाते हैं। उनका कार्य है अज्ञानी जनता के भगवान् के साथ भूले हुए सम्बन्ध को पुनः स्थापित कराना। ऐसे प्रयास से विस्मृत से विस्मृत जीव को भी आध्यात्मिक जीवन का बोध हो जाता है और इस प्रकार भक्तिवेदान्तों द्वारा प्रेरित सामान्य लोग धीरे-धीरे दिव्य अनुभूति के पथ पर अग्रसर होने लगते हैं। इस प्रकार वेदान्त-वादियों ने उस बालक को इन्द्रियजित बनने के पूर्व ही दीक्षित कर लिया था और वह बचपन के खेलकूद से विरक्त हो गया था। किन्तु दीक्षा के पूर्व वह बालक अत्यधिक अनुशासित हो चुका था, क्योंकि इस मार्ग पर चलने वाले के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। मानव-जीवन के वास्तविक शुभारम्भ के समय से वर्णाश्रम धर्म प्रणाली में बालकों को पाँच वर्ष की आयु के बाद गुरु आश्रम में ब्रह्मचारी बनने के लिए भेजा जाता है, जहाँ उन्हें ये सारी चीजें नियमित ढंग से सिखाई जाती हैं, चाहे वे सामान्य नागरिकों के पुत्र हों या राजकुमार हों। यह प्रशिक्षण न केवल राज्य में अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के निमित्त भी अनिवार्य था, अपितु बालक को भावी जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए उसे तैयार करने के लिए भी अनिवार्य था। वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करने वाले बालकों को इन्द्रिय-भोग के अनुत्तरदायी जीवन का पता ही नहीं रहता था। यहाँ तक कि जब पिता बालक को माता के गर्भ में स्थापित करता था, तो वह भी आध्यात्मिक संस्कार द्वारा होता था। बालक को भव-बन्धन से मुक्त कराकर उसे सफलता दिलाना माता-पिता का उत्तरदायित्व हुआ करता था। यही सफल परिवार नियोजन की विधि है। इसका उद्देश्य था पूर्ण सफलता के लिए सन्तान उत्पन्न करना। इन्द्रियजित हुए बिना, अनुशासित हुए बिना तथा पूर्ण रूप से आज्ञाकारी हुए बिना कोई भी व्यक्ति गुरु के उपदेशों का पालन करने में सफल नहीं हो सकता और ऐसा किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् के धाम को प्राप्त नहीं कर सकता।

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः

सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।

एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-

स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

उच्छिष्ट-लेपान्—जूठन; अनुमोदितः—अनुमति से; द्विजैः—वेदान्ती ब्राह्मणों द्वारा; सकृत्—एक बार; स्म—था; भुञ्जे—ग्रहण किया; तत्—उस कार्य से; अपास्त—नष्ट हो गये; किल्बिषः—सारे पाप; एवम्—इस प्रकार; प्रवृत्तस्य—लगे हुए; विशुद्ध-चेतसः—शुद्ध चित्त वाले का; तत्—वह विशेष; धर्मः—स्वभाव; एव—निश्चय ही; आत्म-रुचिः—दिव्य आकर्षण; प्रजायते—प्रकट हुआ।

उनकी अनुमति से मैं केवल एक बार उनकी जूठन खाता था और ऐसा करने से मेरे सारे पाप तुरन्त ही नष्ट हो गये। इस प्रकार सेवा में लगे रहने से मेरा हृदय शुद्ध हो गया और तब वेदान्तियों का स्वभाव मेरे लिए अत्यन्त आकर्षक बन गया।

तात्पर्य : शुद्ध भक्ति संक्रामक रोग तुल्य है, किन्तु वह शुद्ध भाव में संक्रामक है। शुद्ध भक्त समस्त प्रकार के पापों से निर्मल हो जाता है। भगवान् विशुद्धतम सत्ता हैं और जब तक कोई भौतिक गुणों की संक्रामकता के द्वारा उन्हीं के समान शुद्ध न हो ले, तब तक वह भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भक्तिवेदान्तजन शुद्ध भक्त थे और यह बालक उनकी संगति से तथा एक बार उनका जूठन खाने से उनके गुणों से अभिभूत हो गया। ऐसी जूठन शुद्ध भक्तों की अनुमति के बिना भी ग्रहण की जा सकती है। लेकिन कभी-कभी छद्म भक्त भी होते हैं, अतः उनसे अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। ऐसी अनेक बातें हैं, जो भक्ति करने में बाधक होती हैं। किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसे सारे अवरोध दूर हो जाते हैं। नवदीक्षित भक्त शुद्ध भक्त के दिव्य गुणों से लगभग पूरित हो जाता है, जिसका अर्थ है भगवान् के नाम, यश, गुण, लीला आदि के प्रति आकर्षण। शुद्ध भक्त के गुणों की संक्रामकता का अर्थ है भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति शुद्ध भक्ति की रुचि उत्पन्न करना। इस दिव्य रुचि के आगे सारी भौतिक वस्तुओं के प्रति कुरुचि उत्पन्न हो जाती है। अतः शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक कार्यकलापों के प्रति आकर्षित नहीं होता। भक्ति के पथ के सारे अवरोधों या समस्त पापों के दूर होने पर ही मनुष्य ईश्वर के प्रति आसक्त हो सकता है, उसमें दृढ़ता आ सकती है, उसमें पूर्ण रुचि

उत्पन्न हो सकती है, उसमें दिव्य अनुभूतियाँ आ सकती हैं और अन्त में वह भगवान् की प्रेममय सेवा के घरातल पर स्थित हो सकता है। ये सारी अवस्थाएँ शुद्ध भक्तों की संगति से ही विकसित होती हैं और यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-

मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।

ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः

प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अनु—प्रतिदिन; अहम्—मैं; कृष्ण-कथाः—कृष्ण के कार्यकलापों का वर्णन; प्रगायताम्—गायन करते हुए; अनुग्रहेण—अहैतुकी कृपावश; अशृणवम्—सुनते हुए; मनः-हराः—आकर्षक; ताः—वे; श्रद्धया—आदरपूर्वक; मे—मेरा; अनुपदम्—प्रत्येक पग पर; विशृण्वतः—ध्यान से सुनते हुए; प्रियश्रवसि—भगवान् का; अङ्ग—हे व्यासदेव; मम—मेरा; अभवत्—ऐसी बन गई; रुचिः—प्रवृत्ति।

हे व्यासदेव, उस संगति में तथा उन महान् वेदान्तियों की कृपा से, मैं उनके द्वारा भगवान् कृष्ण की मनोहर लीलाओं का वर्णन सुन सका और इस प्रकार ध्यानपूर्वक सुनते रहने से भगवान् के विषय में प्रतिक्षण अधिकाधिक सुनने के प्रति मेरी रुचि बढ़तीही गई।

तात्पर्य : परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण न केवल अपने व्यक्तिगत लक्षणों के कारण आकर्षक हैं, अपितु अपने दिव्य कार्यकलापों के कारण भी हैं। इसका कारण यह है कि वे परम पुरुष अपने नाम, यश, रूप, लीलाओं, पार्षदों, साज-सामग्री इत्यादि के कारण निरपेक्ष अवस्था में हैं। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और मनुष्य रूप में अपनी विविध दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिससे सब मनुष्य उनके प्रति आकृष्ट होकर भगवद्धाम वापस जा सकें। मनुष्य स्वभाव से लौकिक कार्यकलाप करने वाले विभिन्न पुरुषों के इतिहास तथा उनकी कथाएँ सुनने का इच्छुक रहता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि ऐसी संगति मात्र समय का अपव्यय है और इससे वह प्रकृति के तीनों गुणों से आसक्त होता जाता है। समय गँवाने की अपेक्षा भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति ध्यान देने से उसे आध्यात्मिक लाभ हो सकता है।

भगवान् की लीलाओं की कथा सुनने से उसे भगवान् का प्रत्यक्ष सान्निध्य प्राप्त होता है और जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् के विषय में श्रवण करने से अन्तःकरण के सारे पाप धुल जाते हैं। इस प्रकार से पापों के धुल जाने पर श्रोता धीरे-धीरे सांसारिक संगति से मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप के प्रति आकृष्ट होता है। नारद मुनि ने अपने निजी अनुभव के आधार पर ही इसकी व्याख्या की है। कहने का आशय यह है कि भगवान् की लीलाओं के श्रवण मात्र से मनुष्य भगवान् का पार्षद बन सकता है। नारद मुनि का जीवन शाश्वत है, उनका ज्ञान असीम तथा आनन्द अगाध है और वे बिना किसी बाधा के भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में विचरण कर सकते हैं। मनुष्य सही व्यक्ति से भगवान् की दिव्य लीलाओं का श्रवण करके ही जीवन की परम पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार श्री नारद ने अपने पूर्वजन्म में शुद्ध भक्तों (भक्तिवेदान्तों) से सुनकर प्राप्त की। भक्तों की संगति में रह कर श्रवण करने की यह विधि इस कलह-प्रधान (कलि) युग के लिए विशेष रूप से संस्तुत की गई है।

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—ऐसा होने पर; तदा—उस समय; लब्ध—प्राप्त; रुचेः—रुचि; महा-मते—हे महामुनि; प्रियश्रवसि—भगवान् पर; अस्खलिता मतिः—अनवरत ध्यान; मम—मेरा; यया—जिससे; अहम्—मैं; एतत्—ये सब; सत्-असत्—स्थूल तथा सूक्ष्म; स्व-मायया—अपने ही अज्ञान से; पश्ये—देखता हूँ; मयि—मुझमें; ब्रह्मणि—सर्वोपरि; कल्पितम्—स्वीकार किया जाता है; परे—अध्यात्म में।

हे महामुनि, ज्योंही मुझे भगवान् का आस्वाद प्राप्त हुआ, त्योंही मेरा ध्यान भगवान् का श्रवण करने के प्रति अटल हो गया। और ज्योंही मेरी रुचि विकसित हो गई, त्योंही मुझे अनुभव हुआ कि मैंने अज्ञानतावश ही स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों को स्वीकार किया है, क्योंकि भगवान् तथा मैं दोनों ही दिव्य हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में अज्ञानता की तुलना अंधकार से की जाती है और समस्त वैदिक साहित्य में भगवान् की तुलना सूर्य से की गई है। जहाँ कहीं प्रकाश होता है, वहाँ अंधकार नहीं रह पाता। भगवान् की लीलाओं का श्रवण स्वयं ही भगवान् की दिव्य संगति है, क्योंकि भगवान् तथा उनकी लीलाओं में कोई अन्तर नहीं होता। परम प्रकाश की संगति प्राप्त करने का अर्थ होगा सारे अज्ञान को भगवान्। केवल अज्ञानवश ही बद्ध जीव झूठे ही यह सोचता है कि वह तथा भगवान् दोनों ही भौतिक प्रकृति से उत्पन्न हैं। लेकिन वास्तव में भगवान् तथा जीव दोनों दिव्य हैं और उन्हें भौतिक प्रकृति से कुछ लेना-देना नहीं होता। जब अज्ञान दूर हो जाता है और यह अनुभव किया जाता है कि भगवान् के बिना किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है, तब अविद्या हट जाती है। चूँकि स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर भगवान् से ही उद्भूत हैं, अतएव प्रकाश का ज्ञान होते ही इन दोनों शरीरों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त किया जा सकता है। स्थूल शरीर को भगवान् की सेवा करने में (यथा जल लाने, मन्दिर बुहारने या नमस्कार करने आदि में) लगाना चाहिए। अर्चना में अर्थात् मन्दिर में भगवान् की पूजा करने में इस स्थूल शरीर का उपयोग भगवान् की सेवा करने में होता है। इसी प्रकार, सूक्ष्म मन को भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण, उनके चिन्तन, भगवान् के नाम के कीर्तन में लगाना चाहिए आदि। ऐसे सारे कार्य दिव्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्य में स्थूल या सूक्ष्म इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं करना चाहिए। दिव्य कार्यों की ऐसी अनुभूति अनेकानेक वर्षों तक भक्ति में रहकर सेवा करने से प्राप्त हो पाती है, लेकिन श्रवण के द्वारा नारद मुनि में जिस प्रकार से भगवान् के प्रति प्रेमाकर्षण उत्पन्न हुआ, वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-

विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।

सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-

र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; शरत्—शरद् ऋतु; प्रावृषिकौ—वर्षा ऋतु; ऋतू—दो ऋतुएँ; हरेः—भगवान् का; विशृण्वतः—निरन्तर श्रवण करते हुए; मे—मैं स्वयं; अनुसवम्—निरन्तर; यशः अमलम्—धवल कीर्ति; सङ्कीर्त्यमानम्—जपी जाकर; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; महा-आत्मभिः—महात्माओं द्वारा; भक्तिः—भक्तिमय सेवा; प्रवृत्ता—प्रवाहित होने लगी; आत्म—जीव; रजः—रजोगुण; तम—तमोगुण; उपहा—नाश करने वाली।

इस प्रकार वर्षा तथा शरद् दोनों ऋतुओं में, मुझे इन महामुनियों से भगवान् हरि की धवल कीर्ति का निरन्तर कीर्तन सुनते रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ज्योंही मेरी भक्ति का प्रवाह होने लगा कि रजोगुण तथा तमोगुण के सारे आवरण विलुप्त हो गये।

तात्पर्य : परमेश्वर की दिव्य भक्तिमय सेवा प्रत्येक जीव की सहज प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी में सु-सुप्त रहती है, लेकिन भौतिक प्रकृति के सम्पर्क के कारण रजोगुण तथा तमोगुण अनन्त काल से इसे आच्छादित करते रहे हैं। यदि भगवान् तथा उनके महान भक्तों के अनुग्रह से कोई जीव इतना भाग्यशाली होता है कि उसे विशुद्ध भक्तों की संगति प्राप्त हो जाय और भगवान् के निर्मल महिमा गान को सुनने का अवसर मिल जाय, तो निश्चय ही भक्ति का प्रवाह नदी के प्रवाह की ही तरह होने लगता है। जिस प्रकार नदी तब तक प्रवाहित होती रहती है, जब तक वह समुद्र तक न पहुँच जाय, उसी प्रकार शुद्ध भक्तों की संगति से विशुद्ध भक्ति की धारा तब तक प्रवाहित होती रहती है जब तक वह चरम लक्ष्य अर्थात् भगवान् के दिव्य प्रेम तक नहीं पहुँच जाती। भक्ति का ऐसा प्रवाह रोके नहीं रुकता, अपितु यह असीमित रूप से अधिकाधिक बढ़ता जाता है। भक्ति का प्रवाह इतना सक्षम होता है कि कोई दर्शक भी रजोगुण तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति के ये दोनों गुण दूर हो जाते हैं और जीव अपनी मूल स्थिति को प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।

श्रद्धाधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; मे—मेरा; अनुरक्तस्य—उससे आसक्त; प्रश्रितस्य—आज्ञाकारी का; हत—मुक्त; एनसः—पापों से; श्रद्धाधानस्य—श्रद्धावान्; बालस्य—बालक का; दान्तस्य—संयमी का; अनुचरस्य—उपदेशों का दृढ़ता से पालन करने वाले का; च—तथा।

मैं उन मुनियों के प्रति अत्यधिक आसक्त था। मेरा आचरण विनम्र था और उनकी सेवा के कारण मेरे सारे पाप विनष्ट हो चुके थे। मेरे हृदय में उनके प्रति प्रबल श्रद्धा थी। मैंने इन्द्रियों को वश में कर लिया था और मैं तन तथा मन से उनका दृढ़ता से अनुगमन करता रहा था।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त के पद तक उन्नत होने के इच्छुक व्यक्ति के लिए ये ही आवश्यक योग्यताएँ हैं। ऐसे व्यक्ति को सदैव शुद्ध भक्तों के सान्निध्य की खोज करनी चाहिए। उसे छद्म भक्त से गुमराह नहीं हो जाना चाहिए। स्वयं उसे भी शुद्ध भक्त से उपदेश ग्रहण करने के लिए सरल तथा विनम्र होना चाहिए। शुद्ध भक्त पूर्ण रूप से भगवान् की शरण में रहता है। वह भगवान् को ही परम स्वामी तथा अन्यो को उनके सेवक रूप में जानता है। केवल शुद्ध भक्तों की संगति से ही लौकिक संगति से संचित होने वाले समग्र पापों से छूटा जा सकता है। नवदीक्षित भक्त को शुद्ध भक्त की श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए। उसे अत्यन्त आज्ञाकारी होना चाहिए और उपदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए। ये लक्षण हैं उस भक्त के जो इसी जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ है।

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।

अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; गुह्यतमम्—गोपनीय; यत्—जो है; तत्—उस; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवता उदितम्—स्वयं भगवान् द्वारा प्रतिपादित; अन्ववोचन्—उपदेश दिया; गमिष्यन्तः—जाते समय; कृपया—अहैतुकी कृपा से; दीन-वत्सलाः—जो दीनों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं।

दीन जनों पर अत्यन्त दयालु, उन भक्तिवेदान्तों ने जाते समय मुझे उस गुह्यतम विषय का उपदेश, जिसका उपदेश स्वयं भगवान् देते हैं।

तात्पर्य : विशुद्ध वेदान्ती या भक्तिवेदान्त अपने अनुयायियों को स्वयं भगवान् के उपदेशों के मुताबिक ही उपदेश देता है। भगवान् ने भगवद्गीता में तथा अन्य सारे शास्त्रों में निश्चित रूप से यह उपदेश दिया है कि लोग उन्हीं का अनुगमन करें। भगवान् प्रत्येक वस्तु के सृष्टा, पालक तथा

संहारक हैं। सारा दृश्य जगत उनकी इच्छा के बल पर अवस्थित है और जब उनकी इच्छा से सारा खेल समाप्त हो जाता है, तब वे अपनी सारी साज-सामग्री समेत अपने दिव्य धाम में बने रहते हैं। सृष्टि के पूर्व वे अपने इसी दिव्य धाम में थे और प्रलय के बाद भी वहीं बने ही रहेंगे। अतएव वे सृजित प्राणियों में से एक नहीं हैं। वे दिव्य हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि अर्जुन को दिये गये उपदेश के भी बहुत पहले उन्होंने यही उपदेश सूर्यदेव को दिया था। चूँकि बीच में यह शृंखला टूट गई थी और यह उपदेश गलत तरीके से उपयोग में लाया जाने लगा था, अतः वही उपदेश अर्जुन को फिर से दिया गया, क्योंकि वह उनका परम भक्त एवं मित्र था। अतएव भगवान् का उपदेश भक्तों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं समझ सकता। भगवान् के दिव्य रूप का कोई अनुमान न होने के कारण निर्विशेषवादी भगवान् के इस गुह्यतम सन्देश को नहीं समझ पाते। यहाँ पर *गुह्यतमम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भक्ति का ज्ञान निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से बढ़कर है। *ज्ञानम्* का अर्थ होता है, सामान्य ज्ञान या ज्ञान की कोई शाखा। यही ज्ञान विकसित होते हुए निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान तक पहुँच जाता है। इसके ऊपर, जब इसमें कुछ-कुछ भक्ति मिल जाती है, तो यह परमात्मा का ज्ञान या सर्वव्यापी भगवान् का ज्ञान बन जाता है। यह अत्यन्त गुह्य है। किन्तु यदि यह ज्ञान शुद्ध भक्तिमय सेवा में परिणत हो जाता है और दिव्य ज्ञान का गुह्य अंश प्राप्त हो जाता है, तो यह गुह्यतम ज्ञान कहलाता है। भगवान् ने ब्रह्मा, अर्जुन, उद्धव इत्यादि को यह गुह्यतम ज्ञान प्रदान किया।

येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः ।

मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; एव—निश्चय ही; अहम्—मैं; भगवतः—भगवान् का; वासुदेवस्य—भगवान् श्रीकृष्ण का; वेधसः—परम स्रष्टा का; माया—शक्ति; अनुभावम्—प्रभाव; अविदम्—सरलता से समझा गया; येन—जिससे; गच्छन्ति—जाते हैं; तत्-पदम्—भगवान् के चरणकमलों में।

उस गुह्य ज्ञान से, मैं सम्पूर्ण पदार्थों के सृष्टा, पालक तथा संहार-कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रभाव को ठीक-ठीक समझ सका। उसे जान लेने पर कोई भी मनुष्य उनके पास लौटकर उनसे साक्षात् भेंट कर सकता है।

तात्पर्य : कोई भी मनुष्य, भक्तिमय सेवा द्वारा या गुह्यतम ज्ञान से, यह सरलतापूर्वक जान सकता है कि भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ किस प्रकार से कार्य करती हैं। शक्ति के एक अंश से भौतिक जगत का प्राकट्य होता है, दूसरे (उच्चतर) अंश से आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) प्रकट होता है। इन दोनों की मध्यवर्ती शक्ति जीवों को प्रकट करती है, जो उपर्युक्त शक्तियों में से किसी एक की सेवा करते हैं। भौतिक शक्ति की सेवा में लगे जीव अपने अस्तित्व तथा सुख के लिए कठोर संघर्ष करते हैं, जो उनके समक्ष मोह (भ्रम) के रूप में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु जो आध्यात्मिक शक्ति में रहते हैं, उन्हें सनातन जीवन, पूर्ण ज्ञान तथा अविरत आनन्द में भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा प्रदान की जाती है। जैसा कि *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है, उनकी इच्छा है कि सारे बद्धजीव, जो भौतिक शक्ति की सत्ता में सड़ रहे हैं, इस भौतिक जगत के सारे कार्य-व्यापारों को त्यागकर उनके पास वापस आ जाँए। ज्ञान का यह गुह्यतम अंश है। लेकिन इसे शुद्ध भक्त ही समझ सकते हैं, अतएव वे ही भगवान् के धाम में उनका दर्शन करने तथा उनकी सेवा करने के लिए पहुँच पाते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण स्वयं नारद जी हैं, जिन्हें शाश्वत ज्ञान तथा शाश्वत आनन्द की यह अवस्था प्राप्त हुई। इसके सारे साधन तथा मार्ग हर एक के लिए खुले रहते हैं, बशर्ते कि वह श्री नारद मुनि के चरणचिह्नों का अनुगमन करने के लिए राजी हो जाता है। श्रुति के अनुसार, परमेश्वर की शक्तियाँ (अनायास ही) असीम हैं और जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, वे तीन प्रमुख कोटियों में वर्णित की गई हैं।

एतत्संसूचितं ब्रह्मं स्तापत्रयचिकित्सितम् ।

यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इतना; संसूचितम्—विद्वानों द्वारा निर्धारित; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण व्यास; ताप-त्रय—तीन प्रकार के ताप (कष्ट) ; चिकित्सितम्—उपचार, औषधि; यत्—जो; ईश्वरे—परम नियामक; भगवति—भगवान् में; कर्म—नियत कार्य; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; भावितम्—समर्पित।

हे ब्राह्मण व्यासदेव, विद्वानों द्वारा यह निश्चित हुआ है कि समस्त कष्टों तथा दुखों के उपचार का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अपने सारे कर्मों को भगवान् (श्रीकृष्ण) की सेवा में समर्पित कर दिया जाय।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि ने स्वयं यह अनुभव किया कि मोक्ष का मार्ग खोलने या जीवन के समस्त कष्टों से छूट पाने के लिए, सबसे सहज तथा व्यावहारिक उपाय यह है कि सही तथा प्रामाणिक स्रोत से भगवान् की दिव्य लीलाओं का विनीत भाव से श्रवण किया जाय। यही उपचार की एकमात्र औषधि विधि है। यह सारा भौतिक जगत कष्टों से भरा है। मूर्ख लोगों ने अपने क्षुद्र मस्तिष्कों के बल पर शरीर तथा मन से सम्बन्धित एवं अन्य जीवों के सन्दर्भ में प्राकृतिक विपदाओं से सम्बन्धित तीन प्रकार के कष्टों को दूर करने के अनेक उपचार ढूँढ निकाले हैं। सारा संसार इन कष्टों से उबरने के लिए कठिन संघर्ष कर रहा है, किन्तु लोग यह नहीं जानते कि भगवान् की अनुमति के बिना न तो किसी योजना से, न ही किसी उपचार विधि से वांछित शान्ति एवं उपशमन लाया जा सकता है। यदि भगवान् की स्वीकृति न हो तो औषधि उपचार द्वारा रोगी को स्वस्थ करने का प्रयास व्यर्थ होगा। यदि भगवान् की स्वीकृति न हो तो नदी या समुद्र को नाव द्वारा पार करना कोई उपचार नहीं है। हमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होना चाहिए कि भगवान् ही परम स्वीकृति-दाता हैं, अतएव अन्तिम सफलता के लिए या सफलता के मार्ग के अवरोधों से मुक्ति पाने के लिए हमें अपने सारे प्रयास भगवान् को समर्पित कर देने चाहिए। भगवान् सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ हैं। वे समस्त अच्छे या बुरे फलों के चरम स्वीकृतिदाता हैं। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने सारे कर्म भगवान् की कृपा को समर्पित करें और उन्हें ही निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकारें। फिर चाहे हम जो भी हों, हमें प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में समर्पित करनी चाहिए। यदि कोई विद्वान, विज्ञानी, दार्शनिक, कवि इत्यादि है, तो उसे चाहिए कि भगवान् की श्रेष्ठता स्थापित करने

के लिए अपने ज्ञानका उपयोग करे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगवान् की शक्ति का अध्ययन करने का प्रयास करो। न तो उनका बहिष्कार करो और न ही अल्प ज्ञान संग्रह करके उनके समान बनने या उनका स्थान ग्रहण करने का प्रयास करो। यदि कोई प्रशासक, राजनीतिज्ञ, योद्धा इत्यादि है, तो उसे चाहिए कि राजधर्मिता में भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्थापित करने का यत्न करे। उसे चाहिए कि श्री अर्जुन की भाँति भगवान् के लिए युद्ध करे। प्रारम्भ में, महान योद्धा श्री अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था, किन्तु जब भगवान् ने उसे विश्वास दिलाया कि युद्ध करना आवश्यक है, तो उसने अपना इरादा बदल दिया और भगवान् के लिए युद्ध किया। इसी प्रकार यदि कोई व्यापारी है, उद्योगपति है या किसान है, तो उसे चाहिए कि अपनी गाढ़ी कमाई का खर्च भगवान् के लिए करे। सदैव यही सोचना चाहिए कि जितना भी संचित धन है, वह भगवान् की सम्पदा है। सम्पदा को भाग्य की देवी (लक्ष्मी) माना जाता है और भगवान् तो नारायण या लक्ष्मीपति हैं। अतएव लक्ष्मी को भगवान् नारायण की सेवा में लगाने का प्रयत्न करो और सुखी बनो। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगवान् की अनुभूति करने का यही रास्ता है। अन्ततः, सर्वोत्तम बात तो यह होगी कि समस्त भौतिक कार्यों से छुटकारा पाकर अपने आपको भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण में लगाया जाय। किन्तु ऐसा अवसर प्राप्त न होने पर मनुष्य को चाहिए कि वह जिन-जिन वस्तुओं के प्रति आकर्षित है, उन्हें वह भगवान् की सेवा में लगाने का प्रयास करे। शान्ति तथा सम्पन्नता का यही मार्ग है। इस श्लोक में *संसूचितम्* शब्द भी महत्वपूर्ण है। किसी को कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि नारद की अनुभूति बाल-कल्पना मात्र थी। ऐसा नहीं है। इसकी अनुभूति कुशल तथा प्रकांड विद्वानों ने की है और *संसूचितम्* शब्द का यही असली आशय है।

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।

तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

आमयः—व्याधियाँ; यः च—जो भी; भूतानाम्—जीवों की; जायते—सम्भव होती है; येन—जिसके द्वारा; सुव्रत—हे महात्मा; तत्—वह; एव—ही; हि—निश्चय ही; आमयम्—व्याधि; द्रव्यम्—वस्तु; न—नहीं; पुनाति—अच्छा करती है; चिकित्सितम्—उपचार की गई।

हे श्रेष्ठ पुरुष, क्या भैषज विज्ञान की विधि से प्रयुक्त की गई कोई वस्तु उस रोग को ठीक नहीं कर देती, जिससे ही वह रोग उत्पन्न हुआ हो?

तात्पर्य : कुशल चिकित्सक अपने रोगी की चिकित्सा अनुपान द्वारा करता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी दूध के बने पदार्थ खाने से पेट गड़बड़ा जाता है, किन्तु जब उसी दूध को दही में परिणत करके उसमें कुछ अन्य औषधियाँ मिला दी जाती हैं, तो वह उस गड़बड़ी को दूर कर देता है। इसी प्रकार भौतिक जगत के ताप-त्रय को केवल भौतिक कार्यों से दूर नहीं किया जा सकता। ऐसे कार्यों को उसी तरह आध्यात्मिक बनाने की आवश्यकता है, जिस प्रकार पहले लोहे को अग्नि में तपाकर लाल कर लिया जाता है और तब अग्नि अपना कार्य करती है। इसी प्रकार किसी वस्तु की भौतिक अवधारणा तुरन्त ही बदल जाती है, यदि हम उसे भगवान् की सेवा में लगा देते हैं। आध्यात्मिक सफलता का यही रहस्य है। हमें न तो प्रकृति पर प्रभुत्व जताने का प्रयास करना चाहिए और न ही भौतिक वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए। बुरे सौदे के सदुपयोग की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि सारी की सारी वस्तुओं का उपयोग भगवान् के लिए किया जाये। प्रत्येक वस्तु परमात्मा से उद्भूत है। वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से आत्मा को पदार्थ में तथा पदार्थ को आत्मा में बदल सकते हैं। अतः भगवान् की परमेच्छा से कोई भी (तथाकथित) भौतिक वस्तु तुरन्त ही आध्यात्मिक शक्ति में बदल सकती है। ऐसे परिवर्तन के लिए आवश्यक शर्त यह है कि तथाकथित पदार्थ को आत्मा की सेवा में लगाया जाए। अपने भौतिक रोगों का उपचार करने तथा अपने आपको उस आध्यात्मिक स्तर तक उठाने के लिए, जहाँ न दुःख है, न शोक और न भय, यही एकमात्र उपाय है। इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में लगा दी जाती है, तो हमें अनुभव होता है कि परब्रह्म के अलावा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह वैदिक मन्त्र चरितार्थ होता है।

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।

त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नृणाम्—मनुष्यों के; क्रिया-योगाः—सारे कार्यकलाप; सर्वे—सब कुछ; संसृति—भौतिक अस्तित्व; हेतवः—कारण; ते—वे; एव—निश्चय ही; आत्म—कार्य रूपी वृक्ष; विनाशाय—नष्ट करने के लिए; कल्पन्ते—सक्षम होते हैं; कल्पिताः—समर्पित; परे—परमेश्वर में।

इस प्रकार जब मनुष्य के सारे कार्यकलाप भगवान् की सेवा में समर्पित होते हैं, तो वही सारे कर्म जो उसके शाश्वत बन्धन के कारण होते हैं, कर्म रूपी वृक्ष के विनाशकर्ता बन जाते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में जीवों को निरन्तर व्यस्त रखने वाले सकाम कर्म की तुलना वटवृक्ष (अश्वत्थ) से की गई है, क्योंकि इसकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं। जब तक कर्म के फल का भोग करने की इच्छा रहती है, तब तक कर्म के अनुसार आत्मा का देहान्तरण एक शरीर से दूसरे में, एक स्थान से दूसरे स्थान में होता रहता है। यही भोगेच्छा भगवान् की सेवा करने की इच्छा में बदली जा सकती है। ऐसा करने से मनुष्य का कार्य कर्मयोग में अथवा उस मार्ग में बदल जाता है, जिससे मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यहाँ पर आत्मा शब्द समस्त सकाम कर्म की कोटियों का सूचक है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब समस्त सकाम तथा अन्य कर्मों को भगवान् की सेवा में लगा दिया जाता है, तब फिर नये कर्म उत्पन्न नहीं होते और धीरे-धीरे दिव्य भक्तिमय सेवा का विकास होता है, जिससे न केवल कर्म रूपी अश्वत्थ वृक्ष का पूर्ण रूप से मूलोच्छेद होगा, अपितु वह कर्ता को भगवान् के चरणकमलों तक ले जाएगी।

सारांश यह है कि मनुष्य को सर्वप्रथम ऐसे शुद्ध भक्तों की संगति खोजनी होती है, जो न केवल वेदान्त के पण्डित हों, अपितु स्वरूपसिद्ध तथा भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त हों। इस संगति में नवदीक्षित भक्तों को चाहिए कि बिना भेदभाव के तन तथा मन से प्रेमपूर्ण सेवा करें। इस सेवा-वृत्ति से प्रेरित होकर महापुरुष अपनी कृपा प्रदान करने के लिए अधिक इच्छुक होंगे, जिससे नवदीक्षित भक्त में शुद्ध भक्तों के दिव्य गुणों का समावेश हो सकेगा। धीरे-धीरे इससे

भगवान् की दिव्य लीलाओं के श्रवण के प्रति प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न हो सकेगी, जिससे वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों की स्वाभाविक स्थिति तथा उससे भी परे शुद्ध आत्मा तथा परमात्मा के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। शाश्वत सम्बन्ध की स्थापना के जुड़ जाने के बाद धीरे-धीरे भगवान् की शुद्ध भक्ति विकसित होकर भगवान् के पूर्ण ज्ञान का रूप धारण कर लेती है, जो निर्गुण ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा की परिधि के बाहर है। ऐसे पुरुषोत्तम योग से, जिसका *भगवद्गीता* में उल्लेख है, मनुष्य इसी शरीर में परिपूर्ण बन जाता है और उसमें सर्वोच्च मात्रा में भगवान् के उत्तम गुण दिखने लगते हैं। शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा ही क्रमिक विकास होता है।

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।

ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; अत्र—इस जीवन या जगत में; क्रियते—करता है; कर्म—कार्य; भगवत्—भगवान् की; परितोषणम्—तुष्टि हेतु; ज्ञानम्—ज्ञान; यत् तत्—जो इस तरह कहलाता है; अधीनम्—आश्रित; हि—निश्चय ही; भक्ति-योग—भक्ति सम्बन्धी; समन्वितम्—भक्तियोग से युक्त।

इस जीवन में भगवान् की तुष्टि के लिए जो भी कार्य किया जाता है, उसे भक्तियोग अथवा भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमा भक्ति कहते हैं और जिसे ज्ञान कहते हैं, वह तो सहगामी कारक बन जाता है।

तात्पर्य : आम तौर पर लोकप्रियधारणा यह है कि शास्त्रानुमोदित विधि से सकाम कर्म करने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बन जाता है। कुछ लोग भक्तियोग को कर्म का दूसरा रूप मानते हैं। लेकिन वस्तुतः भक्तियोग कर्म तथा ज्ञान दोनों ही से ऊपर है। भक्तियोग ज्ञान या कर्म से स्वतन्त्र है, जबकि ज्ञान तथा कर्म भक्तियोग के आश्रित हैं। यह क्रियायोग या कर्मयोग, जिसकी संस्तुति नारद ने व्यास के लिए की है, विशेष रूप से संस्तुत हुआ है, क्योंकि मूल सिद्धान्त तो भगवान् को प्रसन्न करना है। भगवान् नहीं चाहते कि उनके पुत्र रूप सारे जीव, जीवन के त्रिविध तापों से पीड़ित रहें। वे चाहते रहते हैं कि वे सब उनके पास

आकर साथ-साथ रहें, लेकिन भगवान् के धाम वापस जाने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने को सांसारिक कल्मषों से शुद्ध कर ले। अतः जब भगवान् को तुष्ट करने के लिए कर्म किया जाता है, तो कर्ता धीरे-धीरे भौतिक कल्मष से शुद्ध होता रहता है। इस शुद्धिकरण का अर्थ है, आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति। अतएव ज्ञान भगवान् के लिए किये गये कर्म पर आश्रित है। भक्तियोग या भगवान् की तुष्टि से विहीन अन्य ज्ञान, किसी को भगवद्धाम नहीं पहुँचा सकता जिसका अर्थ यह हुआ कि वह मोक्ष भी नहीं दिला सकता, जैसा कि नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम् श्लोक में व्याख्या की जा चुकी है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो भक्त भगवान् की अनन्य सेवा में, विशेष रूप से भगवान् की दिव्य महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में लगा रहता है, वह दैवी कृपा से साथ ही साथ आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करता रहता है जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है।

कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत् ।

गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कुर्वाणाः—करते हुए; यत्र—जहाँ; कर्माणि—कर्तव्य; भगवत्—भगवान् की; शिक्षया—इच्छा से; असकृत्—निरन्तर; गृणन्ति—ग्रहण करता है; गुण—गुण; नामानि—नाम; कृष्णस्य—कृष्ण के; अनुस्मरन्ति—निरन्तर स्मरण करता है; च—तथा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशानुसार कर्म करते हुए मनुष्य निरन्तर उनका उनके नामों का तथा उनके गुणों का स्मरण करता है।

तात्पर्य : भगवान् का कुशल भक्त अपने जीवन को इस प्रकार ढाल सकता है कि चाहे इस जीवन के लिए सभी प्रकार के कार्य करे या अगले जन्म के लिए, वह निरन्तर भगवान् के नाम, यश, गुणों इत्यादि का स्मरण करता रहे। भगवान् का आदेश *भगवद्गीता* में सुस्पष्ट है—मनुष्य को जीवन के समस्त क्षेत्रों में भगवान् के लिए ही कर्म करना चाहिए। भगवान् को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वामी के रूप में स्थित होना चाहिए। वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार इन्द्र, ब्रह्मा, सरस्वती तथा गणेश जैसे कतिपय देवताओं की पूजा तक में, प्रत्येक दशा में विष्णु का प्रतिनिधित्व यज्ञेश्वर

के रूप में होना चाहिए। ऐसा विधान है कि विशिष्ट देवता की पूजा विशेष कार्य के लिए की जाए, लेकिन फिर भी विष्णु की उपस्थिति अनिवार्य रहती है, जिससे कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सके।

ऐसे वैदिक कर्तव्यों के साथ ही साथ, हमारे सामान्य व्यवहारों (उदाहरणार्थ, हमारे घरेलू कार्यों या व्यापार अथवा व्यवसाय) में हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने कार्यों का फल परम भोक्ता भगवान् कृष्ण को अर्पित करें। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने यह घोषित किया है कि वे ही सभी वस्तुओं के परम भोक्ता हैं, वे ही प्रत्येक लोक के परम स्वामी हैं और वे ही समस्त जीवों के परम मित्र हैं। अपनी सृष्टि में केवल कृष्ण ही अपने को सबका स्वामी कह सकते हैं, अन्य कोई नहीं। शुद्ध भक्त इसे सदैव स्मरण रखता है और ऐसा करते समय वह भगवान् के दिव्य नाम, यश तथा गुणों को दुहराता जाता है, जिसका अर्थ होता है कि वह निरन्तर भगवान् के सम्पर्क में है। चूँकि भगवान् अपने नाम, यश इत्यादि से अभिन्न हैं, अतः उनके नाम, यश इत्यादि से सम्बद्ध होने का अर्थ उनकी वास्तविक संगति करना है।

हमारी आर्थिक आय का कम-से-कम पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् कृष्ण के आदेशों की पूर्ति करने में व्यय होना चाहिए। इसके लिए हमें अपनी कमाई के लाभांश का ही उपयोग नहीं करना चाहिए, अपितु अन्यो को इस भक्ति सम्प्रदाय का उपदेश भी देना चाहिए, क्योंकि यह भी भगवान् का एक आदेश है। भगवान् का यह स्पष्ट कथन है कि जो सारे विश्व में उनके नाम तथा यश के प्रचार-प्रसार कार्य में लगा है, वह उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। इस भौतिक जगत की वैज्ञानिक खोजों को भी समान रूप से भगवान् के आदेशों का पालन करने में लगाया जा सकता है। वे चाहते हैं कि *भगवद्गीता* के सन्देश का प्रचार उनके भक्तों में किया जाए। जिन लोगों के पास तपस्या, दान, शिक्षा इत्यादि की कोई-पूँजी नहीं है, उनमें चाहे इसका प्रचार न भी हो। अतएव अनिच्छुक लोगों को भगवान् के भक्त बनाने के लिए प्रयास होते रहना चाहिए। इसके सम्बन्ध में भगवान् चैतन्य ने एक सरल विधि बताई है। उन्होंने गायन, नर्तन तथा प्रसाद वितरण के माध्यम से दिव्य संदेश का उपदेश देने की विधि बताई है। अतएव हमें अपनी आय का आधा भाग ऐसे

प्रयोजन के लिए व्यय करना चाहिए। कलह और धर्म विरोध के इस युग में, यदि समाज के जाने-माने और धनवान व्यक्ति अपनी आय का आधा हिस्सा भगवान् की सेवा में लगाने की सहमत हो जाँय, जैसा श्री चैतन्य महाप्रभु ने सिखाया है, निश्चित ही इस उपद्रव भरे नरक जैसे संसार को भगवान का दिव्य धाम बनाया जा सकता है। जहाँ अच्छा गायन, नर्तन और प्रसाद बंट रहा हो, वहा जाने को कोई इनकार नहीं करेगा। ऐसे समारोह में सभी सम्मिलित होना चाहेंगे और हर एक को भगवान् की दिव्य उपस्थिति का अनुभव होगा। इसीसे सेवक को भगवान् की संगति का लाभ हो सकता है और इस तरह वह आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने को शुद्ध बना सकता है। ऐसे आध्यात्मिक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने की एकमात्र शर्त यह है कि ये सारे कार्य ऐसे शुद्ध भक्त के निर्देशन में सम्पन्न हों, जो समस्त लौकिक इच्छाओं, सकाम कर्मों तथा भगवान् की प्रकृति के विषय में शुष्क चिन्तनों से मुक्त हो। किसी को भगवान् की प्रकृति खोजने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् ने स्वयं ही, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में तथा सामान्य रूप से अन्य वैदिक साहित्य में, इसका वर्णन किया है। हमें केवल उन्हें यथारूप ग्रहण करके भगवान् के आदेशों का पालन करना है। इससे हमें सिद्धि-पथ प्राप्त हो सकेगा। किसी को अपनी स्थिति छोड़नी नहीं होगी, विशेषकर, विविध कठिनाइयों के इस युग में; वह अपनी स्थिति (पद) में बना रह सकता है। शर्त एक ही है कि उसे भगवान् से तदाकार होने का शुष्क चिन्तन त्यागना होगा। इस प्रकार की अहंकारपूर्ण महत्त्वाकांक्षा को त्याग कर उसे चाहिए कि वह किसी प्रामाणिक भक्त से, जिसकी योग्यताएँ ऊपर बताई गई हैं, विनीत भाव से *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* में प्राप्त भगवान् के आदेशों को ग्रहण करे। इससे सभी कुछ सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

ॐ—भगवान् की दिव्य महिमा के कीर्तन का प्रतीक; नमः—भगवान् को नमस्कार करना; भगवते—भगवान् को; तुभ्यम्—तुमको; वासुदेवाय—वासुदेव के पुत्र भगवान् को; धीमहि—उच्चारण या कीर्तन करें; प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय सङ्कर्षणाय—ये तीनों वासुदेव के पूर्ण अंश हैं; नमः—सादर नमस्कार है; च—तथा।

आइये, हम सब वासुदेव तथा उनके पूर्ण अंश प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण सहित उनकी महिमा का कीर्तन करें।

तात्पर्य : पञ्चरात्र के अनुसार, नारायण ईश्वर के समस्त विस्तारों के आदि कारण हैं। ये विस्तार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। वासुदेव तथा संकर्षण बाएँ-दाएँ आसीन हैं, प्रद्युम्न संकर्षण के दाएँ हैं और अनिरुद्ध वासुदेव की बाईं ओर आसीन हैं। इस प्रकार ये चारों विग्रह आसीन रहते हैं। ये चारों भगवान् श्रीकृष्ण के चतुर्व्यूह के रूप में जाने जाते हैं।

यह एक वैदिक मन्त्र है जो ॐकार प्रणव से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार इस मंत्र को ॐ नमो धीमहि... के रूप में दिव्य उच्चारण (कीर्तन) के द्वारा स्थापित किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी आदान-प्रदान, चाहे वह सकाम कर्म के क्षेत्र में हो या ज्ञान के क्षेत्र में हो, जिसका परम लक्ष्य परमेश्वर की दिव्य अनुभूति नहीं होता, व्यर्थ माना जाता है। इसलिए नारद ने अपने अनुभव के आधार पर, अनन्य भक्तिमय सेवा की प्रकृति की व्याख्या की है, जिसमें प्रगतिशील भक्ति-कार्यों की क्रमिक विधि से भगवान् तथा जीव के मध्य अन्तरंग सम्बन्ध विकसित किया जाता है। भगवान् के लिए दिव्य भक्ति की ऐसी प्रगति का अन्त भगवान् की प्रेममयी सेवा में होता है, जिसे प्रेमा कहते हैं और जो अपनी दिव्य विविधताओं में रस कहलाती है। ऐसी भक्ति मिश्रित रूपों में भी सम्पन्न होती है, जैसे कि सकाम कर्म या तर्कवितर्क के साथ मिश्रित होकर।

अब जिस प्रश्न को शौनक आदि ऋषियों ने उठाया था और जिसका सम्बन्ध गुरु के माध्यम से सूत जी की उपलब्धि के गुह्य अंश से था, उसकी व्याख्या इस श्लोक में की गई है और वह है तैंतीस अक्षरों वाले इस मन्त्र का उच्चारण। यह मन्त्र चार विग्रहों को अथवा भगवान् को उनके पूर्णांशों के सहित सम्बोधित है। केन्द्रीय विग्रह तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि ये पूर्ण अंश उनके अंगरक्षक हैं। इस उपदेश का गुह्यतम अंश यह है कि मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विभिन्न

अंशों—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध समेत पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का निरन्तर कीर्तन तथा स्मरण करे। ये विस्तार अन्य समस्त रूपों यथा विष्णुतत्त्व या शक्ति तत्त्वों के मूल विग्रह रूप हैं।

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् ।

यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; मूर्ति—प्रतिरूप; अभिधानेन—शब्द या ध्वनि में; मन्त्र-मूर्तिम्—दिव्य उच्चारण का स्वरूप; अमूर्तिकम्—भगवान् जिनका कोई भौतिक रूप नहीं है; यजते—पूजा करते हैं; यज्ञ—विष्णु; पुरुषम्—भगवान् को; सः—वह ही; सम्यक्—पूर्णरूप से; दर्शनः—जिसने देखा है; पुमान्—व्यक्ति।

इस प्रकार वास्तविक दृष्टा वही है, जो दिव्य मन्त्रमूर्ति, श्रीभगवान् विष्णु की पूजा करता है, जिनका कोई भौतिक रूप नहीं होता।

तात्पर्य : हमारी वर्तमान इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्वों की बनी हैं, अतएव वे भगवान् विष्णु के दिव्य रूप की ठीक से अनुभूति नहीं कर पातीं। अतः उनकी पूजा कीर्तन की दिव्य विधि के माध्यम से ध्वनि में की जाती है। जो वस्तु हमारी अपूर्ण इन्द्रियों के क्षेत्र के बाहर है, उसे ध्वनि स्वरूप के द्वारा भली-भाँति अनुभव किया जा सकता है। यदि कोई दूर खड़ा ध्वनि उत्पन्न करे तो उसका यथार्थ अनुभव किया जा सकता है। यदि भौतिक दृष्टि से यह सम्भव है, तो फिर आध्यात्मिक दृष्टि से क्यों नहीं होगा? यह अनुभव कोई कोरा निराकार अनुभव नहीं है। यह उन दिव्य ईश्वर का वास्तविक अनुभव है जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं।

अमरकोश नामक संस्कृत कोश में मूर्ति शब्द के दो आशय प्रमुख हैं—स्वरूप तथा कठिनाई। अतएव आचार्य श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अमूर्तिकम् का अर्थ “किसी कठिनाई के बिना” लगाया है। शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान के दिव्य स्वरूप का अनुभव हमारी मूल आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है, जिसे पवित्र मन्त्रों के उच्चारण या दिव्य उच्चारण ध्वनि द्वारा पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। ऐसी ध्वनि प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम द्वारा प्राप्त की जानी चाहिए और गुरु के निर्देशन में ही इसके उच्चारण (कीर्तन) का अभ्यास करना चाहिए। यह हमें धीरे-

धीरे ईश्वर के अधिक निकट ले जाएगा। पूजा की यह विधि *पाञ्चरात्रिक* विधि में संस्तुत है जो मान्य एवं प्रामाणिक विधि है। *पाञ्चरात्रिक* विधि में दिव्य भक्तिमय सेवा के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक संकेत प्राप्त हैं। ऐसे संकेतों के बिना शुष्क दार्शनिक चिन्तन द्वारा निश्चित ही भगवान् के पास नहीं पहुँचा जा सकता है। *पञ्चरात्रिक* विधि इस कलह-प्रधान युग के लिए व्यावहारिक एवं उपयुक्त है। इस आधुनिक युग के लिए *पञ्चरात्र*, वेदान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नेत्येवमनुष्ठितम् ।

अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

इमम्—इस प्रकार; स्व-निगमम्—भगवान् विषयक वेदों का गुह्य ज्ञान; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (व्यासदेव); अनेत्ये—यह जानकर; मत्—मेरे द्वारा; अनुष्ठितम्—सम्पन्न; अदात्—वर दिया; मे—मुझे; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; स्वस्मिन्—निजी; भावम्—प्रगाढ़ प्यार तथा स्नेह; च—तथा; केशवः—भगवान् कृष्ण ने।

हे ब्राह्मण, इस प्रकार सर्वप्रथम भगवान् कृष्ण ने मुझे वेदों के गुह्यतम अंशों में निहित भगवान् के दिव्य ज्ञान का, फिर आध्यात्मिक ऐश्वर्य का और तब अपनी घनिष्ठ प्रेममय सेवा का वर दिया।

तात्पर्य : दिव्य शब्द द्वारा भगवान् के साथ संसर्ग सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न है। भगवान् तक पहुँचने की यह सबसे पूर्ण विधि है। भगवान् के साथ ऐसे शुद्ध संसर्ग द्वारा, जो भौतिक विचारों के अपराधों से रहित है (जिनकी संख्या दस है), भक्त भौतिक स्तर से ऊपर उठकर वैदिक साहित्य के तात्पर्य को समझता है एवं दिव्य संसार में भगवान् के अस्तित्व को भी समझता है। जो अपने गुरु तथा भगवान् में अनन्य श्रद्धा रखता है, उसे भगवान् क्रमशः अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इसके पश्चात् भक्त को योग की सिद्धियाँ प्रदान की जाती हैं, जिनकी संख्या आठ है। इनसे भी बढ़कर, भक्त को भगवान् का पार्षद स्वीकार कर लिया जाता है और उसे गुरु के माध्यम से भगवान् की विशिष्ट सेवा का कार्यभार सौंपा जाता है। शुद्ध भक्त अपनी सुप्त योग-सिद्धियों के प्रदर्शन की अपेक्षा भगवान् की सेवा करने में अधिक रुचि रखता है। श्री नारद ने इन सबका वर्णन अपने निजी अनुभव से किया है और मनुष्य को वे सारी

सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं, जो श्री नारद को भगवान् के शब्द-प्रतिरूप के उच्चारण से प्राप्त हुई थीं। इस दिव्य ध्वनि (शब्दों) के उच्चारण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, बशर्ते कि इसे नारद के प्रतिनिधि से प्राप्त किया जाय, जो गुरु-शिष्य परम्परा पद्धति से चला आ रहा है।

त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः
समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् ।
प्राख्याहि दुःखैर्मुहुरदितात्मनां
सङ्क्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अपि—भी; अदभ्र—विशाल; श्रुत—वैदिक साहित्य; विश्रुतम्—सुना हुआ; विभोः—सर्वशक्तिमान का; समाप्यते—सन्तुष्ट; येन—जिससे; विदाम्—विद्वान का; बुभुत्सितम्—दिव्य ज्ञान सीखने के इच्छुक को; प्राख्याहि—वर्णन करो; दुःखैः—दुखों से; मुहुः—सदैव; अर्दित-आत्मनाम्—पीड़ित जनसमूह को; सङ्क्लेश—कष्ट को; निर्वाणम्—शमन; उशन्ति न—नहीं निकल पाते; अन्यथा—अन्य साधनों से।

अतः कृपा करके सर्वशक्तिमान के उन कार्यकलापों का वर्णन करो, जिसे तुमने वेदों के अपार ज्ञान से जाना है, क्योंकि उससे महान् विद्वज्जनों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति होगी और साथ ही सामान्य लोगों के कष्टों का भी शमन होगा, जो भौतिक दुखों से सदैव पीड़ित रहते हैं। निस्सन्देह, इन कष्टों से उबरने का कोई अन्य साधन नहीं है।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपने व्यावहारिक अनुभव से निश्चित रूप से प्रमाणित करते हैं कि भौतिक कर्म की सारी समस्याओं का मूल समाधान परमेश्वर की दिव्य महिमा को दूर-दूर तक प्रसारित करने में है। सज्जनों की चार श्रेणियाँ होती हैं और दुर्जनों की भी इतनी ही श्रेणियाँ हैं। चारों श्रेणियों के सज्जन सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को तब स्वीकार करते हैं (१) जब वे विपत्ति में पड़ते हैं, (२) जब उन्हें धन की आवश्यकता होती है, (३) जब वे ज्ञान में बढ़ जाते हैं तथा (४) जब वे ईश्वर के विषय में अधिकाधिक जानना चाहते हैं। वे अन्तःप्रेरणावश भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। इस प्रकार नारद जी व्यासदेव को उपदेश देते हैं कि वे भगवान् के दिव्य ज्ञान का प्रसार उस विशाल वैदिक ज्ञान के संन्दर्भ में करें जिन्हें उन्होंने पहले से प्राप्त कर रखा है।

जहाँ तक दुर्जनों का सम्बन्ध है, उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) वे जो सहज रूप से प्रगतिशील सकाम कर्म के प्रति आसक्त हैं और इस तरह उसके साथ जुड़े हुए अनेक कष्टों को भोगते रहते हैं, (२) वे जो इन्द्रियतुष्टि के गर्हित कार्य में लगे रहते हैं और इस तरह परिणाम को भोगते हैं, (३) वे जो भौतिक रूप से ज्ञान में तो अत्यन्त समृद्ध हैं, लेकिन सर्वशक्तिमान भगवान् की सत्ता को स्वीकार करने की मति न होने के कारण कष्ट पाते हैं; तथा (४) वे लोग जो नास्तिक कहलाते हैं, और जान-बूझकर भगवान् के नाम से ही घृणा करते हैं, भले ही वे सदा संकट में क्यों न रहें।

श्री नारद जी ने व्यासदेव को समझाया कि वे सज्जन तथा दुर्जन आठों प्रकार के सारे लोगों का कल्याण करने के लिए भगवान् की महिमा का वर्णन करें। अतएव श्रीमद्भागवत किन्हीं विशेष श्रेणी या सम्प्रदाय के लोगों के निमित्त नहीं है। यह तो उस सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए है, जो सचमुच अपने कल्याण तथा मन की शान्ति का इच्छुक है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “नारद द्वारा व्यासदेव को श्रीमद्भागवत का उपदेश” नामक पंचम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

नारद तथा व्यासदेव का संवाद

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च ।

भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; एवम्—इस प्रकार; निशम्य—सुनकर; भगवान्—ईश्वर का शक्त्यावेश अवतार; देवर्षेः—देवर्षि का; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—तथा; भूयः—पुनः; पप्रच्छ—पूछा; तम्—उन्से; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो; व्यासः—व्यासदेव ने; सत्यवती-सुतः—सत्यवती का पुत्र।

सूत ने कहा : हे ब्राह्मणो, इस तरह श्री नारद के जन्म तथा कार्यकलापों के विषय में सब कुछ सुन लेने के बाद ईश्वर के अवतार तथा सत्यवती के पुत्र, श्री व्यासदेव ने इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : व्यासदेव नारदजी की सिद्धि के विषय में आगे भी जानने के इच्छुक थे, अतः उन्होंने उनके विषय में और अधिक जानना चाहा। इस अध्याय में नारद जी बताएँगे कि जब वे भगवान् के विरह भाव में लीन थे और अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहे थे, तब भगवान् ने किस प्रकार उन्हें थोड़ी देर के लिए दर्शन दिया।

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव ।

वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

व्यासः उवाच—श्री व्यासदेव ने कहा; भिक्षुभिः—महान साधुओं द्वारा; विप्रवसिते—अन्य स्थानों को चले जाने पर; विज्ञान—अध्यात्म का वैज्ञानिक ज्ञान; आदेष्टृभिः—जिन्होंने उपदेश दिया था; तव—आपका; वर्तमानः—वर्तमान; वयसि—आयु के; आद्ये—प्रारम्भ में; ततः—तत्पश्चात्; किम्—क्या; अकरोत्—किया; भवान्—आपने।

श्री व्यासदेव ने (नारद जी से) कहा : आपने उन महामुनियों के चले जाने पर क्या किया जिन्होंने आपके इस जन्म के प्रारम्भ होने से पूर्व आपको दिव्य वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान किया था ?

तात्पर्य : व्यासदेव स्वयं नारद जी के शिष्य थे, अतएव गुरु से दीक्षित होने के बाद नारद ने जो कुछ किया, उसे सुनने की उत्कंठा स्वाभाविक थी। वे नारद की ही भाँति सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाह रहे थे। आध्यात्मिक गुरु से पूछने की आकांक्षा (जिज्ञासा) प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए आवश्यक है। इस विधि का शास्त्रीय नाम सद्धर्मपृच्छा है।

स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः ।

कथं चेदमुदस्त्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

स्वायम्भुव—हे ब्रह्मा के पुत्र; कया—किस परिस्थिति में; वृत्त्या—वृत्ति; वर्तितम्—बिताया; ते—आपने; परम्—दीक्षा के बाद; वयः—आयु; कथम्—कैसे; च—तथा; इदम्—यह; उदस्त्राक्षीः—छोड़ा; काले—समय आने पर, यथासमय; प्राप्ते—प्राप्त होने पर; कलेवरम्—शरीर को।

हे ब्रह्मा के पुत्र, आपने दीक्षा लेने के बाद किस प्रकार जीवन बिताया ? और यथासमय अपने पुराने शरीर को त्याग कर आपने यह शरीर कैसे प्राप्त किया ?

तात्पर्य : पूर्वजन्म में नारद मुनि एक सामान्य दासीपुत्र थे, अतः वे शाश्वत जीवन, आनन्द तथा ज्ञान से परिपूर्ण इस स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त कर सके, यह जानना महत्त्वपूर्ण है। श्री व्यासदेव ने इच्छा की, कि नारद जी ये सारे तथ्य सबों की तुष्टि के लिए प्रकट करें।

प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते मुनिसत्तम ।

न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्ववर्ती; कल्प—ब्रह्मा के एक दिन का समय; विषयाम्—विषय वस्तु; एताम्—ये सब; स्मृतिम्—सुधि, याद; ते—तुम्हारी; मुनि-सत्तम—हे महामुनि; न—नहीं; हि—निश्चय ही; एषः—ये सब; व्यवधात्—अन्तर किया; कालः—समय आने पर; एषः—ये; सर्व—सभी; निराकृतिः—संहार।

हे महामुनि, समय आने पर काल हर वस्तु का संहार कर देता है, अतएव यह कैसे सम्भव हुआ है कि यह विषय, जो ब्रह्मा के इस दिन के पूर्व घटित हो चुका है, अब भी आपकी स्मृति में काल द्वारा अप्रभावित जैसे का तैसा बना हुआ है?

तात्पर्य : जिस प्रकार भौतिक शरीर के विनाश के बाद भी आत्मा नष्ट नहीं होता, उसी तरह आध्यात्मिक चेतना भी नष्ट नहीं होती। श्री नारद ने पूर्व कल्प में, जब उन्हें यह शरीर प्राप्त था, तभी यह आध्यात्मिक चेतना विकसित कर ली थी। भौतिक शरीर की चेतना का अर्थ है, भौतिक शरीर के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त की गई आध्यात्मिक चेतना। यह चेतना निकृष्ट, विनाशशील तथा विकृत होती है। लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर अतिमानस की पराचेतना आत्मा के समान ही श्रेष्ठ होती है और कभी विनष्ट नहीं होती।

नारद उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टुभिर्मम ।

वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकार्षम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; भिक्षुभिः—मुनियों के द्वारा; विप्रवसिते—अन्य स्थान को चले जाने पर; विज्ञान—व्यावहारिक आध्यात्मिक ज्ञान; आदेष्टुभिः—जिन्होंने मुझे प्रदान किया था; मम—मेरा; वर्तमानः—वर्तमान; वयसि आद्ये—इस जीवन के पूर्व; ततः—तत्पश्चात्; एतत्—इतना; अकार्षम्—सम्पन्न किया।

श्री नारद ने कहा : जिन महर्षियों ने मुझे अध्यात्म का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया था, वे अन्य स्थानों को चले गये और मुझे इस प्रकार से अपना जीवन बिताना पड़ा।

तात्पर्य : पूर्वजन्म में जब नारदजी को महर्षियों ने कृपापूर्वक आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया था, तो उनके जीवन में प्रत्यक्ष परिवर्तन आया था, यद्यपि वे तब पाँच वर्ष के बालक थे। प्रामाणिक गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के बाद दिखाई देने वाला यह महत्त्वपूर्ण लक्षण है। भक्तों की वास्तविक संगति से जीवन में आध्यात्मिक अनुभूति के लिए तेजी से परिवर्तन आता है। नारद मुनि के पूर्व जीवन में यह कैसे घटा इसका एक-एक करके इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।

मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एक-आत्मजा—केवल एक सन्तान वाली; मे—मेरी; जननी—माता ने; योषित्—स्त्री जाति; मूढा—मूर्ख; च—तथा; किङ्करी—दासी; मयि—मुझ; आत्मजे—सन्तान में; अनन्य-गतौ—जिसकी रक्षा का कोई अन्य साधन न हो; चक्रे—किया; स्नेह-अनुबन्धनम्—प्रेम के बन्धन में बँधा।

मैं अपनी माता का इकलौता पुत्र था। वह न केवल भोलीभाली स्त्री थी, अपितु दासी भी थी। चूँकि मैं उसकी एकमात्र सन्तान था, अतः उसकी रक्षा का कोई अन्य साधन न था, अतएव उसने मुझे अपने स्नेह-पाश में बाँध रखा था।

सास्वतन्त्रा न कल्पासीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।

ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; अस्वतन्त्रा—आश्रित थी; न—नहीं; कल्पा—समर्थ; आसीत्—थी; योग-क्षेमम्—लालन-पालन; मम—मेरा; इच्छती—यद्यपि उत्सुक; ईशस्य—ईश्वर का; हि—क्योंकि; वशे—वश में; लोकः—प्रत्येक व्यक्ति; योषा—गुड़िया; दारु-मयी—काठ की बनी; यथा—जिस तरह।

वह मेरा लालन-पालन अच्छी तरह करना चाहती थी, लेकिन पराश्रित होने के कारण वह मेरे लिए कुछ भी नहीं कर पाती थी। यह संसार परमेश्वर के पूर्ण नियन्त्रण में है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति कठपुतली नचाने वाले के हाथ में किसी काठ की गुड़िया के समान है।

अहं च तद्ब्रह्मकुले ऋषिवांस्तदुपेक्षया ।

दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—भी; तत्—उस; ब्रह्म-कुले—ब्राह्मणों की पाठशाला में; ऋषिवान्—रहता था; तत्—उसका; उपेक्षया—आश्रित; दिक्-देश—दिशा तथा देश; काल—समय; अव्युत्पन्नः—अनुभवविहीन; बालकः—मात्र बालक; पञ्च—पाँच; हायनः—वर्ष का।

जब मैं केवल पाँच वर्ष का बालक था, तो एक ब्राह्मण की पाठशाला में रहता था। मैं अपनी माता के स्नेह पर आश्रित था और मुझे विभिन्न क्षेत्रों का कोई अनुभव न था।

एकदा निर्गतां गेहादुहन्तीं निशि गां पथि ।

सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; निर्गताम्—चले जाने पर; गेहात्—घर से; दुहन्तीम्—दुहने के लिए; निशि—रात्रि में; गाम्—गाय को; पथि—रास्ते में; सर्पः—सर्प ने; अदशत्—डस लिया; पदा—पाँव में; स्पृष्टः—इस प्रकार काटी गई; कृपणाम्—बेचारी स्त्री; काल-चोदितः—परम काल के वशीभूत हो कर।

एक बार जब मेरी माँ बेचारी रात्रि के समय गाय दुहने जा रही थी, तो परम काल से प्रेरित एक सर्प ने मेरी माता के पाँव में डस लिया।

तात्पर्य : एक सत्यनिष्ठ आत्मा को ईश्वर के पास खींच लाने की यह विधि है। बेचारा बालक केवल अपनी स्नेहमयी माता की देख-भाल में रह रहा था, तो भी उसकी माता को परम इच्छा के फलस्वरूप इस संसार से उठा लिया गया, जिससे वह बालक पूर्ण रूप से भगवान् की कृपा पर आश्रित हो जाय।

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।

अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; तत्—उस; अहम्—मैंने; ईशस्य—ईश्वर के; भक्तानाम्—भक्तों की; शम्—दया; अभीप्सतः—चाहते हुए; अनुग्रहम्—विशेष आशीष; मन्यमानः—इस प्रकार सोचता हुआ; प्रातिष्ठम्—प्रस्थान किया; दिशम् उत्तराम्—उत्तर दिशा में।

मैंने इसे भगवान् की विशेष कृपा माना, क्योंकि वे अपने भक्तों का भला चाहने वाले हैं और इस प्रकार सोचता हुआ मैं उत्तर की ओर चल पड़ा।

तात्पर्य : भगवान् के विश्वस्त भक्त पग पग को भगवान् का वरदायक आदेश समझते हैं। जिसे लौकिक दृष्टि से विषम या कठिन क्षण समझा जाता है, उसे भगवान् की विशेष कृपा के रूप में स्वीकार किया जाता है। लौकिक समृद्धि एक प्रकार का भौतिक ज्वर है, किन्तु भगवान् के अनुग्रह से इस ज्वर का तापमान धीरे धीरे गिरता जाता है और पद पद पर आध्यात्मिक स्वास्थ्य-लाभ होता रहता है। संसारी लोग इसका गलत अर्थ लगाते हैं।

स्फीताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामब्रजाकरान् ।

खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स्फीतान्—अत्यन्त समृद्ध; जन-पदान्—जनपद; तत्र—वहाँ; पुर—नगर; ग्राम—गाँव; व्रज—बड़े-बड़े खेत;
आकरान्—खानें; खेट—कृषि योग्य खेत; खर्वट—घाटियाँ; वाटी:—पुष्प वाटिकाएँ; च—तथा; वनानि—जंगल;
उपवनानि—पौधघर; च—तथा।

प्रस्थान करने के बाद मैं अनेक समृद्ध जनपदों, नगरों, गाँवों, पशु-क्षेत्रों, खानों, खेतों, घाटियों, पुष्पवाटिकाओं, पौधशालाओं तथा प्राकृतिक जंगलों से होकर गुजरा।

तात्पर्य : वर्तमान सृष्टि के पूर्व भी कृषि, खनन, फार्मिंग, उद्योग, उद्यान-विज्ञान आदि के क्षेत्र में आज के ही समान मनुष्य की गतिविधियाँ थीं और यही गतिविधियाँ अगली सृष्टि में भी बनी रहेंगी। करोड़ों वर्षों के बाद प्रकृति के नियम द्वारा किसी एक सृष्टि का शुभारम्भ होता है और विश्व का इतिहास प्रायः इसी रूप में पुनरावर्तित होता रहता है। लौकिक अज्ञानी-जन पुरातात्विक उत्खननों में अपने समय को व्यर्थ गँवाते रहते हैं, किन्तु जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की खोज नहीं कर पाते। श्री नारद मुनि ने आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा पाने के बाद, भले ही अभी वे केवल एक बालक थे, आर्थिक विकास में अपना एक क्षण भी नहीं गँवाया, यद्यपि वे नगरों तथा गाँवों, खानों तथा उद्योगों में से होकर गुजरे थे। वे निरन्तर प्रगतिशील आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ते गये। श्रीमद्भागवत इतिहास की पुनरावृत्ति है, जो करोड़ों वर्ष पूर्व घटित हुआ था। जैसाकि यहाँ कहा गया है, इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को ही चुनकर इस दिव्य साहित्य में अंकित किया गया है।

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।

जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ।

चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

चित्र-धातु—मूल्यवान् खनिज यथा सोना चाँदी तथा ताँबा; विचित्र—विविधतापूर्ण; अद्रीन्—पहाड़ियाँ; इभ-भग्न—विशालकाय हाथियों द्वारा तोड़ी गई; भुज—शाखाएँ; द्रुमान्—वृक्ष; जलाशयान् शिव—स्वास्थ्यवर्धक; जलान्—जलाशय; नलिनीः—कमल के फूल; सुर-सेविताः—स्वर्ग के निवासियों द्वारा जिसकी कामना की जाय; चित्र-स्वनैः—हृदयग्राही; पत्र-रथैः—पक्षियों द्वारा; विभ्रमत्—मदान्ध; भ्रमर-श्रियः—भौरों से अलंकृत।

मैं सोने, चाँदी तथा ताँबे जैसे विविध खनिजों के आगारों से परिपूर्ण पर्वतों तथा सुन्दर कमलों से पूर्ण जलाशयों से युक्त भूभागों को पार करता रहा जो स्वर्ग के वासियों के उपयुक्त थे और मदान्ध भौरों तथा चहचहाते पक्षियों से सुशोभित थे।

नलवेणुशरस्तन्बकुशकीचकगह्वरम् ।

एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।

घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

नल—नरकट; वेणु—बाँस; शरः—सरपत; तन्ब—से परिपूर्ण; कुश—नुकीली घास, कुश; कीचक—अपतृण; गह्वरम्—गुफाएँ; एकः—अकेले; एव—केवल; अतियातः—दुर्गम; अहम्—मैंने; अद्राक्षम्—देखा; विपिनम्—गहन जंगल; महत्—विशाल; घोरम्—भयावना; प्रतिभय-आकारम्—भयानक; व्याल—सर्प; उलूक—उल्लू; शिव—सियार; अजिरम्—मैदान।

तब मैं अनेक जंगलों में से होकर अकेला गया जो नरकटों, बाँसों, सरपतों, कुशों, अपतृणों तथा गह्वरों से परिपूर्ण थे और जिनसे अकेले निकल पाना कठिन था। मैंने अत्यन्त सघन, अंधकारपूर्ण तथा अत्यधिक भयावने जंगल देखे जो सर्पों, उल्लूओं तथा सियारों की क्रीड़ास्थली बने हुए थे।

तात्पर्य : किसी भी परिव्राजकाचार्य का यह कर्तव्य होता है कि वह समस्त जंगलों, पर्वतों, नगरों, ग्रामों आदि का विचरण करते हुए भगवान् की सृष्टि की विविधता का अनुभव करे, ईश्वर के प्रति श्रद्धावान बने, मन में दृढ़ता लाए तथा साथ ही साथ लोगों को ईश्वर के सन्देश से प्रबोधित कराए। संन्यासी को भय त्याग कर ये सारे संकट उठाने पड़ते हैं। वर्तमान युग के सबसे विशिष्ट संन्यासी भगवान् चैतन्य हैं, जिन्होंने इसी विधि से मध्य भारत के जंगलों में से होकर यात्रा की और शेरों, भालुओं, सर्पों, हिरनों, हाथियों तथा जंगल के अन्य पशुओं को भी प्रबुद्ध बनाया। इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए संन्यास वर्जित है। जो केवल गेरुवा चोला पहनकर अपना दिखावा करता है, वह मौलिक आदर्श संन्यासी के समान नहीं होता। फिर भी मनुष्य को चाहिए कि सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ने का व्रत ले और केवल भगवान् की सेवा में ही जीवन बिताए। वेश बदलना तो एक औपचारिकता मात्र है। भगवान् चैतन्य ने संन्यासी के नाम

का स्वीकार नहीं किया था, और इस कलियुग के तथाकथित संन्यासियों को चाहिए कि वे भगवान् चैतन्य का अनुसरण करते हुए अपने मूल नामों को न बदलें। इस युग में भगवान् के पवित्र यश के श्रवण तथा कीर्तन वाली भक्ति की संस्तुति की गई है और जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन छोड़कर संन्यास-व्रत ग्रहण करता है, उसे नारद या चैतन्य जैसे परिव्राजकाचार्यों का अनुकरण न करके, किसी पवित्र स्थान में बैठ कर अपना सारा समय वृन्दावन के षट् गोस्वामी-जैसे आचार्यों द्वारा संकलित पवित्र शास्त्रों के श्रवण एवं कीर्तन में व्यतीत करना चाहिए।

परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।

स्नात्वा पीत्वा हृदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

परिश्रान्त—थका हुआ; इन्द्रिय—शरीर से; आत्मा—मन से; अहम्—मैं; तृट्-परीतः—प्यासा होकर; बुभुक्षितः—तथा भूखा; स्नात्वा—नहा कर; पीत्वा—तथा जल पीकर; हृदे—सरोवर में; नद्याः—नदी के; उपस्पृष्टः—सम्पर्क में रह कर; गत—छुटकारा प्राप्त किया; श्रमः—थकान से।

इस प्रकार विचरण करते हुए, मैं तन तथा मन से थक गया और प्यासा तथा भूखा भी था। अतएव मैंने एक सरोवर में स्नान किया और जल भी पिया। जल-स्पर्श से मेरी थकान जाती रही।

तात्पर्य : परिव्राजक को प्यास तथा भूख जैसी शरीर की आवश्यकताओं को, गृहस्थों के द्वार पर भिक्षाटन करके नहीं, अपितु प्रकृति के उपहारों से पूरा करना चाहिए। अतः परिव्राजक गृहस्थ के घर भिक्षाटन के लिए नहीं, अपितु उसे आध्यात्मिक आलोक प्रदान करने के लिए जाता है।

तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः ।

आत्मनात्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; निर्मनुजे—वीरान; अरण्ये—वन में; पिप्पल—पीपल के वृक्ष के; उपस्थे—नीचे बैठ कर; आश्रितः—सहारा लेकर; आत्मना—बुद्धि से; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—अपने में ही लीन; यथा-श्रुतम्—जैसा मैंने मुक्त पुरुषों से सुन रखा था; अचिन्तयम्—विचार करने लगा।

उसके पश्चात् उस वीरान जंगल में एक पीपल वृक्ष की छाया में बैठकर मैं अपनी बुद्धि से अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा का वैसे ही ध्यान करने लगा, जिस प्रकार कि मैंने मुक्तात्माओं से सीखा था।

तात्पर्य : मनुष्य को अपनी निजी सनक के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिए। उसे प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम से, शास्त्रों के प्रमाण से, तथा प्रत्येक हृदय में वास करने वाले परमात्मा के चिन्तन में प्रशिक्षित अपनी बुद्धि के सही प्रयोग से भलीभाँति जानना चाहिए। यह चेतना उन भक्तों में भलीभाँति विकसित होती है, जो अपने गुरु के आदेशों के अनुसार भगवान् की प्रेममय सेवा करते हैं। श्री नारद जी ने प्रामाणिक गुरुओं से सम्पर्क किया था, उनकी निष्ठापूर्वक सेवा की थी और उनसे समुचित आलोक प्राप्त किया था। इस प्रकार से वे ध्यान करने बैठ गये।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।

औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ध्यायतः—इस तरह ध्यान करते हुए; चरण-अम्भोजम्—अन्तर्यामी भगवान् के चरणकमलों का; भाव-निर्जित—भगवान् के दिव्य प्रेम में परिणत मन; चेतसा—सारी मानसिक गतिविधियाँ (सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना); औत्कण्ठ्य—उत्सुकता; अश्रु-कल—आँसू निकल आये; अक्षस्य—आँखों के; हृदि—हृदय में; आसीत्—प्रकट हुए; मे—मेरे; शनैः—तुरन्त; हरिः—भगवान्।

ज्योंही मैं अपने मन को दिव्य प्रेम में लगाकर भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने लगा कि मेरे नेत्रों से आँसू बहने लगे और भगवान् श्रीकृष्ण बिना विलम्ब किए मेरे हृदय-कमल में प्रकट हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भाव शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह भाव अवस्था तब प्राप्त होती है, जब भगवान् के लिए दिव्य प्रेम होता है। प्रारम्भिक अवस्था श्रद्धा अथवा भगवान् के प्रति चाह कहलाती है। इस चाह को बढ़ाने के लिए मनुष्य को शुद्ध भक्तों की संगति करना जरूरी है। तीसरी अवस्था में भक्ति के विधि-विधानों का अभ्यास करना होता है। इससे सारी आशंकाएँ दूर हो जाती हैं और भक्ति पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाली सारी वैयक्तिक त्रुटियाँ हट जाती हैं।

जब सारी आशंकाएँ तथा वैयक्तिक त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं, तो दिव्य तत्त्व में आदर्श श्रद्धा होती है और उसके प्रति रुचि अधिक अनुपात में बढ़ती है। इस अवस्था से आकर्षण उत्पन्न होता है और इसके बाद भाव की अवस्था प्राप्त होती है, जो भगवान् के प्रति अटल प्रेम की पूर्व अवस्था है। ये सारी अवस्थाएँ दिव्य प्रेम के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार दिव्य प्रेम से अभिभूत होने पर वियोग (विरह) की प्रबल अनुभूति होती है, जिससे आठ प्रकार की विभिन्न ऊर्मियों की उत्पत्ति होती है। भक्त के नेत्रों से अश्रुपात होना इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है और चूँकि श्री नारद मुनिने अपने पूर्वजन्म में घर छोड़ने के तुरन्त बाद ही यह अवस्था प्राप्त कर ली थी, अतएव उनके लिए भगवान् की उपस्थिति को देख पाना सरल था, जिसे उन्होंने बिना कोई भौतिक कल्मष वाली अपनी विकसित आध्यात्मिक इन्द्रियों के द्वारा सहज ही अनुभव कर लिया।

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।

आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्रेमा—प्रेम; अतिभर—अत्यधिक; निर्भिन्न—विशेष रूप से विभेदित; पुलक—प्रसन्नता की अनुभूति; अङ्गः—शरीर के विभिन्न अंग; अति-निर्वृतः—पूर्ण रूप से अभिभूत होकर; आनन्द—आह्लाद के; सम्प्लवे—समुद्र में; लीनः—मग्न; न—नहीं; अपश्यम्—देख सका; उभयम्—दोनों को; मुने—हे व्यासदेव।

हे व्यासदेव, उस समय प्रसन्नता की अनुभूति होने के कारण, मेरे शरीर का अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठा। आनन्द के सागर में निमग्न होने के कारण मैं अपने आपको और भगवान् को भी न देख सका।

तात्पर्य : सुख तथा उत्कट आनन्द की तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों की कोई सांसारिक तुलना नहीं हो सकती। अतएव ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे आनन्द की एक झलक हमें श्री नारद मुनि के शब्दों से मिल सकती है। शरीर अथवा इन्द्रियों के प्रत्येक अंग का अपना एक विशेष कार्य होता है। भगवान् का दर्शन करने पर सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा करने के लिए जागृत हो उठती हैं, क्योंकि मुक्त अवस्था में इन्द्रियाँ भगवान् की

सेवा करने में सक्षम होती हैं। इस प्रकार से दिव्य आनन्द की अवस्था में ऐसा हो गया कि इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा के लिए पृथक् रूप से उत्कण्ठित हो गईं। ऐसा होने से नारद मुनि अपने आपको तथा भगवान् को एकसाथ देखने में खो गये।

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।

अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्यादुर्मना इव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

रूपम्—रूप; भगवतः—भगवान् का; यत्—जैसा है; तत्—वह; मनः—मन की; कान्तम्—इच्छानुसार; शुच-
अपहम्—समस्त विषमता को दूर करते हुए; अपश्यन्—बिना देखे; सहसा—अचानक; उत्तस्थे—खड़ा हो गया;
वैक्लव्यात्—विकल होकर; दुर्मनाः—इष्ट को खोकर; इव—मानो।

भगवान् का दिव्य रूप, जैसा कि वह है, मन की इच्छा को पूरा करता है और समस्त मानसिक सन्तापों को तुरन्त दूर करने वाला है। अतः उस रूप के खो जाने पर मैं व्याकुल होकर उठ खड़ा हुआ, जैसा कि प्रायः अपने अभीष्ट के खो जाने पर होता है।

तात्पर्य : नारद मुनि ने अनुभव किया कि भगवान् रूप-विहीन नहीं हैं। लेकिन उनका रूप हमारे भौतिक अनुभव के सभी रूपों से सर्वथा भिन्न होता है। हम जीवन भर इस भौतिक जगत में विभिन्न रूप देखते रहते हैं, लेकिन इनमें से किसी एक से भी न तो मन की तुष्टि होती है, न उनमें से एक भी हमारे मन की अशान्ति को दूर कर सकता है। भगवान् के दिव्य रूप की ये ही विशेषताएँ हैं और जिसने उस रूप को एक बार भी देखा है, वह अन्य किसी वस्तु से तुष्ट नहीं हो पाता। भौतिक जगत का कोई भी रूप दृष्टा को तुष्ट नहीं कर सकता। 'भगवान् रूप-विहीन हैं या निराकार हैं' इस का यही अर्थ होता है कि उनका कोई भौतिक रूप नहीं होता और वे किसी भौतिक व्यक्तित्व के समान नहीं होते।

आध्यात्मिक जीवों के रूप में भगवान् के उस दिव्य रूप से सम्बन्धित होने के कारण हम सभी जन्म-जन्मान्तर भगवान् के उसी रूप को खोजते रहते हैं और भौतिक तुष्टि के अन्य किसी रूप से संतुष्ट नहीं हो पाते। नारद मुनि को इसकी झलक मिली थी, लेकिन उसे दुबारा न देख कर वे विकल हो उठे और उसे ढूँढ़ने के लिए सहसा उठ खड़े हुए। हम जन्म-जन्मान्तर जिसकी

खोज करते हैं, वह नारद मुनि को मिल गया था, अतएव उसका अदृश्य होना निश्चित ही उनके लिए आघात पहुँचाने वाला था।

दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।

वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दिदृक्षुः—देखने को इच्छुक; तत्—वह; अहम्—मैं; भूयः—फिर; प्रणिधाय—मन को एकाग्र करके; मनः—मन; हृदि—हृदय में; वीक्षमाणः—देखने के लिए प्रतीक्षारत; अपि—होते हुए; न—कभी नहीं; अपश्यम्—उन्हें देखा; अवितृप्तः—बिना संतुष्ट हुए; इव—सदृश; आतुरः—संतप्त।

मैंने भगवान् के उस दिव्य रूप को पुनः देखना चाहा, लेकिन अपने हृदय में एकाग्र होकर उस रूप का दर्शन करने के सारे प्रयासों के बावजूद, मैं उन्हें फिर से न देख सका। इस प्रकार असंतुष्ट होने पर मैं अत्यधिक संतप्त हो उठा।

तात्पर्य : भगवान् के रूप को देखने की कोई यान्त्रिक विधि नहीं होती है। यह पूर्ण रूप से भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करता है। हम भगवान् से यह माँग नहीं कर सकते कि वे हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो जाँय, ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्य से हम यह माँग नहीं कर सकते कि वह हमारी इच्छानुसार उदय हुआ करे। सूर्य स्वेच्छा से उदय होता है, उसी तरह से भगवान् भी अपनी अहैतुकी कृपावश ही उपस्थित होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करे और भगवान् की भक्तिमय सेवा के लिए अपने नियत कर्म करता रहे। नारद मुनि ने सोचा कि वे भगवान् को पुनः उसी यान्त्रिक विधि से देख सकेंगे, जिससे वे प्रथम प्रयास में सफल हुए थे, लेकिन अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उनका दूसरा प्रयास सफल नहीं हो पाया। भगवान् समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हैं। वे केवल अनन्य भक्ति के बन्धन से ही बाँधे जा सकते हैं। वे न तो हमारी इन्द्रियों द्वारा दृश्य हैं, न अनुभवगम्य हैं। वे जब भक्तिमय सेवा के निष्ठावान प्रयास से प्रसन्न होते हैं और जब चाहते हैं, तब स्वेच्छा से ही दिखते हैं।

एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् ।

गम्भीरश्लक्षण्या वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यतन्तम्—यत्न करते हुए; विजने—वह एकान्त स्थान में; माम्—मुझसे; आह—कहा; अगोचरः—भौतिक शब्द (ध्वनि) की सीमा से बाहर; गिराम्—वाणी; गम्भीर—गम्भीर; श्लक्षण्या—सुनने में सुखद; वाचा—शब्द; शुचः—शोक; प्रशमयन्—दूर करते हुए; इव—सदृश।

वह एकान्त स्थान में मेरे प्रयासों को देखकर समस्त लौकिक वर्णन से परे भगवान् ने मेरे शोक को दूर करने के लिए अत्यन्त गम्भीर तथा सुखद वाणी में मुझसे कहा।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि भगवान् लौकिक वाणी तथा बुद्धि की पहुँच के परे हैं। तो भी उनकी अहैतुकी कृपा होने पर मनुष्य को उनके सुनने तथा उनका कीर्तन करने के लिए उपयुक्त इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। यही भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है। जिस पर यह कृपा प्रदान की जाती है वह उनको सुन सकता है। नारद मुनि से भगवान् अतीव प्रसन्न थे, अतएव उन्हें वह शक्ति प्राप्त हो सकी कि वे भगवान् की वाणी सुन सके। लेकिन, वैधि भक्ति की दीक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में, उनका स्पर्श पाकर उनकी अनुभूति करना अन्य लोगों के लिए सम्भव नहीं है। यह तो नारद के लिए विशेष वरदान था। जब उन्होंने भगवान् की सुखद वाणी सुनी, तो वियोग की अनुभूति कुछ-कुछ दूर हुई। ईश्वर से प्रेम करने वाला भक्त निरन्तर उनके वियोग की व्यथा का अनुभव करता रहता है, अतएव वह नित्य ही दिव्य आनन्द में डूबा रहता है।

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

हन्त—हे नारद; अस्मिन्—इस; जन्मनि—जन्म में; भवान्—तुम; मा—नहीं; माम्—मुझको; द्रष्टुम्—देखने के लिए; इह—यहाँ; अर्हति—योग्य हो; अविपक्व—अप्रौढ़; कषायाणाम्—भौतिक, कल्मष; दुर्दर्शः—देख पाना कठिन; अहम्—मैं; कुयोगिनाम्—सेवा में अपूर्ण।

(भगवान् ने कहा) हे नारद, मुझे खेद है कि तुम इस जीवन काल में अब मुझे नहीं देख सकोगे। जिनकी सेवा अपूर्ण है और जो समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हैं, वे मुश्किल से ही मुझे देख पाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् को अत्यन्त शुद्ध, सर्वोपरि तथा परम सत्य के रूप में वर्णित किया गया है। उनके व्यक्तित्व में भौतिकता लेशमात्र भी नहीं रहती, अतएव जिस व्यक्ति में रंचमात्र भी भौतिक अनुराग रहता है, वह उन तक नहीं पहुँच सकता। भक्तिमय सेवा का शुभारम्भ तब होता है, जब मनुष्य कम-से-कम दो भौतिक गुणों से—रजोगुण तथा तमोगुण से—मुक्त हो जाता है। *काम* तथा *लोभ* से मुक्त होना ही इसका लक्षण है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को इन्द्रियतृष्टि की इच्छाओं तथा इन्द्रियतृप्ति की तृष्णा से मुक्त हो जाना चाहिए। प्रकृति का संतुलित गुण सत्त्वगुण है और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होने के लिए उसे सत्त्वगुण से भी ऊपर उठना होता है। किसी एकान्त वन में जाकर भगवान् के दर्शन (साक्षात्कार) की खोज करना सत्त्वगुण में आता है। मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धि के लिए वन में जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे वहाँ भगवान् का साक्षात् दर्शन हो ही जाय। मनुष्य को समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होना चाहिए और अध्यात्म के धरातल पर स्थित होना चाहिए, तभी उसे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है। अतएव सर्वोत्तम विधि यह है कि मनुष्य वहाँ जाकर रहे, जहाँ भगवान् के दिव्य रूप की पूजा की जाती है। भगवान् का मन्दिर एक दिव्य स्थान होता है, जब कि वन भौतिक दृष्टि से उत्तम निवास-स्थान है। नवदीक्षित भक्त को भी भगवान् की खोज करने के लिए जंगल जाने के लिये नहीं, अपितु भगवान् के विग्रह की पूजा (अर्चना) करने के लिए कहा जाता है। भगवान् की *अर्चना* से ही भक्ति का शुभारम्भ होता है और यह वन में जाने की अपेक्षा श्रेष्ठ है। नारद मुनि को अपने वर्तमान जीवन में वन जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे समस्त भौतिक लालसाओं से मुक्त हैं और वे अपनी उपस्थिति से ही प्रत्येक स्थान को वैकुण्ठ में बदल सकते हैं। वे मनुष्यों, देवों, किन्नरों, गंधर्वों, ऋषियों, मुनियों तथा अन्यो को भगवान् का भक्त बनाने के लिए एक लोक से दूसरे लोक में विचरण करते रहते हैं। उन्होंने अपने कार्य-कलापों से ही प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज जैसे अनेक भक्तों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाया है। अतएव भगवान् का शुद्ध भक्त नारद तथा प्रह्लाद जैसे महान भक्तों के पदचिह्नों पर

चलता है और कीर्तन की प्रक्रिया के द्वारा भगवान् की महिमा का गुणगान करने में अपना पूरा समय लगाता है। ऐसी उपदेश विधि समस्त भौतिक गुणों से परे है।

सकृद् यदर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।

मत्कामः शनकैः साधु सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सकृत्—केवल एक बार; यत्—जो; दर्शितम्—दिखाया हुआ; रूपम्—रूप; एतत्—यह है; कामाय—लालसा के लिए; ते—तुम्हारा; अनघ—हे निष्पाप; मत्—मेरी; कामः—इच्छा; शनकैः—बढ़ाने से; साधुः—भक्त; सर्वान्—समस्त; मुञ्चति—त्यागता है; हृत्-शयान्—भौतिक इच्छाओंको।

हे निष्पाप पुरुष, तुमने मुझे केवल एक बार देखा है और यह मेरे प्रति तुम्हारी इच्छा को उत्कट बनाने के लिए है, क्योंकि तुम जितना ही अधिक मेरे लिए लालायित होगे, उतना ही तुम समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो सकोगे।

तात्पर्य : जीव कभी भी इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता, क्योंकि वह मृत (जड़) पत्थर नहीं है। उसे काम करना, सोचना, अनुभव करना तथा चाहना, कुछ तो करना होता है। किन्तु जब वह भौतिक दृष्टि से सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है, तो वह बंधन में जकड़ता जाता है, किन्तु इसके विपरीत, जब वह ईश्वर की सेवा के लिए सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है, तो वह धीरे-धीरे समस्त बन्धन से मुक्त होता जाता है। मनुष्य जितना ही अधिक भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगता है, वह उतना ही अधिक उसके लिए लालायित रहता है। दैवी सेवा की यह दिव्य प्रकृति है। भौतिक सेवा की तृप्ति हो जाती है, जबकि भगवान् की आध्यात्मिक सेवा की न तो तृप्ति होती है, न उसका कोई अन्त है। मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के प्रति अपनी लालसा बढ़ाता जा सकता है, लेकिन उसे उसकी तृप्ति या उसका अन्त नहीं दिखता। भगवान् की उत्कट सेवा से मनुष्य को भगवान् की दिव्य उपस्थिति की अनुभूति हो सकती है। अतएव भगवान् का दर्शन करने का अर्थ है उनकी सेवा में लगे रहना, क्योंकि उनकी सेवा तथा स्वयं भगवान् अभिन्न हैं। निष्ठावान भक्त को भगवान् की नैष्ठिक सेवा करते रहना चाहिए। भगवान्

उचित दिशा-निर्देश करेंगे कि कहाँ तथा कैसे भगवत्-सेवा की जाय। नारद में कोई भौतिक इच्छा न थी, लेकिन भगवान् के प्रति उत्कट इच्छा को बढ़ाने के लिए ही भगवान् ने ऐसी सलाह दी।

सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः ।

हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्-सेवया—परम सत्य की सेवा द्वारा; अदीर्घया—कुछ दिनों तक; अपि—भी; जाता—प्राप्त हुआ; मयि—मुझको; दृढा—दृढ़; मतिः—बुद्धि; हित्वा—त्याग कर; अवद्यम्—शोचनीय; इमम्—इस; लोकम्—भौतिक जगत को; गन्ता—जाते हुए; मत्-जनताम्—मेरे पार्षद; असि—होते हैं।

कुछ काल तक ही सही, परम सत्य की सेवा करने से भक्त मुझमें दृढ़ एवं अटल बुद्धि प्राप्त करता है। फलस्वरूप, वह इस शोचनीय भौतिक जगत को त्यागने के बाद दिव्य जगत में मेरा पार्षद बनता है।

तात्पर्य : परम सत्य की सेवा करने का अर्थ है, प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु के मार्गदर्शन में परम भगवान् की सेवा करना, जो भगवान् तथा नवदीक्षित भक्त के बीच एक पारदर्शी मध्यस्थ का काम करते हैं। नवदीक्षित भक्त में अपनी वर्तमान अपूर्ण भौतिक इन्द्रियों के बल पर भगवान् के परम व्यक्तित्व तक पहुँचने की शक्ति नहीं होती, अतएव आध्यात्मिक गुरु के निर्देशन में उसे भगवान् की दिव्य सेवा का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस तरह के प्रशिक्षण से, भले ही वह कुछ दिनों का ही क्यों न हो, नवदीक्षित भक्त को ऐसी दिव्य सेवा की बुद्धि प्राप्त हो जाती है जिससे वह अन्ततः भौतिक लोक में निरन्तर वास करने से मुक्त हो जाता है और आध्यात्मिक विश्व तक उन्नत होकर भगवान् का मुक्त पार्षद बनता है।

मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।

प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मतिः—बुद्धि; मयि—मुझमें अनुरक्त; निबद्धा—लगा हुआ; इयम्—यह; न—कभी नहीं; विपद्येत—विलग; कर्हिचित्—किसी समय; प्रजा—जीव; सर्ग—सृष्टि के समय; निरोधे—संहार के समय; अपि—भी; स्मृतिः—स्मृति, स्मरण-शक्ति; च—तथा; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—कृपा से।

मेरी भक्ति में लगी हुई बुद्धि कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। यहाँ तक कि सृष्टि काल के साथ ही साथ संहार के समय भी मेरे अनुग्रह से तुम्हारी स्मृति बनी रहेगी।

तात्पर्य : भगवान् के प्रति की गई भक्ति कभी व्यर्थ नहीं जाती। चूँकि भगवान् शाश्वत हैं, अतएव उनकी सेवा में लगाई गई बुद्धि या उनके प्रति किया गया कोई भी कार्य स्थायी होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् के प्रति की गई ऐसी दिव्य सेवा जन्म-जन्मान्तर तक संचित होती जाती है और जब भक्त पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाता है, तो उसकी सारी सेवा को समाकलित कर देने पर वह भगवान् के सान्निध्य में जाने के योग्य हो जाता है। भगवान् की ऐसी संचित सेवा कभी विनष्ट नहीं होती, अपितु पूर्णतः परिपक्व होने तक बढ़ती ही जाती है।

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्
भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे
शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतावत्—इस प्रकार; उक्त्वा—कह कर; उपरराम—रुक गया; तत्—वह; महत्—महान्; भूतम्—आश्चर्यजनक; नभः—लिङ्गम्—शब्द द्वारा व्यक्त; अलिङ्गम्—नेत्रों से न दिखने वाला, अदृश्य; ईश्वरम्—परम पुरुष को; अहम्—मैं; च—भी; तस्मै—उन्को; महताम्—महान्; महीयसे—महिमा मंडित; शीर्ष्णा—शिर से; अवनामम्—नमस्कार; विदधे—किया; अनुकम्पितः—उनके द्वारा कृपा दिखाये जाने पर।

तब शब्द से व्यक्त तथा नेत्रों से अदृश्य उन नितान्त आश्चर्यमय परम पुरुष ने बोलना बन्द कर दिया। मैंने कृतज्ञता का अनुभव करते हुए शीश झुकाकर उन्हें प्रणाम किया।

तात्पर्य : यदि भगवान् केवल सुनाई पड़ें, दिखें नहीं, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवान् ने अपने श्वास से चारों वेद उत्पन्न किये। उन्हें वेदों के दिव्य उच्चारण से ही देखा और अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* भगवान् की शब्द-अभिव्यक्ति है और इनमें तथा इनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। निष्कर्ष यह है कि भगवान् को निरन्तर दिव्य ध्वनि के उच्चारण द्वारा देखा और सुना जा सकता है।

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
 गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
 गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
 कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नामानि—पवित्र नाम, यश आदि.; अनन्तस्य—असीम के; हत-त्रपः—भौतिक जगत की सारी औपचारिकताओं से मुक्त होकर; पठन्—जप से, पाठ से.; गुह्यानि—रहस्यमय; भद्राणि—कल्याणकर; कृतानि—कार्य; च—तथा; स्मरन्—निरन्तर स्मरण करते हुए; गाम्—पृथ्वी पर; पर्यटन्—सर्वत्र विचरण करते हुए; तुष्ट-मनाः—पूर्ण रूप से सन्तुष्ट; गत-स्पृहः—समस्त भौतिक कामनाओं से पूर्ण रूप से मुक्त; कालम्—काल, समय की; प्रतीक्षन्—प्रतीक्षा करते हुए; विमदः—गर्व किये बिना; विमत्सरः—ईर्ष्यारहित ।

इस प्रकार भौतिक जगत की समस्त औपचारिकताओं की उपेक्षा करते हुए, मैं बारम्बार भगवान् के पवित्र नाम तथा यश का कीर्तन करने लगा। भगवान् की दिव्य लीलाओं का ऐसा कीर्तन एवं स्मरण कल्याणकारी होता है। इस तरह मैं पूर्ण रूप से सन्तुष्ट, विनम्र तथा ईर्ष्या-द्वेषरहित होकर सारी पृथ्वी पर विचरण करने लगा।

तात्पर्य : नारद मुनि ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा भगवान् के निष्ठावान् भक्त के जीवन का संक्षेप में वर्णन किया है। ऐसा भक्त भगवान् से या भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि से दीक्षा ग्रहण करने पर भगवान् की महिमा का गम्भीरतापूर्वक कीर्तन करता है और सारे संसार में विचरण करता है, जिससे अन्य लोग भी भगवान् की महिमा का श्रवण कर सकें। ऐसे भक्तों को भौतिक लाभ की कोई इच्छा नहीं रहती। उनकी एकमात्र इच्छा इच्छा होती है कि वे भगवान् के धाम को वापस जाएँ। यथासमय भौतिक शरीर को त्यागने पर उन्हें यह अवसर प्राप्त होता है। चूँकि भगवद्धाम को वापस जाना उनके जीवन का चरम लक्ष्य रहता है, अतः वे न तो किसी से ईर्ष्या करते हैं, न ही भगवद्धाम जाने के लिए सुयोग्य होने का उन्हें अभिमान होता है। उनका एकमात्र व्यवसाय भगवान् के पवित्र नाम, यश तथा लीलाओं का कीर्तन तथा स्मरण करना और अपनी वैयक्तिक क्षमता के अनुसार भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर दूसरों के कल्याण हेतु संदेश का प्रचार करना होता है।

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः ।

कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-मतेः—जो कृष्ण के चिन्तन में लीन हो; ब्रह्मन्—हे व्यासदेव; न—नहीं; आसक्तस्य—आसक्त होने वाले का; अमल-आत्मनः—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त का; कालः—मृत्यु; प्रादुरभूत्—दृष्टिगोचर हुआ; काले—समय आने पर; तडित्—बिजली; सौदामनी—प्रकाश करती हुई; यथा—जिस प्रकार है।

और हे ब्राह्मण व्यासदेव, इस तरह मैंने कृष्ण के चिन्तन में पूर्णतया निमग्न रहते हुए तथा किसी प्रकार की आसक्ति न रहने से समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाने पर यथा समय मृत्यु पाई, जिस प्रकार बिजली गिरना तथा प्रकाश कौंधना एकसाथ होते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण के विचारों में पूर्ण रूप से निमग्न होने का अर्थ है, भौतिक कल्मष या लालसाओं से छुटकारा। जिस प्रकार किसी धनी व्यक्ति को छोटी-छोटी चीजों की परवाह नहीं रहती, उसी प्रकार से भगवान् कृष्ण का भक्त भी शाश्वत जीवन, ज्ञान तथा आनन्द से युक्त भगवान् के धाम जाने के प्रति आश्वस्त तथा प्रफुल्लित रहने के कारण छोटी-छोटी बातों की लालसा नहीं करता, क्योंकि ये सब वास्तविकता की पुत्तलिकाएँ या छाया मात्र होती हैं और उनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से सुसम्पन्न व्यक्तियों का यही लक्षण होता है और समय के साथ जब शुद्ध भक्त पूर्ण रूप से सन्नद्ध रहता है, तो एकाएक शरीर का परिवर्तन होता है जिसे सामान्य रूप से मृत्यु कहा जाता है। शुद्ध भक्त के लिए ऐसा परिवर्तन बिजली के समान होता है और उसकी चमक उसके साथ ही उसके पीछे दिखती है। कहने का अर्थ यह है कि परम की इच्छा से भक्त का भौतिक शरीर उसी समय बदलता है और उसके आध्यात्मिक शरीर का विकास हो जाता है। यहाँ तक कि मृत्यु के पूर्व भी शुद्ध भक्त को कोई भौतिक आसक्ति नहीं होती, क्योंकि उसका शरीर उसी प्रकार आध्यात्मिक बन जाता है, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में रहने से लोहा लाल (अग्निवत्) हो जाता है।

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।

आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रयुज्यमाने—पुरस्कृत होकर; मयि—मुझ पर; ताम्—उस; शुद्धाम्—दिव्य; भागवतीम्—भगवान् की संगति करने योग्य; तनुम्—शरीर; आरब्ध—प्राप्त किया; कर्म—सकाम कर्म; निर्वाणः—समाप्त होना; न्यपतत्—त्याग दिया; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना शरीर।

भगवान् के पार्षद के लिए उपयुक्त दिव्य शरीर पाकर मैंने पाँच भौतिक तत्त्वों से बने शरीर को त्याग दिया और इस तरह कर्म के सारे अर्जित फल समाप्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् ने यह बता दिया था कि नारद को भगवान की संगति करने के लिए उपयुक्त दिव्य शरीर प्रदान किया जायेगा, अतः नारद ने ज्योंही भौतिक शरीर त्यागा, उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो गया। यह दिव्य शरीर भौतिक आसक्ति से मुक्त और तीन प्रधान दिव्य गुणों से युक्त होता है। ये हैं शाश्वतता, भौतिक गुणों से मुक्ति तथा सकाम कर्मों के फल से मुक्ति। भौतिक शरीर इन तीनों गुणों के अभाव से निरन्तर पीड़ित रहता है। किन्तु, ज्योंही कोई भक्त भगवान् की सेवा में तत्पर होता है, त्योंही उसका शरीर दिव्य गुणों से अभिभूत हो जाता है। यह लोहे पर पारसमणि की तरह चुम्बकीय प्रभाव डालता है। दिव्य भक्तिमय सेवा का प्रभाव भी उसी तरह होता है। फलतः शरीर-परिवर्तन का अर्थ है, शुद्ध भक्त पर भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों की प्रतिक्रिया की समाप्ति। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। ध्रुव महाराज, प्रह्लाद महाराज तथा अन्य अनेक भक्त इसी शरीर से भगवान् का साक्षात्कार कर सके। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त के शरीर का गुण भौतिक से दिव्य में बदल जाता है। प्रामाणिक शास्त्रों के आधार पर, प्रधिकृत गोस्वामियों का यही अभिमत है। ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि इन्द्रगोप कीट से लेकर स्वर्ग के महान् राजा इन्द्र तक, सारे जीव कर्म के नियम के अधीन हैं और उन्हें अपने-अपने कर्मों के फल को भोगना पड़ता है। केवल भक्त ही सर्वोपरि सत्ता, पुरुषोत्तम भगवान् की अहैतुकी कृपा से इन कर्म बन्धनों से मुक्त हैं।

कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।

शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कल्प-अन्ते—ब्रह्मा के दिन के अन्त में; इदम्—यह; आदाय—लेकर, समेट कर; शयाने—शयन करते हुए; अम्भसि—कारण-जल में; उदन्वतः—विनाश, संहार; शिशयिषोः—भगवान् (नारायण) का लेटना; अनुप्राणम्—श्वास लेना; विविशे—प्रवेश किया; अन्तः—भीतर; अहम्—मैंने; विभोः—ब्रह्माजी के।

कल्प के अन्त में जब भगवान् नारायण प्रलय के जल में लेट गये, तब ब्रह्माजी समस्त सृष्टिकारी तत्त्वों सहित उनके भीतर प्रवेश करने लगे और उनके श्वास से मैं भी भीतर चला गया।

तात्पर्य : नारद ब्रह्मा के पुत्र के रूप में उसी तरह विख्यात हैं, जिस प्रकार भगवान् कृष्ण वसुदेव के पुत्र-रूप में। भगवान् तथा नारद जैसे उनके मुक्त भक्तगण इस संसार में एक ही विधि से प्रकट होते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् का जन्म तथा उनके कार्य-कलाप सभी दिव्य होते हैं। अतः प्रामाणिक अभिमत के अनुसार, ब्रह्मा के पुत्र के रूप में नारद का जन्म भी दिव्य लीला है। उनका प्राकट्य तथा तिरोधान व्यावहारिक रूप से भगवान् के समस्तरीय हैं। अतः भगवान् तथा उनके भक्त दिव्य व्यक्ति के रूप में एकसाथ एकमेव तथा भिन्न हैं। वे एक ही कोटि की दिव्यता से सम्बन्धित हैं।

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः ।

मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सहस्र—एक हजार; युग—४३,००,००० वर्ष; पर्यन्ते—अवधि के अन्त में; उत्थाय—बीतने पर; इदम्—इस; सिसृक्षतः—पुनः सृजन करने की इच्छा प्रकट की; मरीचि-मिश्राः—मरीचि जैसे ऋषि; ऋषयः—सारे ऋषिगण; प्राणेभ्यः—उनकी इन्द्रियों से; अहम्—मैं; च—भी; जज्ञिरे—प्रकट हुआ।

४,३२,००,००,००० सौर वर्षों के बाद, जब भगवान् की इच्छा से ब्रह्मा पुनः सृष्टि करने के लिए जागे, तो मरीचि, अंगिरा, अत्रि इत्यादि सारे ऋषि भगवान् के दिव्य शरीर से उत्पन्न हुए और उन्हीं के साथ-साथ मैं भी प्रकट हुआ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के जीवन के एक दिन की अवधि ४,३२,००,००,००० सौर वर्षों की होती है। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* में किया गया है। अतः ब्रह्माजी इस अवधि में अपने जनक गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर के भीतर योगनिद्रा में शयन करते हैं। इस निद्रा के बाद, जब

भगवान् की इच्छा से ब्रह्मा के माध्यम द्वारा पुनः सृष्टि की जाती है, तो सारे ऋषि पुनः दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों से प्रकट होते हैं और नारद भी इसी तरह प्रकट होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नारद उसी दिव्य शरीर में प्रकट होते हैं, जिस प्रकार मनुष्य निद्रा के बाद उसी शरीर में जगता है। श्री नारद सर्वशक्तिमान की दिव्य तथा भौतिक सृष्टियों के सभी भागों में जाने के लिए मुक्त हैं। वे अपने दिव्य शरीर में ही प्रकट तथा अंतर्धान होते रहते हैं। यह शरीर बद्धजीवों के शरीर से भिन्न है, क्योंकि इस शरीर तथा आत्मा में कोई भेद नहीं होता।

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः ।

अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—दिव्य जगत में; बहिः—भौतिक जगत में; च—तथा; लोकान्—लोक; त्रीन्—तीन (विभाग); पर्येमि—विचरण करता हूँ; अस्कन्दित—अविच्छिन्न; व्रतः—व्रत, प्रण; अनुग्रहात्—अहैतुकी कृपा से; महा-विष्णोः—महाविष्णु (कारणोदकशायी विष्णु) की; अविघात—बिना रोक टोक के; गतिः—प्रवेश; क्वचित्—किसी समय।

तब से सर्वशक्तिमान विष्णु की कृपा से मैं दिव्य जगत में तथा भौतिक जगत के तीनों प्रखण्डों में बिना रोक-टोक के सर्वत्र विचरण करता हूँ। ऐसा इसलिए है क्योंकि मैं भगवान् की अविच्छिन्न भक्तिमय सेवा में स्थिर हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भौतिक प्रक्षेत्र (ब्रह्माण्ड) के तीन प्रखण्ड हैं। ये हैं ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक तथा अधोलोक। ऊर्ध्वलोकों के परे अर्थात् ब्रह्मलोक के ऊपर ब्रह्माण्ड के भौतिक आवरण होते हैं और इसके भी ऊपर चिन्मय आकाश होता है, जिसका विस्तार असीम है और जिसमें अपने शाश्वत मुक्त पार्षदों सहित भगवान् द्वारा निवसित असंख्य स्वतःप्रकाशित वैकुण्ठ लोक होते हैं। श्री नारद मुनि इन सभी लोकों में, भौतिक एवं दिव्य प्रक्षेत्रों में, बिना रोक-टोक प्रवेश कर सकते हैं जिस तरह भगवान् अपनी सृष्टि के किसी भी भाग में स्वतः जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। भौतिक जगत में सारे जीव भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सतो गुण, रजोगुण तथा तमोगुणों—से प्रभावित रहते हैं। लेकिन श्री नारद मुनि इन सारे भौतिक गुणों से परे हैं, अतएव वे कहीं भी अबाध रूप से विचरण कर सकते हैं। वे मुक्त अन्तरिक्ष यात्री

हैं। भगवान् विष्णु की अहैतुकी कृपा अद्वितीय होती है और ऐसी कृपा केवल भगवान् के अनुग्रहवश भक्तों द्वारा अनुभव की जाती है। अतएव भक्त कभी भी च्युत नहीं होते, लेकिन भौतिकतावादी अर्थात् सकाम कर्मी तथा ज्ञानी अपने-अपने गुणों से बाध्य होकर च्युत होते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ऋषिगण नारद की तरह आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) में प्रवेश नहीं कर सकते। इस तथ्य का उद्घाटन *नरसिंह पुराण* में किया गया है। मरीचि जैसे ऋषि सकाम कर्म के पंडित हैं, तथा सनक एवं सनातन जैसे ऋषि दार्शनिक चिन्तन (ज्ञान) के प्रमाण हैं। किन्तु श्री नारद मुनि ही भगवान् की दिव्य भक्ति के मूल अधिकारी हैं। भगवान् की भक्ति के सारे बड़े-बड़े अधिकारी *नारद-भक्ति-सूत्र* के अनुसार नारद मुनि के चरण चिह्नों का अनुसरण करते हैं, अतएव भगवान् के सारे भक्त भगवान् के राज्य, वैकुण्ठ में बिना किसी हिचक के प्रवेश करने के पात्र होते हैं।

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।

मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

देव—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (श्रीकृष्ण) द्वारा; दत्ताम्—प्रदत्त; इमाम्—इस; वीणाम्—वीणा को; स्वर—स्वर, बोल; ब्रह्म—दिव्य; विभूषिताम्—अलंकृत; मूर्च्छयित्वा—स्पन्दन करती; हरि-कथाम्—दिव्य सन्देश को; गायमानः—निरन्तर गाते हुए; चरामि—विचरण करता हूँ; अहम्—मैं।

और इस तरह मैं भगवान् की महिमा के दिव्य सन्देश का निरन्तर गायन करते हुए और इस वीणा को झंकृत करते हुए विचरण करता रहता हूँ, जो दिव्य ध्वनि से पूरित है और जिसे भगवान् कृष्ण ने मुझे दिया था।

तात्पर्य : *लिंग पुराण* में नारद को भगवान् कृष्ण द्वारा प्रदत्त तारयुक्त वाद्य यंत्र *वीणा* का वर्णन दिया गया है और इसकी पुष्टि श्रील जीव गोस्वामी द्वारा की गई है। यह दिव्य वाद्य भगवान् श्रीकृष्ण तथा नारद जी से अभिन्न है, क्योंकि ये सभी एक ही दिव्य कोटि के हैं। इस वाद्य द्वारा झंकृत ध्वनि कभी भौतिक नहीं हो सकती, अतएव नारद के इस वाद्य द्वारा प्रसारित महिमा तथा लीलाएँ भी दिव्य हैं, उनमें भौतिकता का जरा भी उन्माद नहीं है। सप्त स्वर ष (षडज), ऋ

(ऋषभ), गा (गान्धार), म (मध्यम), प (पञ्चम), ध (धैवत) तथा नि (निषाद) भी दिव्य हैं और विशेष रूप से दिव्य गीतों के लिए हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में श्री नारददेव भगवान् द्वारा प्रदत्त इस वीणा के ऋण से सदैव उऋण होते हैं, क्योंकि वे निरन्तर उनके दिव्य यश का गायन करते रहते हैं और इस प्रकार अपने उच्च पद पर अच्युत हैं। भौतिक जगत के स्वरूप सिद्ध व्यक्ति को भी श्रील नारद मुनि के पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए सप्तस्वरो अर्थात् ष, ऋ, गा, म, आदि का व्यवहार भगवान् की सेवा में उनकी महिमा के निरन्तर गायन द्वारा करना चाहिए, जैसी कि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है।

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।

आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्रगायतः—इस प्रकार गाते हुए; स्व-वीर्याणि—अपनी लीलाएँ; तीर्थ-पादः—भगवान्, जिनके चरणकमल समस्त पुण्यों या पवित्रता के स्रोत हैं; प्रिय-श्रवाः—सुनने में सुखद; आहूतः—बुलाया गया; इव—मानो; मे—मुझको; शीघ्रम्—जल्दी ही; दर्शनम्—दर्शन; याति—प्रकट होता है; चेतसि—हृदय स्थल में।

ज्योंही मैं भगवान् श्रीकृष्ण की सुमधुर महिमा की पवित्र लीलाओं का कीर्तन करना प्रारम्भ करता हूँ, त्योंही वे मेरे हृदयस्थल में प्रकट हो जाते हैं मानो उनको बुलाया गया हो।

तात्पर्य : परम पूर्ण भगवान् अपने दिव्य नाम, रूप, लीलाओं तथा उनकी शब्द ध्वनियों से भिन्न नहीं हैं। ज्योंही शुद्ध भक्त उनके नाम, रूप तथा लीलाओं का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हुए शुद्ध भक्ति में लग जाता है, त्योंही भगवान् आध्यात्मिक दृष्टपटल (टेलीविजन) के द्वारा शुद्ध भक्त के हृदय रूपी दर्पण पर अपना प्रतिबिम्ब उसकी दिव्य आँखों के सामने दिखलाते हैं। अतएव शुद्ध भक्त जो भगवान् से दिव्य प्रेमाभक्ति के कारण जुड़ा रहता है, प्रतिक्षण भगवान् की उपस्थिति का अनुभव कर सकता है। यह सहज मनोविज्ञान है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मुख से अपने यश का वर्णन सुनकर आनन्दित होना पसन्द करता है। यह सहज स्वभाव है और भगवान् भी अन्यो की भाँति एक व्यक्तित्व होने के कारण इस मनोविज्ञान से अलग नहीं हैं, क्योंकि हर व्यक्तिगत आत्मा में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक लक्षण परम भगवान् के उसी

मनोविज्ञान के प्रतिबिम्ब ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि भगवान् सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और अपने समस्त कार्यों में अलौकिक हैं। अतः यदि शुद्ध भक्त द्वारा अपने यश के गायन से भगवान् आकृष्ट होते हैं, तो इसमें कोई विस्मय नहीं होना चाहिए। चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतः वे अपने महिमा-गायन से प्रकट हो सकते हैं और ये दोनों बातें एक हैं। श्रील नारद भगवान् की महिमा का कीर्तन किसी निजी लाभ के लिए नहीं अपितु इसलिए करते हैं क्योंकि यह महिमा-गायन भगवान् से अभिन्न होता है। नारद मुनि अपने दिव्य कीर्तन से भगवान् के समक्ष पहुँच पाते हैं।

एतद्भ्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शच्छया मुहुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; हि—निश्चय ही; आतुर-चित्तानाम्—उन लोगों का जिनके चित्त सदैव चिन्ताओं से भरे रहते हैं; मात्रा—विषय वस्तुएँ; स्पर्श—इन्द्रियाँ; इच्छया—इच्छाओं के द्वारा; मुहुः—सदैव; भव-सिन्धु—अज्ञान रूपी सागर; प्लवः—नाव; दृष्टः—अनुभव की गई; हरि-चर्य—भगवान् हरि के कार्यकलापों का; अनुवर्णनम्—निरन्तर गायन।

यह मेरा निजी अनुभव है कि जो लोग विषय-वस्तुओं से सम्पर्क की इच्छा रखने के कारण सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं, वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के निरन्तर कीर्तन रूपी सर्वाधिक उपयुक्त नौका पर चढ़कर अज्ञान रूपी सागर को पार कर सकते हैं।

तात्पर्य : जीव का लक्षण यह है कि वह थोड़े समय के लिए भी मौन नहीं रह सकता। वह कुछ न कुछ करता रहता है, कुछ न कुछ सोचता या बोलता रहता है। सामान्य रूप से भौतिकतावादी लोग ऐसे विषयों के बारे में सोचते तथा बातें करते हैं, जो उनकी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाले होते हैं। चूँकि ये सारी बातें बहिरंगा शक्ति के प्रभाववश की जाती हैं, अतएव इन्द्रियों के कार्यों से उन्हें कोई सन्तुष्टि नहीं मिल पाती। उल्टे वे चिन्ताओं से पूर्ण होते जाते हैं। यह माया कहलाती है जिसका अर्थ है, “वह जो नहीं है”। ऐसी वस्तु जो उन्हें तुष्टि प्रदान नहीं कर पाती, उसे तुष्टि की वस्तु मान लिया जाता है। अतएव नारद मुनि अपने निजी अनुभव से बताते हैं कि इन्द्रियतृप्ति में निरत ऐसे हताश लोगों की तुष्टि भगवान् की लीलाओं के निरन्तर कीर्तन से हो सकती है। बात इतनी-सी है कि विषयवस्तु को केवल बदल देना होता है। न तो कोई किसी

जीव को सोचने से रोक सकता है, न अनुभव करने, चाहने या कार्य करने से रोक सकता है। किन्तु यदि कोई वास्तविक सुख चाहता है, तो उसे केवल विषयवस्तु बदलनी होगी। उसे चाहिए कि वह मर्त्य मनुष्य की राजनीति की चर्चा न चलाकर स्वयं भगवान् द्वारा संचालित राजनीति की चर्चा चलाए। वह सिनेमा पात्रों के कार्यकलापों में रुचि न दिखाकर भगवान् की उनके नित्य पार्षदों, यथा गोपियों तथा लक्ष्मीयों, के साथ की लीलाओं की ओर ध्यान दे। सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और संसारी पुरुषों की ही भाँति अपने कार्य दिखलाते हैं, लेकिन साथ ही, वे होते अद्वितीय हैं, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान हैं। वे समस्त बद्धजीवों के लाभ के लिए ऐसा करते हैं, जिससे वे लोग अध्यात्म की ओर ध्यान दें। ऐसा करने से बद्धजीव क्रमशः दिव्य पद पर उन्नत होता है और समस्त कष्टों के स्रोत इस भवसागर को पार करता है। श्री नारद मुनि—जैसे प्रामाणिक अधिकारी ने अपने निजी अनुभव से ऐसा कहा है। हमें भी ऐसा ही अनुभव हो सकता है, यदि हम भगवान् के प्रियतम भक्त, इस ऋषि के चरणचिह्नों का अनुसरण करने लगे।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।

मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यम—आदिभिः—आत्मसंयम का अभ्यास करने की विधि के द्वारा; योग—पथैः—योग (दैवी अवस्था प्राप्त करने के लिए यौगिक शारीरिक शक्ति) पद्धति के द्वारा; काम—इन्द्रियतुष्टि की इच्छा; लोभ—इन्द्रियों की तुष्टि के लिए लालच; हतः—समाप्त; मुहुः—सदैव; मुकुन्द—भगवान्; सेवया—की सेवा द्वारा; यद्वत्—जिस रूप में; तथा—उसी प्रकार; आत्मा—आत्मा; अद्धा—समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए; न—नहीं; शाम्यति—तुष्ट हो।

यह सत्य है कि योगपद्धति के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने के अभ्यास से मनुष्य को काम तथा लोभ की चिन्ताओं से राहत मिल जाएगी, किन्तु इससे आत्मा को सन्तोष प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि यह सन्तोष भगवान् की भक्तिमय सेवा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : योग का लक्ष्य है इन्द्रियों का संयम। आसन, विचार, भाव, इच्छा, एकाग्रता, ध्यान तथा अन्त में अध्यात्म में लीन हो जाने की यौगिक प्रक्रिया का अभ्यास करके मनुष्य इन्द्रियों को वश में कर सकता है। इन्द्रियाँ विषैले सर्पों के तुल्य हैं और योग पद्धति उन्हें केवल वश में करने

के लिए होती है। इसके विपरीत, नारद मुनि इन्द्रियों के निरोध की दूसरी विधि बताते हैं जो भगवान् मुकुन्द की दिव्य प्रेमाभक्ति है। वे अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि भगवान् की भक्तिमय सेवा इन्द्रियों को वश में करने की कृत्रिम विधि की तुलना में अधिक व्यावहारिक तथा प्रभावशाली है। भगवान् मुकुन्द की सेवा करने से इन्द्रियाँ दिव्य रूप से सेवा में लगी रहती हैं। इस प्रकार उनके इन्द्रियतुष्टि में लगने का अवसर ही नहीं रह जाता। इन्द्रियों को कुछ काम चाहिए। कृत्रिम ढंग से उन्हें रोकना कोई रोकना नहीं है, क्योंकि ज्योंही भोग का कोई अवसर आता है त्योंही साँप जैसी इन्द्रियाँ अवश्य उसका लाभ उठाना चाहती हैं। इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं—यथा विश्वामित्र मुनि का मेनका के सौंदर्य पर मोहित होना। इसी तरह सुन्दर वस्त्रों से सज्जित होकर माया आधी रात के समय ठाकुर हरिदास को मोहने आई, किन्तु वह इस भक्त को अपने जाल में फँसा न सकी।

भाव यह है कि भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना न तो योग पद्धति, न ही शुष्क चिन्तन कभी सफल हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है सकाम कर्म ध्यानयोग, या शुष्क चिन्तन से रंजित हुए बिना भगवान् की शुद्ध भक्ति करना। ऐसी शुद्ध भक्तिमय सेवा दिव्य होती है और योग तथा ज्ञान की पद्धतियाँ ऐसी विधि से गौण होती हैं। जब दिव्य भक्ति के साथ किसी अन्य गौण पद्धति को मिला दिया जाता है, तो वह दिव्य नहीं रह जाती, अपितु मिश्रित भक्ति कहलाती है। *श्रीमद्भागवत* के रचयिता श्रील व्यासदेव आगे चलकर क्रमशः इन दिव्य साक्षात्कार की विभिन्न पद्धतियों का विस्तार करेंगे।

सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ ।

जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—समस्त; तत्—वह; इदम्—यह; आख्यातम्—वर्णित; यत्—जो भी; पृष्टः—पूछा गया; अहम्—मैंने; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनघ—निष्पाप; जन्म—जन्म; कर्म—कार्य; रहस्यम्—रहस्य; मे—मेरे; भवतः—तुम्हारा; च—तथा; आत्म—निजी, स्वयं; तोषणम्—तुष्टि।

हे व्यासदेव, तुम समस्त पापों से मुक्त हो। इस तरह, जैसा तुमने पूछा, उसी के अनुसार मैंने अपने जन्म तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए किये गये कर्मों की व्याख्या की है। यह तुम्हारे आत्म-संतोष के लिए भी लाभप्रद होगा।

तात्पर्य : व्यासदेव की जिज्ञासाओं की तुष्टि के लिए, अध्यात्म अवस्था से प्रारम्भ करके, भक्तिमय कार्य की पद्धति की सम्यक् विवेचना की गई है। नारद ने बताया है कि किस प्रकार दिव्य संगति के द्वारा भक्ति रूपी बीज बोया गया और वह किस तरह मुनियों से श्रवण करने पर धीरे-धीरे बढ़ता गया। ऐसे श्रवण से सांसारिकता से विरक्ति उत्पन्न होती है, यहाँ तक कि एक छोटे-से बालक ने अपनी एकमात्र संरक्षिका माता की मृत्यु के समाचार को ईश्वर का आशीर्वाद मान कर स्वीकार किया और वह तुरन्त ही भगवान् की खोज में निकल पड़ा। फिर भगवान् से साक्षात्कार करने की उसकी प्रबल इच्छा स्वीकार हुई, यद्यपि सांसारिक नेत्रों से भगवान् को देख पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि शुद्ध दिव्य सेवा करके मनुष्य किस प्रकार संचित कर्मों के फल से छुटकारा पा सकता है और किस प्रकार उन्होंने इस भौतिक शरीर को ही आध्यात्मिक शरीर में परिणत किया। केवल आध्यात्मिक शरीर को ही भगवान् के आध्यात्मिक परिमण्डल में प्रवेश मिलता है और केवल शुद्ध भक्त ही भगवद्धाम में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। दिव्य अनुभूति के सारे रहस्यों का अनुभव नारद जी स्वयं करते हैं, अतएव ऐसे प्राधिकारी व्यक्ति से सुनकर ही भक्तिमय जीवन के फलों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, जिनका सही-सही उद्घरण वेदों के मूल पाठ में भी मुश्किल से ही मिल पाता है। वेदों तथा उपनिषदों में इन सारी बातों के विषय में अप्रत्यक्ष संकेत हैं। उनमें प्रत्यक्ष रीति से कुछ भी विवेचित नहीं मिलता। अतएव *श्रीमद्भागवत* समस्त वैदिक साहित्य रूपी वृक्ष का परिपक्व फल है।

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।

आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सम्भाष्य—सम्बोधित करके; भगवान्—सर्वशक्तिमान्;
नारदः—नारद मुनि; वासवी—वासवी (सत्यवती) के; सुतम्—पुत्र को; आमन्त्र्य—बुलाकर; वीणाम्—वीणा,
वाद्ययन्त्र; रणयन्—झंक्रुत करते हुए; ययौ—चला गया; यादृच्छिकः—जहाँ इच्छा हो वहाँ; मुनिः—मुनि।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार व्यासदेव को सम्बोधित करके नारद मुनि ने उनसे विदा ली और अपनी वीणा को झंक्रुत करते हुए वे अपनी उन्मुक्त इच्छा के अनुसार विचरण करने के लिए चले गये।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव पूर्ण स्वतन्त्रता चाहता है, क्योंकि यह उसका दिव्य स्वभाव होता है। और यह स्वतन्त्रता भगवान् की दिव्य सेवा से ही प्राप्त की जा सकती है। बहिरंगा शक्ति से भ्रमित होकर, प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र समझता है, लेकिन वास्तव में वह प्रकृति के नियमों से बँधा होता है। जब बद्धजीव इसी संसार में मुक्त भाव से विचरण नहीं कर सकता, तो फिर उसके एक लोक से दूसरे लोकों में जाने के विषय में तो कहना ही क्या? लेकिन नारद जैसे पूर्ण मुक्त व्यक्ति, जो निरन्तर भगवान् के यशोगान में लगे हों, न केवल पृथ्वी पर विचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं, अपितु ब्रह्माण्ड के किसी भाग के साथ ही साथ वैकुण्ठ के किसी भी भाग में विचरण के लिए भी उन्मुक्त हैं। हम उनकी स्वतन्त्रता के प्रसार तथा असीमता की कल्पना ही कर सकते हैं, जो भगवान् की स्वतन्त्रता जैसी ही है। उनके विचरण का न कोई कारण है, न कोई दायित्व है और न ही कोई उन्हें मुक्त विचरण से रोक सकता है। इसी प्रकार, भक्तिमय सेवा की दिव्य पद्धति भी स्वतन्त्र है। सम्भव है कि सारी क्रियाओं के बावजूद भी किसी व्यक्ति में यह विकसित न हो सके। इसी प्रकार, भक्तों की संगति भी स्वतन्त्र है। हो सकता है कि किसी भाग्यशाली को यह प्राप्त हो या किसी को हजार प्रयत्नों के बाद भी यह प्राप्त न हो पाये। अतः भक्ति के समस्त पक्षों में स्वतन्त्रता ही मुख्य धुरी है। स्वतन्त्रता के बिना भक्ति नहीं हो सकती। भगवान् को अर्पित स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि भक्त सभी तरह से आश्रित है। गुरु के पारदर्शी माध्यम से भगवान् की शरण में जाना जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना है।

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।

गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अहो—**धन्य हो**; देवर्षिः—**देवताओं के ऋषि**; धन्यः—**सफल हो**; अयम् यत्—**जो कोई**; कीर्तिम्—**यश**; शार्ङ्ग-
धन्वनः—**भगवान् का**; गायन्—**गान करते हुए**; माद्यन्—**आनन्द लूटते हुए**; इदम्—**इस**; तन्त्र्या—**वाद्ययंत्र के सहारे**;
रमयति—**जीवन दान देता है**; आतुरम्—**विपन्न**; जगत्—**संसार**।

देवर्षि नारद धन्य हैं, क्योंकि वे भगवान् की लीलाओं का यशोगान करते हैं और ऐसा करके वे स्वयं तो आनन्द लूटते ही हैं और ब्रह्माण्ड के समस्त संतप्त जीवों को भी अभिप्रेरणा प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपनी वीणा भगवान् की दिव्य लीलाओं के यशोगान करने तथा ब्रह्माण्ड के समस्त दुखी जीवों को सहारा दिलाने के लिए बजाते हैं। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी सुखी नहीं है और जिसे हम सुख के रूप में अनुभव करते हैं, वह माया का मोह है। भगवान् की माया इतनी प्रबल है कि मलभक्षी शूकर तक अपने को सुखी अनुभव करता है। इस भौतिक जगत् के भीतर वास्तविक रूप में कोई भी सुखी नहीं हो सकता। श्रील नारद मुनि, दुखी वासियों को अभिप्रेरणा प्रदान करने के लिए सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य उन्हें भगवान् के धाम वापस ले जाना है। यही उद्देश्य उन सारे असली भगवद्भक्तों का है, जो इस महर्षि के पदचिह्नों पर चलते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “नारद तथा व्यासदेव का संवाद” नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

द्रोण-पुत्र को दण्ड

शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः ।

श्रुतवांस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; निर्गते—चले जाने पर; नारदे—नारद मुनि के; सूत—हे सूत; भगवान्—दिव्य रूप से सर्वशक्तिमान्; बादरायणः—वेदव्यास ने; श्रुतवान्—सुना; तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, मनोवांछा; ततः—तत्पश्चात्; किम्—क्या; अकरोत्—किया; विभुः—महान् ने।

ऋषि शौनक ने पूछा : हे सूत, जब महान् तथा दिव्य रूप से शक्तिमान व्यासदेव ने श्री नारद मुनि से सब कुछ सुन लिया, तो फिर नारद के चले जाने पर व्यासदेव ने क्या किया ?

तात्पर्य : इस अध्याय में श्रीमद्भागवत के वर्णन किये जाने के लिए संकेत मिलता है, क्योंकि महाराज परीक्षित को अपनी माता के गर्भ में चमत्कारिक ढंग से बचा लिए गये थे। यह घटना आचार्य द्रोण के पुत्र द्रौणि (अश्वत्थामा) के कारण घटित हुई जिसने द्रौपदी के पाँच पुत्रों को सोते हुए में मार डाला और जिसके लिए अर्जुन ने उसे दंडित किया। इस महापुराण श्रीमद्भागवत का शुभारम्भ करने के पूर्व, श्री व्यासदेव ने समाधि द्वारा सारे सत्य की अनुभूति प्राप्त कर ली।

सूत उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।

शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत ने कहा; ब्रह्म-नद्याम्—वेदों, ब्राह्मणों, सन्तों तथा भगवान् से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित नदी के तट पर; सरस्वत्याम्—सरस्वती के; आश्रमः—ध्यान के लिए कुटी; पश्चिमे—पश्चिमी; तटे—तट पर; शम्याप्रासः—

शम्याप्रास नामक स्थान; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहलाने वाला; ऋषीणाम्—ऋषियों का; सत्र-वर्धनः—कार्यों को प्रोत्साहित करने वाला।

श्री सूत ने कहा : वेदों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध सरस्वती नदी के पश्चिमी तट पर शम्याप्रास नामक स्थान पर एक आश्रम है, जो ऋषियों के दिव्य कार्यकलापों को संवर्धित करने वाला है।

तात्पर्य : ज्ञान के आध्यात्मिक विकास के लिए उपयुक्त स्थान तथा वातावरण की नितान्त आवश्यकता होती है। सरस्वती नदी के पश्चिमी तट का स्थान इस कार्य के लिए विशेष उपयुक्त है और वहीं पर, शम्याप्रास में, व्यासदेव का आश्रम है। श्रील व्यासदेव गृहस्थ थे तो भी उनका निवासस्थान आश्रम कहलाता है। आश्रम वह स्थान है जहाँ आध्यात्मिक कार्यकलाप सर्वोपरि होता है, फिर चाहे वह स्थान किसी गृहस्थ का हो या तपस्वी का। सम्पूर्ण वर्णाश्रम पद्धति इस प्रकार नियोजित है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था आश्रम कहलाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन सबों में आध्यात्मिक संस्कृति एक सामान्य लक्षण है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी सारे एक ही जीवन-लक्ष्य, अर्थात् परमेश्वर के साक्षात्कार से सम्बन्धित हैं। अतएव जहाँ तक आध्यात्मिक संस्कृति की बात है, इनमें से कोई भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्तर तो केवल वैराग्य के आधार पर औपचारिकता का होता है। संन्यासी अपने व्यावहारिक वैराग्य के बल पर ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।

आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; स्वे—अपनी; आश्रमे—कुटिया में; व्यासः—व्यासदेव; बदरी—बेर; षण्ड—वृक्ष; मण्डिते—से घिरा; आसीनः—बैठे हुए; अपः उपस्पृश्य—जल का स्पर्श करके; प्रणिदध्यौ—एकाग्र किया; मनः—मन को; स्वयम्—अपने आप में।

उस स्थान पर बेरी के वृक्षों से घिरे हुए अपने आश्रम में, श्रील वेदव्यास शुद्धि के लिए जल का स्पर्श करने के बाद ध्यान लगाने के लिए बैठ गये।

तात्पर्य : अपने गुरु श्रील नारद मुनि के आदेशानुसार व्यासदेव ने ध्यान के उस दिव्य स्थान में अपने मन को एकाग्र किया।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

भक्ति—भक्तिमय सेवा; योगेन—संयुक्त होने की विधि द्वारा; मनसि—मन में; सम्यक्—पूर्ण रूप से; प्रणिहिते—संलग्न तथा स्थिर; अमले—निर्मल; अपश्यत्—देखा; पुरुषम्—भगवान् को; पूर्णम्—परम; मायाम्—शक्ति को; च—भी; तत्—उसके; अपाश्रयम्—पूर्ण वश में।

इस प्रकार उन्होंने भौतिकता में किसी लिप्तता के बिना, भक्तिमय सेवा (भक्तियोग) से बँधकर अपने मन को पूरी तरह एकाग्र किया। इस तरह उन्होंने परमेश्वर के पूर्णतः अधीन उनकी बहिरंगा शक्ति के समेत उनका दर्शन किया।

तात्पर्य : परम सत्य का सम्यक् दर्शन केवल भक्तियोग द्वारा ही किया जा सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है। मनुष्य केवल भक्तिमय सेवा द्वारा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सही-सही अनुभूति प्राप्त कर सकता है और ऐसे पूर्ण ज्ञान के बल पर ही वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा के अपूर्ण ज्ञान से पूर्णब्रह्म की अधूरी प्रतीति करके कोई भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता। श्रील नारद ने श्रील व्यासदेव को उपदेश दिया कि वे भगवान् तथा उनकी दिव्य लीलाओं के ध्यान में निमग्न हो जाएँ। श्रील व्यासदेव को ब्रह्मतेज नहीं दिखलाई पड़ा, क्योंकि यह पूर्ण दृष्टि नहीं है। पूर्ण दृष्टि तो भगवान् का व्यक्तित्व है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है : *वासुदेवःसर्वमिति। उपनिषदों* में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि भगवान् वासुदेव निर्विशेष ब्रह्म के *हिरण्मयेन पात्रेण* द्वारा आच्छादित हैं और जब भगवत्कृपा से यह आवरण हटता है, तभी भगवान् का वास्तविक मुख का दर्शन होता है। परब्रह्म को यहाँ पर पुरुष या व्यक्ति कहा गया है। परम भगवान् का उल्लेख अनेक वैदिक ग्रंथों में हुआ है और *भगवद्गीता* में तो पुरुष की पुष्टि सनातन तथा आदि पुरुष के रूप में हुई है। भगवान् पूर्ण पुरुष हैं। परम पुरुष की अनेक शक्तियाँ होती हैं जिनमें से अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियाँ

विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर बहिरंगा शक्ति का वर्णन हुआ है जैसाकि उसके कार्यकलापों के वर्णनों से स्पष्ट हो जाएगा। अन्तरंगा शक्ति परम पुरुष के साथ उसी प्रकार बनी हुई रहती है, जिस प्रकार चाँद के साथ चाँदनी रहती है। बहिरंगा शक्ति की तुलना अंधकार से की गई है, क्योंकि यह जीवों को अज्ञान के अन्धकार में रखती है। *अपाश्रयम्* शब्द इस बात का सूचक है कि यह शक्ति पूर्ण रूप से भगवान् के वश में होती है। अन्तरंगा शक्ति या पराशक्ति *माया* भी कहलाती है, किन्तु यह आध्यात्मिक *माया* होती है अर्थात् परम जगत में ही यह प्रकट होती है। जब कोई इस अन्तरंगा शक्ति के आश्रय में आता है, तो भौतिक अज्ञान का अन्धकार तुरन्त दूर हो जाता है। यहाँ तक कि जो *आत्माराम* हैं, अर्थात् जो समाधिस्थ रहते हैं, वे भी इस *माया* या अन्तरंगा शक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं। भक्तिमय सेवा या भक्तियोग इसी अन्तरंगा शक्ति का कार्य है। इस प्रकार अपरा शक्ति या भौतिक शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, जिस प्रकार आध्यात्मिक प्रकाश के तेज के समक्ष अंधकार को कोई स्थान नहीं मिल पाता। ऐसी अन्तरंगा शक्ति निराकार ब्रह्म-बोध से मिलने वाले आध्यात्मिक आनन्द से भी बढ़कर है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि निराकार ब्रह्म-तेज भी भगवान् श्रीकृष्ण के परम व्यक्तित्व से उद्भूत है। साक्षात् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई *परम पुरुष* नहीं हो सकता, जैसाकि आगे के श्लोकों में बताया जाएगा।

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; सम्मोहितः—मोहग्रस्त; जीवः—जीवात्माएँ; आत्मानम्—स्व; त्रि-गुण-आत्मकम्—प्रकृति के तीनों गुणों से बद्ध अथवा पदार्थ का फल; परः—दिव्य; अपि—के होते हुए भी; मनुते—मान लेता है; अनर्थम्—अनचाही वस्तुएँ; तत्—उससे; कृतम् च—प्रतिक्रिया; अभिपद्यते—भोगता है।

जीवात्मा तीनों गुणों से अतीत होते हुए भी इस बहिरंगा शक्ति के कारण अपने आप को भौतिक पदार्थ की उपज मानता है और इस प्रकार भौतिक कष्टों के फलों को भोगता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिकतावादी जीवों के कष्ट का मूल कारण तथा उसके उपाय के रूप में जो कार्य प्राप्त करनी चाहिए, उसके बारे में बतलाया गया है। इन सबका उल्लेख इस श्लोक में हुआ है। जीवात्मा स्वाभाविक रूप से भौतिक पाश से परे है, किन्तु अभी वह बहिरंगा शक्ति द्वारा बन्दी बना लिया गया है अतएव वह अपने आपको भौतिक पदार्थ की उपजों में से एक मानता है। अतएव इस अपवित्र सम्पर्क से विशुद्ध आध्यात्मिक जीव भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन कष्ट सहता है। जीवात्मा भ्रमवश अपने को भौतिक पदार्थ मान बैठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक स्थिती के बस में होने के कारण उसके सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की वर्तमान विकृत विधि उसके लिए स्वाभाविक नहीं है। तो भी सोचने, अनुभव करने तथा चाहने का उसका अपना सामान्य तरीका होता है। जीव अपनी मूल अवस्था में सोचने, अनुभव करने तथा चाहने की शक्ति से रहित नहीं होता। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि हुई है कि बद्धजीव का वास्तविक ज्ञान, अज्ञान से ढका रहता है। इस प्रकार यहाँ इस सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है कि जीवात्मा परम निराकार ब्रह्म है। ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि जीवात्मा की अपनी मूल अबद्ध अवस्था में भी अपनी चिन्तन शैली होती है। वर्तमान बद्ध- अवस्था बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण है जिसका अर्थ यह है कि परमेश्वर पृथक् रहते आते हैं और मोहमयी शक्ति (माया) पहल करती है। भगवान् कभी नहीं चाहते कि जीवात्मा बहिरंगा शक्ति द्वारा भ्रमाया जाए। बहिरंगा शक्ति भी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है, किन्तु वह अपनी मोहनी शक्ति से विस्मृत जीव को भ्रमाये रखने का अकृतज्ञ कार्य करती है। भगवान् भ्रामिका शक्ति के कार्य में कोई बाधा नहीं डालते, क्योंकि उसके ये कार्य बद्धजीव को सुधारने के लिए आवश्यक होते हैं। कोई स्नेहिल पिता नहीं चाहता कि अन्य कोई व्यक्ति उसकी सन्तान को प्रताड़ित करे, तो भी वह अपने उड़ड पुत्र को सुधारने के लिए कठोर व्यक्ति के संरक्षण में सौंप देता है। लेकिन साथ ही, सर्व-स्नेहिल सर्वशक्तिमान पिता बद्धजीवों को भ्रामिका शक्ति (माया) के चंगुल से छुटकारा दिलाने के लिए उत्सुक रहते हैं। राजा अवज्ञाकारी नागरिकों को बन्दीगृह की चारदीवारी के भीतर डाल देता है, लेकिन कभी-कभी बन्दी को राहत देने की इच्छा से वह स्वयं बन्दीगृह में जाता है और उनसे

सुधरने के लिए कहता है और उसके ऐसा करने पर वह बन्दी को मुक्त कर देता है। इसी प्रकार परमेश्वर अपने राज्य से भ्रामिका शक्ति के राज्य में अवतरित होकर *भगवद्गीता* के रूप में राहत देते हैं, जहाँ पर वे व्यक्तिगत रूप से सुझाव देते हैं कि यद्यपि भ्रामिका शक्ति पर विजय पाना दुष्कर है, तो भी यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण में आता है, तो भगवान् के आदेश से वह मुक्त हो जाता है। शरणागति की यह विधि माया के भ्रामक प्रभाव से छुटकारा पाने का उपाय है। अतः भगवान् का सुझाव है कि सन्त पुरुषों की वाणी के प्रभाव से, जिन्होंने वास्तव में परम की अनुभूति कर ली है, वे लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न हों। बद्धजीव को भगवान् के विषय में सुनने में आस्वाद मिलने लगता है और इस प्रकार श्रवण करने से ही वह भगवान् के प्रति आदर, भक्ति तथा आसक्ति के पद तक ऊपर उठ जाता है। शरणागति विधि से सभी कुछ पूरा हो जाता है। यहाँ पर व्यासदेव के अवतार रूप में भगवान् ने यही सुझाव रखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् द्वारा बद्धजीवों का दोनों प्रकार से उद्धार किया जाता है—एक तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा दण्डित होकर तथा दूसरी ओर भगवान् द्वारा अन्तस्थ और बाह्य गुरु बनकर। भगवान् प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में परमात्मा रूप में गुरु बनते हैं और बाहर से वे शास्त्रों, सन्तों तथा दीक्षा- गुरु के रूप में गुरु बनते हैं। अगले श्लोक में इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है।

वेदों में (केनोपनिषद् में) देवताओं की नियन्त्रक शक्ति के सम्बन्ध में भ्रामिका शक्ति के व्यक्तिगत अधीक्षण की पुष्टि की गई है। यहाँ पर भी यह स्पष्ट कहा गया है कि जीवात्मा बहिरंगा शक्ति द्वारा व्यक्तिगत सामर्थ्य में नियन्त्रित होता है। इस प्रकार जो जीव बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण में आ जाता है वह भिन्न रूप से अवस्थित होता है। फिर भी *भागवत* के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वही बहिरंगा शक्ति, पूर्ण पुरुष भगवान् के समक्ष, निकृष्ट स्थित पर रहती है। पूर्ण व्यक्ति या भगवान् तक भ्रामिका शक्ति पहुँच भी नहीं पाती, क्योंकि वह केवल जीवों पर ही अपना कार्य कर पाती है। अतएव यह तो मात्र कल्पना है कि भगवान् भ्रामिका शक्ति द्वारा भ्रमित होते हैं और बाद में जीव बन जाते हैं। यदि भगवान् तथा जीव एक ही श्रेणी में होते, तो व्यासदेव के लिए इसे

देख पाना सम्भव होता और भ्रमित जीवों के भौतिक दुख का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि परमेश्वर सब कुछ जानते हैं। अतएव अनेक अद्वैतवादियों द्वारा भगवान् तथा जीव को एक ही श्रेणी में रखने का प्रयास छिछोरी कल्पनाएँ मात्र हैं। यदि भगवान् तथा जीव एक से ही होते, तो श्रील शुकदेव गोस्वामी भगवान् की दिव्य लीलाओं का वर्णन करने का कष्ट न उठाते, क्योंकि ये सब भ्रामिका शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होतीं।

श्रीमद्भागवत माया के चंगुल में कष्ट पाने वाली मानवता के लिए रामबाण उपचार है। अतएव श्रील व्यासदेव ने सर्वप्रथम बद्धजीवों के वास्तविक रोग का निदान किया, जो है बहिरंगा शक्ति द्वारा भ्रमित होना। उन्होंने उन पूर्ण परम पुरुष के भी दर्शन किये, जिनसे भ्रामिका शक्ति बहुत दूर रहती है, यद्यपि उन्होंने रुग्ण बद्धजीवों तथा रोग के कारण दोनों को देखा। रोग के उपचार की विधियाँ अगले श्लोक में सुझाई गई हैं। निस्सन्देह भगवान् तथा जीव दोनों ही गुणवत्ता की दृष्टि से समान हैं, लेकिन भगवान् भ्रामिका शक्ति के नियन्ता हैं, जबकि जीव इसी भ्रामिका शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इस प्रकार भगवान् तथा जीव एकसाथ अभिन्न तथा भिन्न हैं। दूसरा अन्तर इस प्रकार है—भगवान् तथा जीव के बीच का सनातन सम्बन्ध दिव्य है, अन्यथा वे माया के चंगुल से बद्धजीवों का उद्धार करने का कष्ट न लेते। इसी प्रकार से जीव को भी भगवान् के प्रति अपने प्राकृतिक प्रेम तथा स्नेह को जगाने की आवश्यकता रहती है और जीव की यही सर्वोच्च पूर्णता है। जीवन के इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर *श्रीमद्भागवत* में बद्धजीवों का वर्णन हुआ है।

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अनर्थ—फालतू चीजें; उपशमम्—बहिष्कार, निवारण; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भक्ति-योगम्—भक्ति को जोड़ने की विधि; अधोक्षजे—दिव्य को; लोकस्य—सामान्य लोगों का; अजानतः—न जानने वाले; विद्वान्—प्रकाण्ड पंडित; चक्रे—संकलन किया; सात्वत—परम सत्य के प्रसंग में; संहिताम्—वैदिक साहित्य।

जीव के भौतिक कष्ट, जिन्हें वह अनर्थ समझता है, भक्तियोग द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कम किये जा सकते हैं। किन्तु अधिकांश जन इसे नहीं जानते; इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया है, जिसका सम्बन्ध परम सत्य से है।

तात्पर्य : श्रील व्यासदेव ने परम पूर्ण भगवान् को देखा। इस कथन से यह सुझाव मिलता है कि भगवान् की पूर्ण इकाई में उनके अंश-प्रत्यंश भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव उन्होंने उनकी विभिन्न शक्तियों को अर्थात् अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा शक्तियों को देखा। उन्होंने उनके पूर्ण अंश तथा इनके भी अंशों अर्थात् उनके विभिन्न अवतारों को भी देखा और उन्होंने विशेष रूप से बहिरंगा शक्ति से मोहग्रस्त बद्धजीवों के अवांछित कष्टों को देखा। अन्त में उन्होंने बद्धजीवों के उपचार को भी देखा, जो भक्तियोग है। यह एक महान् दिव्य विज्ञान है और भगवान् के नाम, यश, कीर्ति आदि के श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ होता है। सुप्त ईश्वर-प्रेम की पुनर्जागृति केवल श्रवण तथा कीर्तन की यांत्रिक पद्धति पर अवलम्बित नहीं होती, अपितु पूर्ण रूप से केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करती है। जब भगवान् भक्त की निष्ठा से पूर्ण रूप से प्रसन्न होते हैं, तब वे उसे दिव्य प्रेममय सेवा प्रदान कर सकते हैं। लेकिन श्रवण तथा कीर्तन की संस्तुत विधियों से भी भौतिक जगत के व्यर्थ तथा अवांछित दुखों को तुरन्त कम किया जा सकता है। भौतिक आसक्ति का इस तरह दूर होना दिव्य ज्ञान के विकसित होने की प्रतीक्षा नहीं करता, अपितु ज्ञान परम सत्य की चरम अनुभूति के लिए भक्तिमय सेवा पर निर्भर होता है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।

भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यस्याम्—यह वैदिक साहित्य; वै—निश्चय ही; श्रूयमाणायाम्—मात्र श्रवण करने से; कृष्णे—भगवान् कृष्ण में; परम—परम; पूरुषे—भगवान् में; भक्तिः—भक्ति की भावनाएँ; उत्पद्यते—अंकुरित होते हैं; पुंसः—जीव का; शोक—संताप; मोह—मोह; भय—डर; अपहा—भगाने वाला, नष्ट करने वाला।

इस वैदिक साहित्य के श्रवण मात्र से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमा भक्ति की भावना तुरन्त अंकुरित होती है, जो शोक, मोह तथा भय की अग्नि को तुरन्त बुझा देती है।

तात्पर्य : इन्द्रियाँ तो अनेक हैं, लेकिन इनमें से कान सर्वाधिक प्रभावशाली है। यह इन्द्रिय प्रगाढ़ निद्रा के समय भी कार्य करती है। मनुष्य जागृत रहते हुए शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है, लेकिन निद्राधीन होने पर केवल कान ही रक्षा करते हैं। यहाँ पर जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के सम्बन्ध में श्रवण का महत्त्व बताया गया है, जो है तीनों भौतिक तापों से मुक्ति। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण शोकसन्तप्त रहता है, वह भ्रामक वस्तुओं की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है और अपने कल्पनिक शत्रु से सदैव भयभीत रहता है। भौतिक रोग के ये मूलभूत लक्षण हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट सुझाव है कि केवल *श्रीमद्भागवत* का सन्देश सुनने से ही, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न हो जाती है और ऐसा होते ही भव रोग के लक्षण दूर हो जाते हैं। श्रील व्यासदेव ने परम पूर्ण भगवान् को देखा था और इस कथन से भगवान् श्रीकृष्ण के परम पूर्ण व्यक्तित्व की स्पष्ट पुष्टि होती है।

भक्तिमय सेवा का अन्तिम फल भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न करना है। प्रेम शब्द ऐसा है जो प्रायः स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु प्रेम ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जिससे भगवान् कृष्ण तथा जीवों के बीच के सम्बन्ध को समुचित ढंग से व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। *भगवद्गीता* में जीवों को *प्रकृति* कहा गया है और संस्कृत में *प्रकृति* शब्द स्त्रीवाचक है। भगवान् को सदैव *परम पुरुष* या *सर्वोपरि पुरुषवाचक व्यक्तित्व* कहा जाता है। अतएव भगवान् तथा जीवों के बीच का प्रेम लगभग पुरुष तथा स्त्री के बीच के प्रेम जैसा है। अतएव ईश्वर-प्रेम शब्द अत्यन्त उपयुक्त है।

भगवान् की प्रेमाभक्ति भगवान् के विषय में श्रवण करने से प्रारम्भ होती है। भगवान् तथा उनके विषय में सुनी गई विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् सभी प्रकार से पूर्ण हैं, और इस प्रकार उनमें तथा उनके विषय में सुनी गई विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। अतएव

उनके विषय में श्रवण करने का अर्थ है दिव्य शब्द के उच्चारण की प्रक्रिया के द्वारा उनसे त्वरित सम्पर्क होना और यह दिव्य शब्द ध्वनि इतनी प्रभावशाली होती है कि वह उपर्युक्त समस्त भौतिक प्रभावों को दूर करके तुरन्त असर दिखाती है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जीवात्मा भौतिक संगति के द्वारा एक प्रकार की जटिलता (उलझन) उत्पन्न कर लेता है और भौतिक देह के भ्रामक बन्धन को वास्तविक तथ्य के रूप में स्वीकार करने लगता है। ऐसी झूठी जटिलता के कारण ही विभिन्न योनियों के जीव भिन्न-भिन्न माध्यमों से मोहित होते रहते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य जीवन की सर्वाधिक विकसित अवस्था में भी वही मोह (भ्रम) अनेक प्रकार के *वादों* के रूप में चलता रहता है और भगवान् के साथ प्रेममय सम्बन्ध को विभाजित करता है और इस तरह मनुष्य-मनुष्य के बीच के प्रेममय सम्बन्ध भी बँट जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* की कथा सुनने से भौतिकता की यह झूठी जटिलता दूर हो जाती है और समाज में वास्तविक शान्ति का शुभारम्भ होता है, जिसकी कामना राजनेताओं द्वारा अनेक राजनीतिक परिस्थितियों में बड़ी उत्सुकता से की जाती है। सारे राजनेता मनुष्य तथा मनुष्य, राष्ट्र तथा राष्ट्र के बीच शान्तिपूर्ण स्थिति की कामना करते रहते हैं, लेकिन साथ ही साथ भौतिक प्रभुता के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने के कारण उनमें मोह तथा भयग्रस्तता बनी रहती है। अतएव राजनेताओं के शान्ति सम्मेलनों से समाज में शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। इसकी स्थापना तो *श्रीमद्भागवत* में वर्णित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की कथा के श्रवण मात्र से ही की जा सकती है। ये मूर्ख राजनेता भले ही सदियों तक शान्ति तथा शिखर सम्मेलन क्यों न करते रहें, लेकिन वे इसे प्राप्त करने में विफल ही रहेंगे। जब तक हम कृष्ण के साथ अपने विसरे सम्बन्ध की पुनः स्थापना नहीं कर लेते, तब तक शरीर को स्वः मानने का मोह (भ्रम) बना रहेगा और इस तरह भयग्रस्तता भी बनी रहेगी। जहाँ तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण की वैधता का प्रश्न है, शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों और हजारों साक्ष्य उपलब्ध हैं और वृन्दावन, नवद्वीप तथा पुरी जैसे विभिन्न स्थानों के भक्तों के निजी अनुभवों से सैकड़ों और हजारों प्रमाण मिलते हैं। *कौमुदी* कोश में भी कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों में यशोदानन्दन तथा परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् दिये गये हैं। निष्कर्ष यह है कि वैदिक

साहित्य *श्रीमद्भागवत* के श्रवण मात्र से ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे मनुष्य सांसारिक दुख, मोह तथा भय को लाँध करके जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिसने वास्तविक रूप में विनीत भाव से *श्रीमद्भागवत* का पाठ सुना है, उसके लिए ये व्यावहारिक परीक्षाएँ हैं।

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् ।

शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; संहिताम्—वैदिक साहित्य; भागवतीम्—भगवान् से सम्बन्धित; कृत्वा—करके; अनुक्रम्य—शुद्धि तथा आवृत्ति द्वारा; च—तथा; आत्म-जम्—अपने पुत्र; शुकम्—शुकदेव गोस्वामी को; अध्यापयाम् आस—पढ़ाया; निवृत्ति—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; निरतम्—संलग्न; मुनिः—मुनि ने।

श्रीमद्भागवत का संकलन कर लेने तथा उसे संशोधित करने के बाद महर्षि व्यासदेव ने इसे अपने पुत्र श्री शुकदेव गोस्वामी को पढ़ाया, जो पहले से ही आत्म-साक्षात्कार में निरत थे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* व्यास देव द्वारा ही संकलित ब्रह्म-सूत्र का सहज भाष्य है। यह ब्रह्म-सूत्र या वेदान्त-सूत्र उन लोगों के निमित्त है, जो पहले से आत्म-साक्षात्कार में निरत हैं। *श्रीमद्भागवत* इस तरह रचा गया है कि इसकी कथाएँ सुनते ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में तुरन्त प्रवृत्त हो जाता है। यद्यपि यह मूल रूप से परमहंसों अर्थात् आत्म-साक्षात्कार में पूर्णरूपेण संलग्न व्यक्तियों के लिए है, लेकिन यह संसारी व्यक्तियों के हृदयों में गहराई तक प्रविष्ट होकर प्रभाव डालता है। सारे संसारी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति में लगे हुए हैं। लेकिन ऐसे लोग भी इस वैदिक साहित्य में अपने भवरोगों के निवारक उपचार पाते हैं। शुकदेव गोस्वामी अपने जन्म काल से ही मुक्त जीव थे और उनके पिता ने उन्हें *श्रीमद्भागवत* पढ़ाया। संसारी विद्वानों में *श्रीमद्भागवत* के संकलन के काल को लेकर मतभेद है। तथापि *श्रीमद्भागवत* के मूल पाठ से यह निश्चित है कि इसका संकलन राजा परीक्षित के तिरोधान के पूर्व और भगवान् कृष्ण के प्रयाण के पश्चात् हुआ था। जब राजा परीक्षित भारतवर्ष के सम्राट के रूप में राज्य कर रहे थे, तब उन्होंने

मूर्तिमंत कलि को दण्डित किया। प्राधिकृत शास्त्रों तथा ज्योतिष गणना के अनुसार, कलियुग अपने पाँच हजारवें वर्ष में है। अतः *श्रीमद्भागवत* कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व संकलित हुआ था। *महाभारत* का संकलन *श्रीमद्भागवत* के पूर्व हो चुका था और सारे पुराण *महाभारत* के पूर्व संकलित हो चुके थे। यह है विभिन्न वैदिक ग्रंथों के संकलन काल का एक आकलन। *श्रीमद्भागवत* की रूपरेखा नारद के निर्देशानुसार पहले ही तैयार हो चुकी थी। *श्रीमद्भागवत* निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने का विज्ञान है। नारद ने प्रवृत्ति मार्ग का तिरस्कार किया था। यह मार्ग समस्त बद्धजीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। *श्रीमद्भागवत* की विषयवस्तु मानव जाति के भवरोग का, या संसार के तापों को पूर्ण रूप से रोकने का, उपचार है।

शौनक उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः ।

कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने पूछा; सः—वह; वै—निश्चय ही; निवृत्ति—आत्म-साक्षात्कार के पथ पर; निरतः—सदैव लगा हुआ; सर्वत्र—सभी प्रकार से; उपेक्षकः—उदासीन; मुनिः—मुनि; कस्य—किस कारण से; वा—अथवा; बृहतीम्—विशाल; एताम्—इस; आत्म-आरामः—अपने आप में प्रसन्न रहने वाला; समभ्यसत्—अध्ययन किया।

श्री शौनक ने सूत गोस्वामी से पूछा : शुक्रदेव गोस्वामी तो पहले से ही निवृत्ति मार्ग पर चले रहे थे और इस तरह वे अपने आप में प्रसन्न थे। तो फिर उन्होंने ऐसे बृहत् साहित्य का अध्ययन करने का कष्ट क्यों उठाया ?

तात्पर्य : सामान्य लोगों के लिए जीवन की चरम सिद्धि भौतिक कार्यकलापों को बन्द करके आत्म-साक्षात्कार के पथ (निवृत्ति मार्ग) पर स्थिर होने में है। जो लोग इन्द्रियभोग में सुख पाते हैं या जो भौतिक शारीरिक कल्याण के कार्य में स्थिर हैं, वे *कर्म* कहलाते हैं। ऐसे हजारों तथा लाखों *कर्मियों* में से कोई एक कर्मी आत्म-साक्षात्कार द्वारा *आत्माराम* बन पाता है। *आत्म* का अर्थ है स्व तथा *आराम* का अर्थ है सुख पाना। प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सुख की खोज में लगा रहता है, लेकिन इस सुख का मानदण्ड व्यक्ति-व्यक्ति के साथ अलग-अलग हो सकता है।

अतएव कर्मियों द्वारा भोगा गया आदर्श सुख आत्मारामों के आदर्श सुख से भिन्न होता है। आत्माराम हर तरह से भौतिक भोग के प्रति अन्यमनस्क रहते हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामी ने यह अवस्था पहले से ही प्राप्त कर ली थी, तो भी उन्होंने इस बृहत् भागवत ग्रंथ का अध्ययन करने का कष्ट उठाया। इसका अर्थ यह है कि श्रीमद्भागवत उन आत्मारामों के लिए भी स्नाकतोत्तर अध्ययन का विषय है, जिन्होंने समस्त वैदिक ज्ञान का अध्ययन कर लिया हो।

सूत उवाच

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; आत्मारामाः—जिन्हें आत्मा में सुख मिलता है वे; च—भी; मुनयः—मुनिगण; निर्ग्रन्थाः—समस्त बन्धनों से मुक्त; अपि—होने पर भी; उरुक्रमे—महान् साहसिक में; कुर्वन्ति—करते हैं; अहैतुकीम्—अनन्य, अमिश्रित; भक्तिम्—भक्ति; इत्थम्—भूत—ऐसे आश्चर्यमय; गुणः—गुण; हरिः—हरि के।

जो आत्मा में आनन्द लेते हैं, ऐसे विभिन्न प्रकार के आत्माराम और विशेष रूप से जो आत्म-साक्षात्कार के पथ पर स्थापित हो चुके हैं, ऐसे आत्माराम यद्यपि समस्त प्रकार के भौतिक बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, फिर भी भगवान् की अनन्य भक्तिमय सेवा में संलग्न होने के इच्छुक रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् में दिव्य गुण हैं, अतएव वे मुक्तात्माओं सहित प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट कर सकते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रमुख भक्त श्रील सनातन गोस्वामी के समक्ष इस आत्माराम श्लोक की व्याख्या अत्यन्त विशद रूप में की। उन्होंने इस श्लोक में ग्यारह तत्त्वों का संकेत किया है। ये हैं (१) आत्माराम, (२) मुनयः, (३) निर्ग्रन्थ, (४) अपि, (५) च, (६) उरुक्रम, (७) कुर्वन्ति, (८) अहैतुकीम्, (९) भक्तिम्, (१०) इत्थम्-भूत-गुणः तथा (११) हरिः। विश्व-प्रकाश संस्कृत कोश के अनुसार, आत्माराम शब्द के सात पर्याय हैं जो इस प्रकार हैं (१) ब्रह्म (परम सत्य), (२) शरीर, (३) मन, (४) प्रयत्न, (५) सहिष्णुता, (६) बुद्धि तथा (७) (व्यक्तिगत) आदतें।

मुनयः शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है—(१) जो विचारवान हैं, (२) जो गम्भीर तथा शान्त हैं (३) तपस्वी, (४) जो हठ हैं, (५) परिव्राजक, (६) ऋषि तथा (७) साध-सन्त।

निर्ग्रन्थ शब्द से निम्नलिखित भावों का वहन होता है (१) जो अविद्या से मुक्त है, (२) जिसका शास्त्रीय आदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिसे नीति ग्रन्थो, वेदों, दर्शन, मनोविज्ञान तथा तत्त्वज्ञान आदि में वर्णित विधि-विधानों के पालन करने की विवशता नहीं है (दूसरे शब्दों में मूर्ख, अशिक्षित, बदमाश आदि जिन्हें विधि-विधानों से सम्बन्ध नहीं होता), (३) पूँजीपति तथा (४) निर्धन भी।

शब्दकोश के अनुसार, नि उपसर्ग का प्रयोग (१) निश्चितता, (२) गणना, (३) निर्माण तथा (४) निषेध के लिए होता है और ग्रंथ शब्द धन, पुस्तक, शब्दकोश आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

उरुक्रम शब्द का अर्थ है, “वह जिसके कार्यकलाप महिमामण्डित हैं।” क्रम का अर्थ है, पग या कदम। उरुक्रम शब्द विशेष रूप से भगवान् के वामन अवतार का सूचक है, जिन्होंने अपने अमाप्य पगों से सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया। भगवान् विष्णु शक्तिमान हैं और उनके कार्यकलाप इतने महिमामय हैं कि उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से आध्यात्मिक जगत की तथा बहिरंगा शक्ति से इस भौतिक जगत की सृष्टि की है। अपने सर्वव्यापक पक्ष के कारण वे परम सत्य के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं और अपने वैयक्तिक रूप में वे सदैव अपने गोलोक वृन्दावन धाम में उपस्थित रहते हैं, जहाँ पर वे अत्यन्त विविधतामयी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। उनके कार्यकलापों की तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती, अतएव उरुक्रम शब्द उन्हीं को शोभा देता है।

संस्कृत क्रिया-व्यवस्था के अनुसार, कुर्वन्ति का अर्थ है किसी अन्य के लिए काम करना। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्माराम भगवान् की भक्तिमय सेवा अपने स्वार्थवश नहीं, अपितु भगवान् उरुक्रम की प्रसन्नता के लिए करते हैं।

हेतु का अर्थ है “कारण।” मनुष्य की इन्द्रियतुष्टि के अनेक कारण हो सकते हैं और उनका वर्गीकरण भौतिक भोग, योग शक्ति तथा मुक्ति के रूप में किया जा सकता है जिसकी कामना सामान्य रूप से सारे प्रगतिशील व्यक्ति करते हैं। जहाँ तक भौतिक भोगों का प्रश्न है, भोग तो अनेक हैं और भौतिकतावादी उनकी संख्या और भी बढ़ाते रहने के लिए उत्सुक रहते हैं, क्योंकि वे माया के वश में होते हैं। भौतिक भोगों का न तो कोई अन्त है, न ही कोई व्यक्ति भौतिक जगत में इन सारे भोगों को पा सकता है। जहाँ तक योग शक्तियों का प्रश्न है, उनकी संख्या आठ है (जैसे कि अपने रूप को अत्यन्त छोटा बना देना, भाररहित बनना, इच्छानुसार की वस्तु प्राप्त करना, भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताना, अन्य जीवों को नियंत्रित करना, ग्रह की रचना करना इत्यादि)। इन योग शक्तियों का उल्लेख *भागवत* में हुआ है। मोक्ष के पाँच प्रकार हैं।

अतः अनन्य भक्ति का अर्थ है उपर्युक्त व्यक्तिगत लाभों की आकांक्षा से रहित होकर भगवान् की सेवा करना। सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्रकार के व्यक्तिगत लाभों से मुक्त ऐसे अनन्य भक्तों द्वारा पूर्ण रूप से प्रसन्न हो सकते हैं।

भगवान् की अनन्य भक्तिमय सेवा विभिन्न अवस्थाओं से होकर प्रगति करती है। भौतिक क्षेत्र में भक्ति के अभ्यास के ८१ विभिन्न गुण हैं और इन सबके ऊपर भक्ति का दिव्य अभ्यास होता है, जो एक है और *साधन-भक्ति* कहलाता है। जब *साधन-भक्ति* का अनन्य अभ्यास भगवान् के दिव्य प्रेम में परिपक्व होने लगता है, तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति नौ अवस्थाओं में क्रमशः विकसित होने लगती है। ये हैं—आसक्ति, प्रेम, स्नेह, अनुभाव, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा वियोग (विरहानुभूति)।

निष्क्रिय भक्त की आसक्ति भगवान् के प्रति दिव्य प्रेम की अवस्था तक बढ़ती है। सक्रिय सेवक की आसक्ति राग अवस्था तक और सखा-भक्त की अनुभाव अवस्था तक बढ़ती है। यही हाल मातृ-पितृ भक्तों का है। माधुर्य प्रेम में भक्तगण विरहावस्था तक भाव को बढ़ाते हैं। भगवान् की अनन्य भक्ति के ये कुछ लक्षण हैं।

हरि-भक्ति-सुधोदय के अनुसार, इत्थम्-भूत शब्द का आशय “पूर्ण आनन्द” है। निराकार ब्रह्म की अनुभूति से प्राप्त दिव्य आनन्द की तुलना बछड़े के गो खुर से बने गड्ढे में आने वाले रंचमात्र जल से की जा सकती है। भगवान् के दर्शन रूपी आनन्द के सागर की तुलना में यह तुच्छ है। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत रूप इतना आकर्षक है कि यह अपने में समस्त आकर्षण, समस्त आनन्द तथा समस्त रसों को सँजोये है। ये आकर्षण इतने प्रबल हैं कि कोई भी व्यक्ति इनका विनिमय भौतिक भोग, योगशक्ति तथा मुक्ति से नहीं करना चाहता। इस कथन के समर्थन के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है, किन्तु मनुष्य अपने स्वभाव से ही भगवान् कृष्ण के गुणों के प्रति आकृष्ट होता है। हमें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि भगवान् के गुणों का लौकिक गुणों से कोई सरोकार नहीं होता। वे सभी आनन्द, ज्ञान तथा शाश्वतता से परिपूर्ण होते हैं। भगवान् के गुण असंख्य हैं। कोई किसी गुण से आकृष्ट होता है तो दूसरा किसी अन्य गुण से।

सनक, सनातन, सनन्द तथा सनत्कुमार नामक चारों ब्रह्मचारी भक्त भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित फूलों की सुगन्ध तथा चन्दनयुक्त तुलसी दल से आकृष्ट हुए थे। इसी प्रकार शुकदेव गोस्वामी भगवान् की दिव्य लीलाओं से आकृष्ट हुए थे। शुकदेव गोस्वामी पहले से मुक्त अवस्था को प्राप्त थे, फिर भी वे भगवान् की लीलाओं से आकृष्ट हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की लीलाओं की गुणवत्ता को भौतिक संसर्ग से कुछ लेना-देना नहीं होता। इसी प्रकार तरुणी गोप कुमारियाँ भगवान् के शारीरिक लक्षणों से आकृष्ट हुईं और रुक्मिणी भगवान् की महिमा का श्रवण करके आकृष्ट हुईं। भगवान् कृष्ण भाग्य की देवी (लक्ष्मी) के भी मन को आकृष्ट करने वाले हैं। विशेष परिस्थितियों में वे समस्त तरुणियों के मन को मोहित करते हैं। वे वयस्क महिलाओं के मनो को मातृ-स्नेह के रूप में आकर्षित करते हैं। वे पुरुष के मन को सेवक तथा सखा-भाव में आकृष्ट करते हैं।

हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं, लेकिन इसका मुख्य आशय यह है कि भगवान् सारी अशुभ वस्तुओं को नष्ट करते हैं और भक्त के मन को शुद्ध दिव्य प्रेम प्रदान करके हर लेते हैं। घोर कष्ट

में होने पर भगवान् का स्मरण करने से मनुष्य के सारे दुख तथा चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। भगवान् शुद्ध भक्त के भक्ति मार्ग के सारे अवरोधों को क्रमशः दूर कर देते हैं और श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति का फल प्रकट होने लगता है।

भगवान् अपने व्यक्तिगत रूप तथा दिव्य लक्षणों से शुद्ध भक्त के सारे मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों को आकृष्ट करते हैं। ऐसी होती है कृष्ण की आकर्षण शक्ति। यह आकर्षण इतना प्रबल होता है कि शुद्ध भक्त धर्म के चारों सिद्धान्तों में से एक की भी लालसा नहीं करता। ये हैं भगवान् के दिव्य लक्षणों के आकर्षक गुण। इनके साथ *अपि* तथा *च* शब्द मिलाने से आशय में असीम वृद्धि हुई है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार, *अपि* शब्द के सात पर्याय हैं।

अतः इस श्लोक के प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने पर देखा जा सकता है कि शुद्ध भक्त को आकर्षित करने के लिए भगवान् कृष्ण में असंख्य दिव्य गुण पाये जाते हैं।

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।

अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हरेः—भगवान् हरि के; गुण—दिव्य गुण में; आक्षिप्त—लीन होकर; मतिः—मन; भगवान्—शक्तिमान्; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र ने; अध्यगात्—अध्ययन किया; महत्—महान्; आख्यानम्—कथा का; नित्यम्—नियमित रूप से; विष्णु-जन—भगवद्भक्त; प्रियः—प्रिय।

श्रील व्यासदेव के पुत्र, श्रील शुकदेव गोस्वामी न केवल दिव्य शक्ति से युक्त थे, अपितु वे भगवान् के भक्तों के भी अत्यन्त प्रिय थे। इस प्रकार उन्होंने इस महान् कथा (श्रीमद्भागवत) का अध्ययन किया।

तात्पर्य : *ब्रह्मवैवर्त पुराण* के अनुसार, श्रील शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ में भी मुक्तात्मा ही थे। श्रील व्यासदेव जानते थे कि यह बालक जन्म लेने के बाद कभी घर में नहीं रहेगा। अतएव उन्होंने बालक को *भागवत* की रूपरेखा सुनाई, जिससे वह भगवान् की दिव्य लीलाओं में अनुरक्त होता रहे। जन्म लेने के बाद यह बालक यथार्थ में श्लोकों का पाठ करके भागवत की विषय वस्तु में और भी अधिक शिक्षित बन गया।

भाव यह है कि सामान्य रूप से मुक्त पुरुष अद्वैतवादी दृष्टिकोण के साथ परम ब्रह्म से एकाकार होने के उद्देश्य से उनके निराकार ब्रह्म के आयाम के प्रति आसक्त होते हैं। लेकिन व्यासदेव जैसे शुद्ध भक्तों की संगति से मुक्त पुरुष भी भगवान् के दिव्य गुणों के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। श्री नारद की कृपा से श्रील व्यासदेव *श्रीमद्भागवत* महाकाव्य का वर्णन कर सके और व्यासदेव के अनुग्रह से श्रील शुकदेव गोस्वामी उसके आशय को ग्रहण कर सके। भगवान् के दिव्य गुण इतने आकर्षक हैं कि श्रील शुकदेव गोस्वामी निराकार ब्रह्म में लीन न होकर, उससे विरक्त हो गये और उन्होंने भगवान् की निजी लीलाओं को ग्रहण कर लिया।

व्यावहारिक रूप से शुकदेव गोस्वामी अपने मन में यह सोचते हुए परम ब्रह्म की निराकार धारणा से विलग हो गए कि उन्होंने अपना इतना समय परमेश्वर के निराकार उपाधि के पीछे व्यर्थ ही गवाँ दिया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने निराकार ब्रह्म की तुलना में भगवान् के सगुण रूप से अधिक दिव्य आनन्द की अनुभूति प्राप्त की। और उस समय के बाद वे न केवल विष्णु-जनों अर्थात् भगवद्भक्तों के ही अत्यन्त प्रिय बन गये, अपितु विष्णुजन भी उन्हें अत्यन्त प्रिय हो गये। जो भगवद्भक्त जीवों की व्यक्तित्व को नष्ट करना नहीं चाहते और जो भगवान् के निजी सेवक बनना चाहते हैं, वे निर्विशेषवादियों को ज्यादा पसन्द नहीं करते और इसी प्रकार, परमेश्वर से एकाकार होने के इच्छुक निर्विशेषवादी भगवद्भक्तों का मूल्यांकन कर पाने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार अनन्त काल से, ये दोनों दिव्य तीर्थयात्री कभी-कभी प्रतिस्पर्धी बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इनमें से हर एक अपनी साकार तथा निराकार चरम अनुभूति के कारण, अपने को दूसरे से पृथक् रखना चाहता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी भी भक्तों को नहीं चाहते थे। लेकिन चूँकि वे स्वयं एक प्रगाढ़ भक्त बन गये थे, अतएव वे सदैव विष्णुजनों की संगति करना चाहते थे और विष्णुजन भी उनकी संगति की कामना करते थे, क्योंकि वे व्यक्तिगत *भागवत* बन चुके थे। इस प्रकार, पिता तथा पुत्र दोनों ही ब्रह्म के दिव्य ज्ञान से अवगत थे और बाद में वे दोनों परमेश्वर के साकार रूप में अनुरक्त हो गये। इस प्रकार इस श्लोक से इस प्रश्न का

भी उत्तर मिल जाता है कि शुकदेव गोस्वामी किस प्रकार *भागवत* की कथा के प्रति आकृष्ट हुए थे।

परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम् ।

संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

परीक्षितः—राजा परीक्षित का; अथ—इस प्रकार; राजर्षेः—राजा का, जो राजाओं में ऋषि था; जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; विलापनम्—उद्धार, मोक्ष; संस्थाम्—संसार का परित्याग; च—तथा; पाण्डु-पुत्राणाम्—पाण्डु के पुत्रों का; वक्ष्ये—मैं कहूँगा; कृष्ण-कथा-उदयम्—जो भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कथा को जन्म देने वाला है।

सूत गोस्वामी ने शौनक आदि ऋषियों को सम्बोधित किया : अब मैं भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य कथा तथा राजर्षि परीक्षित महाराज के जन्म, कार्यकलाप तथा मोक्ष विषयक वार्ताएँ एवं पाण्डुपुत्रों द्वारा गृहस्थाश्रम के त्याग की कथाएँ कहने जा रहा हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पतितात्माओं पर इतने दयालु हैं कि वे विभिन्न जीवों के मध्य स्वयं अवतरित होते हैं और उनके दैनिक कार्यकलापों में भाग लेते हैं। कोई भी ऐतिहासिक तथ्य, चाहे पुराना हो या नया, यदि उसका सम्बन्ध कृष्ण की लीलाओं से है, तो उसे भगवान् की दिव्य कथा समझना चाहिए। कृष्ण के बिना *पुराण* तथा *महाभारत* जैसे पूरक ग्रंथ निरी कहानियाँ या ऐतिहासिक तथ्य हैं। लेकिन कृष्ण के होने से वे दिव्य बन जाते हैं और उनका श्रवण करते ही हम भगवान् से दिव्य रूप से जुड़ जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* भी एक पुराण है, लेकिन इस पुराण का विशेष महत्त्व यह है कि इसमें कृष्ण की लीलाएँ, केवल पूरक ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं, वरन् ये ही केन्द्रबिन्दु हैं। इसीलिए भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति निष्कलुष पुराण के रूप में की है। लेकिन *भागवत पुराण* के अल्पज्ञ भक्तों का एक ऐसा वर्ग है, जो प्रारम्भिक स्कंधों को पहले समझे बिना सीधे दशम स्कंध में वर्णित भगवान् की लीलाओं का आस्वाद लेना चाहते हैं। उनकी यह भ्रान्त धारणा होती है कि अन्य स्कंध भगवान् से सम्बद्ध नहीं हैं, अतएव वे मूर्खतावश दशम स्कंध को ही पढ़ने लगते हैं। इन पाठकों को यहाँ पर विशेष रूप से बताया जा रहा है कि *भागवत* के अन्य स्कंध भी दशम स्कंध की ही भाँति महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठकों को चाहिए कि अन्य नौ स्कन्धों का तात्पर्य समझे बिना वे दशम स्कंध की विषय वस्तु में प्रवेश करने का प्रयत्न न करें। कृष्ण तथा पाण्डवों जैसे उनके शुद्ध भक्त एकसमान धरातल पर हैं। कृष्ण समस्त रसों में स्थित अपने भक्तों से रहित नहीं होते और पाण्डव जैसे शुद्ध भक्त भी कृष्ण से रहित नहीं हैं। भक्त तथा भगवान् परस्पर जुड़े हुए हैं और उन्हें विलग नहीं किये जा सकते। अतएव उनसे सम्बन्धित सभी बातें कृष्ण कथा ही हैं।

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां
वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु ।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्श-
भग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥ १३ ॥
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्
कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य
जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मृधे—युद्धभूमि में; कौरव—धृतराष्ट्र के पक्ष वाले; सृञ्जयानाम्—पाण्डवों के पक्ष के; वीरेषु—योद्धाओं में; अथो—इस तरह; वीर-गतिम्—योद्धाओं के योग्य स्थान; गतेषु—प्राप्त करने पर; वृकोदर—भीम; आविद्ध—प्रताड़ित; गदा—गदा से; अभिमर्श—विलाप करते; भग्न—टूटा; उरु-दण्डे—मेरु दण्ड; धृतराष्ट्र-पुत्रे—राजा धृतराष्ट्र का पुत्र; भर्तुः—स्वामी का; प्रियम्—प्यारा; द्रौणिः—द्रोणाचार्य का पुत्र; इति—इस प्रकार; स्म—होगा; पश्यन्—देखते हुए; कृष्णा—द्रौपदी के; सुतानाम्—पुत्रों का; स्वपताम्—सोते हुए; शिरांसि—शिर; उपाहरत्—पुरस्कार के रूप में प्रदान किया; विप्रियम्—सुखद; एव—सदृश; तस्य—उसका; जुगुप्सितम्—अत्यन्त नृशंस; कर्म—कार्य; विगर्हयन्ति—भर्त्सना करते हैं।

जब दोनों दलों अर्थात् कौरवों तथा पाण्डवों के अपने-अपने योद्धागण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में मारे जा चुके और मृत योद्धाओं को उनकी इच्छित गति प्राप्त हो गई और जब भीमसेन की गदा के प्रहार से मेरुदण्ड टूट जाने से धृतराष्ट्र का पुत्र विलाप करता गिर पड़ा, तो द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) ने द्रौपदी के सोते हुए पाँचों पुत्रों के सिरों को काटकर मूर्खतावश उन्हें उपहारस्वरूप यह सोचते हुए उसे अर्पित किया कि इससे उसका स्वामी

प्रसन्न होगा। लेकिन दुर्योधन ने इस जघन्य कृत्य की निन्दा की और वह तनिक भी प्रसन्न न हुआ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं की दिव्य कथा कुरुक्षेत्र के युद्ध के समाप्त होने से प्रारम्भ होती है जहाँ भगवान् ने स्वयं भगवद्गीता में अपने विषय में कहा है। अतएव भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत दोनों ही भगवान् की दिव्य कथाएँ हैं। गीता कृष्ण-कथा है, क्योंकि यह भगवान् द्वारा कही गई है और भागवत भी कृष्ण-कथा है, क्योंकि यह कृष्ण के विषय में कही गयी कथा है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति इन दोनों कृष्ण-कथाओं के विषय में जाने। भगवान् कृष्ण चैतन्य, भगवान् कृष्ण के भक्त के वेश में, साक्षात् कृष्ण हैं, अतएव भगवान् कृष्ण तथा श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु दोनों के मंतव्य समान हैं। भगवान् चैतन्य की इच्छा थी कि जिन्होंने भारत में जन्म लिया है, वे सारे लोग इन कृष्ण-कथाओं को गम्भीरतापूर्वक समझें और पूर्ण अनुभूति होने के बाद विश्व के प्रत्येक भाग में इस दिव्य सन्देश का प्रचार करें। इससे त्रस्त विश्व में वांछित शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त हो सकेगी।

माता शिशूनां निधनं सुतानां
निशम्य घोरं परितप्यमाना ।
तदारुदद्वाष्पकलाकुलाक्षी
तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

माता—माता; शिशूनाम्—अबोध; निधनम्—हत्या; सुतानाम्—पुत्रों की; निशम्य—सुनकर; घोरम्—नृशंसापूर्वक;
परितप्यमाना—शोक करती; तदा—उस समय; अरुदत्—रोने लगी; वाष्प-कल-आकुल-अक्षी—आँखों में आँसू के साथ; ताम्—उसको; सान्त्वयन्—धीरज बँधाते हुए; आह—कहा; किरीटमाली—अर्जुन ने।

पाण्डवों के पाँचों पुत्रों की माता, द्रौपदी, अपने पुत्रों का वध सुनकर, आँसुओं से भरी आँखों के साथ, शोक से विलाप करने लगी। इस घोर क्षति में उसे ढाढस बँधाते हुए अर्जुन उससे इस प्रकार बोले।

तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे
 यद्वह्मबन्धोः शिर आततायिनः ।
 गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे
 त्वाक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; शुचः—शोक के आँसू; ते—तुम्हारे; प्रमृजामि—पोंछ दूँगा; भद्रे—हे भद्र स्त्री; यत्—जब; ब्रह्म-
 बन्धोः—पतित ब्राह्मण का; शिरः—सिर; आततायिनः—आततायी का; गाण्डीव-मुक्तैः—गांडीव नामक धनुष से छोड़े
 गये; विशिखैः—बाणों से; उपाहरे—तुम्हें भेंट करूँगा; त्वा—तुम स्वयं; आक्रम्य—उस पर चढ़ कर; यत्—जो;
 स्नास्यसि—स्नान करोगी; दग्ध-पुत्रा—पुत्रों को दाह देने के बाद ।

हे देवी, जब मैं अपने गाण्डीव धनुष से छोड़े गये तीरों से उस ब्राह्मण का सिर काट के
 तुम्हें भेंट करूँगा, तभी मैं तुम्हारी आँखों से आँसू पोछूँगा और तुम्हें सान्त्वना प्रदान करूँगा ।
 तब तुम अपने पुत्रों के शरीरों का दाह करने के बाद उसके सिर पर खड़ी होकर स्नान
 करना ।

तात्पर्य : कोई शत्रु जो घर में आग लगाता है, विष खिलाता है, अचानक घातक शस्त्रों से
 प्रहार करता है, सम्पत्ति लूटता है या कृषि-योग्य खेतों पर अनुचित अधिकार जमा लेता है, किसी
 की पत्नी को फाँसता है, वह आततायी है । ऐसा आततायी, चाहे वह ब्राह्मण हो या ब्राह्मण का
 तथाकथित पुत्र ही क्यों न हो, सब प्रकार से दण्डनीय है । जब अर्जुन ने अश्वत्थामा नामक
 आततायी का शिर काटने की प्रतिज्ञा की, तो वह भलीभाँति जानता था कि अश्वत्थामा ब्राह्मण का
 पुत्र है, लेकिन चूँकि उस तथाकथित ब्राह्मण ने कसाई जैसा कार्य किया था, अतः वह आततायी
 था और ऐसे धूर्त ब्राह्मण के पुत्र को मारने में कोई पाप नहीं था ।

इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः
 स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः ।
 अन्वाद्रवदंशित उग्रधन्वा
 कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; प्रियाम्—प्रियतमा को; वल्गु—मीठे; विचित्र—तरह-तरह के; जल्पैः—कथनों द्वारा; सः—वह; सान्त्वयित्वा—सान्त्वना देकर, प्रसन्न करके; अच्युत-मित्र-सूतः—अर्जुन ने, जिसका मार्गदर्शन अच्युत भगवान् मित्र तथा सारथी के रूप में करते हैं; अन्वाद्रवत्—पीछा किया; दंशितः—कवच द्वारा सुरक्षित; उग्र-धन्वा—भयानक अस्त्रों से सज्जित; कपि-ध्वजः—अर्जुन; गुरु-पुत्रम्—अपने गुरु के पुत्र को; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर।

इस प्रकार, मित्र तथा सारथी के रूप में अच्युत भगवान् द्वारा मार्गदर्शित किए जाने वाले अर्जुन ने अपनी प्रियतमा को ऐसे कथनों से तुष्ट किया। तब उसने अपना कवच धारण किया और भयानक अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर, वह अपने रथ पर चढ़ कर अपने गुरुपुत्र अश्वत्थामा का पीछा करने के लिए निकल पड़ा।

तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्
कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुर्व्यां
यावद्गमं रुद्रभयाद्यथा कः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आपतन्तम्—क्रोध से आते हुए; सः—उसने; विलक्ष्य—देखकर; दूरात्—दूर से ही; कुमार-हा—राजकुमारों का हत्यारा; उद्विग्न-मनाः—मन में विचलित; रथेन—रथ पर; पराद्रवत्—भाग चला; प्राण—प्राण की; परीप्सुः—रक्षा करने के लिए; उर्व्याम्—तेज गति से; यावत्-गमम्—ज्योंही वह भागा; रुद्र-भयात्—शिव के भय से; यथा—जिस प्रकार; कः—ब्रह्मा (या अर्कः)।

राजकुमारों का हत्यारा, अश्वत्थामा, अर्जुन को दूर से ही अपनी ओर तेजी से आते हुए देखकर अपने रथ पर सवार होकर डर के मारे अपनी जान बचाने के लिए उसी तरह भाग निकला, जिस प्रकार शिवजी के भय से ब्रह्माजी भागे थे।

तात्पर्य : पुराणों की पाठ्य सामग्री के अनुसार कः या अर्कः के दो सन्दर्भ मिलते हैं। कः का अर्थ ब्रह्मा है जिन्होंने एक बार अपनी पुत्री से मोहित होने पर उसका पीछा किया, जिससे शिवजी कुपित हो गये और उन्होंने ब्रह्मा पर अपने त्रिशूल से आक्रमण कर दिया। ब्रह्माजी अपने प्राणों के भय से भाग गए। जहाँ तक अर्कः का सम्बन्ध है, वामन पुराण में एक प्रसंग मिलता है। विद्युन्माली नाम का एक असुर था, जिसे एक चमचमाता सुनहरा वायुयान दिया गया था, जो सूर्य के पीछे पीछे यात्रा कर रहा था और उसके प्रकाश से रात्रि भाग जाती थी। इसके कारण सूर्यदेव

क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपनी प्रखर किरणों से वायुयान को पिघला डाला। इससे शिवजी क्रुपित हो गये और उन्होंने सूर्यदेव पर आक्रमण कर दिया। सूर्यदेव भाग गये और अन्त में काशी (वाराणसी) में गिर पड़े। वह स्थान लोलार्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।

अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अशरणम्—जिसके कोई आश्रय न हो; आत्मानम्—अपने को; ऐक्षत—देखा; श्रान्त-वाजिनम्—थके हुए घोड़े; अस्त्रम्—हथियार; ब्रह्म-शिरः—सर्वोच्च या परम (आणविक) ; मेने—प्रयुक्त किया; आत्म-त्राणम्—अपनी रक्षा के लिए; द्विज-आत्म-जः—ब्राह्मण के पुत्र ने।

जब ब्राह्मण के पुत्र (अश्वत्थामा) ने देखा कि उसके घोड़े थक गये हैं तो उसने सोचा कि अब उसके पास अनन्तिम अस्त्र ब्रह्मास्त्र (आणविक हथियार) का प्रयोग करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया।

तात्पर्य : अन्ततः जब कोई विकल्प नहीं रह जाता, तभी ब्रह्मास्त्र नामक परमाणु हथियार का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर द्विजात्मजः शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का पुत्र होते हुए भी सुयोग्य ब्रह्मण न था। सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है और यह कोई वंशानुगत उपाधि नहीं है। अश्वत्थामा पहले भी ब्रह्म-बन्धु कहलाता था। ब्राह्मण का मित्र होने का यह अर्थ नहीं है कि वह योग्यता में भी ब्राह्मण हो। ब्राह्मण का मित्र या पुत्र पूर्ण रूप से योग्य होने पर ही ब्राह्मण कहला सकता है, अन्यथा नहीं। चूँकि अश्वत्थामा का निर्णय अप्रौढ़ता भरा है, अतएव उसे यहाँ जानबूझ कर ब्राह्मण का पुत्र कहा गया है।

अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः ।

अजानन्नपि संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; उपस्पृश्य—पवित्रता के लिए स्पर्श; सलिलम्—जल; सन्दधे—मंत्र पढ़ा; तत्—वह; समाहितः—ध्यान में मग्न; अजानन्—बिना जाने; अपि—यद्यपि; संहारम्—वापसी; प्राण-कृच्छ्रे—प्राण संकट; उपस्थिते—होने पर।

चूँकि उसके प्राण संकट में थे, अतएव उसने अपने को पवित्र करने के लिए जल का स्पर्श किया और ब्रह्मास्त्र चलाने के लिए मन्त्रोच्चार में अपना ध्यान एकाग्र किया, यद्यपि उसे इस अस्त्र को वापस लाने की विधि ज्ञात न थी।

तात्पर्य : भौतिक कार्यकलापों के सूक्ष्म रूप भौतिक कार्य पद्धति की स्थूलतर विधियों से अधिक सूक्ष्म होते हैं। इस तरह के भौतिक कार्यकलापों के ऐसे सूक्ष्म रूप ध्वनि की शुद्धि द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। यहाँ पर ब्रह्मास्त्र को मन्त्रोच्चार द्वारा क्रियाशील करने के लिए इसी विधि को अपनाया गया है।

ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।

प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; प्रादुष्कृतम्—प्रसारित किया गया; तेजः—चमक; प्रचण्डम्—भयानक; सर्वतः—चारों ओर; दिशम्—दिशाएँ; प्राण-आपदम्—जीवन को प्रभावित करते हुए; अभिप्रेक्ष्य—देखकर; विष्णुम्—भगवान् से; जिष्णुः—अर्जुन ने; उवाच ह—कहा।

तत्पश्चात् समस्त दिशाओं में प्रचण्ड प्रकाश फैल गया। यह इतना उग्र था कि अर्जुन को अपने प्राण संकट में जान पड़े, अतएव उसने भगवान् श्रीकृष्ण को सम्बोधित करना प्रारम्भ किया।

अर्जुन उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ।

त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; कृष्ण—हे भगवान् कृष्ण; महा-बाहो—सर्वशक्तिमान; भक्तानाम्—भक्तों के; अभयङ्कर—भय को भगाने वाले; त्वम्—आप; एकः—एकमात्र; दह्यमानानाम्—कष्ट उठाने वालों के; अपवर्गः—मोक्ष पथ; असि—हो; संसृतेः—भौतिक कष्टों के बीच में।

अर्जुन ने कहा : हे भगवान् श्रीकृष्ण, आप सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। आपकी विविध शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। अतएव एकमात्र आप ही अपने भक्तों के हृदयों में अभय

उत्पन्न करने में समर्थ हैं। भौतिक कष्टों की ज्वालाओं में फँसे सारे लोग केवल आपमें ही मोक्ष का मार्ग पा सकते हैं।

तात्पर्य : अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों से अवगत था, क्योंकि कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे दोनों साथ-साथ उपस्थित थे, तभी इसका अनुभव उसे हो चुका था। अतएव कृष्ण के विषय में अर्जुन का कथन प्रामाणिक है। कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं और भक्तों की निर्भयता के कारण स्वरूप हैं। भगवद्भक्त सदैव निर्भय रहता है, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं। यह भौतिक संसार जंगल में धधकती अग्नि के समान है, जिसका शमन भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से ही सम्भव है। गुरु भगवान् की कृपा के प्रतिनिधि होते हैं। अतएव भौतिक अस्तित्व की ज्वालाओं में जलता हुआ व्यक्ति, स्वरूपसिद्ध गुरु के पारदर्शी माध्यम से ही भगवान् की कृपा रूपी वर्षा प्राप्त कर सकता है। गुरु अपनी वाणी के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के हृदय में प्रवेश करके दिव्य ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, जिससे भौतिक संसार की अग्नि बुझ सकती है।

त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।

मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वम् आद्यः—आप आदि; पुरुषः—भोक्ता पुरुष हैं; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ईश्वरः—नियन्ता; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; परः—दिव्य; मायाम्—भौतिक शक्ति को; व्युदस्य—दूर भगा कर; चित्-शक्त्या—अन्तरंगा शक्ति के बल से; कैवल्ये—शुद्ध शाश्वत ज्ञान तथा आनन्द में; स्थितः—स्थित; आत्मनि—अपने।

आप आदि भगवान् हैं जिनका समस्त सृष्टियों में विस्तार है और आप भौतिक शक्ति से परे हैं। आपने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से भौतिक शक्ति के सारे प्रभावों को दूर भगा दिया है। आप निरन्तर शाश्वत आनन्द तथा दिव्य ज्ञान में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह अविद्या के चंगुल से छूट सकता है। कृष्ण सूर्य के तुल्य हैं और माया या भौतिक जगत अंधकार के तुल्य है। जहाँ-जहाँ सूर्य का प्रकाश जाता है, वहाँ-वहाँ से अंधकार या अज्ञान तुरन्त दूर हो जाता है। यहाँ पर अज्ञान के संसार से निकलने का सर्वश्रेष्ठ उपाय सुझाया गया

है। यहाँ पर भगवान् को आदि परमेश्वर कहा गया है। उन्हीं से अन्य सारे अवतारों का विस्तार होता है। सर्वव्यापी भगवान् विष्णु भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश या विस्तार हैं। भगवान् अपनी नानाप्रकार की शक्तियों सहित ईश्वर तथा जीवों के असंख्य रूपों में अपना विस्तार करते हैं। लेकिन श्रीकृष्ण मूल आदि भगवान् हैं, जिनसे प्रत्येक वस्तु का उद्भव होता है। इस दृश्य जगत में भगवान् का जो सर्वव्यापी रूप दिखलाई पड़ता है, वह भी भगवान् की ही आंशिक अभिव्यक्ति है। अतएव परमात्मा भगवान् में ही सन्निहित हैं। वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उन्हें भौतिक जगत के कर्मों तथा फलों से कोई सरोकार नहीं होता, क्योंकि वे भौतिक सृष्टि से बहुत ऊपर हैं। अंधकार सूर्य का विकृत (उल्टा) रूप है, अतएव अंधकार का अस्तित्व सूर्य के अस्तित्व पर निर्भर करता है, लेकिन सूर्य में अंधकार का नामोनिशान नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य केवल प्रकाश से ओतप्रोत होता है, उसी प्रकार भगवान् इस भौतिक जगत से परे रहकर, आनन्द से ओतप्रोत रहते हैं। वे न केवल आनन्द से परिपूर्ण हैं, अपितु दिव्य विविधता से भी ओतप्रोत हैं। दिव्यता तनिक भी गतिहीन नहीं है, बल्कि गतिशील विविधता से युक्त है। वे भौतिक प्रकृति से भिन्न हैं, क्योंकि भौतिक प्रकृति तीन गुणों के कारण जटिल बनी रहती है। वे परम या प्रधान हैं, अतः वे पूर्ण हैं। उनकी अनेक शक्तियाँ हैं और वे अपनी विविध शक्तियों के द्वारा संसार का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। लेकिन उनके अपने धाम में सब कुछ सनातन तथा पूर्ण है। यह संसार केवल शक्तियों या शक्तिशाली प्रतिनिधियों द्वारा संचालित न होकर सर्वशक्तिमान के द्वारा उनकी समस्त शक्तियों सहित संचालित होता है।

स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।

विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह दिव्यता; एव—निश्चय ही; जीव-लोकस्य—बद्धजीवों का; माया-मोहित—माया द्वारा मोहित; चेतसः—हृदय से; विधत्से—सम्पन्न करते हैं; स्वेन—अपने; वीर्येण—प्रभाव से; श्रेयः—परम कल्याण; धर्म-आदि—मोक्ष के चार सिद्धान्त; लक्षणम्—लक्षण।

और, यद्यपि आप भौतिक शक्ति (माया) के कार्यक्षेत्र से परे हैं, फिर भी आप बद्धजीवों के परम कल्याण के लिए धर्म इत्यादि से के चारों सिद्धान्तों का पालन करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से, इस दृश्य जगत में प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहकर अवतरित होते हैं। वे शाश्वत रूप से भौतिक जगत से परे हैं। वे अपनी अहैतुकी कृपावश ही माया द्वारा मोहित पतित जीवों के उद्धार हेतु अवतरित होते हैं। ये जीव माया द्वारा दबोचे जाते हैं और झूठे बहानों के झाँसे से उसका भोग करना चाहते हैं, यद्यपि सच्चाई तो यह है कि जीव भोग करने में असमर्थ है। वह तो भगवान् का नित्य दास है और जब वह अपनी इस स्थिति को भूल जाता है, तो वह भौतिक जगत का भोग करने का सोचता है, किन्तु वास्तव में वह भ्रम में होता है। भगवान् इसी झूठी भोग-धारणा को नष्ट करने के लिए हैं और बद्धजीवों का उद्धार करके उन्हें अपने धाम में ले जाने के लिए अवतरित होते हैं। पतितात्माओं के लिए भगवान् का यही सर्व करुणामय स्वभाव है।

तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।

स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; अयम्—यह; च—तथा; अवतारः—अवतार; ते—आपका; भुवः—भौतिक जगत का; भार—बोझ; जिहीर्षया—दूर करने के लिए; स्वानाम्—मित्रों का; च अनन्य-भावानाम्—तथा अनन्य भक्तों का; अनुध्यानाय—बारम्बार स्मरण करने के लिए; च—तथा; असकृत्—पूर्ण रूप से प्रसन्न।

इस प्रकार आप संसार का भार हटाने तथा अपने मित्रों तथा विशेषकर आपके ध्यान में लीन रहने वाले आपके अनन्य भक्तों को लाभ पहुँचाने के लिए अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं। सभी जीव भगवान् से सम्बन्धित हैं। वे सबों के लिए समान हैं, फिर भी वे अपने जनों तथा भक्तों के प्रति विशेष अनुरक्त रहते हैं। भगवान् सबों के पिता हैं। उनका पिता कोई नहीं हो सकता और न कोई उनका पुत्र बन सकता है। उनके भक्त ही उनके इष्ट-मित्र तथा उनके परिजन हैं। यह उनकी दिव्य लीला है। इसका संसारी सम्बन्धों, पितृत्व या अन्य किसी से कोई प्रयोजन नहीं होता। जैसाकि

ऊपर कहा गया है, भगवान् प्रकृति के गुणों से ऊपर हैं, अतएव भक्ति में उनके इष्ट-मित्र तथा सम्बन्धियों में संसारी रिश्ते जैसी कोई चीज नहीं है।

किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेदम्यहम् ।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या है; इदम्—यह; स्वित्—आता है; कुतः—कहाँ से; वा इति—चाहे जो हो; देव-देव—हे देवों के देव; न—नहीं; वेद्मि—जानता हूँ; अहम्—मैं; सर्वतः—चारों ओर; मुखम्—दिशाएँ; आयाति—आता है; तेजः—तेज; परम—अत्यधिक; दारुणम्—घातक।

हे देवाधिदेव, चारों ओर फैलने वाला यह घातक तेज कैसा है? यह कहाँ से आ रहा है? मैं इसे समझ नहीं पा रहा हूँ।

तात्पर्य : जो भी वस्तु भगवान् के समक्ष प्रस्तुत की जाय, उसे सादर प्रार्थनापूर्वक करना चाहिए। यही मानक विधि है और अर्जुन ने भगवान् के अन्तरंगा सखा होते हुए भी इस विधि का पालन सामान्य जनों को सूचित करने के लिए किया।

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।
नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने; उवाच—कहा; वेत्थ—मुझसे जानो; इदम्—यह; द्रोण-पुत्रस्य—द्रोण पुत्र का; ब्राह्मम् अस्त्रम्—ब्राह्म (आणविक) अस्त्र का मंत्र; प्रदर्शितम्—प्रदर्शित; न—नहीं; एव—भी; असौ—वह; वेद—यह जानो; संहारम्—लौटाना; प्राण-बाधे—जीवन का विलोप; उपस्थिते—उपस्थित होने पर।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा : तुम मुझ से यह जान लो कि यह द्रोण के पुत्र का कार्य है। उसने आणविक शक्ति के मंत्र (ब्रह्मास्त्र) का प्रहार किया है और वह यह नहीं जानता कि उसकी चौंधको कैसे लौटाया जाय। उसने निरुपाय होकर आसन्न मृत्यु के भय से ऐसा किया है।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र आधुनिक आणविक हथियार की भाँति है, जिसका संचालन परमाणु ऊर्जा से किया जाता है। परमाणु शक्ति पूर्ण दहनशीलता पर आधारित है और ब्रह्मास्त्र भी इसी तरह चलता है। यह परमाणु-विकिरणों के समान ही असह्य ताप उत्पन्न करता है, लेकिन अन्तर इतना है कि परमाणु बम एक स्थूल नाभिकीय हथियार है जबकि ब्रह्मास्त्र सूक्ष्म हथियार है जिसे मन्त्र पढ़कर उत्पन्न किया जाता है। यह सर्वथा भिन्न विज्ञान है और प्राचीन काल में भारतवर्ष में ऐसे विज्ञान का अनुशीलन होता था। *मन्त्रोच्चार का यह सूक्ष्म विज्ञान भी भौतिक है*, लेकिन अभी भी आधुनिक भौतिक विज्ञानियों द्वारा इसको जानना शेष है। सूक्ष्म भौतिक विज्ञान कभी आध्यात्मिक नहीं होता, लेकिन आध्यात्मिक विधि से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, जो और भी अधिक सूक्ष्म है। मन्त्र का उच्चारण करने वाला जानता था कि अस्त्र को किस प्रकार छोड़ा जाय और फिर उसे किस प्रकार वापस लाया जाय। यह पूर्ण ज्ञान था। लेकिन इस सूक्ष्म विज्ञान का प्रयोग करने वाला द्रोण-पुत्र यह नहीं जानता था कि किस प्रकार उसे लौटाया जाय। उसने अपनी मृत्यु को आया देख भयभीत होकर इसका व्यवहार तो किया, लेकिन यह प्रथा न केवल अनुचित वरन् धर्मविरुद्ध भी थी। ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, उसे इतनी सारी त्रुटियाँ नहीं करनी थीं और कर्तव्य की ऐसी सरासर उपेक्षा के लिए उसे स्वयं भगवान् द्वारा दण्डित होना था।

न ह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् ।

जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—इसका; अन्यतमम्—अन्य; किञ्चित्—कुछ भी; अस्त्रम्—हथियार; प्रति—विपरीत; अवकर्शनम्—प्रतिक्रिया करने वाला; जहि—शमन करो; अस्त्र-तेजः—इस हथियार का तेज; उन्नद्धम्—अत्यन्त शक्तिशाली; अस्त्र-ज्ञः—सैन्य विज्ञान में पटु; हि—निश्चय रूप से; अस्त्र-तेजसा—तुम्हारे हथियार के प्रभाव से।

हे अर्जुन, केवल दूसरा ब्रह्मास्त्र ही इस अस्त्र को निरस्त कर सकता है। चूँकि तुम सैन्य

विज्ञान में अत्यन्त पटु हो, अतएव अपने अस्त्र की शक्ति से इस अस्त्र के तेज का शमन करो।

तात्पर्य : परमाणु बमों के प्रभावों को निरस्त करने वाला कोई प्रति-अस्त्र नहीं है। लेकिन सूक्ष्म विज्ञान द्वारा ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को प्रशमित किया जा सकता है और उन दिनों जो लोग सैन्य विज्ञान में पटु होते थे, वे ब्रह्मास्त्र का शमन कर सकते थे। द्रोण-पुत्र इस अस्त्र को प्रशमित करने की कला नहीं जानता था, अतएव अर्जुन को अपने अस्त्र से इसे प्रशमित करने का आदेश मिला।

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।

स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्मास्त्रं सन्दधे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी ने; उवाच—कहा; श्रुत्वा—सुनकर; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्तम्—जो कहा गया; फाल्गुनः—अर्जुन का अन्य नाम; पर-वीर-हा—विपक्षी योद्धा का वध करने वाला; स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके; आपः—जल; तम्—उसको; परिक्रम्य—परिक्रमा लगा कर; ब्राह्मम्—परम ब्रह्म को; ब्राह्म-अस्त्रम्—परम अस्त्र को; सन्दधे—छोड़ा।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् से यह सुनकर अर्जुन ने शुद्धि के लिए जल का स्पर्श किया और भगवान् श्रीकृष्ण की परिक्रमा करके, उस अस्त्र को प्रशमित करने के लिए उसने अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा।

संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।

आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संहत्य—संयोग से; अन्योन्यम्—परस्पर; उभयोः—दोनों के; तेजसी—तेज; शर—हथियार; संवृते—घेरते हुए; आवृत्य—आच्छादित करके; रोदसी—पूरा आकाश; खम् च—बाह्य अन्तरिक्ष भी; ववृधाते—बढ़ते हुए; अर्क—सूर्य का गोला; वह्नि-वत्—अग्नि के समान।

जब दोनों ब्रह्मास्त्रों की किरणें मिल गई, तो सूर्य के गोले के समान अग्नि के एक वृहत चक्र ने समस्त बाह्य अन्तरिक्ष तथा लोकों के सम्पूर्ण गगनमण्डल को आवृत कर लिया।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र के उद्दीपन से उत्पन्न उष्मा सृष्टि के प्रलय के समय सूर्य के गोले से निकलने वाली अग्नि तुल्य होती है। ब्रह्मास्त्र से उत्पन्न उष्मा की तुलना में परमाणु शक्ति का

विकिरण बिलकुल नगण्य है। परमाणु बम के विस्फोट से ज्यादा ज्यादा एक ही ग्रह नष्ट हो सकता है, लेकिन ब्रह्मास्त्र द्वारा उत्पन्न उष्मा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नष्ट हो सकता है। अतएव इसकी तुलना प्रलयकालीन उष्मा से की गई है।

दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रील्लोकान् प्रदहन्महत् ।

दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—इस प्रकार देख कर; अस्त्र—हथियार; तेजः—उष्मा; तु—लेकिन; तयोः—दोनों की; त्रीन्—तीनों; लोकान्—लोकों को; प्रदहत्—ज्वलंत; महत्—बुरी तरह; दह्यमानाः—जलाते हुए; प्रजाः—जनता; सर्वाः—सर्वत्र; सांवर्तकम्—वह अग्नि जो ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय विध्वंस करती है; अमंसत—सोचने लगा।

उन अस्त्रों की सम्मिलित अग्नि से तीनों लोकों के सारे लोग जल-भुन गये। सभी लोगों को उस सांवर्तक अग्नि का स्मरण हो आया, जो प्रलय के समय लगती है।

तात्पर्य : तीन लोक हैं—ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व, अधो तथा मध्य के लोक। यद्यपि ब्रह्मास्त्र इस पृथ्वी पर छोड़ा गया था, लेकिन अस्त्रों की सम्मिलित उष्मा सारे ब्रह्माण्ड में छा गई और विभिन्न लोकों के समस्त वासी प्रखर उष्मा का अनुभव करने लगे। वे इसकी तुलना सांवर्तक अग्नि से करने लगे। अतः कोई भी ग्रह जीवों से रहित नहीं है, जैसाकि अल्प बुद्धि वाले भौतिकतावादी लोग सोचते हैं।

प्रजोपद्रवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।

मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्रजा—सामान्य जन; उपद्रवम्—अव्यवस्था; आलक्ष्य—देखकर; लोक—ग्रहों का; व्यतिकरम्—विनाश; च—भी; तम्—उसको; मतम् च—तथा मत को; वासुदेवस्य—वासुदेव या श्रीकृष्ण का; सञ्जहार—शमन किया, निवारण किया; अर्जुनः—अर्जुन ने; द्वयम्—दोनों अस्त्रों का।

इस प्रकार जन सामान्य में फैली हड़बड़ी एवं ग्रहों के आसन्न विनाश को देखकर, अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छानुसार तुरन्त ही दोनों अस्त्रों का निवारण कर दिया।

तात्पर्य : यह मत कि आधुनिक परमाणु बम का विस्फोट संसार का संहार कर सकता है, बचकानी कल्पना है। पहले तो परमाणु ऊर्जा संसार का विनाश करने के लिए पर्याप्त सशक्त नहीं है। दूसरे, यह सब परमेश्वर की परम इच्छा पर निर्भर है, क्योंकि उनकी इच्छा या स्वीकृति के बिना कुछ भी बनाया या बिगाड़ा नहीं जा सकता। यह सोचना भी मूर्खता है कि प्राकृतिक नियम अनन्तिम रूप से शक्तिशाली हैं। भौतिक प्रकृति का नियम भगवान् के निर्देशानुसार कार्य करता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है। उसमें भगवान् कहते हैं कि प्राकृतिक नियम उनके अधीक्षण में कार्य करते हैं। इस संसार का संहार भगवान् की ही इच्छा से हो सकता है, छोटे-मोटे राजनेताओं की सनक से नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण ने इच्छा प्रकट की कि द्रौणि तथा अर्जुन दोनों के द्वारा छोड़े गये अस्त्र लौटा लिए जाँय और अर्जुन ने तुरन्त ही इस आज्ञा का पालन किया। इसी प्रकार, सर्वशक्तिमान भगवान् के अनेक दूत हैं और भगवान् जो चाहते हैं, उसे उनकी इच्छा से ही कोई सम्पन्न कर सकता है।

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ।

बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; आसाद्य—बन्दी बनाकर; तरसा—कौशल से; दारुणम्—खतरनाक; गौतमी-सुतम्—गौतमी पुत्र को; बबन्ध—बाँध लिया; अमर्ष—क्रुद्ध; ताम्र-अक्षः—लाल-लाल आँखें; पशुम्—पशु को; रशनया—रस्सियों से; यथा—जिस प्रकार।

ताँबे के दो लाल तप्त गोलों के समान क्रोध से प्रज्वलित आँखें किये, अर्जुन ने अत्यन्त दक्षतापूर्वक से गौतमी के पुत्र को बन्दी बना लिया और उसे रस्सियों से पशु की तरह बाँध लिया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा की माता कृपी का जन्म गौतम कुल में हुआ था। इस श्लोक की महत्वपूर्ण बात यह है कि अश्वत्थामा को पकड़कर पशु की भाँति रस्सी से बाँध दिया गया। श्रीधर स्वामी के मतानुसार, अर्जुन को अपने धर्म का पालन करने के लिए, इस ब्राह्मण पुत्र को पशु की भाँति पकड़ना पड़ा। श्रीधर स्वामी के इस प्रस्ताव की पुष्टि बाद में श्रीकृष्ण के कथन से भी हो

जाती है। अश्वत्थामा द्रोणाचार्य तथा कृपी का वैध पुत्र था, परन्तु उसने अपने जीवन को पतित बना लिया था, अतएव उसके साथ ब्राह्मण के तुल्य नहीं, अपितु पशुतुल्य व्यवहार करना ही उचित था।

शिविराय निनीषन्तं रज्ज्वा बद्ध्वा रिपुं बलात् ।

प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

शिविराय—सेना के पड़ाव में; निनीषन्तम्—लाते हुए; रज्ज्वा—रस्सियों से; बद्ध्वा—बँधा हुआ; रिपुम्—शत्रु को; बलात्—बलपूर्वक; प्राह—कहा; अर्जुनम्—अर्जुन से; प्रकुपितः—क्रुद्ध; भगवान्—भगवान् ने; अम्बुज-ईक्षणः—अपने कमल सदृश नेत्रों से देखने वाले।

अश्वत्थामा को बाँध लेने के बाद, अर्जुन उसे सेना के पड़ाव की ओर ले जाना चाह रहा था कि अपने कमलनेत्रों से देखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रुद्ध अर्जुन से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों को क्रुद्ध बताया गया है, लेकिन अर्जुन की आँखें लाल ताँबे के तप्त गोलों के समान थीं, जबकि भगवान् की आँखें कमलवत् थीं। इसका अर्थ यह है कि अर्जुन तथा भगवान् के क्रुद्ध रूप एक-जैसे नहीं हैं। भगवान् दिव्य हैं और किसी भी अवस्था में पूर्ण हैं। उनका क्रोध भौतिक प्रकृति के गुणों के वशीभूत बद्धजीवों के क्रोध जैसा नहीं होता है। चूँकि वे पूर्ण हैं, अतएव उनका क्रोध तथा उनकी प्रसन्नता एक समान हैं। उनका क्रोध प्रकृति के तीनों गुणों में प्रकट नहीं होता। यह अपने भक्तों के हित के लिए उनके मन के झुकाव का प्रतीक मात्र होता है, क्योंकि वही उनकी दिव्य प्रकृति है। अतएव उनके क्रुद्ध होने पर भी क्रोध का पात्र धन्य हो जाता है। वे सभी परिस्थितियों में अपरिवर्तित रहते हैं।

मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।

योऽसावनागसः सुप्तानवधीनिशि बालकान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मा एनम्—उसके प्रति कभी नहीं; पार्थ—हे अर्जुन; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; त्रातुम्—मुक्त करना; ब्रह्म-बन्धुम्—ब्राह्मण के सम्बन्धी को; इमम्—इस; जहि—मार डालो; यः—जो; असौ—उन; अनागसः—दोषरहित; सुप्तान्—सोये हुए; अवधीत्—हत्या की; निशि—रात्रि में; बालकान्—बालकों की।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : हे अर्जुन, इस ब्रह्म-बन्धु को छोड़कर तुम दया मत दिखलाओ, क्योंकि इसने सोते हुए निर्दोष बालकों का वध किया है।

तात्पर्य : ब्रह्म-बन्धु शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, किन्तु ब्राह्मण कहलाने की योग्यता नहीं रखता, उसे ब्राह्मण-बन्धु कहकर संबोधित किया जाता है, न कि ब्राह्मण। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पुत्र स्वतः ही न्यायाधीश नहीं हो जाता, लेकिन न्यायाधीश के पुत्र को न्यायाधीश का रिश्तेदार कहने में कोई हर्ज नहीं है। अतः जिस प्रकार कोई जन्म के द्वारा ही न्यायालय का न्यायाधीश नहीं बन जाता, उसी प्रकार कोई जन्म के आधार पर ही ब्राह्मण नहीं होता, अपितु उसे ब्राह्मण की आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त करनी होती हैं। जिस प्रकार न्यायाधीश का पद उसके योग्य व्यक्ति के लिए होता है, उसी प्रकार से ब्राह्मण का पद भी योग्यता से ही प्राप्त होता है। शास्त्रों का आदेश है कि यदि ब्राह्मण से इतर कुल में भी उत्पन्न हुए पुरुष में ब्राह्मण के सद्गुण रहते हैं, तो उसे ब्राह्मण के रूप में स्वीकार करना होता है। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण के गुणों से रहित होता है, तो उसे अब्राह्मण या ठीक से कहना चाहें तो ब्राह्मण-बन्धु कहना चाहिए। समस्त वेदों के परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने ये अन्तर स्वयं बताये हैं और वे इसका कारण अगले श्लोक में बताने वाले हैं।

मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम् ।
प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मत्तम्—लापरवाह को; प्रमत्तम्—नशे में रहने वाले को; उन्मत्तम्—पागल को; सुप्तम्—सोए हुए को; बालम्—बालक को; स्त्रियम्—स्त्री को; जडम्—मूर्ख को; प्रपन्नम्—शरणागत को; विरथम्—रथविहीन को; भीतम्—भयभीत को; न—नहीं; रिपुम्—शत्रु को; हन्ति—मारते हैं; धर्म-वित्—धार्मिक नियमों का ज्ञाता।

जो मनुष्य धर्म के सिद्धान्तों को जानता है, वह ऐसे शत्रु का वध नहीं करता जो असावधान, नशे में उन्मत्त, पागल, सोया हुआ, डरा हुआ या रथविहीन हो। न ही वह किसी बालक, स्त्री, मूर्ख प्राणी अथवा शरणागत जीव का वध करता है।

तात्पर्य : धर्म के ज्ञाता योद्धा द्वारा कभी ऐसे शत्रु को नहीं मारा जाता, जो प्रतिरोध न करे। पुराने समय में धर्म युद्ध के सिद्धान्तों के आधार पर लड़े जाते थे, किसी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं। यदि शत्रु प्रमत्त हो, सोया हो इत्यादि जैसाकि ऊपर कहा गया है, तो उसे कभी भी मारना नहीं चाहिए। धर्म युद्ध के ऐसे कुछ नियम हैं। पूर्व-काल में कभी भी स्वार्थी राजनेताओं की सनक के कारण युद्ध की घोषणा नहीं की जाती थी। युद्ध, पापों से रहित धार्मिक नियमों के आधार पर, लड़े जाते थे। धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार की गई हिंसा तथाकथित अहिंसा से कहीं श्रेष्ठतर होती है।

स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।

तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्वोषाद्यात्यधः पुमान् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

स्व-प्राणान्—अपना जीवन; यः—जो; पर-प्राणैः—दूसरों के जीवन के मूल्य पर; प्रपुष्णाति—ठीक से पलता है; अघृणः—निर्लज्ज; खलः—दुष्ट; तत्-वधः—उसको मारना; तस्य—उसका; हि—निश्चय ही; श्रेयः—श्रेयस्कर; यत्—जिस; दोषात्—दोष से; याति—जाता है; अधः—नीच की ओर; पुमान्—मनुष्य।

ऐसा क्रूर तथा दुष्ट व्यक्ति जो दूसरों के प्राणों की बलि पर पलता है, उसका वध किया जाना उसके लिए ही हितकर है, अन्यथा अपने ही कर्मों से उसकी अधोगति होती है।

तात्पर्य : जो व्यक्ति क्रूरता तथा निर्लज्जतापूर्वक दूसरों के जीवन की बलि पर पलता है, उसके लिए प्राण का बदला प्राण ही उपयुक्त दण्ड है। राजनीतिक नैतिकता का तकाजा है कि क्रूर व्यक्ति को नरक जाने से बचाने के लिए उसे प्राणदण्ड दिया जाय। यदि शासन किसी हत्यारे को प्राणदण्ड देता है, तो अपराधी के लिए यह अच्छा होता है, क्योंकि उसे अगले जन्म में इस हत्या-कर्म के लिए फल भोगना नहीं पड़ेगा। ऐसा प्राणदण्ड उस हत्यारे के लिए न्यूनतम सम्भव दण्ड है और स्मृति शास्त्रों में कहा गया है कि जिन्हें राजा द्वारा प्राण के बदले प्राण के आधार पर दण्डित किया जाता है, वे अपने सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं—यहाँ तक कि वे स्वर्गलोक जाने के पात्र भी बन सकते हैं। नागरिक संहिता तथा धार्मिक सिद्धान्तों के महान रचनाकार मनु के अनुसार, पशु के मारने वाले तक को हत्यारा समझना चाहिए, क्योंकि पशुमाँस कभी भी सभ्य

मनुष्य का भक्ष्य नहीं होता। सभ्य मनुष्य का मुख्य कर्तव्य तो भगवद्धाम वापस जाने के लिए अपने आप को योग्य बनाना है। उनका कहना है कि पशुओं के वध के पीछे, पापी गिरोहों का नियत षड्यन्त्र रहता है, अतएव वे उसी प्रकार दण्डनीय हैं जिस प्रकार कि षड्यन्त्रकारी गिरोह जो सामूहिक रूप से किसी मनुष्य की हत्या करते हैं। जो पशु वध की आज्ञा देता है, जो पशु-वध करता है, जो काटे गये पशुओं को बेचता है, जो पशु मांस पकाता है, जो ऐसे भक्ष्य का वितरण करता है और वह भी, जो ऐसे पकाये भक्ष्य को खाता है, वे सभी हत्यारे हैं और वे सभी प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय हैं। चाहे कोई कितनी ही वैज्ञानिक प्रगति क्यों न कर ले, वह जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता; अतएव मनमानी करके किसी जीव का वध करने का किसी को भी अधिकार नहीं है। पशु-भक्षकों के लिए शास्त्रों में सीमित पशु यज्ञों की ही अनुमति है और ऐसी अनुमति भी कसाईघरों के खोलने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए है, न कि पशु-वध को प्रोत्साहित करने के लिए। शास्त्रों में जिस विधि के अन्तर्गत पशु यज्ञ की अनुमति दी गई है, वह बलि किये जाने वाले पशुओं तथा पशु-भक्षकों दोनों ही के हित में है। यह पशु के हित में यों है, क्योंकि बलि होने वाला पशु वेदी में बलि होते ही मनुष्य योनि प्राप्त कर लेता है और पशु-भक्षक भी स्थूल पापों से बच जाता है (सुनियोजित रूप से चलाये जा रहे कसाईघर ऐसे बिभत्स स्थान हैं, जो समाज, राष्ट्र तथा सामान्य जनता के लिए सभी प्रकार के भौतिक अनिष्टों को पनपने के स्थान हैं-इनके द्वारा दिये जाने वाले मांस का भक्षण करना वही यह स्थूल पाप है)। यह भौतिक जगत स्वयं ही चिन्ताओं से भरा हुआ स्थान है और उसमें पशुओं के वध को प्रोत्साहित करने से सारा वातावरण युद्ध, महामारी, अकाल तथा अन्य कई अवांछित विपत्तियों से अधिकाधिक दूषित होता जाता है।

प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम ।

आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रतिश्रुतम्—वचन दिया गया; च—तथा; भवता—तुम्हारे द्वारा; पाञ्चाल्यै—राजा पांचाल की पुत्री (द्रौपदी) को; शृण्वतः—सुना गया; मम—मेरे द्वारा; आहरिष्ये—मैं अवश्य लाऊँगा; शिरः—सिर; तस्य—उसका; यः—जिसने; ते—तुम्हारे; मानिनि—मानते हो; पुत्र-हा—पुत्रों का वधकर्ता।

इसके अतिरिक्त, मैंने स्वयं तुम्हें द्रौपदी से यह प्रतिज्ञा करते सुना है कि तुम उसके पुत्रों के वधकर्ता का सिर लाकर उपस्थित करोगे।

तदसौ वध्यतां पाप आतताय्यात्मबन्धुहा ।

भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; असौ—यह आदमी; वध्यताम्—मारा जाएगा; पापः—पापी; आततायी—हमला करने वाला; आत्म—अपने; बन्धु-हा—पुत्रों को मारने वाला; भर्तुः—स्वामी का; च—भी; विप्रियम्—संतुष्ट न करके; वीर—हे योद्धा; कृतवान्—करने वाला; कुल-पांसनः—कुल की राख।

यह आदमी तुम्हारे ही कुल के सदस्यों का हत्यारा तथा वधकर्ता (आततायी) है। यही नहीं, उसने अपने स्वामी को भी असंतुष्ट किया है। वह अपने कुल की राख (कुलांगार) है। तुम तत्काल इसका वध कर दो।

तात्पर्य : द्रोणाचार्य के पुत्र को यहाँ पर कुलांगार कहा गया है। द्रोणाचार्य के नाम का अत्यधिक सम्मान था। यद्यपि वे शत्रु पक्ष में चले गये थे, फिर भी सारे पाण्डव उनका सम्मान करते थे और अर्जुन ने तो युद्ध आरम्भ होने के पूर्व उन्हें नमस्कार किया था। ऐसा करने में कोई खराबी नहीं थी। लेकिन द्रोणाचार्य के पुत्र ने ऐसा कृत्य करके अपने को पतित बना लिया था, जिसे द्विज द्वारा कभी नहीं किया जाता। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पाँच पुत्रों की सोते हुए में हत्या की थी, जिससे उसने अपने स्वामी दुर्योधन को भी अप्रसन्न कर दिया था, क्योंकि उसने कभी भी पाण्डवों के सोते हुए पाँचों पुत्रों की हत्या के जघन्य कृत्य की अनुमति नहीं दी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि वह अर्जुन के ही कुटुम्बियों का वधकर्ता बन गया, अतएव वह अर्जुन द्वारा दण्डनीय था। शास्त्रों का कथन है कि जो बिना चेतावनी के आक्रमण करता है, पीछे से वार करके मार डालता है, दूसरे के घर में आग लगाता है, किसी अन्य की पत्नी का

अपहरण करता है, वह वध-योग्य है। कृष्ण ने अर्जुन को ये तथ्य याद दिलाए, जिससे वह उन पर ध्यान दे और तदनुसार कार्यवाही करे।

सूत उवाच

एवं परीक्षता धर्म पार्थः कृष्णेन चोदितः ।

नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी ने; उवाच—कहा; एवम्—यह; परीक्षता—परीक्षा लेते हुए; धर्मम्—कर्तव्य के मामले में; पार्थः—श्री अर्जुन; कृष्णेन—भगवान् कृष्ण द्वारा; चोदितः—प्रोत्साहित किये जाने पर; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; हन्तुम्—मारना; गुरु-सुतम्—अपने गुरु के पुत्र को; यद्यपि—यद्यपि; आत्म-हनम्—पुत्रों का वधकर्ता; महान्—बहुत बड़ा।

सूत गोस्वामी ने कहा : यद्यपि धर्म में अर्जुन की परीक्षा लेते हुए कृष्ण ने उसे द्रोणाचार्य के पुत्र का वध करने के लिए प्रोत्साहित किया, लेकिन महात्मा अर्जुन को यह विचार नहीं भाया, यद्यपि अश्वत्थामा अर्जुन के ही कुटुम्बियों का नृशंस हत्यारा था।

तात्पर्य : अर्जुन निस्सन्देह एक महात्मा था, जो यहाँ पर भी सिद्ध होता है। यहाँ पर भगवान् कृष्ण स्वयं उसे द्रोण पुत्र का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, लेकिन अर्जुन सोचता है कि उसे अपने महान् गुरु के पुत्र को प्राणदान देना चाहिए, क्योंकि भले ही वह उसके गुरु का अयोग्य पुत्र हो, उसने अपनी सनक से ऐसे जघन्य कर्म किये हैं जो किसी के भी हित में नहीं थे। लेकिन आखिर है तो वह द्रोणाचार्य का ही पुत्र।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बाहर-बाहर से प्रोत्साहित किया, क्योंकि वे अर्जुन की कर्तव्यपरायणता की परीक्षा लेना चाहते थे। ऐसा नहीं था कि अर्जुन में अपने कर्तव्य का पूरा-पूरा बोध नहीं था, न ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के कर्तव्य-बोध से अनजान थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने अपने अनेक शुद्ध भक्तों की परीक्षा उनके कर्तव्य-बोध को विवर्धित करने के लिए ली। गोपियों की भी ऐसी ही परीक्षाएँ ली गईं। प्रह्लाद महाराज की भी परीक्षा ली गई। लेकिन सारे शुद्ध भक्त भगवान् द्वारा ली गई अपनी-अपनी परीक्षाओं में खरे उतरते हैं।

अथोपेत्य स्वशिविरं गोविन्दप्रियसारथिः ।

न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपेत्य—पहुँचकर; स्व—अपने; शिविरम्—शिविर में; गोविन्द—इन्द्रियों को गतिशील करने वाले (भगवान् श्रीकृष्ण); प्रिय—प्यारा; सारथिः—रथ चालक; न्यवेदयत्—प्रदान किया; तम्—उसको; प्रियायै—प्रियतमा को; शोचन्त्यै—विलाप करती; आत्म-जान्—अपने पुत्रों के लिए; हतान्—वध किये गये।

अपने प्रिय मित्र तथा सारथी (श्रीकृष्ण) सहित अपने शिविर में पहुँचकर अर्जुन ने उस हत्यारे को अपनी प्रिय पत्नी को सौंप दिया, जो मारे गये अपने पुत्रों के लिए विलाप कर रही थी।

तात्पर्य : कृष्ण के साथ अर्जुन का दिव्य सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रता के रूप में है। भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं अर्जुन को अपना प्रियतम सखा कहा है। इस तरह प्रत्येक जीव, किसी-न-किसी प्रिय सम्बन्ध द्वारा भगवान् से जुड़ा है, चाहे वह दास का हो या मित्र का, या माता-पिता का हो या माधुर्य प्रेम का। भक्तियोग की विधि द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक जगत में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सकता है अगर वह ऐसी इच्छा रखता है और उसके लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करता है।

तथाहतं पशुवत् पाशबद्ध-

मवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।

निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं

वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; आहतम्—लाया गया; पशु-वत्—पशु के समान; पाश-बद्धम्—रस्सियों से बँधा; अवाक्-मुखम्—मुँह से एक भी शब्द निकले बिना; कर्म—कार्य; जुगुप्सितेन—घृणित होने के कारण; निरीक्ष्य—देखकर; कृष्णा—द्रौपदी; अपकृतम्—अधर्म कार्य करने वाला; गुरोः—गुरु के; सुतम्—पुत्र को; वाम—सुन्दर; स्वभावा—स्वभाव वाली; कृपया—दयावश; ननाम—प्रणाम किया; च—तथा।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तब द्रौपदी ने अश्वत्थामा को देखा, जो पशु की भाँति रस्सियों से बँधा था और अत्यन्त घृणित हत्या का कृत्य करने के कारण चुप था। अपने स्त्री

स्वभाववश तथा स्वभाव से उत्तम एवं भद्र होने के कारण, उसने ब्राह्मण रूप में उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा की भर्त्सना स्वयं भगवान् कर चुके थे और अर्जुन ने उसके साथ ब्राह्मण या गुरु पुत्र के समान नहीं, अपितु अपराधी जैसा बर्ताव किया था। लेकिन जब उसे श्रीमती द्रौपदी के समक्ष लाया गया, तो अपने पुत्रों की हत्या से यद्यपि वह संतप्त थी और हत्यारा उसके समक्ष था, किन्तु वह ब्राह्मण या ब्राह्मण के पुत्र को सामान्य रूप से दिये जाने वाले सम्मान से उसे वंचित नहीं कर सकी। यह द्रौपदी के मृदुल नारी-स्वभाव के कारण था। स्त्री-जाति बालकों के समान होती है, अतः उसमें पुरुष की तरह भेदाभेद शक्ति नहीं होती। अश्वत्थामा ने अपने आपको द्रोणाचार्य या ब्राह्मण के पुत्र रूप में अयोग्य सिद्ध कर दिया था और इस कारण से भगवान् कृष्ण-जैसे सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक प्राधिकारी ने उसकी भर्त्सना की थी, लेकिन एक मृदु स्त्री ब्राह्मण के प्रति अपने स्वाभाविक सौजन्य को नहीं त्याग पाई।

आज भी हिन्दू परिवार में नारियाँ ब्राह्मण के प्रति समुचित आदर प्रदर्शित करती हैं, चाहे वह कितना ही पतित और नृशंस ब्रह्म-बन्धु क्यों न हो। लेकिन अब पुरुष वर्ग ऐसे ब्रह्म-बन्धु के प्रति विरोध करने लगे हैं, जो उत्तम ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न तो होते हैं, लेकिन जिनके कार्य शूद्रों से भी घटकर होते हैं।

इस श्लोक में एक विशिष्ट शब्द *वाम-स्वभावा* प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है, “स्वभाव से मृदु तथा भद्र।” भद्र पुरुष या स्त्री कोई भी बात सरलता से स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन औसत बुद्धि का पुरुष ऐसा नहीं करपाता। लेकिन हमें भद्र बनने के उद्देश्य से अपनी तर्क तथा विवेक शक्ति नहीं खो देनी चाहिए। मनुष्य में किसी भी बात का उसके गुणों के अनुसार निर्णय करने के लिए अच्छी विवेक शक्ति होनी चाहिए। हमें मृदु स्त्री स्वभाव का अनुकरण नहीं करना चाहिए और इस तरह जो प्रामाणिक (असली) नहीं है, उसे स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। भले ही उत्तम स्वभाव की स्त्री अश्वत्थामा का सम्मान करे, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह सच्चे ब्राह्मण जैसा उत्तम है।

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

उवाच—कहा; च—तथा; असहन्ती—उसके लिए असह्य होने के कारण; अस्य—उसका; बन्धन—बाँधा जाना; आनयनम्—उसका लाया जाना; सती—परायणा, भक्त; मुच्यताम् मुच्यताम्—इसे छोड़ दो; एषः—यह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; नितराम्—हमारा; गुरुः—गुरु ।

वह अश्वत्थामा का इस प्रकार रस्सियों से बाँधा जाना सह न सकी और भगवद्परायण स्त्री होने के कारण उसने कहा “इसे छोड़ दो, क्योंकि यह ब्राह्मण है, हमारा गुरु है।”

तात्पर्य : ज्योंही अश्वत्थामा को द्रौपदी के समक्ष लाया गया तो उसे यह असह्य लगा कि एक ब्राह्मण को अपराधी की भाँति बन्दी बनाकर उस अवस्था में उसके समक्ष लाया जाए, विशेष रूप से तब, जबकि वह ब्राह्मण उनके गुरु का पुत्र था।

अर्जुन ने यह भलीभाँति जानते हुए अश्वत्थामा को बन्दी बनाया था कि वह द्रोणाचार्य का पुत्र है। कृष्ण भी यह जानते थे, किन्तु उन दोनों ने इस पर विचार न करते हुए कि वह ब्राह्मण-पुत्र है, उस हत्यारे की भर्त्सना की। प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार, यदि शिक्षक या गुरु अपने पद की प्रतिष्ठा को बनाए नहीं रख पाता, तो वह गुरु बने रहने के अयोग्य है और उसका तिरस्कार किया जाना चाहिए। गुरु को आचार्य भी कहते हैं, अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति होता है जिसने समस्त शास्त्रों के सार को आत्मसात् कर लिया है और अपने शिष्यों को भी उसका अनुसरण करना सिखाता है। अश्वत्थामा ब्राह्मण या गुरु का कर्तव्य-निर्वाह करने में असफल रहा, अतएव ब्राह्मण के उच्च पद से उसका तिरस्कार होना था। इस दृष्टि से भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन दोनों द्वारा अश्वत्थामा की भर्त्सना उचित थी। लेकिन द्रौपदी जैसी उत्तम स्त्री के लिए, यह विषय शास्त्रीय न होकर प्रथा का प्रश्न था। प्रथानुसार अश्वत्थामा को उसके पिता जैसा सम्मान प्रदान किया जाना था। इसका कारण यह है कि लोग भावनावश ब्राह्मण के पुत्र को भी असली ब्राह्मण स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न होती है। ब्राह्मण का सम्मान उसकी योग्यता के कारण होता है, केवल ब्राह्मण पुत्र होने से नहीं।

लेकिन इस सबके बावजूद, द्रौपदी ने इच्छा व्यक्त की कि अश्वत्थामा को तुरन्त मुक्त कर दिया जाय और यह उसकी सद्भावना ही कही जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवद्भक्त को स्वयं कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें, फिर भी वह अन्यो के प्रति, यहाँ तक कि शत्रु के प्रति भी, कठोर नहीं होता। ये लक्षण हैं भगवान् के शुद्ध भक्त के।

सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।

अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

स-रहस्यः—गोपनीय; धनुः-वेदः—धनुष-बाण चलाने की विद्या; स-विसर्ग—छोड़ते हुए; उपसंयमः—वश में करते हुए; अस्त्र—हथियार; ग्रामः—सभी प्रकार के; च—तथा; भवता—अपने से; शिक्षितः—विद्वान्; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से।

यह द्रोणाचार्य की कृपा थी कि आपने धनुष बाण चलाने की विद्या तथा अस्त्रों को वश में करने की गुप्त कला सीखी।

तात्पर्य : धनुर्वेद या सैन्य विज्ञान की शिक्षा द्रोणाचार्य द्वारा दी जाती थी, जिसमें वैदिक मन्त्रों द्वारा शस्त्रास्त्रों को चलाने तथा रोकने के रहस्य सम्मिलित होते थे। स्थूल सैन्य विज्ञान भौतिक अस्त्रों पर आश्रित है, लेकिन इस कला से भी सूक्ष्म कला है वैदिक मन्त्रों से सिक्त बाणों को चलाना, जो मशीनगनों या परमाणु बमों जैसे स्थूल भौतिक शस्त्रों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह नियन्त्रण वैदिक मन्त्रों या ध्वनि के दिव्य विज्ञापन द्वारा किया जाता है। *रामायण* में कहा गया है कि भगवान् श्रीराम के पिता महाराज दशरथ केवल ध्वनि से बाणों का नियन्त्रण करते थे। वे केवल ध्वनि सुनकर वस्तु को देखे बिना लक्ष्य को भेद सकते थे। अतएव यह आजकल प्रयुक्त होने वाले स्थूल भौतिक सैन्य हथियारों से कहीं सूक्ष्म सैन्य विज्ञान है। अर्जुन को इसकी शिक्षा दी गई थी, अतएव द्रौपदी चाहती थी कि अर्जुन इन सारे लाभों के लिए द्रोणाचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। द्रोणाचार्य की अनुपस्थिति में उनका पुत्र ही उनका प्रतिनिधि था। यह उस कुलीन नारी द्रौपदी का अभिमत था। यह तर्क किया जा सकता है कि द्रोणाचार्य जैसे कट्टर ब्राह्मण को सैन्य विज्ञान के शिक्षक क्यों बनाये गये थे? इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण को

शिक्षक बनना चाहिए, चाहे वह विद्या के किसी भी विभाग को क्यों न जानता या सिखाता हो। विद्वान ब्राह्मण को शिक्षक, धर्मोपदेशक तथा दान का पात्र बनना चाहिए। प्रामाणिक ब्राह्मण ऐसे पेशे (व्यवसाय) ग्रहण करने के लिए अधिकृत हैं।

स एष भगवान्द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।

तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—निश्चय ही; भगवान्—स्वामी; द्रोणः—द्रोणाचार्य; प्रजा-रूपेण—अपने पुत्र अश्वत्थामा के रूप में; वर्तते—उपस्थित हैं; तस्य—उनके; आत्मनः—शरीर का; अर्धम्—आधा; पत्नी—पत्नी; आस्ते—जीवित है; न—नहीं; अन्वगात्—अनुगमन किया; वीरसूः—पुत्र वाली, पुत्रवती; कृपी—कृपाचार्य की बहन।

अपने पुत्र द्वारा प्रतिनिधित्व किये जाने के कारण वे (द्रोणाचार्य) अब भी निश्चित रूप से विद्यमान हैं। उनकी पत्नी कृपी सती नहीं हुई, क्योंकि वे पुत्रवती थीं।

तात्पर्य : द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी कृपाचार्य की बहन थीं। शास्त्रों के अनुसार पतिपरायणा स्त्री, अर्धांगिनी होती है और यदि वह निःसन्तान हो, तो अपने पति के साथ स्वेच्छा से मृत्यु का वरण कर सकती है। लेकिन द्रोणाचार्य की पत्नी को ऐसा नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसके पुत्र था जो उसके पति का प्रतिनिधि था। पुत्रवती विधवा नाम के लिए विधवा होती है। अतएव हर तरह से अश्वत्थामा द्रोणाचार्य का प्रतिनिधि था अतएव अश्वत्थामा का वध करने का अर्थ था, मानो द्रोणाचार्य का वध। अश्वत्थामा के वध न करने के लिए द्रौपदी का यही तर्क था।

तद् धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।

वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; धर्म-ज्ञ—धर्म का ज्ञाता; महा-भाग—अत्यन्त भाग्यशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा; गौरवम्—गौरवान्वित; कुलम्—कुल; वृजिनम्—पीड़ादायक; न—नहीं; अर्हति—योग्य है; प्राप्तुम्—पाने के लिए; पूज्यम्—पूज्य; वन्द्यम्—वन्दनीय; अभीक्ष्णशः—निरन्तर।

हे धर्म के ज्ञाता परम भाग्यशाली, यह आपको शोभा नहीं देता कि आप सदा से पूज्य तथा वन्दनीय, गौरवशाली परिवार के सदस्यों के शोक का कारण बनें।

तात्पर्य : किसी सम्मानित परिवार के प्रति लेशमात्र अपमान दुख उत्पन्न करने वाला होता है।
अतः सुसंस्कृत मनुष्य को चाहिए कि ऐसे पूज्य कुल के सदस्यों के प्रति सोच-समझ कर व्यवहार करे।

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

मा—**नहीं**; रोदीत्—**रोए**; अस्य—**इसकी**; जननी—**माता**; गौतमी—**द्रोण-पत्नी**; पति-देवता—**पतिव्रता**; यथा—**जैसा** कि; अहम्—**मैं**; मृत-वत्सा—**जिसका पुत्र मर चुका है**; आर्ता—**दुखी**; रोदिमि—**रोती हुई**; अश्रु-मुखी—**आँखों में अश्रु भरे**; मुहुः—**निरन्तर**।

हे स्वामी, द्रोणाचार्य की पत्नी को मेरे समान मत रुलाओ। मैं अपने पुत्रों की मृत्यु के लिए संतप्त हूँ। कहीं उसे भी मेरे समान निरन्तर रोना न पड़े।

तात्पर्य : करुणामयी उत्तम नारी होने के कारण श्रीमती द्रौपदी माता की अनुभूतियों और द्रोणाचार्य की पत्नी जीवित होने से उनका पूज्य पद होने की दृष्टि से नहीं चाह रही थी कि द्रोणाचार्य की पत्नी भी उन्हीं की तरह संतति विहीन हों।

यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ।
तत् कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यैः—**जिनके द्वारा**; कोपितम्—**कुद्ध**; ब्रह्म-कुलम्—**ब्राह्मणों का कुल**; राजन्यैः—**राजा कुल से**; अजित—**निरंकुश**; आत्मभिः—**अपने से**; तत्—**उस**; कुलम्—**कुल को**; प्रदहति—**जला देती है**; आशु—**तुरन्त**; स-अनुबन्धम्—**कुटुम्बियों समेत**; शुचा-अर्पितम्—**कष्ट पाने पर**।

यदि इन्द्रियतृप्ति में निरंकुश बनकर राजकुल ब्राह्मण कुल को अपमानित और कुपित करता है, तो वह क्रोध की अग्नि समस्त राजकुल को जला देती है और सबों को दुख देती है।

तात्पर्य : समाज का ब्राह्मण-वर्ग, अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत जाति या समुदाय तथा ऐसे उच्चकुलों के सदस्य सदा ही अन्य आश्रित वर्णों द्वारा, यथा राजन्य, वणिक वर्ग तथा श्रमिकों द्वारा सम्मानित होता था।

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।

राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; धर्म्यम्—धर्म के नियमों के अनुसार; न्याय्यम्—न्याय; स-करुणम्—करुणा से पूर्ण; निर्व्यलीकम्—धर्म में द्वैत के बिना; समम्—समता; महत्—गौरवशाली; राजा—राजा; धर्म-सुतः—पुत्र; राज्ञ्याः—महारानी द्वारा; प्रत्यनन्दत्—अनुमोदित; द्वचः—कथन; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणो, राजा युधिष्ठिर ने रानी के वचनों का पूर्ण अनुमोदन किया, क्योंकि वे धर्म के नियमों के अनुसार न्यायोचित, गौरवशाली, दया तथा समता से पूर्ण एवं निष्कपट थे।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर जो धर्मराज या यमराज के पुत्र थे, उन्होंने महारानी द्रौपदी के इन वचनों का अनुमोदन किया कि अर्जुन अश्वत्थामा को मुक्त कर दे। मनुष्य को चाहिए कि उच्च कुल के सदस्य की अवमानना को सहन न करे। अर्जुन तथा उसका परिवार द्रोणाचार्य के कुल के प्रति कृतज्ञ थे, क्योंकि अर्जुन ने उनसे धनुर्विद्या सीखी थी। यदि ऐसे उदार परिवार के प्रति कृतघ्नता प्रदर्शित की जाय, तो नैतिक दृष्टि से यह उचित न होगा। द्रोणाचार्य की अर्धांगिनी के साथ अनुकंपापूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिए था, जिससे वह अपने पुत्र की मृत्यु के कारण दुखी न हो। यही अनुकंपा है। द्रौपदी के ये वचन बिना किसी कपट के हैं, क्योंकि पूरी तरह जानकर ही कोई कदम उठाना चाहिए। इसमें समता का भाव था, क्योंकि द्रौपदी ने निजी अनुभव के आधार पर यह कहा था। कोई बाँझ स्त्री कभी माता की पीड़ा नहीं समझ सकती। द्रौपदी स्वयं माता थी, अतएव कृपी की शोक-वेदना का उसका अनुमान सही था। यह उसके गौरव के अनुकूल भी था, क्योंकि वह उस उच्च कुल के प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित करना चाहती थी।

नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ।

भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

नकुलः—नकुल; सहदेवः—सहदेव; च—तथा; युयुधानः—सात्यकि; धनञ्जयः—अर्जुन; भगवान्—भगवान्; देवकी-
पुत्रः—देवकी पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण; ये—जो; च—तथा; अन्ये—अन्य; याः—वे; च—तथा; योषितः—स्त्रियाँ।

नकुल तथा सहदेव (राजा के छोटे भाई) तथा सात्यकि, अर्जुन, देवकीपुत्र भगवान्

श्रीकृष्ण तथा स्त्रियों एवं अन्यो ने एक स्वर से राजा से सहमति व्यक्त की।

तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।

न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; आह—कहा; अमर्षितः—क्रुद्ध स्वर में; भीमः—भीम ने; तस्य—उसका; श्रेयान्—परम कल्याण;
वधः—वध; स्मृतः—अंकित; न—नहीं; भर्तुः—स्वामी का; न—न तो; आत्मनः—अपने आपका; च—तथा; अर्थे—के
लिए; यः—जो; अहन्—मारा; सुप्तान्—सोते हुए; शिशून्—बालकों को; वृथा—व्यर्थ ही।

लेकिन भीम जो क्रुद्ध मनोदशा में था, उनसे सहमत नहीं हुआ और उसने उस दोषी के

वध किये जाने की संस्तुति की, जिसने व्यर्थ ही सोते हुए बालकों की हत्या कर दी थी

जिसमें न तो उसका अपना, न ही उसके स्वामी का हित था।

निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।

आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनते ही; भीम—भीम द्वारा; गदितम्—कहा गया; द्रौपद्याः—द्रौपदी का; च—तथा; चतुः-भुजः—चार
भुजाओं वाले (भगवान्) ने; आलोक्य—देखकर; वदनम्—मुख; सख्युः—अपने मित्र का; इदम्—यह; आह—कहा;
हसन्—हँसते हुए; इव—मानो।

भीम, द्रौपदी तथा अन्यो के वचन सुनकर, चतुर्भुज भगवान् ने अपने प्रिय सखा अर्जुन

के मुँह की ओर देखा और मानो मुस्कुरा रहे हों, बोलना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दो भुजाएँ थीं, किन्तु उन्हें चतुर्भुज क्यों कहा गया है, इसकी व्याख्या श्रीधर स्वामी ने की है। अश्वत्थामा के वध के सम्बन्ध में भीम तथा द्रौपदी दोनों के मत भिन्न-भिन्न थे। भीम उसे तुरन्त मार देना चाहता था, लेकिन द्रौपदी उसे बचाना चाहती थी। हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि भीम मारने के लिए तैयार है, किन्तु द्रौपदी उसे रोक रही है। अतएव इन दोनों को रोकने के लिए, भगवान् ने दो और भुजाएँ निकाल लीं। मूलतः आदि भगवान् श्रीकृष्ण दो भुजाएँ प्रदर्शित करते हैं, लेकिन उनके नारायण रूप में वे चार भुजाएँ प्रदर्शित करते हैं। वे अपने नारायण रूप में अपने भक्तों के साथ वैकुण्ठलोक में रहते हैं, जबकि अपने मूल श्रीकृष्ण रूप में वे कृष्णलोक में निवास करते हैं जो आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक से बहुत ऊपर है। अतः यदि श्रीकृष्ण को चतुर्भुज कहा गया है तो इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। यदि आवश्यकता पड़े तो वे सैकड़ों भुजाओं वाले बन सकते हैं, जैसाकि उन्होंने अर्जुन को अपने विश्वरूप में दिखलाया था। अतएव जो सैकड़ों, हजारों भुजाएँ प्रदर्शित कर सकते हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर चार भुजाएँ भी प्रदर्शित कर सकते हैं।

अर्जुन जब असमंजस में था कि अश्वत्थामा का क्या किया जाय तो अर्जुन के परम प्रिय मित्र श्रीकृष्ण ने इस समस्या का हल ढूँढ निकालने का भार अपने ऊपर ले लिया और वे मुस्कुरा भी रहे थे।

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः ।

मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥ ५३ ॥

कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।

प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ब्रह्म-बन्धुः—ब्राह्मण का सम्बन्धी; न—नहीं; हन्तव्यः—वध करने योग्य; आततायी—आततायी, आक्रामक; वध-अर्हणः—वध करने योग्य है; मया—मेरे द्वारा; एव—निश्चय ही; उभयम्—दोनों; आम्नातम्—शास्त्र के आदेशानुसार; परिपाहि—पालन करो; अनुशासनम्—आदेश; कुरु—पालन करो; प्रतिश्रुतम्—जैसाकि प्रतिज्ञा की गई है; सत्यम्—सत्य; यत् तत्—वह जो; सान्त्वयता—सान्त्वना देते हुए; प्रियाम्—प्रिय

पत्नी को; प्रियम्—तुष्टि; च—तथा; भीमसेनस्य—श्रीभीमसेन की; पाञ्चाल्याः—द्रौपदी की; मह्यम्—मेरी भी; एव—निश्चय ही; च—तथा ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा : किसी ब्रह्मबन्धु का वध नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह आततायी हो, तो उसे अवश्य मारना चाहिए। ये सारे आदेश शास्त्रों में हैं और तुम्हें इन्हीं के अनुसार कार्य करना चाहिए। तुम्हें अपनी पत्नी को दिये गये वचन भी पूरे करने हैं और तुम्हें भीमसेन तथा मेरी तुष्टि के लिए भी कार्य करना है।

तात्पर्य : अर्जुन असमंजस में था, क्योंकि विभिन्न शास्त्रों में से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा दिये गये प्रमाण के अनुसार अश्वत्थामा का वध होना था और उसे जीवनदान भी मिलना था। ब्रह्मबन्धु या ब्राह्मण के निकम्मे पुत्र के रूप में अश्वत्थामा वध्य नहीं था, किन्तु साथ ही वह आततायी भी था। मनु द्वारा निर्दिष्ट मत के अनुसार आततायी, यद्यपि वह ब्राह्मण ही क्यों न हो, (ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र का क्या कहना) वध्य होता है। द्रोणाचार्य निस्सन्देह असली ब्राह्मण थे, लेकिन वे युद्धभूमि में डटे थे, इसलिए मारे गये। पर अश्वत्थामा आततायी होकर भी बिना किसी अस्त्र के खड़ा था। नियम इस तरह है कि यदि आततायी अस्त्ररहित या रथविहीन हो, तो उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। निश्चित रूप से ये सब अर्जुन की उलझनें थीं। इनके अतिरिक्त, अर्जुन को अपने उस वचन का पालन करना था, जिसे उसने द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए दिया था। और उसे भीम तथा कृष्ण को भी सन्तुष्ट करना था, जिन्होंने अश्वत्थामा के वध की सलाह दी थी। यह दुविधा थी अर्जुन के समक्ष और इसका समाधान निकाला कृष्ण ने।

सूत उवाच

अर्जुनः सहसाज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना ।

मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अर्जुनः—अर्जुन ने; सहसा—ठीक उसी समय; आज्ञाय—जानते हुए; हरेः—भगवान् के; हार्दम्—अभीष्ट; अथ—इस प्रकार; असिना—तलवार से; मणिम्—मणि को; जहार—विलग कर दिया; मूर्धन्यम्—सिर पर; द्विजस्य—द्विज के; सह—सहित; मूर्धजम्—बालों के ।

उसी समय अर्जुन भगवान् की अनेकाधिक आज्ञा का प्रयोजन समझ गया और इस तरह उसने अपनी तलवार से अश्वत्थामा के सिर से केश तथा मणि दोनों पृथक् कर दिये।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर विरोधी आदेशों का पालन करना असम्भव होता है। अतएव अर्जुन ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से मध्यम मार्ग खोज निकाला और उसने अश्वत्थामा के सिर से मणि पृथक् कर दी। यह उसका सिर काटने जैसा ही था, फिर भी व्यावहारिक रूप से उसकी जान बची रही। यहाँ पर अश्वत्थामा को द्विज कहा गया है। निस्सन्देह, वह द्विज था, लेकिन वह अपने पद से गिर चुका था, इसलिए उसे उचित ही दण्ड मिला।

विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।

तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

विमुच्य—उसे छोड़ देने पर; रशना-बद्धम्—रस्सियों के बन्धन से; बाल-हत्या—बालकों के वध से; हत-प्रभम्—शारीरिक कान्ति का क्षय; तेजसा—शक्ति से; मणिना—मणि से; हीनम्—रहित; शिबिरात्—शिविर से; निरयापयत्—निकाल भगाया।

बालहत्या के कारण वह (अश्वत्थामा) पहले ही अपनी शारीरिक कान्ति खो चुका था और अब, अपनी शीर्ष मणि खोकर, वह शक्ति से भी हीन हो गया। इस प्रकार उसकी रस्सियाँ खोल कर उसे शिविर से बाहर भगा दिया गया।

तात्पर्य : इस प्रकार भगवान् कृष्ण तथा अर्जुन की बुद्धि के कारण अपमानित अश्वत्थामा, एक ही साथ, मारा भी गया और नहीं भी मारा गया।

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।

एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

वपनम्—सिर से बालों को मुँड़ा कर; द्रविण—धन; अदानम्—छीना गया; स्थानात्—घर से; निर्यापणम्—भगाया गया; तथा—भी; एषः—ये सब; हि—निश्चय ही; ब्रह्म-बन्धूनाम्—ब्राह्मण के सम्बन्धियों का; वधः—वध, हत्या; न—नहीं; अन्यः—अन्य कोई विधि; अस्ति—है; दैहिकः—शरीर के विषय में।

उसके सिर के बाल मूँड़ना, उसे संपदाहीन करना तथा उसे घर से भगा देना—ये हैं ब्रह्मबन्धु के लिए निश्चित दंड। शारीरिक वध करने का कोई विधान नहीं है।

पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ।

स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

पुत्र—पुत्रों के; शोक—शोक से; आतुराः—अभिभूत; सर्वे—वे सभी; पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्र; सह—सहित; कृष्णया—द्रौपदी; स्वानाम्—परिजनों के; मृतानाम्—मृत; यत्—जो; कृत्यम्—करणीय; चक्रुः—सम्पन्न किया; निर्हरण-आदिकम्—जो कुछ किया जा सकता था।

तत्पश्चात् शोकाभिभूत पाण्डु-पुत्रों तथा द्रौपदी ने अपने स्वजनों के मृत शरीरों (शवों)

का समुचित दाह-संस्कार किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “द्रोण-पुत्र को दण्ड” नामक सातवें

अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ अध्याय

महारानी कुन्ती द्वारा प्रार्थना तथा परीक्षित की रक्षा

सूत उवाच

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।

दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; अथ—इस प्रकार; ते—पाण्डवजन; सम्परेतानाम्—मृतकों का; स्वानाम्—स्वजनों का; उदकम्—जल; इच्छताम्—पाने की इच्छा से; दातुम्—देने के लिए; स-कृष्णाः—द्रौपदी के सहित; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; पुरस्कृत्य—आगे करके; ययुः—गई; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

सूत गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात्, पाण्डवगण अपने मृत परिजनों की इच्छानुसार उन्हें जल-दान देने हेतु द्रौपदी सहित गंगा के तट पर गये। स्त्रियाँ आगे-आगे चल रही थीं।

तात्पर्य : आज तक हिन्दू-समाज में यह प्रथा चल रही है कि जब किसी परिवार में कोई व्यक्ति का निधन होता है, तो लोग गंगा नदी में या किसी अन्य पवित्र नदी में स्नान करते हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य दिवंगत आत्मा को एक लोटा गंगाजल अर्पण करता है और स्त्रियों को आगे करके सभी लोग एक जुलूस में चलते हैं। पाण्डवों ने भी पाँच हजार वर्ष पूर्व इन्हीं नियमों का पालन किया था। पाण्डवों के ममेरे भाई होने के कारण भी भगवान् कृष्ण पारिवारिक सदस्यों में से एक थे।

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।

आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; निनीय—अर्पित करके; उदकम्—जल; सर्वे—सभी; विलप्य—विलाप करके; च—तथा; भृशम्—पर्याप्त; पुनः—फिर; आप्लुताः—स्नान किया; हरि-पादाब्ज—भगवान् के चरणकमल की; रजः—धूलि से; पूत—पवित्र; सरित्—गंगा नदी के; जले—जल में।

उनके लिए शोक कर चुकने तथा पर्याप्त गंगाजल अर्पित कर चुकने के बाद उन सबों ने गंगा में स्नान किया, जिसका जल भगवान् के चरणकमलों की धूलि मिल जाने के कारण पवित्र हो गया है।

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् ।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आसीनम्—बैठे हुए; कुरु-पतिम्—कुरुओं के राजा; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र को; सह-अनुजम्—अपने भाइयों सहित; गान्धारीम्—गांधारी को; पुत्र—बेटे के; शोक-अर्ताम्—शोक से पीड़ित; पृथाम्—कुन्ती को; कृष्णाम्—द्रौपदी को; च—भी; माधवः—भगवान् श्रीकृष्ण ने।

वहीं कुरुवंशियों के राजा महाराज युधिष्ठिर अपने छोटे भाइयों, धृतराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती तथा द्रौपदी सहित बैठ गये। वे सभी शोक से अत्यधिक पीड़ित थे। भगवान् कृष्ण भी वहाँ थे।

तात्पर्य : चूँकि कुरुक्षेत्र का युद्ध पारिवारिक सदस्यों के बीच ही हुआ था, अतएव इससे जो लोग प्रभावित हुए थे, वे सभी पारिवारिक सदस्य ही थे—यथा महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाई, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, धृतराष्ट्र, गांधारी तथा उनकी बहुएँ इत्यादि। सारे मृत व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से नातेदार थे, अतएव पारिवारिक शोक संयुक्त रूप में था। भगवान् कृष्ण भी पाण्डवों के ममेरे भाई थे और कुन्ती के भांजे तथा सुभद्रा के भाई थे। अतएव भगवान् की उन सबों के प्रति समान सहानुभूति थी। इसलिए वे समयानुकूल उन सबों को सान्त्वना देने लगे।

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्शुचार्पितान् ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्न प्रतिक्रियाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सान्त्वयाम् आस—ढाढस बँधाया; मुनिभिः—वहाँ पर उपस्थित मुनियों समेत; हत-बन्धून्—जिनके मित्र तथा सम्बन्धी मारे गये थे; शुचार्पितान्—सभी को धक्का पहुँचा हुआ; भूतेषु—जीवों पर; कालस्य—सर्वशक्तिमान के परम नियम की; गतिम्—प्रतिक्रिया; दर्शयन्—दिखलाया; न—नहीं; प्रतिक्रियाम्—उपचार।

सर्वशक्तिमान के कठोर नियमों तथा जीवों पर उनकी प्रतिक्रियाओं का दृष्टान्त देते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण तथा सारे मुनियों ने समस्त स्तब्ध एवं शोकार्त-जनों को ढाढ़स बँधाया।

तात्पर्य : परमेश्वर के आदेशों के अधीन प्रकृति के कठोर नियम किसी जीव के द्वारा बदले नहीं जा सकते। सारे जीव निरन्तर सर्वशक्तिमान भगवान् के अधीन रहते हैं। भगवान् ही सारे नियम तथा आदेश बनाते हैं, जिन्हें सामान्य रूप से धर्म कहते हैं। कोई भी व्यक्ति धार्मिक नियम नहीं बना सकता। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही प्रामाणिक धर्म है। भगवान् के ये आदेश *भगवद्गीता* में स्पष्ट रूप से घोषित किये गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह केवल उनका या उनके नियमों का अनुसरण करे। इससे वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार से सुखी हो सकेगा। जब तक हम इस भौतिक जगत में हैं, तब तक हमारा यह कर्तव्य है कि हम भगवान् के आदेशों का पालन करें और यदि भगवत्कृपा से हम इस भौतिक संसार के बन्धन से छूट जाँय, तो भी अपनी मुक्त अवस्था में हम भगवान् की प्रेमामय दिव्य सेवा कर सकते हैं। अपनी भौतिक अवस्था में आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में हम न तो अपने आप को देख पाते हैं, न ही भगवान् को। लेकिन जब हम भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करते हैं, तो हम अपने आपको तथा भगवान् को साक्षात् देख सकते हैं। अतएव *मुक्ति* का अर्थ है, जीवन की भौतिक अवधारणा को त्याग कर मूल आध्यात्मिक स्थिति को पुनः धारण करना। इस तरह यह मनुष्य-जीवन विषेश रूप से अपने आपको इसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के योग्य बनाने के निमित्त है। दुर्भाग्यवश, हम *भ्रामक भौतिक शक्ति* के वश में होकर कुछ वर्षों के इस क्षणिक जीवन को ही स्थायी मान बैठते हैं और इस तरह से *माया* द्वारा उत्पन्न छद्म स्वरूप वाले तथाकथित देश, घर, भूमि, सन्तान, पत्नी, समुदाय, सम्पत्ति आदि के स्वामित्व से भ्रमित हो जाते हैं। इस तरह, हम माया के इशारे पर इस छद्म स्वामित्व की रक्षा के लिए एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हमें इस भौतिक साज-सामान से कुछ भी लेना-देना नहीं है। ऐसा होने पर हम तुरन्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं। इस संसार की भ्रान्तियों का ऐसा स्पष्टीकरण भगवद्भक्तों की संगति

से तुरन्त ही होता है, क्योंकि वे मोहग्रस्त हृदय के भीतर दिव्य ध्वनि को प्रविष्ट कराने में सक्षम होते हैं और इस तरह से मनुष्य को समस्त शोक तथा मोह से मुक्त कराने वाले हैं। संक्षेप में यह उन लोगों के लिए सान्त्वना है, जो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि आदि के रूप में प्रकट होनेवाले कठोर भौतिक नियमों के फलों से प्रभावित होते हैं। युद्ध से पीड़ित कुरुवंश के सदस्य मृत्यु की समस्या से शोकातुर थे और भगवान् ने उनको ज्ञान के आधार पर ढाढ़स बँधाया।

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हतम् ।

घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

साधयित्वा—सम्पन्न करके; अजात-शत्रोः—जिसके कोई शत्रु न हो, उसका; स्वम् राज्यम्—अपना राज्य; कितवैः—धूर्तों के द्वारा (दुर्योधन तथा उसका दल); हतम्—छीना गया; घातयित्वा—वध कराकर; असतः—दुष्ट; राज्ञः—राजा के; कच—केशों का गुच्छा; स्पर्श—छूने से; क्षत—घटी हुई; आयुषः—आयु द्वारा।

धूर्त दुर्योधन तथा उसके दल ने छल करके अजातशत्रु युधिष्ठिर का राज्य छीन लिया था। भगवत्कृपा से वह फिर प्राप्त हो गया और जिन दुष्ट राजाओं ने दुर्योधन का साथ दिया था, वे सब भगवान् के द्वारा मार डाले गये। अन्य लोग भी मारे गये, क्योंकि महारानी द्रौपदी के केशों को पकड़कर खींचने से उनकी आयु क्षीण हो चुकी थी।

तात्पर्य : गौरवपूर्ण दिनों में या कलियुग के आगमन के पूर्व ब्राह्मण, गाय, स्त्री, बालक तथा वृद्ध पुरुषों की समुचित रक्षा की जाती थी।

१. ब्राह्मणों की रक्षा से आध्यात्मिक जीवन-प्राप्ति के लिए नितान्त वैज्ञानिक संस्कृति, वर्णाश्रम-व्यवस्था का पालन होता है।

२. गायों की रक्षा से भोजन का चमत्कारी रूप अर्थात् जीवन के उच्चादर्शों को समझने के लिए मस्तिष्क के सूक्ष्म तंतुओं को बनाये रखनेवाला दूध मिलता रहता है।

३. स्त्रियों की रक्षा से समाज की शुचिता बनी रहती है, जिससे हमें शान्ति, सुस्थिरता तथा जीवन की उन्नति के लिए अच्छी सन्तति मिलती है।

४. बच्चों की रक्षा से मनुष्य-जीवन को वह सुनहरा अवसर प्राप्त होता है, जिससे भव-बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। बालकों की ऐसी रक्षा उसके जन्म के दिन से ही गर्भाधान-संस्कार नामक शुद्धिकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रारम्भ हो जाती है।

५. वृद्धों की रक्षा से उन्हें मृत्यु के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की तैयारी करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

यह पूरा दृष्टिकोण ऐसे कारकों पर आधारित है, जिनसे सफल मनुष्यता प्राप्त होती है। इसके विपरीत, सजावटी कुत्तों तथा बिल्लियों की सभ्यता है। उपर्युक्त निर्दोष प्राणियों का वध सर्वथा वर्जित है, क्योंकि यदि उनका अपमान भी किया जाय, तो आयु क्षीण होती है। कलियुग में इन जीवों की समुचित सुरक्षा नहीं हो पाती, अतएव वर्तमान पीढ़ी की आयु काफी घट गई है। भगवद्गीता में कहा गया है कि जब समुचित सुरक्षा के अभाव में स्त्रियाँ कुलटा हो जाती हैं, तब उनसे अवांछित सन्तान उत्पन्न होती है, जिसे वर्णसंकर कहते हैं। सती स्त्री का अपमान करने का अर्थ है, अपनी आयु को खतरे में डालना। दुर्योधन के भाई दुस्शासन ने आदर्श सती नारी द्रौपदी का अपमान किया था, अतएव उन दुष्टों को असमय मरना पड़ा। ये हैं भगवान् के कुछ कठोर नियम, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है।

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।

तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

याजयित्वा—सम्पन्न करके; अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञों के द्वारा, जिनमें घोड़े की बलि दी जाती है; तम्—उनको (राजा युधिष्ठिर को); त्रिभिः—तीन; उत्तम—सर्वश्रेष्ठ; कल्पकैः—समुचित सामग्रियों के द्वारा तथा योग्य पुरोहितों द्वारा सम्पन्न; तत्—वह; यशः—ख्याति; पावनम्—यशस्वी; दिक्षु—समस्त दिशाएँ; शत-मन्योः—इन्द्र, जिसने ऐसे एक सौ यज्ञ किये थे; इव—सदृश; अतनोत्—फैल गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से तीन श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराये और इस तरह उनकी पवित्र ख्याति सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्र की तरह ही सर्व दिशाओं में फैल गई।

तात्पर्य : यह महाराज युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये जाने की भूमिका जैसी है। स्वर्ग के राजा इन्द्र के साथ महाराज युधिष्ठिर की तुलना महत्त्वपूर्ण है। स्वर्ग का राजा अपने ऐश्वर्य

में महाराज युधिष्ठिर की अपेक्षा हजारों गुना बढ़कर है, तो भी महाराज यधिष्ठिर की ख्याति कम न थी। इसका कारण यह है कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् के शुद्ध भक्त थे और भगवत्कृपा से ही वे स्वर्ग के राजा इन्द्र के तुल्य थे, यद्यपि उन्होंने केवल तीन यज्ञ सम्पन्न किये थे, जबकि स्वर्ग के राजा ने पूरे सौ यज्ञ किये थे। यह भगवद्भक्त का विशेषाधिकार है। भगवान् सबों पर समभाव रखते हैं, लेकिन भगवद्भक्त अधिक महिमावान् होता है, क्योंकि वह सदैव महान्तम के सम्पर्क में रहता है। सूर्य की किरणें समान रूप से विपरीत होती हैं, तो भी कुछ ऐसे स्थान रह जाते हैं जहाँ सदैव अँधेरा रहता है। यह सूर्य के कारण नहीं है, अपितु ग्राह्यता की कमी के कारण है। इसी प्रकार जो भगवान् के शत-प्रतिशत भक्त हैं, उन्हें भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त होती है, यद्यपि जो सर्वत्र सदैव समान रूप से वितरित होती है।

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।

द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—विदाई लेकर; पाण्डु-पुत्रान्—पाण्डु के समस्त पुत्रों से; च—भी; शैनेय—सात्यकि; उद्धव—उद्धव; संयुतः—समेत; द्वैपायन-आदिभिः—व्यासदेव जैसे ऋषियों के द्वारा; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; पूजितैः—पूजित होकर; प्रतिपूजितः—भगवान् ने भी समान रूप से आदानप्रदान किया।

फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने सात्यकि तथा उद्धव के साथ प्रस्थान के लिए तैयारी की।

उन्होंने श्रील व्यासदेव आदि ब्राह्मणों से पूजित होने के बाद पाण्डु-पुत्रों को आमन्त्रित किया। भगवान् ने सभी का समुचित अभिवादन किया।

तात्पर्य : क्षत्रिय होने के कारण श्रीकृष्ण ब्राह्मणों द्वारा पूजनीय नहीं थे, लेकिन वहाँ पर उपस्थित श्रील व्यासदेव आदि सारे ब्राह्मण उन्हें भगवान् के रूप में मानते थे, अतएव इन सबों ने उनकी पूजा की। भगवान् ने इस सामाजिक व्यवस्था के सम्मानार्थ अभिवादन किया कि क्षत्रिय को ब्राह्मणों के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिए। यद्यपि श्रीकृष्ण को सदैव सभी ओर से परमेश्वर को मिलनेवाला सम्मान प्राप्त होता रहता था, लेकिन भगवान् कभी भी समाज के चारों

आश्रमों की प्रथाओं से रंच मात्र भी विचलित नहीं होते थे। भगवान् ने प्रयोजनवश इन सामाजिक प्रथाओं को सम्पन्न किया, जिससे भविष्य में अन्य लोग उनका अनुसरण करते रहें।

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः ।

उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गन्तुम्—जाने के लिये इच्छुक; कृतमतिः—संकल्प करके; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; द्वारकाम्—द्वारका की ओर; रथम्—रथ पर; आस्थितः—आरूढ़; उपलेभे—देखा; अभिधावन्तीम्—तेजी से आती हुई; उत्तराम्—उत्तरा को; भय-विह्वलाम्—भयभीत।

ज्योंही वे द्वारका प्रस्थान के लिये रथ पर सवार हुए, त्योंही उन्होंने भयभीत उत्तरा को तेजी से उनकी ओर आते हुए देखा।

तात्पर्य : पाण्डव-कुल के सारे सदस्य अपनी रक्षा के लिये भगवान् पर आश्रित थे, अतएव भगवान् समस्त परिस्थितियों में उनकी रक्षा करते थे। वैसे तो, भगवान् सबों की रक्षा करते हैं, किन्तु जो लोग उन पर पूर्णरूपेण निर्भर रहते हैं, वे उनकी विशेष रखवाली करते हैं। पिता अपने नन्हें पुत्र के प्रति विशेष सतर्क रहता है, क्योंकि वह पिता पर पूर्णतः आश्रित होता है।

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।

नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उत्तरा उवाच—उत्तरा ने कहा; पाहि पाहि—रक्षा करें, रक्षा करें; महा-योगिन्—सर्वोच्च योगी; देव-देव—पूज्यों के भी पूज्य; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; त्वत्—आपके अतिरिक्त; अभयम्—भय से रहित होने का भाव; पश्ये—देखती हूँ; यत्र—जहाँ; मृत्युः—मृत्यु; परस्परम्—द्वैत जगत में।

उत्तरा ने कहा : हे देवाधिदेव, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, आप सबसे महान् योगी हैं। कृपया मेरी रक्षा करें, क्योंकि इस द्वैतपूर्ण जगत में मुझे मृत्यु के पाश से बचानेवाला आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत द्वैतपूर्ण है, जबकि परम धाम एकरूप है। द्वैतपूर्ण जगत् पदार्थ तथा आत्मा से निर्मित है जबकि परम जगत पूर्ण रूप से आत्मा है, जिसमें भौतिक गुणों का लेश भी नहीं पाया जाता। इस द्वैतपूर्ण जगत में प्रत्येक व्यक्ति झूठे ही जगत का स्वामी बनने का प्रयास करता है, जबकि परम जगत में भगवान् ही परम प्रधान हैं और अन्य सभी उनके अनन्य सेवक हैं। द्वैतपूर्ण जगत में प्रत्येक व्यक्ति अन्य सबों से ईर्ष्या करता है और पदार्थ तथा आत्मा के द्वैत अस्तित्व के कारण मृत्यु अपरिहार्य है। शरणागत जीव के लिये भगवान् ही एकमात्र अभयदाता हैं। भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई भी इस भौतिक जगत में अपने आप को मृत्यु के क्रूर पंजे से नहीं बचा सकता।

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ।

कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अभिद्रवति—ओर आता हुआ; माम्—मेरी; ईश—हे प्रभु; शरः—बाण; तप्त—अग्नितुल्य; अयसः—लोह; विभो—हे महान्; कामम्—इच्छा; दहतु—जला दे; माम्—मुझको; नाथ—हे रक्षक; मा—मत; मे—मेरा; गर्भः—गर्भ; निपात्यताम्—गर्भपात हो।

हे प्रभु, आप सर्वशक्तिमान हैं। एक दहकता हुआ लोहे का बाण मेरी ओर तेजी से आ रहा है। मेरे प्रभु, यदि आपकी इच्छा हो तो यह मुझे भले ही जला दे, लेकिन यह मेरे गर्भ को जलाकर गर्भपात न करे। हे प्रभु, कृपया मेरे पर इतना अनुग्रह करें।

तात्पर्य : यह घटना उत्तरा के पति, अभिमन्यु की मृत्यु के बाद की है। अभिमन्यु की विधवा पत्नी उत्तरा अपने पति का अनुसरण करती, लेकिन वह गर्भिणी थी और परम भगवद्भक्त महाराज परीक्षित उसके गर्भ में थे, अतएव उनकी रक्षा करना उसका परम धर्म था। माता के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है कि वह शिशु की सभी तरह से रक्षा करे, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी बात कहने में उत्तरा लजायी नहीं। उत्तरा एक महान राजा की पुत्री, एक महान् वीर की पत्नी और एक महान भक्त की शिष्या थी। बाद में वह एक श्रेष्ठ राजा की माँ भी बनी। वह सभी प्रकार से भाग्यशालिनी थी।

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।

अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; उपधार्य—धैर्यपूर्वक सुनकर; वचः—शब्द; तस्याः—उसके; भगवान्—भगवान् ने; भक्त-वत्सलः—अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त प्रेम से युक्त; अपाण्डवम्—पाण्डवों के वंशज के विना; इदम्—यह; कर्तुम्—इसे करने के लिये; द्रौणेः—द्रोणाचार्य के पुत्र का; अस्त्रम्—हथियार; अबुध्यत—समझा।

सूत गोस्वामी ने कहा : उसके वचनों को धीरज के साथ सुनकर, अपने भक्तों के प्रति सदैव अत्यन्त वत्सल रहनेवाले, भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त समझ गये कि द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डव-वंश के अन्तिम वंशज को समाप्त करने (निर्बीज करने) के लिये ही ब्रह्मास्त्र छोड़ा है।

तात्पर्य : भगवान् सभी तरह से निष्पक्ष हैं, तो भी वे अपने भक्तों का पक्ष लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है। पाण्डव-कुल भक्तकुल था, अतएव भगवान् चाहते थे कि वे विश्व के ऊपर शासन चलाएँ। यही कारण था कि दुर्योधन-दल के शासन को समाप्त करके उन्होंने महाराज युधिष्ठिर का शासन स्थापित किया। इसीलिये वे गर्भ में स्थित महाराज परीक्षित की रक्षा करना चाह रहे थे। वे नहीं चाहते थे कि संसार पाण्डव-कुल से विहीन हो जाय, जो भक्तों का आदर्श कुल था।

तर्हीवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।

आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—तब; एव—भी; अथ—अतएव; मुनि-श्रेष्ठ—हे मुनियों में प्रमुख; पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्र; पञ्च—पाँच; सायकान्—हथियार; आत्मनः—स्वयं; अभिमुखान्—की ओर; दीप्तान्—लपलपाते; आलक्ष्य—देखकर; अस्त्राणि—हथियार; उपाददुः—ग्रहण किया।

हे महान् विचारकों (मुनियों) में अग्रणी (शौनक जी), उस दहकते हुए ब्रह्मास्त्र को अपनी ओर आते देखकर पाँचों पाण्डवों ने अपने-अपने पाँचों हथियार सँभाले।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र परमाणु हथियारों से भी सूक्ष्म होता है। अश्वत्थामा ने महाराज युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों को तथा उत्तरा के गर्भ में स्थित उनके एकमात्र पौत्र को मारने के लिये अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा था। अतएव यह ब्रह्मास्त्र, जो परमाणु हथियार की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तथा सूक्ष्मतर होता है, परमाणु बमों की भाँति अंधा नहीं था। जब परमाणु बम छोड़े जाते हैं, तो वे लक्ष्य तथा अन्य वस्तुओं में अन्तर नहीं कर पाते। ये बम मुख्य रूप से निर्दोषों को हानि पहुँचाते हैं, क्योंकि इन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। लेकिन ब्रह्मास्त्र ऐसा नहीं होता। यह लक्ष्य को पहचानता है और निर्दोष को क्षति पहुँचाये बिना आगे बढ़ता है।

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।

सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

व्यसनम्—महान संकट को; वीक्ष्य—देखकर; तत्—उस; तेषाम्—उनका; अनन्य—दूसरा नहीं; विषय—साधन;
आत्मनाम्—इस प्रकार प्रवृत्त; सुदर्शनेन—कृष्ण के चक्र द्वारा; स्व-अस्त्रेण—हथियार से; स्वानाम्—अपने भक्तों की;
रक्षाम्—सुरक्षा; व्यधात्—की; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ने यह देखकर कि उनके अनन्य भक्तों पर, जो पूर्ण रूप से उनके शरणागत थे, महान् संकट आनेवाला है, उनकी रक्षा के लिए तुरन्त ही अपना सुदर्शन चक्र उठा लिया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र परमाणु अस्त्र के समान तो था, लेकिन उसमें तेज तथा उष्मा अधिक थी। यह ब्रह्मास्त्र अधिक सूक्ष्म विज्ञान की देन है, जो सूक्ष्म ध्वनि अर्थात् वेदों में अंकित एक मन्त्र का प्रतिफल है। इस अस्त्र का दूसरा गुण यह है कि यह परमाणु बम के समान अन्धा नहीं होता, क्योंकि अन्य किसी पर क्षति के बिना केवल लक्ष्य पर ही इसका संधान किया जा सकता है। अश्वत्थामा ने इसे पाण्डु-कुल के समस्त पुरुष-व्यक्तियों को समाप्त करने के लिए छोड़ा था, अतएव एक तरह से यह परमाणु बमों से अधिक घातक था, क्योंकि यह सर्वाधिक सुरक्षित स्थान में भी प्रवेश कर सकता था और लक्ष्य को कभी नहीं चूकता था। यह सब जानते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपने भक्तों की रक्षा करने के लिए अपना निजी

अस्त्र उठा लिया, क्योंकि ये भक्त कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते थे। *भगवद्गीता* में भगवान् ने स्पष्ट रूप से वचन दिया है कि उनके भक्त कभी विनष्ट नहीं होते। वे भक्तों द्वारा की गई भक्तिमय सेवा की मात्रा या गुण के आधार पर कार्यवाही करते हैं। यहाँ पर *अनन्य-विषयात्मनाम्* शब्द महत्वपूर्ण है। पाण्डवगण स्वयं महान योद्धा होते हुए भी भगवान् के संरक्षण पर शत-प्रतिशत आश्रित थे। लेकिन भगवान् हैं कि बड़े-से-बड़े योद्धाओं की उपेक्षा करके क्षण भर में उनका विनाश कर देते हैं। जब उन्होंने देखा कि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को काटने के लिए पाण्डवों के पास बिल्कुल समय नहीं रह गया, तो उन्होंने अपने ही प्रण को भी तोड़ते हुए, तुरन्त अपना अस्त्र उठा लिया। यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त-प्राय था, तो भी अपने प्रण के अनुसार, उन्हें अपना अस्त्र नहीं उठाना चाहिए था। लेकिन इस समय तो प्रण की अपेक्षा आपात्काल अधिक महत्वपूर्ण था। वे *भक्त-वत्सल* के रूप में अधिक सुविदित हैं, अतएव वे ऐसे सांसारिक आदर्शवादी नहीं बनना चाहते, जो कभी अपना प्रण नहीं तोड़ते, अपितु उन्होंने *भक्त-वत्सल* बने रहना अधिक पसन्द किया।

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः ।

स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अन्तःस्थः—अन्तर में रहते हुए; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; आत्मा—आत्मा; योग-ईश्वरः—समस्त योग के स्वामी; हरिः—परमेश्वर; स्व-मायया—अपनी निजी शक्ति से; आवृणोत्—आच्छादित कर लिया; गर्भम्—भ्रूण को; वैराट्याः—उत्तरा के; कुरु-तन्तवे—महाराज कुरु की वंशवृद्धि के लिए।

परम योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा के रूप में निवास करते हैं।

अतएव, कुरु-वंश की संतति की रक्षा करने के लिए उन्होंने उत्तरा के गर्भ को अपनी निजी शक्ति से आवृत कर लिया।

तात्पर्य : परम योगी भगवान्, परमात्मा-स्वरूप में अर्थात् अपने पूर्ण अंश के रूप में एक ही समय में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अथवा परमाणुओं के भीतर भी निवास कर सकते हैं। अतएव, उन्होंने महाराज परीक्षित को बचाने के लिए तथा महाराज कुरु के वंश की रक्षा करने के लिए

उत्तरा के गर्भ को आच्छादित कर दिया। महाराज पाण्डु भी कुरु के ही वंशज थे। इस प्रकार धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों के ही पुत्र महाराज कुरु के वंशज थे, अतएव दोनों ही सामान्य रूप से कुरु कहलाते थे। लेकिन जब इन दोनों परिवारों में मनोमालिन्य हो गया, तो धृतराष्ट्र के पुत्र कुरु कहलाने लगे और पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाने लगे। चूँकि कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र मारे जा चुके थे, अतएव इस वंश का अन्तिम पुत्र कुरु-पुत्र के नाम से अभिहित किया गया है।

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम् ।

वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; अस्त्रम्—अस्त्र; ब्रह्म-शिरः—परम्, सर्वश्रेष्ठ; तु—लेकिन; अमोघम्—बिना रोक-टोक के; च—तथा; अप्रतिक्रियम्—जिसका निवारण न किया जा सके; वैष्णवम्—विष्णु से सम्बन्धित; तेजः—बल; आसाद्य—सामने आने पर; समशाम्यत्—शान्त पड़ गया; भृगु-उद्वह—हे भृगु-वंशकी शान।

हे शौनक, यद्यपि अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया परम ब्रह्मास्त्र अमोघ था और उसका निवारण नहीं हो सकता था, लेकिन विष्णु (श्रीकृष्ण) के तेज के समक्ष वह निष्क्रिय हो गया और व्यर्थ हो गया।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि दिव्य जाज्वल्यमान प्रभा ब्रह्मज्योति भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म-तेज भगवान् की किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जिस प्रकार कि सूर्य-किरणें सूर्य के गोले से ही निकली किरणें हैं। अतएव यह ब्रह्मास्त्र भी, यद्यपि भौतिक रूप से अमोघ था, किन्तु भगवान् के परम तेज से पार नहीं पा सका। अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र श्रीकृष्ण द्वारा अपनी शक्ति के बल पर, निष्क्रिय एवं व्यर्थ कर दिया गया, अर्थात् उन्हें किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ी, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं।

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।

य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; मंस्थाः—सोचो; हि—निश्चय ही; एतत्—ये सब; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक; सर्व—समस्त; आश्चर्य-मये—परम आश्चर्ययुक्त; अच्युते—अच्युत में; यः—जो; इदम्—यह (सृष्टि); मायया—उनकी शक्ति द्वारा; देव्या—दिव्य; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; हन्ति—संहार करता है; अजः—अजन्मा ।

हे ब्राह्मणों, इसे गुह्य तथा अच्युत भगवान् के कार्य-कलापों में विशेष आश्चर्यजनक मत सोचो। वे अपनी दिव्य शक्ति से समस्त भौतिक वस्तुओं का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं यद्यपि वे स्वयं अजन्मा हैं।

तात्पर्य : जीवों के नन्हें मस्तिष्क के लिए भगवान् के कार्यकलाप सदैव अकल्पनीय होते हैं। परमेश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, लेकिन उनके सारे कार्य हमारे लिए आश्चर्यजनक लगते हैं, और इस प्रकार वे सदा हमारी विचारशक्ति की सीमा से परे बने रहते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण परमेश्वर हैं। भगवान् शत-प्रतिशत पूर्ण हैं, जबकि दूसरे अर्थात् नारायण, ब्रह्मा, शिव, देवतागण तथा अन्य सारे जीवों में ऐसी पूर्णता का कुछ प्रतिशत ही पाया जाता है। कोई भी न तो उनके तुल्य है, न उनसे बड़ा। वे अद्वितीय हैं।

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया ।

प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-तेजः—ब्रह्मास्त्र का विकिरण ; विनिर्मुक्तैः—से बचकर; आत्म-जैः—अपने पुत्रों; सह—समेत; कृष्णया—द्रौपदी के; प्रयाण—जाते हुए; अभिमुखम्—ओर; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; इदम्—यह; आह—कहा; पृथा—कुन्ती ने; सती—भगवान् की भक्त, सती ।

इस प्रकार ब्रह्मास्त्र के विकिरण से बचकर भगवान् की भक्त सती कुन्ती ने अपने पाँच पुत्रों तथा द्रौपदी-सहित, घर के लिए प्रस्थान करने को उद्यत श्रीकृष्ण को इस तरह सम्बोधित किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति के कारण कुन्ती को यहाँ पर सती कहा गया है। अब उसके मन को आगे दी हुई भगवान् की स्तुति में व्यक्त किया जायेगा। भगवान् का सच्चा भक्त कभी अन्य किसी से, यहाँ तक कि संकट से उबारने के लिए भी, किसी जीव या देवता से दया की भीख नहीं माँगता। यही विशेषता लगातार सारे पाण्डव-कुल में बनी रही। वे कृष्ण के

अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते थे, अतएव भगवान् भी सभी परिस्थितियों में उनकी हर प्रकार से सहायता करने को उद्यत रहते थे। यह भगवान् का दिव्य स्वभाव है। वे भक्त की निर्भरता को पुरस्कृत करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपूर्ण जीवों या देवताओं से सहायता की याचना न करे, अपितु भगवान् कृष्ण से याचना करे, क्योंकि वे अपने भक्तों को बचाने में सक्षम हैं। ऐसा सच्चा भक्त भी भगवान् से सहायता कभी नहीं माँगता, किन्तु भगवान् अपनी खुद की इच्छा से ऐसा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं।

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।

अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कुन्ती उवाच—श्रीमती कुन्ती ने कहा; नमस्ये—मेरा नमस्कार है; पुरुषम्—परम पुरुष को; त्वा—आप; आद्यम्—मूल; ईश्वरम्—नियन्ता; प्रकृतेः—भौतिक ब्रह्माण्डों के; परम्—परे; अलक्ष्यम्—अदृश्य; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; अवस्थितम्—स्थित।

श्रीमती कुन्ती ने कहा : हे कृष्ण, मैं आपको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि आप ही आदि पुरुष हैं और इस भौतिक जगत के गुणों से निर्लिप्त रहते हैं। आप समस्त वस्तुओं के भीतर तथा बाहर स्थित रहते हुए भी सबों के लिए अदृश्य हैं।

तात्पर्य : श्रीमती कुन्ती देवी को भलीभाँति ज्ञात था कि कृष्ण आदि भगवान् हैं, भले ही वे उनके भतीजे लगते थे। ऐसी प्रबुद्ध महिला अपने भतीजे को नमस्कार करने की गलती नहीं कर सकती थी। अतएव, उन्होंने उन्हें आदि पुरुष के रूप में सम्बोधित किया, जो भौतिक जगत से परे हैं। यद्यपि सारे जीव भी दिव्य हैं, लेकिन वे न तो आदि हैं, न अच्युत। जीव भौतिक प्रकृति के चंगुल में पड़कर नीचे गिर सकते हैं, लेकिन भगवान् कभी भी ऐसे नहीं हैं। अतएव वेदों में उन्हें समस्त जीवों में प्रधान कहा गया है। (नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्)। तब उन्होंने उन्हें पुनः ईश्वर या नियन्ता के रूप में सम्बोधित किया। जीव, या चन्द्र तथा सूर्य जैसे देवता भी कुछ हद तक ईश्वर हैं, लेकिन इनमें से कोई भी परमेश्वर अथवा परम नियन्ता नहीं है। वे ही परमेश्वर या

परमात्मा हैं। वे अन्तः तथा बाह्य दोनों में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे श्रीमती कुन्ती के समक्ष उनके भतीजे के रूप में उपस्थित थे, लेकिन वे उनके तथा अन्य सबों के अन्तर में भी विद्यमान थे। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं, “मैं प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से उसमें स्मृति, विस्मृति, ज्ञान इत्यादि हैं। समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, क्योंकि मैं वेदों का संकलनकर्ता तथा वेदान्त को पढ़ाने वाला हूँ।” रानी कुन्ती पुष्टि करती हैं कि यद्यपि भगवान् समस्त जीवों के भीतर तथा बाहर हैं, तो भी वे अदृश्य हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए पहली-तुल्य हैं। महारानी कुन्ती ने साक्षात् अनुभव किया कि भगवान् कृष्ण उनके समक्ष उपस्थित हैं, फिर भी उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट होकर उन्होंने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से भ्रूण की रक्षा की। वे स्वयं *असमंजस* में थी कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं, या स्थानीय। वस्तुतः वे दोनों हैं, लेकिन यह अधिकार उनको ही है कि जो लोग उनके शरणागत नहीं हैं, उनके समक्ष प्रकट न हों। अवरोध का यह पर्दा भगवान् की *माया-शक्ति* कहलाती है और यही वि जीव की संकुचित दृष्टि को नियन्त्रित करती है। इस की व्याख्या आगे की गई है।

मायाजवनिकाच्छत्रमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।

न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

माया—ठगने वाली; जवनिका—पर्दा; आच्छन्नम्—ढका; अज्ञा—अज्ञानी; अधोक्षजम्—भौतिक बोध की सीमा से परे (दिव्य); अव्ययम्—अविनाशी; न—नहीं; लक्ष्यसे—दिखता है; मूढ-दृशा—मूर्ख देखनेवाले के द्वारा; नटः—कलाकार; नाट्य-धरः—अभिनेता का भेष धारण किये; यथा—जिस प्रकार।

सीमित इन्द्रिय-ज्ञान से परे होने के कारण, आप ठगिनी शक्ति (माया) के पर्दे से ढके रहनेवाले शाश्वत अव्यय तत्त्व हैं। आप मूर्ख दर्शक के लिए ठीक उसी प्रकार अदृश्य रहते हैं, जिस प्रकार अभिनेता के वस्त्र पहना हुआ कलाकार पहचान में नहीं आता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं कि अल्पज्ञानी व्यक्ति उन्हें अपने समान ही सामान्य व्यक्ति समझने की भूल करते हैं और इस प्रकार वे लोग उनका उपहास करते हैं। यहाँ पर इसी बात की महारानी कुन्ती द्वारा पुष्टि की गई है। अल्प ज्ञानी व्यक्ति वे हैं, जो

भगवान् की सत्ता के प्रति विद्रोह करते हैं। ऐसे व्यक्ति असुर कहलाते हैं। असुर भगवान् की सत्ता को नहीं पहचान सकते। भगवान् जब राम, नृसिंह, वराह या अपने मूल रूप कृष्ण रूप में हम लोगों के मध्य प्रकट होते हैं, तो वे ऐसे अनेक आश्चर्यजनक कार्य करते हैं, जो मनुष्य के लिए असम्भव हैं। जैसाकि हम इस महान ग्रंथ के दशम-स्कंध में देखेंगे, भगवान् श्रीकृष्ण ने तभी से मानव मात्र के लिए असम्भव कार्य-कलाप करने प्रारम्भ कर दिये थे, जब वे अपनी माता की गोद में थे। उन्होंने उस पूतना राक्षसी का वध किया, जो अपने स्तनों में विष पोतकर उन्हें मारने आयी थी। भगवान् ने सामान्य बालक की भाँति उसका स्तन-पान किया लेकिन उन्होंने साथ ही साथ उसके प्राण भी सोख लिए। इसी प्रकार उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उसी तरह उठा लिया, जिस प्रकार कोई बच्चा कुकुरमुत्ता उठा लेता है। वे वृन्दावनवासियों को रक्षा प्रदान करने के लिए पर्वत को कई दिनों तक उठाये रखे। ये भगवान् के कतिपय अतिमानवीय कार्यकलाप हैं, जिनका वर्णन *पुराणों, इतिहासों तथा उपनिषदों* में हुआ है। उन्होंने *भगवद्गीता* के रूप में अद्भुत उपदेश दिया। उन्होंने एक वीर, एक गृहस्थ, एक शिक्षक तथा एक त्यागी के रूप में अद्भुत पराक्रम कर दिखलाया। व्यास, देवल, असित, नारद, मध्व, शंकर, रामानुज, श्री चैतन्य महाप्रभु, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा उस परम्परा के अन्य प्रामाणिक महापुरुषों ने उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं भी प्रामाणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसा ही घोषित किया है। फिर भी आसुरी मनोवृत्तिवाले लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो भगवान् को परम सत्य के रूप में मानने में आनाकानी करता है। यह कुछ तो उनके अल्प ज्ञान के कारण है और कुछ उनके विगत तथा वर्तमान दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप उनकी घोर मूढ़ता के कारण है। भगवान् कृष्ण जब लोगों की आँखों के सामने साक्षात् उपस्थित थे, तब भी वे उन्हें पहचान नहीं पाये थे। दूसरी कठिनाई यह है कि जो लोग अपनी अपूर्ण इन्द्रियों पर निर्भर रहते हैं, वे परमेश्वर के रूप में उनकी अनुभूति नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति आधुनिक वैज्ञानिकों के समान हैं। वे सारी वस्तुओं को अपने प्रयोगात्मक ज्ञान से जानना चाहते हैं। लेकिन परम पुरुष को अपूर्ण प्रयोगात्मक ज्ञान के द्वारा जान पाना असम्भव है। यहाँ पर उन्हें

अधोक्षज कहा गया है, अर्थात् वे प्रयोगात्मक ज्ञान की परिधि के परे हैं। हमारी सारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। हम दावा करते हैं कि हम सारी वस्तुएँ देख सकते हैं, लेकिन हमें कबुल करना होगा कि हम केवल कुछ भौतिक परिस्थितियों में ही वस्तुओं को देख सकते हैं, और वे भी हमारे वश में नहीं होतीं। भगवान् इन्द्रियगम्य नहीं हैं। महारानी कुन्ती बद्धजीव की, और विशेष रूप से अल्पज्ञ स्त्री जाति की, इस न्यूनता को स्वीकार करती हैं। अल्पज्ञ लोगों के लिए मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर जैसी वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिससे वे भगवान् की सत्ता को पहचानें तथा ऐसे पवित्र स्थलों में भगवान् के विषय में प्रामाणिक व्यक्तियों से श्रवण कर सकें। अल्पज्ञों के लिए आध्यात्मिक जीवन का ऐसा शुभारम्भ आवश्यक है और मूर्ख लोग ही इन पूजा-स्थलों की स्थापना का विरोध करते हैं, जिनकी आवश्यकता जनता में आध्यात्मिक गुणों के मानदण्ड को ऊपर उठाने के लिए पड़ती है। अल्पज्ञों के लिए मन्दिरों, मस्जिदों या गिरजाघरों में जाकर भगवान् की सत्ता के समक्ष नतमस्तक होना उतना ही लाभप्रद है, जितना उन्नत भक्तों के लिए क्रियात्मक भक्ति-सेवा द्वारा भगवान् का ध्यान करना।

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तथा—इसके अतिरिक्त; परमहंसानाम्—उन्नत अध्यात्मवादियों का; मुनीनाम्—महान चिन्तकों या विचारकों का; अमल-आत्मनाम्—आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम; भक्ति-योग—भक्ति का विज्ञान; विधान-अर्थम्—सम्पन्न करने के लिए; कथम्—कैसे; पश्येम—देख सकती हैं; हि—निश्चित ही; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

आप उन्नत अध्यात्मवादियों तथा आत्मा एवं पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम होने से शुद्ध बने विचारकों के हृदयों में भक्ति के दिव्य विज्ञान का प्रसार करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं। तो फिर हम स्त्रियाँ आपको किस तरह पूर्ण रूप से जान सकती हैं?

तात्पर्य : बड़े-बड़े दार्शनिक-चिन्तक तक भगवान् के धाम तक नहीं पहुँच पाते। उपनिषदों में कहा गया है कि परम सत्य, परमेश्वर का परम व्यक्तित्व बड़े-से-बड़े दार्शनिक की चिन्तन-शक्ति से परे है। वे महान विद्या या महानतम् मस्तिष्क द्वारा भी नहीं जाने जा सकते। उन्हें वही

जान पाता है, जिस पर उनकी कृपा हुई हो। अन्य लोग भले ही वर्षों तक उनका चिन्तन करते ही क्यों न रहें, वे अज्ञेय ही रहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि महारानी कुन्ती द्वारा होती है, जो एक अबोध स्त्री की भूमिका निभा रही हैं। स्त्रियाँ सामान्य रूप से दार्शनिकों की भाँति चिन्तन नहीं कर सकतीं, लेकिन उन्हें भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त है, क्योंकि वे भगवान् की श्रेष्ठता तथा सर्वशक्तिमत्ता पर तुरन्त विश्वास कर लेती हैं और बिना किसी संकोच के नतमस्तक हो जाती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे केवल ऐसे व्यक्ति पर विशेष अनुग्रह नहीं करते, जो महान दार्शनिक होता है। वे प्रयोजन की निष्ठा को जानते हैं। इसीलिए प्रायः किसी भी धार्मिक उत्सव के अवसर पर स्त्रियाँ बड़ी संख्या में एकत्र होती हैं। प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक धर्म के सम्प्रदाय में ऐसा लगता है कि स्त्रियों की रुचि पुरुषों से अधिक है। भगवान् की सत्ता की स्वीकृति की यह सरलता निष्कारित धार्मिक दिखावे से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है।

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।

नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृष्णाय—भगवान् को; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र को; देवकी-नन्दनाय—देवकी के पुत्र को; च—तथा; नन्द-गोप—नन्द तथा ग्वालों के; कुमाराय—पुत्र को; गोविन्दाय—भगवान् को, जो इन्द्रियों तथा गौवों के प्राण हैं; नमः—सादर नमस्कार; नमः—नमस्कार।

अतः मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करती हूँ, जो वसुदेव के पुत्र, देवकी के लाडले, नन्द के लाल तथा वृन्दावन के अन्य ग्वालों एवं गौवों तथा इन्द्रियों के प्राण बनकर आये हैं।

तात्पर्य : किसी भी भौतिक सम्पदा द्वारा प्राप्त न किये जा सकने वाले भगवान् इस प्रकार, अपने अनन्य भक्तों पर विशेष अनुग्रह दिखाने तथा आसुरी लोगों के उपद्रवों का शमन करने के लिए अपनी असीम अहैतुकी कृपा से इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। महारानी कुन्ती, अन्य सभी अवतारों की अपेक्षा भगवान् कृष्ण के अवतरण की विशेष रूप से पूजा करती हैं, क्योंकि वे इसी रूप में सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। राम-अवतार में वे बचपन से ही राजा के पुत्र बने

रहे, लेकिन कृष्ण-अवतार में राजा के पुत्र होते हुए भी, उन्होंने अपने असली माता-पिता (राजा वसुदेव तथा महारानी देवकी) के संरक्षण को जन्मते ही त्याग दिया और यशोदा माई की गोद में चले गये, जिससे उनकी बाल लीलाओं के कारण अत्यन्त पावन वृन्दावन की पुण्य भूमि में वे सामान्य ग्वाल-बाल का अभिनय कर सकें अतएव भगवान् कृष्ण भगवान् राम की अपेक्षा अधिक दयालु हैं। वे कुन्ती के भाई वसुदेव तथा उनके परिवार के प्रति विशेष रूप से अत्यन्त दयालु थे। यदि कृष्ण वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में जन्म न लिये होते, तो महारानी कुन्ती उन्हें अपना भतीजा मानकर इतने वात्सल्यभाव से उन्हें सम्बोधित न कर पातीं। किन्तु अधिक भाग्यशाली तो नन्द और यशोदा हैं, जिन्होंने भगवान् की बाल-लीलाओं का रस लूटा, जो अन्य लीलाओं से अधिक मनोहारी है। ब्रजभूमि वृन्दावन में प्रदर्शित की गई उनकी बाललीलाओं के समान अन्य कुछ नहीं है, जो चिन्तामणि धाम के नाम से ब्रह्म-संहिता में वर्णित मूल कृष्णलोक में हो रही उनकी सनातन लीलाओं का एक नमूना है। भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजभूमि में अपने दिव्य पार्षदों तथा साज-सामग्री के साथ स्वयं अवतरित हुए थे। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है कि ब्रजभूमि के वासियों के समान अन्य कोई भाग्यशाली नहीं है और उनमें भी गोपियाँ विशेष रूप से भाग्यशालिनी हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् की प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। वे नन्द तथा यशोदा के साथ, ग्वालों के साथ तथा विशेष रूप से ग्वाल-बालों एवं गौवों के साथ अपनी लीलाओं के कारण गोविन्द कहलाये। गोविन्द-रूप में भगवान् ब्राह्मणों तथा गौवों के प्रति विशेष सद्य हैं, जिसका अर्थ है कि मानवीय सम्पन्नता बहुत कुछ इन्हीं दो बातों पर निर्भर करती है—एक तो ब्रह्मण संस्कृति तथा दूसरी गो-रक्षा। जहाँ इन दोनों का अभाव रहता है, वहाँ भगवान् कृष्ण कभी प्रसन्न नहीं होते।

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।

नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; पङ्कज-नाभाय—भगवान् को, जिनके उदर के मध्यभाग में कमल-पुष्प के समान विशेष गड्ढा है; नमः—नमस्कार; पङ्कज-मालिने—कमल-पुष्प की माला से निरन्तर सज्जित रहनेवाले को; नमः—नमस्कार; पङ्कज-नेत्राय—जिनकी दृष्टि कमल-पुष्प के समान शीतल है; नमः ते—आपको नमस्कार है; पङ्कज-अङ्घ्रये—कमल-पुष्पों से अंकित चरण के तलवों वाले को।

जिनके उदर के मध्य में कमलपुष्प के सदृश गर्त है, जो सदैव कमल-पुष्प की माला धारण करते हैं, जिनकी चितवन कमल-पुष्प के समान शीतल है और जिनके चरणों (के तलवों) में कमल अंकित हैं, उन भगवान् को मैं सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर में कुछ विशिष्ट चिह्न होते हैं, जिनसे उनका शरीर अन्य सारे व्यक्तियों के शरीर से भिन्न लगता है। ये भगवान् के शरीर के विशिष्ट चिह्न हैं। भले ही भगवान् हम में से एक जैसे लगते हों, लेकिन वे अपने विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के कारण सर्वदा भिन्न रहते हैं। श्रीमती कुन्ती अपने आपको भगवान् का दर्शन कर पाने में अक्षम मानती हैं, क्योंकि वे स्त्री हैं। ऐसा माना जाता है कि स्त्रियाँ, शूद्र (श्रमिक वर्ग) तथा द्विज-बन्धु (तीनों द्विज-जातियों की नीच सन्तानें) परम सत्य के नाम, यश, लक्षण, रूप आदि से सम्बन्धित दिव्य विषय को समझने में असमर्थ होते हैं। यद्यपि ऐसे व्यक्ति भगवान् की लीलाओं को समझने में असमर्थ होते हैं, तो भी वे भगवान् को *अर्चा-विग्रह* के रूप में देख सकते हैं, जो उपर्युक्त स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं समेत समस्त पतितात्माओं पर दया करने के उद्देश्य से भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। चूँकि ऐसे पतित लोग पदार्थ के परे कुछ भी नहीं देख पाते, अतः भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में असंख्य ब्रह्माण्डों में से प्रत्येक में प्रविष्ट होने के लिए सन्नद्ध होते हैं, जिनके दिव्य उदर के मध्य के कमलवत् गड्ढे (नाभि) से कमल-नाल अंकुरित होती है और इस तरह, ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म होता है। इसीलिए भगवान् को पंकज-नाभि कहा जाता है। ये पंकज-नाभि भगवान् अनेक तत्त्वों के बने *अर्चा-विग्रह* के रूप को स्वीकार करते हैं—यथा मन के भीतर बना रूप, मिट्टी का रूप, पार्थिव रूप, धातु रूप, रत्न-रूप, रंग-रूप, बालपर अंकित किया गया रूप इत्यादि। भगवान् के इन सारे रूपों को कमल की मालाओं से सजाया जाता है। पूजा-मन्दिर में ऐसा शान्तिप्रद वातावरण होना चाहिए, जिससे भौतिक कार्यों में सदैव

निरत रहनेवाले अभक्तजनों का उत्कट ध्यान उस ओर आकृष्ट हो। ध्यानी लोग मन के भीतर एक साकार रूप की पूजा करते हैं, अतएव भगवान् स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं पर भी दयालु होते हैं, बशर्ते कि वे विविध रूपों में बने पूजा-मन्दिरों में जाना स्वीकार करें। ऐसे मन्दिर जानेवाले मूर्ति-पूजक नहीं होते, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोगों द्वारा कहा जाता है। बड़े-बड़े आचार्यों ने अल्पज्ञानियों पर कृपा करते हुए सर्वत्र ऐसे पूजा-मन्दिरों की स्थापना की। वास्तव में शूद्रों या स्त्रियों अथवा उनसे भी निम्न श्रेणी में रहते हुए किसी को यह दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने मंदिर-पूजा की अवस्था पार कर ली है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का दर्शन करने में उनके चरणकमलों से प्रारम्भ करके क्रमशः जाँघों, कमर, वक्षस्थल तथा मुख तक पहुँचे। उसे भगवान् के चरणकमलों के दर्शन का अभ्यास किये बिना भगवान् के मुख का दर्शन करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। भगवान् की बुआ होने के कारण श्रीमती कुन्ती ने भगवान् का दर्शन चरणकमलों से प्रारम्भ नहीं किया, क्योंकि इससे भगवान् लज्जित होते। अतएव इस स्थिति से बचने के लिए उन्होंने भगवान् के चरणकमलों के ऊपर के भाग अर्थात् कमर से धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठते हुए मुख का, और फिर चरणकमलों का दर्शन किया। चक्र में प्रत्येक वस्तु समुचित क्रम से हो जाती है।

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यथा—मानो; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी; खलेन—ईष्यालु के द्वारा; देवकी—देवकी (श्रीकृष्ण की माता); कंसेन—राजा कंस द्वारा; रुद्धा—बन्दी बनाया गया; अति-चिरम्—दीर्घ काल तक; शुच-अर्पिता—दुखी; विमोचिता—मुक्त किया; अहम् च—मैं भी; सह-आत्म-जा—अपने बच्चों सहित; विभो—हे महान्; त्वया एव—आप ही के द्वारा; नाथेन—रक्षक के रूप में; मुहुः—निरन्तर; विपत्-गणात्—विपत्तियों के समूह से।

हे हृषीकेश, हे इन्द्रियों के स्वामी तथा देवों के देव, आपने दीर्घ काल तक बन्दीगृह में बन्दिनी बनाई गई और दुष्ट राजा कंस द्वारा सताई जा रही अपनी माता देवकी को तथा अनवरत विपत्तियों से घिरे हुए मेरे पुत्रों समेत मुझको मुक्त किया है।

तात्पर्य : कृष्ण की माता तथा कंस की बहन देवकी को उसके पति वसुदेव सहित बन्दीगृह में रख दिया गया था, क्योंकि दुष्ट राजा कंस को भय था कि वह देवकी के आठवें पुत्र (कृष्ण) द्वारा मारा जायेगा। उसने कृष्ण के पूर्व पैदा हुए देवकी के सारे बच्चों का वध कर दिया था, किन्तु कृष्ण बाल-वध के संकट से बच निकले, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के पालकपिता नन्द महाराज के घर पहुँचा दिये गये थे। कुन्ती देवी भी अपने पुत्रों समेत, अनेक कष्टों की शृंखला से बचाई जाती रहीं। लेकिन भगवान् कृष्ण ने कुन्ती देवी पर कुछ अधिक ही अनुग्रह किया था, क्योंकि उन्होंने देवकी के अन्य पुत्रों की रक्षा नहीं की, जबकि कुन्ती के पुत्रों की रक्षा की। इसका कारण यह था कि देवकी के पति वसुदेव जीवित थे, लेकिन कुन्ती विधवा थीं और कृष्ण के अतिरिक्त उनका अन्य कोई रक्षक न था। निष्कर्ष यह है कि कृष्ण उस भक्त पर अधिक अनुग्रह करते हैं, जो अधिक संकट में होता है। कभी-कभी वे जानकर शुद्ध भक्तों को ऐसे संकटों में डालते हैं, क्योंकि ऐसी असहाय्यवस्था में भक्त भगवान् के प्रति अधिक अनुरक्त बनता है। भगवान् के प्रति जितनी अधिक अनुरक्ति होगी, भक्त को उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

विषान्महानेः पुरुषाददर्शना-

दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।

मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो

द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विषात्—विष से; महा-अग्नेः—प्रबल अग्निकाण्ड से; पुरुष-अद—मनुष्य के भक्षक से; दर्शनात्—मल्लयुद्ध करके;
असत्—दुष्ट; सभायाः—सभा से; वन-वास—जंगल में प्रवासित; कृच्छ्रतः—कष्ट से; मृधे मृधे—युद्ध में बारम्बार;
अनेक—अनेक; महा-रथ—बड़े-बड़े सेनानायक; अस्त्रतः—हथियार से; द्रौणि—द्रोणाचार्य के पुत्र के; अस्त्रतः—अस्त्र से; च—तथा; आस्म—था; हरे—हे भगवान्; अभिरक्षिताः—पूर्ण रूप से सुरक्षित।

हे कृष्ण, आपने हमें विषाक्त भोजन से, भीषण अग्नि-काण्ड से, मानव-भक्षीओं से, दुष्ट सभा से, वनवास-काल के कष्टों से तथा महारथियों द्वारा लड़े गये युद्ध से बचाया है। और अब आपने हमें अश्वत्थामा के अस्त्र से बचा लिया है।

तात्पर्य : यहाँ पर घातक संघर्षों की सूची प्रस्तुत की गई है। देवकी को तो एक ही बार अपने दुष्ट भाई के कारण कष्ट मिला, अन्यथा वे कुशलपूर्वक रहीं, किन्तु कुन्ती देवी तथा उनके पुत्रों को तो वर्षों तक लगातार एक के बाद एक कष्ट उठाने पड़े। उन्हें राज्य के लिए दुर्योधन तथा उसकी टोली के लोग मुसीबतों में डालते रहे और हर बार कृष्ण ने कुन्ती के पुत्रों की रक्षा की। एक बार भीम को भोजन में विष खिला दिया गया। एक बार उन्हें लाक्षागृह में रखकर उसमें आग लगा दी गई तथा एक बार द्रौपदी का चीर हरण किया गया और दुष्ट कौरवों की सभा में उन्हें नग्न करने का प्रयास करके उसे अपमानित किया गया। भगवान् ने द्रौपदी के लिए अपरिमित वस्त्रों की पूर्ति की, जिससे दुर्योधन का दल उसे नग्न होते न देख सका। इसी प्रकार जब पाँचों पाण्डव वनवास कर रहे थे, तो भीम को मनुष्य-भक्षक राक्षस हिडिम्ब से लड़ना पड़ा, किन्तु तब भगवान् ने भीम की रक्षा की। यह खेल यहीं नहीं समाप्त हुआ। इन सब कष्टों के बाद कुरुक्षेत्र का महान युद्ध हुआ और अर्जुन को द्रोण, भीष्म तथा कर्ण जैसे महाबली सेनानायकों का सामना करना पड़ा। और जब सब समाप्त हो गया, तो द्रोणाचार्य के पुत्र ने उत्तरा के गर्भस्थ शिशु को मारने के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब भगवान् ने कुरुवंश के एकमात्र संभाव्य वंशज महाराज परीक्षित की रक्षा की।

विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विपदः—विपत्तियाँ; सन्तु—आने दो; ताः—सारी; शश्वत्—पुनः पुनः; तत्र—वहाँ; तत्र—तथा वहाँ; जगत्-गुरो—हे जगत के स्वामी; भवतः—आपकी; दर्शनम्—भेंट; यत्—जो; स्यात्—हो; अपुनः—फिर नहीं; भव-दर्शनम्—जन्म-मृत्यु को बारम्बार देखना।

मैं चाहती हूँ कि ये सारी विपत्तियाँ बारम्बार आयें, जिससे हम आपका दर्शन पुनः पुनः कर सकें, क्योंकि आपके दर्शन का अर्थ यह है कि हमें बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु को नहीं देखना पड़ेगा।

तात्पर्य : सामान्यतया दुखी, जरूरतमन्द, बुद्धिमान तथा जिज्ञासु लोग, जिन्होंने कुछ पुण्य कर्म किये हैं, वे भगवान् की पूजा करते हैं या पूजा करना प्रारम्भ करते हैं। अन्य लोग, जो दुष्कर्म से ही फलते-फूलते हैं, चाहे वे जिस स्तर के हों, माया द्वारा भ्रमित होने के कारण भगवान् के पास नहीं पहुँच पाते। अतएव पुण्यात्मा के लिये संकट आने पर भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लेने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करने का अर्थ है, जन्म-मृत्यु से छूटने की तैयारी करना। अतः भले ही तथाकथित आपत्तियाँ आयें, उनका स्वागत करना होगा, क्योंकि वे हमें भगवान् के स्मरण का अवसर प्रदान करती हैं जिसका अर्थ है मुक्ति।

जिसने अविद्या के सागर को पार करने के लिए सर्वोत्तम नाव के समान भगवान् के चरणकमलों की शरण ली है, वह उतनी ही सरलता से मुक्ति प्राप्त करता है, जितनी सरलता से बछड़े के खुर के निशान को लाँघा जा सकता है। ऐसे लोग भगवद्धाम में रहने के अधिकारी हैं और उन्हें ऐसे स्थान से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, जहाँ पग-पग पर संकट हो।

भगवद्गीता में भगवान् ने इस भौतिक जगत् को आपत्तियों से भरा कष्टप्रद स्थान बताया है। अल्पज्ञानी व्यक्ति इन आपत्तियों के साथ समझौता करने की योजना बनाते हैं, लेकिन वे जानते नहीं हैं कि इस स्थान का प्रकार ही ऐसा है कि वह आपत्तियों से भरा है। उन्हें भगवान् के उस धाम का बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता, जो आनन्द से भरपूर है और जहाँ तनिक भी आपत्ति नहीं है। अतएव प्रबुद्ध मनुष्य का यह कर्तव्य है कि भौतिक आपत्तियों से अविचलित रहे, क्योंकि आपत्तियाँ तो सभी परिस्थितियों में आती ही हैं। सभी प्रकार की अपरिहार्य विपत्तियों का सामना करते हुए मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करते रहना चाहिये, क्योंकि मानव जीवन का यही उद्देश्य है। चूँकि आत्मा समस्त भौतिक आपत्तियों से परे है, अतएव तथाकथित आपत्तियाँ

मिथ्या बतलाई गई हैं। स्वप्न में कोई मनुष्य अपने को बाघ द्वारा निगला जाता देख सकता है और वह इस आपत्ति के कारण चिल्ला सकता है, किन्तु वास्तव में न तो बाघ रहता है, न आपत्ति; यह तो कोरा स्वप्न है। इसी प्रकार जीवन की सारी आपत्तियाँ स्वप्न-तुल्य कही जाती हैं। यदि कोई भक्ति मय सेवा द्वारा भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है, तो लाभ ही लाभ है। नवधा भक्ति में से किसी एक के द्वारा भगवान् का सान्निध्य भगवद्धाम जाने की दिशा में सदा एक अग्रिम पग है।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।

नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्रुत—शिक्षा; श्रीभिः—सुन्दरता के स्वामित्व द्वारा; एधमान—लगातार वृद्धि करता हुआ; मदः—प्रमत्तता; पुमान्—मनुष्य; न—कभी नहीं; एव—ही; अर्हति—पात्र होता है; अभिधातुम्—सम्बोधित करने के लिये; वै—निश्चय ही; त्वाम्—आपको; अकिञ्चन-गोचरम्—जो भौतिक दृष्टि से दरिद्र मनुष्य के द्वारा सरलता से प्राप्त हो सके।

हे प्रभु, आप सरलता से प्राप्त होने वाले हैं, लेकिन केवल उन्हीं के द्वारा, जो भौतिक दृष्टि से अकिञ्चन हैं। जो सम्मानित कुल, ऐश्वर्य, उच्च शिक्षा तथा शारीरिक सौंदर्य के द्वारा भौतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के प्रयास में लगा रहता है, वह आप तक एकनिष्ठ भाव से नहीं पहुँच पाता।

तात्पर्य : भौतिक दृष्टि से समुन्नत होने का अर्थ है किसी कुलीन परिवार में जन्म लेना और प्रचुर सम्पत्ति, शिक्षा तथा आकर्षक सौंदर्य से युक्त होना। सारे भौतिकतावादी लोग इन सारे भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के पीछे पागल रहते हैं और इसी को भौतिक सभ्यता की उन्नति कहा जाता है। लेकिन परिणाम यह होता है कि इन समस्त क्षणिक भौतिक सम्पत्तियों के होने से मनुष्य कृत्रिम रूप से गर्वित हो उठता है और मदान्ध हो जाता है। फलस्वरूप, भौतिकता के नशे में चूर ऐसे लोग भगवान् का पवित्र नाम लेने तथा भावविभोर होकर 'हे गोविन्द, हे कृष्ण' सम्बोधित करने में अक्षम हो जाते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् का पवित्र नाम एक बार भी लेने से पापी इतने पापों से मुक्त हो जाता है, जितने वह कर भी नहीं सकता। भगवान् का

पावन नाम लेने में इतनी शक्ति है। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। सचमुच भगवान् के पवित्र नाम में ऐसी प्रबल शक्ति है। लेकिन ऐसा नाम लेने में गुणता चाहिए यह भाव की गुणता पर निर्भर करता है। एक असहाय व्यक्ति भगवान् का नाम भावविभोर होकर ले सकता है, लेकिन यदि उसी नाम को कोई भौतिकता से सम्पन्न व्यक्ति लेता है, तो उसमें उतनी निष्ठा नहीं हो सकती। भौतिकता के मद में फूला रहनेवाला व्यक्ति यदा-कदा भगवान् का पवित्र नाम जप सकता है, लेकिन वह गुणतापूर्वक नाम लेने में अक्षम होता है। अतएव भौतिक उन्नति के चार सिद्धान्त—१) उच्चकुल, २) सम्पत्ति, ३) उच्च शिक्षा तथा ४) आकर्षक सौंदर्य—ये चारों आध्यात्मिक उन्नति के पथ में अग्रसर होने के लिये मानो अयोग्यताएँ हैं। शुद्ध आत्मा का भौतिक आवरण बाह्य गुण है, जिस प्रकार ज्वर रुग्ण शरीर का बाह्य गुण होता है। सामान्य विधि यह है कि ज्वर की तीव्रता कम की जाय, न कि कुपचार द्वारा उसे बढ़ाया जाय। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति भौतिक रूप से निर्धन रह जाते हैं। लेकिन इससे हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। उल्टे, यह निर्धनता शुभ चिह्न है, जिस प्रकार कि शरीर में ज्वर का ताप घटना शुभ है। जीवन का उद्देश्य उस भौतिक मद को घटाना होना चाहिए, जिसके कारण मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य के विषय में अधिकाधिक भ्रमित होता जाता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त व्यक्ति भगवद्धाम जाने के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं।

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।

आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; अकिञ्चन-वित्ताय—निर्धनों के धन-स्वरूप को; निवृत्त—भौतिक गुणों की क्रियाओं से सदा परे; गुण—भौतिक गुण; वृत्तये—स्नेह; आत्म-आरामाय—आत्मतुष्ट को; शान्ताय—परम शान्त को; कैवल्य-पतये—अद्वैतवादियों के स्वामी को; नमः—प्रणाम है।

मैं निर्धनों के धन आपको नमस्कार करती हूँ। आपको प्रकृति के भौतिक गुणों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से कोई सरोकार नहीं है। आप आत्म-तुष्ट हैं, अतएव आप परम शान्त तथा अद्वैतवादियों के स्वामी कैवल्य-पति हैं।

तात्पर्य : यदि जीव के पास कुछ भी न रहे, तो वह समाप्त हो जाता है। अतएव वास्तव में देखा जाय, तो जीव परित्यागी नहीं हो सकता। यदि जीव कुछ त्याग करता है, तो वह कुछ और अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के लिए करता है। एक विद्यार्थी अपनी बाल्यकाल की चपलता का त्याग श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त करने के लिये करता है। एक नौकर अधिक अच्छा काम पाने के लिये अपना काम छोड़ता है। इसी प्रकार एक भक्त इस भौतिक जगत का परित्याग व्यर्थ ही नहीं करता, अपितु कुछ असली आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये करता है। श्रील रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी इत्यादि ने भगवान् की सेवा के लिये ही सांसारिक तड़क-भड़क का परित्याग किया। सांसारिक दृष्टि से वे महापुरुष थे। ये गोस्वामी बंगाल सरकार में मन्त्री थे और श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी अपने समय के बहुत बड़े जमींदार के पुत्र थे, लेकिन उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया, जिससे उन्हें इससे श्रेष्ठतर उपलब्धि हो सके। भक्तगण सामान्य रूप से सम्पत्तिविहीन होते हैं, लेकिन भगवान् के चरणकमल उनके गुह्यतम कोषागार हैं। श्रील सनातन गोस्वामी के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुन्दर कथा है। उनके पास एक पारस पत्थर था, जिसे उन्होंने कूड़े के ढेर में छोड़ दिया था। एक जरूरतमन्द व्यक्ति उसे वहाँ से उठा ले गया, किन्तु बाद में वह सोचने लगा कि आखिर इसे ऐसे उपेक्षित स्थान में क्यों छोड़ रखा गया होगा। अतएव उसने सनातन गोस्वामी से सब से कीमती वस्तु का नाम पूछा, तो उन्होंने उसे भगवान् का पवित्र नाम दिया। *अकिंचन* का अर्थ है निर्धन, अर्थात् जिसके पास देने के लिए भौतिक रूप में कुछ न हो। वास्तविक भक्त या *महात्मा* किसी को कोई भौतिक वस्तु नहीं देता, क्योंकि वह पहले से सारी भौतिक सम्पत्ति त्याग चुका होता है। लेकिन वह परम धन का अर्थात् भगवान् का दान दे सकता है, क्योंकि भगवान् ही भक्त के वास्तविक धन होते हैं। सनातन गोस्वामी का कूड़े में पड़ा पारस पत्थर, उनका धन न था अन्यथा उसे ऐसे स्थान में रखा न गया होता। यह विशेष उदाहरण नवदीक्षित भक्तों के समक्ष रखा जाता है, जिससे उन्हें विश्वास दिलाया जा सके कि भौतिक लोभ तथा आध्यात्मिक उन्नति साथ-साथ नहीं चलते। जब तक कोई व्यक्ति हर वस्तु को भगवान् के साथ आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित नहीं देखता, तब तक उसे आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर दिखता

है। श्रील सनातन गोस्वामी जैसे गुरु ने यह उदाहरण हम सब लोगों के लिए प्रस्तुत किया, क्योंकि हममें वैसी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है यद्यपि वे स्वयं प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक रूप में देखने वाले थे।

भौतिक दृष्टि का विकास या भौतिक सभ्यता आध्यात्मिक उन्नति में एक रोड़े का काम करती है। ऐसा भौतिक विकास जीव को भौतिक शरीर के बन्धन में उलझा देता है, जिसके बाद अनेक भौतिक कष्ट आते रहते हैं। ऐसी भौतिक प्रगति *अनर्थ* अथवा अवांछित वस्तु कहलाती है। वास्तव में है भी ऐसा ही। वर्तमान समय की भौतिक प्रगति के प्रसंग में पचास सेण्ट अर्थात् आधे डालर दाम वाली लिपस्टिक के प्रयोग का नाम लिया जा सकता है। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुएँ हैं, जो देहात्म-बुद्धि से प्रसूत हैं। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुओं की ओर मन लगाने से मनुष्य की शक्ति व्यर्थ ही नष्ट होती है और आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त नहीं हो पाता, जो मानव की प्रमुख आवश्यकता है। चन्द्रमा तक पहुँचने के प्रयास दूसरा उदाहरण है, जिसमें शक्ति का अपव्यय होता है, क्योंकि यदि चन्द्रमा तक पहुँच भी लिया जाय, तो भी जीवन की समस्याएँ हल होने वाली नहीं हैं। भगवान् के भक्त *अकिञ्च* कहलाते हैं, क्योंकि उनके पास व्यावहारिक रूप से भौतिक सम्पत्ति नहीं होती। ऐसी भौतिक सम्पत्ति प्रकृति के तीनों गुणों का प्रतिफल है। वे आध्यात्मिक शक्ति को व्यर्थ कर देते हैं; अतएव हमारे पास जितनी ही कम भौतिक वस्तुएँ होंगी, उतना ही अधिक अवसर हमें आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्राप्त हो सकेगा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का भौतिक कार्यकलापों से किसी तरह का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उनके सारे कर्म जो इस भौतिक जगत में भी प्रदर्शित होते हैं, आध्यात्मिक होते हैं और भौतिक प्रकृति के गुणों से रागविहीन होते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनके सारे कर्म, यहाँ तक कि इस जगत में उनका आविर्भाव तथा तिरोधान भी दिव्य होता है और जो इसे ठीक से जान लेता है, वह इस जगत में फिर से जन्म न लेकर भगवद्धाम को वापस जाता है।

भवरोग का कारण प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की लालसा है। यह लालसा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप है और न तो भगवान्, न ही भक्तगण ऐसे मिथ्या भोग के

प्रति आसक्त होते हैं। अतएव भगवान् तथा भक्त निवृत्त-गुण-वृत्ति कहलाते हैं। पूर्ण निवृत्त-गुण-वृत्ति तो परमेश्वर हैं, जो प्रकृति के गुणों द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते, लेकिन जीवों में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमें से कुछ भौतिक प्रकृति के मोहाकर्षण में फँस जाते हैं।

चूँकि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति हैं और भक्तगण उसी तरह भगवान् की सम्पत्ति हैं, अतएव भक्तगण भी निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों से परे होते हैं। यह एक सीधा-सा निष्कर्ष है। ऐसे अनन्य भक्त उन मिश्रित भक्तों से भिन्न हैं, जो दुख तथा दरिद्रता को दूर करने के लिए, या उत्सुकता तथा तर्क के कारण भगवान् के पास आते हैं। अनन्य भक्त तथा भगवान् का एक दूसरे से दिव्य सम्बन्ध होता है। लेकिन अन्यो के लिए भगवान् के पास कुछ लेन-देन नहीं होती, अतएव वे आत्माराम या आत्म-तुष्ट कहलाते हैं। आत्माराम होने के कारण, वे समस्त अद्वैतवादियों के स्वामी हैं, जो भगवान् के अस्तित्व में एकाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे अद्वैतवादी भगवान् के व्यक्तिगत तेज में एकाकार हो जाते हैं, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं, लेकिन भक्त तो भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रवेश करते हैं, जिन्हें कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए।

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।

समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानती हूँ; त्वाम्—आपको; कालम्—शाश्वत समय; ईशानम्—परमेश्वर; अनादि-निधनम्—आदि-अन्त रहित; विभुम्—सर्वव्यापी; समम्—समान रूप से दयालु; चरन्तम्—वितरित करते हुए; सर्वत्र—सभी जगह; भूतानाम्—जीवों का; यत् मिथः—मतभेद; कलिः—कलह।

हे भगवान्, मैं आपको शाश्वत समय, परम नियन्ता, आदि-अन्त से रहित तथा सर्वव्यापी मानती हूँ। आप सबों पर समान रूप से दया दिखलाते हैं। जीवों में जो पारस्परिक कलह है, वह सामाजिक मतभेद के कारण है।

तात्पर्य : कुन्ती देवी जानती थीं कि कृष्ण न तो उनके भतीजे हैं और न उनके पितृकुल के सामान्य पारिवारिक सदस्य हैं। वे अच्छी तरह जानती थीं कि कृष्ण आदि-भगवान् हैं, जो

परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् के परमात्मा स्वरूप का अन्य नाम काल या शाश्वत समय भी है। यह काल हमारे सारे अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का साक्षी है और इस प्रकार उनके द्वारा ही कर्मफल निर्धारित होते हैं। यह कहने से कोई लाभ नहीं कि पता नहीं, हम क्यों दुख भोग रहे हैं। हम उन दुष्कर्मों को भूल सकते हैं, जिनके कारण हमें इस समय कष्ट उठाना पड़ रहा है, लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा हमारे नित्य संगी हैं, अतएव वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब कुछ जानते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण का परमात्मा स्वरूप ही सारे कर्मों तथा फलों को निर्धारित करनेवाला है, अतएव वे परम नियन्ता भी हैं। उनकी मर्जी के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। जीवों को उनकी योग्यता के अनुसार स्वतन्त्रता दी गई है और इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के कारण ही दुख भोगना होता है। भगवद्भक्त इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करते, अतएव वे भगवान् की अच्छी सन्तानें हैं। अन्य लोग, जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं, सनातन काल द्वारा कष्ट को प्राप्त होते हैं। काल ही बद्धजीवों को सुख तथा दुख दोनों प्रदान करता है। यह सब काल द्वारा पूर्वनिर्धारित है। जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी दुख आ जाते हैं, उसी प्रकार बिना माँगे सुख भी मिल सकता है, क्योंकि सुख-दुख काल द्वारा पूर्व-निर्धारित होते हैं। अतएव भगवान् का न तो कोई मित्र है, न शत्रु। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही भाग्य फल का सुख-दुख भोग रहा है। यह भाग्य जीवों द्वारा सामाजिक संघर्ष करते हुए निर्मित होता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की अध्यक्षता में अपना भाग्य बनाता है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव वे हर एक के कर्मों को देख सकते हैं, और चूँकि भगवान् का कोई आदि-अन्त नहीं है, अतएव वे शाश्वत समय अर्थात् काल भी कहलाते हैं।

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्वितोऽस्ति कर्हिचिद्
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता; कश्चित्—कोई; भगवन्—हे भगवान्; चिकीर्षितम्—लीलाएँ; तव—आपकी; ईहमानस्य—सांसारिक व्यक्तियों की भाँति; नृणाम्—सामान्य लोगों का; विडम्बनम्—भ्रामक; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; कश्चित्—कोई; दयितः—विशेष कृपा-पात्र; अस्ति—है; कर्हिचित्—कहीं; द्वेष्यः—ईर्ष्या की वस्तु; च—तथा; यस्मिन्—जिसमें; विषमा—पक्षपात; मतिः—विचार; नृणाम्—मनुष्यों का।

हे भगवान्, आपकी दिव्य लीलाओं को कोई समझ नहीं सकता, क्योंकि वे मानवीय प्रतीत होती हैं और इस कारण भ्रामक हैं। न तो आपका कोई विशेष कृपा-पात्र है, न ही कोई आपका अप्रिय है। यह केवल लोगों की कल्पना ही है कि आप पक्षपात करते हैं।

तात्पर्य : पतितात्माओं पर भगवान् की कृपा समान रूप से वितरित होती हैं। वे किसी से शत्रुता नहीं रखते। भगवान् को मनुष्य समझने की धारणा ही भ्रामक है। उनकी लीलाएँ मनुष्य के ही सदृश प्रतीत होती हैं, लेकिन वास्तव में वे दिव्य होती हैं और किसी भौतिक कल्मष से सर्वथा रहित होती हैं। निस्सन्देह, वे अपने शुद्ध भक्तों का पक्षपात करने वाले माने जाते हैं, लेकिन वास्तव में वे कभी पक्षपात करते नहीं, जिस प्रकार कि सूर्य किसी का पक्षपात नहीं करता। सूर्य की किरणों से कभी-कभी पत्थर भी बहुमूल्य बन जाता है, जबकि एक अन्धा व्यक्ति प्रचुर सूर्य-प्रकाश में रहकर भी देख नहीं पाता। अन्धकार तथा प्रकाश दो विपरीत धारणाएँ हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि सूर्य अपनी किरणों का वितरण करने में पक्षपात करता है। सूर्य की किरणें सबों के लिए प्राप्य हैं, लेकिन ग्रहणकर्ताओं की क्षमताएँ भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख लोग सोचते हैं कि भक्ति तो भगवान् की चाटुकरिता करके उनकी विशेष कृपा प्राप्त करना है। वस्तुतः भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में लगे शुद्ध भक्त कोई व्यापारी समुदाय नहीं हैं। व्यापारी वर्ग धन के विनिमय में सेवा करता है। लेकिन शुद्ध भक्त ऐसी लेन-देन के लिए सेवा नहीं करता। अतएव भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए सदैव खुला रहता है। विपदाग्रस्त तथा जरूरतमन्द लोग, जिज्ञासु या विचारक व्यक्ति भगवान् से किसी लाभ-सिद्धि के लिए उनसे अस्थायी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। लेकिन जब उनका कार्य सिद्ध हो जाता है, तो वे भगवान् से कोई नाता नहीं रखते। कोई दुखियारा व्यक्ति यदि तनिक भी पवित्र होता है, तो भगवान् से छुटकारे के लिए प्रार्थना करता है। लेकिन जैसे ही उसके कष्ट दूर हो जाते हैं, बहुधा ऐसा आर्त व्यक्ति भगवान् से आगे अपना

सम्बन्ध बनाए रखने की कोई परवाह नहीं करता है। यद्यपि भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए खुला रहता है, किन्तु वह उससे कतराता है। एक शुद्ध भक्त तथा मिश्रित भक्त में यही अन्तर है। जो लोग भगवान् की सेवा के बिल्कुल विरुद्ध रहते हैं, वे निकृष्ट अन्धकार में रहे हुए माने जाते हैं; जो आवश्यकता के समय भगवान् से प्रार्थना करते हैं, वे कृपा के आंशिक पात्र हैं और जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं, वे भगवान् के पूर्ण कृपापात्र होते हैं। भगवान् की कृपा प्राप्त करने में ऐसा पक्षपात ग्रहणकर्ता के सापेक्ष है, न कि परम कृपालु भगवान् के पक्षपात के कारण।

जब भगवान् अपनी पूर्ण कृपामय शक्ति द्वारा इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे मनुष्य की भाँति क्रीड़ा करते हैं। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं, लेकिन यह तथ्य नहीं है। ऐसे पक्षपात की प्रतीति के बावजूद, उनकी कृपा समान रूप से वितरित रहती है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् के समक्ष जितने भी व्यक्ति युद्ध में मरे, उन सबको पात्रता को विचार किये बिना ही मुक्ति मिल गई, क्योंकि भगवान् के समक्ष मृत्यु होने से मरनेवाला जीव सभी कर्मफलों से शुद्ध हो जाता है और मरने वाले व्यक्ति को परम धाम में कहीं-न-कहीं स्थान मिलता है। यदि मनुष्य सूर्य-किरणों के समक्ष बैठे, तो उसे निश्चित रूप से उष्मा तथा परा-बैंगनी किरणों का लाभ होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् कभी पक्षपात नहीं करते। सामान्य मनुष्य का यह सोचना गलत होता है कि वे पक्षपात करते हैं।

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।

तिर्यङ्मृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—तथा; विश्व—आत्मन्—हे विश्व के आत्मा; अजस्य—अजन्मा की; अकर्तुः—निष्क्रिय की; आत्मनः—प्राण-शक्ति की; तिर्यक्—पशु; नृ—मनुष्य; ऋषिषु—ऋषियों में; यादःसु—जल में; तत्—वह; अत्यन्त—वास्तविक, अत्यन्त; विडम्बनम्—भ्रामक, चकराने वाली।

हे विश्वात्मा, यह सचमुच ही चकरा देनेवाली बात (विडम्बना) है कि आप निष्क्रिय रहते हुए भी कर्म करते हैं और प्राणशक्ति रूप तथा अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं। आप

स्वयं पशुओं, मनुष्यों, ऋषियों तथा जलचरों के मध्य अवतरित होते हैं। सचमुच ही यह चकरानेवाली बात है।

तात्पर्य : भगवान् की दिव्य लीलाएँ न केवल चकरानेवाली हैं, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं। दूसरे शब्दों में, वे मनुष्य की सीमित चिन्तनशक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। भगवान् सारे अस्तित्व में सर्वव्यापी परमात्मा हैं, तो भी पशुओं में शूकर बन कर, मनुष्यों में राम, कृष्ण इत्यादि के रूप में, ऋषियों में नारायण रूप में तथा जलचरों के बीच मत्स्य रूप में प्रकट होते हैं। इतने पर भी उन्हें अजन्मा कहा जाता है और उन्हें कुछ भी नहीं करना होता है। *श्रुति-मन्त्र* में कहा गया है कि परमब्रह्म को कुछ नहीं करना होता। कोई भी न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। उनकी शक्तियाँ विविध हैं और उनका हर काम स्वतः ज्ञान, शक्ति तथा कर्म द्वारा सम्पन्न होता है। ये सारे कथन निस्सन्देह यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् की लीलाएँ, उनके रूप तथा उनके कार्यकलाप हमारी सीमित चिन्तन-शक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। चूँकि वे कल्पना से परे शक्तिमान हैं, अतः उनके लिए हर कार्य सम्भव है। अतः उनके बारे में अनुमान लगा पाना कठिन है और इसीलिए भगवान् का प्रत्येक काम सामान्य मनुष्य को चकरा देने वाला है। उन्हें वैदिक ज्ञान द्वारा नहीं समझा जा सकता, लेकिन उन्हें शुद्ध भक्तों द्वारा सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि वे लोग भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं। अतएव भक्तगण जानते हैं कि यद्यपि भगवान् पशुओं के बीच प्रकट होते हैं, लेकिन वे न तो पशु हैं, न मनुष्य, न ऋषि, न ही मछली हैं। वे समस्त परिस्थितियों में शाश्वत परमेश्वर हैं।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्विभेति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गोपी—ग्वालिन (यशोदा) ने; आददे—लिया; त्वयि—आप पर; कृतागसि—अड़चन डालने पर (मक्खन की मटकी फोड़ने पर); दाम—रस्सी; तावत्—उस समय; या—जो; ते—तुम्हारी; दशा—स्थिति; अश्रु-कलिल—अश्रुपूरित;

अञ्जन—काजल; सम्भ्रम—विचलित; अक्षम्—नेत्र; वक्त्रम्—चेहरा, मुँह; निनीय—नीचे की ओर; भय-भावनया—भय की भावना से; स्थितस्य—स्थिति का; सा—वह; माम्—मुझको; विमोहयति—मोहग्रस्त करती है; भीः अपि—साक्षात् भय भी; यत्—जिससे; बिभेति—भयभीत है।

हे कृष्ण, जब आपने कोई अपराध किया था, तब यशोदा ने जैसे ही आपको बाँधने के लिए रस्सी उठाई, तो आपकी व्याकुल आँखें अश्रुओं से डबडबा आईं, जिससे आपकी आँखों का काजल धुल गया। यद्यपि आपसे साक्षात् काल भी भयभीत रहता है, फिर भी आप भयभीत हुए। यह दृश्य मुझे मोहग्रस्त करनेवाला है।

तात्पर्य : यहाँ पर परमेश्वर की लीलाओं से उत्पन्न होने वाले मोह का एक दूसरा वर्णन दिया जा रहा है। भगवान् तो सभी परिस्थितियों में सर्वोपरि हैं, जैसे कि इसकी व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर भगवान् का सर्वोपरि होने का एक विशिष्ट उदाहरण है और साथ ही साथ वे अपने शुद्ध भक्तों के साथ उनके अधीन रहकर क्रीड़ा भी कर रहे हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त अनन्य प्रेम के कारण ही भगवान् की सेवा करता है और ऐसी भक्तिमय सेवा करते हुए वह परमेश्वर की पद-स्थिति को भूल जाता है। भगवान् भक्तों की प्रेममयी सेवा का स्वीकार अधिक चाव से करते हैं, जब वह सेवा स्वयंस्फूर्त शुद्ध स्नेह से की जाती है, न कि पूज्य भाव से या प्रशंसा भाव से। सामान्य रूप से भगवान् अपने भक्तों द्वारा आदर की दृष्टि से पूजे जाते हैं, लेकिन भगवान् भक्त से तब विशेष प्रसन्न होते हैं, जब वह शुद्ध प्रेम तथा स्नेहवंश भगवान् को अपने से कम महत्त्वपूर्ण समझता है। भगवान् के मूल-धाम गोलोक वृन्दावन में भगवान् की सारी लीलाओं का आदान-प्रदान इसी मनोभाव से होता है। कृष्ण के मित्र उन्हें अपने ही जैसा एक मानते हैं। वे उन्हें आदरणीय महत्त्व के नहीं मानते। भगवान् के माता-पिता (जो सभी शुद्ध भक्त होते हैं) उन्हें केवल एक बालक मानते हैं। भगवान् अपने माता-पिता की प्रताड़नाओं को वैदिक स्तोत्रों द्वारा की गयी स्तुतियों से बढ़कर आनन्ददायी मानते हैं। इसी प्रकार वे अपनी प्रेमिकाओं के उलाहनों को वैदिक स्तोत्रों की अपेक्षा अधिक रुचि से सुनते हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम में, मूल गोलोक वृन्दावन के दिव्य जगत की नित्य लीलाओं को जनसामान्य के आकर्षण के लिए प्रकट करने के निमित्त उपस्थित थे, तो वे अपनी पालक-माता यशोदा के समक्ष विलक्षण विनीत भाव प्रकट करते रहे। वे अपनी बालोचित क्रीड़ाओं से यशोदा माता द्वारा एकत्र करके रखे गये

माखन की मटकी तोड़कर उसका सारा माखन बरवाद कर देते थे और उसे मित्रों तथा संगियों में, यहाँ तक कि वृन्दावन के प्रसिद्ध बन्दरों में भी बाँट दिया करते थे और वे सब भगवान् की इस दानशीलता का लाभ उठाते थे। जब यशोदा यह देखतीं, तो वे शुद्ध प्रेमवश इस दिव्य बालक को अपने दण्ड का दिखावा करतीं। वे रस्सी लेकर धमकातीं कि वे उन्हें बाँध देंगी, जिस प्रकार कि सामान्य घरों में किया जाता है। माता यशोदा के हाथ में रस्सी देखकर, भगवान् अपना सिर नीचे करके सामान्य बालक की भाँति रो पड़ते और उनके अश्रुओं से उनकी सुन्दर आँखों में लगा काजल धुलकर कपोलों पर ढुलक पड़ता। कुन्ती देवी ने भगवान् के इस रूप की पूजा की, क्योंकि वे उनकी परम स्थिति के प्रति सचेष्ट थीं। जिनसे साक्षात् भय भी भयभीत रहता है, वे भगवान् अपनी माता से भयभीत हैं, क्योंकि माता उन्हें सामान्य तरीके से दण्डित करना चाह रही थीं। कुन्ती को भगवान् की श्रेष्ठ स्थिति का पता था, लेकिन यशोदा को नहीं था। अतएव यशोदा की स्थिति कुन्ती की स्थिति से श्रेष्ठ है। माता यशोदा को भगवान् उनके शिशु-रूप में प्राप्त हुए थे और भगवान् ने उन्हें भुलवा दिया था कि उनका बालक साक्षात् भगवान् है। यदि मातायशोदा को भगवान् की दिव्य स्थिति का पता होता, तो वे अवश्य ही भगवान् को दण्डित करते हुए हिचकतीं। लेकिन उन्हें यह स्थिति भुलवा दी गई, क्योंकि भगवान् ममतामयी यशोदा के समक्ष पूर्ण बाल-चापल्य का भाव प्रदर्शित करना चाहते थे। माता तथा पुत्र के बीच प्रेम का यह आदान-प्रदान सहज रूप में सम्पन्न हुआ और कुन्ती इस दृश्य का स्मरण करके मोहित थीं, क्योंकि वे दिव्य पुत्र-प्रेम की सराहना करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं? परोक्ष रूप में यशोदा की प्रशंसा उनके प्रेम की दिव्य स्थिति के लिए की जा रही है, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान भगवान् को भी अपने प्रिय पुत्र के रूप में वश में कर सकी थीं।

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।

यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कोई; आहुः—कहता है; अजम्—अजन्मा; जातम्—उत्पन्न; पुण्य-श्लोकस्य—महान पुण्यात्मा राजा की; कीर्तये—कीर्ति-विस्तार करने के लिए; यदोः—राजा यदु का; प्रियस्य—प्रिय; अन्ववाये—कुल में; मलयस्य—मलय पर्वत का; इव—सदृश; चन्दनम्—चन्दन।

कुछ कहते हैं कि अजन्मा का जन्म पुण्यात्मा राजाओं की कीर्तिका विस्तार करने के लिए हुआ है और कुछ कहते हैं कि आप अपने परम भक्त राजा यदु को प्रसन्न करने के लिए जन्मे हैं। आप उसके कुल में उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जिस प्रकार मलय पर्वत में चन्दन होता है।

तात्पर्य : चूँकि इस भौतिक जगत में भगवान् का प्राकट्य व्यामोह में डालने वाला है, अतएव अजन्मा के जन्म के विषय में विभिन्न मत हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे सारी सृष्टि के स्वामी तथा अजन्मा हैं, फिर भी वे इस भौतिक जगत में जन्म लेते हैं। अतएव अजन्मा के जन्म से इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वयं भगवान् ने इस सत्य को प्रतिष्ठित किया है। फिर भी उनके जन्म को लेकर विभिन्न मत प्रचलित हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी घोषणा हुई है। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से धर्म की स्थापना करने तथा पुण्यात्माओं की रक्षा करने और पापियों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं। उन अजन्मा के प्राकट्य का यही उद्देश्य है। फिर भी यह कहा जाता है कि पुण्यश्लोक राजा युधिष्ठिर की कीर्ति का विस्तार करने के लिए भगवान् आये। निश्चय ही, भगवान् श्रीकृष्ण सारे विश्व के कल्याण हेतु पाण्डवों का राज्य स्थापित करना चाहते थे। जब संसार में पुण्यात्मा राजा शासन करता है, तो लोग सुखी रहते हैं। जब राजा पापी होता है, तो लोग सुखी नहीं रहते। इस कलियुग में, अधिकांश राजा पापी हैं, अतएव नागरिक भी लगातार दुखी रहते हैं। लेकिन प्रजातन्त्र में तो पापी नागरिक अपने प्रतिनिधि का चुनाव स्वयं करते हैं, अतएव वे अपने दुख के लिए किसी अन्य को दोष नहीं दे सकते। महाराज नल भी एक महान पुण्यात्मा राजा के रूप में विख्यात थे, लेकिन उनका भगवान् कृष्ण से कोई वास्ता न था, अतएव यहाँ पर कृष्ण द्वारा महिमामंडित किये जाने में महाराज युधिष्ठिर से ही तात्पर्य है। राजा यदु के कुल में जन्म लेकर भगवान् ने उनकी भी कीर्ति बढ़ायी थी। यद्यपि वे यादव, यदुवीर, यदुनन्दन आदि के नाम से विख्यात हैं, फिर भी भगवान् ऐसे ऋण से निर्लिप्त

रहते हैं। वे उस चन्दन के समान हैं, जो मलय पर्वत में उगता है। वृक्ष तो कहीं भी और सर्वत्र उगते हैं, लेकिन चन्दन का वृक्ष विशेष रूप से मलय पर्वत के क्षेत्र में उगता है, इसलिए चन्दन तथा मलय पर्वत का नाम परस्पर जुड़ा हुआ है। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् सूर्य के समान सदैव अजन्मा हैं, फिर भी वे उसी प्रकार प्रकट होते हैं, जिस प्रकार सूर्य पूर्वी क्षितिज में उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य कभी पूर्वी क्षितिज का ही बनकर नहीं रह जाता, उसी तरह भगवान् किसी के पुत्र नहीं, अपितु वे समस्त वस्तुओं के पिता (जनक) हैं।

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।

अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अपरे—अन्य लोग; वसुदेवस्य—वसुदेव का; देवक्याम्—देवकी का; याचितः—प्रार्थना किये जाने पर; अभ्यगात्—जन्म लिया; अजः—अजन्मा; त्वम्—आप; अस्य—इसके; क्षेमाय—कल्याण के लिए; वधाय—वध करने के लिए; च—तथा; सुर-द्विषाम्—देवताओं से ईर्ष्या करनेवालों का।

अन्य लोग कहते हैं कि चूँकि वसुदेव तथा देवकी दोनों ने आपके लिए प्रार्थना की थी, अतएव आप उनके पुत्र-रूप में जन्मे हैं। निस्सन्देह, आप अजन्मा हैं, फिर भी आप देवताओं का कल्याण करने तथा उनसे ईर्ष्या करनेवाले असुरों को मारने के लिए जन्म स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : यह भी कहा जाता है कि भगवान् को पुत्र-रूप में प्राप्त करने के लिए वसुदेव तथा देवकी ने अपने पूर्व-जन्म में सुतपा तथा पृश्नि के रूप में कठिन तपस्या की थी। इसके फलस्वरूप भगवान् उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए। *भगवद्गीता* में पहले ही घोषित किया जा चुका है कि भगवान् संसार के समस्त लोगों का कल्याण करने तथा असुरों या भौतिकतावादी नास्तिकों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं।

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।

सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भार-अवतारणाय—संसार का भार कम करने के लिए; अन्ये—अन्य लोग; भुवः—संसार का; नावः—नाव; इव—सदृश; उद्धौ—समुद्र में; सीदन्त्याः—आर्त, दुखी; भूरि—अत्यधिक; भारेण—भार से; जातः—उत्पन्न; हि—निश्चय ही; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर।

कुछ कहते हैं कि जब यह संसार, भार से बोझिल समुद्री नाव की भाँति, अत्यधिक पीड़ित हो उठा तथा आपके पुत्र ब्रह्मा ने प्रार्थना की, तो आप कष्ट का शमन करने के लिए अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के पश्चात् तुरन्त उत्पन्न हुए ब्रह्मा प्रथम जीव हैं तथा नारायण के प्रत्यक्ष पुत्र हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में नारायण सर्वप्रथम भौतिक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुए। आध्यात्मिक सम्पर्क के बिना पदार्थ से सृष्टि नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त का पालन सृष्टि के प्रारम्भ से ही किया जाता रहा है। परम आत्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर गये और विष्णु की दिव्य नाभि से अंकुरित हुए कमल पुष्प से प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म हुआ। इसीलिए विष्णु पद्मनाभ कहलाते हैं। ब्रह्मा आत्म-भू कहलाते हैं, क्योंकि इनका जन्म माता लक्ष्मी से सम्पर्क के बिना साक्षात् अपने पिता से हुआ था। लक्ष्मी जी नारायण के निकट उपस्थित थी और भगवान् की सेवा में तन्मय थीं, तो भी लक्ष्मीजी से सम्पर्क किए बिना ही नारायण ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। यही है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता। जो व्यक्ति मूर्खतावश नारायण को सामान्य जीवों के समान मानता है, उसे इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। नारायण कोई सामान्य जीव नहीं हैं। वे साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों में सभी इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्तियाँ भरी हुई होती हैं। सामान्य जीव मैथुन द्वारा ही शिशु को जन्म देता है; उसके पास शिशु उत्पन्न करने के लिए उसे प्राप्त साधन से इतर कोई अन्य उपाय नहीं होता। लेकिन सर्वशक्तिमान होने के कारण, नारायण किसी प्रकार की स्थिति या शक्ति से बँधे नहीं हैं। वे पूर्ण हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा, अत्यन्त सुगमता के साथ तथा पूरी तरह से कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अतएव ब्रह्मा अपने पिता से सीधे उत्पन्न हुए हैं; उन्हें माता के गर्भ में नहीं रहना पड़ा। इसीलिए वे आत्म-भू कहलाये। यही ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की अगली सारी सृष्टियों के लिए प्रमारी हैं, जो सर्वशक्तिमान की शक्ति द्वारा गौण रूप में प्रतिबिम्बित हैं। इस ब्रह्माण्ड मण्डल के भीतर श्वेतद्वीप नामक एक

दिव्य ग्रह है, जो क्षीरोदकशायी विष्णु या परमेश्वर के परमात्मा-रूप का धाम है। जब कभी ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा संकट उत्पन्न होता है, जिसे अधिशासी देवता नहीं सुलझा पाते, तब वे इसके निवारण के लिए ब्रह्माजी के पास जाते हैं। यदि ब्रह्माजी भी इसे नहीं सुलझा पाते, तो वे क्षीरोदकशायी विष्णु के पास परामर्श करते हैं, और उनसे अवतार लेकर समस्या का समाधान करने की प्रार्थना करते हैं। ऐसी समस्या कंस तथा अन्य राजाओं के शासन-काल में उत्पन्न हुई और यह पृथ्वी असुरों के दुष्कर्मों से बोझिल हो उठी। तब अन्य देवताओं-समेत ब्रह्मा ने क्षीरोदक सागर के तट पर जाकर प्रार्थना की। तब उन्हें बताया गया कि कृष्ण जी वसुदेव तथा देवकी के पुत्र-रूप में अवतार लेंगे। अतएव कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् का आविर्भाव ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना करने से हुआ।

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।

श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भवे—भौतिक संसार में; अस्मिन्—इस; क्लिश्यमानानाम्—कष्ट भोगने-वालों का; अविद्या—अज्ञान; काम—इच्छा; कर्मभिः—सकाम कर्म करने के कारण; श्रवण—सुनने; स्मरण—याद करने; अर्हाणि—पूजन; करिष्यन्—कर सकता है; इति—इस प्रकार; केचन—अन्य लोग।

तथा कुछ कहते हैं कि आप श्रवण, स्मरण, पूजन आदि की भक्ति को जागृत करने के लिए प्रकट हुए हैं, जिससे भौतिक कष्टों को भोगनेवाले बद्धजीव इसका लाभ उठाकर मुक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे प्रत्येक युग में धर्म-पंथ की पुनःस्थापना करने के लिए प्रकट होते हैं। यह धर्म-पंथ भगवान् द्वारा निर्मित किया जाता है। कोई भी व्यक्ति नवीन धर्म-पंथ निर्मित नहीं कर सकता, जैसाकि कुछ महत्वाकांक्षी लोगों के लिए यह फैशन बन गइ है। वास्तविक धर्म-पंथ यह है कि भगवान् को परम सत्ता के रूप में स्वीकार करके स्वयंस्फूर्त मानकर, प्रगाढ़ प्रेम में उनकी सेवा की जाय। जीव को तो सेवा करनी ही है, क्योंकि स्वभावतः वह इसी के लिए बना है। जीव का एकमात्र कार्य भगवान् की सेवा

करना है। भगवान् महान् हैं और जीव उनके अधीनस्थ हैं। अतएव जीव का कर्तव्य उनकी सेवा करना मात्र है। दुर्भाग्यवश, मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश भौतिक इच्छा के कारण इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यह इच्छा *अविद्या* या अज्ञान कहलाती है। ऐसी इच्छा से ही जीव विकृत विषयी-जीवन पर केन्द्रित भौतिक भोग के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है। अतएव जीव परमेश्वर की अध्यक्षता में, विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करते हुए, जन्म-मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। अतएव जब तक कोई इस अविद्या की परिधि से बाहर नहीं निकल लेता, तब तक वह जीवन के त्रिविध तापों से मुक्त नहीं हो सकता। यही प्रकृति का नियम है।

फिर भी भगवान् कष्ट भोगनेवाले जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपावश उनके समक्ष प्रकट होकर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तवन, आत्मनिवेदन तथा शरणागति से युक्त भक्ति के सिद्धान्तों को जागृत करते हैं, क्योंकि वे कष्ट भोग रहे जीवों पर इतने अधिक कृपालु हैं कि जितनी जीव आशा भी नहीं रखते। उपर्युक्त में से सारी विधियों या किसी एक विधि को ग्रहण करने से बद्धजीव अविद्या के बन्धन से छूट कर बहिरंगा शक्ति के द्वारा भरमाए गये समस्त भौतिक कष्टों से मुक्त हो जाता है। जीवों पर इस प्रकार की कृपा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की गई है।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्षणशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; गृणन्ति—ग्रहण करते हैं; अभीक्षणशः—निरन्तर; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; नन्दन्ति—हर्षित होते हैं; तव—आपके; ईहितम्—कार्य-कलापों को; जनाः—लोग; ते—वे; एव—निश्चय ही; पश्यन्ति—देख सकते हैं; अचिरेण—शीघ्र ही; तावकम्—आपका; भव-प्रवाह—पुनर्जन्म की धारा; उपरमम्—बन्द होना, रोकना; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

हे कृष्ण, जो आपके दिव्य कार्यकलापों का निरन्तर श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हैं या दूसरों को ऐसा करते देखकर हर्षित होते हैं, वे निश्चय ही आपके उन चरणकमलों का दर्शन करते हैं, जो जन्म-मृत्यु के पुनरागमन को रोकनेवाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण हमारी इस बद्ध भौतिक दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। उनका दर्शन पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के स्वजात प्रगाढ़ प्रेम से युक्त, भिन्न प्रकार की जीवन-अवस्था का विकास करके अपनी वर्तमान दृष्टि को बदलना होगा। जब श्रीकृष्ण इस धराधाम में सशरीर विद्यमान थे, तो सभी लोग उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में नहीं देख सके। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस, जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे भौतिकतावादी भौतिक सम्पत्ति अर्जित करके उच्च योग्यताधारी व्यक्ति बन गये थे, लेकिन वे भगवान् की उपस्थिति को समझ पाने में असमर्थ थे। अतएव भले ही भगवान् हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित क्यों न हों, जब तक हमारे पास अपेक्षित दृष्टि नहीं होती, तब तक उनको देख पाना असम्भव है। यह अपेक्षित योग्यता एकमात्र भक्तिमय सेवा द्वारा उत्पन्न होती है, जिसका शुभारम्भ उचित स्रोत से भगवान् के विषय में श्रवण करने से होता है। *भगवद्गीता* ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ है, जिसे सामान्य लोग सुनते, गाते तथा बारम्बार पढ़ते हैं, लेकिन कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि ऐसी भक्ति सम्पन्न करनेवाला व्यक्ति भगवान् का साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि श्रवण नामक पहली विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि श्रवण सही स्रोत से किया जाय, तो इसका प्रभाव तुरन्त पड़ता है। सामान्यतया लोग अनधिकृत व्यक्तियों से श्रवण करते हैं। ऐसे अनधिकृत व्यक्ति शैक्षणिक योग्यताओं में भले ही प्रकाण्ड विद्वान हों, किन्तु उनके द्वारा भक्ति के सिद्धान्तों का पालन न किए जाने के कारण उनसे श्रवण करना केवल समय का अपव्यय ही होगा। कभी-कभी मूल पाठ की व्याख्या कलात्मक ढंग से इस तरह की जाती है, जिससे वे अपना खुद का हेतु सिद्ध कर सके। अतएव सर्वप्रथम सक्षम तथा योग्य वक्ता चुनना होगा और तब उससे ही श्रवण करना होगा। जब श्रवण-विधि पूर्ण तथा पक्की हो जाती है, तो अन्य विधियाँ स्वतः ही पूरी हो जाती हैं।

भगवान् के अनेक दिव्य कार्यकलाप हैं और इनमें से हर एक से वांछित फल प्राप्त हो सकता है, बशर्ते कि श्रवण-विधि परिपूर्ण हो। *भागवत* में भगवान् के कार्यकलाप पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से प्रारम्भ होते हैं। असुरों तथा अन्यो के साथ बर्ताव के सम्बन्ध में भी भगवान् की अन्य अनेक लीलाएं हैं। और दसवें स्कन्ध में उनकी प्रिय गोपिकाओं के साथ ही साथ द्वारका में उनकी अपनी पत्नियों के साथ के व्यवहार का वर्णन है। चूँकि भगवान् परम अवस्था में हैं, अतएव उनके प्रत्येक व्यवहार के दिव्य स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन कभी-कभी लोग अनधिकृत श्रवण करते समय, गोपियों के साथ भगवान् के व्यवहार (क्रीड़ाओं) में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसी मनोवृत्ति श्रोता के कामुक विचारों की सूचक है। अतएव भगवान् की क्रीड़ाओं का प्रामाणिक वक्ता कभी भी ऐसी बातें सुनाने में उलझता नहीं। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विषय में प्रारम्भ से ही *श्रीमद्भागवत* या अन्य शास्त्रों से श्रवण करे। इससे श्रोता को उत्तरोत्तर पूर्णता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि गोपियों के साथ भगवान् का व्यवहार पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से कम महत्त्वपूर्ण है। हमें यह सदा स्मरण में रखना चाहिए कि भगवान् सदैव समस्त संसारी आसक्ति से परे रहने वाले हैं। उपर्युक्त समस्त आचरणों में वे ही नायक हैं और उनके विषय में या उनके भक्तों या उनके प्रतियोद्धाओं के विषय में श्रवण करना आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल है। ऐसा कहा जाता है कि सारे वेद, पुराण इत्यादि भगवान् से हमारे विसरे हुए सम्बन्धों को पुनरुज्जीवित करने के लिए हैं। इन सभी शास्त्रों को सुनना आवश्यक है।

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अपि—यदि; अद्य—आज; नः—हमको; त्वम्—आप; स्व-कृत—अपने आप सम्पन्न; ईहित—सारे कर्म; प्रभो—हे मेरे प्रभु; जिहाससि—त्यागते हो; स्वित्—सम्भवतः; सुहृदः—घनिष्ठ मित्र; अनुजीविनः—दया पर निर्भर; येषाम्—जिनका;

न—न तो; च—तथा; अन्यत्—कोई अन्य; भवतः—आपके; पद—अम्बुजात्—चरणकमलों से; परायणम्—आश्रित;
राजसु—राजाओं के प्रति; योजित—लगे हुए; अंहसाम्—शत्रुता।

हे मेरे प्रभु, अपने सारे कर्तव्य स्वयं पूरे कर दिये हैं। आज जब हम आपकी कृपा पर पूरी तरह आश्रित हैं और जब हमारा और कोई रक्षक नहीं है और जब सारे राजा हमसे शत्रुता किये हुए हैं, तो क्या आप हमें छोड़कर चले जायेंगे?

तात्पर्य : पाण्डव अत्यन्त भाग्यशाली थे, क्योंकि सौभाग्यवश वे भगवान् की कृपा पर पूरी तरह आश्रित थे। भौतिक जगत में, किसी की दया पर आश्रित होना घोर दुर्भाग्य का चिह्न होता है, लेकिन भगवान् के साथ जहाँ तक हमारे दिव्य सम्बन्ध की बात है, तो जब हम भगवान् पर पूर्ण रूप से आश्रित होते हैं, तब यह हमारा परम सौभाग्य होता है। भौतिक रोग का कारण सबसे सर्वथा स्वतन्त्र बनने का विचार है। लेकिन क्रूर भौतिक प्रकृति हमें स्वतन्त्र नहीं बनने देती। प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतन्त्र होने के मिथ्या प्रयास को, प्रयोगात्मक ज्ञान की भौतिक उन्नति माना जाता है। प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र बनने के इस मिथ्या प्रयास के फलस्वरूप सारा ही भौतिक जगत गतिशील है। स्वर्गलोक तक सीधी सीढ़ी तैयार करने के इच्छुक रावण से लेकर वर्तमान युग तक, सभी लोग प्रकृति के नियमों पर विजय पाने का प्रयास कर रहे हैं। अब वे लोग इलेक्ट्रानिक यान्त्रिक शक्ति से सुदूर लोकों तक पहुँचना चाह रहे हैं। लेकिन मानव सभ्यता का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् के मार्गदर्शन में कठिन श्रम करना तथा पूर्ण रूप से उन्हीं पर आश्रित हो जाना है। पूर्ण सभ्यता की चरम उपलब्धि, वीरतापूर्वक कार्य करते हुए, भगवान् पर पूर्ण रूप से आश्रित रहना है। पाण्डव-जन सभ्यता के इस मानक के आदर्श पालक थे। निस्सन्देह वे भगवान् श्रीकृष्ण की सदिच्छा पर पूर्ण रूप से आश्रित थे, लेकिन वे भगवान् पर आश्रित रहनेवाले आलसी परजीवियों जैसे न थे। वे सभी व्यक्तिगत आचरण तथा भौतिक कार्यों में परम योग्य थे। तो भी वे भगवान् के कृपाकांक्षी थे, क्योंकि वे जानते थे कि प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण आश्रित है। अतएव जीवन की पूर्णता इसी में है कि भौतिक जगत में झूठे ही स्वतन्त्र होने के बजाय, परमेश्वर की इच्छा पर आश्रित रहा जाय। जो लोग झूठे ही भगवान् से स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, वे *अनाथ* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि उनका कोई संरक्षक नहीं है, किन्तु जो

भगवद्-इच्छा पर पूरी तरह से आश्रित रहते हैं, वे *सनाथ* कहलाते हैं, अर्थात् उनका कोई संरक्षक है। अतएव हमें सदैव *सनाथ* बनने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे हम इस भौतिक अस्तित्व की प्रतिकूल परिस्थितियों से सुरक्षित रह सकें। बाह्य भौतिक प्रकृति की भ्रामक शक्ति के कारण हम यह भूल जाते हैं कि जीवन की भौतिक दशा अत्यन्त अवांछनीय उलझन है। अतएव *भगवद्गीता* (७.१९) हमें निर्देश करती है कि अनेकानेक जन्मों के पश्चात् ही कोई भाग्यशाली व्यक्ति इस तथ्य से अवगत हो पाता है कि वासुदेव ही सर्वेसर्वा हैं और जीवन जीने की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि पूर्ण रूप से भगवान् के शरणागत हुआ जाय। यही एक *महात्मा* का लक्षण होता है। पाण्डव परिवार के सारे सदस्य गृहस्थ जीवन में महात्मा थे। महाराज युधिष्ठिर इन महात्माओं में अग्रणी थे और महारानी कुन्ती देवी इनकी माता थीं। अतएव *भगवद्गीता* तथा समस्त पुराण और उनमें से विशेष रूप से *भागवतपुराण* की शिक्षाएँ अनिवार्यतः पाण्डव महात्माओं के इतिहास से जुड़ी हुई हैं। उनके लिए भगवान् का विछोह वैसे ही था, जैसे मछली का जल से विलग होना। अतएव कुन्ती देवी को ऐसा विछोह वज्रपात-सदृश प्रतीत हुआ। इसीलिए उनकी सारी प्रार्थना भगवान् को अपने साथ रहने के लिए राजी करने के लिए प्रयास है। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, यद्यपि सारे शत्रु राजा मारे जा चुके थे, लेकिन उनके पुत्र तथा पौत्र पाण्डवों से निपटने के लिए अभी भी जीवित थे। ऐसा नहीं है कि पाण्डवों को ही ऐसी शत्रुता का सामना करना पड़ा हो, अपितु हम सभी सदा ऐसी स्थिति में रहते हैं। अतएव जीने के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवदिच्छा पर आश्रित रहा जाय और संसार की सभी आपदाओं से पार पाया जाय।

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।

भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

के—कौन हैं; वयम्—हम; नाम-रूपाभ्याम्—ख्याति तथा सामर्थ्यरहित; यदुभिः—यदुओं के; सह—साथ; पाण्डवाः—तथा पाण्डवगण; भवतः—आपकी; अदर्शनम्—अनुपस्थिति; यर्हि—मानो; हृषीकाणाम्—इन्द्रियों का; इव—सदृश; ईशितुः—जीव का।

जिस तरह आत्मा के अदृश्य होते ही शरीर का नाम तथा यश समाप्त हो जाता है, उसी तरह यदि आप हमारे ऊपर कृपा-दृष्टि नहीं करेंगे, तो पाण्डवों तथा यदुओं समेत हमारा यश तथा गतिविधियाँ तुरन्त ही नष्ट हो जाएँगी।

तात्पर्य : कुन्ती देवी को पूरी तरह ज्ञात है कि पाण्डवों का अस्तित्व एक-मात्र श्रीकृष्ण के कारण है। निस्सन्देह, पाण्डव अपने नाम तथा ख्याति में पूरी तरह प्रतिष्ठित थे और धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर द्वारा उनका मार्गदर्शन हो रहा था; यदुगण मित्र थे, लेकिन श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन के बिना उन सबका कोई अस्तित्व नहीं था, जिस प्रकार चेतना के बिना शरीर की सारी इन्द्रियाँ व्यर्थ रहती हैं। किसी को भी परमेश्वर की कृपा द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त किये बिना अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति तथा यश का गर्व नहीं होना चाहिए। जीव सदैव आश्रित हैं और अनन्तिम आश्रयदाता भगवान् स्वयं ही हैं। अतएव, भले ही हम अपने भौतिक ज्ञान की उन्नति द्वारा, कितने ही प्रतिगामी भौतिक साधन क्यों न जुटा लें, लेकिन भगवान् के मार्गदर्शन बिना ऐसे सारे आविष्कार, चाहे वे कितने प्रबल एवं प्रतिक्रियाकारी क्यों न हों, बंटाधार हो जाते हैं।

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर ।

त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इयम्—यह हमारा राज्य; शोभिष्यते—सुन्दर लगेगा; तत्र—तब; यथा—जैसा अब है, इस रूप में; इदानीम्—कैसे; गदाधर—हे कृष्ण; त्वत्—आपके; पदैः—चरणों के द्वारा; अङ्किता—अंकित; भाति—शोभायमान हो रही है; स्व-लक्षण—आपके चिह्नों से; विलक्षितैः—चिह्नों से।

हे गदाधर (कृष्ण), इस समय हमारे राज्य में आपके चरण-चिह्नों की छाप पड़ी हुई है, और इसके कारण यह सुन्दर लगता है, लेकिन आपके चले जाने पर यह ऐसा नहीं रह जायेगा।

तात्पर्य : भगवान् के चरणों में कुछ विशिष्ट चिह्न होते हैं, जिनके कारण वे अन्यो से भिन्न हैं। भगवान् के चरणतल (तलवे) में ध्वजा, वज्र, अंकुश, छत्र, कमल, चक्र आदि चिह्न बने रहते हैं। जहाँ-जहाँ भगवान् चलते हैं, वहाँ की नरम भूमि की रज पर ये चिह्न अंकित होते जाते हैं।

अतएव जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ रह रहे थे, तो हस्तिनापुर की भूमि इस प्रकार से अंकित हो गई थी और इन शुभ चिह्नों के कारण पाण्डवों का राज्य फूल-फल रहा था। कुन्ती देवी ने इन प्रतिष्ठित लक्षणों की ओर संकेत किया और वे भगवान् की अनुपस्थिति में दुर्भाग्य के प्रति भयातुर थी।

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ।

वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इमे—ये सब; जन-पदाः—नगर तथा शहर; स्वृद्धाः—समृद्ध; सुपक्व—पूर्ण रूप से पक्व; औषधि—जड़ी-बूटी; वीरुधः—वनस्पतियाँ; वन—जंगल; अद्रि—पहाड़ियाँ; नदी—नदियाँ; उदन्वन्तः—समुद्र; हि—निश्चय ही; एधन्ते—वृद्धि करते हुए; तव—आपके; वीक्षितैः—देखने से।

ये सारे नगर तथा ग्राम सब प्रकार से समृद्ध हो रहे हैं, क्योंकि जड़ी-बूटियों तथा अन्न की प्रचुरता है, वृक्ष फलों से लदे हैं, नदियाँ बह रही हैं, पर्वत खनिजों से तथा समुद्र सम्पदा से भरे पड़े हैं। और यह सब उन पर आपकी कृपा-दृष्टि पड़ने से ही हुआ है।

तात्पर्य : मानव-सम्पन्नता प्राकृतिक उपहारों से बढ़ती है, न कि विशाल औद्योगिक उद्यमों से। ये विशाल औद्योगिक संस्थान ईश्वरविहीन सभ्यता के प्रतिफल हैं और वे मानव जीवन के कल्याणकारी उद्देश्यों का विनाश करनेवाले हैं। मनुष्य की प्राण-शक्ति को निचोड़ देने वाले इन कष्टप्रद उद्योगों को जितना ही अधिक बढ़ाया जायेगा, जनसामान्य में उतना ही अधिक असन्तोष फैलेगा, भले ही कुछ लोग इस शोषण द्वारा ठाठ-बाट से रह लें। अन्न, वनस्पतियाँ, फल, नदियाँ, रत्नों तथा खनिजों से पूर्ण पर्वत तथा मुक्ताओं से भरे हुए समुद्र—ये सब प्राकृतिक वरदान हैं, जिनकी पूर्ति परमेश्वर के आदेश से होती है और उनकी इच्छा के अनुसार ही प्रकृति उन्हें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करती है या उनका अभाव ला देती है। प्राकृतिक नियम ऐसा है कि मनुष्य इन ईश्वरप्रदत्त वरदानों का लाभ उठाये तथा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के उद्देश्य से शोषण की प्रवृत्ति छोड़कर, सन्तोष धारण करके समृद्ध बने। अपनी भोगवादी लालसा से हम प्रकृति का शोषण जितना अधिक करने का प्रयास करेंगे, ऐसी शोषणकारी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया द्वारा हम उतने ही

अधिक फँसते जायेंगे। यदि हमारे पास प्रचुर मात्रा में अन्न, फल, शाक-सब्जी तथा औषधियाँ हैं, तो फिर कसाई घर चलाने और दीन पशुओं का वध करने की क्या जरूरत है? मनुष्य को पशु-वध करने की आवश्यकता नहीं है, यदि उसके पास खाने के लिए प्रचुर अन्न तथा शाक-सब्जी है। नदियों का बहता जल खेतों को उपजाऊ बनाता है और हमारी आवश्यकता से अधिक जल उपलब्ध है। पर्वतों से खनिज तथा समुद्रों से रत्न प्राप्त होते हैं। यदि मानव समाज के पास प्रचुर अन्न, खनिज, रत्न, जल, दुग्ध इत्यादि हो, तो फिर उसे क्या आवश्यकता है कि वह कुछ लाचार मनुष्यों के श्रम पर भयंकर औद्योगिक संस्थानों के पीछे भागता फिरे? लेकिन ये सारे प्राकृतिक उपहार भगवत्कृपा पर निर्भर हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम भगवान् के नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनें और भक्तिमय सेवा के द्वारा मनुष्य-जीवन की पूर्णता प्राप्त करें। कुन्ती देवी के द्वारा किये गये संकेत बिल्कुल सटीक हैं। वे चाहती हैं कि उन पर भगवान् की कृपा-दृष्टि बनी रहे, जिससे प्राकृतिक सम्पन्नता स्थापित रहे।

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।

स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; विश्व-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्ड के आत्मा; विश्व-मूर्ते—हे विश्व-रूप; स्वकेषु—मेरे स्वजनों में; मे—मेरे; स्नेह-पाशम्—स्नेह बन्धन को; इमम्—इस; छिन्धि—काट डालो; दृढम्—कड़े; पाण्डुषु—पाण्डवों के लिए; वृष्णिषु—वृष्णियों के लिए भी।

अतः हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड के आत्मा, हे विश्व-रूप, कृपा करके मेरे स्वजनों, पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति मेरे स्नेह-बन्धन को काट डालें।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् से अपने लिए कुछ भी माँगने में लजाता है। लेकिन गृहस्थों को कभी-कभी बाध्य होकर भगवान् से कुछ कथा की याचना करनी पड़ती है, क्योंकि वे पारिवारिक स्नेह की ग्रंथि से बँधे होते हैं। श्रीमती कुन्ती देवी इस तथ्य से सचेत थीं, अतएव उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उनके स्वजनों, पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रेमपाश को काट दें। पाण्डव उनके अपने पुत्र थे और वृष्णि उनके पितृ-कुल के सदस्य थे। कृष्ण इन दोनों

परिवारों से समान रूप से सम्बन्धित थे। दोनों ही परिवारों को भगवान् की सहायता की आवश्यकता थी, क्योंकि दोनों ही भगवान् के आश्रित भक्त थे। श्रीमती कुन्ती देवी की इच्छा थी कि श्रीकृष्ण उनके पुत्रों, अर्थात् पाण्डवों के साथ रहें, लेकिन कृष्ण के ऐसा करने से कुन्ती के पितृ-कुल के लोग इस लाभ से वंचित रह जाते। यह सब पक्षपात कुन्ती के मन को दुख देनेवाला था, अतएव उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि यह स्नेह-बन्धन विच्छिन्न हो जाय।

शुद्ध भक्त अपने परिवार के सीमित स्नेह-बन्धन को विच्छिन्न करके समस्त विस्मृत आत्माओं के लिए अपनी भक्तिमय सेवा का विस्तार करता है। इसके जीवन्त उदाहरण षड् गोस्वामी हैं, जिन्होंने भगवान् चैतन्य के पथ का अनुसरण किया। वे सभी अत्यन्त प्रबुद्ध एवं सुसंस्कृत धनी, सवर्ण जातियों के थे, लेकिन जनसाधारण के कल्याण के लिए वे अपने-अपने साधनयुक्त घरों को त्याग कर संन्यासी बन गये। समस्त पारिवारिक स्नेह को छिन्न करने का अर्थ है कार्यक्षेत्र को विस्तृत करना। ऐसा किये बिना कोई न तो ब्राह्मण बनने के योग्य हो सकता है, न राजा, न जनता का नेता, न भगवद्भक्त। भगवान् ने आदर्श राजा के रूप में इसका दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। श्री रामचन्द्र ने आदर्श राजा के गुणों को प्रकट करने के लिए अपनी प्रिय पत्नी से स्नेह-बन्धन छिन्न कर लिया था।

ब्राह्मण, भक्त, राजा या जननेता को अपने-अपने कर्तव्य पालन में उदारचेता होना चाहिए। श्रीमती कुन्तीदेवी इस तथ्य से अवगत थीं और अबला होने के कारण, उन्होंने पारिवारिक स्नेह के बन्धन को विच्छिन्न कर देने के लिए प्रार्थना की। भगवान् को विश्वेश या विश्वात्मा कहकर सम्बोधित किया गया है, जो पारिवारिक प्रेम की कठिन ग्रंथि को काटने में उनकी सर्वशक्तिमयी क्षमता को बतानेवाला है। इसीलिए कभी-कभी ऐसा अनुभव किया जाता है कि निर्बल भक्त के प्रति विशेष आकर्षण के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा नियोजित परिस्थितियों द्वारा पारिवारिक स्नेह को छिन्न करते हैं। ऐसा करके वे भक्त को अपने ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित बनाकर उसके भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग साफ कर देते हैं।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।

रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—आप में; मे—मेरा; अनन्य-विषया—अनन्य; मतिः—ध्यान; मधु-पते—हे मधु के स्वामी; असकृत्—निरन्तर;
रतिम्—आकर्षण; उद्वहतात्—आप्लावित हो सकता है; अद्धा—प्रत्यक्ष रीति से; गङ्गा—गंगानदी; इव—सदृश;
ओघम्—बहती है; उदन्वति—समुद्र को।

हे मधुपति, जिस प्रकार गंगा नदी बिना किसी व्यवधान के सदैव समुद्र की ओर बहती है, उसी प्रकार मेरा आकर्षण अन्य किसी ओर न बँट कर आपकी ओर निरन्तर बना रहे।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तिमय सेवा की पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब सारा ध्यान भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा की ओर लगा रहता है। अन्य सारे स्नेह-बन्धनों को छिन्न करने का अर्थ किसी दूसरे से स्नेह जैसे सूक्ष्म भावों का पूर्ण निषेध नहीं होता। ऐसा सम्भव नहीं है। चाहे कोई भी जीव क्यों न हो, उसमें दूसरों के प्रति स्नेह की भावना होती ही है, क्योंकि यह जीवन का एक लक्षण है। इच्छा, क्रोध, लोभ, आकर्षण जैसे जीवन के लक्षणों को विनष्ट नहीं किया जा सकता। केवल इसके उद्देश्य को बदलना होता है। इच्छा को कभी नकारा नहीं जा सकता है, लेकिन भक्तियोग में इच्छा को इन्द्रियतृप्ति के स्थान पर भगवान् की सेवा में लगाना होता है। परिवार, समाज, देश इत्यादि के प्रति तथाकथित स्नेह इन्द्रियतृप्ति की विभिन्न अवस्थाओं के सिवा अन्य कुछ नहीं है। जब इस इच्छा को भगवान् की संतुष्टि के हेतु बदल दिया जाता है, तब यह भक्ति कहलाती है।

भगवद्गीता में हम देख सकते हैं कि अर्जुन अपनी खुदकी इच्छाओं की तुष्टि के लिए ही अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से नहीं लड़ना चाह रहा था। लेकिन जब उसने भगवान् का सन्देश अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता सुनी, तो उसने अपना निर्णय बदल दिया और भगवान् की सेवा की। ऐसा करने के कारण वह भगवान् का विख्यात भक्त बन गया, क्योंकि सारे शास्त्रों में घोषित किया गया है कि भगवान् से मित्रता भाव में अर्जुन ने भक्तिमय सेवा के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की। युद्ध हो रहा था, मित्रता भी चल रही थी, वहाँ पर अर्जुन था तथा कृष्ण भी वहाँ पर थे, लेकिन भक्तिमय सेवा के कारण अर्जुन सर्वथा भिन्न व्यक्ति बन गया। अतएव कुन्ती की प्रार्थनाएँ

भी कार्यों में वैसे ही परिवर्तन का संकेत करती हैं। श्रीमती कुन्ती विचलित हुए बिना भगवान् की सेवा करना चाह रही थीं और यही उनकी प्रार्थना थी। यह अनन्य भक्ति (निष्ठा) ही जीवन का परम लक्ष्य है। सामान्य रूप से हमारा ध्यान ऐसी वस्तु की सेवा की ओर विचलित हो जाता है, जो ईश्वर से इतर होती है अथवा भगवान् की योजना में नहीं होती है। जब यह योजना भगवान् की सेवा में बदल जाती है अर्थात् जब भगवान् की सेवा से इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब यह सेवा शुद्ध अनन्य भक्ति कहलाती है। श्रीमती कुन्तीदेवी को इसी पूर्णता की कामना थी और वे भगवान् से इसी के लिए प्रार्थना कर रही थीं।

पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति उनका स्नेह भक्ति की परिधि से बाहर नहीं है, क्योंकि भगवान् की सेवा तथा भक्तों की सेवा अभिन्न हैं। कभी-कभी भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से भी बढ़कर होती है। लेकिन यहाँ पर पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति कुन्तीदेवी का स्नेह पारिवारिक सम्बन्ध के कारण था। भौतिक सम्बन्ध के प्रसंग में यह स्नेह-बन्धन माया का सम्बन्ध होता है, क्योंकि शरीर अथवा मन के सम्बन्ध बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण होते हैं। परमात्मा के प्रति स्थापित किये जाने पर आत्मा के सम्बन्ध यथार्थ सम्बन्ध होते हैं। कुन्ती देवी द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध छिन्न करने का अभिप्राय यह था कि वे रक्त के सम्बन्ध को छिन्न करना चाह रही थीं। यह रक्त सम्बन्ध भव-बन्धन का कारण है, लेकिन आत्मा का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का कारण है। आत्मा से आत्मा का यह सम्बन्ध परमात्मा के साथ सम्बन्ध के माध्यम से स्थापित किया जा सकता है। अँधेरे में देखना कोई देखना नहीं है। लेकिन सूर्यप्रकाश में देखने का अर्थ है सूर्य को देखना तथा इसके अलावा वह सब कुछ भी देखना जो अंधकार में अनदेखा रह गया था। यही भक्ति योग का मार्ग है।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णयुषभावनिधुग्
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-कृष्ण—हे कृष्ण; कृष्ण-सख—हे अर्जुन के मित्र; वृष्णि—वृष्णि कुल के; ऋषभ—हे प्रमुख; अवनि—पृथ्वी; धृक्—विप्लवी; राजन्य-वंश—राजाओं का वंश; दहन—हे विनाशकर्ता; अनपवर्ग—बिना अवनति के; वीर्य—पराक्रम; गोविन्द—हे गोलोक के स्वामी; गो—गौवों के; द्विज—ब्राह्मणों के; सुर—देवताओं के; अर्ति-हर—दुख दूर करने के लिए; अवतार—हे अवतार लेनेवाले; योग-ईश्वर—हे योग के स्वामी; अखिल—सम्पूर्ण जगत के; गुरो—हे गुरु; भगवन्—हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; नमः ते—आपको नमस्कार है।

हे कृष्ण, हे अर्जुन के मित्र, हे वृष्णिकुल के प्रमुख, आप उन समस्त राजनीतिक पक्षों के विध्वंसक हैं, जो इस धरा पर उपद्रव फैलानेवाले हैं। आपका शौर्य कभी क्षीण नहीं होता। आप दिव्य धाम के स्वामी हैं और आप गायों, ब्राह्मणों तथा भक्तों के कष्टों को दूर करने के लिए अवतरित होते हैं। आपमें सारी योग-शक्तियाँ हैं और आप समस्त विश्व के उपदेशक (गुरु) हैं। आप सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करती हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीमती कुन्तीदेवी ने परम भगवान् श्रीकृष्ण का सार प्रस्तुत किया है। सर्वशक्तिमान भगवान् का अपना नित्य दिव्य धाम है, जहाँ वे सुरभी गायों के पालन में व्यस्त रहते हैं। वहाँ सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं। वे इस भौतिक जगत् में अपने भक्तों को उबारने तथा राजनीतिक दलों के उपद्रवकारी तत्त्वों एवं उपद्रवकारी शासकों को विनष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। वे अपनी असीम शक्तियों से सृजन, पालन तथा संहार करते हैं, फिर भी वे सदैव शौर्य से पूर्ण रहते हैं और उनकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। वे गायों, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों पर विशेष ध्यान देते हैं, क्योंकि जीवों के सामान्य कल्याण के लिए ये महत्वपूर्ण कारक हैं।

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ।

मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; पृथया—पृथा (कुन्ती) द्वारा; इत्थम्—यह; कल-पदैः—चुने हुए शब्दों द्वारा; परिणूत—पूजित होकर; अखिल—सम्पूर्ण; उदयः—उत्थान; मन्दम्—मन्द-मन्द; जहास—मुस्कराये; वैकुण्ठः—भगवान्; मोहयन्—मोहित करते हुए; इव—सदृश; मायया—अपनी योगशक्ति के द्वारा।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् अपने महिमागान के लिए चुने हुए शब्दों में कुन्तीदेवी के द्वारा की गई प्रार्थना सुनकर मन्द-मन्द मुसकाए। यह मुस्कान उनकी योगशक्ति के समान ही मोहक थी।

तात्पर्य : इस जगत में जो भी वस्तु मोहक होती है, वह भगवान् की अभिव्यक्ति कहलाती है। इस भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने में प्रवृत्त बद्धजीव भी उनकी योगशक्ति से मोहित होते रहते हैं, लेकिन भगवान् के भक्त भगवान् की महिमा से भिन्न प्रकार से मोहित होते हैं और भगवान् का कृपापूर्ण आशीर्वाद उन्हें प्राप्त होता रहता है। उनकी शक्ति का प्रदर्शन भिन्न प्रकार से होता है, जिस प्रकार कि विद्युत् शक्ति विविध क्षमताओं में कार्य करती है। श्रीमती कुन्ती ने भगवान् की प्रार्थना में उनकी महिमा का मात्र एक अल्पांश का कथन किया है। उनके सारे भक्त इसी प्रकार से चुने हुए शब्दों से उनकी पूजा करते हैं, और इसी कारण भगवान् उत्तम श्लोक कहे जाते हैं। यद्यपि भगवान् की महिमा का वर्णन चुने हुए शब्दों से कितना ही क्यों न किया जाये, तथापि वह पर्याप्त नहीं है, फिर भी वे ऐसी प्रार्थनाओं से उसी प्रकार तुष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार पिता अपने छोटे से बच्चे की तोतली बोली से प्रसन्न हो जाता है। *माया* शब्द का प्रयोग भ्रम तथा कृपा दोनों अर्थों में होता है, लेकिन यहाँ पर यह शब्द कुन्तीदेवी पर भगवान् की कृपा के लिए व्यवहृत हुआ है।

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।

स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उन सबों को; बाढम्—स्वीकृत; इति—इस प्रकार; उपामन्त्र्य—बाद में सूचित करके; प्रविश्य—प्रवेश करके; गजसाह्वयम्—हस्तिनापुर के महल में; स्त्रियः च—अन्य स्त्रियाँ; स्व-पुरम्—अपने निवास; यास्यन्—बिदा होते समय; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; राज्ञा—राजा द्वारा; निवारितः—रोके गये।

इस तरह श्रीमती कुन्तीदेवी की प्रार्थनाएं स्वीकार करने के बाद भगवान् ने हस्तिनापुर के राजमहल में प्रवेश करके अन्य स्त्रियों को अपने प्रस्थान की सूचना दी। लेकिन उन्हें

प्रस्थान करते देख, राजा युधिष्ठिर ने उन्हें रोक लिया और अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे याचना की।

तात्पर्य : जब भगवान् ने द्वारका जाने का निश्चय कर लिया, तो कोई भी उन्हें हस्तिनापुर में नहीं रोक सकता था, लेकिन राजा युधिष्ठिर का यह सरल अनुरोध कि वे कुछ दिनों तक और रह जाँए, इसका तत्काल प्रभाव पड़ा। इससे पता चलता है कि राजा युधिष्ठिर की शक्ति प्रेमयुक्त स्नेह की थी जिसे भगवान् इनकार नहीं कर सके। इस प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान् केवल प्रेममयी सेवा से जीते जाते हैं, अन्य किसी प्रकार से नहीं। वे अपने समस्त व्यवहारों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं, लेकिन अपने शुद्ध भक्तों के स्निग्ध प्रेम का ऋण वे स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।

प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

व्यास-आद्यैः—व्यास इत्यादि मुनियों द्वारा; ईश्वर—सर्वशक्तिमान ईश्वर; ईहा—की इच्छा से; ज्ञैः—विद्वान्; कृष्णेन—स्वयं कृष्ण द्वारा; अद्भुत-कर्मणा—अद्भुत कार्य करनेवाले के द्वारा; प्रबोधितः—ढाढस बंधाने पर; अपि—यद्यपि; इतिहासैः—इतिहास के साक्ष्यों द्वारा; न—नहीं; अबुध्यत—संतुष्ट हुए; शुचा अर्पितः—दुखी।

अत्यधिक शोक में डूबे हुए राजा युधिष्ठिर, व्यास आदि मुनियों तथा अद्भुत कर्म करनेवाले साक्षात् भगवान् कृष्ण के उपदेशों से तथा समस्त ऐतिहासिक साक्ष्य से सान्त्वना नहीं पा सके।

तात्पर्य : अपने लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में मनुष्यों के सामूहिक रक्तपात से पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर अत्यन्त खिन्न थे। उस समय दुर्योधन सिंहासन पर आरूढ़ था और वह ठीक से शासन चला रहा था। एक तरह से देखा जाये तो युद्ध करने की कोई आवश्यकता न थी। लेकिन न्याय के सिद्धान्त की दृष्टि से युधिष्ठिर को सिंहासन सम्हालना था। सारी राजनीति का केन्द्र-बिन्दु यही था और सारे विश्व के राजा तथा निवासी इन दो प्रतिद्वन्द्वी भाइयों की लड़ाई में उलझ गये। भगवान् कृष्ण भी राजा युधिष्ठिर की ओर थे। *महाभारत के आदि पर्व* (२०) में कहा गया है कि

कुरुक्षेत्र के अठारह दिनों के युद्ध में चौंसठ करोड़ लोग मारे गये और कई लाख लापता हो गये। एक तरह से, विगत पाँच हजार वर्षों में यह विश्व का भिषणतम युद्ध था।

महाराज युधिष्ठिर को मात्र सिंहासन दिलाने के लिए यह सामूहिक वध अतीव मनःसंतापी था, अतएव व्यास जैसे मुनियों ने तथा स्वयं भगवान् कृष्ण ने इतिहासों के साक्ष्य से उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहा कि यह युद्ध न्यायसंगत था, क्योंकि इसका कारण न्यायसंगत था। लेकिन महाराज युधिष्ठिर संतुष्ट नहीं हुए, यद्यपि उस समय के महान पुरुषों ने उन्हें उपदेश दिया। यहाँ पर कृष्ण को अतिमानवीय कर्म करनेवाले कहे गए हैं, लेकिन इस मामले में न तो व्यास, न ही कृष्ण राजा युधिष्ठिर को सान्त्वना दे पाये। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वे अतिमानवीय कर्ता सिद्ध नहीं हो पाये? नहीं, ऐसा कतई नहीं है। इसकी विवेचना यह है कि भगवान् ने ईश्वर के रूप में राजा युधिष्ठिर तथा व्यास दोनों के ही हृदय में स्थित होकर, इससे भी अधिक अतिमानवीय कार्य किया, क्योंकि भगवान् की ऐसी इच्छा थी। राजा युधिष्ठिर के परमात्मा के रूप में उन्होंने राजा को व्यास तथा स्वयं एवं अन्यो के शब्दों से आश्वस्त नहीं होने दिया, क्योंकि वे चाहते थे कि राजा मरणासन्न भीष्मदेव से उपदेश ग्रहण करें, जो भगवान् के एक और महान भक्त थे। भगवान् चाहते थे कि अपने भौतिक अस्तित्व के अन्तिम समय में महान योद्धा भीष्मदेव उनका साक्षात् दर्शन करें और उस समय सिंहासनारूढ़ अपने पौत्रों राजा युधिष्ठिर इत्यादि को देखें और इस तरह वह शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हों। भीष्मदेव पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करने के कारण तनिक भी प्रसन्न न थे, क्योंकि सारे पाण्डव उनके पितृविहीन पौत्र ही तो थे। लेकिन क्षत्रिय लोग अत्यन्त कठोर होते हैं, अतएव उन्हें दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि दुर्योधन के द्वारा ही उनका भरण-पोषण हो रहा था। इसके अतिरिक्त भगवान् की यह इच्छा भी थी कि राजा युधिष्ठिर भीष्मदेव के वचनों से सान्त्वना पाएँ, जिससे दुनिया देख सके कि भीष्मदेव ज्ञान में सबसे, यहाँ तक कि भगवान् से भी बढ़कर थे।

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् ।

प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

आह—कहा; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; धर्म-सुतः—धर्म (यमराज) के पुत्र; चिन्तयन्—सोचते हुए; सुहृदाम्—मित्रों के; वधम्—वध को; प्राकृतेन—भौतिक विचार से; आत्मना—अपने द्वारा; विप्राः—हे ब्राह्मणो; स्नेह—स्नेह; मोह—मोह; वशम्—के वशीभूत; गतः—गया हुआ।

धर्मपुत्र, राजा युधिष्ठिर, अपने मित्रों की मृत्यु से अभिभूत थे और सामान्य भौतिकतावादी मनुष्य की भाँति शोक-सन्तप्त थे। हे मुनियो, इस प्रकार स्नेह से मोहग्रस्त होकर वे बोले।

तात्पर्य : यद्यपि ऐसी अपेक्षा नहीं थी कि महाराज युधिष्ठिर किसी सामान्य मनुष्य की भाँति शोक-सन्तप्त हो जाएँगे, लेकिन भगवान् की इच्छा ही कहें, वे सांसारिक स्नेह के कारण मोहग्रस्त हो गये (जिस प्रकार अर्जुन मोहग्रस्त हुआ लगता था)। जो मनुष्य समझता है, वह भलीभाँति जानता है कि जीव न तो शरीर है, न मन, अपितु जीवन की भौतिक अवधारणा से परे है। सामान्य मनुष्य हिंसा तथा अहिंसा को शरीर के सम्बन्ध में देखता है, लेकिन यह एक प्रकार का मोह है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वृत्ति के अनुसार कर्तव्य से बँधा हुआ है। क्षत्रिय को सही निमित्त के लिए विरोधी पक्ष की परवाह न करते हुए युद्ध करना होता है। इस प्रकार कर्तव्य-पालन करते हुए मनुष्य को शरीर के विनाश से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह शरीर जीवन्त आत्मा का बाहरी पहनावा मात्र है। यह सब महाराज युधिष्ठिर को ज्ञात था, लेकिन भगवान् की इच्छा से वे एक सामान्य मनुष्य जैसे बन गये, क्योंकि इस मोह के पीछे एक दूसरी बहुत बड़ी भावना थी कि राजा को भीष्म उसी प्रकार उपदेश दें, जिस प्रकार स्वयं भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया था।

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः ।

पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरा; पश्यत—जरा देखो तो; अज्ञानम्—अज्ञान; हृदि—हृदय में; रूढम्—स्थित; दुरात्मनः—पापी का; पारक्यस्य—अन्यों के लिए; एव—निश्चय ही; देहस्य—शरीर का; बह्व्यः—अनेकानेक; मे—मेरे द्वारा; अक्षौहिणीः—अक्षौहिणी सेनाएँ; हताः—मारी गई।

राजा युधिष्ठिर ने कहा : हाय, मैं सबसे पापी मनुष्य हूँ! जरा मेरे हृदय को तो देखो, जो अज्ञान से पूर्ण है! यह शरीर, जो अन्ततः परोपकार के लिए होता है, उसने अनेकानेक अक्षौहिणी सेनाओं का वध करा दिया है।

तात्पर्य : २१,८७० रथों, २१,८७० हाथियों, १,०९,६५०, पैदल तथा ६५, ६०० घुड़सवार का व्यूह अक्षौहिणी कहलाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कई अक्षौहिणी सेना मारी गई थी। महाराज युधिष्ठिर, संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा राजा होने के कारण, इतनी भारी संख्या में जीवों के वध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं, क्योंकि यह युद्ध उन्हें ही सिंहासनारूढ़ कराने के लिए लड़ा गया था। यह शरीर आखिर परोपकार के लिए है। जब तक शरीर में प्राण रहता है, तब तक यह परोपकार के लिए होता है और मरने के बाद यही कुत्तों तथा शृगालों द्वारा या कीड़ों द्वारा खा लिया जाता है। वे खेदग्रस्त हुए कि इस नश्वर शरीर के लिए इतना बड़ा नर-संहार किया।

बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।

न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

बाल—लड़के; द्वि-ज—दो बार जन्म लेनेवाले; सुहृत्—शुभचिन्तक; मित्र—मित्र; पितृ—चाचा-ताऊ; भ्रातृ—भाई; गुरु—शिक्षक का; द्रुहः—मारनेवाला; न—कभी नहीं; मे—मेरा; स्यात्—होगा; निरयात्—नरक से; मोक्षः—मुक्ति; हि—निश्चय ही; अपि—यद्यपि; वर्ष—साल; अयुत—लाखों; आयुतैः—जोड़े जाने पर।

मैंने अनेक बालकों, ब्राह्मणों, शुभ-चिन्तकों, मित्रों, चाचा-ताऊओं, गुरुओं तथा भाइयों का वध किया है। भले ही मैं लाखों वर्षों तक जीवित रहूँ, लेकिन मैं इन सारे पापों के कारण मिलनेवाले नरक से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकूँगा।

तात्पर्य : जब भी युद्ध होता है, तब अनेक निर्दोष प्राणी—यथा बालक, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, जिनका वध सर्वाधिक पापपूर्ण माना गया है, वे भी मारे जाते हैं। ये सब निर्दोष प्राणी हैं और समस्त परिस्थितियों में इनका वध शास्त्रों द्वारा वर्जित है। महाराज युधिष्ठिर को इस सामूहिक संहार का पता था। इसी प्रकार दोनों ही दलों में मित्र, चाचा-ताऊ तथा शिक्षक थे और वे सभी मारे

गये। उनके लिए ऐसे नरसंहार का सोचना ही भयावह लगता था, अतएव वे लाखों-करोड़ों वर्षों तक नरक में पड़े रहने का विचार कर रहे थे।

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।

इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एनः—पाप; राज्ञः—राजा का; प्रजा-भर्तुः—प्रजा के पालन में व्यस्त रहनेवाले; धर्म—सही निमित्त के लिए; युद्धे—युद्ध में; वधः—संहार; द्विषाम्—शत्रुओं का; इति—ये सब; मे—मेरे लिए; न—कभी नहीं; तु—लेकिन; बोधाय—संतोष के लिए; कल्पते—वे शासन चलाने के लिए हैं; शासनम्—आदेश; वचः—शब्दों का।

जो राजा अपनी प्रजा के पालन में लगा रह कर सही निमित्त के लिए वध करता है, उसे कोई पाप नहीं लगता। लेकिन यह आदेश मेरे ऊपर लागू नहीं होता।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि, यद्यपि वे वास्तव में राज्य का शासन नहीं चला रहे थे, क्योंकि दुर्योधन द्वारा नागरिकों का बिना किसी क्षति के शासन तो चलाया जा रहा था, फिर भी दुर्योधन के हाथों से राज्य छीनने हेतु अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उन्होंने इतने सारे जीवों का संहार कराया। यह संहार शासन चलाने के दौरान नहीं हुआ था, अपितु अपने को बड़ा बनाने के लिए हुआ था, अतएव उन्होंने इस पाप के लिए स्वयं को दोषी समझा।

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।

कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; मत्—मेरे द्वारा; हत-बन्धूनाम्—मारे गये मित्रों का; द्रोहः—शत्रुता; यः—जो; असौ—ये सब; इह—यहाँ; उत्थितः—संचित हुई है; कर्मभिः—कार्य करने से; गृहमेधीयैः—भौतिक कल्याण में लगे मनुष्यों द्वारा; न—कभी नहीं; अहम्—मैं; कल्पः—आशा कर सकता हूँ; व्यपोहितुम्—उसे मिटा पाने की।

मैंने अनेक स्त्रियों के बंधुओं का वध किया है और इस तरह मैंने इस हद तक शत्रुता मोल ली है कि भौतिक कल्याण-कार्य के द्वारा इसे मिटा पाना सम्भव नहीं है।

तात्पर्य : गृहमेधी वे हैं, जिनका एकमात्र कार्य है भौतिक सम्पन्नता के लिए कल्याण-कार्य करना। कभी-कभी पापकर्मों के कारण ऐसे कल्याण-कार्य में बाधा पहुँचती है, क्योंकि भौतिक

कर्तव्यों को पूरा करते समय, न चाहते हुए भी, भौतिकतावादी से कहीं-न-कहीं पाप हो ही जाता है। ऐसे पापकर्मों से छुटकारा पाने के लिए वेदों में कई प्रकार के यज्ञों का विधान है। वेदों में तो यहाँ तक कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ करने से ब्रह्म-हत्या तक से छुटकारा मिल सकता है।

युधिष्ठिर महाराज ने यह अश्वमेध यज्ञ किया था, लेकिन वे सोचते हैं कि ऐसे यज्ञों के करने से भी, ऐसे घोर पापों से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। युद्ध में पति, भाई, पिता या पुत्र सभी लड़ने जाते हैं और जब वे मारे जाते हैं, तो फिर से नई शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है, जिसका शमन हजारों अश्वमेध यज्ञों से भी नहीं किया जा सकता।

कर्म का विधान ही ऐसा है। यह एक क्रिया और फिर उसके साथ ही साथ उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इस प्रकार भौतिक कार्य-कलापों की शृंखला बढ़ती जाती है और कर्ता को भवबन्धन में जकड़ती जाती है। *भगवद्गीता* (९.२७-२८) में इसका निवारण सुझाया गया है। कर्म के मार्ग में ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि प्रत्येक कर्म परमेश्वर के लिए किया जाय। वास्तव में, कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा के कारण लड़ा गया था, जैसाकि उनके कथन से स्पष्ट है और उन्हीं की इच्छा से युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे थे। अतएव पाण्डवों को किसी तरह का पाप छू भी नहीं पाया, क्योंकि वे भगवान् के आदेश-वाहक थे। अन्य लोग जो निजी स्वार्थ के लिए युद्ध छेड़ते हैं, उन पर ही सारा दोष आता है।

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।

भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; पङ्केन—कीचड़ से; पङ्क-अम्भः—कीचड़-मिश्रित जल; सुरया—मदिरा से; वा—अथवा; सुराकृतम्—मदिरा के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि; भूत-हत्याम्—पशुओं की हत्या; तथा—उसी प्रकार; एव—निश्चय ही; एकाम्—एक; न—कभी नहीं; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; मार्ष्टुम्—प्रायश्चित्त करना; अर्हति—सम्भव है।

जिस प्रकार गंदे पानी को कीचड़ में डालकर छाना नहीं जा सकता, अथवा जैसे मदिरा से मलिन हुए पात्र को मदिरा से स्वच्छ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नर-संहार का प्रायश्चित्त पशुओं की बलि देकर नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : अश्वमेध-यज्ञ या गोमेध यज्ञ, जिनमें घोड़े या साँड़ की बलि दी जाती है, वास्तव में पशुओं के वध करने के लिए नहीं थे। भगवान् चैतन्य ने बतलाया है कि यज्ञ की वेदी पर बलि किये गये ऐसे पशुओं को पुनः जीवनदान दिया जाता था। यह वेदों के मंत्रों की क्षमता को सिद्ध करने के लिए किया जाता था। निश्चय ही वेदों के मन्त्रों का सही ढंग से पाठ करने पर यज्ञकर्ता पापों से मुक्त हो जाता है, लेकिन ऐसे यज्ञ यदि अनुपयुक्त विधि से अक्षम लोगों द्वारा किये जाते हैं, तो वे पशु-बलि के दोषी बनते हैं। कलह तथा दम्भ के इस युग में ठीक से यज्ञ सम्पन्न करवाना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा यज्ञ सम्पन्न करानेवाले दक्ष ब्राह्मणों का अभाव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर कलियुग में यज्ञ सम्पन्न करने का संकेत देते हैं। कलियुग के लिए एकमात्र संस्तुत यज्ञ *हरिनाम यज्ञ* है, जिसका सूत्रपात भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया। लेकिन किसी को पशु-वध करने के बाद ऐसा *हरिनाम यज्ञ* सम्पन्न करके प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए। भगवान् के भक्त कभी भी स्वार्थवश पशुवध नहीं करते, लेकिन वे क्षत्रिय कर्म करने से कभी पीछे नहीं हटते, जैसा भगवान् ने अर्जुन को आदेश दिया था। अतएव जब प्रत्येक वस्तु भगवान् की इच्छा के लिए की जाती है, तो सारा काम बन जाता है। ऐसा करना भक्तों के लिए ही सम्भव है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “कुन्ती द्वारा प्रार्थना तथा परीक्षित की रक्षा” नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का देह-त्याग

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।

ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; भीतः—डरे हुए; प्रजा-द्रोहात्—प्रजा के मारे जाने से; सर्व—समस्त; धर्म—धर्म के कार्य; विवित्सया—जानने के लिए; ततः—तत्पश्चात्; विनशनम्—युद्ध-स्थल; प्रागात्—वे गए; यत्र—जहाँ; देव-व्रतः—भीष्मदेव; अपतत्—मरने के लिये लेटे थे।

सूत गोस्वामी ने कहा : कुरुक्षेत्र के युद्ध स्थल में इतने सारे लोगों का वध करने के कारण घबराये हुए महाराज युधिष्ठिर उस स्थल पर गये, जहाँ नर-संहार हुआ था। वहाँ पर भीष्मदेव मरणासन्न होकर शरशय्या पर लेटे थे।

तात्पर्य : इस नवम अध्याय में, जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा थी, भीष्मदेव राजा युधिष्ठिर को वृत्ति-विषयक कर्तव्यों के सम्बन्ध में उपदेश देंगे। भीष्मदेव इस मर्त्यलोक से प्रयाण करते समय भगवान् से अन्तिम प्रार्थना भी करेंगे और इस प्रकार भावी भौतिक कार्यों के बन्धन से मुक्त हो जाएंगे। भीष्मदेव को वरदान प्राप्त था कि वे इच्छानुसार देह-त्याग कर सकते हैं और वे अपनी इच्छा से ही इस तरह शरशय्या पर लेटे थे। इस महान योद्धा का इस प्रकार से निधन, समस्त समकालीन श्रेष्ठ पुरुषों को आकृष्ट करनेवाला था, अतएव सारे लोग इस महात्मा के प्रति अपने प्यार, सम्मान तथा स्नेह की भावना प्रदर्शित करने के लिए वहाँ एकत्र हुए थे।

तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।

अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; ते—वे सब; भ्रातरः—भाई; सर्वे—एकत्र; सत्-अश्वैः—श्रेष्ठ घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले; स्वर्ण—सोने से; भूषितैः—विभूषित; अन्वगच्छन्—अनुगमन किया; रथैः—रथों पर; विप्राः—हे ब्राह्मणों; व्यास—व्यासदेव; धौम्य—धौम्य मुनि; आदयः—इत्यादि; तथा—उसी प्रकार।

उस समय उनके सारे भाई स्वर्णाभूषणों से सजे हुए उच्च कोटि के घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले सुन्दर रथों पर उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। उनके साथ व्यासदेव तथा धौम्य जैसे ऋषि (पाण्डवों के विद्वान पुरोहित) तथा अन्य लोग थे।

भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः ।

स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् (श्रीकृष्ण); अपि—भी; विप्र-ऋषे—हे ब्रह्मर्षियों; रथेन—रथ पर; स-धनञ्जयः—धनञ्जय (अर्जुन) सहित; सः—वे; तैः—उनके द्वारा; व्यरोचत—अत्यन्त राजसी प्रतीत हो रहे थे; नृपः—राजा (युधिष्ठिर); कुबेर—देवताओं का भंडारी, कुबेर; इव—सदृश; गुह्यकैः—गुह्यक नामक साथियों से।

हे ब्रह्मर्षी, भगवान् श्रीकृष्ण भी, अर्जुन के साथ रथ पर सवार होकर पीछे-पीछे चले आ रहे थे। इस प्रकार राजा युधिष्ठिर अत्यन्त राजसी प्रतीत हो रहे थे, मानो कुबेर अपने साथियों (गुह्यकों) से घिरा हो।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण चाहते थे कि सारे पाण्डव भीष्मदेव के पास पूरे राजसी ठाठबाट से जाएँ, जिससे वे अपने अन्तिम समय उन्हें देखकर प्रसन्न हों। कुबेर देवताओं में सबसे धनी है। यहाँ पर युधिष्ठिर कुबेर की तरह प्रतीत हो रहे थे, क्योंकि श्रीकृष्ण के साथ यह जुलूस राजा युधिष्ठिर के राजपद के अनुकूल था।

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् ।

प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; निपतितम्—लेटे; भूमौ—भूमि पर; दिवः—आकाश से; च्युतम्—गिरे हुए; इव—सदृश; अमरम्—देवता; प्रणेमुः—प्रणाम किया; पाण्डवाः—पाण्डु-पुत्रों ने; भीष्मम्—भीष्म को; स-अनुगाः—अपने छोटे भाइयों सहित; सह—सहित; चक्रिणा—चक्रधारी भगवान्।

आकाश से आ गिरे देवता के समान उन्हें (भीष्मदेव को) भूमि पर लेटे देखकर पाण्डव-सम्राट युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाइयों तथा भगवान् कृष्ण समेत उन्हें प्रणाम किया ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण भी महाराज युधिष्ठिर के ममेरे भाई तथा अर्जुन के अन्तरंग सखा थे । लेकिन सारा पाण्डव-परिवार कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता था । भगवान् को, यद्यपि अपने परम पद का आभास रहता था, तो भी वे मनुष्य की तरह आचरण करते थे, अतएव उन्होंने भी मरणासन्न भीष्मदेव को अपने को राजा युधिष्ठिर का छोटा भाई मानकर प्रणाम किया ।

तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम ।

राजर्षयश्च तत्रासन् द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ब्रह्म-ऋषयः—ब्राह्मणों में ऋषि; सर्वे—समस्त; देव-ऋषयः—देवताओं में ऋषि; च—तथा; सत्तम—सतोगुण को प्राप्त; राज-ऋषयः—राजाओं में ऋषि; च—तथा; तत्र—उस स्थान पर; आसन्—उपस्थित थे; द्रष्टुम्—देखने के लिए; भरत—राजा भरत के वंशजों में; पुङ्गवम्—प्रधान को ।

राजा भरत के वंशजों में प्रधान (भीष्म) को देखने के लिए ब्रह्माण्ड के सारे सतोगुणी महापुरुष, यथा देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि वहाँ पर एकत्र हुए थे ।

तात्पर्य : ऋषि वे हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक उपलब्धि द्वारा पूर्णता प्राप्त की है । ऐसी आध्यात्मिक उपलब्धि कोई भी अर्जित कर सकता है, चाहे वह राजा हो या साधु हो । भीष्मदेव स्वयं ब्रह्मर्षि थे और राजा भरत के वंशजों में प्रमुख थे । सारे ऋषि सतोगुणी होते हैं । वे सभी महान योद्धा की आसन्न मृत्यु का समाचार सुनकर वहाँ एकत्र हुए थे ।

पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः ।

बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ॥ ६ ॥

वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।

कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

पर्वतः—पर्वत मुनि; नारदः—नारद मुनि; धौम्यः—धौम्य; भगवान्—ईश्वर के अवतार; बादरायणः—व्यासदेव;
 बृहदश्वः—बृहदश्व; भरद्वाजः—भरद्वाज; स-शिष्यः—अपने शिष्यों सहित; रेणुका-सुतः—परशुराम; वसिष्ठः—वशिष्ठ;
 इन्द्रप्रमदः—इन्द्रप्रमद; त्रितः—त्रित; गृत्समदः—गृत्समद; असितः—असित; कक्षीवान्—कक्षीवान्; गौतमः—गौतम;
 अत्रिः—अत्रि; च—तथा; कौशिकः—कौशिक; अथ—तथा; सुदर्शनः—सुदर्शन।

पर्वत मुनि, नारद, धौम्य, ईश्वर के अवतार व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम तथा उनके शिष्य, वसिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, कौशिक तथा सुदर्शन जैसे सारे ऋषि वहाँ उपस्थित थे।

तात्पर्य : पर्वत मुनि सबसे ज्येष्ठ मुनि माने जाते हैं। वे नारद मुनि के लगभग निरन्तर संगी होते हैं। वे अन्तरिक्ष यात्री भी हैं, जो किसी भौतिक यान की सहायता के बिना वायु में यात्रा करने में समर्थ हैं। पर्वत मुनि भी नारद के समान ही देवर्षि अर्थात् देवताओं में महान ऋषि हैं। वे महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय के यज्ञ के समय नारद के साथ उपस्थित थे। इस यज्ञ में विश्व के सारे सर्पों का विनाश किया जाना था। पर्वत मुनि तथा नारद मुनि गंधर्व भी कहलाते हैं, क्योंकि वे भगवान् की महिमा का गायन करते हुए आकाश में विचरण कर सकते हैं। चूँकि वे आकाश में विचरण कर सकते हैं, अतएव उन्होंने वहीं से द्रौपदी का स्वयंवर (पति का चुनाव) देखा था। नारद मुनि की भाँति पर्वत मुनि भी स्वर्ग में राजा इन्द्र के दरबार में जाया करते थे। गंधर्व के रूप में वे कभी-कभी एक महत्त्वपूर्ण देवता कुबेर के राज-दरबार में जाते थे। एक बार नारद तथा पर्वत दोनों के ही सामने महाराज सृञ्जय की पुत्री के कारण समस्या आ खड़ी हुई। महाराज सृञ्जय को पर्वत मुनि के वरदान से पुत्र-लाभ हुआ।

नारद मुनि का पुराणों की कथाओं से अनिवार्य सम्बन्ध है। उनका वर्णन भागवतम् में हुआ है। अपने पूर्वजन्म में वे एक दासी के पुत्र थे, लेकिन शुद्ध भक्तों की संगति से उनमें भक्ति जगी और अगले जन्म में वे अद्वितीय सिद्ध पुरुष बने। महाभारत में उनके नाम का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। वे प्रमुख देवर्षि हैं। वे ब्रह्माजी के पुत्र तथा शिष्य हैं और उन्हीं से ब्रह्मा के आगे की शिष्य-परम्परा चलती है। उन्होंने प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा अनेक विख्यात भगवद्भक्तों को दीक्षित किया। यहाँ तक कि उन्होंने वैदिक ग्रंथों के प्रणेता व्यासदेव को भी दीक्षा दी।

व्यासदेव से ही मध्वाचार्य को दीक्षा मिली और इस प्रकार मध्व-सम्प्रदाय जिसमें गौड़ीय सम्प्रदाय भी सम्मिलित है, सारे ब्रह्माण्ड में फैल गया। श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध इसी मध्व सम्प्रदाय से था। अतएव ब्रह्माजी, नारद, व्यास से लेकर मध्व, चैतन्य तथा षड् गोस्वामी—ये सारे एक ही शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित थे। नारद जी ने अनादि काल से अनेक राजाओं को दीक्षा दी। *भागवत* में हम उन्हें प्रह्लाद महाराज को माता के गर्भ में उपदेश देते पाते हैं। उन्होंने कृष्ण के पिता वसुदेव तथा महाराज युधिष्ठिर को भी उपदेश दिया था।

धौम्य—ये एक महान ऋषि थे, जिन्होंने उत्कोचक तीर्थ में कठिन तपस्या की और उन्हें पाण्डव राजाओं के राजपुरोहित के रूप में नियुक्त किया गया। उन्होंने पाण्डवों के अनेक संस्कारों में पुरोहिताई की और द्रौपदी की सगाई के समय उन्होंने हरेक पाण्डव का संस्कार कराया। वे पाण्डवों के वनवास के समय भी उपस्थित थे और जब भी उन्हें कोई कठिनाई होती, तो वे उन्हें परामर्श दिया करते थे। उन्होंने उपदेश दिया था कि किस प्रकार एक वर्ष तक अज्ञातवास किया जाय और पाण्डवों ने उनके उपदेश का कठोरता से पालन किया था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद जब सामूहिक अंतिम संस्कार सम्पन्न हुआ, तो भी उनका नाम आता है। *महाभारत* के अनुशासन पर्व (१२७.१५-१६) में उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को अत्यन्त विस्तृत धार्मिक उपदेश दिया है। वास्तव में वे गृहस्थों के लिए उपयुक्त पुरोहित थे, क्योंकि वे पाण्डवों को धर्म के उचित पथ पर मार्गदर्शन कर सके। पुरोहित का कार्य गृहस्थ को *आश्रम धर्म* या किसी वर्णविशेष की वृत्ति के समुचित मार्ग पर क्रमशः अग्रसर कराना है। एक कुल-पुरोहित तथा आध्यात्मिक गुरु में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। ऋषि, मुनि, सन्त तथा ब्राह्मण ऐसे ही कार्यों के लिये हुआ करते थे।

बादरायण (व्यासदेव)—वे कृष्ण, कृष्ण द्वैपायन, द्वैपायन, सत्यवती-सुत, पाराशर्य, पराशरात्मज, बादरायण, वेदव्यास आदि नामों से विख्यात हैं। वे महान सेनापति पितामह भीष्मदेव के पिता महाराज शन्तनु से, उनकी माता सत्यवती की सगाई होने के पूर्व ही, उनके गर्भ से महामुनि पराशर के पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए थे। वे नारायण के शक्त्यावेश अवतार हैं और वे सारे विश्व में वैदिक ज्ञान का प्रसार करते हैं। इसलिये जब किसी वैदिक ग्रंथ का, विशेष रूप से पुराणों

का पारायण करना होता है, तब व्यासदेव को नमस्कार किया जाता है। शुकदेव गोस्वामी इनके पुत्र थे और वेदों की विभिन्न शाखाओं के लिये नियुक्त वैशम्पायन जैसे ऋषि, उनके शिष्य थे। वे महाकाव्य *महाभारत* तथा परम दिव्य ग्रंथ *भागवत* के रचनाकार हैं। उन्होंने *ब्रह्म-सूत्र-वेदान्त सूत्र* या *बादरायण-सूत्र* का संकलन किया था। अपनी कठिन तपस्या के कारण वे ऋषियों में सर्वाधिक सम्मानित रचनाकार हैं। उन्होंने कलियुग की जनता के कल्याणार्थ जब अपने महाकाव्य *महाभारत* को लिखाना चाहा, तब उन्हें ऐसे समर्थ लिपिक की आवश्यकता हुई, जो उनके श्रुत-लेख को लिखता जाय। ब्रह्माजी के आदेश से श्रीगणेशजी ने यह कार्य इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि व्यासदेव एक क्षण भी रुकेंगे नहीं। इस प्रकार व्यास तथा गणेश के संयुक्त प्रयास से *महाभारत* संकलित हुआ।

अपनी माता सत्यवती के आदेश से, जो बाद में शन्तनु से ब्याही गई, तथा महाराज शन्तनु की प्रथम पत्नी गंगा से उत्पन्न शन्तनु के सबसे बड़े पुत्र भीष्मदेव के अनुरोध से व्यासदेव ने तीन मेधावी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर। व्यासदेव ने कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद तथा *महाभारत* के सारे योद्धाओं की मृत्यु के बाद *महाभारत* का संकलन किया। सर्वप्रथम महाराज परीक्षित के पुत्र महाराज जनमेजय के राज-दरबार में इसे सुनाया गया।

बृहदश्व—ये एक प्राचीन मुनि थे, जो महाराज युधिष्ठिर से यदा-कदा मिला करते थे। सर्वप्रथम वे महाराज युधिष्ठिर से काम्यवन में मिले थे। इन्होंने ही महाराज नल की कथा सुनाई थी। एक अन्य बृहदश्व भी थे, जो इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुए थे (*महाभारत, वन-पर्व, २०९.४-५*)।

भरद्वाज—ये महान सप्तर्षियों में से एक थे और अर्जुन के जन्मोत्सव के समय उपस्थित थे। इस शक्तिशाली ऋषि ने कभी गंगा के तट पर कठिन तपस्या की थी और इनका आश्रम आज भी प्रयाग धाम में विख्यात है। ऐसा कहा जाता है कि जब ये ऋषि गंगा में स्नान कर रहे थे, तो स्वर्ग की एक सुन्दर अप्सरा घृतची से इनकी भेंट हुई। इस कारण से इनका वीर्य स्खलित हुआ, जिसे एक मिट्टी के बर्तन में सुरक्षित रख दिया गया, जिससे द्रोण उत्पन्न हुए। इस तरह द्रोणाचार्य

भरद्वाज मुनि के पुत्र थे। कुछ लोग द्रोण के पिता भरद्वाज को इन महर्षि भरद्वाज से भिन्न मानते हैं। ये ब्रह्मा के महान भक्त थे। ये एक बार द्रोणाचार्य के पास भी गये और इन्होंने उनसे कुरुक्षेत्र-युद्ध बन्द करने का आग्रह किया।

परशुराम या रेणुकासुत—ये महर्षि जमदग्नि तथा श्रीमती रेणुका के पुत्र थे। इस तरह वे रेणुका-सुत भी कहलाते हैं। वे ईश्वर के शक्तिशाली अवतारों में से एक थे और उन्होंने क्षत्रिय-वंश का इक्कीस बार संहार किया था। उन्होंने क्षत्रियों के रक्त से अपने पूर्वजों की आत्माओं को प्रसन्न किया। बाद में उन्होंने महेन्द्र पर्वत पर घोर तपस्या की। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रियों से छीन कर, उसे कश्यप मुनि को दान में दे दिया। परशुराम ने द्रोणाचार्य को धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की, क्योंकि वे ब्राह्मण थे। वे महाराज युधिष्ठिर के राजतिलक के समय उपस्थित थे और अन्य महान ऋषियों के साथ इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे।

परशुराम की आयु इतनी अधिक थी कि वे विभिन्न युगों में राम तथा कृष्ण दोनों से मिले थे। उन्होंने राम से युद्ध किया था, लेकिन कृष्ण को उन्होंने भगवान् के रूप में स्वीकार किया था। उन्होंने जब अर्जुन को कृष्ण के साथ देखा, तो उसकी प्रशंसा भी की थी। जब भीष्म ने विवाह की इच्छुक अम्बा से विवाह करने से इनकार कर दिया था, तो अम्बा परशुराम से मिली थी और उसकी प्रार्थना पर उन्होंने भीष्मदेव से उसे पत्नी-रूप स्वीकार करने के लिये कहा था। अपने गुरु होते हुए भी भीष्मदेव ने उनकी बात नहीं मानी थी। अतः परशुराम ने उनसे युद्ध किया था। दोनों में घमासान युद्ध हुआ और अन्त में परशुराम भीष्म से प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको विश्व का सबसे बड़ा योद्धा होने का वरदान दिया था।

वसिष्ठ—ये ब्राह्मणों में सबसे विख्यात ऋषि थे और ब्रह्मर्षि वसिष्ठदेव कहलाते थे। वे *रामायण* तथा *महाभारत* दोनों ही कालों के विख्यात व्यक्तित्व थे। उन्होंने भगवान् श्रीराम का राजतिलक सम्पन्न कराया था और वे कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी उपस्थित थे। वे समस्त उच्च लोकों तथा अधोलोकों में जा सकते थे और उनका नाम हिरण्यकशिपु के इतिहास के साथ भी जुड़ा हुआ है। विश्वामित्र तथा उनके बीच बहुत तनाव उत्पन्न हुआ था, क्योंकि विश्वामित्र उनकी

कामधेनु गाय लेना चाहते थे। जब वसिष्ठ मुनि ने अपनी कामधेनु देने से इनकार कर दिया, तो विश्वामित्र ने इनके सौ पुत्रों को मार डाला। एक पूर्ण ब्राह्मण होने के नाते वे विश्वामित्र के सारे व्यंग्य सहते रहे। एक बार तो विश्वामित्र के प्रताड़नों से ऊबकर उन्होंने आत्महत्या भी करनी चाही, किन्तु उनकेवे ऐसा कर नहीं पाये। वे पर्वत से कूदे, किन्तु वे जिन पत्थरों पर गिरे, वे रुई के ढेर बन गये और वे बच गये। वे समुद्र में भी कूदे, किन्तु लहरों ने उन्हें पुनः किनारे पर ला दिया। वे नदी में भी कूदे, लेकिन नदी ने उन्हें पुनः किनारे पर ला दिया। इस प्रकार उनके आत्महत्या के सारे प्रयास विफल रहे। वे सप्तर्षियों में से एक हैं और ये सुप्रसिद्ध नक्षत्र अरुन्धती के पति हैं।

इन्द्रप्रमद—ये एक अन्य विख्यात ऋषि हैं।

त्रित—वे प्रजापति गौतम के तीन पुत्रों में से एक थे। पुत्रों में वे तीसरे थे और उनके अन्य भाइयों के नाम एकत और द्वित थे। ये सभी भाई महान ऋषि थे और धर्म के चुस्त पालक थे। कठोर तपस्या के बल पर वे ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए थे। एक बार त्रित मुनि कुँएँ में भी गिर गये। वे अनेक यज्ञों के व्यवस्थापक थे और महर्षि के रूप में मृत्यु-शय्या पर पड़े भीष्मदेव को अपना सम्मान प्रदर्शित करने वे भी आये थे। वे वरुणलोक के सप्तर्षियों में से एक थे। वे विश्व के पाश्चात्य देशों के रहनेवाले थे। अतः, सम्भवतः वे यूरोपीय देशों के निवासी थे। उस समय सारा जगत एक ही वैदिक संस्कृति के अधीन था।

गृत्समद—स्वर्ग के एक ऋषि। वे स्वर्ग के राजा इन्द्र के घनिष्ठ मित्र थे और वृहस्पति के समान ही महान् थे। महाराज युधिष्ठिर के दरबार में उनका आना जाना रहता था और उस स्थान पर भी वे गये, जहाँ भीष्मदेव ने अपनी अंतिम श्वास ली। कभी-कभी वे महाराज युधिष्ठिर के समक्ष शिवजी का गुणानुवाद किया करते थे। वे वीतहव्य के पुत्र थे और देखने में इन्द्र की आकृति से मिलते-जुलते थे। कुछ बार इन्द्र के शत्रुओं ने उन्हें इन्द्र समझ कर बन्दी बना लिया था। वे ऋग्वेद के विद्वान् थे और ब्राह्मणों द्वारा उन्हें अत्यधिक सम्मान दिया जाता था। उन्होंने ब्रह्मचर्य-जीवन बिताया और वे सभी प्रकार से शक्तिसम्पन्न थे।

असित—इसी नाम का एक राजा भी हुआ है, लेकिन यहाँ पर असित का नाम असित देवल ऋषि के लिए प्रयुक्त है, जो अपने समय के शक्तिसम्पन्न ऋषि थे। उन्होंने *महाभारत* के पन्द्रह लाख श्लोकों की व्याख्या अपने पिता को सुनाई। वे जनमेजय के नाग-यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। वे अन्य महर्षियों के साथ महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में भी उपस्थित थे। जब महाराज युधिष्ठिर अञ्जन पर्वत पर थे, तो इन्होंने उन्हें उपदेश भी दिया था। वे शिवजी के भी भक्त थे।

कक्षीवान्—गौतम मुनि के पुत्रों में से एक तथा महर्षि चन्दकौशिक के पिता थे। वे महाराज युधिष्ठिर की संसद के सदस्य थे।

अत्रि—अत्रि मुनि महान ब्राह्मण ऋषि थे और ब्रह्माजी के मानसपुत्र थे। ब्रह्माजी इतने शक्तिमान हैं कि चिन्तन मात्र से पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं। ये पुत्र *मानसपुत्र* कहलाते हैं। अत्रि, ब्रह्माजी के सप्त *मानसपुत्रों* तथा सप्त ब्रह्मर्षियों में से एक थे। उन्हीं के परिवार में महान् प्रचेतागण भी उत्पन्न हुए थे। अत्रि मुनि के दो *क्षत्रिय* पुत्र थे और दोनों ही राजा बने, जिनमें से एक का नाम राजा अर्थम था। इक्कीस प्रजापतियों में इनकी भी गणना की जाती है। इनकी पत्नी का नाम अनसूया था। इन्होंने महाराज परीक्षित के महान् यज्ञों में उनकी सहायता की थी।

कौशिक—महाराज युधिष्ठिर के राज-दरबार के स्थायी ऋषि सदस्य थे। ये कभी-कभी भगवान् कृष्ण से भी मिलते रहते थे। इसी नाम के अनेक अन्य ऋषि हुए हैं।

सुदर्शन—यह सर्वाधिक शक्तिशाली अस्त्र है, यहाँ तक कि ब्रह्मास्त्र या अन्य विध्वंसक अस्त्रों से भी यह श्रेष्ठ है और इस चक्र को भगवान् ने (विष्णु या कृष्ण ने) अपने अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था। किन्हीं-किन्हीं वैदिक ग्रंथों में कहा गया है कि अग्निदेव ने यह अस्त्र श्रीकृष्ण को प्रदान किया था, लेकिन सच्चाई तो यह है कि भगवान् इस अस्त्र को निरन्तर धारण किये रहते हैं। अग्निदेव ने यह अस्त्र श्रीकृष्ण को उसी प्रकार अर्पित किया, जिस प्रकार महाराज रुक्म ने उन्हें अपनी पुत्री रुक्मिणी प्रदान की थी। भगवान् अपने भक्तों की ऐसी भेंटें स्वीकार करते रहते हैं, यद्यपि ये उन्हीं की नित्य सम्पत्ति हैं। *महाभारत* के *आदिपर्व* में इस सुदर्शन अस्त्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। भगवान् कृष्ण ने इसका उपयोग अपने प्रतिद्वंद्वी शिशुपाल के वध के लिये

किया। उन्होंने इसी के द्वारा शाल्व का भी वध किया और कभी कभी उन्होंने चाहा था कि अर्जुन अपने शत्रुओं का संहार करने के लिये इस चक्र का प्रयोग करे (*महाभारत, विराट पर्व* ५६.३)।

अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।

शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य कई; च—भी; मुनयः—मुनिगण; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; ब्रह्मरात—शुकदेव गोस्वामी; आदयः—इत्यादि; अमलाः—पूर्ण रूप से शुद्ध; शिष्यैः—शिष्यों के द्वारा; उपेताः—साथ-साथ; आजग्मुः—आये; कश्यप—कश्यप; आङ्गिरस—आंगिरस; आदयः—आदि।

तथा शुकदेव गोस्वामी एवं अन्य पवित्रात्माएँ, कश्यप, आंगिरस इत्यादि अपने-अपने शिष्यों के साथ वहाँ पर आये।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी (ब्रह्मरात) : ये व्यासदेव के प्रख्यात पुत्र तथा शिष्य थे, जिन्हें उन्होंने सर्वप्रथम *महाभारत* तथा उसके बाद *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा दी। शुकदेव गोस्वामी ने गन्धर्वों, यक्षों तथा राक्षसों की सभा में *महाभारत* के चौदह लाख श्लोक सुनाये थे और *श्रीमद्भागवत* सर्वप्रथम महाराज परीक्षित को सुनाया। उन्होंने अपने पिता से सारे वैदिक साहित्य का पूरी तरह अध्ययन किया। इस प्रकार धर्म-सम्बन्धी अपने विस्तृत ज्ञान के कारण वे पूर्ण पवित्रात्मा थे। *महाभारत* के सभापर्व (४.११) से ज्ञात होता है कि ये महाराज युधिष्ठिर की राजसभा में तथा महाराज परीक्षित के उपवास के समय भी उपस्थित हुए थे। श्री व्यासदेव के प्रामाणिक शिष्य होने के नाते ये अपने पिता से धार्मिक सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक मूल्यों के विषय में जिज्ञासाएँ करते रहते थे। इनके पिता ने इन्हें योग-पद्धति सिखलाई, जिससे वैकुण्ठ प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने कर्म तथा ज्ञान का अन्तर, आत्म-साक्षात्कार करने के साधन, चारों आश्रम (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास आश्रम), पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दिव्य पद, उनके साक्षात् दर्शन करने की विधि, ज्ञान प्राप्त करनेवाला सुपात्र, पाँच तत्त्व, बुद्धि की अद्वितीय स्थिति, प्रकृति की चेतना तथा जीव, स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लक्षण, शरीर के सिद्धान्त, प्रकृति के गुणों के लक्षण, कल्पतरु तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों के विषय में शिक्षा दी। कभी-कभी

वे अपने पिता तथा नारदजी की अनुमति से सूर्यलोक भी जाया करते थे। *महाभारत* के *शान्ति-पर्व* (३३२) में उनकी अन्तरिक्ष-यात्रा का विवरण प्राप्त है। अन्त में उन्हें परम धाम की प्राप्ति हुई। वे अरण्य, अरुणिसुत, वैयासकि तथा व्यासात्मज इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं।

कश्यप—वे मरीचि के पुत्र, प्रजापतियों में से एक तथा प्रजापति दक्ष के दामाद थे। वे उस विराट गरुड़ पक्षी के पिता हैं, जिसे खाने के लिए बड़े-बड़े हाथियों तथा कछुओं को परोसा जाता था। उन्होंने प्रजापति दक्ष की तेरह पुत्रियों से विवाह किया। उनके नाम थे—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्ठा, सुरसा, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा तथा तिमि। इन पत्नियों से उनके अनेक पुत्र हुए, जो देवता तथा असुर दोनों थे। उनकी प्रथम पत्नी अदिति से बारहों आदित्य उत्पन्न हुए थे, जिनमें से वामन ईश्वर के अवतार हैं। ये कश्यप मुनि अर्जुन के जन्म के समय भी विद्यमान थे। परशुराम ने इन्हें सारा विश्व भेंट किया और बाद में इन्होंने परशुराम को विश्व के बाहर जाने की आज्ञा दी। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि था। ये ब्रह्माण्ड की उत्तरी दिशा में निवास करते हैं।

आङ्गिरस—ये महर्षि अंगिरा के पुत्र हैं और देवताओं के पुरोहित, बृहस्पति नाम से विख्यात हैं। कहा जाता है कि द्रोणाचार्य इनके अंश-अवतार थे। शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे और बृहस्पति ने उन्हें ललकारा था। उनके पुत्र कच ने सर्वप्रथम भरद्वाज मुनि को अग्न्यास्त्र प्रदान किया। उन्हें अपनी पत्नी चन्द्रमासी से, जो कि एक विख्यात नक्षत्र है, अग्नि देव के समान छह पुत्र प्राप्त हुए। वे अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते थे, अतएव ब्रह्मलोक तथा इन्द्रलोक में भी जा सकते थे। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र को असुरों पर विजय प्राप्त पाने के लिए सलाह दी। एक बार उन्होंने इन्द्र को श्राप दिया, जिससे उसे पृथ्वी पर शूकर बनकर आना पड़ा। वह स्वर्ग वापस जाने से अनिच्छा व्यक्त करने लगे। माया की आकर्षण शक्ति ऐसी होती है कि शूकर भी, धरा के घर-द्वार को छोड़ना नहीं चाहता, भले ही बदले में स्वर्ग मिलता हो। वे विभिन्न लोकवासियों के धर्मोपदेशक थे।

तान् समेतान् महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः ।

पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन सभी; समेतान्—समवेत; महा-भागान्—अत्यन्त शक्तिशाली पुरुषों को; उपलभ्य—पाकर; वसु-उत्तमः—वसुओं में श्रेष्ठ (भीष्मदेव ने); पूजयाम् आस—स्वागत किया; धर्म-ज्ञः—धर्म का ज्ञाता; देश—स्थान; काल—समय; विभाग-वित्—जो देश-काल के अनुसार अपने को समंजित कर लेता है ।

आठ वसुओं में सर्वश्रेष्ठ भीष्मदेव ने वहाँ पर एकत्र हुए समस्त महान् तथा शक्तिसम्पन्न ऋषियों का स्वागत किया, क्योंकि भीष्मदेव को देश तथा काल के अनुसार समस्त धार्मिक नियमों की भलीभाँति जानकारी थी ।

तात्पर्य : पटु धर्मज्ञ भलीभाँति जानते हैं कि किस प्रकार देश-काल के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों को समंजित करना चाहिए। सारे महान् आचार्यों अथवा धर्मोपदेशकों अथवा विश्व के सुधारकों ने देश-काल के अनुसार धार्मिक नियमों को समंजित करके ही अपने उद्देश्य को पूरा किया। विश्व के विभिन्न भागों में तरह-तरह की जलवायु तथा परिस्थितियाँ हैं और यदि किसी को भगवान् के संदेश का उपदेश करना है, तो उसे देश-काल के अनुसार बातें समंजित करने में पटु होना चाहिए। भीष्मदेव इस भक्ति सम्प्रदाय का उपदेश करनेवाले बारह महाजनों में से एक थे, अतएव वे ब्रह्माण्ड के कोने-कोने से आये शक्तिशाली ऋषियों का स्वागत तथा सम्मान अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े कर सकते थे। निस्संदेह वे उस समय उनका स्वागत-सम्मान स्वयं उठकर कर पाने में शरीर से असमर्थ थे, क्योंकि उस समय वे न तो घर पर थे न सामान्य रूप से स्वस्थ अवस्था में थे। लेकिन वे अपने मस्तिष्क के सुचारु रूप से कार्य करने से बिलकुल चुस्त थे और वे हार्दिक मृदु वचन बोल सके। इसीलिए सभी आगन्तुकों का ठीक से सत्कार हो पाया। मनुष्य मन से, वाणी से तथा कर्म से अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है। वे भलीभाँति जानते थे कि उनका किस तरह समुचित स्थान पर उपयोग करना चाहिए। अतएव शारीरिक रूप से असमर्थ होने पर भी उन्हें लोगों का सत्कार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।

हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कृष्णम्—भगवान् श्रीकृष्ण को; च—भी; तत्—उनका; प्रभाव-ज्ञः—महिमा को जाननेवाले (भीष्म); आसीनम्—बैठे हुए; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; हृदि-स्थम्—हृदय में आसीन; पूजयाम् आस—पूजा; मायया—अन्तरंगा शक्ति के द्वारा; उपात्त—प्रकट; विग्रहम्—स्वरूप को ।

भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक के हृदय में आसीन हैं, तो भी वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से अपना दिव्य रूप प्रकट करते हैं। ऐसे भगवान् साक्षात् भीष्मदेव के समक्ष बैठे हुए थे। और चूँकि भीष्मदेव उनकी महिमा से परिचित थे, अतएव उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा की।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन प्रत्येक स्थान में उनकी उपस्थिति द्वारा होता है। वे अपने नित्य धाम गोलोक वृन्दावन में सदैव उपस्थित रहते हैं, तो भी वे जन-जन के हृदय में, यहाँ तक कि प्रत्येक अदृश्य परमाणु के भीतर भी स्थित रहते हैं। जब वे इस भौतिक जगत में अपने नित्य दिव्य रूप को व्यक्त करते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से ऐसा करते हैं। बहिरंगा शक्ति या माया का इस नित्य रूप से कोई सरोकार नहीं होता। ये सारी बातें श्री भीष्मदेव को ज्ञात थीं, अतएव उन्होंने तदनुसार ही उनकी पूजा की।

पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् ।

अभ्याचष्टानुरागाश्चैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पाण्डु—महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों के दिवंगत पिता के; पुत्रान्—पुत्रों को; उपासीनान्—पास ही शान्त बैठे हुए; प्रश्रय—अभिभूत; प्रेम—प्रेमभाव में; सङ्गतान्—एकत्र हुए; अभ्याचष्ट—बधाई दी; अनुराग—प्रेमपूर्वक; अश्रैः—आनन्दाश्रुओं द्वारा; अन्धीभूतेन—आप्लावित; चक्षुषा—नेत्रों से।

पास ही महाराज पाण्डु के सारे पुत्र शान्त बैठे थे और अपने मरणासन्न पितामह के प्रेम से अभिभूत थे। यह देखकर भीष्मदेव ने उन्हें भावपूर्ण बधाई दी। उनके नेत्रों में आनन्दाश्रु थे, क्योंकि वे प्रेम तथा स्नेह से आप्लावित हो गये थे।

तात्पर्य : जब महाराज पाण्डु का निधन हुआ, तो उनके सारे पुत्र छोटे बालक थे। अतएव स्वाभाविक था कि वे राज-परिवार के ज्येष्ठजनों के, विशेष रूप से भीष्मदेव के, लाड़-प्यार में पले थे। बाद में जब पाण्डव बड़े हो गये, तो वे धूर्त दुर्योधन तथा उसकी टोली द्वारा ठगे गये।

यद्यपि भीष्मदेव जानते थे कि पाण्डव निर्दोष थे और उन्हें व्यर्थ ही कष्ट दिये जा रहे थे, फिर भी राजनीतिक कारणों से वे पाण्डवों का पक्ष नहीं ले पा रहे थे। अपने अन्तिम समय में जब भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर समेत अपने यशस्वी पौत्रों को अपनी बगल में बैठे हुए देखा, तो महायोद्धा पितामह अपने प्रेमाश्रुओं को रोक न सके, उनकी आँखों से अश्रु स्वतः छलछला रहे थे। उन्होंने अपने अत्यंत पवित्र पौत्रों द्वारा भोगे गये महान कष्टों का स्मरण किया। निश्चय ही वे सर्वाधिक संतुष्ट व्यक्ति थे, क्योंकि दुर्योधन के स्थान पर युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठने जा रहे थे। इसीलिए उन्होंने उन सबों को बधाई दी।

अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्वयं धर्मनन्दनाः ।

जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अहो—अहो; कष्टम्—कितना कष्ट; अहो—ओह; अन्याय्यम्—कितना अन्याय; यत्—क्योंकि; ययम्—तुम सभी; धर्म-नन्दनाः—साक्षात् धर्म के पुत्र; जीवितुम्—जीवित रहने के लिए; न—कभी नहीं; अर्हथ—योग्य हो; क्लिष्टम्—कष्ट; विप्र—ब्राह्मण; धर्म—धर्म; अच्युत—ईश्वर द्वारा; आश्रयाः—सुरक्षित होकर।

भीष्मदेव ने कहा : ओह, तुम लोगों ने, साक्षात् धर्म के पुत्र होते हुए भी, कितनी यातनाएँ तथा कितना अन्याय सहा है। उन कष्टों के अन्तर्गत तुम सबको जीवित रहने की आशा न थी, फिर भी ब्राह्मणों, ईश्वर तथा धर्म ने तुम्हारी रक्षा की है।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र युद्ध के महान नरसंहार से अत्यन्त विचलित थे। भीष्मदेव यह समझ गये। इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम महाराज युधिष्ठिर की घोर विपत्तियों का उल्लेख किया। वे अन्याय के कारण ही इस कठिनाई में पड़े थे और कुरुक्षेत्र का युद्ध इसी अन्याय के विरोध में लड़ा गया था। इसीलिए उन्हें इस घोर नरसंहार के लिए शोक नहीं करना चाहिए था। वे पाण्डवों को विशेष तौर पर यह बताना चाह रहे थे कि वे लोग सदा ही ब्राह्मणों, भगवान् तथा धर्म द्वारा रक्षित होते रहे हैं। अतएव जब तक वे इन तीनों महत्त्वपूर्ण साधनों के द्वारा सुरक्षित हैं, तब तक निराश होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार भीष्मदेव ने महाराज को उनकी निराशा मिटाने के लिए प्रोत्साहित किया। जब तक कोई मनुष्य भगवान् की इच्छा के साथ

पूरा तालमेल बनाए रखता है, प्रामाणिक ब्राह्मणों तथा वैष्णवों द्वारा निर्देशित होता है और धार्मिक सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करता है, तब तक उसके निराश होने का कोई कारण नहीं है, भले ही जीवन की परिस्थितियाँ कितनी ही विषम क्यों न हों। इस परम्परा में एक महान् सत्ता होने के नाते भीष्मदेव पाण्डवों को यह बात समझाना चाहते थे।

संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः ।

युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संस्थिते—मृत्यु के बाद; अति-रथे—महान् सेनानायक; पाण्डौ—पाण्डु की; पृथा—कुन्ती; बाल-प्रजा—छोटे-छोटे बच्चों वाले; वधूः—मेरी पुत्रवधू; युष्मत्-कृते—तुम्हारे कारण; बहून्—अनेक; क्लेशान्—कष्टों को; प्राप्ता—भोगकर; तोक-वती—बड़े-बड़े बालकों के होने पर भी; मुहुः—निरन्तर।

जहाँ तक मेरी पुत्रवधू कुन्ती का सम्बन्ध है, वह महान् सेनापति पाण्डु की मृत्यु होने पर अनेक सारे बच्चों के साथ विधवा हो गई और इस के कारण उसने घोर कष्ट सहे। और अब जब तुम लोग बड़े हो गये हो, तो भी वह तुम्हारे कर्मों के कारण काफी कष्ट उठा रही है।

तात्पर्य : कुन्तीदेवी के कष्टों पर दुगुना शोक प्रकट किया जा रहा है। कम आयु में विधवा हो जाने तथा राज-परिवार में अपने छोटे छोटे बच्चों के पालन-पोषण करने में उसे अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा। और जब उसके बच्चे बड़े हो गये, तो उनकी करनी से उसे कष्ट उठाना पड़ रहा था। अतएव उसके कष्ट जैसे के तैसे बने हुए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि विधाता के द्वारा कष्ट झेलना उसके भाग्य में लिखा हुआ था और विचलित हुए बिना इसको सहना पड़ा।

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् ।

सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—यह सब; काल-कृतम्—काल द्वारा किया गया; मन्ये—मैं सोचता हूँ; भवताम् च—तुम्हारे लिए भी; यत्—जो भी; अप्रियम्—अप्रिय; स-पालः—शासकों समेत; यत्-वशे—उस काल के वशीभूत; लोकः—प्रत्येक लोक में सभी लोग; वायोः—वायु ले जाती है; इव—सदृश; घन-आवलिः—बादलों का समूह।

मेरे विचार से यह सब प्रबल काल के कारण हुआ है, जिसके वशीभूत होकर हर कोई व्यक्ति प्रत्येक लोक में मारा मारा फिरता है, जिस प्रकार वायु द्वारा बादल इधर से उधर ले जाये जाते हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के भीतर सारे अन्तरिक्ष में काल का नियन्त्रण उसी तरह है, जिस प्रकार सारे लोकों में उसका नियंत्रण है। सारे बड़े-बड़े ग्रह, जिनमें सूर्य भी सम्मिलित है, वायु के बल के द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित हैं, जिस प्रकार वायु के वेग से बादल इधर से उधर ले जाये जाते हैं। इसी प्रकार अपरिहार्य काल वायु तथा अन्य तत्त्वों की क्रिया को भी नियन्त्रित करनेवाला है। अतएव प्रत्येक वस्तु सर्वोपरि काल द्वारा नियन्त्रित है, जो इस भौतिक जगत के अन्दर भगवान् का सबसे शक्तिशाली प्रतिनिधि है। अतएव युधिष्ठिर को इस काल की अकल्पनीय क्रिया से दुखी नहीं होना चाहिए। मनुष्य जब तक इस भौतिक संसार की स्थितियों में रहता है, तब तक उसे काल की क्रिया-प्रतिक्रियाओं को सहन करना होता है। युधिष्ठिर को यह नहीं सोचना चाहिए कि उन्होंने पिछले जन्म में पाप किया था, जिसका परिणाम उन्हें भोगना पड़ रहा है। बड़े-से-बड़े पुण्यात्मा को भी भौतिक प्रकृति की दशाओं को भोगना पड़ता है। लेकिन पुण्यात्मा भगवान् के प्रति श्रद्धावान् होता है, क्योंकि वह प्रामाणिक ब्राह्मण तथा धर्मात्मा वैष्णव द्वारा निर्देशित होता है। इन तीन पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों को ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। मनुष्य को शाश्वत काल की चालों से विचलित नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड के महान नियन्ता, ब्रह्माजी भी काल के वश में हैं, अतएव धार्मिक सिद्धान्तों का असली पालक होने के बावजूद भी मनुष्य को काल द्वारा नियन्त्रित होने के कारण क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।

कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; धर्म—सुतः—धर्मराज का पुत्र; राजा—राजा; गदा—पाणिः—हाथ में शक्तिशाली गदा धारण करनेवाला; वृकोदरः—भीम; कृष्णः—अर्जुन; अस्त्री—अस्त्र धारण करनेवाला; गाण्डिवम्—गाण्डीव को; चापम्—धनुष; सुहृत्—शुभेच्छु; कृष्णः—भगवान् कृष्ण; ततः—उससे; विपत्—विपत्ति।

ओह, अपरिहार्य काल का प्रभाव कितना आश्चर्यजनक होता है, यह अपरिवर्तनीय है अन्यथा धर्मराज के पुत्र युधिष्ठिर, गदाधारी भीम तथा गाण्डीव अस्त्र धारण करनेवाले बलशाली महान् धनुर्धर अर्जुन एवं सबके ऊपर पाण्डवों के प्रत्यक्ष हितैषी कृष्ण के होते हुए यह विपत्ति क्यों आती ?

तात्पर्य : जहाँ तक भौतिक या आध्यात्मिक साधनों की बात थी, पाण्डवों के लिए इनकी कमी न थी। भौतिक दृष्टि से वे अच्छी तरह से सुसज्जित थे, क्योंकि दो महान योद्धा अर्थात् भीम तथा अर्जुन उनके साथ थे। आध्यात्मिक दृष्टि से, राजा स्वयं धर्म के प्रतीक थे और इन सबके ऊपर, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हितैषी के रूप में उनके लिए स्वयं चिन्ता करते थे। फिर भी पाण्डवों पर इतनी विपत्तियाँ आईं। पुण्य कर्म की शक्ति, व्यक्तित्वों की शक्ति, कुशल प्रबन्ध-क्षमता तथा भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष अध्यक्षता में अस्त्र-शक्ति होने पर भी पाण्डवों को अनेक विपत्तियाँ देखनी पड़ीं, जिन्हें अपरिहार्य काल का प्रभाव ही कहा जा सकता है। काल साक्षात् भगवान् से अभिन्न है, अतएव काल का प्रभाव भगवान् की अकथ इच्छा का सूचक है। जब कोई बात किसी मनुष्य के वश के परे हो, तो पछताने से कोई लाभ नहीं।

न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् ।

यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—उसका; कर्हिचित्—कोई भी; राजन्—हे राजा; पुमान्—कोई; वेद—जानता है; विधित्सितम्—योजना; यत्—जो; विजिज्ञासया—जिज्ञासा; युक्ताः—लगा हुआ; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त; कवयः—बड़े-बड़े विचारक; अपि—भी; हि—निश्चय ही।

हे राजन् भगवान् (श्रीकृष्ण) की योजना को कोई नहीं जान सकता। यद्यपि बड़े-बड़े चिन्तक उनके विषय में जिज्ञासा करते हैं, लेकिन वे मोहित हो जाते हैं।

तात्पर्य : परम विशेषज्ञ (बारह प्राधिकृत पुरुषों में से एक) भीष्म के द्वारा विगत पापों तथा उनसे होने वाले फलों के द्वारा महाराज युधिष्ठिर के मोह का पूरी तरह से निषेध हो जाता है। भीष्म महाराज युधिष्ठिर को जोर देकर बताना चाह रहे थे कि अनादि काल से शिव तथा ब्रह्मा

जैसे देवाताओं-समेत कोई भी भगवान् की वास्तविक योजना को नहीं जान पाया है। तो भला हम उसके विषय में कैसे जान सकते हैं? इसके विषय में जिज्ञासा करना भी व्यर्थ ही है। यहाँ तक कि मुनियों द्वारा गहन दार्शनिक जिज्ञासाएँ भी भगवान् की योजना को ठीक से निश्चित नहीं कर पातीं, अतएव सर्वोत्तम नीति है कि बिना तर्क के भगवान् के आदेशों का सहज भाव से पालन किया जाय। पाण्डवों के कष्ट उनके पूर्व कर्मों के कारण नहीं थे। भगवान् की योजना तो धर्म का राज्य स्थापित करने की थी। अतएव पुण्य की विजय स्थापित करने के लिए उनके ही भक्तों को कुछ देर के लिए कष्ट उठाने पड़े। भीष्मदेव धर्म की विजय देखकर निश्चय ही संतुष्ट थे और राजा युधिष्ठिर को सिंहासनारूढ़ देखकर प्रसन्न थे, यद्यपि वे स्वयं उनके विरुद्ध लड़े थे। भीष्म जैसे महान योद्धा भी कुरुक्षेत्र के युद्ध को नहीं जीत सके, क्योंकि भगवान् यह दिखाना चाहते थे कि पाप कभी पुण्य को नहीं जीत सकता, चाहे कोई कुछ भी करना चाहे। भीष्मदेव भगवान् के महान भक्त थे, लेकिन उन्हें भगवान् की इच्छानुसार पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा, क्योंकि भगवान् यह दिखलाना चाह रहे थे कि गलत पक्ष की ओर से लड़ने पर भीष्म जैसा योद्धा भी जीत नहीं सकता।

तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।

तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; इदम्—यह; दैव-तन्त्रम्—भाग्य का वशीकरण; व्यवस्य—निश्चित करके; भरत-ऋषभ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ; तस्य—उसके द्वारा; अनुविहितः—इच्छित; अनाथाः—असहाय; नाथ—हे स्वामी; पाहि—रक्षा करो; प्रजाः—जनता की; प्रभो—हे प्रभु।

अतएव हे भरतवंश में श्रेष्ठ (युधिष्ठिर), मैं मानता हूँ कि यह सब भगवान् की योजना के अन्तर्गत है। तुम भगवान् की अचिन्त्य योजना को स्वीकार करो और उसका पालन करो। अब तुम नियुक्त किए गये शासनाध्यक्ष हो, अतएव हे महाराज, आपको अब उन लोगों की देखभाल करनी चाहिए जो असहाय हो चुके हैं।

तात्पर्य : एक कहावत है कि गृहस्वामिनी अपनी पुत्री को शिक्षा देते हुए पुत्रवधू को सिखाती है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्त को शिक्षा देकर संसार को शिक्षा देते हैं। भक्त को भगवान् से कुछ नया नहीं सीखना होता, क्योंकि भगवान् निष्ठावान भक्त को उसके भीतर से शिक्षा देते हैं। अतएव, जब भी भक्त को शिक्षा देने का प्रदर्शन किया जाता है, जैसा कि *भगवद्गीता* के उपदेश में हुआ है, तो यह कम बुद्धिमान मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए होता है। अतएव भक्त का धर्म है कि वह भगवान् द्वारा प्रदत्त विपत्तियों को आशीर्वाद मानकर सह ले। भीष्मदेव ने पाण्डवों को सलाह दी कि वे बिना हिचक के शासनभार स्वीकार कर लें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण बेचारी प्रजा असुरक्षित थी और वह महाराज युधिष्ठिर द्वारा राज्य ग्रहण करने की प्रतीक्षा कर रही थी। भगवान् का शुद्ध भक्त सारी विपत्तियों को भगवान् का अनुग्रह मानता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव भक्त तथा भगवान् में कोई लौकिक अन्तर नहीं है।

एष वै भगवान्साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।

मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—मूल; आद्यः—प्रथम; नारायणः—परमेश्वर (जल में शयन करनेवाले); पुमान्—परम भोक्ता; मोहयन्—मोहित करनेवाला; मायया—स्वसर्जित शक्ति द्वारा; लोकम्—ग्रहों को; गूढः—अकल्पनीय; चरति—विचरण करता है; वृष्णिषु—वृष्णिकुल में।

ये श्रीकृष्ण अकल्पनीय आदि भगवान् ही हैं। ये प्रथम नारायण अर्थात् परम भोक्ता हैं।

लेकिन ये राजा वृष्णि के वंशजों में हमारी ही तरह विचरण कर रहे हैं और हमें स्व-सृजित शक्ति के द्वारा मोहग्रस्त कर रहे हैं।

तात्पर्य : ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक पद्धति निगमन की विधि है। वैदिक ज्ञान पूर्ण रूप से अधिकारियों के शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त किया जाता है। ऐसा ज्ञान कभी मतान्ध नहीं होता, जैसाकि अल्पज्ञों की गलत सोच है। पिता की पहचान की पुष्टि करने की अधिकारिणी माता होती है। ऐसे गुह्य ज्ञान की अधिकारिणी वही होती है। अतएव प्रामाणिक सत्ता का होना रूढ़िमूलक नहीं होता। *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय (४.२) में इस सत्य की पुष्टि की गई है और बताया

गया है कि विद्या की सम्यक् पद्धति उसे प्राधिकारी से प्राप्त करने में है। इसी पद्धति को विश्वव्यापी सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, लेकिन व्यर्थ तर्क करनेवाला ही इसके विपरीत बोलता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक अन्तरिक्ष यान आकाश में उड़ते हैं और जब वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वे चन्द्रमा के दूसरी ओर यात्रा करते हैं, तो लोग इन कथाओं को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उन्होंने आधुनिक विज्ञानियों को प्रमाण (अधिकारी) के रूप में स्वीकार कर लिया है। अधिकारी जो कुछ बोलते हैं, सामान्य जन उस पर विश्वास कर लेते हैं। लेकिन वैदिक सत्यों के विषय में उन्हें विश्वास न करने की शिक्षा दी जाती है। यदि वे उसे स्वीकार करते भी हैं, तो वे उसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वैदिक ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति करना चाहता है, लेकिन मूर्खतावश वह इससे इनकार करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि गुमराह व्यक्ति जिस एक प्रमाण पर विश्वास कर सकता है, वह है विज्ञानी, किन्तु वह वेदों के प्रमाण को अस्वीकार कर देता है। इसी का परिणाम यह है कि लोगों का पतन हुआ है।

यहाँ पर एक अधिकारी व्यक्ति श्रीकृष्ण को आदि भगवान् तथा प्रथम नारायण बताया गया है। आचार्य शंकर जैसे निर्विशेषवादी ने भी *भगवद्गीता* के अपने भाष्य के प्रारम्भ में कहा है कि भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं। *यह ब्रह्माण्ड एक भौतिक सृष्टि है, किन्तु नारायण ऐसी भौतिक साज-सज्जा से परे हैं।

footnote starts here

नारायणः परोऽव्यक्ताद् अण्डमव्यक्तसम्भवम्।

अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥

(भगवद्गीता, शंकरभाष्य)

footnote ends here

भीष्मदेव उन बारह *महाजनों* में से एक हैं, जो दिव्य ज्ञान के सिद्धान्तों को जानते हैं। श्रीकृष्ण को आदि भगवान् कहे जाने की उनके द्वारा की गई पुष्टि की निर्विशेषवादी शंकर के द्वारा भी परिपुष्टि हुई है। अन्य सारे आचार्यों ने भी इस कथन की पुष्टि की है। अतएव श्रीकृष्ण को आदि

भगवान् के रूप में स्वीकार न करने की कोई सम्भावना रह जाती है। भीष्म-देव कहते हैं कि वे प्रथम नारायण हैं। इसकी पुष्टि *भागवत* (१०.१४.१४) में ब्रह्माजी द्वारा भी की गई है। कृष्ण प्रथम नारायण हैं। आध्यात्मिक जगत् (वैकुण्ठ) में असंख्य नारायण हैं और वे सभी एक ही भगवान् हैं और ये आदि भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण विस्तार माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का प्रथम विस्तार बलदेव के रूप में होता है और बलदेव अनेक अन्य रूपों में, यथा—संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव, नारायण, पुरुष, राम तथा नृसिंह में—विस्तार करते हैं। ये सारे विस्तार एक ही *विष्णु-तत्त्व* हैं और श्रीकृष्ण इन समस्त पूर्ण अंशों के आदि स्रोत हैं। अतएव वे प्रत्यक्ष भगवान् हैं। वे भौतिक जगत् के सृष्टा हैं और नारायण रूप में विख्यात समस्त वैकुण्ठ ग्रहों के अधिष्ठाता देव हैं। अतएव मनुष्यों के बीच में उनका विचरण करना एक अन्य प्रकार का मोह है। अतः *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि मूर्ख लोग उनकी गतिविधियों की जटिलताओं को जाने बिना उन्हें मनुष्यों में से एक मान बैठते हैं।

श्रीकृष्ण के विषय में मोह का कारण उनकी अन्तरंगा तथा बहिरंगा नाम की दो शक्तियों का, तटस्था नामक एक तीसरी शक्ति पर, प्रभाव है। जीव उनकी तटस्था शक्ति के विस्तार (अंश) हैं। अतएव वे कभी अन्तरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होते हैं, तो कभी बहिरंगा शक्ति द्वारा। अपनी अन्तरंगा शक्ति के मोह से श्रीकृष्ण असंख्य नारायणों में अपना विस्तार करते हैं और दिव्य लोक में जीवों से दिव्य सेवा का आदान-प्रदान स्वीकार करते हैं। और अपनी बहिरंगा शक्ति के विस्तार से वे भौतिक जगत् में मनुष्यों, पशुओं या देवताओं के मध्य विभिन्न योनियों में जीवों के साथ विस्मृत सम्बन्ध की पुनः स्थापना के लिए अवतरित होते हैं। किन्तु भीष्म जैसे महाजन भगवत्कृपा से उनके मोह से बच जाते हैं।

अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः ।
देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अस्य—उनकी; अनुभावम्—महिमा; भगवान्—सर्वशक्तिमान्; वेद—जानते हैं; गुह्य-तमम्—अत्यन्त गोपनीय; शिवः—शिवजी; देव-ऋषिः—देवताओं में महान ऋषि; नारदः—नारद; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल; नृप—हे राजा।

हे राजन्, शिवजी, देवर्षि नारद तथा भगवान् के अवतार कपिल—ये सभी प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा भगवान् की महिमा के विषय में अत्यन्त गोपनीय जानकारी रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् के सारे शुद्ध भक्त भाव हैं अर्थात् ऐसे व्यक्ति हैं, जो दिव्य प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् की महिमा को जानते हैं। जिस प्रकार भगवान् के पूर्ण रूप के असंख्य विस्तार होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के असंख्य शुद्ध भक्त भी हैं जो विभिन्न रसों में सेवा का आदान-प्रदान करने में लगे रहते हैं। सामान्य रूप से भगवान् के बारह महान् भक्त (महाजन) हैं, जिनके नाम हैं—ब्रह्मा, नारद, शिव, कुमारगण, कपिल, मनु, प्रह्लाद, भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी, बलि महाराज तथा यमराज। यद्यपि भीष्मदेव इनमें से एक हैं, लेकिन उन्होंने केवल तीन मुख्य नामों का उल्लेख किया है, जो भगवान् की महिमा से अवगत हैं। आधुनिक युग में महान आचार्य श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है कि अनुभाव या भगवान् की महिमा, सर्वप्रथम आनन्दविभोर भक्त द्वारा अनुभव की जाती है, जो प्रस्वेद, कम्पन, रुदन, शारीरिक उद्गारों आदि के लक्षणों द्वारा प्रकट होती है और भगवान् की महिमा के लगातार ज्ञान से इन अनुभावों में वृद्धि होती है। भावों के ऐसे ज्ञान का आदान-प्रदान यशोदा तथा भगवान् के मध्य (भगवान् को रस्सी से बाँधना) तथा अर्जुन के साथ प्रेम के आदान-प्रदान के रूप में भगवान् द्वारा रथ हाँकने से होता है। भगवान् की इन महिमाएँ अपने भक्तों के समक्ष उनके अधीनस्थ होकर प्रकट की जाती हैं और भगवान् की महिमा का यह एक और लक्षण है। शुकदेव गोस्वामी तथा कुमारगण, दिव्य पद पर स्थित होकर भी, भाव के अन्य गुण द्वारा परिवर्तित होकर भगवान् के शुद्ध भक्त बन गये। भगवान् तथा भक्तों के बीच दिव्य भाव का आदान-प्रदान तब भी होता है, जब भगवान् भक्तों पर विपत्ति ढाते हैं। भगवान् कहते हैं, “मैं मेरे भक्त को संकट में डालता हूँ और इस प्रकार मेरे साथ दिव्य भाव के आदान-प्रदान से भक्त अधिक शुद्ध होता है।” भक्त को भौतिक विपत्तियों में डालकर उसे मायामय भौतिक सम्बन्धों से उद्धार करने की आवश्यकता होती है। ये भौतिक

सम्बन्ध भौतिक भोग के आदान-प्रदान पर आधारित हैं और यह भोग भौतिक साधनों पर निर्भर करता है। अतएव जब भगवान् इन भौतिक साधनों को छीन लेते हैं, तब भक्त भगवान् के प्रेमभाव की ओर शत-प्रतिशत आकृष्ट होता है। इस प्रकार भगवान् पतितात्माओं को संसार के कीचड़ से बाहर निकालते हैं। भगवान् द्वारा भक्तों को प्रदत्त विपत्तियाँ पापकर्मों से उत्पन्न विपत्तियों से भिन्न होती हैं। भगवान् की ये सारी महिमाएँ ब्रह्मा, शिव, नारद, कपिल, कुमार तथा भीष्म जैसे महाजनों को ज्ञात रहती हैं, जैसाकि ऊपर उल्लेख हो चुका है और मनुष्य उनकी कृपा से ही इन्हें ग्रहण करने में समर्थ होता है।

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।

अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—व्यक्ति; मन्यसे—सोचते हो; मातुलेयम्—ममेरे भाई को; प्रियम्—अत्यन्त प्रिय; मित्रम्—मित्र; सुहृत्—तमम्—अत्यधिक हितैषी; अकरोः—किया गया; सचिवम्—मन्त्री; दूतम्—दूत; सौहृदात्—शुभ कामना से; अथ—तत्पश्चात्; सारथिम्—सारथी।

हे राजन्, तुमने अज्ञानवश ही जिस व्यक्ति को अपना ममेरा भाई, अपना अत्यन्त प्रिय मित्र, शुभैषी, मन्त्री, दूत, उपकारी इत्यादि माना है, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण यद्यपि पाण्डवों के ममेरे भाई, मित्र, हितैषी, मन्त्री, दूत, उपकारी, आदि बने हुए थे, तो भी वे थे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही। अपनी अहैतुकी कृपावश तथा अपने अनन्य भक्तों पर कृपा जताने के लिए वे सभी प्रकार की सेवा करते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि उन्होंने परम पुरुष के रूप में अपना पद बदल दिया है। उन्हें सामान्य पुरुष के रूप में सोचना सबसे बड़ी मूर्खता है।

सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।

तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मनः—प्रत्येक जीव के हृदय में वास करनेवाले का; सम-दृशः—सबों पर समान रूप से दयालु होनेवाले का; हि—निश्चय ही; अद्वयस्य—परम का; अनहङ्कृतेः—मिथ्या अहंकार की सारी पहचान से मुक्त; तत्-कृतम्—उनके द्वारा सब कुछ किया गया; मति—चेतना; वैषम्यम्—विषमता, अन्तर; निरवद्यस्य—समस्त आसक्ति से मुक्त हुआ; न—कभी नहीं; क्वचित्—किसी अवस्था में।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे प्रत्येक के हृदय में विद्यमान हैं। वे सबों पर समान रूप से दयालु हैं और भेदाभेद के मिथ्या अहंकार से सर्वथा मुक्त हैं। अतएव वे जो कुछ करते हैं, वह भौतिक उन्माद से मुक्त होता है। वे समदर्शी हैं।

तात्पर्य : चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उनसे कुछ भी भिन्न नहीं है। वे कैवल्य हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु तथा हर कोई व्यक्ति उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार अपनी शक्ति के द्वारा वे सर्वत्र उपस्थित हैं क्योंकि वे उससे अभिन्न हैं। सूर्य की पहचान सूर्य की किरणों के प्रत्येक इंच से तथा किरणों के प्रत्येक सूक्ष्म कण से की जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा सर्वत्र फैले हुए हैं। वे परमात्मा हैं और परम निर्देशक के रूप में सबों में उपस्थित हैं। अतएव वे पहले से ही समस्त जीवों के सारथी तथा उपदेशक (मन्त्री) हैं। अतएव, जब वे अर्जुन के सारथी के रूप में स्वयं प्रकट होते हैं, तो उनके उच्चस्थ स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह तो भक्तिमय सेवा की शक्ति है, जो उन्हें सारथी या दूत के रूप में प्रदर्शित करती है। चूँकि जीवन की भौतिक अवधारणा से उनका कोई सरोकार नहीं रहता, क्योंकि वे परम आध्यात्मिक सत्ता हैं, अतएव उनके लिए कोई कर्म न तो उत्कृष्ट है और न निकृष्ट। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण उन्हें मिथ्या अहंकार नहीं होता। अतएव वे अपने को किसी वस्तु से भिन्न नहीं मानते। उनमें अहंकार का भाव सन्तुलित रहता है। अतएव वे अपने शुद्ध भक्त के सारथी बनकर अपने को निकृष्ट नहीं मानते। यह तो शुद्ध भक्त की महिमा ही है कि वह अपने प्रिय भगवान् से सेवा करा लेता है।

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।

यन्मेऽसूस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तथापि—फिर भी; एकान्त—एकनिष्ठ; भक्तेषु—भक्तों में; पश्य—देखो; भू-प—हे राजा; अनुकम्पितम्—कितना दयावान्; यत्—जिसके लिए; मे—मेरा; असून्—जीवन; त्यजतः—समाप्त करते हुए; साक्षात्—प्रत्यक्ष; कृष्णः—भगवान्; दर्शनम्—सामने; आगतः—कृपा करके आये हैं।

सबों पर समान रूप से दयालु होते हुए भी वे अब कृपापूर्वक मेरे समक्ष आये हैं, जब मैं मेरे जीवन का अंत कर रहा हूँ, क्योंकि मैं उनका अनन्य सेवक हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि परम भगवान् श्रीकृष्ण समदर्शी हैं, तो भी अपने अनन्य भक्तों के प्रति वे विशेष कृपालु रहते हैं, क्योंकि भक्तगण उन्हीं को अपना रक्षक तथा स्वामी मानकर पूर्णरूपेण उनके शरणागत होते हैं। परमेश्वर को अपना रक्षक, मित्र तथा स्वामी मानकर उनमें अनन्य श्रद्धा रखना शाश्वत जीवन की सहज अवस्था है। सर्वशक्तिमान की इच्छा से जीव इस तरह बनाया गया है कि जब वह पूर्णतया आश्रित रहता है, तब वह सर्वाधिक सुखी होता है।

इसके विपरीत मनोवृत्ति का होना पतन का कारण है। जब जीवात्मा भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने के लिए अपनी पहचान गलत ढंग से इस प्रकार करता है, मानो कि वह भगवान् से सर्वथा स्वतंत्र है, तब वह पतनशील हो जाता है। सारी कठिनाई की जड़ मिथ्या अहंकार है। मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक दशा में वह भगवान् के प्रति आकृष्ट हो।

भीष्मजी की मृत्यु-शय्या के निकट भगवान् कृष्ण इसीलिए प्रकट हुए, क्योंकि भीष्म उनके अनन्य भक्त थे। अर्जुन का कृष्ण से कुछ शारीरिक सम्बन्ध था, क्योंकि भगवान् उसके ममेरे भाई लगते थे। किन्तु भीष्म से उनका ऐसा कोई सम्बन्ध न था। अतएव आकर्षण का कारण आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। फिर भी चूँकि शारीरिक सम्बन्ध अधिक सुखद तथा स्वाभाविक होता है, इसीलिए भगवान् को जब महाराज नन्द या यशोदा का पुत्र कहा जाता है या राधारानी का प्रेमी कहा जाता है, तो वे अधिक प्रसन्न होते हैं। भगवान् के साथ इस प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध होना भी भगवान् की प्रेममय सेवा के आदान-प्रदान का एक और लक्षण है। भीष्मदेव इस दिव्य-भाव की मधुरता से अवगत हैं, इसीलिए वे भगवान् को 'विजय-सखे' 'पार्थ-सखे' आदि कहकर सम्बोधित करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे उन्हें 'नन्द-नन्दन' या 'यशोदा-नन्दन' कहा जाता है। उनसे दिव्य मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि मान्य भक्तों के

माध्यम से उन तक पहुँचा जाय। मनुष्य को चाहिए कि उनसे सीधे सम्पर्क स्थापित न करे, अपितु किसी माध्यम के द्वारा उन तक पहुँचे, जो पारदर्शी तथा सही पथ पर ले जाने में समर्थ हो।

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।

त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्तिपूर्वक; आवेश्य—चिन्तन करके; मनः—मन; यस्मिन्—जिसमें; वाचा—शब्दों से; यत्—कृष्ण का; नाम—पवित्र नाम; कीर्तयन्—कीर्तन करते हुए; त्यजन्—परित्याग करते हुए; कलेवरम्—इस भौतिक शरीर को; योगी—भक्त; मुच्यते—मोक्ष पाता है; काम-कर्मभिः—सकाम कर्मों से।

वे पुरुषोत्तम भगवान् जो एकाग्र भक्ति तथा चिन्तन से एवं पवित्र नाम के कीर्तन से भक्तों के मन में प्रकट होते हैं, वे उन भक्तों को उनके द्वारा भौतिक शरीर को छोड़ते समय सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त कर देते हैं।

तात्पर्य : योग का अर्थ है अन्य समस्त विषयों से हटाकर, मन को केन्द्रित करना और वास्तव में ऐसी एकाग्रता समाधि है या भगवान् की सेवा में शत-प्रतिशत अनुरक्ति है। जो इस प्रकार अपने चित्त को एकाग्र करता है, वह योगी कहलाता है। भगवान् का ऐसा योगी भक्त, भगवान् की सेवा में प्रतिदिन चौबीसों घण्टे लगा रहता है। फलस्वरूप उसका सारा ध्यान नवधा भक्ति में भगवान् के चिन्तन में लगा रहता है। नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तुति, दास्य-भाव, आज्ञा-पालन, सख्य-भाव या समर्पण सम्मिलित हैं। योग के ऐसे अभ्यास से अर्थात् भगवान् की सेवा द्वारा उनसे जुड़ने से भगवान् द्वारा मान्यता मिलती है, जैसाकि समाधि की सर्वोच्च स्थिति का वर्णन करते हुए भगवद्गीता में स्वयं भगवान् व्याख्या करते हैं। भगवान् ऐसे विरले भक्त को योगियों में श्रेष्ठ बतलाते हैं। भगवत्कृपा से ऐसा पूर्ण योगी अपना मन पूर्ण चेतना से भगवान् में एकाग्र करता है और इस प्रकार शरीर त्यागने के पूर्व उनके नाम का कीर्तन करने से वह भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा तुरन्त ऐसे लोक को भेज दिया जाता है, जहाँ भौतिक जीवन तथा उससे सम्बद्ध कारणों का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक अस्तित्व में जीव को अपने सकाम कर्मों के अनुसार जन्म-जन्मान्तर तीन प्रकार के कष्टों की भौतिक स्थिति को सहना होता है। ऐसा

भौतिक जीवन जीव की स्वाभाविक इच्छाओं के ही कारण उत्पन्न होता है। भगवान् की भक्तिमय सेवा से जीव की स्वाभाविक इच्छाओं को मारा नहीं जाता, अपितु वे भक्तिमय सेवा के सही कार्य में लगाई जाती हैं। इससे इच्छाओं के वैकुण्ठ में अंतरित होने की योग्यता आ जाती है। यहाँ पर सेनापति भीष्मदेव यहाँ पर विशेष प्रकार के योग का उल्लेख कर रहे हैं, जिसे भक्तियोग कहते हैं और वे भाग्यशाली थे कि भौतिक शरीर को त्यागने के पूर्व अपने समक्ष साक्षात् भगवान् को उपस्थित देख रहे थे। अतएव अगले श्लोकों में उन्होंने इच्छा व्यक्त की है कि भगवान् उनकी दृष्टि के समक्ष ही बने रहें।

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां
कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लस-
न्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; देव-देवः—देवताओं के भी देवता, प्रभुओं में श्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; प्रतीक्षताम्—कृपया प्रतीक्षा करें;
कलेवरम्—शरीर को; यावत्—जब तक; इदम्—इस; हिनोमि—त्याग दूँ; अहम्—मैं; प्रसन्न—प्रसन्न; हास—हँसते हुए;
अरुण-लोचन—प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल नेत्र; उल्लसत्—सुन्दर ढंग से सजाये; मुख-अम्बुजः—कमल के
समान उनका मुख; ध्यान-पथः—मेरे ध्यान के मार्ग में; चतुर्-भुजः—चार भुजाओंवाले नारायण (भीष्मदेव द्वारा आराध्य
देव)।

चतुर्भुज-रूप, उगते सूर्य की भाँति अरुणनेत्रों तथा सुन्दर रीति से सजाये, मुस्कराते कमलमुख वाले मेरे भगवान्, आप उस क्षण तक यहीं मेरी प्रतीक्षा करें, जब तक मैं अपना यह भौतिक शरीर छोड़ न दूँ।

तात्पर्य : भीष्मदेव अच्छी तरह जानते थे कि भगवान् कृष्ण आदि नारायण हैं। उनके आराध्यदेव चतुर्भुज नारायण थे, लेकिन वे यह जानते थे कि ये चतुर्भुज नारायण भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश हैं। परोक्ष रूप में उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने चतुर्भुज नारायण रूप में प्रकट हों। वैष्णव सदा ही अपने आचरण में विनीत होता है। यद्यपि यह शत-प्रतिशत निश्चित था कि इस शरीर को त्याग कर भीष्मदेव वैकुण्ठलोक जा रहे हैं, तो भी विनीत वैष्णव के रूप में उन्होंने भगवान् की सुन्दर मुखाकृति देखनी चाही, क्योंकि उन्होंने सोचा कि कहीं इस

शरीर को छोड़ने के बाद वे भगवान् का दर्शन न भी कर पाएँ। वैष्णव को कभी गर्व नहीं होता, यद्यपि भगवान् अपने भक्तों को अपने धाम में प्रवेश करने की गारंटी देते हैं। यहाँ पर भीष्मदेव कहते हैं, “जब तक मैं अपना शरीर त्याग न दूँ।” इसका अर्थ यह है कि यह महान सेनापति अपनी इच्छा से शरीर-त्याग करेंगे; वे प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं हैं। वे इतने शक्तिशाली थे कि वे जब तक चाहते, अपने शरीर में बने रह सकते थे। यह वर उन्हें अपने पिता से प्राप्त हुआ था। उनकी इच्छा थी कि भगवान् अपने चतुर्भुज नारायण रूप में उनके समक्ष रहें, जिससे वे उनका ध्यान कर सकें और समाधि दशा को प्राप्त हो लें। तब उनका मन भगवान् का चिन्तन करके पवित्र हो जाय। फिर वे कहीं भी जाएँ, इसकी उन्हें परवाह नहीं रहेगी। एक शुद्ध भक्त भगवद्धाम वापस जाने के लिए कभी भी चिन्तित नहीं रहता। वह तो भगवान् की इच्छा पर पूर्णतः आश्रित रहता है। यदि भगवान् उसे नरक भी भेजना चाहें, तो भी वह समान रूप से तुष्ट होता है। शुद्ध भक्त की तो एक ही इच्छा रहती है कि वह सदा भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहे। भीष्मदेव की इतनी ही इच्छा थी कि उनका मन भगवान् के चिन्तन में लीन रहे और वे इसी तरह चल बसें। शुद्ध भक्त की सर्वोच्च अभिलाषा यही होती है।

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।

अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; तत्—वह; आकर्ण्य—सुनकर; शयानम्—लेटे हुए; शर-पञ्जरे—बाणों की शय्या पर; अपृच्छत्—पूछा; विविधान्—विविध; धर्मान्—कर्तव्यों को; ऋषीणाम्—ऋषियों का; च—तथा; अनुशृण्वताम्—सुनने के बाद।

सूत गोस्वामी ने कहा : भीष्मदेव को इस प्रकार आग्रहपूर्ण स्वर में बोलते देखकर, महाराज युधिष्ठिर ने समस्त महर्षियों की उपस्थिति में उनसे विभिन्न धार्मिक कृत्यों के अनिवार्य सिद्धान्त पूछे।

तात्पर्य : भीष्मदेव को आग्रहपूर्ण स्वर में बोलते देखकर महाराज युधिष्ठिर समझ गये कि वे शीघ्र ही प्रयाण करनेवाले हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया कि वे धर्म के सिद्धान्तों के बारे में उनसे पूछें। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर को प्रेरित किया कि वे अनेक महर्षियों की उपस्थिति में भीष्मदेव से प्रश्न पूछें, जिससे यह संकेत मिलता है कि यद्यपि भीष्मदेव जैसा भगवद्भक्त सामान्य पुरुष की भाँति रहता है, किन्तु बड़े-बड़े मुनियों से, यहाँ तक कि व्यासदेव से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। दूसरी बात यह है कि भीष्मदेव उस समय न केवल शर-शय्या पर लेटे थे, अपितु अपनी इस अवस्था के कारण वे अत्यन्त कष्टमय स्थिति में थे। ऐसी अवस्था में उनसे प्रश्न नहीं पूछे जाने चाहिए थे, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनके शुद्ध भक्त सदैव आध्यात्मिक प्रकाश के कारण शरीर तथा मन से पूर्णरूपेण स्वस्थ रहते हैं, अतएव भगवद्भक्त किसी भी अवस्था में रहकर जीवन की सही दिशा बताने में समर्थ होता है। युधिष्ठिर भी चाहते थे कि वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों से, जो भीष्मदेव से भी अधिक विद्वान् लगते थे, उनसे न पूछ करके अपनी समस्याओं का समाधान भीष्मदेव से करें। यह सब चक्रधारी श्रीकृष्ण की योजना थी, क्योंकि वे अपने भक्त की महिमा को संस्थापित करना चाहते हैं। पिता चाहता है कि उसका पुत्र उसकी अपेक्षा अधिक प्रख्यात बने। भगवान् जोर देकर घोषित करते हैं कि उनके भक्तों की पूजा उनकी खुद की पूजा से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् ।

वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुरुष—**मनुष्य**; स्व-भाव—**अपने गुणों से**; विहितान्—**विहित, अनुमत**; यथा—**के अनुसार**; वर्णम्—**जातियों का वर्गीकरण**; यथा—**के अनुसार**; आश्रमम्—**जीवन के आश्रम**; वैराग्य—**विरक्ति**; राग—**आसक्ति**; उपाधिभ्याम्—**ऐसी उपाधियों से**; आमनात—**क्रमबद्ध रूप से**; उभय—**दोनों**; लक्षणान्—**लक्षणों को**।

महाराज युधिष्ठिर के पूछे जाने पर भीष्मदेव ने सर्वप्रथम व्यक्ति की योग्यताओं के अनुसार जातियों के वर्गीकरण (वर्ण) तथा जीवन के आश्रमों का वर्णन किया। फिर उन्होंने क्रमबद्ध रूप से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति नामक दो उपखण्डों का वर्णन किया।

तात्पर्य : चार वर्णों तथा चार आश्रमों की अवधारणा, जैसी स्वयं भगवान् ने (*भगवद्-गीता* ४.१३ में) प्रस्तुत की है, व्यक्ति में दिव्य गुणों को बढ़ाने के लिए है, जिससे वह अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जान सके और तदनुसार वह भवबन्धन या बद्ध जीवन से मुक्त हो सके। प्रायः सभी पुराणों में इस विषय का इसी रूप में वर्णन हुआ है और उसी प्रकार *महाभारत* के *शान्ति-पर्व* में, साठवें अध्याय से आगे भीष्मदेव द्वारा किया गया इसका विस्तृत वर्णन है।

सभ्य मनुष्यों के लिए वर्णाश्रम-धर्म की संस्तुति इसलिए की जाती है, जिससे वे मानव जीवन को सफलतापूर्वक समाप्त करने की शिक्षा प्राप्त कर सकें। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन में रत निम्न पशुओं के जीवन में और आत्म-साक्षात्कार में अन्तर है। भीष्मदेव ने सभी मनुष्यों के लिए नौ योग्यताएँ बताई हैं : (१) क्रोध न करना, (२) झूठ न बोलना, (३) धन-सम्पदा का समान वितरण करना, (४) क्षमा करना, (५) अपनी वैध पत्नी से ही सन्तान उत्पन्न करना, (६) मन से शुद्ध तथा शरीर से स्वच्छ रहना, (७) किसी के प्रति शत्रुभाव न रखना, (८) सरल होना, तथा (९) सेवकों या आश्रितों का पालन करना। उपर्युक्त प्राथमिक योग्यताओं को अर्जित किए बिना मनुष्य को सभ्य नहीं कहा जा सकता। इनके साथ-साथ ब्राह्मणों (बुद्धिमान व्यक्तियों), प्रशासनिक व्यक्तियों (क्षत्रियों), वणिक समुदाय (वैश्य) तथा श्रमिक वर्ग (शूद्र) को समस्त वैदिक शास्त्रों में वर्णित अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुसार विशेष योग्यताएँ प्राप्त करनी होती हैं। बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए इन्द्रियों पर संयम रखना सर्वाधिक अनिवार्य योग्यता है। यह नैतिकता का मूलाधार है। अपनी वैध पत्नी से भी नियंत्रित रूप में मैथुन करना चाहिए, जिससे स्वतः परिवार-नियोजन हो सके। बुद्धिमान मनुष्य यदि वैदिक जीवन-प्रणाली नहीं अपनाता, तो वह अपनी योग्यताओं का दुरुपयोग कर रहा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वैदिक साहित्य का और विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। वैदिक ज्ञान सीखने के लिए उसे ऐसे व्यक्ति के पास जाना चाहिए, जो पूर्णरूपेण भक्तिमय सेवा में लगा हो। उसे *शास्त्र-वर्जित* कोई भी बात नहीं करनी चाहिए। यदि कोई मद्यपान करता है या मादक द्रव्य का सेवन करता है, तो वह शिक्षक नहीं बन सकता। आधुनिक शिक्षण-

प्रणाली में शिक्षक की शैक्षिक योग्यताओं पर ही ध्यान दिया जाता है, उसके नैतिक जीवन पर नहीं। अतएव इस शिक्षा के परिणाम से उच्च बुद्धि का कई प्रकार से दुरुपयोग होता है।

शासक-वर्ग के सदस्यों अर्थात् क्षत्रियों को विशेष सलाह दी जाती है कि वे दान तो दें, किन्तु *किसी भी परिस्थिति में दान न लें*। आधुनिक प्रशासक राजनीतिक कार्यों के लिए धन-संग्रह तो करते हैं, किन्तु वे किसी भी राजकीय समारोह में नागरिकों को दान कभी नहीं देते। यह शास्त्रों के आदेशों के सर्वथा विपरीत है। प्रशासक वर्ग को शास्त्रों में निपुण होना चाहिए, लेकिन उन्हें शिक्षक का पेशा नहीं अपनाना चाहिए। *प्रशासकों को कभी भी अहिंसक बनने का स्वाँग नहीं करना चाहिए*, जिससे उन्हें नरक जाना पड़े। जब अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अहिंसक कायर बनना चाह रहा था, तब भगवान् कृष्ण ने उसकी तीव्र प्रताड़ना की। भगवान् ने अहिंसक पंथ स्वीकार करने के लिए अर्जुन को असभ्य पुरुष तक कह डाला। प्रशासक वर्ग को व्यक्तिगत तौर पर सैन्य-शिक्षा में प्रशिक्षित होना चाहिए। मतों की संख्या के आधार पर कार्यों को राष्ट्रपति के पद तक ऊपर नहीं उठाया जा सकता। एकछत्र राजा अत्यन्त वीर पुरुष होते थे, अतएव यदि एकछत्र राजा को कर्तव्यों का नियमित प्रशिक्षण दिया जाय, तो राजतन्त्र पद्धति को चालु रखना चाहिए। *युद्ध में, राजा या राष्ट्रपति को तब तक घर नहीं लौटना चाहिए जब तक वह शत्रु द्वारा घायल न हो जाय*। आज का तथाकथित राजा कभी युद्धभूमि में तो जाता ही नहीं। वह झूठी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की आशा में सैनिक शक्ति को कृत्रिम रूप से प्रोत्साहित करने में अत्यन्त दक्ष होता है। जैसे-जैसे प्रशासक वर्ग वणिकों तथा श्रमिकों की टोली का रूप धारण कर लेता है, तो सरकार की सारी प्रणाली ही दूषित हो जाती है।

व्यापारी-वर्ग के सदस्यों अर्थात् वैश्यों को विशेष रूप से आदेश है कि वे गायों की रक्षा करें। गायों की रक्षा करने का अर्थ है, दुग्ध उत्पादन अर्थात् दही तथा मक्खन की वृद्धि। व्यापारी वर्ग का मुख्य कर्तव्य है कि कृषि तथा खाद्य सामग्री के वितरण के साथ ही वैदिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे और दान देने में प्रशिक्षित हो। जिस प्रकार क्षत्रियों पर प्रजा की सुरक्षा का भार सौंपा जाता था, उसी प्रकार वैश्यों पर पशुओं की सुरक्षा का भार था। पशु कभी भी वध किये जाने के

लिए नहीं होते हैं। पशु-वध बर्बर समाज का ही एक लक्षण है। मनुष्य के लिए कृषि-उत्पाद, फल तथा दुग्ध ही पर्याप्त तथा अनुकूल खाद्य-पदार्थ हैं। मानव-समाज को चाहिए कि पशु-सुरक्षा पर अधिक ध्यान दे। श्रमिक की उत्पादक शक्ति का दुरुपयोग तब होता है, जब उसे औद्योगिक कार्यों में लगा दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के उद्योग कभी भी मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं—यथा चावल, गेहूँ, धान्य, दूध, फल, तरकारी—का उत्पादन नहीं कर सकते। मशीनों तथा मशीनी औजारों के उत्पादन से स्वार्थी वर्ग के लोगों के कृत्रिम रहन-सहन को बढ़ावा मिलता है और हजारों लोग भूखों मरते हैं तथा अशान्त बनते हैं। सभ्यता का मानक यह नहीं होना चाहिए।

शूद्र वर्ग कम बुद्धिमान होता है और उसे कभी भी स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिए। वे समाज के तीन उच्चतर वर्णों की सेवा करने के निमित्त हैं। शूद्र वर्ग उच्चतर वर्णों की सेवा से ही जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है। शूद्रों के लिए यह विशेष आदेश है कि वे धन-संचय न करें। ज्योंही शूद्र धन संग्रह कर लेते हैं, त्योंही वे इसका दुरुपयोग सुरा, सुन्दरी तथा जुआ खेलने में करने लगते हैं। *सुरा, सुन्दरी तथा जुआ खेलना इसके सूचक हैं कि जनता शूद्रों से भी नीचे गिर चुकी है।* उच्च-जातियों को चाहिए कि वे हमेशा शूद्रों के पालन का ध्यान रखें और उन्हें अपने इस्तेमाल किये हुए पुराने वस्त्र दें। शूद्र अपने मालिक को तब भी न छोड़ें, जब वह वृद्ध तथा अशक्त हो जाँय और मालिकों को चाहिए कि वे सेवकों को सभी प्रकार से संतुष्ट रखें। किसी भी यज्ञ के पूर्व सर्व प्रथम शूद्रों को प्रचुर भोजन तथा वस्त्र द्वारा संतुष्ट किया जाना चाहिए। आज के समय में लाखों रुपये खर्च करके अनेकानेक समारोह मनाये जाते हैं, *लेकिन बेचारे श्रमिकों को न तो ठीक से भोजन दिया जाता है, न दान या वस्त्र इत्यादि दिये जाते हैं।* इस प्रकार श्रमिक लोग असंतुष्ट ही बने रहते हैं और इसीलिए उपद्रव मचाते रहते हैं।

एक प्रकार से ये वर्ण विभिन्न वृत्तियों के वर्गीकरण हैं और आश्रम धर्म आत्म-साक्षात्कार के पथ पर क्रमिक प्रगति है। दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। *आश्रम-धर्म* का मुख्य उद्देश्य ज्ञान तथा वैराग्य जागृत करना है। ब्रह्मचारी आश्रम भावी जीवन के लिये

प्रशिक्षण स्थल है। इस आश्रम में यह शिक्षा दी जाती है कि यह संसार जीवों का वास्तविक घर (आवास) नहीं है। बद्धजीव भवबंधन के अन्तर्गत पदार्थ के बंदी हैं, अतएव आत्म-साक्षात्कार ही जीवन का अनन्तिम लक्ष्य है। *आश्रम धर्म* की सारी प्रणाली वैराग्य का एक साधन है। जो व्यक्ति वैराग्य की इस मूल भावना को आत्मसात् नहीं कर पाता, उसे वैराग्य की उसी भावना से गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की जाती है। अतएव जो व्यक्ति वैराग्य प्राप्त कर लेता है, वह तुरन्त ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् *संन्यास* ग्रहण कर सकता है। उसे केवल भिक्षा पर ही निर्भर रहना होता है, धन संग्रह नहीं करना होता, अपितु शरीर तथा आत्मा को चरम साक्षात्कार के लिए बनाये रखना होता है। गृहस्थ जीवन तो *आसक्तों* के लिए है। *वानप्रस्थ* तथा *संन्यास* आश्रम उनके लिये हैं, जो भौतिक जीवन से *विरक्त हो चुके हैं*। *ब्रह्मचारी आश्रम* तो आसक्त तथा विरक्त दोनों ही के प्रशिक्षण के लिये होता है।

दानधर्मान् राजधर्मान् मोक्षधर्मान् विभागशः ।

स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

दान-धर्मान्—दान के कृत्यों को; राज-धर्मान्—राजाओं के राज्य विषयक कार्य-कलापों को; मोक्ष-धर्मान्—मोक्ष के कार्यों को; विभागशः—विभागानुसार; स्त्री-धर्मान्—स्त्रियों के कर्तव्य को; भगवत्-धर्मान्—भक्तों के कार्यों को; समास—सामान्यता; व्यास—स्पष्ट रूप से; योगतः—योग के द्वारा।

तब उन्होंने दान-कर्मों, राजा के राज्य-विषयक कार्यकलापों तथा मोक्ष-कर्मों की खण्ड-वार व्याख्या की। फिर उन्होंने स्त्रियों तथा भक्तों के कर्तव्यों का संक्षेप में विशद रूप से वर्णन किया।

तात्पर्य : दान देना गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य है और उसे अपनी कठिन कमाई का कम से कम पचास प्रतिशत हिस्सा दान में देने के लिए तैयार रहना चाहिए। ब्रह्मचारी को यज्ञ करने चाहिए, गृहस्थ को दान देना चाहिए और वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम वाले व्यक्ति को तपस्या करनी चाहिए। समस्त आश्रमों अथवा आत्म-साक्षात्कार के पथ पर जीवन के समस्त आश्रमों के लिए ये ही सामान्य कर्तव्य हैं। ब्रह्मचर्य जीवन में काफी प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे मनुष्य

यह समझ ले कि यह संसाररूपी सम्पत्ति भगवान् की है। अतएव कोई भी व्यक्ति संसार की किसी वस्तु का स्वामी होने का दावा नहीं कर सकता। अतः गृहस्थ जीवन, जिसमें विषय भोग के लिये एक प्रकार की छूट है, उसमें मनुष्य को भगवान् की सेवा के निमित्त दान देना चाहिए। भगवान् की शक्ति के भण्डार से ही शक्ति उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक को प्रदान की जाती है। अतएव ऐसी शक्ति के द्वारा किए गए कार्यों को भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा के रूप में अर्पित करना चाहिए। जिस प्रकार नदियाँ सागर से बादलों के माध्यम से जल प्राप्त करती हैं और पुनः समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हमारी शक्ति भगवान् की शक्ति के सर्वोपरि स्रोत से प्राप्त होती है और हमें इसे भगवान् को लौटाना होता है। हमारी शक्ति की पूर्णता इसी में है। अतः *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कहते हैं कि हम जो भी करते हैं, जो भी तपस्या करते हैं, जो भी यज्ञ करते हैं, जो भी खाते या दान देते हैं, वह सब उन्हें (भगवान् को) ही अर्पित किया जाना चाहिए। उधार ली गई अपनी शक्ति के उपयोग की यही विधि है। जब हम इस विधि से शक्ति का उपयोग करते हैं, तब हमारी शक्ति भौतिक उन्माद के कल्मष से रहित हो जाती है और इस प्रकार हम भगवान् की सेवा करने के लिये अपने मूल प्राकृतिक जीवन के योग्य बन जाते हैं।

राज-धर्म, राजनीतिक श्रेष्ठता के लिये आधुनिक कूटनीति से भिन्न, एक महान विज्ञान है। राजाओं को केवल कर संग्राहक बनने के बजाय दानवीर बनने की विधिपूर्वक शिक्षा दी जाती थी। उन्हें अपनी प्रजा की सम्पन्नता के लिए ही यज्ञ करने की शिक्षा दी जाती थी। प्रजा को मोक्ष प्राप्त कराना राजा का सबसे बड़ा कर्तव्य था। पिता, गुरु तथा राजा को कभी भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से प्रजा को मुक्ति प्राप्त कराने के मार्ग पर लापरवाह नहीं होना चाहिये। जब ये प्राथमिक कर्तव्य सही ढंग से सम्पन्न हो जाते हैं, तो फिर जनता द्वारा, जनता के लिए बनाई गई सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। आजकल लोग छद्म से बटोरे गये मतों के बल पर शासन-अधिकार पा तो लेते हैं, लेकिन उन्हें राजा के मूल कर्तव्यों का प्रशिक्षण कभी नहीं मिलता और हर एक के लिये ऐसा कर पाना सम्भव भी नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में अप्रशिक्षित प्रशासक प्रजा को सभी प्रकार से सुखी बनाने के प्रयत्न में कहर ढाता है। दूसरी ओर, ये

अप्रशिक्षित प्रशासक धीरे-धीरे चोर तथा धूर्त बन जाते हैं और डांवाडोल राज्य पर करों में वृद्धि करते जाते हैं, जिससे प्रशासन के लिये धन प्राप्त हो, जो सभी प्रयोजनों के लिए व्यर्थ होता है। वास्तव में *मनुसंहिता* तथा पराशर कृत *धर्मशास्त्र* जैसे शास्त्रों के अनुसार राजा को समुचित प्रशासनिक निर्देश देने के लिए, योग्यता-प्राप्त ब्राह्मण ठीक माने गये हैं। एक गुणवान राजा जनता का आदर्श होता है, अतः यदि राजा पुण्यात्मा, धर्मात्मा, शौर्यवान तथा दानवीर होता है, तो जनता भी सामान्य रूप से उसका अनुकरण करती है। ऐसा राजा आलसी, विषयी व्यक्ति नहीं होता, जो प्रजा पर आश्रित रहता हो, अपितु चोरों तथा डाकुओं का वध करने में सदैव सतर्क रहता है। पुण्यात्मा राजा कभी भी व्यर्थ की अहिंसा के नाम पर डाकुओं तथा चोरों पर दया नहीं किया करते थे। डाकुओं तथा चोरों को इस प्रकार दण्डित किया जाता था कि भविष्य में कोई सुनियोजित ढंग से ऐसे दुष्कर्म करने का साहस भी न करे। आज की तरह ऐसे डाकू तथा चोर कभी भी प्रशासन चलाने के लिये नहीं होते थे।

तब कर लगाने के नियम सरल थे। न तो कोई जबरदस्ती की जाती थी, न घुसपैठ। राजा को प्रजा की उपज का एक चौथाई लेने का अधिकार था। राजा को किसी को प्राप्त सम्पदा का एक चौथाई पर हक जताने का अधिकार था। किसी को इतना देने में कोई एतराज भी नहीं था, क्योंकि राजा के पुण्यात्मा होने तथा धार्मिक एकता होने के कारण प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा होती थी—यथा अन्न, फल, फूल, रेशम, कपास, दूध, हीरे-जवाहरात, खनिज इत्यादि; अतएव कोई भी भौतिकता की दृष्टि से असंतुष्ट नहीं रहता था। प्रजा कृषि तथा पशु-धन में समृद्ध थी। अतएव उसके पास प्रचुर अन्न, फल तथा दूध था और उन्हें साबुन, सौंदर्य प्रसाधन, सिनेमा तथा मदिरालयों की कोई कृत्रिम आवश्यकता न थी।

राजा को यह देखना होता था कि मानवता की संचित शक्ति का सही ढंग से उपयोग हो रहा है। मानव शक्ति पशु जैसी इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार के लिए होती है। सरकार की सारी योजना इस विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती थी। फलःस्वरूप राजा को उचित रीति से मन्त्रियों का चयन करना होता था, मतों की पृष्ठभूमि के बल पर नहीं।

मन्त्री, सेनानायक तथा सामान्य सिपाही तक व्यक्तिगत योग्यताओं के आधार पर चुने जाते थे और अपने-अपने पदों पर नियुक्त होने के पूर्व राजा उन पर समुचित निगरानी रखता था। राजा विशेष रूप से सतर्क रहता था कि ऐसे तपस्वी छूटें नहीं, जिन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अपना सब कुछ त्याग कर दिया हो। *राजा भलीभाँति जानता था कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कभी भी अपने अनन्य भक्तों का तिरस्कार सहन नहीं करते।* यहाँ तक कि ऐसे तपस्वी उन चोर-उचक्यों के भी विश्वस्त जन-नायक होते थे, जो इन *तपस्वियों* की आज्ञाओं का कभी उल्लंघन नहीं करते थे। राजा निरक्षरों, असहायों तथा विधवाओं को विशेष सुरक्षा प्रदान करता था। शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने के पूर्व रक्षा के सारे उपाय किये जाते थे। कर-प्रणाली सरल थी और इसका उद्देश्य संचित कोष को बढ़ाना होता था, लोगों को लूटना नहीं। सैनिकों की भर्ती सारे विश्व भर से की जाती थी और उन्हें विशेष कार्यों के लिए प्रशिक्षित किया जाता था।

जहाँ तक मोक्ष का सम्बन्ध है, मनुष्यों को काम, क्रोध, अवैध इच्छाओं, लोभ तथा मोह पर विजय प्राप्त करनी होती थी। क्रोध पर विजय पाने के लिए मनुष्य को क्षमा करना सीखना चाहिए। अवैध इच्छाओं से मुक्त रहने के लिए आवश्यक है कि व्यर्थ की योजनाएँ न बनाई जाँय। आध्यात्मिक अनुशीलन द्वारा नींद पर विजय प्राप्त की जा सकती है। सहिष्णुता द्वारा इच्छाओं तथा लोभ पर विजय पाई जा सकती है। नियमित एवं संतुलित आहार द्वारा विभिन्न रोगों से होनेवाली गड़बड़ियों से बचा जा सकता है। आत्म-संयम से झूठी आशाओं से मुक्त हुआ जा सकता है और कुसंगति से बचकर धन-संग्रह किया जा सकता है। योगाभ्यास से भूख पर नियन्त्रण किया जा सकता है और नश्वरता का ज्ञान होने से सांसारिकता से बचा जा सकता है। जल्दी उठने से आलस्य को जीता जा सकता है और तथ्यों के निर्धारण से झूठे तर्क समाप्त किये जा सकते हैं। वाचालता को गंभीरता से तथा मौन द्वारा और भय को पराक्रम से जीता जा सकता है। स्वाध्याय द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। मनुष्य को काम, लोभ, क्रोध, स्वप्न इत्यादि से मुक्त होना चाहिए, जिससे असली मोक्ष-मार्ग प्राप्त हो सके।

जहाँ तक स्त्री-वर्ग का सम्बन्ध है, स्त्रियाँ मनुष्यों की प्रेरणा स्रोत मानी जाती रही हैं। इस तरह वे मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होती हैं। पराक्रमी जुलियस सीजर क्लीयोपैत्रा के वश में हो गया था। ऐसी शक्तिशाली स्त्रियाँ लज्जा द्वारा नियन्त्रित होती हैं। अतएव लज्जा स्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण है। एक बार इस सुरक्षा वाल्व पर से नियंत्रण ढीला पड़ा, तो व्यभिचार द्वारा समाज में उत्पात उठ खड़ा होता है। व्यभिचार का अर्थ है *वर्ण-संकर* अर्थात् अवांछित बालकों की उत्पत्ति, जिससे विश्व में गड़बड़ी फैल जाती है।

भीष्मदेव की अन्तिम शिक्षा भगवान् को प्रसन्न करने की विधि के विषय में थी। हम सब भगवान् के सनातन दास हैं और जब हम अपने स्वभाव के इस महत्वपूर्ण तत्त्व को भूल जाते हैं, तो हमें जीवन की भौतिक अवस्था में आना पड़ता है। भगवान् को प्रसन्न करने की (विशेष रूप से गृहस्थों के लिए) सरल विधि है घर में भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाय। अर्चाविग्रह में चित्त एकाग्र करके दैनिक कार्य किये जा सकते हैं। घर में अर्चाविग्रह की पूजा, भक्त की सेवा, *श्रीमद्भागवत* का श्रवण, पवित्र तीर्थस्थान में वास तथा भगवन्नाम का कीर्तन—ये सब बिना व्यय के हो सकने वाले कार्य हैं, जिनसे भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है। इस प्रकार यह विषय पितामह द्वारा अपने पौत्रों को समझाया गया।

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने ।

नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

धर्म—वृत्तिपरक कार्य; अर्थ—आर्थिक विकास; काम—इच्छा पूर्ति; मोक्षान्—चरम-मुक्ति; च—तथा; सह—साथ; उपायान्—उपायों के; यथा—जिस तरह; मुने—हे मुनि; नाना—अनेक; आख्यान—ऐतिहासिक कथाओं के पाठ द्वारा; इतिहासेषु—इतिहासों में; वर्णयाम् आस—वर्णन किया; तत्त्व-वित्—सत्य के ज्ञाता।

तत्पश्चात्, उन्होंने इतिहास से उद्धरण देते हुए, विभिन्न आश्रमों तथा जीवन की अवस्थाओं के वृत्तिपरक कार्यों का वर्णन किया, क्योंकि वे उस सत्य से भलीभाँति परिचित थे।

तात्पर्य : पुराणों, महाभारत तथा रामायण जैसे वैदिक ग्रंथों में वर्णित घटनाएँ वास्तविक ऐतिहासिक कथाएँ हैं, जो भूतकाल में कभी घटित हुई थीं, यद्यपि वे किसी तिथि-क्रमानुसार नहीं हैं। ऐसे ऐतिहासिक तथ्य, बिना किसी तिथि-क्रम के ही, सामान्य जनों के लिए शिक्षाप्रद होने के कारण चुनकर रखे गये थे। इसके अतिरिक्त ये घटनाएँ विभिन्न ग्रंथों या यों कहें कि विभिन्न ब्रह्माण्डों में घटित होती हैं। इसीलिए कथाओं के वर्णनों को कभी-कभी तीनों आयामों में मापा जाता है। हमें तो ऐसी घटनाओं से प्राप्त शिक्षाओं से सरोकार होना चाहिए, भले ही वे हमारे ज्ञान के सीमित दायरे के अनुसार क्रमबद्ध न हों। भीष्मदेव ने महाराज युधिष्ठिर के विभिन्न प्रश्नों के उत्तर में इन कथाओं को कह सुनाया।

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः ।

यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—वृत्तिपरक कार्यों को; प्रवदतः—वर्णन करते हुए; तस्य—उसका; सः—वह; कालः—समय; प्रत्युपस्थितः—प्रकट हुआ; यः—जो है; योगिनः—योगियों के लिए; छन्द-मृत्योः—इच्छित समय में मृत्यु करनेवाले का; वाञ्छितः—के द्वारा इच्छित; तु—लेकिन; उत्तरायणः—वह अवधि, जब सूर्य उत्तरी क्षितिज पर रहता है।

जब भीष्मदेव वृत्तिपरक कर्तव्यों का वर्णन कर रहे थे, तभी सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध की ओर चला गया। इच्छानुसार मरनेवाले योगी इसी अवधि की कामना करते हैं।

तात्पर्य : सिद्ध योगी अपनी इच्छानुसार उपयुक्त समय में भौतिक शरीर त्याग कर, इच्छित लोक को जा सकते हैं। भगवद्गीता (८.२४) में कहा गया है कि स्वरूप-सिद्ध आत्माएं, जिन्होंने परमेश्वर के हित को ही सब कुछ मान रखा है, सामान्य रूप से अग्निदेव के तेज के समय तथा जब सूर्य उत्तरायण होता है, तभी अपना शरीर त्याग करते हैं और इस प्रकार दिव्य आकाश प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में ऐसे काल को शरीर-त्याग के लिए शुभ माना जाता है और सिद्ध योगी इसका लाभ उठाते हैं। योग की सिद्धि का अर्थ है ऐसी श्रेष्ठ मानसिक अवस्था प्राप्त करना, जिससे इच्छानुसार शरीर का त्याग किया जा सके। योगी किसी भी लोक में किसी भौतिक यान के बिना तुरन्त ही पहुँच सकते हैं। योगी ऊँचे से ऊँचे लोकों में अल्प समय में पहुँच सकते हैं,

लेकिन भौतिकतावादी के लिए ऐसा कर पाना असम्भव है। यदि किसी उच्चतम लोक तक पहुँचने का प्रयास किया भी जाय, तो लाखों मील प्रति घण्टे की गति होने पर भी वहाँ तक पहुँचने में लाखों वर्ष लग जाएँगे। यह एक भिन्न विज्ञान है और भीष्मदेव इसका सदुपयोग करना जानते थे। वे अपना शरीर छोड़ने के लिए उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में थे और तब वह स्वर्णिम अवसर आ पहुँचा, जब वे अपने पौत्र पाण्डवों को उपदेश दे रहे थे। इस प्रकार उन्होंने पूज्य भगवान् श्रीकृष्ण, पुण्यात्मा पाण्डव तथा भगवान् व्यास इत्यादि महर्षियों के समक्ष अपना शरीर त्यागने की तैयारी की।

तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणी-
विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे ।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे
पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; उपसंहृत्य—हटाकर; गिरः—वाणी; सहस्रणीः—भीष्मदेव (जो हजारों विद्याओं तथा कलाओं में निष्णात थे); विमुक्त-सङ्गम्—अन्य सारी बातों से पूर्ण रूप से मुक्त; मनः—मन; आदि-पूरुषे—आदि भगवान्; कृष्णे—कृष्ण में; लसत्-पीत-पटे—पीताम्बर से सुशोभित; चतुर्-भुजे—चार भुजाओं वाले आदि नारायण में; पुरः—समक्ष; स्थिते—खड़े; अमीलित—खुले हुए; दृक्—दृष्टि; व्यधारयत्—स्थिर कर लिया।

तत्पश्चात् वह व्यक्ति, जो हजारों अर्थों से युक्त विभिन्न विषयों पर बोलता था तथा हजारों युद्धों में लड़ चुका था और हजारों व्यक्तियों की रक्षा कर चुका था, उसने बोलना बन्द कर दिया। उसने समस्त बन्धन से पूर्ण रूप से मुक्त होकर, अन्य सभी वस्तुओं से अपना मन हटाकर, अपने खुले नेत्रों को उन आदि भगवान् श्रीकृष्ण पर टिका दिया, जो उनके समक्ष खड़े थे, जो चार भुजाओं वाले थे और जगमग करते एवं चमचमाते हुए पीत वस्त्र धारण किये थे।

तात्पर्य : अपना भौतिक शरीर त्यागते समय, भीष्मदेव ने मनुष्य-जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्य से सम्बन्धित यशस्वी उदाहरण प्रस्तुत किया। मरते हुए व्यक्ति को जो विषय जितना आकर्षित करता है, वह उसके अगले जीवन का शुभारम्भ बनता है। अतएव यदि कोई परमेश्वर श्रीकृष्ण के

विचारों में लीन रहता है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसके लिए भगवान् के धाम में वापस जाना निश्चित है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.५-१५) में हुई है।

५. और मृत्यु के समय जो केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

६. शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

७. अतएव हे अर्जुन, तुन्हें सदैव कृष्ण-रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के अपने कर्तव्य को भी पूरा करना चाहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझमें स्थिर करके, तुम निश्चित रूप से मुझे पा सकोगे।

८. हे पार्थ (अर्जुन), जो व्यक्ति अपने मन को मेरा स्मरण करने में निरन्तर लगाये रखकर, अविचल भाव से भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह अवश्य मेरे पास पहुँच जाता है।

९. मनुष्य को चाहिए कि परम पुरुष का ध्यान सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, लघुतर से लघुतम, सबों के पालक, समस्त भौतिक बुद्धि से परे, अचिन्त्य तथा नित्य पुरुष के रूप में करे। वे सूर्य की भाँति तेजस्वी हैं और दिव्य होने के कारण इस भौतिक प्रकृति से परे हैं।

१०. मृत्यु के समय जो व्यक्ति अविचलित मन से योग-शक्ति द्वारा, अपने प्राण को भौहों के मध्य में स्थिर कर लेता है और पूर्ण भक्ति के साथ परमेश्वर के स्मरण में अपने को लगाता है, वह निश्चित रूप से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्राप्त होता है।

११. जो वेदों के ज्ञाता हैं, जो ॐकार का उच्चारण करते हैं, और जो संन्यास-आश्रम के महान् मुनि हैं, वे ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। ऐसी सिद्धि की इच्छा करने वाले को ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करना होता है। अब मैं तुम्हें वह विधि बताऊँगा, जिससे कोई व्यक्ति मुक्ति-लाभ कर सकता है।

१२. समस्त इन्द्रिय-क्रियाओं से विरक्ति को योग की स्थिति (योगधारण) कहा जाता है। इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बन्द करके तथा मन को हृदय में और प्राण वायु को सिर के ऊपरी भाग में स्थापित करके मनुष्य अपने आप को योग में स्थापित करता है।

१३. इस योग में स्थित होकर तथा अक्षरों के परम संयोग, ॐकार का उच्चारण करते हुए, यदि कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन करता है और अपने शरीर का त्याग करता है, तो वह निश्चित रूप से भगवद्धाम को जाता है।

१४. हे पृथापुत्र, जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहता है।

१५. महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, मुझे प्राप्त करने के पश्चात् कभी भी इस दुखों से पूर्ण क्षणिक जगत में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

श्री भीष्मदेव को इच्छानुसार शरीर त्याग करने की सिद्धि प्राप्त थी और मृत्यु के समय अपने समक्ष अपने अभीष्ट श्रीकृष्ण को पाकर वे धन्य थे। अतः उन्होंने अपने खुले हुए नेत्र उन पर टिका दिये। वे अपने प्रगाढ़ प्रेम के कारण श्रीकृष्ण को दीर्घ काल तक देखना चाह रहे थे। चूँकि वे शुद्ध भक्त थे, अतएव उन्हें योग की विशद् क्रियाओं की आवश्यकता नहीं थी। सिद्धि के लिए सरल भक्तियोग पर्याप्त है। अतएव भीष्मदेव की हार्दिक इच्छा भगवान् कृष्ण को साक्षात् देखने की थी, जो परम प्रेय थे और भगवत्कृपा से श्री भीष्मदेव को अपनी अन्तिम सास लेते समय यह सुअवसर प्राप्त हुआ।

विशुद्धया धारणया हताशुभ-

स्तदीक्षयैवाशु गतायुधश्रमः ।

निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रम-

स्तुष्टाव जन्यं विसृजज्जनार्दनम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशुद्धया—विशुद्ध; धारणया—ध्यान से; हत-अशुभ:—भौतिक अस्तित्व के अशुभ गुणों को जिसने कम कर दिया है; तत्—उसको; ईक्षया—देखने से; एव—केवल; आशु—तुरन्त; गता—गये हुए; युध—तीरों से; श्रमः—थकान;

निवृत्त—रोका जाकर; सर्व—समस्त; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; वृत्ति—कार्यकलाप; विभ्रमः—लिप्त होकर; तुष्टाव—उसने प्रार्थना की; जन्यम्—भौतिक आश्रय; विसृजन्—त्यागते हुए; जनार्दनम्—जीवों के नियन्ता को।

शुद्ध ध्यान द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को देखते हुए, वे तुरन्त समस्त भौतिक अशुभ अवस्थाओं से और तीरों के घाव से होनेवाली शारीरिक पीड़ा से मुक्त हो गये। इस प्रकार उनकी सारी इन्द्रियों के कार्यकलाप रूक गये और उन्होंने शरीर को त्यागते हुए समस्त जीवों के नियन्ता की दिव्य भाव से स्तुति की।

तात्पर्य : यह भौतिक शरीर उस भौतिक शक्ति का उपहार है, जिसे माया कहते हैं। भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाने के कारण मनुष्य भौतिक शरीर को अपना स्वरूप समझने लगता है। भीष्मदेव जैसे भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह माया भगवान् के आते ही दूर हो गई। भगवान् कृष्ण सूर्य के समान हैं और भ्रामक बहिरंगा भौतिक शक्ति अंधकार तुल्य है। सूर्य की उपस्थिति में यह सम्भव नहीं कि अंधकार टिक सके। अतएव भगवान् कृष्ण का आगमन होते ही सारा भौतिक कल्मष पूर्ण रूप से दूर हो गया और भीष्मदेव पदार्थ के साथ अशुद्ध इन्द्रियाँ के कार्यों को रोककर दिव्य पद को प्राप्त होने में समर्थ हो सके। आत्मा मूलतः शुद्ध होता है और इसीलिए इन्द्रियाँ भी शुद्ध ही होती हैं। भौतिक कल्मष से ही इन्द्रियाँ अपूर्णता तथा अशुद्धता से काम करने लगती हैं। किन्तु परम शुद्ध भगवान् कृष्ण का संसर्ग प्राप्त होते ही इन्द्रियाँ पुनः भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाती हैं। भीष्मदेव को अपना शरीर त्यागने के पूर्व भगवान् की उपस्थिति के कारण ही ऐसी दिव्य अवस्था प्राप्त हो सकी थी। भगवान् सभी जीवों के नियन्ता उपकारी हैं। समस्त वेदों का यही निर्णय है। वे परम शाश्वत तथा समस्त शाश्वत जीवों में परम पुरुष हैं।* तथा वे ही सभी प्रकार के जीवों की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने परम भक्त श्रीभीष्मदेव की दिव्य इच्छाओं को पूरा करने की सारी सुविधाएँ प्रदान कीं। तब भीष्मदेव ने इस प्रकार प्रार्थना की।

श्रीभीष्म उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा

भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
 स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
 प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भीष्मः उवाच—श्री भीष्मदेव ने कहा; इति—इस प्रकार; मतिः—सोचना, अनुभव करना तथा चाहना;
 उपकल्पिता—नियुक्त करना; वितृष्णा—समस्त इन्द्रिय इच्छाओं से मुक्त; भगवति—भगवान् में; सात्वत-पुङ्गवे—भक्तों
 के नेता में; विभूम्नि—परम; स्व-सुखम्—आत्म-तोष; उपगते—प्राप्त हुए; क्वचित्—कभी-कभी; विहर्तुम्—दिव्य
 आनन्द से; प्रकृतिम्—भौतिक जगत में; उपेयुषि—स्वीकार करें; यत्-भव—जिनसे सृष्टि; प्रवाहः—बनी है तथा विनष्ट
 होती है।

footnote start here

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।

एको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥

(कठोपनिषद्)

footnote ends here

भीष्मदेव ने कहा : अभी तक मैं जो सोचता, जो अनुभव करता तथा जो चाहता था, वह विभिन्न विषयों तथा वृत्तियों के अधीन था, किन्तु अब मुझे उसे परम शक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण में लगाने दो। वे सदैव आत्मतुष्ट रहनेवाले हैं, किन्तु कभी-कभी भक्तों के नायक होने के कारण, इस भौतिक जगत में अवतरित होकर दिव्य आनन्द-लाभ करते हैं, यद्यपि यह सारा भौतिक जगत उन्हीं के द्वारा सृजित है।

तात्पर्य : चूँकि भीष्मदेव एक राजपुरुष, कुरुवंश के मुखिया, महान सेनापति तथा क्षत्रियों के अग्रणी थे, अतएव उनका मन अनेक विषयों में बँटा रहता था और उनका चिन्तन, अनुभूति तथा उनकी इच्छाएँ विभिन्न बातों में लगी रहती थीं। अब शुद्ध भक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से, वे परम पुरुष भगवान् कृष्ण पर ही सारे चिन्तन, अनुभूति तथा इच्छाओं को केन्द्रित करना चाहते थे। यहाँ पर उन्हें (श्रीकृष्ण को) भक्तों के नायक तथा सर्वशक्तिमान कहे गये हैं। यद्यपि भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं, लेकिन वे अपने शुद्ध भक्तों को भक्तिमय सेवा का वरदान देने के निमित्त इस धरा पर स्वयं अवतरित होते हैं। कभी वे भगवान् कृष्ण के रूप में, जो वे स्वयं हैं और कभी

भगवान् चैतन्य के रूप में अवतरित होते हैं। दोनों ही शुद्ध भक्तों के नायक हैं। भगवान् के शुद्ध भक्तों में भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं रहती। अतएव वे सात्वत कहलाते हैं और भगवान् ऐसे सात्वतों में अग्रणी हैं। इसीलिए भीष्मदेव को अन्य कोई इच्छा नहीं हुई। जब तक मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं से शुद्ध नहीं हो लेता, तब तक भगवान् उसके अगुवा नहीं बनते। इच्छाओं को मिटाया नहीं जा सकता, लेकिन उन्हें केवल शुद्ध करना होता है। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने पुष्टि की है कि वे भगवान् की सेवा में निरन्तर लीन रहनेवाले शुद्ध भक्त को उसके हृदय के भीतर से उपदेश देते हैं। ऐसा उपदेश किसी भौतिक हेतु के लिए नहीं, अपितु अपने घर, भगवान् के धाम वापस जाने के लिए दिया जाता है। (*भगवद्गीता*, १०.१०) भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए, जो भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व दिखाना चाहता है, न केवल उसकी इच्छा पूर्ति करके उसके कार्यों के साक्षी बनते हैं, अपितु वे अभक्तों को भगवद्धाम जाने के लिए कभी कोई उपदेश नहीं देते। विभिन्न जीवों, भक्तों तथा अभक्तों, के साथ भगवान् के व्यवहार में यही अन्तर है। वे समस्त जीवों के अग्रणी हैं, जिस प्रकार राजा बन्दियों तथा स्वतन्त्र नागरिकों का समान रूप से शासक होता है। लेकिन भक्तों तथा अभक्तों के प्रति उनके व्यवहार भिन्न-भिन्न होते हैं। अभक्त लोग भगवान् से कभी कोई उपदेश ग्रहण करने की परवाह नहीं करते, इसलिए वे उनके विषय में मौन बने रहते हैं, यद्यपि वे उनके सारे कार्यों के साक्षी बनकर उन्हें अच्छा या बुरा फल देते रहते हैं। भक्तगण इस भौतिक अच्छाई-बुराई से परे होते हैं। वे अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होते रहते हैं, अतएव उन्हें किसी प्रकार की भौतिक इच्छा नहीं रहती। भक्त यह भी जानता है कि श्रीकृष्ण ही आदि नारायण हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने पूर्णांश से कारणोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट होते हैं, जो सारी भौतिक सृष्टि के मूल स्रोत हैं। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के साथ संगति करने को भी इच्छुक रहते हैं और उन्हीं के लिए वे इस धरा पर अवतार लेकर उन्हें जीवन-दान देते हैं। भगवान् खुद की इच्छा से प्रकट होते हैं। वे प्रकृति की परिस्थितियों से बाध्य नहीं होते। अतएव उन्हें *विभु* या सर्व-शक्तिमान कहा गया है, क्योंकि वे प्रकृति के नियमों से कभी नहीं बँधते।

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
 रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
 वपुरलककुलावृताननाब्जं
 विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन—तीनों लोक; कमनम्—अभीष्ट; तमाल-वर्णम्—तमालवृक्ष जैसे नीले रंगवाले; रवि-कर—सूर्य की किरणों वाला; गौर—सुनहरा रंग; वराम्बरम्—चमचमाता वस्त्र; दधाने—पहने हुए; वपुः—शरीर; अलक-कुल-आवृत—चन्दन की रचना से आवृत; अनन-अब्जम्—कमल के समान मुख; विजय-सखे—अर्जुन के मित्र में; रतिः अस्तु—आसक्ति हो; मे—मेरी; अनवद्या—फल की इच्छा से रहित, निष्काम ।

श्रीकृष्ण अर्जुन के घनिष्ठ मित्र हैं। वे इस धरा पर अपने दिव्य शरीर सहित प्रकट हुए हैं, जो तमाल वृक्ष सदृश नीले रंग का है। उनका शरीर तीनों लोकों (उच्च, मध्य तथा अधोलोक) में हर एक को आकृष्ट करनेवाला है। उनका चमचमाता पीताम्बर तथा चन्दनचर्चित मुखकमल मेरे आकर्षण का विषय बने और मैं किसी प्रकार के फल की इच्छा न करूँ।

तात्पर्य : जब श्रीकृष्ण स्वेच्छा से इस धरा पर प्रकट होते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से ऐसा करते हैं। उनके दिव्य शरीर के आकर्षक अंगों को देखने की इच्छा तीनों लोकों अर्थात् ग्रह मण्डल के उच्चस्थ, मध्यस्थ तथा अधोलोको में होती है। ब्रह्माण्ड भर में कहीं भी भगवान् कृष्ण जैसे सुन्दर आकृति के शरीर वाला कोई नहीं है। अतएव उनके दिव्य शरीर को भौतिक रूप से निर्मित किसी वस्तु से कुछ लेनादेना नहीं है। अर्जुन को यहाँ विजेता कहा गया है और कृष्ण को उसके घनिष्ठ मित्र। कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद शरशय्या पर लेटे भीष्मदेव भगवान् कृष्ण की वेशभूषा का स्मरण कर रहे हैं जिसे वे अर्जुन के सारथी रूप में धारण किए हुए थे। जब अर्जुन तथा भीष्म के मध्य युद्ध चल रहा था, तो भीष्म का ध्यान कृष्ण की चमचमाती वेश-भूषा की ओर आकर्षित हुआ था और इस तरह वे अप्रत्यक्ष रूप में अपने तथाकथित शत्रु अर्जुन की प्रशंसा, कृष्ण को अपने मित्र रूप में प्राप्त करने के लिए कर रहे थे। अर्जुन सदा ही विजेता रहा क्योंकि भगवान् उसके सखा थे। भीष्मदेव इस अवसर का लाभ भगवान् को विजय-सखे (अर्जुन

के मित्र) सम्बोधित करके उठाते हैं, क्योंकि जब भगवान् को उनके भक्तों के साथ जोड़कर पुकारा जाता है, तो वे अतीव प्रसन्न होते हैं, क्योंकि भक्तगण उनसे विभिन्न दिव्य रसों से बँधे हुए होते हैं। जब कृष्ण अर्जुन के सारथी थे, तो सूर्य की किरणें भगवान् के वस्त्रों पर पड़कर चमक रही थीं और ऐसी किरणों के परावर्तन से उत्पन्न सुन्दर रंग भीष्मदेव से भुलाये भी नहीं भूल रहा था। योद्धा के रूप में वे वीर रस में कृष्ण से अपने सम्बन्ध का आस्वाद कर रहे थे। विभिन्न रसों में किसी भी रस में भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध होने पर भक्त सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। अल्पज्ञ संसारी लोग जो भगवान् के दिव्य रूप में अपने को सम्बन्धित दिखाना चाहते हैं, वे सीधे ही ब्रजधाम की गोपियों का अनुकरण करते हुए माधुर्य रस का दिखावा करते हैं। भगवान् के साथ ऐसा हल्का प्रेम-सम्बन्ध संसारी व्यक्ति की कुत्सित भावना का द्योतक है, क्योंकि जिसने भगवान् के साथ माधुर्य रस का आनन्द उठा लिया है, वह संसारी शृंगार रस में लिप्त नहीं होता, क्योंकि इसकी भर्त्सना संसारी नीतिशास्त्र ने भी की है। भगवान् के साथ आत्म-विशेष का नित्य सम्बन्ध क्रमानुसार विकसित होता है। परमेश्वर के साथ जीव का सही सम्बन्ध पाँच प्रमुख रसों में से किसी एक में हो सकता है और असली भक्त के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भीष्मदेव इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। तो हमें ध्यान देकर यह समझना है कि वे महान सेनानायक भगवान् से किस प्रकार दिव्य रूप से जुड़े हुए हैं।

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-

कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।

मम निशितशरैर्विभिद्यमान-

त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

युधि—युद्ध-भूमि में; तुरग—घोड़े; रजः—धूल; विधूम्र—धुएँ के रंग में परिणत; विष्वक्—लहराते; कच—बाल; लुलित—बिखरे हुए; श्रमवारि—पसीना; अलङ्कृत—सुशोभित; आस्ये—मुख पर; मम—मेरे; निशित—नुकीले; शरैः—बाणों से; विभिद्यमान—बिंधा हुआ; त्वचि—खाल में; विलसत्—आनन्द लेते हुए; कवचे—कवच में; अस्तु—हो; कृष्णे—श्रीकृष्ण में; आत्मा—मन।

युद्धक्षेत्र में (जहाँ मित्रतावश श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ रहे थे) भगवान् कृष्ण के लहराते केश घोड़ों की टापों से उठी धूल से धूसरित हो गये थे तथा श्रम के कारण उनका मुख-मण्डल पसीने की बूंदों से भीग गया था। मेरे तीक्ष्ण बाणों से बने घावों से इन अलंकरणों की शोभा उन्हें अच्छी लग रही थी। मेरा मन उन्हीं श्रीकृष्ण के पास चले।

तात्पर्य : भगवान् शाश्वतता, ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप हैं। अतः जब भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा पाँच प्रमुख सम्बन्धों (रसों) अर्थात् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य में से किसी एक में वास्तविक प्रेम तथा अनुराग से की जाती है, तो भगवान् उसे ग्रहण करते हैं। श्री भीष्मदेव दास्य भाव से भगवान् के महान भक्त हैं। अतएव भगवान् के दिव्य शरीर पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा, किसी अन्य भक्त द्वारा उन पर की गई कोमल गुलाब के पुष्पों की वर्षा के समान है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के साथ भीष्मदेव ने जो कुछ किया था, उसके लिए वे पश्चात्ताप कर रहे हैं। लेकिन वास्तविक रूप में अपने दिव्य शरीर के कारण, भगवान् को तनिक भी पीड़ा नहीं हुई थी। उनका शरीर पदार्थ नहीं है। साक्षात् वे तथा उनका शरीर दोनों पूर्ण रूप से आध्यात्मिक हैं। आत्मा को न तो छेदा जा सकता है, न जलाया या सुखाया या गीला किया जा सकता है। इसकी विशद व्याख्या भगवद्गीता में की गई है। स्कन्द पुराण में भी ऐसा ही कथन मिलता है। उसमें कहा गया है कि आत्मा सदैव कल्मषहीन तथा अविनाशी है। न तो उसे कष्ट दिया जा सकता है, न ही उसे सुखाया जा सकता है। जब भगवान् विष्णु अवतरित होकर हमारे समक्ष प्रकट होते हैं तब वे बद्धजीवों के समान भौतिक बन्धन से जकड़े हुए लगते हैं, लेकिन वे ऐसा असुरों या अविश्वासियों को मोहित करने के लिए करते हैं, जो भगवान् को उनके अवतार लेने के प्रारम्भ से ही मारने की ताक में रहते हैं। कंस कृष्ण को और रावण राम को मारना चाह रहे थे, क्योंकि मूर्खतावश वे इस तथ्य से अनजान थे कि भगवान् कभी मारे नहीं जा सकते, क्योंकि आत्मा का कभी विनाश नहीं होता।

अतएव भीष्मदेव द्वारा भगवान् कृष्ण के शरीर को बाणों से बेधना, अभक्त नास्तिकों के लिए एक मोहजनक समस्या है, लेकिन जो भक्त या मुक्तात्मा हैं, वे मोहित नहीं होते।

भीष्मदेव ने भगवान् की सर्व-करुणामय मुद्रा की प्रशंसा की, क्योंकि उन्होंने अर्जुन को अकेले नहीं छोड़ा, यद्यपि भीष्मदेव के बाणों से वे विचलित थे। न ही उन्हें भीष्म की मृत्युशय्या के निकट आने में कोई संकोच हुआ, यद्यपि भीष्म ने युद्धभूमि में उनके साथ दुर्व्यवहार किया था। इस दशा में भीष्म का पश्चात्ताप तथा भगवान् की करुणामय मुद्रा, दोनों ही अद्वितीय हैं।

महान आचार्य तथा भगवान् के माधुर्य रस के भक्त श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्व की बात कही है। वे कहते हैं कि भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों से भगवान् के शरीर में उत्पन्न हुए घाव उन्हें उसी प्रकार आनन्ददायक लग रहे थे, जिस प्रकार प्रबल कामेच्छा से भगवान् के शरीर में प्रेमिका की चुटकी। प्रेमिका द्वारा इस प्रकार चिकोटी काटा जाना, चाहे शरीर में घाव ही क्यों न करे, शत्रुता का प्रतीक नहीं माना जाता। अतएव भगवान् तथा उनके भक्त श्री भीष्मदेव के बीच जो युद्ध हुआ, वह दिव्य आनन्द का आदान-प्रदान था। वह किसी भी प्रकार से संसारी न था। इसके अतिरिक्त, चूँकि भगवान् का शरीर तथा भगवान् अभिन्न हैं, अतएव परम पूर्ण शरीर में घाव होने की कोई सम्भावना नहीं थी। तीव्र बाणों के द्वारा उत्पन्न घाव सामान्य व्यक्ति को चकरानेवाले हैं, लेकिन जिसको थोड़ा भी परम ज्ञान है, वह इसे शौर्य का दिव्य आदान-प्रदान समझेगा। भीष्मदेव के तीक्ष्ण बाणों से उत्पन्न घावों से भगवान् परम प्रसन्न थे। *विभिद्यमान* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् की त्वचा भगवान् से भिन्न नहीं है। चूँकि हमारी त्वचा हमारे आत्मा से भिन्न है, अतएव हमारे लिए *विभिद्यमान* अथवा “रगड़ खाया” एवं “कटा” शब्द अत्यन्त उपयुक्त होगा। दिव्य आनन्द कई तरह का होता है और इस जगत में जितने भी कार्य-कलाप हैं, वे दिव्य आनन्द के उल्टे प्रतिबिम्ब मात्र हैं। चूँकि इस संसार की हर वस्तु सांसारिक है, अतएव वह उन्माद से पूर्ण है, लेकिन परम जगत में प्रत्येक वस्तु एक ही परम स्वभाव की होने के कारण वहाँ तरह-तरह के उन्माद से रहित भोग हैं। भगवान् को अपने परम

भक्त भीष्मदेव द्वारा उत्पन्न घाव आनन्द प्रदान कर रहे थे और चूँकि भीष्मदेव वीर रस के भक्त हैं, अतएव वे उसी क्षत-विक्षत दशा वाले कृष्ण पर अपना ध्यान स्थिर करते हैं।

सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये
निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्षणा
हतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सपदि—युद्ध-भूमि में; सखि-वचः—मित्र का आदेश; निशम्य—सुनकर; मध्ये—बीच में; निज—अपना; परयोः—तथा विपक्षीदल; बलयोः—शक्ति; रथम्—रथ में; निवेश्य—प्रविष्ट होकर; स्थितवति—वहाँ रुक कर; पर-सैनिक—विपक्षी दल के सैनिकों की; आयुः—आयु, उम्र; अक्षणा—देखने से; हतवति—कम करने का कार्य, छीन लेना; पार्थ—पृथा-पुत्र अर्जुन का; सखे—मित्र में; रतिः—घनिष्ठ सम्बन्ध, प्रीति; मम—मेरा; अस्तु—हो।

अपने मित्र के आदेश का पालन करते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन तथा दुर्योधन के सैनिकों के बीच में प्रविष्ट हो गये और वहाँ स्थित होकर उन्होंने अपनी कृपापूर्ण चितवन से विरोधी पक्ष की आयु क्षीण कर दी। यह सब शत्रु पर उनके दृष्टिपात करने मात्र से ही हो गया। मेरा मन उन कृष्ण में स्थिर हो।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१.२१-२५) में अर्जुन ने अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण को आज्ञा दी कि वे उसके रथ को सैनिकों के व्यूह के बीच में ले चलें। उसने उन्हें आज्ञा दी कि वे वहाँ तब तक ठहरें जब तक वह युद्ध में आये हुये उन शत्रुओं का निरीक्षण पूरा न कर ले, जिनसे उसे लड़ना था। जब भगवान् से यह कहा गया, तो उन्होंने झट-से वैसा कर दिया, मानो वे कोई आज्ञापालक हों। भगवान् ने विपक्षी-दल के सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की ओर संकेत करते हुए कहा, “ये रहे भीष्म, ये रहे द्रोण इत्यादि, इत्यादि।” परम पुरुष होने के कारण भगवान् न तो किसी के आज्ञापालक हैं, न सन्देशवाहक, चाहे वह जो भी हो। लेकिन अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपा तथा वत्सलता के कारण, कभी-कभी वे अपने भक्त के आदेश का पालन एक तत्पर दास की तरह करते हैं। अपने भक्त के आदेश का पालन करते हुए वे उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार पिता अपने नन्हें बालक के आदेश को पूरा करने से प्रसन्न होता है। यह तभी सम्भव है जब

भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य शुद्ध दिव्य प्रेम हो और भीष्मदेव इस तथ्य से अवगत थे। इसीलिए उन्होंने भगवान् को 'पार्थ-सखे' कह कर सम्बोधित किया।

भगवान् ने अपनी कृपापूर्ण चितवन से विपक्षियों की आयु क्षीण कर दी। कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में सम्मिलित सारे योद्धाओं को मोक्ष-लाभ हो सका, क्योंकि मृत्यु के समय उन्होंने साक्षात् भगवान् का दर्शन किया था। अतएव अर्जुन के शत्रुओं की आयु को क्षीण करने का अर्थ यह नहीं होता कि कृष्ण अर्जुन का पक्ष ले रहे थे। वस्तुतः वे विपक्षियों पर कृपालु थे, क्योंकि यदि वे सामान्य तौर पर घर में मरे होते, तो उन्हें मोक्ष-लाभ न हुआ होता। यहाँ उन्हें मृत्यु के समय भगवान् के दर्शन करने का तथा भौतिक जीवन से मुक्ति पाने का अवसर मिला था। अतएव भगवान् सर्व-मंगलमय हैं और वे जो कुछ करते हैं, वह सबों की भलाई के लिए होता है। ऊपर-ऊपर से यह सब उनके घनिष्ठ मित्र अर्जुन की विजय के लिए प्रतीत हो रहा था, लेकिन वास्तविक रूप में यह अर्जुन के शत्रुओं की भलाई के लिए था। ऐसे हैं भगवान् के दिव्य कार्य-कलाप और जो भी इन्हें समझता है, वह भी इस भौतिक शरीर का त्याग करने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् किसी भी हालत में कोई गलत कार्य नहीं करते, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं और सर्वदा सबों के लिए मंगलमय हैं।

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य

स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।

कुमतिमहरदात्मविद्यया य-

श्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

व्यवहित—दूर खड़े; पृतना—सैनिकों के; मुखम्—मुँह को; निरीक्ष्य—देखकर; स्व-जन—सम्बन्धीगण; वधात्—मारने से; विमुखस्य—हिचकनेवाले का; दोष-बुद्ध्या—दूषित बुद्धि से; कुमतिम्—अल्पज्ञान; अहरत्—समूल नष्ट किया; आत्म-विद्यया—दिव्य ज्ञान से; यः—जो; चरण—चरणों का; रतिः—आकर्षण; परमस्य—परम का; तस्य—उस; मे—मेरा; अस्तु—हो।

जब युद्धक्षेत्र में अर्जुन अपने समक्ष सैनिकों तथा सेनापतियों को देखकर अज्ञान से कलुषित हो रहा लग रहा था, तो भगवान् ने उसके अज्ञान को दिव्य ज्ञान प्रदान करके समूल नष्ट कर दिया। उनके चरणकमल सदैव मेरे आकर्षण के लक्ष्य बने रहें।

तात्पर्य : राजाओं तथा सेनापतियों को लड़नेवाले सैनिकों के समक्ष खड़ा होना पड़ता था। वास्तविक युद्ध की प्रणाली यही है। तब राजा तथा सेनापति आज के तथाकथित राष्ट्रपति या रक्षा-मंत्री जैसे नहीं होते थे। जब बेचारे सैनिक या भाड़े के सिपाही एक दूसरे से आमने-सामने लड़ रहे होते थे, तो राजा या सेनापति घर में बैठे नहीं रह सकते थे। यह आधुनिक प्रजातन्त्र का विधान हो सकता है, लेकिन जब वास्तविक राजतन्त्र था तो सम्राट ऐसे नहीं होते थे जो योग्यता पर विचार किये बिना चुने जानेवाले कायरों जैसे हों। जैसाकि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल से स्पष्ट है, दोनों पक्षों के कार्यकारी प्रधान यथा द्रोण, भीष्म, अर्जुन तथा दुर्योधन सोये हुए नहीं थे, वे सभी ऐसे युद्ध में भाग ले रहे थे, जो लोक-आवास के स्थानों से कहीं दूर संपन्न होने जा रहा था। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्दोष नागरिक प्रतिद्वंद्वी राजसी दलों के युद्ध के प्रभावों से बचे रहते थे। ऐसे युद्ध में जो कुछ हो रहा होता था, उसे नागरिकों द्वारा देखे जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो अपनी आय का चौथा भाग शासक को देना होता था, चाहे वह अर्जुन हो या दुर्योधन। कुरुक्षेत्र के युद्ध में दोनों दलों के सेनानायक आमने-सामने खड़े थे। अर्जुन ने उन्हें अत्यन्त करुणा से देखा तथा पछताने लगा कि राज्य-लिप्सा के कारण वह अपने स्वजनों को ही मार डालेगा। वह दुर्योधन द्वारा बनाये गये भयानक सैन्य-व्यूह से रंच भर भी भयभीत नहीं था, लेकिन भगवान् का दयालु भक्त होने के कारण यह स्वाभाविक था कि उसे सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य होता, अतएव उसने निश्चय किया कि वह सांसारिक वैभव के लिए युद्ध नहीं करेगा। लेकिन यह तो अल्प ज्ञान के कारण था; इसीलिए कहा गया है कि उसकी बुद्धि कलुषित हो गई थी। उसकी बुद्धि को कभी भी कलुषित नहीं होना चाहिए था, क्योंकि वह भगवान् का भक्त तथा सखा था, जैसा कि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय से स्पष्ट है। निश्चय ही अर्जुन की बुद्धि कुलुषित हो गई थी, अन्यथा देहात्मबुद्धि के द्वारा भौतिक बन्धन में पड़े कलुषित बद्धजीवों के कल्याण के

लिए भगवद्गीता का उपदेश देने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ होता? भगवद्गीता संसार के बद्धजीवों के उद्धार के लिए सुनाई गई, जिससे वे शरीर को मिथ्या ही आत्मा न मान बैठें और परमेश्वर के साथ आत्मा के नित्य सम्बन्ध को पुनः स्थापित कर सकें। भगवान् द्वारा आत्म-विद्या का प्रवचन, मुख्य रूप से ब्रह्माण्ड के सभी भागों के समस्त व्यक्तियों के लाभ के लिए हुआ था।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-

मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।

धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-

ह्रिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

स्व-निगमम्—अपनी सत्यनिष्ठा; अपहाय—निरस्त करने के लिए; मत्-प्रतिज्ञाम्—मेरी प्रतिज्ञा; ऋतम्—वास्तविक; अधि—अधिक; कर्तुम्—करने के लिए; अवप्लुतः—नीचे उतरते हुए; रथ-स्थः—रथ से; धृत—ग्रहण करके; रथ—रथ; चरणः—पहिया, चक्र; अभ्ययात्—तेजी से चले; चलद्गुः—पृथ्वी को पद-दलित करते; हरिः—सिंह; इव—सदृश; हन्तुम्—मारने के लिए; इभम्—हाथी को; गत—एक ओर छोड़कर; उत्तरीयः—उत्तरीय, ओढ़ने का वस्त्र, दुपट्टा।

मेरी इच्छा को पूरी करते हुए तथा अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर, वे रथ से नीचे उतर आये, उसका पहिया उठा लिया और तेजी से मेरी ओर दौड़े, जिस तरह कोई सिंह किसी हाथी को मारने के लिए दौड़ पड़ता है। इसमें उनका उत्तरीय वस्त्र भी रास्ते में गिर गया।

तात्पर्य : यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध सैन्य-सिद्धान्तों पर लड़ा गया था, लेकिन साथ ही साथ में खेल जैसी भावना भी थी, मानो वह दो मित्रों के बीच होनेवाला युद्ध हो। दुर्योधन ने भीष्मदेव की आलोचना की और दोषारोपण किया कि वे अर्जुन से पितृवत् स्नेह के कारण उसे मारने से हिचकते हैं। एक क्षत्रिय युद्ध के सिद्धान्त पर किया गया अपमान सह नहीं सकता। अतः भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की कि अगले दिन वे पाँचों पाण्डवों का वध अपने विशिष्ट हथियार से कर देंगे। इससे दुर्योधन संतुष्ट हो गया और उसने अपने पास वह तीर ले लिये, जिसे वह अगले दिन युद्ध के समय देगा। लेकिन अर्जुन ने चाल करके दुर्योधन से वे तीर प्राप्त कर लिये और भीष्मदेव को यह समझते देर न लगी कि यह भगवान् कृष्ण की चाल है। अतः भीष्मदेव ने प्रतिज्ञा की कि अगले दिन कृष्ण को अस्त्र उठाना ही पड़ेगा, अन्यथा उनका मित्र अर्जुन मारा जाएगा। दूसरे दिन

भीष्मदेव ने इतना भयानक युद्ध किया कि अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही संकट में पड़ गये। अर्जुन लगभग हार ही चुका था; परिस्थिति इतनी नाजुक थी कि वह भीष्मदेव द्वारा अगले ही क्षण मारा जाने वाला था। उस समय भगवान् कृष्ण ने भक्त भीष्म की प्रतिज्ञा को रखकर, उन्हें प्रसन्न करना चाहा, क्योंकि यह उनकी अपनी प्रतिज्ञा से अधिक महत्वपूर्ण था। ऊपर से ऐसा लगता है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी। उन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व प्रतिज्ञा की थी कि मैं कोई अस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा और किसी भी पक्ष पर अपना बल नहीं आजमाऊँगा। लेकिन अर्जुन की रक्षा करने के लिए वे रथ से उतरे, रथ का पहिया उठाया और क्रुद्ध होकर भीष्मदेव पर तेजी से इस तरह झपटे, जैसे सिंह हाथी को मारने झपटता है। इससे रास्ते में उनका अंगवस्त्र गिर गया और क्रोधवश उन्हें इसका होश तक न रहा कि रास्ते में उनसे क्या गिर गया। तब भीष्म ने तुरन्त हथियार डाल दिये और स्वयं अपने प्रिय प्रभु श्रीकृष्ण द्वारा मारे जाने के लिए खड़े हो गये। उस दिन का युद्ध उसी क्षण समाप्त हो गया और अर्जुन की प्राण-रक्षा हो सकी। निस्सन्देह अर्जुन की मृत्यु की कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि साक्षात् भगवान् रथारूढ़ थे, लेकिन चूँकि भीष्मदेव चाह रहे थे कि श्रीकृष्ण अपने मित्र को बचाने के लिए हथियार उठाए, अतएव भगवान् ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि अर्जुन की मृत्यु सन्निकट जान पड़ी। वे भीष्मदेव के समक्ष यह दिखाने के लिए खड़े रहे कि भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी हो गई और उन्होंने पहिया उठा लिया।

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः

क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।

प्रसभमभिससार मद्वधार्थं

स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

शित—पैना; विशिख—बाण; हतः—से घायल; विशीर्ण—दंशः—छिन्न हुआ कवच; क्षतज—घावों से; परिप्लुतः—रक्त से सने; आततायिनः—महान आक्रामक; मे—मेरा; प्रसभम्—क्रुद्ध मुद्रा में; अभिससार—चलने लगे; मत्-वध-अर्थम्—मुझे मारने के लिए; सः—वे; भवतु—हो; मे—मेरे; भगवान्—भगवान्; गतिः—लक्ष्य; मुकुन्दः—मोक्षदाता ।

भगवान् श्रीकृष्ण जो मोक्ष के दाता हैं, वे मेरे अनन्तिम गंतव्य हों। युद्ध-क्षेत्र में उन्होंने मेरे ऊपर आक्रमण किया, मानो वे मेरे पैने बाणों से बने घावों के कारण क्रुद्ध हो गये हों। उनका कवच छितरा गया था और उनका शरीर खून से सन गया था।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र के युद्ध-क्षेत्र में भगवान् कृष्ण तथा भीष्मदेव के आपसी व्यवहार अत्यन्त रोचक हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की गतिविधियाँ अर्जुन के प्रति पक्षपातपूर्ण और भीष्म के प्रति शत्रुतापूर्ण लग रही थी, लेकिन वास्तव में यह सब कुछ महान् भक्त भीष्मदेव के प्रति विशेष अनुग्रह दिखाने के लिए था। ऐसे आचरणों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि भक्त शत्रु का अभिनय करते हुए भी भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। परम पूर्ण होने के कारण भगवान् अपने भक्त की शत्रु-वेश में भी सेवा ग्रहण कर सकते हैं। परमेश्वर का कोई शत्रु नहीं हो सकता, न ही कोई तथाकथित शत्रु उन्हें हानि पहुँचा सकता है, क्योंकि वे अजित हैं। तो भी उन्हें आनन्द आता है, जब उनका कोई शुद्ध भक्त उन पर शत्रु की भाँति प्रहार करता है या उच्च पद से उनका आलम्ब करता है, यद्यपि उनसे श्रेष्ठ कोई हो ही नहीं सकता। भक्त तथा भगवान् के मध्य ये कतिपय दिव्य आदान-प्रदान के व्यवहार हैं। किन्तु जिन्हें शुद्ध भक्ति की कोई जानकारी नहीं है वे ऐसे आचरणों के रहस्य को नहीं जान सकते। भीष्मदेव ने एक वीर योद्धा की भूमिका निभाई और उन्होंने जान-बूझकर भगवान् के शरीर को बाणों से वींध कर दिया, जिससे सामान्य लोगों की दृष्टि में भगवान् घायल प्रतीत तो हुए, लेकिन वास्तव में यह अभक्तों को मोहग्रस्त करने के लिए था। पूर्णतः दिव्य शरीर कभी घायल नहीं किया जा सकता और भक्त कभी भी भगवान् का शत्रु नहीं बन सकता। यदि ऐसा ही होता, तो भीष्मदेव उन्हीं भगवान् को अपने जीवन के अनन्तिम गंतव्य के रूप में न चाहे होते। यदि भीष्मदेव कृष्ण के शत्रु होते, तो कृष्ण बिना हिले-डुले ही उनका विनाश कर देते। उन्हें रक्त से सने घाव लेकर भीष्मदेव के समक्ष आने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन उन्होंने ऐसा किया, क्योंकि यह योद्धा भक्त अपने द्वारा उत्पन्न घावों से सुशोभित भगवान् के दिव्य सौंदर्य का दर्शन करना चाह रहा था। यह है दिव्य-रस के आदान-प्रदान की विधि। ऐसे आचरण से भक्त तथा भगवान् अपने-अपने स्थानों में महिमा-मंडित होते हैं। भगवान्

इतने क्रुद्ध थे कि जब वे भीष्मदेव की ओर लपक रहे थे, तो अर्जुन ने उन्हें रोका, लेकिन वे माने नहीं और भीष्मदेव की ओर उसी तरह बढ़े चले जा रहे थे जिस प्रकार एक प्रेमी दूसरे प्रेमी के पास विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए बढ़ता जाता है। ऊपरी तौर से उनका संकल्प भीष्मदेव को मारने का था, लेकिन वास्तव में वे अपने महान् भक्त को प्रसन्न करना चाह रहे थे। भगवान् निस्सन्देह समस्त बद्धजीवों के उद्धारक हैं। निर्विशेषवादी उनसे मोक्ष की कामना करते हैं और वे उन्हें मनवांछित फल देते हैं, लेकिन यहाँ तो भीष्मदेव भगवान् के साक्षात् स्वरूप को देखने की इच्छा व्यक्त करते हैं। सारे शुद्ध भक्त ऐसी ही कामना करते हैं।

विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे
धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षो-
र्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विजय—अर्जुन; रथ—रथ; कुटुम्ब—जान की बाजी लगाकर जिस वस्तु की रक्षा की जाय; आत्त-तोत्रे—दाहिने हाथ में चाबुक लिए; धृत-हय—घोड़ों की लगाम थामे; रश्मिनि—रस्सियाँ; तत्-श्रिया—सुन्दरतापूर्वक खड़े हुए; ईक्षणीये—देखे जाने के लिए; भगवति—भगवान् में; रतिः अस्तु—मेरा आकर्षण हो; मे—मेरा; मुमूर्षोः—मरणासन्न; यम्—जिसको; इह—इस संसार में; निरीक्ष्य—देखने से; हताः—मारे गये; गताः—प्राप्त; स्व-रूपम्—मूल रूप को।

मृत्यु के अवसर पर मेरा चरम आकर्षण भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति हो। मैं अपना ध्यान अर्जुन के उस सारथी पर एकाग्र करता हूँ, जो अपने दाहिने हाथ में चाबुक लिए थे और बाएँ हाथ से लगाम की रस्सी थामे और सभी प्रकार से अर्जुन के रथ की रक्षा करने के प्रति अत्यंत सावधान थे। जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में उनका दर्शन किया, उन सबों ने मृत्यु के बाद अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लिया।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त निरन्तर अपने हृदय में भगवान् की उपस्थिति का दर्शन करता है, क्योंकि प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् से वह दिव्य रूप से सम्बन्धित रहता है। ऐसा शुद्ध भक्त भगवान् को क्षण भर के लिए भी नहीं भूल सकता। यही समाधि है। योगी अपनी इन्द्रियों को अन्य समस्त व्यापारों से हटाकर परमात्मा में एकाग्र करने का प्रयास करता है और

इस तरह अन्ततोगत्वा वह समाधि प्राप्त करता है। लेकिन भक्त तो भगवान् के साकार रूप के साथ-साथ उनके नाम, यश, लीलाओं आदि का निरन्तर स्मरण करते हुए, सहज ही समाधि प्राप्त कर लेता है। अतएव योगी तथा भक्त की एकाग्रता एक ही स्तर पर नहीं होती। योगी की एकाग्रता यान्त्रिक होती है, जबकि शुद्ध भक्त की एकाग्रता शुद्ध प्रेममय तथा नैसर्गिक स्नेहयुक्त सहज भाव होता है। भीष्मदेव शुद्ध भक्त थे और सेनानायक के रूप में, वे निरन्तर पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् के युद्धक्षेत्र वाले स्वरूप का स्मरण कर रहे थे। अतएव पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् की लीला भी शाश्वत है। भगवान् की लीलाएँ, कंस के कारागार में अपने जन्म-काल से लेकर, अंत में मौशल लीला तक, समस्त ब्रह्माण्डों में एक-एक करके उसी प्रकार चक्कर लगाती हैं जिस प्रकार घड़ी की सुइयाँ एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक चलती जाती हैं। और ऐसी लीला में पाण्डव तथा भीष्म जैसे उनके पार्षद उनके नित्य संगी रहते हैं। इस तरह भीष्मदेव पार्थ-सारथी के रूप में भगवान् के सुन्दर-स्वरूप को, जिसे अर्जुन भी नहीं देख पाया, कभी नहीं भुला पाये। अर्जुन पार्थ-सारथी के पीछे थे, जबकि भीष्मदेव भगवान् के बिल्कुल सामने। जहाँ तक भगवान् के सैनिक वेश का सम्बन्ध है, भीष्मदेव ने इसका आस्वादन अर्जुन की अपेक्षा अधिक रुचि से किया।

कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि के सारे सैनिकों तथा व्यक्तियों ने मृत्यु के बाद भगवान् जैसा अपना मूल आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त किया, क्योंकि भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे सभी उस अवसर पर उनका साक्षात् दर्शन कर सके। जलचर से लेकर ब्रह्मा तक विकास-चक्र में चक्कर लगाते हुए सभी बद्धजीव माया के रूप में हैं या उस रूप में हैं, जिसे उन्होंने अपने कर्मों से प्राप्त किया है और जो भौतिक प्रकृति ने उन्हें प्रदान किया है। बद्धजीवों के भौतिक रूप बाहरी वस्त्रों की तरह हैं और जब बद्धजीव माया के चंगुल से छूट जाता है, तब उसे अपना मूल स्वरूप प्राप्त होता है। निर्विशेषवादी भगवान् के निराकार ब्रह्म तेज को प्राप्त करने का इच्छुक रहता है, लेकिन भगवान् के अंशस्वरूप जीवित स्फुलिंगों के लिए यह रंचमात्र भी हितकर नहीं है। अतएव निर्विशेषवादी पुनः नीचे गिरते हैं और फिर से भौतिक रूप प्राप्त करते हैं, जो आत्मा के लिए मिथ्या होते हैं।

भगवान् को आध्यात्मिक स्वरूप जैसा रूप, चाहे वह दो भुजाओं वाला हो या चतुर्भुजी, भक्तों को आत्मा की मूल प्रकृति के अनुसार वैकुण्ठ में या गोलोक में प्राप्त होता है। यह स्वरूप जो शत-प्रतिशत आध्यात्मिक है, जीव का स्वरूप है और उन सारे व्यक्तियों ने, जिन्होंने कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनों ओर से युद्ध किया, अपना-अपना स्वरूप प्राप्त किया जिसकी पुष्टि भीष्मदेव कर रहे हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण केवल पाण्डवों पर ही कृपालु नहीं थे। वे दूसरों पक्षों पर भी दयालु थे, क्योंकि उन सबों को एक ही जैसा फल प्राप्त हुआ। भीष्मदेव भी वही सुविधा चाह रहे थे और यही भगवान् से उनकी प्रार्थना थी, यद्यपि भगवान् के पार्षद रूप में किसी भी स्थिति में उनका पद सुरक्षित है। निष्कर्ष यह निकला कि जो भी व्यक्ति भगवान् का दर्शन करते हुए मरता है, चाहे वह दर्शन भीतर से हो या बाहर से, वह अपना स्वरूप प्राप्त करता है। वही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

ललितगतिविलासवल्गुहास-

प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।

कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः

प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ललित—आकर्षक; गति—हिलना-डुलना; विलास—मुग्ध करनेवाले कृत्य; वल्गुहास—मधुर मुस्कान; प्रणय—प्रेमपूर्ण; निरीक्षण—चिंतवन; कल्पित—मानसिकता; उरुमानाः—अत्यन्त महिमावान्; कृत-मनु-कृत-वत्यः—चाल का अनुकरण करने में; उन्मद-अन्धाः—आनन्द में पागल हुए; प्रकृतिम्—लक्षण; अगन्—प्राप्त किया; किल—निश्चय ही; यस्य—जिसका; गोप-वध्वः—गोपियाँ।

मेरा मन उन भगवान् श्रीकृष्ण में एकाग्र हो, जिनकी चाल तथा प्रेम भरी मुस्कान ने ब्रजधाम की रमणियों (गोपियों) को आकृष्ट कर लिया। [रास लीला से] भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर गोपिकाओं ने भगवान् की लाक्षणिक गतियों का अनुकरण किया।

तात्पर्य : ब्रजभूमि की गोपियों ने प्रेममय सेवा में अतीव आह्लाद से भगवान् के साथ-साथ नाचकर, माधुर्य रूप में उनका आलिंगन करके, उनके साथ हास-परिहास करके तथा प्रेमपूर्ण भाव में उनकी ओर देखकर उनके साथ एकात्म्य स्थापित किया। अर्जुन के साथ भगवान् का सम्बन्ध,

भीष्मदेव जैसे भक्त द्वारा प्रशंसनीय है, लेकिन गोपियों के साथ भगवान् का सम्बन्ध और भी अधिक शुद्ध प्रेममय सेवा के कारण अधिक प्रशंसनीय है। भगवान् की कृपा से अर्जुन को सारथी के रूप में भगवान् की भ्रातृ सेवा प्राप्त हुई थी, लेकिन भगवान् ने अर्जुन को अपने समान स्तर की शक्ति प्रदान नहीं की। किन्तु गोपियाँ तो भगवान् के बराबर का स्तर प्राप्त करके असल में भगवान् के साथ एकात्म हो गईं। भीष्म द्वारा गोपियों के स्मरण उनकी इस आकांक्षा की एक प्रार्थना है, जिससे उन्हें जीवन की अन्तिम अवस्था में गोपियों की कृपा भी प्राप्त हो सके। भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को महिमामण्डित होते देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं, अतएव भीष्मदेव ने केवल अर्जुन के कृत्यों का ही यशोगान नहीं किया, अपितु गोपियों का भी स्मरण किया, जिन्हें भगवान् की प्रेममयी सेवा करने के कारण भगवान् की अद्वितीय कृपा प्राप्त हो सकी। भगवान् के साथ गोपियों की समता कभी भी निर्विशेषवादियों के सायुज्य मोक्ष के समान समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। यह समता पूर्ण आह्लाद की है, जहाँ अन्तर पूर्णतया मिट जाता है, क्योंकि प्रेमी-प्रेमिका के हित आपस में जुड़ जाते हैं।

मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तः

सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।

अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो

मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मुनि-गण—परम विद्वान् साधुजन; नृप-वर्य—महान् शासक राजा; सङ्कुले—समूह में से; अन्तः—सदसि—सभा, सम्मेलन में; युधिष्ठिर—महाराज युधिष्ठिर का; राज-सूये—राजा द्वारा सम्पन्न यज्ञ; एषाम्—समस्त महापुरुषों का; अर्हणम्—सादर पूजा; उपपेद—प्राप्त किया; ईक्षणीयः—आकर्षण की वस्तु; मम—मेरी; दृशि—दृष्टि; गोचरः—जितना दिखे उसी के भीतर, समक्ष; एषः आविः—उपस्थिति; आत्मा—आत्मा।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ में विश्व के सारे महापुरुषों, राजाओं तथा विद्वानों की एक महान् सभा हुई थी और उस सभा में सबों ने श्रीकृष्ण की पूजा परम पूज्य भगवान् के रूप में की थी। यह सब मेरी आँखों के सामने हुआ और मैंने इस घटना को याद रखा, जिससे मेरा मन भगवान् में लगा रहे।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध में विजयी होने के बाद चक्रवर्ती सम्राट् महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया। उन दिनों, सिंहासन पर बैठने के बाद, राजा अपनी श्रेष्ठता घोषित करने के उद्देश्य से विश्वभर में विचरण हेतु एक घोड़ा छोड़ता था और किसी भी राजकुमार या राजा को यह स्वतन्त्रता थी कि वह उस सम्राट की सत्ता को माने या न माने। जो विरोध करता था, उसे सम्राट से युद्ध करके विजय द्वारा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी होती थी। हारने पर उसे अपने जीवन की बलि देनी होती थी जिससे उसके स्थान पर दूसरा राजा या प्रशासक बन सके। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने भी ऐसा ही घोड़ा छोड़ा और संसार भर के राजाओं तथा राजकुमारों ने महाराज युधिष्ठिर के नेतृत्व को चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के राज्य के सारे शासकों को राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया गया। ऐसे यज्ञ में अरबों रुपये व्यय होते थे, अतएव यह छोटे-मोटे राजाओं के बस की बात न थी। ऐसा यज्ञ, अत्यधिक खर्चीला होने तथा वर्तमान परिस्थितियों में सम्पन्न कर पाने में कठिन होने से, इस कलियुग में सम्भव नहीं है। न ही कोई ऐसे पुरोहित रह गये हैं, जो ऐसे यज्ञ का भार अपने ऊपर ले सकें।

इस प्रकार आमन्त्रित होने के बाद, संसार भर के राजा तथा बड़े-बड़े मुनिजन महाराज युधिष्ठिर की राजधानी में एकत्र हुए। इस अवसर पर एक विद्वत्सभा बुलाई गई, जिसमें बड़े-बड़े दार्शनिक, धर्मज्ञ, वैद्य, विज्ञानी तथा सारे महान् ऋषि सम्मिलित हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सर्वोच्च व्यक्ति होते थे, और वे सभी उस सभा में आमन्त्रित थे। समाज में वैश्य तथा शूद्रों का स्थान कम महत्त्वपूर्ण होता था, अतएव यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है। आधुनिक युग में सामाजिक कार्यकलापों में परिवर्तन होने से, वृत्तिपरक पदों के रूप में मनुष्यों की महत्ता भी बदल गई है।

इस तरह उस महान सभा में, भगवान श्रीकृष्ण सबकी आखों के तारे बने हुए थे। प्रत्येक व्यक्ति भगवान् कृष्ण को देखना चाह रहा था और प्रत्येक व्यक्ति उनको विनम्रता के साथ प्रणाम करना चाहता था। भीष्मदेव को यह सब कुछ स्मरण था, अतएव उन्हें प्रसन्नता थी कि उनके

आराध्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उनकी आँखों के सामने अपने वास्तविक स्वरूप में उपस्थित थे। अतएव परमेश्वर का ध्यान करना उनके कार्यकलापों, रूप, लीलाओं, नाम तथा यश का ध्यान करना है। यह उससे सरल है, जिस को सर्वोपरि के निराकार पक्ष का ध्यान माना जाता है। *भगवद्गीता* (१२.५) में यह स्पष्ट कथन है कि भगवान् के निराकार पक्ष का ध्यान करना अत्यन्त कठिन है। यह वास्तव में कोई ध्यान नहीं, यह तो समय का अपव्यय मात्र है, क्योंकि इससे शायद ही कभी वांछित फल प्राप्त होता है। किन्तु भक्तगण भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी लीलाओं का ध्यान करते हैं, और ऐसे में भगवान् भक्तों के लिए सहज सुलभ हैं। इसका उल्लेख भी *भगवद्गीता* (१२.९) में हुआ है। भगवान् अपने दिव्य कार्यकलापों से अभिन्न हैं। इस श्लोक में इसका भी संकेत हुआ है कि जब भगवान् कृष्ण मानव समाज के समक्ष वास्तविक रूप में, विशेष रूप से कुरुक्षेत्र के युद्ध में, उपस्थित हुए तो वे उस समय के महानतम पुरुष माने गये, भले ही तब उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न स्वीकार किया गया हो। यह प्रचार कि कोई महापुरुष मृत्यु के बाद ईश्वर की भाँति पूजा जाता है, भ्रामक है, क्योंकि मृत्यु के बाद कोई भी मनुष्य को ईश्वर नहीं बनाया जा सकता। न ही भगवान् कभी मनुष्य हो सकते हैं, भले ही वे साक्षात् विद्यमान क्यों न हों। ये दोनों ही विचार भ्रान्तिमूलक हैं। *मानववाद* का विचार भगवान् कृष्ण पर लागू नहीं होता।

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस भगवान् को; इमम्—इस समय जो मेरे समक्ष है; अहम्—मैं; अजम्—अजन्मा; शरीर-भाजाम्—बद्धजीव के; हृदि—हृदय में; हृदि—हृदय में; धिष्ठितम्—स्थित; आत्म—परमात्मा; कल्पितानाम्—शुष्क चिन्तकों का; प्रतिदृशम्—प्रत्येक दिशा में; इव—सदृश; न एकधा—एक नहीं; अर्कम्—सूर्य को; एकम्—केवल एक; समधि-गतः अस्मि—मैं ध्यान में समाधिस्थ हूँ; विधूत—मुक्त होकर; भेद-मोहः—द्वैत की भ्रांत धारणा से।

अब मैं पूर्ण एकाग्रता से एक ईश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान कर सकता हूँ, जो इस समय मेरे सामने उपस्थित हैं, क्योंकि अब मैं प्रत्येक के हृदय में, यहाँ तक कि मनोधर्मियों के हृदय में भी रहनेवाले उनके प्रति द्वैत भाव की स्थिति को पार कर चुका हूँ। वे सबों के हृदय में रहते हैं। भले ही सूर्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से अनुभव किया जाय, किन्तु सूर्य तो एक ही है।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण ही एक परम भगवान् हैं, लेकिन उन्होंने अपनी अकल्पनीय शक्ति के द्वारा अपने आपको अनेक अंशों में विस्तारित कर रखा है। द्वैतभाव उनकी इस अकल्पनीय शक्ति को न जानने से उत्पन्न होता है। *भगवद्गीता* (९.११) में भगवान् कहते हैं कि जो मूर्ख हैं, वे ही उन्हेंमात्र मनुष्य मानते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से अवगत नहीं रहते। वे अपनी अकल्पनीय शक्ति से सबों के हृदय में उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस प्रकार सूर्य संसार भर के लोगों की आँखों के सामने विद्यमान है। भगवान् का परमात्मा रूप उनके पूर्ण अंश का विस्तार है। वे अपनी अकल्पनीय शक्ति से प्रत्येक के हृदय में परमात्मा-रूप में अपना विस्तार करते हैं। वे अपने व्यक्तिगत तेज के विस्तार के द्वारा ब्रह्मज्योति के जाज्वल्यमान तेज के रूप में अपना विस्तार करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *ब्रह्मज्योति* उनका व्यक्तिगत तेज है। अतएव उनमें तथा उनके तेज *ब्रह्मज्योति* या परमात्मा-रूप में उनके पूर्ण अंशों में कोई अन्तर नहीं है। अल्पज्ञानी लोग, जिन्हें इस तथ्य का पता नहीं है, वे ब्रह्मज्योति तथा परमात्मा को श्रीकृष्ण से भिन्न समझते हैं। भीष्मदेव के मन से द्वैतभाव की यह धारणा पूर्ण रूप से मिट जाती है और वे अब सन्तुष्ट हैं कि वे भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जो सब कुछ हैं। यह अनुभूति महात्माओं या भक्तों को ही प्राप्त होता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है कि वासुदेव ही सर्वेसर्वा हैं और वासुदेव के बिना, किसी का कोई अस्तित्व नहीं है। वासुदेव या भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि परम पुरुष हैं, जिसकी पुष्टि अब एक *महाजन* द्वारा हो रही है, अतएव नवदीक्षितों तथा शुद्ध भक्तों दोनों को समान रूप से उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिए। भक्ति मार्ग के लिए यही विधि है।

भीष्मदेव के आराध्य, पार्थ-सारथी रूप में भगवान् श्रीकृष्ण हैं और वही कृष्ण वृन्दावन में गोपियों के सर्वाधिक मनोहर श्यामसुन्दर हैं। कभी-कभी अल्पज्ञ अध्येता भूलवश यह सोचते हैं कि वृन्दावन के कृष्ण तथा कुरुक्षेत्र युद्ध वाले कृष्ण पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व हैं। लेकिन भीष्मदेव के मन से यह भ्रान्ति पूरी तरह दूर हो चुकी है। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों के लक्ष्य निराकार ज्योति के रूप में कृष्ण ही हैं, और योगियों के लक्ष्य परमात्मा भी कृष्ण हैं। कृष्ण ब्रह्मज्योति तथा अन्तर्यामी परमात्मा दोनों ही हैं, लेकिन ब्रह्मज्योति या परमात्मा में, न तो कृष्ण होते हैं न कृष्ण के मधुर सम्बन्ध। अपने साकार रूप में कृष्ण पार्थसारथी तथा वृन्दावन के श्यामसुन्दर दोनों ही हैं, लेकिन निराकार पक्ष में वे न तो ब्रह्मज्योति में हैं न ही परमात्मा में। भीष्मदेव जैसे महात्मा, श्रीकृष्ण के इन विभिन्न स्वरूपों का अनुभव कर सकते हैं, अतएव वे श्रीकृष्ण को समस्त स्वरूपों का उद्गम जानकर, उन्हीं की पूजा करते हैं।

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।

आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृष्णो—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में; एवम्—एकमात्र; भगवति—भगवान् में; मनः—मन से; वाक्—वाणी से; दृष्टि—दृष्टि से; वृत्तिभिः—कार्यों से; आत्मनि—परमात्मा में; आत्मानम्—जीव को; आवेश्य—लीन करके; सः—वे; अन्तः—श्वासः—श्वास खींचकर; उपारमत्—शान्त हो गए।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भीष्मदेव ने मन, वाणी, दृष्टि तथा कार्यों से अपने आपको परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में लीन कर दिया और शान्त हो गये और उनकी श्वास रुक गई।

तात्पर्य : भीष्मदेव द्वारा अपना भौतिक शरीर त्यागते समय प्राप्त की गई अवस्था निर्विकल्प-समाधि कहलाती है, क्योंकि उन्होंने अपने आत्मा को भगवान् का चिन्तन करने में और अपने मन को उनके विभिन्न कार्य-कलापों का स्मरण करने में लीन कर दिया था। उन्होंने भगवान् की महिमा का कीर्तन किया और अपनी दृष्टि से वे अपने समक्ष खड़े साक्षात् भगवान् का

दर्शन करते रहे और इस प्रकार उनके सारे कार्य-कलाप अविचल भाव से भगवान् में एकाग्र हो गये। यह सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था है और भक्तिमय सेवा का अभ्यास करके हर किसी के लिए इस अवस्था को प्राप्त करना संभव है। भगवान् की भक्ति में नौ सेवा-सिद्धान्त होते हैं। वे हैं— १) श्रवण, २) कीर्तन, ३) स्मरण, ४) चरणकमल की सेवा, ५) पूजा, ६) स्तुति, ७) आज्ञा-पालन, ८) सख्य तथा ९) आत्म-समर्पण। इनमें से कोई एक या सभी वांछित फल को देनेवाले हैं, लेकिन किसी दक्ष भगवद्भक्त के पथ-प्रदर्शन में ही इनका निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है। इनमें से प्रथम चरण श्रवण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अतएव जो व्यक्ति अन्त में भीष्मदेव जैसी अवस्था प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए *भगवद्गीता* का और फिर *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करना आवश्यक है। हमें भी मृत्यु के समय भीष्मदेव को प्राप्त होने वाली अपूर्व स्थिति प्राप्त हो सकती है, भले ही साक्षात् भगवान् कृष्ण उपस्थित न भी हों। *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* के भगवान् के शब्द उनसे अभिन्न हैं। वे भगवान् के शब्द अवतार हैं और कोई भी मनुष्य, आठ वसुओं में से एक श्री भीष्मदेव जैसी अवस्था प्राप्त करके इनका लाभ उठा सकता है। प्रत्येक मनुष्य या पशु को एक निश्चित आयु में मरना होता है, लेकिन जो व्यक्ति भीष्मदेव की तरह मरता है, वह पूर्णता प्राप्त करता है और जो प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर मरता है, वह पशु की तरह मरता है। मनुष्य तथा पशु में यही अन्तर है। यह मनुष्य जीवन विशिष्ट रूप से भीष्मदेव-जैसी मृत्यु के लिए है।

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।

सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सम्पद्यमानम्—में लीन होकर; आज्ञाय—इसे जानकर; भीष्मम्—श्री भीष्मदेव के विषय में; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; निष्कले—असीम; सर्वे—उपस्थित सभी लोग; बभूवुः ते—वे सब हो गये; तूष्णीम्—मौन; वयांसि इव—पक्षियों की तरह; दिन-अत्यये—दिन के समाप्त होने पर।

यह जानकर कि भीष्मदेव अनन्त परम पूर्ण में लीन हो गये, वहाँ पर उपस्थित सारे लोग उसी तरह मौन हो गये, जिस प्रकार दिन समाप्त होने पर पक्षी मौन हो जाते हैं।

तात्पर्य : परम पूर्ण की अनन्त शाश्वतता में प्रविष्ट होना या लीन होने का अर्थ है, जीव के मूल धाम में प्रविष्ट होना। सारे जीव परमेश्वर के परम व्यक्तित्व के ही अंश हैं, अतएव वे उनसे सेवक तथा सेव्य भाव से शाश्वत रूप में सम्बन्धित हैं। भगवान् अपने समस्त अंशों द्वारा उसी तरह सेवित हैं, जिस प्रकार पूरी मशीन अपने कल-पुर्जों से संचालित होती है। यदि मशीन का कोई पुर्जा उससे विलग कर दिया जाय, तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। इसी प्रकार भगवान् की सेवा से विलग, उनका कोई भी अंश, व्यर्थ हो जाता है। भौतिक जगत में जितने भी जीव हैं, वे सारे परम पूर्ण से पृथक् हुए अंश हैं और वे मूल अंशों के तुल्य महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते हैं। तथापि कुछ जीव अधिक जुड़े हुए होते हैं, जो नित्य मुक्त होते हैं। भगवान् की भौतिक शक्ति, जिसे दुर्गाशक्ति या बन्दीगृह की अध्यक्षा कहा जाता है, सारे छितराए हुए अंशों का भार अपने ऊपर ले लेती है और इस प्रकार ये जीव प्रकृति के नियमानुसार बद्ध जीवन बिताते हैं। जब जीव को इसका आभास हो जाता है, तब वह अपने घर अर्थात् भगवद्धाम को वापस जाना चाहता है और इस प्रकार जीव में आध्यात्मिक जिज्ञासा जगती है। यह आध्यात्मिक जिज्ञासा *ब्रह्म-जिज्ञासा* कहलाती है। प्रमुख रूप से यह *ब्रह्म-जिज्ञासा* ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्भक्ति से सफलीभूत होती है। *ज्ञान* का अर्थ है, परम ब्रह्म अर्थात् परम पूर्ण विषयक प्रत्येक वस्तु का ज्ञान। वैराग्य का अर्थ है भौतिक आसक्ति से विरक्ति और भक्तिमय सेवा जीव की मूल स्थिति के द्वारा अभ्यास किया जाने वाला पुनर्जागरण है। जो सफल जीव परम पूर्ण के राज्य में प्रवेश करने के अधिकारी होते हैं, वे *ज्ञानी*, *योगी* तथा *भक्त* कहलाते हैं। *ज्ञानी* तथा *योगी* भगवान् के व्यक्तित्वहीन तेज में प्रविष्ट होते हैं, लेकिन भक्त वैकुण्ठलोक कहे जाने वाले दिव्य लोकों में प्रविष्ट होते हैं। इन दिव्य लोकों में नारायण के रूप में परमेश्वर का आधिपत्य रहता है और स्वस्थ तथा मुक्त जीव दास, सखा, माता-पिता तथा प्रेमी के रूप में भगवान् की प्रेममयी सेवा करते हुए वहाँ रहते हैं। वहाँ मुक्त जीव भगवान् के साथ पूर्ण उन्मुक्तता में रहकर जीवन का आनन्द उठाते हैं, लेकिन निराकारवादी *ज्ञानी* तथा *योगी* वैकुण्ठलोक के निर्विशेष तेज में प्रवेश करते हैं। वैकुण्ठलोक का ग्रह सूर्य के समान स्वतः प्रदीप्त रहते हैं और वैकुण्ठके ग्रहों की किरणें

ब्रह्मज्योति कहलाती हैं। इस ब्रह्मज्योति का अनन्त प्रसार रहता है और यह भौतिक जगत इस ब्रह्मज्योति का ढका हुआ एक नगण्य अंश मात्र है। यह आवरण क्षणिक है, अतएव यह एक प्रकार का भ्रम (मोह) है।

भगवान् का शुद्ध भक्त होने के कारण, भीष्मदेव आध्यात्मिक क्षेत्र में वैकुण्ठग्रहों में से एक में प्रविष्ट हुए, जहाँ भगवान् अपने पार्थसारथी रूप में मुक्त जीवों के ऊपर अधिकार जमाये हुए हैं और वे जीव निरन्तर उनकी सेवा में लगे रहते हैं। भगवान् तथा भक्त जिस प्रेम तथा स्नेह से बँधे रहते हैं, वह भीष्मदेव में प्रकट है। भीष्मदेव भगवान् के पार्थसारथी वाले दिव्य स्वरूप को कभी नहीं भूले और जिस समय भीष्मदेव दिव्यलोक को प्रयाण कर रहे थे, तब भगवान् सशरीर उनके समक्ष उपस्थित थे। यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः ।

शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; दुन्दुभयः—नगाड़े; नेदुः—बजने लगे; देव—अन्य ग्रहों के देवता; मानव—सारे देशों के मनुष्य; वादिताः—के द्वारा बजाये जाकर; शशंसुः—प्रशंसा की; साधवः—ईमानदार; राज्ञाम्—राजाओं के द्वारा; खात्—आकाश से; पेतुः—गिरने लगी; पुष्प-वृष्टयः—पुष्पों की वर्षा।

तत्पश्चात् मनुष्यों तथा देवताओं ने सम्मान में नगाड़े बजाये और निष्ठावान राजाओं ने सम्मान तथा आदर प्रदर्शित किया और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी।

तात्पर्य : मनुष्य तथा देवता दोनों ही भीष्मदेव का आदर करते थे। मनुष्य पृथ्वी पर एवं ऐसे ही अन्य ग्रहों के समूह भूः तथा भुवः में रहते हैं, लेकिन देवता स्वः अर्थात् स्वर्ग लोक में रहते हैं और वे सभी भीष्मदेव को एक महान योद्धा तथा भगवद्भक्त के रूप में जानते थे। महाजन (या अधिकारी) के रूप में वे ब्रह्मा, नारद तथा शिव के तुल्य थे, यद्यपि वे एक मानव थे। देवताओं के तुल्य योग्यता आध्यात्मिक पूर्णता मिलने पर ही होती है। इस प्रकार भीष्मदेव ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विख्यात थे और उनके समय में, एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा, व्यर्थ के यान्त्रिक अन्तरिक्ष यानों के द्वारा नहीं, अपितु सूक्ष्मतर विधियों से सम्पन्न की जाती थी। जब सुदूर ग्रहों को भीष्मदेव

के निधन की सूचना भेजी गई, तो उच्च लोकों के निवासियों ने तथा पृथ्वी के निवासियों ने दिवंगत महापुरुष के सम्मान में पुष्पों की वर्षा की। स्वर्ग से फूलों की वर्षा देवताओं द्वारा मान्यता का चिह्न है और इसकी तुलना कभी भी शव को फूलों से सजाने से नहीं की जानी चाहिए। आत्म-साक्षात्कार के कारण भीष्मदेव के शरीर का भौतिक प्रभाव मिट चुका था और उनका शरीर उसी प्रकार आध्यात्मिक बन गया था, जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहा तप्त-लाल हो जाता है। अतएव पूर्णतः स्वरूपसिद्ध व्यक्ति का शरीर भौतिक नहीं माना जाता। ऐसे आध्यात्मिक शरीरों के लिए विशेष उत्सव मनाये जाते हैं। भीष्मदेव के सम्मान का तथा उनकी मान्यता का अनुकरण कभी कृत्रिम साधनों से नहीं करना चाहिए, क्योंकि आजकल हर सामान्य व्यक्ति का जयन्ती समारोह मनाया जाता है। प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार किसी सामान्य व्यक्ति का, चाहे वह भौतिक दृष्टि से कितना ही बड़ा क्यों न हो, जयन्ती उत्सव मनाना भगवान् के प्रति अपराध है, क्योंकि जयन्ती तो धरा पर भगवान् के आविर्भाव दिवस के लिए सुरक्षित है। भीष्मदेव अपने कार्य-कलापों के कारण अद्भुत थे और उनका ईश्वर के धाम को प्रयाण भी अद्भुत है।

तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव ।

युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; निर्हरण-आदीनि—दाह संस्कार; सम्परेतस्य—मृत देह का; भार्गव—हे भृगुवंशी; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; कारयित्वा—सम्पन्न करके; मुहूर्तम्—क्षण भर के लिए; दुःखितः—दुखी; अभवत्—हुए।

हे भृगुवंशी (शौनक), भीष्मदेव के मृत देह का दाह संस्कार सम्पन्न करने के बाद,

महाराज युधिष्ठिर क्षण भर के लिए शोकाभिभूत हो गये।

तात्पर्य : भीष्मदेव न केवल महाराज युधिष्ठिर के परिवार के मुखिया थे, अपितु एक महान दार्शनिक और उनके भाइयों एवं माता के लिए मित्र भी थे। चूँकि सबसे ज्येष्ठ युधिष्ठिर समेत पाँच पाण्डवों के पिता महाराज पाण्डु मर चुके थे, अतएव भीष्मदेव ही पाण्डवों के सर्वाधिक वत्सल पितामह और विधवा पुत्रवधू कुन्तीदेवी के संरक्षक थे। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर के तारु, महाराज

धृतराष्ट्र, उनकी देख-रेख के लिए जीवित थे, लेकिन उनका स्नेह सबसे ज्येष्ठ दुर्योधन आदि अपने सौ पुत्रों की ओर अधिक था। अन्ततोगत्वा पाँचों पितृविहीन भाइयों को हस्तिनापुर राज्य के अधिकार से वंचित करने के लिए षड्यन्त्र रचा गया। राजमहलों में सामान्य रूप से जैसा होता है, कपट चाल चली गई और पाँचों भाइयों को वनवास दे दिया गया। लेकिन भीष्मदेव महाराज युधिष्ठिर के प्रति निष्कपट भाव से अपने अन्तिम क्षण तक भी शुभचिन्तक, पितामह, मित्र तथा दार्शनिक बने रहे। वे महाराज युधिष्ठिर को सिंहासन पर बैठा देखकर, खुशी-खुशी मृत्यु को वरण किए, अन्यथा वे पाण्डवों को दिए जा रहे अनुचित कष्टों के कारण अपने कष्टों को सहने के बजाय, बहुत पहले शरीर त्याग कर चुके होते। वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में पाण्डुपुत्र अवश्य विजयी होंगे, क्योंकि उनके रक्षक श्रीकृष्ण थे। किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण वे जानते थे कि भगवान् के भक्त को कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता। महाराज युधिष्ठिर को भीष्मदेव की इन सारी शुभेच्छाओं का पता था, अतएव वे अवश्य ही अत्यधिक वियोग का अनुभव कर रहे होंगे। वे इस महान् आत्मा के विछोह से शोकाकुल थे, उनके उस भौतिक शरीर के लिए नहीं, जो भीष्मदेव ने त्यागा था। अन्त्येष्टि क्रिया एक आवश्यक कर्तव्य था, यद्यपि भीष्मदेव मुक्त आत्मा थे। चूँकि भीष्मदेव निःसन्तान थे, अतएव सबसे बड़े पौत्र, महाराज युधिष्ठिर इस अन्त्येष्टि क्रिया को सम्पन्न करने के समुचित अधिकारी थे। यह भीष्मदेव के लिए वरदानस्वरूप था कि परिवार के समरूप ही एक महान व्यक्ति ने इस महापुरुष के अन्तिम संस्कार सम्पन्न किये।

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।

ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तुष्टुवुः—सन्तुष्ट हुए; मुनयः—व्यासदेव आदि मुनिगण.; हृष्टाः—प्रसन्न मुद्रा में; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; तत्—उसका; गुह्य—गोपनीय; नामभिः—उनके नाम से.; ततः—तत्पश्चात्; ते—वे; कृष्ण-हृदयाः—कृष्ण को हृदय में धारण करनेवाले; स्व-आश्रमान्—अपने-अपने आश्रमों को; प्रययुः—लौट गये; पुनः—फिर।

तब समस्त मुनियों ने वहाँ पर उपस्थित भगवान् श्रीकृष्ण का यशोगान गुह्य वैदिक मन्त्रों से किया। वे भगवान् कृष्ण को सदा के लिए अपने हृदय में धारण करके अपने-अपने आश्रमों को लौट गए।

तात्पर्य : भगवान् के भक्त सदा ही भगवान् के हृदय में रहते हैं और भगवान् सदैव भक्तों के हृदय में रहते हैं। भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य यही मधुर सम्बन्ध होता है। भगवान् के लिए अनन्य प्रेम तथा भक्ति के कारण, भक्तगण उन्हें सदा अपने अन्दर देखते हैं और भगवान् भी, यद्यपि उन्हें न कुछ लेना-देना रहता है और न कोई आकांक्षा, अपने भक्तों के कल्याण-कार्य में लगे रहते हैं। सामान्य जीवों के लिए सारे कर्मों तथा फलों के लिए प्रकृति के नियम बने हैं, तथापि भगवान् अपने भक्तों को सन्मार्ग पर लाने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। अतएव भक्तगण भगवान् की सीधी देख-रेख में रहते हैं, और भगवान् भी स्वेच्छा से अपने आपको भक्तों की देख-रेख में ही रखते हैं। चूँकि व्यासदेव आदि सारे मुनि भगवान् के भक्त थे, अतएव अन्त्येष्टि-क्रिया के बाद सबों ने वहाँ पर उपस्थित भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया। सारे वैदिक मन्त्र भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पढ़े जाते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में हुई है। सारे वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि उन्हीं को खोजते हैं और सारे मन्त्र उन्हीं के यशोगान के लिए ही हैं। अतएव मुनियों ने अवसर के अनुकूल कृत्य किये और खुशी-खुशी अपने-अपने आश्रमों को लौट गये।

ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।

पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; गत्वा—वहाँ जाकर; सह—साथ; कृष्णः—भगवान् के; गजाह्वयम्—गजाह्वय, हस्तिनापुर नाम की राजधानी में; पितरम्—अपने ताऊ (धृतराष्ट्र) को; सान्त्वयाम् आस—ढाढस बैधाया; गान्धारीम्—धृतराष्ट्र की पत्नी को; च—तथा; तपस्विनीम्—तपस्विनी ।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ तुरन्त ही अपनी राजधानी, हस्तिनापुर गये और वहाँ पर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा अपनी ताई तपस्विनी गान्धारी को ढाढस बँधाया।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र तथा गान्धारी दुर्योधन आदि सौ भाइयों के पिता-माता थे और नाते में वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ-ताई लगते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अपने सारे पुत्र-पौत्रों को खो देने से यह यशस्वी दम्पति महाराज युधिष्ठिर के संरक्षण में था। वे इतनी अपार क्षति से उत्पन्न कष्ट से घोर सन्तप्त थे और तपस्वियों का-सा जीवन बिता रहे थे। धृतराष्ट्र के चाचा, भीष्मदेव की मृत्यु इन राजा-रानी के लिए दूसरा गहरा आघात था, अतएव उन्हें महाराज युधिष्ठिर से सान्त्वना की आवश्यकता थी। महाराज युधिष्ठिर को अपने कर्तव्य का ज्ञान था, अतएव वे कृष्ण सहित तुरन्त उस स्थान पर पहुँचे और शोकाकुल धृतराष्ट्र को दयामय शब्दों से अपनी और भगवान् की ओर से सान्त्वना दी।

यद्यपि गान्धारी आज्ञाकारिणी पत्नी तथा दयालु माता का जीवन बिता रही थीं, लेकिन वे शक्तिमान तपस्विनी भी थीं। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने पति के अन्धत्व के कारण स्वेच्छा से अपनी भी आँखें बन्द कर रखी थीं। पत्नी का कर्तव्य है कि पति का शत-प्रतिशत अनुगमन करे और गान्धारी इतनी पति-परायणा थीं कि पति के निरन्तर अन्धत्व में उनका अनुगमन करती रहीं। अतएव वे अपने कार्यों से महान तपस्विनी थीं। इसके अतिरिक्त अपने सौ पुत्रों तथा पौत्रों के सामूहिक वध से उन्हें अवश्य ही गहरा आघात लगा होगा, जो किसी भी स्त्री के लिए दुस्तर है। लेकिन उन्होंने, तपस्विनी की भाँति, यह सब कुछ सह लिया। स्त्री होते हुए भी गान्धारी का चरित्र भीष्मदेव से किसी तरह कम नहीं था। ये दोनों *महाभारत* में सुप्रसिद्ध चरित्र हैं।

पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।

चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

पित्रा—ताऊ धृतराष्ट्र द्वारा; च—तथा; अनुमतः—उनकी अनुमति से; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; वासुदेव-अनुमोदितः—भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पुष्ट किये जाने पर; चकार—चलाया; राज्यम्—राज्य; धर्मेण—राज-नियमों के सिद्धान्त अनुसार; पितृ—पिता; पैतामहम्—पूर्वज जैसा; विभुः—महान्।

तत्पश्चात् परम धर्मात्मा राजा महाराज युधिष्ठिर ने अपने ताऊ द्वारा प्रतिपादित तथा श्रीकृष्ण द्वारा अनुमोदित राजनियमों के सिद्धान्त अनुसार साम्राज्य का संचालन किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर मात्र कर-संग्रहकर्ता न थे। वे राजा के कर्तव्य के प्रति सदैव सचेष्ट रहे, क्योंकि राजा पिता या गुरु से कम नहीं होता। राजा को प्रजा की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के सभी दृष्टिकोणों से भलाई देखनी होती है। राजा को जानना चाहिए कि मनुष्य जीवन बद्ध आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्त करने के लिए है, अतएव उसका धर्म है कि वह प्रजा की ठीक से देखभाल करे, जिससे प्रजा सिद्धि की चरमावस्था को प्राप्त कर सके।

महाराज युधिष्ठिर ने इन नियमों का दृढ़ता से पालन किया, जैसाकि अगले अध्याय से पता चलेगा। उन्होंने न केवल नियमों का पालन किया, अपितु अपने वृद्ध ताऊ की सहमति भी प्राप्त की, जो राजनीतिक मामलों में अनुभवी थे और उसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण द्वारा भी की गई, जो *भगवद्गीता* दर्शन के वक्ता हैं।

महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे और महाराज युधिष्ठिर जैसे प्रशिक्षित राजा के अधीन एक राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ सरकार है, जो आधुनिक गणतन्त्रों या सरकारों से कहीं श्रेष्ठ है। इस कलियुग में अधिकांश लोग जन्मजात शूद्र हैं, जो निम्न कुल में उत्पन्न हैं, जो ठीक से प्रशिक्षित नहीं होते जो अभागे तथा कुसंगति में रहनेवाले हैं। उन्हें जीवन के परम उद्देश्य का भी पता नहीं रहता। अतएव उनके द्वारा किए गए मतदान का कोई महत्त्व नहीं है, अतः ऐसे गैरजिम्मेदार मतों द्वारा चुने गए प्रतिनिधि कभी भी महाराज युधिष्ठिर के समान जिम्मेदार नहीं हो सकते।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण की उपस्थिति में भीष्मदेव का देह-त्याग' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

द्वारका के लिए भगवान् कृष्ण का प्रस्थान

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।

सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ने पूछा; हत्वा—वध करने के बाद; स्वरिक्थ—वैध पैतृक सम्पत्ति; स्पृधः—छीनने की इच्छा से; आततायिनः—आततायी; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर; धर्म-भृताम्—धर्म का पालन करने वालों का; वरिष्ठः—सबसे बड़ा; सह-अनुजैः—अपने छोटे भाइयों सहित; प्रत्यवरुद्ध—रोक दिया; भोजनः—आवश्यकताओं को स्वीकार करना; कथम्—कैसे; प्रवृत्तः—लगा हुआ; किम्—क्या; अकारषीत्—सम्पन्न किया; ततः—तत्पश्चात्।

शौनक मुनि ने पूछा : जो महाराज युधिष्ठिर की वैध पैतृक सम्पत्ति को छीनना चाहते

थे, उन शत्रुओं का वध करने के बाद महानतम धर्मात्मा युधिष्ठिर ने अपने भाइयों की सहायता से अपनी प्रजा पर किस प्रकार शासन चलाया? निश्चित ही वे अपने साम्राज्य का उपभोग मुक्त होकर अनियन्त्रित चेतना से नहीं कर सके।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओं में श्रेष्ठ थे। अतएव वे साम्राज्य का भोग करने के लिए अपने चचेरे भाइयों से लड़ने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे—वे सही प्रयोजन के लिए लड़े, क्योंकि हस्तिनापुर का राज्य उनकी वैध पैतृक सम्पत्ति था और उनके चचेरे भाई उसको हड़पना चाह रहे थे। अतएव वे भगवान् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में सही प्रयोजन के लिए लड़े, किन्तु वे अपनी विजय के फलों का भोग न कर पाये, क्योंकि उनके सारे चचेरे भाई युद्ध में मारे गये थे। अतएव उन्होंने साम्राज्य पर शासन तो चलाया, किन्तु इसे कर्तव्य समझ कर और अपने छोटे भाइयों की सहायता से चलाया। शौनक ऋषि की जिज्ञासा महत्वपूर्ण थी; वे यह जानना चाह रहे थे कि जब महाराज युधिष्ठिर को साम्राज्य भोगने का अवसर मिला, तब उनका आचरण कैसा था?

सूत उवाच

वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हतं संरोहयित्वा भवभावनो हरिः ।

निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने उत्तर दिया; वंशम्—वंश; कुरोः—राजा कुरु का; वंश-दव-अग्नि—बाँसों से लगनेवाली जंगल की आग; निर्हतम्—निःशेष, दग्ध; संरोहयित्वा—वंश की पौध; भव-भावनः—सृष्टि के पालक; हरिः—भगवान् श्रीकृष्ण; निवेशयित्वा—पुनः स्थापित करके; निज-राज्ये—अपने (उनके) राज्य में; ईश्वरः—परमेश्वर; युधिष्ठिरम्—महाराज युधिष्ठिर को; प्रीत-मनाः—अपने मन में प्रसन्न; बभूव ह—हुए।

सूत गोस्वामी ने कहा : विश्व के पालनकर्ता भगवान् श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर को उनके साम्राज्य में पुनः प्रस्थापित करके एवं क्रोध की दावाग्नि से विनष्ट हुए कुरुवंश को पुनरुज्जीवित करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : इस संसार की तुलना उस दावाग्नि के साथ की जाती है, जो बाँस की झाड़ियों में घर्षण से उत्पन्न होती है। ऐसी दावाग्नि स्वतः लगती है, क्योंकि बाँसों में घर्षण बाह्य कारण के बिना होता है। इसी प्रकार इस संसार में जो लोग प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहते हैं, उनके क्रोध से युद्ध की अग्नि भड़कती है, जिससे अवांछित प्रजा समाप्त हो जाती है। ऐसी अग्नियाँ या युद्ध भड़कते रहते हैं और भगवान् को उनसे कुछ लेना-देना नहीं होता। लेकिन चूँकि वे सृष्टि का पालन करना चाहते हैं, अतएव वे चाहते हैं कि जन-समूह आत्म-साक्षात्कार के सत्यपथ पर चले, जिससे जीव भगवद्धाम में प्रवेश कर सकें। प्रभु चाहते हैं कि कष्ट भोगनेवाले मनुष्य भगवद्धाम उनके पास वापस आ जाँय और तीनों भौतिक तापों से मुक्त हो जाँय। सृष्टि की सारी योजना यही प्रयोजन के लिए बनाई गई है, लेकिन जो चेतता नहीं, वह भगवान् की मायाशक्ति द्वारा दिये गये कष्टों को इस संसार में भोगता है। अतएव भगवान् चाहते हैं कि उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि ही संसार पर शासन चलाए। भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार ऐसे राज्य की स्थापना करने तथा ऐसे अवांछित व्यक्तियों का वध करने के लिए हुआ, जिनको उनकी योजना से कुछ सरोकार नहीं रहता। कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् की योजना के अनुसार लड़ा गया था, जिससे अवांछित लोगों का सफाया हो जाय और उनके भक्त के अधीन शान्तिपूर्ण साम्राज्य की स्थापना हो। अतएव

जब राजा युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठे तथा कुरुवंश की पौध (अंकुर) महाराज परीक्षित के रूप में बच गई, तो भगवान् परम प्रसन्न हुए।

निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं
प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः
परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; भीष्म—उक्तम्—भीष्म द्वारा कहा हुआ; अथ—तथा; अच्युत—उक्तम्—अच्युत भगवान् कृष्ण ने जो कुछ कहा था; प्रवृत्त—लगे रह कर; विज्ञान—पूर्ण ज्ञान; विधूत—पूर्ण रूप से धुल गये; विभ्रमः—सारे सन्देह; शशास—शासन किया; गाम्—पृथ्वी पर; इन्द्र—स्वर्ग का राजा; इव—सदृश; अजित—आश्रयः—दुर्जय भगवान् द्वारा रक्षित; परिधि—उपान्ताम्—समुद्रों सहित; अनुज—छोटे भाई; अनुवर्तितः—उनके द्वारा पालन किया जाकर।

भीष्मदेव तथा अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा था, उससे प्रबुद्ध होकर महाराज युधिष्ठिर परिपूर्ण ज्ञान विषयक मामलों में व्यस्त हो गये, क्योंकि उनके सारे सन्देह दूर हो चुके थे। इस प्रकार उन्होंने पृथ्वी तथा सागरों पर राज्य किया और उनके छोटे भाई उनका साथ देते रहे।

तात्पर्य : जब महाराज युधिष्ठिर समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर शासनारूढ़ थे, तो उस समय भी आधुनिक अंग्रेजियत के ज्येष्ठाधिकार या सबसे बड़े को उत्तराधिकार जैसा नियम प्रचलित था। उस काल में हस्तिनापुर (अब दिल्ली का एक अंश) का राजा, समुद्रों समेत, विश्व का (चक्रवर्ती) सम्राट होता था और यह क्रम महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित तक चलता रहा। महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई उनके मन्त्री तथा राज्य के सेनानायकों के रूप में कार्य करते थे और राजा के धर्मात्मा भाइयों का आपस में पूर्ण सहयोग था। महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी के साम्राज्य पर शासन करने के लिए आदर्श राजा या भगवान् श्रीकृष्ण के आदर्श प्रतिनिधि थे और उनकी तुलना स्वर्ग के प्रतिनिधि शासक राजा इन्द्र से की जा सकती थी। जिस प्रकार इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण तथा वायु जैसे देवता ब्रह्माण्ड के विभिन्न ग्रहों के प्रतिनिधि राजा हैं, उसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भी पृथ्वी के साम्राज्य पर शासन चलानेवाले प्रतिनिधि राजा थे। वे आधुनिक

प्रजातन्त्र के अल्प तरह के अप्रबुद्ध राजनीतिक नेता जैसे न थे। उन्हें भीष्मदेव ने तथा अच्युत भगवान् ने भी उपदेश दिया था। अतएव उन्हें हर वस्तु का पूरा ज्ञान था।

आजकल, राज्य का निर्वाचित कार्यकारी प्रमुख कठपुतली के समान होता है, क्योंकि उसके पास राज-शक्ति नहीं होती। यदि वह महाराज युधिष्ठिर की तरह प्रबुद्ध भी होता, तो भी वह अपनी संवैधानिक स्थिति के कारण अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए वैचारिक विषमताओं या खुद के स्वार्थों के कारण पृथ्वी के अनेक राज्य परस्पर लड़-झगड़ रहे हैं। लेकिन महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा के पास अपनी खुद की विचार-धारा नहीं थी। उन्हें भी अच्युत भगवान् तथा भगवान् के प्रतिनिधि एवं प्रामाणिक दूत भीष्मदेव के उपदेशों का अनुगमन करना होता था। शास्त्रों का उपदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि, किसी व्यक्तिगत स्वार्थ तथा स्व-निर्मित विचारधारा के बिना, परम प्रमाण तथा अच्युत भगवान् का अनुगमन करे। इसीलिए महाराज युधिष्ठिर महासागरों सहित सारे संसार पर शासन कर सके, क्योंकि जो नियम थे वे अमोघ थे और वैश्विक रूप से सबों पर समान रूप से लागू होते थे। एक ही विश्व-राज्य की कल्पना तभी पूरी हो सकती है, जब हम अच्युत अधिकारी का अनुगमन करें। एक अपूर्ण मानव ऐसी विचारधारा का सृजन नहीं कर सकता, जो सबके लिए स्वीकार्य हो। केवल पूर्ण तथा अच्युत पुरुष ही ऐसा कार्यक्रम बना सकता है, जो प्रत्येक स्थान पर लागू होता हो और जिसका पालन संसार के सारे लोगों द्वारा हो सके। शासन चलानेवाला तो व्यक्ति होता है, निराकार सरकार नहीं। यदि व्यक्ति पूर्ण है, तो सरकार भी पूर्ण है। यदि व्यक्ति मूर्ख है, तो सरकार भी मूर्खों का घर है। यही प्रकृति का नियम है। अयोग्य राजाओं तथा प्रशासकों के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ हैं। अतएव कार्यकारी प्रमुख को महाराज युधिष्ठिर जैसा प्रशिक्षित व्यक्ति होना चाहिए और विश्व पर शासन चलाने के लिए उसके पास पूरी राजसत्ता होनी चाहिए। विश्व राज्य की कल्पना महाराज युधिष्ठिर जैसे पूर्ण राजा के राज्यकाल में ही साकार हो सकती है। उन दिनों संसार सुखी था, क्योंकि विश्व में महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा शासन चलाते थे।

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही ।

सिषिचुः स्म ब्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

कामम्—सारी आवश्यक वस्तु; ववर्ष—उपलब्ध हुई; पर्जन्यः—वर्षा; सर्व—प्रत्येक वस्तु; काम—आवश्यकताएँ;
दुघा—उत्पन्न करनेवाली; मही—पृथ्वी; सिषिचुः स्म—सिक्त करती थीं; ब्रजान्—चरागाहों को; गावः—गाएँ; पयसा
उधस्वतीः—भरे हुए थनों के कारण; मुदा—प्रसन्नता के कारण ।

महाराज युधिष्ठिर के राज्य में मनुष्यों को जितना भी पानी चाहिए था, बादल उतना पानी बरसाते थे और पृथ्वी मनुष्यों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में करती थी। दूध से भरे थनों वाली तथा प्रसन्न-चित्त गौवें अपने दूध से चरागाही को सिक्त करती रहती थीं।

तात्पर्य : आर्थिक विकास का मूल सिद्धान्त भूमि तथा गायों पर केन्द्रित है। अन्न, फल, दूध, खनिज, वस्त्र, ईंधन इत्यादि मानव-समाज की आवश्यकताएँ हैं। शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को इन्हीं वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। निश्चित ही मनुष्य को मांस और मछली या लोहे के औजार तथा यंत्र नहीं चाहिए। महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल में सारे संसार में नियमित वर्षा होती थी। वर्षा मनुष्य के नियंत्रण में नहीं होती। स्वर्ग का राजा इन्द्रदेव वर्षा का अधिष्ठाता है और वह भगवान् का सेवक है। जब राजा तथा राजा के अधीन लोग भगवान् की आज्ञा का पालन करते हैं, तो आकाश से नियमित वर्षा होती है और यही वर्षा पृथ्वी पर विविध प्रकार की उपजों की निमित्त स्वरूप है। नियमित वर्षा से न केवल प्रचुर धान्य तथा फल उत्पन्न होते हैं, अपितु जब नक्षत्रों के साथ वर्षा का संयोग बैठता है, तो बहुमूल्य रत्न तथा मोती बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। अनाज तथा शाकों से मनुष्यों तथा पशुओं का भरण-पोषण होता है और मोटी ताजी गाएँ भरपूर दूध देती हैं, जिससे मनुष्य को बल तथा जीवनी शक्ति मिलती है। यदि प्रचुर मात्रा में दुग्ध, अन्न, फल, कपास, रेशम तथा रत्न हों तो फिर लोगों को सिनेमा, वेश्यालयों, कसाईघरों इत्यादि की आवश्यकता क्यों पड़ती है? सिनेमा, कार, रेडियो, मांस तथा होटलों के कृत्रिम विलासमय जीवन की क्या आवश्यकता है? क्या इस सभ्यता ने एक दूसरे से व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्तर पर लड़ते रहने के अतिरिक्त और कुछ भी दिया है?

क्या इस सभ्यता ने एक व्यक्ति की सनक पर हजारों व्यक्तियों को नारकीय फैक्टरियों में तथा युद्धस्थलों में भेजकर समानता तथा विश्व बन्धुत्व को बढ़ावा दिया है ?

यहाँ पर कहा गया है कि गौवें अपने दुग्ध से चरागाहों को सिक्त करती थीं, क्योंकि उनके थन दूध से भरे रहते थे, और वे अत्यन्त प्रमुदित रहती थीं। तो फिर क्या उन्हें, खेतों में पर्याप्त मात्रा में घास खिलाकर, प्रसन्न जीवन बिताने के लिए समुचित संरक्षण की आवश्यकता नहीं है ? तो लोगों को अपने स्वार्थ के लिए उनका वध क्यों करना चाहिए ? मनुष्य अन्न, फल, दूध से क्यों नहीं सन्तुष्ट हो लेता, जिनसे हजारों प्रकार के व्यंजन तैयार हो सकते हैं ? इन निर्दोष पशुओं का वध करने के लिए सारे विश्व में कसाईघर क्यों हैं ? महाराज युधिष्ठिर के पौत्र, महाराज परीक्षित ने अपने विशाल राज्य का दौरा करते हुए देखा कि एक काला व्यक्ति गाय का वध करने का प्रयास कर रहा है। राजा ने तुरन्त उस कसाई को गिरफ्तार करके उसे पर्याप्त मात्रा में दण्डित किया। क्या राजा या शासनाध्यक्ष को इन बेचारे पशुओं की रक्षा नहीं करनी चाहिए, जो अपनी रक्षा स्वयं करने में अक्षम हैं ? क्या यह मानवता है ? क्या देश के पशु देशवासी नहीं हैं ? तो फिर संगठित कसाईघरों में वे उनके वध किये जाने की अनुमति क्यों देते हैं ? क्या ये समानता, बन्धुत्व तथा अहिंसा के लक्षण हैं ?

अतएव आधुनिक, प्रगतिशील सभ्य स्वरूप की सरकार के विपरीत, महाराज युधिष्ठिर का जैसा राजतन्त्र तथाकथित प्रजातंत्र से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जिसमें पशुओं का वध किया जाता है और पशु से भी गिरे हुए मनुष्य से, पशु से भी निम्न कोटि के दूसरे मनुष्य के लिए, मतदान कराया जाता है।

हम सभी भौतिक प्रकृति के प्राणी हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् स्वयं बीजदाता पिता हैं और प्रकृति सभी आकार-प्रकार के जीवों की माता है। इस तरह माता प्रकृति के पास, परम पिता श्रीकृष्ण की कृपा से, पशुओं तथा मनुष्यों दोनों के लिए पर्याप्त भोजन है। मनुष्य अन्य समस्त जीवों का बड़े भाई जैसा है। उसमें पशुओं की अपेक्षा अधिक बुद्धि है, जिससे वह प्रकृति का मार्ग तथा परम पिता के संकेतों को समझ सके। इस संसार में कृत्रिम

विलास तथा इन्द्रिय-तृप्ति के लिए, कृत्रिम लोभ तथा डाँवाडोल शक्ति द्वारा, कृत्रिम ढंग से आर्थिक विकास करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु मानवीय सभ्यता को प्राकृतिक उत्पादन पर आश्रित रहने देना चाहिए। यह तो कूकरो-सूकरो का जीवन है।

नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः ।

फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; समुद्राः—समुद्र; गिरयः—पहाड़; सवनस्पति—वनस्पतियाँ; वीरुधः—लताएँ; फलन्ति—सक्रिय, कारगर; ओषधयः—दवाएँ; सर्वाः—समस्त; कामम्—आवश्यकताएँ; अन्वृतु—मौसमी; तस्य—राजा के लिए; वै—निश्चय ही।

प्रत्येक ऋतु में नदियाँ, समुद्र, पर्वत, जंगल, लताएँ तथा कारगर औषधियाँ प्रचुर मात्रा में राजा को अपना-अपना कर चुकता करती थीं।

तात्पर्य : चूँकि महाराज युधिष्ठिर अजित के संरक्षण में थे, जैसाकि पहले उल्लेख हो चुका है, अतएव भगवान् की सम्पत्ति अर्थात् नदियाँ, समुद्र, पर्वत, जंगल आदि प्रसन्न थे और वे राजा को अपना-अपना कर चुकाते रहते थे। सफलता का रहस्य है भगवान् के संरक्षण में शरण लेना। उनकी अनुमति के बिना कुछ सम्भव नहीं है। औजारों तथा यंत्रों के बल पर अपने आप से आर्थिक विकास करने के लिए प्रयास करना ही तो सब कुछ नहीं है। उसके लिए परमेश्वर की अनुमति होनी आवश्यक है, अन्यथा सारी यांत्रिक व्यवस्था होने पर भी सब कुछ विफल रहेगा। सफलता का अन्तिम कारण दैव या परमेश्वर है। महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा यह अच्छी तरह जानते थे कि राजा जनता के कल्याण कार्यों की देखभाल करनेवाला परमेश्वर का दूत होता है। वस्तुतः राज्य परमेश्वर की सम्पत्ति है। नदियाँ, समुद्र, जंगल, पर्वत, औषधियाँ इत्यादि मनुष्य की सृष्टियाँ नहीं हैं। ये सब परमेश्वर की सृष्टियाँ हैं और जीव को भगवान् की इस सम्पत्ति का उपयोग करने की अनुमति भगवान् की सेवा करने के लिए दी जाती है। आज का नारा यह है कि प्रत्येक वस्तु जनता के लिए है, अतएव सरकार जनता द्वारा, जनता के लिए है। लेकिन इस समय ईश्वर-चेतना तथा मानव जीवन की पूर्णता के आधार पर नई तरह की मानवता, अर्थात् ईश्वरीय साम्यवाद

की विचारधारा उत्पन्न करने के लिए संसार को महाराज युधिष्ठिर अथवा परीक्षित जैसे राजाओं के पदचिह्नों का अनुसरण करना होगा। परमेश्वर की इच्छा से प्रत्येक वस्तु की प्रचुरता है और हम इन वस्तुओं का उपभोग मनुष्य तथा मनुष्य के बीच, पशु तथा मनुष्य या प्रकृति के बीच, शत्रु भाव से रहित होकर सुखपूर्वक रहने के लिए कर सकते हैं। भगवान् का नियंत्रण सर्वत्र है और यदि भगवान् प्रसन्न हो जाँय, तो प्रकृति का कोना-कोना पुलकित हो जाए। तब नदियाँ उमड़कर भूमि को उर्वर बनाएँगी, समुद्र प्रचुर मात्रा में खनिज, मोती तथा रत्न प्रदान करेंगे, जंगल पर्याप्त ईंधन, औषधियाँ तथा वनस्पतियों की पूर्ति करेंगे और ऋतु-परिवर्तन से विपुल मात्रा में फल-फूल मिल सकेंगे। फैक्टरियों तथा औजारों पर आश्रित रहकर जीने की कृत्रिम शैली से, कुछ ही व्यक्तियों को, तथाकथित सुख प्राप्त हो सकेगा, और वह भी लाखों लोगों का सुख छीनकर। चूँकि जन-समूह की शक्ति फैक्टरी उत्पादन में लगी है, अतएव प्राकृतिक पदार्थों में गतिरोध आ रहा है और जन-समूह दुखी है। ठीक से शिक्षा पाये बिना, अधिकांश लोग प्राकृतिक भंडारों का दोहन करके स्वार्थी हेतु के पीछे-पीछे चले जा रहे हैं, अतएव व्यक्ति-व्यक्ति तथा राष्ट्र-राष्ट्र के बीच कड़ी स्पर्धा चल रही है। भगवान् के प्रशिक्षित दूत द्वारा नियन्त्रण नहीं हो रहा है। हमें यहीं पर तुलना करके आधुनिक सभ्यता के दोषों पर विचार करना चाहिए और मनुष्य को शुद्ध करने तथा कालदोष को मिटाने के लिए महाराज युधिष्ठिर के पदचिह्नों पर चलना चाहिए।

नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः ।

अजातशत्रावभवन् जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; आधयः—चिन्ताएँ; व्याधयः—रोग; क्लेशाः—अधिक गर्मी तथा सर्दी से होनेवाला कष्ट; दैव-भूत-आत्म—शरीर, अलौकिक शक्ति तथा अन्य जीवों के कारण होनेवाले; हेतवः—के कारण से; अजात-शत्रौ—जिसके कोई शत्रु न हो, उनमें; अभवन्—घटित हुआ; जन्तूनाम्—समस्त जीवों का; राज्ञि—राजा में; कर्हिचित्—किसी भी समय।

चूँकि राजा का कोई शत्रु न था, अतएव सारे जीव, किसी भी समय मानसिक क्लेशों, रोगों या अत्यधिक ताप या शीत से विचलित नहीं थे।

तात्पर्य : मनुष्यों के प्रति अहिंसक होना तथा दीन पशुओं का शत्रु या हत्यारा बनना शैतानों का काम है। इस युग में दीन पशुओं के प्रति शत्रुता दिखाई जाती है, फलतः बेचारे प्राणी सदैव चिन्ताकुल रहते हैं। इन दीन पशुओं की प्रतिक्रिया मानव समाज पर लादी जा रही है, अतएव व्यक्तिरूप में, सामूहिक या राष्ट्रीय स्तर पर मनुष्यों के बीच सदैव शीत या गर्म युद्ध का तनाव बना रहता है। महाराज युधिष्ठिर के काल में पृथक्-पृथक् राष्ट्र न थे, भले ही भिन्न-भिन्न अधीनस्थ राज्य थे। सारा संसार एकता के सूत्र में बँधा हुआ था और सर्वोच्च नेता, युधिष्ठिर जैसा प्रशिक्षित राजा होने के कारण, सारे निवासियों को चिन्ता, रोगों तथा अत्यधिक ताप तथा शीत से मुक्त रखता था। वे न केवल आर्थिक रूप से सम्पन्न थे, अपितु शरीर से स्वस्थ थे और अलौकिक शक्ति से, अन्य जीवों के प्रति शत्रु भाव से तथा दैहिक एवं मानसिक क्लेशों से विचलित नहीं थे। बाँग्ला में एक कहावत है कि 'बुरा राजा राज्य को बिगाड़ देता है और बुरी गृहिणी परिवार को'—यही सत्य यहाँ भी लागू होता है। चूँकि राजा पवित्र था और भगवान् तथा मुनियों का आज्ञाकारी था, चूँकि उसका कोई शत्रु न था (अजात-शत्रु) और वह भगवान् का मान्य प्रतिनिधि था, तथा उनके ही द्वारा संरक्षित था, अतएव राजा के संरक्षण में सारी प्रजा एक प्रकार से भगवान् तथा उनके वैध दूतों के प्रत्यक्ष संरक्षण में थी। जब तक कोई स्वयं पवित्र न हो और भगवान् द्वारा मान्य न हो, तो वह अपने अधीनस्थ लोगों को सुखी नहीं बना सकता। मनुष्य तथा ईश्वर के बीच और मनुष्य तथा प्रकृति के बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता है और मनुष्य तथा ईश्वर के बीच एवं मनुष्य तथा प्रकृति के बीच ऐसे सचेतन सहयोग से ही संसार में सुख, शान्ति तथा समृद्धि लाई जा सकती है जैसाकि राजा युधिष्ठिर में प्रदर्शित होता है। एक दूसरे के शोषण की प्रवृत्ति, जिसका आजकल बोलबाला है, केवल क्लेश ला सकती है।

उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः ।

सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अषित्वा—ठहर कर; हस्तिनपुरे—हस्तिनापुर नगर में; मासान्—महीने; कतिपयान्—कुछ; हरिः—भगवान् श्रीकृष्ण;
सुहृदाम्—सम्बन्धियों को; च—भी; विशोकाय—सान्त्वना देने के लिए; स्वसुः—बहन को; च—तथा; प्रिय-
काम्यया—प्रसन्न करने के लिए।

श्री हरि अपने सम्बन्धियों को सान्त्वना देने तथा अपनी बहन (सुभद्रा) को प्रसन्न करने के लिए कुछ महीने हस्तिनापुर में रहे।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद एवं युधिष्ठिर के सिंहासनारूढ़ होने पर, श्रीकृष्ण को अपने राज्य द्वारका के लिए प्रस्थान करना था, लेकिन महाराज युधिष्ठिर को अनुगृहीत करने तथा भीष्मदेव पर विशेष अनुग्रह करने के लिए भगवान् कृष्ण पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर में रुके रहे। भगवान् ने संतप्त राजा को सान्त्वना देने तथा अपनी बहन सुभद्रा को प्रसन्न करने के लिए भी रुकने का निश्चय किया। सुभद्रा को विशेष रूप से सान्त्वना दिये जाने की आवश्यकता थी, क्योंकि उसका एकमात्र पुत्र, अभिमन्यु, जिसकी शादी हाल ही में हुई थी, मारा गया था। वह युवक अपनी पत्नी, महाराज परीक्षित की माता, उत्तरा को छोड़कर मरा था। भगवान् को अपने भक्तों को प्रसन्न करने में प्रसन्नता होती है। केवल उनके भक्त ही उनके सम्बन्धियों की भूमिका अदा कर सकते हैं। भगवान् तो परम पूर्ण हैं।

आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम् ।

आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; च—तथा; अभ्यनुज्ञातः—आज्ञा पाकर; परिष्वज्य—आलिंगन करके; अभिवाद्य—चरणों पर झुककर; तम्—महाराज युधिष्ठिर को; आरुरोह—आरूढ़ हुए; रथम्—रथ में; कैश्चित्—किन्हीं के द्वारा; परिष्वक्तः—आलिंगित होकर; अभिवादितः—अभिवादन किया जाकर।

तत्पश्चात् जब भगवान् ने प्रस्थान करने की अनुमति माँगी और राजा ने अनुमति दे दी तो भगवान् ने महाराज युधिष्ठिर के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम किया और राजा ने उनको गले लगा लिया। इसके बाद अन्यो द्वारा गले मिलने एवं नमस्कृत होकर, वे अपने रथ में आरूढ़ हुए।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर भगवान् कृष्ण के बड़े फुफेरे भाई थे, अतएव उनसे विदा होते समय, भगवान् राजा के चरणों में नतमस्तक हुए। राजा ने छोटे भाई की तरह उनका आलिंगन किया, यद्यपि राजा भलीभाँति जानते थे कि कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भगवान् को प्रसन्नता होती है जब उनका कोई भक्त उन्हें प्रेम में, अपने से घटकर समझता है। भगवान् से बढ़कर या उनके समान अन्य कोई भी नहीं है, तो भी वे अपने भक्तों द्वारा छोटा समझे जाने पर प्रसन्न होते हैं। ये सब भगवान् की दिव्य लीलाएँ हैं। निर्विशेषवादी भगवद्भक्त के द्वारा निभाई जाने-वाली अलौकिक भूमिका को समझ नहीं सकते। तत्पश्चात् भीम तथा अर्जुन भगवान् को गले मिले, क्योंकि वे समवयस्क थे, लेकिन नकुल तथा सहदेव ने उन्हें प्रणाम किया, क्योंकि वे उनसे छोटे थे।

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा ।
 गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ ॥ ९ ॥
 वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः ।
 न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सुभद्रा—कृष्ण की बहन; द्रौपदी—पाण्डवों की पत्नी; कुन्ती—पाण्डवों की माता; विराट-तनया—विराट की पुत्री (उत्तरा); तथा—भी; गान्धारी—दुर्योधन की माता; धृतराष्ट्रः—दुर्योधन का पिता; च—तथा; युयुत्सुः—धृतराष्ट्र की वैश्य-पत्नी का पुत्र; गौतमः—कृपाचार्य; यमौ—जुड़वाँ भाई नकुल तथा सहदेव; वृकोदरः—भीम; च—तथा; धौम्यः—धौम्य; च—तथा; स्त्रियः—राजमहल की अन्य स्त्रीयाँ भी; मत्स्य-सुता-आदयः—मछुवारे की पुत्री (सत्यवती, भीष्म की सौतेली माता); न—नहीं; सेहिरे—सह सकीं; विमुह्यन्तः—मूर्छित सी; विरहम्—वियोग; शार्ङ्ग-धन्वनः—श्रीकृष्ण का जो अपने हाथ में शंख धारण किये रहते हैं।

उस समय सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती, उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, कृपाचार्य, नकुल, सहदेव, भीमसेन, धौम्य तथा सत्यवती, सभी मूर्छित से हो गये, क्योंकि भगवान् कृष्ण का वियोग सह पाना उन सबों के लिए असम्भव था।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण जीवों के लिए, विशेष रूप से भक्तों के लिए, इतने आकर्षक हैं कि उनका वियोग असह्य हो जाता है। बद्धजीव, माया के वशीभूत होकर ही भगवान् को भूल जाता है, अन्यथा ऐसा हो नहीं सकता। ऐसे वियोग की अनुभूति का वर्णन नहीं किया जा सकता,

उसका अनुमान केवल भक्त ही कर सकते हैं। वृन्दावन तथा सीधे सादे ग्रामीण ग्वाल-बालों, बालिकाओं, स्त्रियों तथा अन्यो से श्रीकृष्ण का वियोग सबों को आजीवन आघात पहुँचाता रहा और अत्यन्त प्रिय गोपकुमारी राधारानी का वियोग तो अवर्णनीय है। वे एक बार सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में मिले और उन्हें जैसी अनुभूति हुई वह हृदय-विदारक है। निस्सन्देह भगवान् के दिव्य भक्तों के गुणों में अन्तर है, लेकिन जिन्होंने कभी भगवान् का सान्निध्य प्राप्त किया है, वे उन्हें क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ सकते। शुद्ध भक्त की यही मनोवृत्ति होती है।

सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।

कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥ ११ ॥

तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ।

दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्-सङ्गात्—शुद्ध भक्तों की संगति से; मुक्त-दुःसङ्गः—बुरी भौतिक संगति से मुक्त; हातुम्—परित्याग करने के लिए; न उत्सहते—कभी प्रयास नहीं करता है; बुधः—भगवान् को समझनेवाला; कीर्त्यमानम्—यशोगान करता; यशः—ख्याति; यस्य—जिसका; सकृत्—मात्र एक बार; आकर्ण्य—केवल सुनकर; रोचनम्—प्रसन्न करके; तस्मिन्—उसमें; न्यस्त-धियः—जिसने अपना मन उनको अर्पित कर रखा है; पार्थाः—पृथा के पुत्र; सहेरन्—सह सकते हैं; विरहम्—वियोग; कथम्—कैसे; दर्शन—आमने-सामने देखते हुए; स्पर्श—स्पर्श करते हुए; संलाप—परस्पर बातें करते; शयन—सोते; आसन—बैठते; भोजनैः—एक साथ भोजन करते।

वह बुद्धिमान जिस ने शुद्ध भक्तों की संगति से परमेश्वर को समझ लिया है और भौतिक कुसंगति से अपने को छुड़ा लिया है, वह भगवान् के यश को सुनने से चूकेगा नहीं; उसने चाहे उनके विषय में एक ही बार क्यों न सुना हो। तो भला, पाण्डव उनके वियोग को कैसे सह पाते? क्योंकि वे उनसे घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित थे, वे उन्हें साक्षात् अपने समक्ष देखते थे, उनका स्पर्श करते थे, उनसे बातें करते थे और उन्हीं के पास सोते, उठते-बैठते तथा भोजन करते थे।

तात्पर्य : जीव की स्वाभाविक स्थिति अपने से वरिष्ठ की सेवा करना है। उसे इन्द्रिय-तृप्ति की विभिन्न अवस्थाओं में, माया की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इन्द्रियों की सेवा करने में वह कभी थकता नहीं। यदि वह थक भी जाय, तो माया उसे इन्द्रियों

की सेवा करने के लिए निरन्तर बाध्य करती है और कभी सन्तुष्ट नहीं होती। ऐसे इन्द्रियतृप्ति-व्यापारों का कोई अन्त नहीं है और बद्धजीव छूटने की आशा के बिना ऐसी सेवा में उलझा रहता है। छुटकारा केवल तभी मिलता है, जब शुद्ध भक्तों की संगति होती है। ऐसी संगति से वह धीरे-धीरे अपनी दिव्य चेतना की ओर उन्नत होता है। इस प्रकार वह जान सकता है कि उसकी शाश्वत स्थिति भगवान् की सेवा करने के लिए है, विकृत इन्द्रियों की काम, क्रोध, प्रभुत्व जताने इत्यादि की इच्छा-पूर्ति के लिए नहीं है। भौतिक समाज, मित्रता तथा प्रेम कामवासना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। घर, देश, परिवार, समाज, सम्पत्ति तथा अन्य वस्तुएँ भौतिक जगत् में बन्धन के कारणस्वरूप हैं, जहाँ तीन प्रकार के ताप बने हुए हैं। शुद्ध भक्तों की संगति से तथा विनीत भाव से उनका श्रवण करने से भौतिक भोग के प्रति आसक्ति कम होती है और भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के विषय में सुनने के प्रति आकर्षण की प्रधानता होती है। एक बार आकर्षण उत्पन्न हो जाने पर वह बिना रुके चलता रहता है, जिस प्रकार बारूद की आग। ऐसा कहा गया है कि श्री हरि दिव्य रूप से इतने आकर्षक हैं कि जो आत्म-साक्षात्कार द्वारा अपने आप में ही सन्तुष्ट हैं और वास्तव में सारे भव-बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं, वे भी भगवान् के भक्त बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि पाण्डवों की क्या स्थिति हुई होगी, जो भगवान् के नित्य संगी थे? वे श्रीकृष्ण के वियोग की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि निरन्तर व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण उनका आकर्षण अत्यधिक प्रगाढ़ था। शुद्ध भक्त के लिए भी उनके रूप, गुण, नाम, यश, कार्यकलाप आदि का स्मरण इतना आकर्षक होता है कि वह संसार के सारे रूप, गुण, नाम, यश, कार्यकलाप भूल जाता है और शुद्ध भक्तों की परिपक्व संगति के कारण वह क्षण भर के लिए भी भगवान् के सम्पर्क से दूर नहीं होता।

सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः ।

वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; ते—वे; अनिमिषैः—बिना पलक झपके; अक्षैः—आँखों से; तम् अनु—उनके पीछे-पीछे; द्रुत-चेतसः—द्रवित हृदय; वीक्षन्तः—उनको देखते हुए; स्नेह-सम्बद्धाः—शुद्ध प्रेम से बँधे; विचेलुः—हिलने-डुलने लगे; तत्र तत्र—इधर-उधर; ह—उन्होंने ऐसा किया।

उन सबके हृदय उनके आकर्षण-रूपी पात्र में द्रवित हो रहे थे। वे उन्हें अपलक नेत्रों से देख रहे थे और (स्नेह-बन्धन में बँधकर) व्यग्रता से इधर-उधर मचल रहे थे।

तात्पर्य : कृष्ण स्वाभाविक रूप से सभी जीवों के लिए आकर्षक हैं, क्योंकि वे समस्त शाश्वतों में प्रधान शाश्वत हैं। एकमात्र वे ही अनेकों शाश्वतों के पालक हैं। यह कठोपनिषद् का कथन है और इस प्रकार मनुष्य भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को जागृत करके—जिसे वह भगवान् की भ्रामक शक्ति माया के चक्र से वशीभूत होकर भूल चुका है—स्थायी शान्ति तथा समृद्धि प्राप्त कर सकता है। एक बार भी यह सम्बन्ध जब हल्का सा भी पुनर्जागरित हो जाता है, बद्धजीव भौतिक शक्ति के भ्रम से मुक्त हो जाता है और भगवान् की संगति के लिए पागल हो उठता है। यह संगति केवल भगवान् के साक्षात् सम्पर्क से ही नहीं स्थापित होती, अपितु उनके नाम, यश, रूप, तथा गुणों के सान्निध्य से भी होती है। श्रीमद्भागवत बद्धजीवों को इस सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए शुद्ध भक्त से विनीत भाव से श्रवण के द्वारा प्रशिक्षित करता है।

न्यरुन्धन्नुद्गलद्वाष्पमौत्कण्ठ्यादेवकीसुते ।

निर्यात्यगारात्रोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न्यरुन्धन्—बड़ी मुश्किल से रोकते हुए; उद्गलत्—उमड़ते हुए; बाष्पम्—आँसुओं को; औत्कण्ठ्यात्—अत्यधिक उत्सुकता से; देवकी-सुते—देवकी के पुत्र में; निर्याति—बाहर निकल कर; अगारात्—महल से; नः—नहीं; अभद्रम्—अशुभ; इति—इस प्रकार; स्यात्—होए; बान्धव—सम्बन्धियों की; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

सगी-सम्बन्धी (नातेदार) स्त्रियाँ, जिनके नेत्रों से कृष्ण के लिए व्याकुलतावश अश्रुधारा निकल रही थी, महल से बाहर आ गईं। वे बड़ी मुश्किल से अपने आँसू रोक पाईं। उन्हें भय था कि प्रस्थान के अवसर पर आँसुओं से अपशकुन हो सकता है।

तात्पर्य : हस्तिनापुर के राजमहल में सैकड़ों महिलाएँ थीं। वे सभी कृष्ण के प्रति स्नेहमयी थीं। वे सभी उनकी रिश्तेदार भी थीं। जब उन्होंने देखा कि कृष्ण अपनी मातृभूमि को जाने के

लिए महल से निकल रहे हैं, तो वे उनके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठें और जैसा स्वाभाविक था, उनके अश्रु ढुलक-ढुलक कर कपोलों पर आने लगे। उसी समय उन्होंने सोचा कि उस समय उनके अश्रु कृष्ण के लिए अमंगलसूचक हो सकते हैं, अतएव उन्होंने अश्रुओं को रोकना चाहा। ऐसा करना उनके लिए बहुत कठिन था, क्योंकि अश्रु रुक नहीं पा रहे थे। अतः उन्होंने आँखों के अश्रुओं को पोंछा और उनके हृदय धड़कने लगे। वे स्त्रियाँ जिनके पति या श्वसुर युद्ध में मारे गये थे, कृष्ण के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आ सकीं थीं। लेकिन वे सब कृष्ण तथा उनके महान कार्यों के विषय में सुनती रहती थीं। इस प्रकार वे उनके विषय में सोचतीं, उनके नाम तथा यश के विषय में बातें करतीं और उन स्त्रियों के समान स्नेहिल हो गई थीं जो उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में थीं। अतएव जो कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण के विषय में सोचता है, कृष्ण के विषय में बातें करता है या कृष्ण की पूजा करता है, वह उनके प्रति अनुरक्त हो जाता है। चूँकि कृष्ण परम पूर्ण हैं, अतः उनके नाम, रूप, गुण आदि में कोई अन्तर नहीं है। हम कृष्ण के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को उनके विषय में बातें करके, श्रवण करके या स्मरण करके पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। आध्यात्मिक सामर्थ्य से ही ऐसा हो पाता है।

मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः ।

धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मृदङ्ग—मीठी ध्वनि उत्पन्न करनेवाला ढोल; शङ्ख—शंख; भेर्यः—भेरी; च—तथा; वीणा—तंतुयुक्त वाद्ययन्त्र, वीणा; पणव—एक प्रकार की वंशी; गोमुखाः—अन्य प्रकार की बाँसुरी; धुन्धुरी—एक प्रकार का ढोल; आनक—नगाड़ा; घण्टा—बजाया जानेवाला घंटा; आद्याः—इत्यादि; नेदुः—बजे; दुन्दुभयः—विभिन्न प्रकार के ढोल; तथा—उस समय।

हस्तिनापुर के राजमहल से भगवान् के प्रस्थान समय, उनके सम्मान में विभिन्न प्रकार के ढोल—यथा मृदंग, ढोल, नगाड़े, धुंधुरी तथा दुन्दुभी—एवं तरह-तरह की वंशियाँ, वीणा, गोमुख और भेरियाँ एकसाथ बज उठे।

प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया ।

ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रासाद—राजमहल की; शिखर—छत पर; आरूढाः—चढ़ी हुई; कुरु-नार्यः—कुरुराजवंश की नारियाँ; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; ववृषुः—वर्षा की; कुसुमैः—फूलों से; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण पर; प्रेम—प्रेम तथा स्नेहवश; व्रीडा-स्मित-ईक्षणाः—लजीली हँसी से देखते हुए।

भगवान् को देखने की प्रेममयी इच्छा से कुरुओं की राजवंशी स्त्रियाँ राजमहल की छत पर चढ़ गई और स्नेह तथा लज्जा से युक्त हँसती हुई भगवान् पर पुष्पों की वर्षा करने लगीं।

तात्पर्य : लज्जा स्त्रियों का विशिष्ट अतिरिक्त प्राकृतिक सौंदर्य है, और इसके कारण उन्हें पुरुषों से आदर मिलता है। महाभारत काल में अर्थात् पाँच हजार से अधिक समय पूर्व भी यह प्रथा प्रचलित थी। जो लोग विश्व इतिहास से परिचित नहीं हैं, ऐसे कम बुद्धि वाले लोग ही कहते हैं कि पुरुषों से स्त्रियों को पृथक् रखने की प्रथा भारत में मुसलमानों के आगमन में चालु हुई। महाभारत की यह घटना निश्चित रूप से यह सिद्ध करती है कि राजमहल की स्त्रियाँ पर्दा करती थीं (पुरुषों से बहुत कम मिलती थीं) और वे सब, नीचे न आकर जहाँ कृष्ण थे, राजमहल की छत पर चढ़ गई और वहीं से कृष्ण के प्रति सम्मान जताने के लिए उन पर पुष्पों की वर्षा करने लगीं। यहाँ यह भी कहा गया है कि महल की छत पर स्त्रियाँ लज्जा के कारण मुस्करा भी रही थीं। यह लज्जा स्त्रियों को प्रकृति का वरदान है, इससे उनकी सुन्दरता तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है, भले ही वे उच्चकुल की न भी हों या कम सुन्दर हों। हमें इसका निजी अनुभव है। एक मेहतारानी स्त्रियोचित लज्जा के कारण अनेक भद्र पुरुषों की श्रद्धा-भाजन बनी हुई थी। सड़क पर घूमनेवाली अर्धनग्न नारियाँ सम्मान नहीं प्राप्त कर पातीं, लेकिन एक लज्जाशील मेहतारानी सबों से सम्मान पाती है।

मानव सभ्यता मनुष्य को माया के चंगुल से छूटने में सहायक बनने के लिए है, जैसाकि भारत के ऋषियों-मुनियों की संकल्पना थी। स्त्री की भौतिक सुन्दरता मोह है, क्योंकि शरीर वास्तव में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इत्यादि से बना हुआ है। लेकिन पदार्थ के साथ जीवन्त स्फुलिंग का संयोग है, अतएव यह सुन्दर लगता है। कोई मिट्टी की गुड़िया के प्रति आकृष्ट नहीं होता, यद्यपि यह दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से अच्छी से अच्छी बनाई जाती है। मृत

शरीर में कोई सौंदर्य नहीं होता, क्योंकि कोई भी तथाकथित सुन्दर स्त्री के मृत शरीर को स्वीकार नहीं करेगा। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा का स्फुलिंग ही सुन्दर है और आत्मा की सुन्दरता से ही मनुष्य बाह्य शरीर के सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होता है। इसीलिए वैदिक ज्ञान हमें झूठी सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होने से मना करता है। लेकिन चूँकि अब हम अविद्या के अन्धकार में हैं, अतएव वैदिक सभ्यता स्त्री तथा पुरुष को मिलने की सीमित छूट देती है। वेदों का कहना है कि स्त्री अग्नि तुल्य है और मनुष्य नवनीत (मक्खन) के समान है। नवनीत अग्नि के संसर्ग से अवश्य पिघलता है, अतएव आवश्यकता पड़ने पर ही उन्हें पास-पास लाना चाहिए। और लज्जा ही अनियन्त्रित मिलने-जुलने पर प्रतिबन्ध-स्वरूप है। यह प्रकृति का वरदान है और इसका उपयोग होना चाहिए।

सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् ।

रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सित-आतपत्रम्—सुखद छाता; जग्राह—ले लिया; मुक्ता-दाम—मोतियों तथा झालर से सजा; विभूषितम्—किनारी लगा; रत्न-दण्डम्—रत्नों के हथ्ये वाला; गुडाकेशः—अर्जुन, पटु योद्धा के रूप में अथवा जिसने नींद जीत ली है; प्रियः—अत्यन्त प्यारा; प्रियतमस्य—अत्यन्त प्रिय का; ह—ऐसा ही किया।

उस समय महान् योद्धा तथा निद्रा को जीतनेवाले अर्जुन ने, जो परम प्रिय भगवान् का घनिष्ठ मित्र था, एक छाता ले लिया जिसका हथ्या रत्नों का था और जिसमें मोतियों की झालर लगी थी।

तात्पर्य : विलासपूर्ण राजसी उत्सवों में सोना, रत्न, मोती तथा मूल्यवान पत्थरों का प्रयोग होता था। ये सब प्रकृति के उपहार हैं और भगवान् के आदेश से पर्वतों, समुद्रों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं और तब वे उत्पन्न होते हैं, जब मनुष्य आवश्यकता के नाम पर व्यर्थ वस्तुओं के निर्मित करने में अपना अमूल्य समय नहीं गँवाता। औद्योगिक उपक्रमों के तथाकथित विकास से वे सोना, चाँदी, पीतल तथा ताँबा जैसी धातुओं के बजाय गटापारचा के बर्तनों को काम में लाते हैं।

वे शुद्ध घी (मार्गरीन) के स्थान पर कृत्रिम घी का प्रयोग कर रहे हैं और शहरी जनसंख्या के चौथाई भाग के पास रहने के लिए कोई आश्रयस्थान नहीं है।

उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते ।

विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उद्धवः—कृष्ण का चचेरा भाई; सात्यकिः—उनका सारथी; च—तथा; एव—निश्चय ही; व्यजने—पंखा झलने में व्यस्त; परम-अद्भुते—सजावटी; विकीर्यमाणः—बिखरे हुए (फूलों) पर आसीन; कुसुमैः—फूलों से; रेजे—आदेश दिया; मधु-पतिः—मधु के स्वामी (कृष्ण) ने; पथि—मार्ग पर।

उद्धव तथा सात्यकि अलंकृत पंखों से भगवान् पर पंखा झलने लगे और मधु के स्वामी कृष्ण ने बिखरे हुए पुष्पों पर आसीन होकर उन्हें मार्ग पर चलने के लिए आदेश दिया।

अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।

नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अश्रूयन्त—सुना जाकर; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—सभी सच हैं; तत्र—यहाँ; तत्र—वहाँ; द्विज-ईरिताः—विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा उच्चरित; न—नहीं; अनुरूप—अनुरूप; अनुरूपाः—योग्य; च—भी; निर्गुणस्य—परम का; गुण-आत्मनः—मनुष्य की भूमिका निभाते हुए।

जहाँ-तहाँ यह सुनाई पड़ रहा था कि कृष्ण को दिये गये आशीर्वाद, न तो उनके उपयुक्त हैं, न अनुपयुक्त, क्योंकि वे सब उन परम पुरुष के लिए थे जो इस समय मनुष्य की भूमिका निभा रहे थे।

तात्पर्य : जगह-जगह भगवान् श्रीकृष्ण को आशीर्वाद देने के उद्देश्य से वैदिक ध्वनियाँ हो रही थीं। ये आशीर्वाद इस अर्थ में उपयुक्त थे, कि भगवान् एक सामान्य मनुष्य की-सी भूमिका निभा रहे थे मानो वे महाराज युधिष्ठिर के फुफेरे भाई हों। लेकिन ये अनुपयुक्त भी थे, क्योंकि भगवान् परम पुरुष हैं और उन्हें भौतिक रिश्ते-नातों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। वे तो निर्गुण अर्थात् भौतिक गुणों से रहित हैं, फिर भी वे दिव्य गुणों से ओतप्रोत हैं। दिव्य जगत में कुछ भी विरोधाभासी नहीं होता, जबकि इस सापेक्ष जगत में सभी चीजें इसके उलट होती हैं।

उदाहरणार्थ, इस सापेक्ष जगत में श्वेत का विलोम श्याम होता है, लेकिन दिव्य जगत में श्वेत तथा श्याम में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव परम पुरुष के प्रसंग में यत्र-तत्र विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा उच्चरित आशीर्वादात्मक ध्वनियाँ विलोम लग रही थीं, लेकिन जब वे परम पुरुष पर लागू होती हैं तो सारा विरोधाभास दूर हो जाता है और वे दिव्य बन जाती हैं। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। भगवान् श्रीकृष्ण को कभी-कभी चोर कहा जाता है। अपने शुद्ध भक्तों में वे माखनचोर के नाम से अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। वे बचपन में वृन्दावन में अपने पड़ोसियों के घरों से माखन चुराते थे। तब से वे चोर-रूप में प्रसिद्ध हैं। लेकिन चोर के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी उनकी चोर के रूप में पूजा की जाती है, जबकि सांसारिक जगत में चोर की कभी प्रशंसा नहीं की जाती और उसे दंडित किया जाता है। चूँकि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतएव उन पर सब कुछ लागू होता है और समस्त विरोधाभासों के बावजूद वे भगवान् बने रहते हैं।

अन्योन्यमासीत्सञ्जल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् ।

कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अन्योन्यम्—एक दूसरे में; आसीत्—था; सञ्जल्पः—बात; उत्तम-श्लोक—परमेश्वर, जिनकी प्रशंसा चुने हुए श्लोकों से की जाती है; चेतसाम्—जिनके हृदय इस प्रकार लीन हैं उनका; कौरव-इन्द्र—कुरुओं का राजा; पुर—राजधानी; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; सर्व—समस्त; श्रुति—वेद; मनः-हरः—मन को मोहित करनेवाला।

चुने हुए छन्दों से जिनकी स्तुति की जाती है, ऐसे भगवान् के दिव्य गुणों के विचार में डूबीं, हस्तिनापुर के सभी घरों की छतों पर चढ़ी हुई स्त्रियाँ, उनके विषय में बातें करने लगीं। ये बातें वैदिक स्तोत्रों से कहीं अधिक आकर्षक थीं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि समस्त वैदिक वाङ्मय का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वस्तुतः भगवान् का यशोगान वेदों, रामायण तथा महाभारत जैसे ग्रंथों में अंकित है। और भागवत में तो विशेष रूप से परमेश्वर का यशोगान हुआ है। अतएव जब कुरुवंश के राजाओं की राजधानी में घरों की छतों पर स्त्रियाँ भगवान् के विषय में बातें कर रही थीं, तो उनकी बातें वैदिक स्तोत्रों से अधिक मनोहर लग रही थीं। भगवान् की प्रशंसा में जो भी गाय

जाय, वह *श्रुतिमन्त्र* है। गौड़ीय सम्प्रदायके आचार्य ठाकुर नरोत्तमदास ने सरल बाँग्ला भाषा में अनेक गीत लिखे हैं। लेकिन उसी सम्प्रदाय के एक अत्यन्त अन्य विद्वान आचार्य ठाकुर विश्वनाथ चक्रवर्ती ने नरोत्तमदास के इन गीतों को वैदिक-मन्त्रों के ही समान बताया है। इसका कारण है इनकी विषयवस्तु। भाषा का उतना महत्त्व नहीं है, विषयवस्तु की महत्ता होती है। उन सारी स्त्रियों में, जो कि भगवान् के विचार तथा कार्यों में लीन थीं, भगवान् की कृपा से वैदिक वाङ्मय की सी चेतना का विकास हो आया था। अतएव, भले ही वे स्त्रियाँ संस्कृत की अच्छी विद्वान न रही हों, तो भी उनकी बातें वैदिक स्तोत्रों की अपेक्षा अधिक मनोहर लग रही थीं। *उपनिषदों* में वैदिक स्तोत्र कभी-कभी अप्रत्यक्ष रूप से परमेश्वर के प्रति व्यक्त होते हैं। लेकिन स्त्रियों की बातें प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के विषय में थीं, अतएव वे अधिक हृदयग्राही थीं। स्त्रियों की बातें विद्वान ब्राह्मणों के आशीर्वादों से अधिक मूल्यवान लग रही थीं।

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे
निमीलितात्मनिशि सुप्तशक्तिषु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (कृष्ण); वै—जैसा मुझे स्मरण है; किल—निश्चित रूप से; अयम्—यह; पुरुषः—भगवान्; पुरातनः—आदि;
यः—जो; एकः—एकमात्र; आसीत्—विद्यमान थे; अविशेषः—भौतिक रूप से अव्यक्त; आत्मनि—स्वयं; अग्रे—सृष्टि
के पूर्व; गुणेभ्यः—प्रकृति के गुणों का; जगत्—आत्मनि—परमात्मा में; ईश्वरे—भगवान् में; निमीलित—लीन; आत्मन्—
जीव; निशि सुप्त—रात्रि में सोया हुआ; शक्तिषु—शक्तियों का।

वे कहने लगीं : जैसा हमें निश्चित रूप से स्मरण है, यही हैं वे, जो आदि परमेश्वर हैं। प्रकृति के गुणों की व्यक्त सृष्टि के पूर्व, वे ही अकेले विद्यमान थे। चूँकि वे परमेश्वर हैं, अतएव सारे जीव उन्हीं में लीन होते हैं, मानो रात्रि में सोये हुए हों और उनकी शक्ति रुक गई हो।

तात्पर्य : इस दृश्य जगत का विलय दो प्रकार से होता है। हर ४,३२,००,००,००० सौर वर्षों के बाद, जब एक ब्रह्माण्ड विशेष के स्वामी, ब्रह्मा, शयन करते हैं तो एक प्रलय होता है। ब्रह्मा

की एक सौ वर्ष की आयु के अन्त में (हमारी गणना के अनुसार ८,६४,००,००,००० X ३० X १२ X १०० सौर वर्ष) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पूर्ण प्रलय होता है और दोनों ही बार, *महत्तत्त्व* अर्थात् भौतिक शक्ति तथा *जीवतत्त्व* अर्थात् तटस्था शक्ति, भगवान् के शरीर में लीन हो जाती हैं। सारे जीव भगवान् के शरीर में तब तक सुप्त रहते हैं, जब तक जगत की दूसरी सृष्टि नहीं हो जाती। भौतिक जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार का यही विधान है।

भगवान् द्वारा गतिमान किये जाने पर, भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की अन्तःक्रिया से भौतिक सृष्टि होती है, इसीलिए यहाँ पर कहा गया है कि भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के गतिमान होने के पूर्व भगवान् विद्यमान थे। *श्रुति मन्त्र* में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व केवल सर्वोपरि भगवान् विष्णु का अस्तित्व था, तब न तो ब्रह्मा थे, न शिव, न ही कोई अन्य देवता। विष्णु का अर्थ है महाविष्णु, जो कारणार्णव समुद्र में लेटे हुए हैं। उनकी श्वास से ही सारे ब्रह्माण्ड बीज-रूप में उत्पन्न होते हैं और धीरे-धीरे प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर असंख्य ग्रहों का विराट रूप विकसित होता है। ब्रह्माण्डों के बीज उसी तरह विशाल आकार ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार एक वटवृक्ष के बीजों से असंख्य वटवृक्ष विकसित हो आते हैं।

ये महाविष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण अंश हैं, जिनका उल्लेख *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार हुआ है—

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द को सादर नमस्कार करता हूँ, जिनके पूर्ण अंश महाविष्णु हैं। ब्रह्माण्डों के अगुवा सारे ब्रह्मा, उनके दिव्य शरीर के रोमकूपों से उत्पन्न ब्रह्माण्डों के पश्चात्, उतने ही समय तक जीवित रहते हैं जितने मैं भगवान् श्वास छोड़ते हैं।” (*ब्रह्म-संहिता* ५.५८)

इस प्रकार गोविन्द अर्थात् भगवान् कृष्ण महाविष्णु के भी कारण-स्वरूप हैं। स्त्रियों ने यह वैदिक सत्य किसी प्रामाणिक स्रोत से सुन रखा होगा, तभी वे इसके विषय में बातें कर रही थीं। दिव्य विषयों के सही-सही ज्ञान पाने का एकमात्र साधन होता है, कोई प्रामाणिक स्रोत। इसका कोई विकल्प नहीं है।

महाविष्णु के शरीर में जीवों का प्रवेश, ब्रह्मा के एक सौ वर्ष बाद स्वतः हो जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिगत जीव अपनी सत्ता (पहचान) खो देता है। सत्ता तो बनी ही रहती है और ज्योंही भगवान् की परम इच्छा से दूसरी सृष्टि होती है, तो सारे सुप्त, निष्क्रिय जीवों को छोड़ दिया जाता है, जिससे वे अपने पूर्व जीवन के विभिन्न कार्यक्षेत्रों के अनुसार अपने कार्यों को आगे बढ़ा सकते हैं। यह *सुप्तोत्थित* न्याय अर्थात् 'निद्रा से जगकर पुनः अपने कर्म में लग जाना' कहलाता है। रात्रि में जब मनुष्य सोता है, तब वह यह भूल जाता है कि वह कौन है, उसका क्या कर्तव्य है और वह जगते समय की सारी बातें भूल जाता है। किन्तु ज्योंही वह नींद से उठता है, तो उसे जो कुछ करना होता है, सब स्मरण हो आता है और वह फिर से अपने कार्यकलाप में लग जाता है। सारे जीव भी, प्रलय के समय, महाविष्णु के शरीर में लीन रहते हैं, किन्तु ज्योंही दूसरी सृष्टि होती है, वे उठकर अपना अधूरा काम पूरा करने लगते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१८-२०) में भी हुई है।

सृजनात्मक शक्ति के सक्रिय अवस्था में आने के पूर्व भगवान् का अस्तित्व था। भगवान् भौतिक शक्ति से उत्पन्न नहीं हुए हैं। उनका शरीर पूर्ण रूप से आध्यात्मिक है और उनके शरीर तथा उनमें कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि के पूर्व भगवान् अपने परम धाम में रहते थे, जो परम पूर्ण और अद्वितीय है।

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; एव—इस प्रकार; भूयः—फिर से; निज—अपना; वीर्य—पराक्रम; चोदिताम्—सम्पन्नता का; स्व—अपना; जीव—जीव; मायाम्—बाह्य शक्ति; प्रकृतिम्—भौतिक प्रकृति को; सिसृक्षतीम्—पुनः सृष्टि करते समय; अनाम—बिना उपाधि के; रूप-आत्मनि—आत्मा के स्वरूप; रूप-नामनी—रूप तथा नाम; विधित्समानः—प्रदान करने की इच्छा करते; अनुससार—हस्तान्तरित कर दिया; शास्त्र-कृत्—शास्त्रों के संग्राहक।

तब भगवान् ने अपने अंशस्वरूप जीवों को, नाम तथा रूप प्रदान करने की इच्छा से, उन्हें भौतिक प्रकृति के मार्गदर्शन के अन्तर्गत कर दिया। उनकी ही अपनी शक्ति से भौतिक प्रकृति को पुनः सृष्टि करने के लिए अधिकृत कर दिया गया है।

तात्पर्य : सारे जीव भगवान् के अंश हैं। वे दो प्रकार के हैं—*नित्य मुक्त* तथा *नित्य बद्ध*। *नित्य मुक्त* शाश्वत रूप से मुक्त जीव हैं और वे भगवान् के दिव्य धाम में, जो दृश्य जगत से परे है, दिव्य प्रेममयी सेवा के आदान-प्रदान में नित्य निमग्न रहते हैं। लेकिन *नित्य बद्ध* अर्थात् शाश्वत रूप से बद्धजीवों का जिम्मा बहिरंगा शक्ति, *माया* पर रहता है कि वह परम पिता के प्रति उनकी विद्रोहात्मक मनोवृत्ति को सुधारे। *नित्य बद्ध* यह सदैव भूले रहते हैं कि भगवान् के साथ उनका सम्बन्ध उनके अंश के रूप में है। वे माया द्वारा पदार्थ के उत्पादों के रूप में मोहग्रस्त रहते हैं और इस तरह वे सुखी बनने के लिए भौतिक जगत में नाना प्रकार की योजनाएँ बनाते रहते हैं। वे इन योजनाओं को खुशी-खुशी आगे बढ़ाते हैं, लेकिन भगवान् की इच्छा से योजना बनानेवाले तथा उनकी योजनाएँ कुछ काल बाद ध्वस्त हो जाती हैं—जैसाकि पहले कहा जा चुका है। *भगवद्गीता* (९.७) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है, “हे कुन्ती-पुत्र! कल्प के अन्त में सारे जीव मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और जब पुनः सृष्टि करने का समय आता है, तो मैं अपनी बहिरंगा शक्ति से सृष्टि प्रारम्भ करता हूँ।”

भूयः शब्द पुनः पुनः का सूचक है अर्थात् यह बताता है कि सृष्टि, पालन तथा संहार की क्रिया भगवान् की बहिरंगा शक्ति से अनवरत चलती रहती है। वे ही सबके कारण हैं। लेकिन सारे जीव, जो स्वाभाविक रूप से भगवान् के अंश हैं और मधुर सम्बन्ध को भुलाये रहते हैं, उन्हें बहिरंगा शक्ति के चंगुल से छूटने का अवसर पुनः प्रदान किया जाता है। और जीव की चेतना को पुर्नजागृत करने के लिए, शास्त्रों की सृष्टि भी भगवान् ही करते हैं। बद्धजीव के लिए वैदिक वाङ्मय दिशा निर्देश करनेवाला है, जिससे वे भौतिक जगत तथा भौतिक शरीर की सृष्टि तथा संहार के पुनरावर्तन से मुक्त हो सकें।

भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं, “यह उत्पन्न हुआ जगत तथा भौतिक शक्ति मेरे वश में हैं। प्रकृति के प्रभाव से, वे स्वतः बार-बार उत्पन्न होते हैं और यह सब मेरे द्वारा मेरी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से किया जाता है।”

वस्तुतः आध्यात्मिक स्फुलिंग-रूपी जीवों का कोई नाम या रूप नहीं होता। लेकिन भौतिक रूपों तथा नामों की भौतिक शक्ति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा-पूर्ति के लिए, उन्हें ऐसे झूठे भोग का अवसर प्रदान किया जाता है और उसी के साथ ही साथ उन्हें शास्त्रों के माध्यम से वास्तविक स्थिति को समझने का अवसर दिया जाता है। मूर्ख तथा भुलकड़ जीव सदैव झूठे रूपों तथा झूठे नामों में व्यस्त रहता है। आधुनिक राष्ट्रवाद ऐसे झूठे नामों तथा झूठे रूपों की चरम परिणति है। मनुष्य झूठे नाम और मिथ्या रूप के पीछे पागल बने रहते हैं। किन्हीं परिस्थितियों में प्राप्त शरीर के रूप को वास्तविक मान लिया जाता है और इस प्रकार से प्राप्त नाम भी अनेक “वादों” के नाम पर शक्ति का दुरुपयोग करने में बद्धजीवों को मोहित करता है। तथापि शास्त्र वास्तविक स्थिति को समझने के लिए संकेत प्रदान करते हैं, किन्तु लोग विभिन्न देश-काल के लिए भगवान् द्वारा निर्मित शास्त्रों से शिक्षा ग्रहण करते हुए कतराते हैं। उदाहरणार्थ, भगवद्गीता प्रत्येक मानव के लिए पथप्रदर्शिका है, लेकिन भौतिक शक्ति के जादू से वे भगवद्गीता द्वारा बताई गई जीवन-शैली को नहीं अपनाते। जिसने भगवद्गीता के सिद्धान्तों को पूरी तरह समझ लिया है, उसके लिए श्रीमद्भागवत स्नातकोत्तर अध्ययन का विषय है। दुर्भाग्यवश लोगों में उसके लिए रुचि नहीं है, अतएव वे माया के चंगुल में फँसकर बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र में आ जाते हैं।

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो
जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना
नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भगवत्कृपा द्वारा; अयम्—यह; यत्—जो; पदम् अत्र—यहाँ वही भगवान् श्रीकृष्ण हैं; सूरयः—बड़े-बड़े भक्त-गण; जित-इन्द्रियाः—जिन्होंने इन्द्रियों के प्रभाव को जीत लिया है; निर्जित—पूर्ण रूप से संयमित; मातरिश्वनः—

जीवन; पश्यन्ति—देख सकते हैं; भक्ति—भक्तिमय सेवा से; उत्कलित—विकसित; अमल-आत्मना—जिनके मन पूरी तरह विमल हैं उनका; ननु एषः—निश्चित रूप से इसी के द्वारा; सत्त्वम्—जगत, अस्तित्व; परिमार्ष्टुम्—मन को पूरी तरह स्वच्छ करने के लिए; अर्हति—के योग्य है।

ये वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जिनके दिव्य रूप का अनुभव बड़े-बड़े भक्तों द्वारा किया जाता है, जिन्होंने सुदृढ़ भक्ति द्वारा तथा जीवन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण संयम द्वारा, भौतिक चेतना से पूर्ण रूप से विशुद्ध हो चुके हैं। तथा अस्तित्व को विमल बनाने का यही एकमात्र मार्ग है।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् केवल भक्तिमय सेवा द्वारा अपने वास्तविक रूप में जाने जा सकते हैं। अतएव यहाँ पर बताया गया है कि केवल महान् भगवद्भक्त, जो कठिन भक्तिमय सेवा द्वारा मन के सारे भौतिक मैल को धो सकते हैं, वे ही भगवान् को यथारूप अनुभव कर सकते हैं। *जितेन्द्रिय* का अर्थ है, इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण रखने वाला। इन्द्रियाँ शरीर की सक्रिय अंग हैं और उनके कार्यों को रोक पाना सम्भव नहीं। इन्द्रियों को निष्क्रिय बनाने के लिए योग के कृत्रिम साधन सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए हैं, यहाँ तक कि विश्वामित्र मुनि जैसे महान् *योगी* सरीखे के प्रसंग में भी। विश्वामित्र मुनि ने यौगिक समाधि के द्वारा इन्द्रियों को वश में कर रखा था, किन्तु जब उनकी भेंट मेनका (स्वर्ग की अप्सरा) से हो गई, तो वे काम के शिकार हो गये और इन्द्रियों को वश में करने की उनकी कृत्रिम विधि विफल हो गई। लेकिन शुद्ध भक्त के किस्से में ऐसा नहीं होता कि कृत्रिम साधन से इन्द्रियों को कार्य करने से रोका जाय, अपितु उन्हें अन्य अच्छे कार्यों में व्यस्त रखा जाता है। जब इन्द्रियाँ अधिक आकर्षक कार्यों में लग जाती हैं, तो किन्हीं निकृष्ट कार्यों के प्रति उनके उन्मुख होने की सम्भावना नहीं रह जाती। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि *इन्द्रियों को अच्छे कार्यों में लगाने के ही द्वारा ही वश में रखा जा सकता है।* भक्ति की अनिवार्यता है कि इन्द्रियों को विमल किया जाय या भक्तिमय सेवा में लगाया जाय। भक्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। भगवान् की सेवा में जो कुछ भी किया जाता है, वह उनकी भौतिक प्रकृति से तुरन्त ही पवित्र हो जाता है। भौतिक धारणा अज्ञान के कारण ही है। वासुदेव के परे कुछ भी नहीं है। ग्रहणशील इन्द्रियों के दीर्घकालीन अभ्यास से ही विद्वान के हृदय में धीरे-धीरे वासुदेव अनुभूति जागृत होती है। लेकिन 'वासुदेव ही

सब कुछ हैं' ऐसा स्वीकार करने के ज्ञान में ही इस विधि का समापन होता है। भक्तिमय सेवा में यही विधि शुरूआत से स्वीकार की जाती है और भगत्वकृपा से अन्तःकरण में भगवान् के आदेश से, सारा वास्तविक ज्ञान प्रकट हो जाता है। अतएव भक्तिमय सेवा द्वारा इन्द्रियों को वश में करना एकमात्र सरलतम साधन है।

स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो
वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः ।
य एक ईशो जगदात्मलीलया
सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; वै—भी; अयम्—यह; सखि—हे सखी; अनुगीत—वर्णित; सत्-कथः—श्रेष्ठ लीलाएँ; वेदेषु—वेदों में; गुह्येषु—गोपनीय रीति से; च—भी; गुह्य-वादिभिः—गुह्य भक्तों द्वारा; यः—जो; एकः—केवल एक; ईशः—परम नियन्ता; जगत्—सारी सृष्टि के; आत्म—परमात्मा; लीलया—लीलाओं के प्राकट्य द्वारा; सृजति—सृजन करते हैं; अवति अत्ति—पालन करते हैं तथा संहार करते हैं; न—कभी नहीं; तत्र—वहाँ; सज्जते—उसमें आसक्त होते हैं।

हे सखियो, यहाँ पर वही भगवान् हैं, जिनकी आकर्षक तथा गोपनीय लीलाओं का वर्णन बड़े-बड़े भक्तों द्वारा वैदिक साहित्य के गुह्यतम अंशों में हुआ है। वे ही भौतिक जगत की सृष्टि करने वाले, पालने वाले तथा संहार करनेवाले हैं, फिर भी वे उससे अप्रभावित रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि सारा वैदिक साहित्य भगवान् श्रीकृष्ण की महानता का यशोगान करता है। यहाँ पर भागवत में भी इसकी पुष्टि की गई है। वेदों की अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ हैं और इसका विस्तार महान भक्तों यथा व्यास, नारद, शुकदेव गोस्वामी, कुमारगण, कपिल, प्रह्लाद, जनक, बलि तथा यमराज जैसे भगवान् के शक्त्यावेश अवतारों द्वारा हुआ है, लेकिन उनकी लीलाओं का गुह्य अंश, गुह्य भक्त शुकदेव गोस्वामी द्वारा श्रीमद्भागवत में विशेष रूप से वर्णित हुआ है। वेदान्त-सूत्र या उपनिषदों में उनकी लीलाओं के गुह्य अंशों का संकेत मात्र हुआ है। ऐसे वैदिक साहित्य में, जैसे कि उपनिषदों में भगवान् के स्वरूप को स्पष्ट रूप से संसारी अवधारणा से पृथक् दिखाया गया है। उनकी पहचान पूर्ण रूप से आध्यात्मिक होने

के कारण उनके रूप, नाम, गुण, साज-समान इत्यादि को विस्तारपूर्वक पदार्थ से पृथक् दिखाया गया है। इसीलिए कभी-कभी अल्प बुद्धिवाले उन्हें निराकार मानने का भ्रम कर बैठते हैं। लेकिन वास्तव में वे परम पुरुष, भगवान् हैं और परमात्मा या निराकार ब्रह्म के रूप में उनकी अभिव्यक्ति केवल आंशिक रूप से ही होती है।

यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा
जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल ।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो
भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब-जब; हि—निश्चय ही; अधर्मेण—ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध; तमः-धियः—तमोगुणी पुरुष; नृपाः—राजा तथा प्रशासक; जीवन्ति—पशुओं के समान रहते हैं; तत्र—तत्पश्चात्; एषः—वह; हि—केवल; सत्त्वतः—दिव्य; किल—निश्चय ही; धत्ते—प्रकट होता है; भगम्—परम शक्ति; सत्यम्—सत्य; ऋतम्—सरलता; दयाम्—दया; यशः—अद्भुत कार्यकलाप; भवाय—पालन हेतु; रूपाणि—विभिन्न रूपों में; दधत्—प्रकट; युगे—विभिन्न कालों में; युगे—तथा युगों में।

जब भी राजा तथा प्रशासक, तमोगुण में स्थित पशुओं की तरह रहते हैं, तो भगवान् अपने दिव्य रूप में अपनी परम शक्ति, सत्य ऋत, को प्रकट करते हैं, श्रद्धालुओं पर विशेष दया दिखाते हैं, अद्भुत कार्य करते हैं तथा विभिन्न कालों तथा युगों में आवश्यकतानुसार विभिन्न दिव्य रूप प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, दृश्य जगत परमेश्वर की सम्पत्ति है। यह ईशोपनिषद् का मूल दर्शन है—प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की सम्पत्ति है। अतएव किसी को उनकी सम्पत्ति पर अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। उन्होंने कृपापूर्वक जो कुछ दिया है, उसे ही स्वीकार करना चाहिए। अतएव यह पृथ्वी या कोई भी अन्य ग्रह या ब्रह्माण्ड एक मात्र भगवान् की सम्पत्ति है। सारे जीव निश्चय ही उनके अंश या सन्तानें हैं और इस प्रकार उनमें से हर एक को अपना नियत कार्य करने के लिए उनकी दया पर जीने का अधिकार है। अतएव जब तक किसी को भगवान् से अनुमति प्राप्त न हो, तब तक वह किसी पराये व्यक्ति या पशु के अधिकार पर अतिक्रमण नहीं कर सकता। राजा या प्रशासक भगवान् के इच्छित प्रबन्ध की देख-रेख करने के लिए उनका

प्रतिनिधि होता है। अतएव, उसे महाराज युधिष्ठिर या परीक्षित के समान मान्य व्यक्ति होना चाहिए। ऐसे राजाओं को विश्व पर शासन करने का ज्ञान तथा पूरा-पूरा उत्तरदायित्व प्रामाणिक पुरुषों से प्राप्त होता है। लेकिन समय-समय पर भौतिक प्रकृति के निम्न गुण तमोगुण के प्रभाव से, राजा तथा प्रशासक बिना किसी ज्ञान तथा उत्तरदायित्व के सत्तारूढ हो जाते हैं और ऐसे मूर्ख प्रशासक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पशुओं की तरह रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पूरा वातावरण अराजकता तथा विषाक्त तत्त्वों से परिपूरित हो उठता है। मानव समाज में भाई-भतीजावाद, घूस, धोखाधड़ी, मारामारी तथा इसके कारण दुर्भिक्ष, रोग, युद्ध तथा इसी प्रकार के अन्य उद्धिग्नकारी तत्त्वों का प्राधान्य हो जाता है। भगवान् के भक्त या श्रद्धालु लोगों को सभी प्रकार से दण्डित किया जाता है। ये सारे लक्षण इस बात के सूचक हैं कि धर्म की स्थापना करने तथा कुशासन का विनाश करने के लिए भगवान् अवतार लेने वाले हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है।

भगवान् तब भौतिक गुणों से रंचमात्र भी प्रभावित हुए बिना, अपने दिव्य रूप में प्रकट होते हैं। वे अपनी सृष्टि के राज्य को सामान्य अवस्था में रखने के लिए ही अवतरित होते हैं। सामान्य अवस्था यह है कि प्रत्येक ग्रह के निवासियों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भगवान् द्वारा प्रबन्ध रहता है। वे प्रामाणिक शास्त्रों में वर्णित विधि-विधानों का अनुसरण करते हुए सुखपूर्वक रह सकते हैं और अपने लिए पूर्व-निश्चित कर्म करते हुए अन्त में मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस भौतिक जगत की सृष्टि *नित्य बद्ध* जीवों की मनमानी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वैसे ही की जाती है, जिस प्रकार कि शरारती लड़कों के हाथ में खिलौने पकड़ा दिये जाते हैं। अन्यथा भौतिक जगत की कोई आवश्यकता न थी। लेकिन जब ये भगवान् की अनुमति के बिना, विज्ञान की शक्ति द्वारा अवैध रूप से संसाधनों का दोहन करने के लिए उन्मत्त हो उठते हैं और वह भी केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए, तब आततायियों को दण्ड देने तथा श्रद्धालुओं की रक्षा करने के लिए भगवान् को अवतार लेना पड़ता है।

जब वे अवतरित होते हैं, तब वे अपना परम अधिकार जताने के लिए अलौकिक कार्य करते हैं और रावण, हिरण्यकशिपु तथा कंस जैसे भौतिकतावादियों को समुचित रूप से दण्डित करते हैं। वे इस तरह कर्म करते हैं कि कोई उनकी नकल नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, जब राम के रूप में भगवान् प्रकट हुए, तो उन्होंने हिन्द महासागर पर सेतु बाँधा। जब वे कृष्ण के रूप में अवतरित हुए, तो उन्होंने बचपन से ही पूतना, अघासुर, शकटासुर, कालिय और अन्त में अपने मामा कंस का बध करके अलौकिक कृत्यों का प्रदर्शन किया। जब वे द्वारका में थे, तो उन्होंने १६,१०८ रानियों से विवाह किया और उन सबसे प्रचुर संख्या में सन्तानें हुईं। उनके निजी परिवार के सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर १ लाख तक पहुँच गई, और वे यदु-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुनः उन्होंने अपने जीवन-काल में ही, उन सबका विनाश भी कर दिया। वे गोवर्धनधारी हरि के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सात वर्ष की अल्प आयु में ही, उन्होंने गोवर्धन नामक पर्वत उठा लिया था। उन्होंने उस काल के अनेक अवांछित राजाओं का वध किया और क्षत्रिय के रूप में उन्होंने वीरतापूर्वक युद्ध किया। वे *असमौर्ध्व*, जिसका अर्थ है, अर्थात् अद्वितीय के नाम से प्रसिद्ध हैं। कोई न तो उनके समान है और न उनसे बढकर है।

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अलम्—सचमुच; श्लाघ्य-तमम्—सर्वाधिक यशस्वी; यदोः—यदु राजा के; कुलम्—वंश; अहो—ओह;
अलम्—सचमुच; पुण्य-तमम्—अत्यन्त पुण्यात्मा; मधोः वनम्—मथुरा की भूमि; यत्—क्योंकि; एषः—यह; पुंसाम्—
समस्त जीवों का; ऋषभः—परम नायक; श्रियः—लक्ष्मी के; पतिः—पति; स्व-जन्मना—अपने आविर्भाव से;
चङ्क्रमणेन—विचरण द्वारा; च अञ्चति—महिमा।

ओह, यदुवंश कितना यशस्वी है और मथुरा की भूमि कितनी पुण्यमयी है, जहाँ समस्त जीवों के परम नायक, लक्ष्मीपति ने जन्म लिया और अपने बचपन में विचरण किया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य प्रादुर्भाव, तिरोधान तथा लीलाओं का विशद वर्णन किया है। भगवान् अपनी अकल्पनीय शक्ति से किसी परिवार या स्थान विशेष में प्रकट होते हैं। वे बद्धजीव की भाँति जन्म लेकर एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर धारण नहीं करते। उनका जन्म सूर्योदय तथा सूर्यास्त की भाँति होता है। सूर्य पूर्वी-क्षितिज में उदय होता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि पूर्वी क्षितिज उसका जनक है। सौरमण्डल के प्रत्येक भाग में सूर्य का अस्तित्व रहता है, किन्तु वह एक निश्चित समय पर दृष्टिगोचर होता है और फिर उसी तरह किसी अन्य निश्चित समय पर अस्त हो जाता है। इसी तरह भगवान् इस ब्रह्माण्ड में सूर्य की भाँति प्रकट होकर फिर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। वे हर समय, हर स्थान पर विद्यमान रहते हैं, लेकिन जब वे अपनी अहैतुकी कृपावश हमारे समक्ष प्रकट होते हैं, तो हम मान बैठते हैं कि उन्होंने जन्म लिया है। जो कोई इस सत्य को शास्त्रों के कथनानुसार समझ लेता है, वह वर्तमान शरीर त्याग करते ही मुक्त हो जाता है। मोक्ष अनेक जन्मों के बाद और वह भी धैर्य और लगन एवं ज्ञान तथा वैराग्य में रहते हुए गहन प्रयास के बाद प्राप्त होता है। लेकिन यदि कोई भगवान् के दिव्य जन्म तथा कर्म के मर्म को सचमुच समझ लेता है, तो वह तुरन्त मोक्ष पा लेता है। यह *भगवद्गीता* का निर्णय है। लेकिन जो अविद्या के अन्धकार में हैं, वे यह मान बैठते हैं कि भगवान् के जन्म तथा कर्म भौतिक जगत में एक सामान्य व्यक्ति जैसे होते हैं। ऐसे अपूर्ण निष्कर्ष से किसी को भी मोक्ष नहीं मिल सकता। अतएव यदुवंश में राजा वसुदेव के पुत्र के रूप में उनका जन्म और मथुरा भूमि में नन्द महाराज के परिवार में उनका भेजा जाना—ये सब भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की दिव्य योजनाएँ हैं। यदुवंश तथा मथुरावासियों के सौभाग्य का अनुमान भौतिक दृष्टि से नहीं लगाया जा सकता। यदि भगवान् के जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जान लेने मात्र से सरलता से मोक्ष मिल सकता है, तो फिर जिन लोगों ने उनके पारिवारिक सदस्य के रूप में, या पड़ोसी रूप में, भगवान् की संगति का वास्तविक भोग किया है, उनके भाग्य का क्या कहना? जिन लोगों को लक्ष्मीपति भगवान् के सान्निध्य का सुअवसर प्राप्त हुआ, उन्हें तो

निश्चित रूप से मुक्ति से बढ़कर उपलब्धि हुई होगी। अतएव सचमुच ही, भगवान् की कृपा से उनका वंश तथा उनकी भूमि, दोनों ही सदैव यशस्वी हैं।

अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी
कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं
स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अहो बत—यह कितना आश्चर्यजनक है; स्वः—यशसः—स्वर्ग की महिमा; तिरस्करी—पराजित करनेवाली; कुशस्थली—द्वारका; पुण्य—शुभकर्म; यशस्करी—प्रसिद्ध; भुवः—पृथ्वीलोक; पश्यन्ति—देखते हैं; नित्यम्—निरन्तर; यत्—जो; अनुग्रह—इषितम्—वर देने के लिए; स्मित-अवलोकम्—मृदु मुसकान भरी चितवन; स्व-पतिम्—जीवों के आत्मा (कृष्ण) को; स्म—करते थे; यत्-प्रजाः—उस स्थान के निवासी।

निस्सन्देह, यह कितना आश्चर्यजनक है कि द्वारका ने स्वर्ग के यश को पिछाड़ कर पृथ्वी की प्रसिद्धि को बढ़ाया है। द्वारका के निवासी उनके प्रिय स्वरूप में समस्त जीवों के आत्मा (कृष्ण) का सदैव दर्शन करते हैं। भगवान् उन पर दृष्टिपात करते हैं और अपनी मुसकान भरी चितवन से उन्हें कृतार्थ करते हैं।

तात्पर्य : स्वर्ग में इन्द्र, चन्द्र, वरुण तथा वायु जैसे देवता निवास करते हैं और पुण्यात्माएँ वहाँ तभी पहुँचते हैं, जब पृथ्वी पर वे अनेक पुण्यकर्म करते हैं। आधुनिक विज्ञानी स्वीकार करते हैं कि उच्चलोकों में काल की व्यवस्था पृथ्वी से भिन्न है। इस प्रकार प्रामाणिक शास्त्रों से यह पता चलता है कि वहाँ पर आयु (हमारी गणना के अनुसार) दस हजार वर्ष है। पृथ्वी के छह मास, स्वर्ग के एक दिन के बराबर होते हैं। इसी प्रकार भोग की सुविधाएँ भी अधिक हैं और वहाँ के निवासियों की सुन्दरता अतिशय है। पृथ्वी के सामान्य लोग स्वर्ग पहुँचने के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं, क्योंकि उन्होंने सुन रखा है कि पृथ्वी की अपेक्षा वहाँ जीव को अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अब वे अन्तरिक्ष यान द्वारा चन्द्रमा पर पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं। इन सब बातों पर विचार करते हुए पृथ्वी की अपेक्षा स्वर्ग अधिक प्रसिद्ध है। लेकिन द्वारका के कारण पृथ्वी की प्रसिद्धि ने स्वर्ग को पीछे छोड़ दिया है, क्योंकि यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने राजा के रूप में राज्य

किया। इस पृथ्वी के तीन स्थान—वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका—ब्रह्माण्ड के प्रसिद्ध लोकों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये तीनों स्थान इसीलिए निरन्तर पवित्र हैं, क्योंकि जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे विशेषकर इन्हीं तीन स्थानों में अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। ये निरन्तर भगवान् के पवित्र स्थल हैं और आज भी भगवान् के यहाँ दृष्टिगोचर न होने पर भी भक्तगण इन पवित्र स्थानों का लाभ उठाते हैं। भगवान् सभी जीवों के आत्मा हैं और वे चाहते हैं कि सारे जीव अपने स्वरूप में रहकर, उनके सान्निध्य में दिव्य जीवन में भाग लेते रहें। उनका आकर्षक रूप तथा उनकी मधुर मुसकान प्रत्येक के हृदय में घर करने वाली है और एक बार ऐसा हो जाने पर जीव भगवान् के धाम में प्रवेश पा जाता है, जहाँ से कोई भी लौटता नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है।

भले ही स्वर्ग के ग्रह भौतिक भोग की अच्छी सुविधाएँ देने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध क्यों न हों, लेकिन *भगवद्गीता* (९.२०-२१) से हम जान पाते हैं कि ज्योंही संचित पुण्य क्षीण हो जाते हैं, त्योंही मनुष्य को पृथ्वी पर पुनः आना पड़ता है। द्वारका स्वर्गलोक से इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जिस किसी को भी भगवान् की स्मित चितवन की प्राप्ति हुई है, उसे इस सड़ी-गली पृथ्वी पर फिर से नहीं आना पड़ता—जिसे भगवान् ने भी जिसे दुख का स्थान बताया है। न केवल यह पृथ्वी, अपितु ब्रह्माण्ड के सारे लोक दुख के स्थान हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक में न तो शाश्वत जीवन है, न शाश्वत आनन्द और न शाश्वत ज्ञान है। जो व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा में लीन रहता है, उसके लिए उपर्युक्त तीनों स्थानों—द्वारका, मथुरा या वृन्दावन—में से किसी एक में रहने की संस्तुति की जाती है। चूँकि इन तीनों स्थानों में भक्ति का प्रवर्द्धन होता है, अतएव जो लोग शास्त्रों की बताई विधि से नियमों का पालन करने के लिए वहाँ जाते हैं, उन्हें वैसा ही फल मिलता है, जैसा भगवान् श्रीकृष्ण के उपस्थित रहने पर मिलता था। उनका धाम तथा स्वयं वे अभिन्न हैं और आज भी कोई शुद्ध भक्त किसी अन्य अनुभवी भक्त के निर्देशन में सारे फल प्राप्त कर सकता है।

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः
 समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
 पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-
 ब्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही पूर्व जन्म में; व्रत—अनुष्ठान, व्रत; स्नान—स्नान; हुत—अग्नि में आहुति; आदिना—आदि द्वारा;
 ईश्वरः—भगवान्; समर्चितः—पूरी तरह से पूजित; हि—निश्चय ही; अस्य—उनका; गृहीत-पाणिभिः—विवाहिता स्त्रियों
 द्वारा; पिबन्ति—स्वाद लेते हैं; याः—जो; सखि—हे सखी; अधर-अमृतम्—उनके होंठों का अमृत; मुहुः—पुनः पुनः;
 ब्रज-स्त्रियः—ब्रजभूमि की बालाएँ; सम्मुमुहुः—बहुधा मूर्छित हो जाती थीं; यत्-आशयाः—इस प्रकार से अनुग्रह की
 आशा करते हुए।

हे सखियो, तनिक उनकी पत्नियों के विषय में सोचो, जिनके साथ उनका पाणिग्रहण हुआ था। उन्होंने कैसा व्रत, स्नान, यज्ञ तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी की सम्यक् पूजा की होगी, जिससे वे सब उनके अधरामृत का निरन्तर आस्वादन (चुम्बन द्वारा) कर रही हैं? ब्रजभूमि की बालाएँ ऐसी कृपा की कल्पना से ही प्रायः मूर्छित हो जाती होंगी।

तात्पर्य : शास्त्रों में दिये गये धार्मिक अनुष्ठान बद्धजीवों को सांसारिक गुणों से परिशुद्ध करने के निमित्त हैं, जिससे वे धीरे-धीरे परमेश्वर की दिव्य सेवा करने का अवसर पाने की अवस्था तक ऊपर उठ सकें। शुद्ध आध्यात्मिक जीवन की इस अवस्था को प्राप्त करना सर्वोच्च सिद्धि है और यह अवस्था जीवात्मा की वास्तविक पहचान अथवा स्वरूप कहलाती है। मुक्ति का अर्थ है, इस स्वरूप अवस्था का नवीकरण। स्वरूप की उस पूर्णावस्था में जीव प्रेमाभक्ति की पाँच अवस्थाओं में स्थापित होता है, जिनमें से एक अवस्था माधुर्य रस अथवा युगल प्रेम की मनोदशा भी है। भगवान् सदैव अपने में पूर्ण होते हैं, अतएव उन्हें अपने लिए किसी प्रकार की लालसा नहीं रहती। किन्तु अपने भक्त के प्रगाढ़ प्रेम की पूर्ति के लिए वे स्वामी, सखा, पुत्र या पति बनते रहते हैं। यहाँ पर माधुर्य रस के दो प्रकार के भक्तों का उल्लेख हुआ है। एक है स्वकीय तथा दूसरा है परकीय। दोनों ही सम्बन्ध भगवान् कृष्ण के साथ माधुर्य रस के होते हैं। द्वारका की रानियाँ स्वकीया थीं, अर्थात् वे विधिवत रूप से ब्याही हुई थीं, लेकिन ब्रज की बालाएँ उनकी तब की तरुण मित्र थीं, जब वे अनव्याहे थे। भगवान् सोलह वर्ष की उम्र तक वृन्दावन में रहे और पास-पड़ोस की लड़कियों के साथ उनका मैत्री भाव परकीय था। इन बालिकाओं तथा रानियों को

शास्त्रोक्त व्रत, स्नान तथा अग्नि यज्ञ द्वारा कठिन तपस्याएँ करनी पड़ें। लेकिन ये सब अनुष्ठान अपने आप में परिपूर्ण नहीं हैं, न सकाम कर्म और ज्ञान का अनुशीलन या योग की सिद्धि ही अपने में पूर्ण हैं। ये सब स्वरूप की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करने के निमित्त हैं, भगवान् की वैधानिक दिव्य सेवा करने के लिए हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इन पाँच अवस्थाओं में से किसी एक से भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करना होता है और शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप होने पर यह सम्बन्ध किसी सांसारिक आकर्षण के बिना प्रकट होता है। उनकी पत्नियों द्वारा या भगवान् को प्रेमी रूप में चाहनेवाली तरुणी गोपियों द्वारा कृष्ण का चुम्बन लेना कोई विकृत संसारी गुण नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो शुकदेव जैसे मुक्तात्मा ने उनका आस्वाद करने का कष्ट न उठाया होता, न ही भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु गृहस्थ जीवन त्याग करने के पश्चात् इन विषयों के प्रति आकृष्ट हुए होते। यह अवस्था कई जन्मों तक तपस्या करने के बाद प्राप्त होती है।

या वीर्यशुल्केन हताः स्वयंवरे
प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः ।
प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा
याश्चाहता भौमवधे सहस्रशः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—स्त्री; वीर्य—पराक्रम; शुल्केन—मूल्य चुकता करने से; हताः—बलपूर्वक ले जाई गई; स्वयंवरे—स्वयंवर में; प्रमथ्य—मान-मर्दन करके; चैद्य—राजा शिशुपाल; प्रमुखान्—इत्यादि; हि—निश्चय ही; शुष्मिणः—सभी अत्यन्त शक्तिशाली; प्रद्युम्न—प्रद्युम्न (कृष्ण का पुत्र); साम्ब—साम्ब; अम्ब—अम्ब; सुत-आदयः—सन्तानें; अपराः—अन्य स्त्रियाँ; याः—जो; च—भी; आहताः—इसी प्रकार ले जाई गई; भौम-वधे—राजाओं का वध करने के बाद; सहस्रशः—हजारों।

इन पत्नियों से सन्तानें हैं—प्रद्युम्न, साम्ब, अम्ब इत्यादि। उन्होंने शिशुपाल के नायकत्व में आए हुए अनेक शक्तिशाली राजाओं को हरा कर रुक्मिणी, सत्यभामा तथा जाम्बवती जैसी स्त्रियों का उनके स्वयंवर-समारोहों से बलपूर्वक अपहरण किया था। उन्होंने भौमासुर तथा उसके हजारों सहायकों का वध करके अन्य स्त्रियों का भी अपहरण किया था। ये सारी स्त्रियाँ धन्य हैं।

तात्पर्य : शक्तिशाली राजाओं की अत्यधिक सुयोग्य कन्याओं को खुली स्पर्धा में अपना पति चुनने की अनुमति दी जाती थी और ऐसे समारोह स्वयंवर कहलाते थे। चूँकि स्वयंवर में प्रतियोगी वीर राजकुमारों के मध्य खुली स्पर्धा होती थी, अतएव उन्हें राजकुमारी के पिता आमन्त्रित करते थे और बहुधा आमन्त्रित राजकुमारों में खेल-खेल में नियमित युद्ध हुआ करता था। लेकिन कभी-कभी ऐसे विवाह-द्वन्द्वों में योद्धा राजकुमार की मृत्यु हो जाती तो विजयी राजकुमार को वह राजकुमारी प्रदान की जाती थी, जिसके लिए कई राजकुमारों के जीवन बलिदान हो चुके होते थे। भगवान् कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी विदर्भ के राजा की कन्या थी, जिसकी इच्छा थी कि उसकी सुयोग्य तथा सुन्दर कन्या भगवान् कृष्ण को दी जाय। लेकिन रुक्मिणी का सबसे बड़ा भाई चाहता था कि वह राजा शिशुपाल को दी जाय, जो कृष्ण का ममेरा भाई था। फलतः एक खुली स्पर्धा हुई और सदा की तरह भगवान् अपने अद्वितीय पराक्रम से शिशुपाल तथा अन्य राजाओं का मान-मर्दन करके विजयी हुए। रुक्मिणी के प्रद्युम्न जैसे दस पुत्र हुए। भगवान् कृष्ण ने इसी तरह अन्य रानियों का भी अपहरण किया था। दशम स्कंध में भगवान् कृष्ण द्वारा इस तरह के अनुपम अपहरण का विशद वर्णन मिलेगा। ऐसी कुल मिलाकर १६,१०० सुन्दर बालएं थीं, जो अनेक राजाओं की पुत्रियां थीं, भौमासुर द्वारा उन्हें अपहृत करके, अपनी कामपिपासा के लिए बन्दी बनाकर रखा गया था। इन सुन्दरियों ने कृष्ण से अत्यन्त करुण स्वर में अपने उद्धार की प्रार्थना की थी और कृपा के सागर भगवान् ने भौमासुर से युद्ध करके तथा उसे मारकर उन्हें मुक्त किया था। फिर बन्दी बनाई गई इन राजकुमारियों को भगवान् ने अपनी पत्नियों के रूप में स्वीकार किया था, यद्यपि समाज की दृष्टि में, ये सारी लड़कियां पतित हो चुकी थीं। लेकिन सर्वशक्तिमान भगवान् कृष्ण ने इनकी प्रार्थना सुनी और रानियों जैसा सम्मान देते हुए उनसे विवाह किया। इस प्रकार द्वारका में भगवान् कृष्ण की १६,१०८ रानियाँ थीं और प्रत्येक से दस-दस सन्तानें प्राप्त हुईं। ये सभी संतानें बड़ी हुई और हर एक के उतने ही बच्चे हुए, जितने उनके पिता के थे। इस तरह कुल मिलाकर उनके परिवार की लाखों की संख्या थी।

एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं
निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पति-
न जात्वपैत्याहतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एताः—ये सब स्त्रियाँ; परम्—सर्वोच्च; स्त्रीत्वम्—स्त्रीत्व; अपास्तपेशलम्—बिना व्यक्तित्व के; निरस्त—विहीन;
शौचम्—शुद्धि; बत साधु—धन्य हैं; कुर्वते—करते हैं; यासाम्—जिनके; गृहात्—घर से; पुष्कर-लोचनः—कमल
नेत्रोंवाले; पतिः—पति; न जातु—कभी भी नहीं; अपैति—जाता है; आहतिभिः—भेंट द्वारा; हृदि—हृदय में; स्पृशन्—
प्रिय।

इन सारी स्त्रियों ने व्यक्तित्व तथा शुद्धि से विहीन होते हुए भी, अपने जीवन को धन्य किया। उनके पति कमलनयन भगवान् ने उन्हें घर में कभी अकेले नहीं छोड़ा। वे उन्हें बहुमूल्य भेंट प्रदान करके उनके हृदयों को प्रसन्न बनाते रहे।

तात्पर्य : भगवद्भक्त परिशुद्ध हो चुके जीव होते हैं। ज्योंही भक्त भगवान् के चरणकमलों की शरण में सच्चे हृदय से आ जाते हैं, भगवान् उन्हें स्वीकार कर लेते हैं और भक्त सारे भौतिक कल्मषों से रहित हो जाते हैं। ऐसे भक्त प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर होते हैं। भक्त के लिए कोई शारीरिक अयोग्यता नहीं होती, जिस प्रकार गंगा जल में गंदे नाले का जल मिल जाने पर उसमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रह जाता। स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र अधिक बुद्धिमान नहीं होते, अतएव उनके लिए ईश्वर-तत्त्व को समझ पाना या भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग पाना कठिन होता है। वे अधिक भौतिकतावादी होते हैं और इनसे भी कम किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकश, आभीर, कंक, यवन, खस इत्यादि होते हैं, किन्तु यदि वे सब ठीक से भगवद्भक्ति में लग जाँय तो उन सबका उद्धार हो सकता है। भगवान् की सेवा में लगने पर उपाधियों की अपात्रता हट जाती है और वे शुद्ध आत्माओं के रूप में भगवद्धाम में प्रवेश करने के अधिकारी बन जाते हैं।

भौमासुर के चंगुल में फँसी बालाओं ने अपने उद्धार के लिए निष्ठापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की प्रार्थना की थी और अपनी इस भक्ति और निष्ठा से वे तुरन्त शुद्ध बन गईं। अतएव भगवान् ने इन्हें पत्नी-रूप में स्वीकार किया और उनके जीवन धन्य हो गये। उनका मान तब और भी बढ़ गया जब भगवान् ने उनके अत्यन्त समर्पित पति के रूप में भूमिका निभाई।

भगवान् अपनी १६,१०८ पत्नियों के साथ अनवरत रहते चले आए थे। उन्होंने अपने आपको १६,१०८ पूर्णांशों में विस्तारित किया और इनमें से प्रत्येक भगवान् थे जो आदि पुरुष से तनिक भी भिन्न न थे। श्रुतिमन्त्र पुष्टि करते हैं कि भगवान् अपना विस्तार अनेक में कर सकते हैं। इतनी सारी पत्नियों के पति रूप में, वे उन सबको मँहगी से मँहगी भेंट देकर प्रसन्न करते रहे। वे स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ले आये और उसे अपनी प्रमुख रानीयों में से एक ऐसी सत्यभामा के महल में लगाया। अतएव यदि कोई चाहता है कि कृष्ण उसके पति बनें, तो भगवान् ऐसी इच्छाएँ पूर्णरूपेण पूरी करते हैं।

एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् ।

निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एवंविधा:—इस प्रकार; गदन्तीनाम्—उनके विषय में बातें करती तथा प्रार्थना करती; सः—वे (भगवान्); गिरः—वाणी का; पुर-योषिताम्—राजधानी की स्त्रियों के; निरीक्षणेन—उन्हें देखने से; अभिनन्दन्—तथा उनका स्वागत करने; स-स्मितेन—हँसमुख चेहरे से; ययौ—प्रस्थान किया; हरिः—भगवान् ने।

राजधानी हस्तिनापुर की स्त्रियाँ अभी उनका अभिनन्दन कर ही रही थीं और इस प्रकार से बातें चला रही थीं कि भगवान् ने मुस्कराते हुए उनकी बधाइयाँ स्वीकार कीं और उन पर अपनी कृपादृष्टि डालते हुए नगर से प्रस्थान किया।

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः ।

परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अजात-शत्रुः—जिसका कोई शत्रु न था, महाराज युधिष्ठिर; पृतनाम्—सुरक्षा सेनाएँ; गोपीथाय—रक्षा प्रदान करने के लिए; मधु-द्विषः—मधु के शत्रु (श्रीकृष्ण) का; परेभ्यः—अन्यों (शत्रुओं) से; शङ्कितः—भयभीत; स्नेहात्—स्नेह-वश; प्रायुङ्क्त—संलग्न; चतुः-अङ्गिणीम्—चतुरङ्गिणी सेना।

यद्यपि महाराज युधिष्ठिर का कोई शत्रु न था, तो भी उन्होंने असुरों के शत्रु, भगवान् श्रीकृष्ण के साथ जाने के लिए चतुरङ्गिणी सेना (घोड़ा, हाथी, रथ तथा पैदल सेना) लगा दी। शत्रु से बचाव और भगवान् से स्नेह के कारण महाराज ने ऐसा किया।

तात्पर्य : घोड़े, हाथी, रथ तथा मनुष्य—ये प्राकृतिक रक्षासाधन हैं। घोड़ों तथा हाथियों को पर्वतों या जंगलों तथा मैदानों में कहीं भी जाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। रथ पर सवार योद्धा शक्तिशाली तारों के बल पर अनेक घोड़ों तथा हाथियों से लड़ सकते थे, जो कि आधुनिक आणिक अस्त्र के समान है। महाराज युधिष्ठिर अच्छी तरह जानते थे कि कृष्ण सबों के मित्र तथा शुभचिन्तक हैं, फिर भी ऐसे अनेक असुर भी थे, जो स्वभाववश भगवान् से ईर्ष्या रखते थे। अतएव कोई उन पर आक्रमण न कर दे, तथा स्नेहवश भी, उन्होंने भगवान् कृष्ण के अंगरक्षकों के रूप में चतुरंगिणी सेना लगा दी। आवश्यकता पड़ने पर, श्रीकृष्ण उन लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकते थे, जो उन्हें अपना शत्रु मानते थे फिर भी उन्होंने महाराज युधिष्ठिर द्वारा किया गया यह प्रबन्ध स्वीकार कर लिया, क्योंकि वे अपने बड़े भाई तथा राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। भगवान् अपनी दिव्य लीला में आश्रित का सा खेल खेलते हैं और इस तरह कभी-कभी वे अपनी तथाकथित असहाय बाल्यावस्था में यशोदा माता की देख-रेख स्वीकार करते हैं। यह दिव्य लीला है। भगवान् तथा उनके भक्त के बीच जितना भी दिव्य आदान-प्रदान होता है, वह मूलतः दिव्य आनन्द प्राप्त करने के लिए होता है, जिसकी तुलना ब्रह्मानन्द-स्तर से भी नहीं की जा सकती।

अथ दूरागतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान् ।

सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अथ—इस तरह; दूरागतान्—दूर तक उनके साथ-साथ जाकर; शौरिः—भगवान् कृष्ण; कौरवान्—पाण्डवों को; विरहातुरान्—विछोह भाव से अभिभूत; सन्निवर्त्य—विनम्रतापूर्वक आग्रह किया; दृढम्—कृतसंकल्प; स्निग्धान्—स्नेह से पूरित; प्रायात्—आगे बढ़े; स्व-नगरीम्—अपने नगर (द्वारका) की ओर; प्रियैः—प्रिय संगियों के साथ।

भगवान् कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ स्नेहवश कुरुवंशी पाण्डव उन्हें विदा करने के लिए उनके साथ काफी दूर तक गये। वे भावी विछोह के विचार से अभिभूत थे। किन्तु भगवान् ने उनसे घर लौट जाने का आग्रह किया और स्वयं अपने प्रिय संगियों के साथ द्वारका की ओर रवाना हुए।

कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान् ।

ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ ॥ ३४ ॥

मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान् ।

आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कुरु-जाङ्गल—दिल्ली प्रान्त; पाञ्चालान्—पंजाब प्रान्त का भाग; शूरसेनान्—उत्तर प्रदेश का भाग; स—सहित; यामुनान्—यमुना के तटवर्ती जिलों को; ब्रह्मावर्तम्—उत्तरी उत्तर प्रदेश का भाग; कुरुक्षेत्रम्—वह स्थान जहाँ युद्ध लड़ा गया; मत्स्यान्—मत्स्या प्रान्त; सारस्वतान्—पंजाब का एक हिस्सा; अथ—इत्यादि; मरु—मरुस्थल, राजस्थान; धन्वम्—मध्य प्रदेश, जहाँ जल का अभाव है; अति-क्रम्य—निकल कर; सौवीर—सौराष्ट्र; आभीरयोः—गुजरात का हिस्सा; परान्—पश्चिमी दिशा; आनर्तान्—द्वारका प्रान्त; भार्गव—हे शौनक; उपागात्—थक गये; श्रान्त—थकान; वाहः—घोड़े; मनाक् विभुः—लम्बी यात्रा के कारण थोड़ा-सा ।

हे शौनक, तब भगवान् कुरुजांगल, पाञ्चाल, शूरसेन, यमुना के तटवर्ती प्रदेश, ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्या, सारस्वता, मरुप्रान्त तथा जल के अभाव वाले भाग से होते हुए आगे बढ़े। इन प्रान्तों को पार करने के बाद वे सौवीर तथा आभीर प्रान्त पहुँचे और अन्त में इन सबके पश्चिम की ओर स्थित द्वारका पहुँचे।

तात्पर्य : भगवान् जिन-जिन प्रान्तों से होकर गये, वे उस समय भिन्न नाम से जाने जाते थे, लेकिन जो दिशा दी गई है उससे यह सूचित होता है कि वे दिल्ली, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र तथा गुजरात से होकर यात्रा करते हुए, अन्त में अपने निवास-स्थान द्वारका पहुँचे। हमें उन दिनों से आज तक इन प्रान्तों के समानार्थी प्रान्तों के नाम ढूँढने से कोई लाभ मिलने वाला नहीं, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी, राजस्थान का मरुस्थल तथा मध्यप्रदेश जैसे जल के अभाव वाले प्रान्त विद्यमान थे। मृदा-विशेषज्ञों का यह सिद्धान्त कि मरुस्थल हाल ही में विकसित हुए, *भागवत* के कथन से पुष्ट नहीं होता। हम इस विषय को भू-गर्भ विज्ञानियों द्वारा खोजे जाने के लिए छोड़े देते हैं, क्योंकि परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड में भूगर्भीय विकास की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। हमें प्रसन्नता है कि भगवान् अब कुरु-प्रान्त से अपने निजी प्रान्त द्वारकाधाम में पहुँच गये हैं। कुरुक्षेत्र वैदिककाल से विद्यमान है, अतः जब व्याख्याकार कुरुक्षेत्र के अस्तित्व को नकारते हैं, तो यह उनकी निरी मूर्खता प्रतीत होती है।

तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः ।

सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—विभिन्न स्थानों में; ह—ऐसी घटना घटी; तत्रत्यैः—स्थानीय निवासियों द्वारा; हरिः—भगवान्; प्रत्युद्यत-
अर्हणः—भेंटें तथा पूजा-सम्मान अर्पित किया जाकर; सायम्—शाम; भेजे—आने पर; दिशम्—दिशा; पश्चात्—
पश्चिमी; गविष्ठः—आकाश में सूर्य; गाम्—समुद्र को; गतः—चला गया; तदा—उस समय ।

इन प्रान्तों से होकर यात्रा करते समय उनका स्वागत किया गया, पूजा की गई और उन्हें विविध भेंटें प्रदान की गईं। संध्या समय सारे स्थानों में संध्या-कालीन अनुष्ठान (कृत्य) करने के लिए भगवान् अपनी यात्रा स्थगित करते। सूर्यास्त के बाद नियमित रूप से ऐसा किया जाता ।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया है कि जब भगवान् यात्रा पर थे, तो वे नियमित रूप से धार्मिक नियमों का पालन करते रहे। ऐसे कतिपय दार्शनिक अनुमान हैं कि भगवान् भी सकाम कर्मों को करने के लिए बाध्य हैं। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वे किसी अच्छे या बुरे कर्म पर आश्रित नहीं हैं। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव वे जो भी करते हैं, वह सबों के कल्याण के लिए होता है। किन्तु जब वे पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे भक्तों की रक्षा के लिए तथा अपवित्र अभक्तों के विनाश के लिए कर्म करते हैं। यद्यपि उनके लिए कुछ भी करना अनिवार्य नहीं, किन्तु वे सब कुछ करते हैं, जिससे अन्य लोग उनका अनुगमन कर सकें। वास्तविक उपदेश की विधि यही है; मनुष्य को चाहिए कि स्वयं उचित कर्म करे और अन्यो को भी यही शिक्षा दे, अन्यथा उसका अन्धानुगमन कोई नहीं करेगा। वे स्वयं कर्मफलों के दाता हैं। वे आत्माराम हैं, फिर भी वे हमें शिक्षा देने के लिए शास्त्रों के अनुसार कर्म करते हैं। यदि वे ऐसा न करें, तो सामान्य लोग कुमार्ग पर चले जाँय। लेकिन आगे चलकर, जब मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रकृति को समझ पाता है, तो वह उनका अनुकरण नहीं करता। यह सम्भव नहीं है।

मानव समाज में भगवान् वही करते हैं, जो सबका कर्तव्य होता है, लेकिन कभी-कभी वे ऐसा महान् कर्म करते हैं, जो जीव द्वारा अनुकरणीय नहीं होता। यहाँ पर लिखे अनुसार, उनके

संध्यावन्दन-कार्य का पालन हर जीव को करना चाहिए, लेकिन उनके द्वारा गोवर्धन का उठाया जाना या गोपियों के साथ उनके रास का अनुकरण कर पाना सम्भव नहीं। कोई सूर्य का अनुकरण नहीं कर सकता, क्योंकि वह गन्दे स्थान के भी जल का शोषण कर लेता है; सर्वशक्तिमान ऐसा कुछ भी कर सकता है, जो सबों के लिए कल्याणप्रद हो, लेकिन यदि हम उनका अनुकरण करने लगे, तो हम अनन्त कठिनाइयों में पड़ जाएँगे। अतएव सारे कर्मों में एक अनुभवी मार्गदर्शक की, अर्थात् गुरु की राय लेनी चाहिए, जो भगवत्कृपा के प्रत्यक्ष रूप हैं। इस तरह निश्चित रूप से प्रगति हो सकेगी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “द्वारका के लिए भगवान् कृष्ण का प्रस्थान” नामक दशवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका में प्रवेश

सूत उवाच

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान्स्वकान् ।

दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; आनर्तान्—आनर्तान (द्वारका) नामक देश में; सः—वे; उपव्रज्य—निकट पहुँचकर; स्वृद्धान्—अत्यन्त समृद्ध; जन-पदान्—नगर; स्वकान्—अपना; दध्मौ—बजाया; दरवरम्—शुभ शंख (पाञ्चजन्य) को; तेषाम्—उनकी; विषादम्—निराशा को; शमयन्—शान्त करते हुए; इव—मानो ।

सूत गोस्वामी ने कहा : आनर्तो के देश के नाम से विख्यात अपनी अत्यन्त समृद्ध राजनगरी (द्वारका) के निकट पहुँच कर, भगवान् ने अपना आगमन उद्घोषित करने तथा निवासियों की निराशा को शांत करने के लिए अपना शुभ शंख बजाया ।

तात्पर्य : कुरुक्षेत्र युद्ध के कारण भगवान् अपनी समृद्ध राजनगरी द्वारका से दीर्घकाल तक बाहर रहे, जिससे नगर-निवासी उनके वियोग के कारण विषाद से अभिभूत थे। जब भगवान् पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तब उनके नित्य पार्षद भी उनके साथ आते हैं, जिस तरह राजा के साथ उसका पूरा दल चलता है। भगवान् के ऐसे पार्षद नित्यमुक्त आत्मा होते हैं और वे अत्यधिक स्नेह के कारण, क्षण भर भी, भगवान् का विछोह सहन नहीं कर पाते। इस प्रकार द्वारका नगरी के निवासी खिन्न थे और किसी भी क्षण होने वाले भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा में थे। अतः शुभ शंख की उद्घोषक ध्वनि अत्यन्त उत्साहवर्धक थी और इस ध्वनि से उनकी खिन्नता का शमन हुआ। वे सब भगवान् को अपने बीच देखने के लिए अत्यन्त इच्छुक थे और वे सभी उनका ठीक से स्वागत करने के लिए चौकन्ने हो गये। ये भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम के लक्षण हैं।

स उच्चकाशे धवलोदरो दरो-

ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।

दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे
यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; उच्चकाशे—स्वच्छ हो गया; धवल-उदरः—सफेद तथा बड़े पेटवाला; दरः—शंख; अपि—यद्यपि वह ऐसा है;
उरुक्रमस्य—महान् साहसी का; अधरशोण—उनके होठों के दिव्य गुण से; शोणिमा—लाल हुआ; दाध्मायमानः—बजाया
जाकर; कर-कञ्ज-सम्पुटे—कर-कमलों की हथेली द्वारा पकड़ा जाकर; यथा—जिस तरह; अब्ज-खण्डे—कमल-दण्डों से;
कल-हंसः—सुन्दर हंस; उत्स्वनः—जोर से शब्द करता।

श्वेत तथा मोटे पेंदेवाला शंख, भगवान् के हाथों द्वारा पकड़ा जाकर तथा उनके द्वारा बजाया जाकर, ऐसा लग रहा था मानो उनके दिव्य होठों का स्पर्श करके लाल हो गया हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई श्वेत हंस लाल रंग के कमलदण्डों के बीच खेल रहा हो।

तात्पर्य : भगवान् के होठों के स्पर्श से श्वेत शंख की लालिमा आध्यात्मिक महत्ता की सूचक है। भगवान् पूरे के पूरे आत्मा हैं और भौतिक पदार्थ इस आध्यात्मिक अस्तित्व का अज्ञान है। वस्तुतः आध्यात्मिक प्रकाश में पदार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है और परमेश्वर श्रीकृष्ण के स्पर्श मात्र से यह आध्यात्मिक अनुभूति तत्काल हो जाती है। भगवान् जगत के कण-कण में व्याप्त हैं और वे किसी में भी अपनी उपस्थिति प्रकट कर सकते हैं। भगवान् के प्रगाढ़ प्रेम तथा भक्तिमय सेवा से या दूसरे शब्दों में भगवान् के आध्यात्मिक स्पर्श से प्रत्येक वस्तु उसी तरह लाल हो जाती है, जिस प्रकार भगवान् के होठों में लगा शंख। परमहंस अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष आध्यात्मिक आनन्दरूपी जल में कलहंस के समान है, जो भगवान् के चरणकमलों से नित्य अलंकृत होता रहता है।

तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् ।
प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; उपश्रुत्य—सुनकर; निनदम्—शब्द को; जगत्-भय—भौतिक संसार का भय; भय-आवहम्—भयभीत बनानेवाला
तत्त्व; प्रति—की ओर; उद्ययुः—तेजी से आगे बढ़े; प्रजाः—नागरिक; सर्वाः—सभी; भर्तृ—रक्षक; दर्शन—दर्शन की;
लालसाः—इच्छा वाले।

भौतिक जगत में साक्षात् भय को भी भयभीत बनानेवाले, उस शब्द को सुनकर द्वारका के नागरिक उनकी ओर तेजी से दौड़ने लगे, जिससे वे भक्तों के रक्षक भगवान् का चिर अभिलषित दर्शन कर सकें।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भगवान् कृष्ण के समय द्वारका में जो नागरिक रह रहे थे, वे सभी मुक्त जीव थे, जो भगवान् के साथ उनके पाषदों के रूप में अवतरित हुए थे। वे सभी भगवान् के दर्शन के लिए लालायित थे, यद्यपि आध्यात्मिक स्पर्श के कारण वे उनसे कभी विलग न थे। जिस प्रकार वृन्दावन की गोपियाँ भगवान् कृष्ण के गो-चारण के समय उनके गाँव से दूर जाने पर सदैव उनके विषय में सोचती रहती थीं, उसी प्रकार द्वारका के नागरिक भी द्वारका से दूर कुरुक्षेत्र युद्ध में भाग लेने के लिए गये हुए कृष्ण के विचारों में तल्लीन रहते थे। बंगाल के कुछ सुप्रसिद्ध कथा लेखकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वृन्दावन, मथुरा तथा द्वारका के कृष्ण भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस निष्कर्ष में कोई सचाई नहीं है। कुरुक्षेत्र के कृष्ण तथा द्वारका के कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं।

द्वारका के नागरिक दिव्य नगरी से भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति के कारण, उसी प्रकार शोकाकुल थे, जिस प्रकार रात्रि में सूर्य की अनुपस्थिति के कारण हम सब उद्विग्न हो उठते हैं। भगवान् कृष्ण द्वारा की गयी ध्वनि, प्रभात के समय सूर्योदय जैसी थी। अतएव द्वारका के सारे वासी निद्रा जौसी अवस्था से जाग गये, क्योंकि कृष्णरूपी सूर्य का उदय हो चुका था और वे सब उनका दर्शन पाने के लिए फुर्ती से उनकी ओर आगे बढ़े। भगवद्भक्त भगवान् के सिवा अन्य किसी को अपना रक्षक नहीं मानते।

भगवान् का यह शब्द भगवान् से अभिन्न है, जैसाकि हम भगवान् की द्वंद्वरहित स्थिति की व्याख्या करते समय बता चुके हैं। हमारी वर्तमान भौतिक स्थिति भय से ओत-प्रोत है। आहार, आश्रय, भय तथा मैथुन—भौतिक अवस्था की इन चार समस्याओं में से भय की समस्या हमें सबसे अधिक कष्ट पहुँचाने वाली है। हम अगली समस्या को न जानने के कारण सदैव भयभीत रहते हैं। यह सारा भौतिक जगत समस्याओं से भरा पड़ा है, अतएव भय की समस्या सर्व-प्रमुख रहती है। इसका कारण भगवान् की भ्रामक शक्ति के साथ हमारा सान्निध्य है, जो माया अथवा बहिरंगा शक्ति के रूप में जानी जाती है। फिर भी जैसे ही भगवान् की ध्वनि होती है—जिसका प्रतिनिधित्व उनके पवित्र नाम द्वारा किया जाता है—वैसे ही सारा भय तत्काल दूर हो जाता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने निम्नलिखित सोलह शब्दों द्वारा इसे उच्चरित की थी :

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

हम इन शब्दों का लाभ उठा सकते हैं और संसार की भयावह समस्याओं से उबर सकते हैं ।

तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवाद्दताः ।

आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥ ४ ॥

प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा ।

पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; उपनीत—अर्पित करके; बलयः—भेंटें; रवेः—सूर्य तक; दीपम्—दीपक; इव—सदृश; आद्दताः—आदरपूर्वक; आत्म-आरामम्—आत्म-निर्भर को; पूर्ण-कामम्—पूर्णतया संतुष्ट; निज-लाभेन—अपनी निजी शक्ति से; नित्य-दा—निरन्तर पूर्ति करनेवाले; प्रीति—स्नेह; उत्फुल्ल-मुखाः—प्रसन्नमुख; प्रोचुः—कहा; हर्ष—प्रसन्न हुए; गद्गदया—आह्लादयुक्त; गिरा—वाणी; पितरम्—पिता को; सर्व—सारे; सुहृदम्—मित्रों को; अवितारम्—संरक्षक को; इव—सदृश; अर्भकाः—बालक ।

सारे नागरिक अपनी-अपनी भेंटें लिये हुए भगवान् के सम्मुख आये और उन्हें उन परम संतुष्ट तथा आत्म-निर्भर भगवान् को अर्पित किया, जो अपनी निजी शक्ति से अन्यो की आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करते रहते हैं। ये भेंटें सूर्य को दिये गये दीप-दान जैसी थीं। फिर भी सारे नागरिक भगवान् के स्वागत में ऐसी आह्लादमयी भाषा में बोलने लगे, मानो बच्चे अपने अभिभावक तथा पिता का स्वागत कर रहे हों।

तात्पर्य : परम भगवान् को यहाँ पर आत्माराम कहा गया है। वे आत्म-निर्भर हैं और उन्हें अपने से आगे अन्यत्र सुख की खोज करने की आवश्यकता नहीं है। वे आत्मनिर्भर हैं, क्योंकि उनका दिव्य अस्तित्व ही पूर्ण आनन्दमय है। वे शाश्वत विद्यमान हैं; वे सर्वज्ञ हैं और सर्व-आनन्दमय हैं। अतएव, उन्हें किसी भेंट की आवश्यकता नहीं है, चाहे वह कितनी भी मूल्यवान क्यों न हो। फिर भी वे सबों के शुभचिन्तक हैं, अतः यदि शुद्ध भक्तिमय सेवा में कोई उन्हें कुछ अर्पित करता है, तो वे उसे स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता है, क्योंकि वस्तुएँ स्वयं उनकी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। यहाँ पर उपमा दी गई है कि भगवान् को भेंट की जाने वाली वस्तुएँ सूर्यदेव की पूजा हेतु दीप-दान जैसी हैं। जो भी वस्तु प्रज्वलित एवं प्रकाशमय होती है, वह सूर्य की शक्ति का उद्भवन है, तो भी सूर्यदेव की पूजा करने के लिए दीप-दान आवश्यक है। सूर्य की पूजा

करते समय पूजा करनेवाला उनसे कुछ न कुछ माँग करता है, लेकिन भगवान् की भक्ति करने पर दोनों ओर से कोई माँग किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो भगवान् और भक्त के बीच शुद्ध प्रेम तथा स्नेह का प्रतीक है।

भगवान् सभी जीवों के परम पिता हैं, अतएव जो लोग भगवान् के साथ इस जीवन्त सम्बन्ध से अवगत हैं, वे पिता से पुत्र की तरह माँग कर सकते हैं और पिता भी अपने आज्ञाकारी पुत्रों की माँग पूरी करते हुए बिना किसी सौदेबाजी के प्रसन्नता का अनुभव करता है। भगवान् कल्पवृक्ष के तुल्य हैं और उनसे कोई भी व्यक्ति उनकी अहैतुकी कृपा से कुछ भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु परम पिता होने के कारण, भगवान् अपने शुद्ध भक्तों को कोई ऐसी वस्तु नहीं देत, जो भक्ति के मार्ग में बाधक हो। जो लोग भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगे हैं, वे उनके दिव्य आकर्षण के द्वारा अनन्य भक्ति के पद तक उन्नति कर सकते हैं।

नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं
विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं
न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नताः स्म—हम नतमस्तक हुए थे; ते—आपके समक्ष; नाथ—हे भगवान्; सदा—सदैव; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल;
विरिञ्च—ब्रह्मा, प्रथम जीव; वैरिञ्च्य—ब्रह्मा के पुत्र, यथा सनक तथा सनातन; सुर-इन्द्र—स्वर्ग का राजा; वन्दितम्—पूजित;
परायणम्—सर्वोपरि; क्षेमम्—कुशल, कल्याण; इह—इस जीवन में; इच्छताम्—इच्छा करनेवाला; परम्—सर्वोच्च; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; कालः—प्रबल काल; प्रभवेत्—अपना प्रभाव डाल सकता है; परः—दिव्य; प्रभुः—परमेश्वर।

नागरिकों ने कहा : हे भगवन्, आप ब्रह्मा, चारों कुमार तथा स्वर्ग के राजा जैसे समस्त देवताओं द्वारा भी पूजित हैं। आप उन लोगों के परम आश्रय हैं, जो जीवन का सर्वोच्च लाभ उठाने के लिए इच्छुक हैं। आप परम दिव्य भगवान् हैं और प्रबल काल भी आप पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता।

तात्पर्य : भगवद्गीता, ब्रह्म-संहिता तथा अन्य प्रामाणिक वैदिक साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है कि श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं। न तो कोई उनके समान है, न ही कोई उनसे बढ़कर है और यही सारे शास्त्रों का निर्णय है। सारे जीव जो परमेश्वर के अंशस्वरूप हैं और उन पर आश्रित हैं, उन पर

देश-काल का प्रभाव पड़ता है। सारे जीव अधीनस्थ-ब्रह्म हैं और परमेश्वर परम अधिष्ठता हैं। जैसे ही इस सुस्पष्ट तथ्य को भूल जाते हैं, हम तत्काल मोहग्रस्त हो जाते हैं और तीनों तापों से उसी तरह ग्रस्त हो जाते हैं, जिस प्रकार किसी को सघन अंधकार में रखा गया हो। सजग जीव की विमल चेतना ईश-चेतना है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य सदैव नतमस्तक हो जाता है।

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन
त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं
यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भवाय—कल्याण के लिए; नः—हम सबों के; त्वम्—आप; भव—बनें; विश्व-भावन—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; त्वम्—आप; एव—निश्चय ही; माता—माता; अथ—तथा; सुहृत्—शुभचिन्तक; पतिः—पति; पिता—पिता; त्वम्—आप; सत्-गुरुः—गुरु; नः—हमारे; परमम्—परम; च—तथा; दैवतम्—पूज्य देव; यस्य—जिसके; अनुवृत्त्या—चरणचिह्नों पर चलकर; कृतिनः—सफल; बभूविम—हम हुए हैं।

हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, आप हमारे माता, शुभचिन्तक, प्रभु, पिता, आध्यात्मिक गुरु तथा आराध्य देव हैं। हम आपके चरण-चिह्नों पर चलते हुए सभी प्रकार से सफल हुए हैं। अतएव हमारी प्रार्थना है कि आप हमें अपनी कृपा का आशीर्वाद देते रहें।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा होने के कारण, सबका कल्याण करनेवाले भगवान्, समस्त उत्तम जीवों के कल्याण की भी योजना बनाते हैं। भगवान् इन उत्तम जीवों को आदेश देते हैं कि वे उनके सदुपदेशों का पालन करें। ऐसा करने से वे जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता पाते हैं। भगवान् को छोड़कर किसी अन्य देव की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और यदि वे अपने चरणकमलों के प्रति हमारी आज्ञाकारिता से प्रसन्न हो जाएँ, तो वे हमें सभी प्रकार के आशीर्वाद दे सकने में समक्ष हैं, जिनसे हमारे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जीवन सफल हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए मनुष्य जीवन ही वह अवसर है, जिसमें ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझा जा सकता है। उनसे हमारा सम्बन्ध सनातन है; न तो इसको तोड़ा जा सकता है, न विनष्ट किया जा सकता है। भले ही कुछ काल के लिए इसे भुला दिया जाय, लेकिन भगवत्कृपा

से उसे पुनः जागृत किया जा सकता है, यदि हम देश-काल के अनुसार सभी शास्त्रों में दिये गये उनके आदेशों का पालन करें।

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभागम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह, यह तो हमारा सौभाग्य है; स-नाथा:—स्वामी के संरक्षण में होना; भवता—आपके द्वारा; स्म—जैसे हम बन चुके हैं; यत् वयम्—जैसे कि हम हैं; त्रैविष्ट-पानाम्—देवताओं को; अपि—भी; दूर-दर्शनम्—बहुत कम दिखाई पड़ते हैं; प्रेम-स्मित—प्रेम से हँसता हुआ; स्निग्ध—स्नेहपूर्ण; निरीक्षण-आननम्—उस प्रकार से दिखनेवाला मुख; पश्येम—देखें; रूपम्—सौन्दर्य; तव—आपका; सर्व—सम्पूर्ण; सौभागम्—सौभाग्य।

अहो! यह तो हमारा सौभाग्य है कि आज पुनः आपकी उपस्थिति से हम आपके संरक्षण में आ गये, क्योंकि आप स्वर्ग के निवासियों के यहाँ भी कभी-कभी जाते हैं। आपके स्मितमुख को देख पाना हमारे लिए अब सम्भव हो सका है, जो स्निग्ध चितवन से पूर्ण है। अब हम आपके सर्व-सौभाग्यशाली दिव्य रूप का दर्शन कर सकते हैं।

तात्पर्य : केवल शुद्ध भक्त ही भगवान् के नित्य साकार रूप का दर्शन कर सकते हैं। भगवान् कभी भी निराकार नहीं होते, अपितु वे भगवान् के सर्वोपरि परिपूर्ण व्यक्तित्व हैं, जिन्हें भक्तिमय सेवा के द्वारा साक्षात् देखा जा सकता है और जो स्वर्ग के निवासियों के लिए भी दुर्लभ हैं। जब ब्रह्माजी तथा अन्य देवता भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश भगवान् विष्णु से परामर्श लेना चाहते हैं, तो उन्हें क्षीरसागर के तट पर जाकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जहाँ भगवान् विष्णु श्वेतद्वीप में शयन कर रहे होते हैं। यह क्षीरसागर तथा श्वेतद्वीप ग्रह इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत वैकुण्ठलोक की प्रतिकृतियाँ हैं। इस श्वेतद्वीप में न तो ब्रह्माजी, न ही इन्द्र जैसे देवता प्रवेश कर सकते हैं, अपितु उन्हें क्षीरसागर के तट पर खड़े होकर क्षीरोदकशायी विष्णु को अपना सन्देश संप्रेषित करना होता है। अतएव उन्हें यदा-कदा ही भगवान् के दर्शन हो पाते हैं, लेकिन द्वारका के निवासी किसी प्रकार के सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन के भौतिक कल्मष से रहित शुद्ध भक्त होने के कारण भगवत्कृपा से उनका साक्षात् दर्शन कर

सकते हैं। यह जीवों की असली स्थिति है और भक्तिमय सेवा के द्वारा अपनी स्वाभाविक तथा आध्यात्मिक जीवन दशा को जागृत करके प्राप्त की जा सकती है।

यर्हम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरुन् मधून् वाथ सुहृदिदक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्षणोरिव नस्तवाच्युत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब भी; अम्बुज-अक्ष—हे कमलनेत्र; अपससार—आप चले जाते हैं; भो—अरे; भवान्—आप; कुरुन्—राजा कुरु के वंशजों को; मधून्—मथुरा (व्रजभूमि) के निवासियों को; वा—अथवा; अथ—अतएव; सुहृत्-दिदक्षया—भेंट करने के लिए; तत्र—उस समय; अब्द-कोटि—करोड़ों वर्ष; प्रतिमः—सदृश; क्षणः—क्षण; भवेत्—हो जाता है; रविम्—सूर्य; विना—रहित; अक्षणोः—आँखों के; इव—समान; नः—हमारी; तव—आपकी; अच्युत—हे अमोघ।

हे कमलनयन भगवान्, आप जब भी अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से भेंट करने मथुरा, वृन्दावन या हस्तिनापुर चले जाते हैं, तो आपकी अनुपस्थिति में प्रत्येक क्षण हमें करोड़ों वर्षों के समान प्रतीत होता है। हे अच्युत, उस समय हमारी आँखें इस तरह व्यर्थ हो जाती हैं मानो सूर्य से बिछुड़ गई हों।

तात्पर्य : हमें अपनी इन्द्रियों पर गर्व है कि हम ईश्वर का अस्तित्व निश्चित करने के लिए उनका प्रयोग करते हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। वे कुछ परिस्थितियों में ही कार्य कर सकती हैं। उदाहरण के लिए हमारी आँखों को लीजिए। जब तक सूर्य का प्रकाश होता है, हमारी आँखें कुछ सीमा तक उपयोगी होती हैं। लेकिन सूर्य-प्रकाश के अभाव में आँखें व्यर्थ हो जाती हैं। आदि भगवान्, परम सत्य होने के कारण, श्रीकृष्ण की तुलना सूर्य से की गई है। उनके बिना हमारा सारा ज्ञान या तो असत्य है अथवा अधूरा है। जिस तरह सूर्य का विलोम (दूसरा पक्ष) अंधकार है, इसी प्रकार कृष्ण का विलोम माया है। कृष्ण द्वारा विकीर्ण प्रकाश से भक्तगण सारी वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त कभी अज्ञान के अंधकार में नहीं रहते। इसलिए यह आवश्यक है कि हम सदा भगवान् कृष्ण की दृष्टि के समक्ष रहें, जिससे हम अपने आपको तथा विभिन्न शक्तियों समेत भगवान् को भी देख सकें। जिस प्रकार सूर्य के अभाव में

हम कुछ भी नहीं देख सकते, उसी प्रकार भगवान् की वास्तविक उपस्थिति के बिना हम कुछ भी नहीं, यहाँ तक कि अपने आपको भी नहीं देख सकते। उनके बिना हमारा सारा ज्ञान माया से ठक जाता है।

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि
 प्रसन्नदृष्ट्याखिलतापशोषणम् ।
 जीवेम ते सुन्दरहासशोभित-
 मपश्यमाना वदनं मनोहरम् ।
 इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः ।
 शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत् पुरम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; वयम्—हम; नाथ—हे प्रभु; चिरोषिते—सदैव बाहर रहने के कारण; त्वयि—आपके द्वारा; प्रसन्न—प्रसन्नता; दृष्ट्या—झलक से; अखिल—संसार भर का; ताप—दुख; शोषणम्—नष्ट करने के लिए; जीवेम—जीवित रह सकें; ते—आपका; सुन्दर—सुन्दर; हास—हँसता हुआ; शोभितम्—अलंकृत; अपश्यमाना—बिना देखे; वदनम्—मुख; मनोहरम्—आकर्षक; इति—इस प्रकार; च—तथा; उदीरिताः—बोलते हुए; वाचः—शब्द; प्रजानाम्—नागरिकों का; भक्त-वत्सलः—भक्तों के प्रति दयालु; शृण्वानः—ऐसा जानकर; अनुग्रहम्—दया; दृष्ट्या—चितवन से; वितन्वन्—वितरित करते हुए; प्राविशत्—प्रवेश किया; पुरम्—द्वारका में।

हे स्वामी, यदि आप सारे समय बाहर रहते हैं, तो हम आपके उस मनोहर मुखमण्डल को नहीं देख पाते, जिसकी मुसकान हमारे सारे कष्टों को दूर कर देती है। भला हम आपके बिना कैसे रह सकते हैं?

उनकी वाणी सुनकर, प्रजा तथा भक्तों पर अत्यन्त दयालु भगवान् ने द्वारकापुरी में प्रवेश किया और उन सबों पर अपनी दिव्य दृष्टि डालते हुए उनका अभिनन्दन स्वीकार किया।

तात्पर्य : कृष्ण का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि एक बार उनसे आकृष्ट हो जाने पर, उनका विछोह सह पाना कठिन हो जाता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि हम उनसे उसी तरह शाश्वत रूप से सम्बन्धित हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल से सम्बन्धित होती हैं। सूर्य की किरणें सौर विकिरण के आण्विक अंश हैं। इस तरह सूर्य तथा सूर्यप्रकाश को विलग नहीं किया जा सकता। बादलों द्वारा उनका विलगाव क्षणिक तथा कृत्रिम होता है और ज्योंही बादल हट जाते हैं, त्योंही सूर्य की किरणें सूर्य की उपस्थिति में अपना सहज तेज बिखेरने लगती हैं। इसी प्रकार, सारे जीव जो पूर्ण आत्मा के सूक्ष्मांश हैं, वे भ्रामक शक्ति माया के कृत्रिम आवरण के कारण भगवान् से विलग हैं। भ्रामक

शक्ति माया के इस आवरण को हटाना है और ऐसा हो जाने पर, जीव भगवान् को साक्षात् देख सकते हैं और उनके सारे कष्ट तुरन्त ही दूर हो जाएँगे। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जीवन के कष्टों को हटाना चाहता है, लेकिन हम जानते नहीं कि इन्हें किस प्रकार हटाया जाय। यहाँ पर इसका समाधान दिया गया है और यह हम पर निर्भर करता है कि हम इसे आत्मसात् करें अथवा नहीं।

मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः ।

आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मधु—मधु; भोज—भोज; दशार्ह—दशार्ह; अर्ह—अर्ह; कुकुर—कुकुर; अन्धक—अन्धक; वृष्णिभिः—वृष्णि-कुलवालों के द्वारा; आत्म-तुल्य—अपने सदृश; बलैः—शक्ति से; गुप्ताम्—रक्षित; नागैः—नागों द्वारा; भोगवतीम्—नागलोक की राजधानी; इव—सदृश।

जिस प्रकार नागलोक की राजधानी भोगवती नागों के द्वारा रक्षित है, उसी तरह द्वारका की रक्षा कृष्ण के समान बलवान् वृष्णि के वंशजों—भोज, मधु, दशार्ह, अर्ह, कुकुर, अन्धक इत्यादि—द्वारा की जाती थी।

तात्पर्य : नागलोक पृथ्वीलोक के नीचे स्थित है और ऐसा समझा जाता है कि यहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं। लेकिन उस लोक का अंधकार नागों (स्वर्गिक सर्पों) के शिरों पर स्थित मणियों के प्रकाश से दूर होता है। यह भी कहा जाता है कि, वहाँ पर नागों के भोग-विलास के लिए सुन्दर उद्यान, सरोवर आदि हैं। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि यह स्थान नागरिकों द्वारा अच्छी तरह सुरक्षित है। उसी प्रकार से द्वारकापुरी भी वृष्णि-वंशियों द्वारा सुरक्षित थी, जो भगवान् कृष्ण के ही समान शक्तिशाली थे, जहाँ तक इस धरती पर उनके शक्ति-प्रदर्शन का सम्बन्ध था।

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः ।

उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; ऋतु—ऋतुएँ; सर्व—समस्त; विभव—ऐश्वर्य; पुण्य—पवित्र; वृक्ष—पेड़; लता—बेलें; आश्रमैः—आश्रमों के साथ; उद्यान—बगीचे; उपवन—पुष्पोद्यान; आरामैः—क्रीडावन (आरामदायक बगीचे) तथा सुन्दर पार्क से; वृत—घिरे हुए; पद्म-आकर—कमलों के जन्म-स्थल या जल के सुन्दर आगार; श्रियम्—सुन्दरता को बढ़ानेवाले।

द्वारकापुरी समस्त ऋतुओं के ऐश्वर्य से पूर्ण थी। उसमें सर्वत्र आश्रम, उद्यान, पुष्पोद्यान, पार्क तथा कमलों से परिपूर्ण जलाशय थे।

तात्पर्य : मानव सभ्यता की पूर्णता प्रकृति के वरदानों का सदुपयोग उनके सहज रूप में करने से सम्भव बनाई जा सकती है। जैसाकि द्वारका के ऐश्वर्य के वर्णन से प्रकट है, उसके चारों ओर पुष्पोद्यान तथा फलों के बगीचे थे और जलाशय थे, जो कमलों से परिपूर्ण थे। यहाँ पर किसी मिल तथा कसाईघर के बल पर चलने वाली फैक्टरी का उल्लेख नहीं है, जो आधुनिक महानगरों के लिए आवश्यक साज-सामग्री है। फिर भी, आधुनिक सुसंस्कृत मनुष्य के अन्तःकरण में भी प्रकृति के वरदानों का उपयोग करने की रुचि बरकरार है। आधुनिक सभ्यता के अग्रणी अपने निजी आवासों को ऐसे स्थानों में बनाते हैं, जहाँ सुन्दर बगीचे तथा जलाशय हों, लेकिन सामान्य व्यक्तियों को वे पार्कों तथा बगीचों से रहित दमघोटू स्थानों में रहने के लिए छोड़ देते हैं। लेकिन यहाँ पर हमें द्वारकापुरी का सर्वथा भिन्न वर्णन प्राप्त होता है। ऐसा लगता है कि सारा धाम ऐसे उद्यानों तथा पार्कों एवं कमलों से परिपूर्ण जलाशयों द्वारा घिरा हुआ था। ऐसा लगता है कि सारे लोग प्रकृति द्वारा प्रदत्त फूलों तथा फलों पर निर्भर थे और वहाँ ऐसे उद्योग नहीं थे, जो गन्दी बस्ती तथा झुग्गी-झोपड़ियाँ बढ़ावा देते हैं। सभ्यता की प्रगति का अनुमान उन मिलों तथा फैक्ट्रियों की बढ़ोत्तरी से नहीं लगाया जाता, जिनसे मनुष्य की कोमल भावनाएँ विनष्ट हों, अपितु मनुष्यों में प्रबल आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विकास से लगाया जाता है, जिससे उन्हें भगवद्धाम वापस जाने का अवसर प्राप्त हो सके। फैक्ट्रियों तथा मिलों का विकास *उग्रकर्म* कहलाता है और ऐसे कर्म से मनुष्य तथा समाज की सुकोमल भावनाओं का क्षय होकर असुरों का कारागार बना देती हैं।

यहाँ पर हम पवित्र वृक्षों का उल्लेख पाते हैं, जिनमें ऋतु के अनुसार फूल-फल लगते हैं। अपवित्र वृक्ष केवल व्यर्थ के जंगल होते हैं और उनका उपयोग केवल ईंधन के लिए हो सकता है। आधुनिक सभ्यता में ऐसे अपवित्र वृक्षों को सड़क के दोनों किनारों पर रोपा जाता है। मानव शक्ति का सदुपयोग सुकोमल भावनाओं के विकास के लिए होना चाहिए, जिससे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो सके और इसी में जीवन का समाधान प्राप्त होता है। मनुष्य के शरीर में सूक्ष्म तन्तुओं के विकास के लिए फल, फूल, सुन्दर उद्यान, पार्क, कमलों के बीच क्रीड़ा करते बतख एवं हंसों से युक्त जलाशय तथा

प्रचुर दूध तथा मक्खन देनेवाली गाएँ आवश्यक हैं। इसके विपरीत, कारागार तुल्य खानें, फैक्टरियाँ तथा कार्यशालाएँ श्रमिक वर्ग में आसुरी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। श्रमिक वर्ग के बल पर ही शोषण को प्रश्रय मिलता है, फलस्वरूप उनमें अनेक प्रकार के उग्र संघर्ष होते रहते हैं। द्वारकाधाम का वर्णन मानवीय सभ्यता के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् ।

चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

गोपुर—नगरी का सिंहद्वार; द्वार—दरवाजा; मार्गेषु—विभिन्न सड़कों पर; कृत—किये गये; कौतुक—उत्सव के कारण;
तोरणाम्—सजित बन्दन-वार; चित्र—चित्रित; ध्वज—झंडियाँ; पताका-अग्रैः—अग्रणी चिह्नों द्वारा; अन्तः—भीतर;
प्रतिहत—अवरुद्ध; आतपाम्—धूप को।

भगवान् के स्वागतार्थ नगर का द्वार, घरों के दरवाजे तथा सड़कों के किनारे झंडियों से सजे बन्दनवार बहुत ही सुन्दर ढंग से केले के वृक्षों तथा आम की पत्तियों जैसे मांगलिक प्रतीकों से सजाये गये थे। झंडियाँ, फूल-मालाएँ तथा चित्रित संकेत एवं लिखे गये सुवाक्य धूप को अवरुद्ध कर रहे थे।

तात्पर्य : विशेष उत्सवों की सजावट के लिए प्रतीक भी प्रकृति के उपहारों से—केले के वृक्षों, आम की वृक्षों, फूलों तथा फलों से लिए गए थे। आज भी आम्रवृक्ष, नारियल तथा कदली वृक्षों को मांगलिक प्रतीक माना जाता है। ऊपर जिन झंडियों का उल्लेख हुआ है, उन सभी में भगवान् के इन दो महान् सेवक गरुड़ अथवा हनुमान के चित्र अंकित थे। अब भी ऐसे चित्र तथा अलंकरण भक्तों द्वारा पूजित हैं और भगवान् की तुष्टि के लिए सेवक को अधिक सम्मान प्रदान किया जाता है।

सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् ।

सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सम्मार्जित—पूर्णतया स्वच्छ किया; महा-मार्ग—राजपथ; रथ्य—मार्ग तथा गलियाँ; आपणक—बाजार; चत्वराम्—चौक;
सिक्ताम्—सिक्त; गन्ध-जलैः—सुगन्धित जल से; उप्ताम्—बिखरे हुए; फल—फल; पुष्प—फूल; अक्षत—बिना टूटे, पूरे-पूरे;
अङ्कुरैः—बीजों से।

पथ, मार्गों, बाजारों तथा चौकों को भलीभाँति झाड़-बुहारकर उन पर सुगन्धित जल छिड़का गया था और भगवान् का स्वागत करने के लिए सर्वत्र फल-फूल तथा अक्षत-अंकुर बिखरे गये थे।

तात्पर्य : द्वारकाधाम के राजमार्गों तथा गली-कूचों को सिक्त करने के लिए गुलाब तथा केवड़ा के फूलों को आसवित करके तैयार किया गया सुगन्धित जल मँगवाया गया था। इनके उपरान्त बाजारों तथा चौकों को भलीभाँति झाड़ा-बुहारा गया था। उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि द्वारकाधाम बहुत बड़ा था, जिसमें अनेक राजमार्गों, गलियों तथा पार्कों, उद्यानों एवं जलाशयों से युक्त चौक थे और इन सबों को फूलों-फलों से सुन्दर ढंग से सजाया गया था। भगवान् का स्वागत करने के लिए इन फूलों-फलों को अक्षत-अंकुरों के साथ सार्वजनिक स्थलों पर बिखरे दिया गया था। अक्षत बीज व अंकुर शुभ माने जाते थे और उत्सवों के दिनों में हिन्दू लोग आज भी इनका प्रयोग करते हैं।

द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः ।
अलङ्कृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

द्वारि द्वारि—प्रत्येक घर के द्वार पर; गृहाणाम्—सभी घरों के; च—तथा; दधि—दही; अक्षत—सम्पूर्ण; फल—फल; इक्षुभिः—गन्ने से; अलङ्कृताम्—सजाया गया; पूर्ण-कुम्भैः—जल से पूर्ण घटों से; बलिभिः—पूजन सामग्री सहित; धूप—सुगन्ध बत्ती; दीपकैः—दीपों तथा बत्तियों से।

प्रत्येक घर के द्वार पर दही, अक्षत फल, गन्ना तथा पूरे भरे हुए जलपात्रों के साथ ही पूजन की सामग्री, धूप तथा बत्तियाँ सजा दी गयी थीं।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार, स्वागत-विधि शुष्क नहीं होती है। जैसाकि ऊपर उल्लेख है, स्वागत के लिए केवल राजमार्ग तथा गली-कूचे ही नहीं सजाये गये थे, अपितु अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार आवश्यक वस्तुओं जैसे धूप-दीप, फूल, मिठाई तथा स्वादिष्ट खाद्यों द्वारा भगवान् की पूजा भी की गई थी। ये सभी वस्तुएँ भगवान् को अर्पित की गईं और वहाँ पर एकत्र नागरिकों में प्रसाद वितरित किया गया। अतएव यह आज के शुष्क स्वागत जैसा न था। प्रत्येक घर भगवान् का ऐसा स्वागत करने के लिए प्रस्तुत था, अतएव राजमार्गों तथा गली-कूचों के घर-घर में ऐसा प्रसाद नागरिकों को बाँटा

गया और यह समारोह सफल रहा। प्रसाद-वितरण के बिना कोई भी उत्सव पूरा नहीं होता और यही वैदिक संस्कृति की शैली है।

निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः ।

अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥ १६ ॥

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।

प्रहर्षवेगोच्छशितशयनासनभोजनाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; प्रेष्ठम्—प्रियतम को; आयान्तम्—घर आते हुए; वसुदेवः—वसुदेव (कृष्ण के पिता); महा-मनाः—महामना, उदारचेता; अक्रूरः—अक्रूर; च—तथा; उग्रसेनः—उग्रसेन; च—तथा; रामः—बलराम (कृष्ण के बड़े भाई); च—तथा; अद्भुत—अलौकिक; विक्रमः—शौर्य, पराक्रम; प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न; चारुदेष्णः—चारुदेष्ण; च—तथा; साम्बः—साम्ब; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र; प्रहर्ष—अत्यन्त प्रसन्नता; वेग—त्वरा; उच्छशित—से प्रभावित; शयन—लेटना; आसन—बैठना; भोजनाः—भोजन करना।

यह सुनकर कि परम प्रिय कृष्ण द्वारकाधाम पहुँच रहे हैं, महामना वसुदेव, अक्रूर, उग्रसेन, बलराम (अलौकिक शक्तिसम्पन्न), प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा जाम्बवती-पुत्र साम्ब सभी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने लेटना, बैठना तथा भोजन करना छोड़ दिया।

तात्पर्य : वसुदेव—राजा शूरसेन के पुत्र, देवकी के पति तथा श्रीकृष्ण के पिता। ये कुन्ती के भाई तथा सुभद्रा के पिता थे। सुभद्रा अपने ममेरे भाई अर्जुन को ब्याही गई थी और यह प्रथा आज भी भारत के कुछ भागों में प्रचलित है। वसुदेव को राजा उग्रसेन के मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था और बाद में उन्होंने उग्रसेन के भाई देवक की आठ कन्याओं के साथ विवाह किया। देवकी उनमें से एक थी। कंस उनका साला था और वसुदेव ने स्वेच्छा से, कंस का बन्दी बनना इस शर्तपर स्वीकार किया कि वे देवकी का आठवाँ पुत्र उसे दे देंगे। लेकिन कृष्ण की इच्छा से यह विफल रहा। पाण्डवों के मातुल के रूप में उन्होंने पाण्डवों के समस्त संस्कारों में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने शतशृंग पर्वत पर कश्यप पुरोहित को बुलवाया और सारे कृत्य सम्पन्न करवाये। कृष्ण जब कंस के बन्दीगृह के भीतर प्रकट हुए, तो वसुदेव ने उन्हें कृष्ण के पालक पिता, नन्द महाराज के घर गोकुल पहुँचाया। वसुदेव का तिरोधान होने के पूर्व, कृष्ण बलदेव-सहित अन्तर्धान हो गये और वसुदेव के तिरोधान के बाद अर्जुन (वसुदेव के भांजे) ने उनका दाह संस्कार किया।

अक्रूर—वृष्णिकुल के सेनापति तथा भगवान् कृष्ण के महान् भक्त। उन्होंने एक-मात्र स्तुति की एकाकी विधि द्वारा भगवद्भक्ति में सफलता प्राप्त की। वे अहूक की पुत्री सूतनी के पति थे। जब अर्जुन कृष्ण की इच्छानुसार सुभद्रा का हरण करके ले गये, तो उन्होंने अर्जुन की सहायता की थी। सुभद्रा का सफलतापूर्वक हरण होने के बाद, कृष्ण तथा अक्रूर दोनों ही उसे मिलने गये और इस घटना के बाद अर्जुन को दहेज दिया। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का जब महाराज परीक्षित की माता, उत्तरा के साथ विवाह हो रहा था, तब भी अक्रूर उपस्थित थे। अक्रूर के श्वसुर अहूक की उनसे नहीं बनती थी। किन्तु दोनों ही भगवान् के भक्त थे।

उग्रसेन—वृष्णिकुल के सर्वाधिक पराक्रमी राजाओं में से एक और महाराज कुन्तिभोज के चचेरे भाई। इनका दूसरा नाम अहूक था। वसुदेव इनके मंत्री थे और शक्तिशाली कंस इनका पुत्र था। इसी कंस ने अपने पिता को बन्दी बनाया और स्वयं मथुरा का राजा बन गया। भगवान् कृष्ण तथा उनके भाई भगवान् बलराम की कृपा से कंस मारा गया और उग्रसेन पुनः राज्य-सिंहासन पर बैठाये गये। जब शाल्व ने द्वारकापुरी पर आक्रमण कर दिया, तो उग्रसेन वीरता से लड़े और उन्होंने शत्रु को पीछे हटा दिया। उग्रसेन ने नारदजी से भगवान् श्रीकृष्ण की अलौकिकता के विषय में जिज्ञासा की थी। जब यदुवंश का विनाश होना था, तो उग्रसेन को साम्ब के गर्भ से उत्पन्न लोह-पिण्ड सौंपा गया था। इन्होंने लोह-पिण्ड को खण्ड-खण्ड करके इसको घिस घिस कर, द्वारका के समुद्रतट पर समुद्रजल में मिला दिया था। तत्पश्चात् उन्होंने द्वारकापुरी के भीतर तथा राज्य में, मद्यपान की पूर्ण मनाही कर दी थी। मृत्यु के पश्चात् उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ था।

बलदेव—ये वसुदेव की पत्नी रोहिणी के गर्भ से प्रकट हुए, अलौकिक पुत्र थे। इन्हें रोहिणी-नन्दन अर्थात् रोहिणी के प्रिय पुत्र भी कहा जाता है। जब वसुदेव ने कंस से पारस्परिक समझौता करके कारावास स्वीकार कर लिया था, तब बलराम को रोहिणी समेत नन्द महाराज को सौंप दिया गया था। अतएव नन्द महाराज बलदेव तथा भगवान् कृष्ण दोनों के पालक पिता थे। सौतेले भाई होते हुए भी कृष्ण तथा बलराम बचपन से ही निरन्तर एकसाथ ही रहते थे। वे भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, अतएव वे कृष्ण के ही समान उत्तम तथा शक्तिमान हैं। वे *विष्णु-तत्त्व* (ईश्वर तत्त्व) की श्रेणी में हैं। वे कृष्ण के साथ द्रौपदी के स्वयंवर में गये थे। जब श्रीकृष्ण की सुनियोजित योजना से अर्जुन द्वारा सुभद्रा का

हरण किया गया था, तब बलदेव अर्जुन पर अत्यधिक क्रुद्ध हुए थे और तत्काल उनका वध कर देना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण अपने प्रिय मित्र के लिए, बलदेव के चरणों पर गिर पड़े और उन्हें इतना क्रुद्ध न होने की विनती की। तब कहीं बलदेव तुष्ट हुए थे। इसी प्रकार वे एक बार कौरवों से भी क्रुद्ध हुए थे और वे उनकी सारी नगरी को यमुना नदी में फेंक देना चाहते थे। लेकिन कौरवों ने उनके चरणकमलों में शरण लेकर उन्हें प्रसन्न किया था। वास्तव में वे कृष्ण के जन्म के पूर्व देवकी के सातवें पुत्र थे, लेकिन कंस के क्रोध से बचने के लिए वे रोहिणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिये गये थे। अतएव उनका अन्य नाम संकर्षण है, जो श्रीबलदेव के स्वांश भी हैं। चूँकि वे कृष्ण के ही समान शक्तिशाली हैं और भक्तों को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करनेवाले हैं, अतएव वे बलदेव कहलाते हैं। वेदों में भी आदेश है कि बिना बलदेव की कृपा प्राप्त किये कोई भी परमेश्वर को नहीं जान सकता। *बल* का अर्थ भौतिक शक्ति नहीं, अपितु आध्यात्मिक शक्ति है। कतिपय अल्पज्ञ लोग *बल* को शारीरिक बल मानते हैं, लेकिन शारीरिक बल से किसी को आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। शारीरिक शक्ति का अन्त भौतिक शरीर के ही साथ हो जाता है, लेकिन आध्यात्मिक बल जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ-साथ जाता है, अतएव बलदेव द्वारा प्रदत्त किया गया बल कभी व्यर्थ नहीं जाता। यह बल शाश्वत होता है और इस प्रकार बलदेव समस्त भक्तों के आदि गुरु हैं।

श्री बलदेव सांदीपनि मुनि के शिष्य के रूप में श्रीकृष्ण के सहपाठी भी थे। उन्होंने बचपन में कृष्ण के साथ मिलकर अनेक असुरों का संहार किया था और विशेष रूप से उन्होंने तालवन में धेनुकासुर का वध किया था। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वे तटस्थ बने रहे और भरसक प्रयत्न करते रहे कि युद्ध न हो। वे दुर्योधन के पक्षपाती थे, तो भी वे तटस्थ बने रहे। जब दुर्योधन तथा भीमसेन के बीच गदायुद्ध हुआ, तो भी वे वहाँ उपस्थित थे। जब भीमसेन ने दुर्योधन की जाँघ पर या कमर के नीचे प्रहार किया, तो वे उससे क्रोधित हुए थे और इस अनुचित कार्य का बदला लेना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण ने भीम को उनके क्रोध से बचाया। लेकिन भीमसेन से अरुचि उत्पन्न होने से, उन्होंने तुरन्त उस स्थान को छोड़ दिया और उनके जाते ही दुर्योधन मृत्यु को प्राप्त होने के लिए भूमि पर गिर पड़ा। उन्होंने अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का अंतिम संस्कार किया, क्योंकि वे उसके मामा थे। उस समय सारे पाण्डव इतने शोक-सन्तप्त थे कि यह संस्कार करना उनके वश की बात न थी। अन्तिम अवस्था में

उन्होंने अपने मुख से एक महान् श्वेत सर्प को उत्पन्न करके इस जगत् से प्रयाण किया और इस प्रकार वे शेषनाग द्वारा सर्प के रूप में ले जाये गये।

प्रद्युम्न—ये कामदेव के अथवा अन्यो के अनुसार सनत्कुमार के अवतार थे और परमेश्वर श्रीकृष्ण तथा द्वारका की महारानी लक्ष्मीदेवी, श्रीमती रुक्मिणी, के पुत्र के रूप में प्रकट हुए थे। वे उनमें से एक थे, जो अर्जुन को सुभद्रा से ब्याह के बाद बधाई देने गये थे। वे उन प्रधान सेनापतियों में से एक थे, जिन्होंने शाल्व से युद्ध किया था और युद्धभूमि में उससे लड़ते-लड़ते वे मूर्छित हो गये थे। उनका सारथी उन्हें युद्धभूमि से शिविर में ले आया था, किन्तु उन्होंने इस कार्य के लिए उसे कोसा था तथा स्वयं अत्यन्त खिन्न हुए थे। किन्तु उन्होंने पुनः शाल्व से युद्ध किया था और विजयी हुए थे। उन्होंने नारदजी से विभिन्न देवताओं के विषय में सुना। वे भगवान् श्रीकृष्ण के चार पूर्णांशों में तीसरे हैं। उन्होंने अपने पिता कृष्ण से ब्राह्मणों की महिमा के विषय में जिज्ञासा की थी। यदुवंशियों के बन्धुघाती युद्ध में, वे वृष्णियों के राजा भोज के हाथों मारे गये। मृत्यु के बाद उन्हें अपने मूल पद पर स्थापित किया गया।

चारुदेष्ण—श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी देवी के एक और पुत्र। ये भी द्रौपदी-स्वयंवर में उपस्थित थे। ये अपने भाइयों तथा पिता की भाँति महान् योद्धा थे। इन्होंने विविनिधक से युद्ध करके उसे मार डाला।

साम्ब—ये यदुकुल के महान् शूरवीरों में से एक थे। ये श्रीकृष्ण की पत्नी जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन से धनुर्विद्या का युद्ध कौशल सीखा था और महाराज युधिष्ठिर की संसद के सदस्य बने थे। ये महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित थे। जब प्रभास-यज्ञ में सारे वृष्णि एकत्र थे, तो सात्यकि ने भगवान् बलदेव के समक्ष इनके महिमाशाली गुणों का वर्णन किया था। ये युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न करवाये गये अश्वमेघ यज्ञ के समय अपने पिता श्रीकृष्ण के साथ उपस्थित थे। इनके भाइयों ने इन्हें गर्भवती स्त्री के रूप में कुछ ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत किया था और इन्होंने हँसी-हँसी में उनसे पूछा था कि मेरे गर्भ से क्या उत्पन्न होगा? इस पर ऋषियों ने उत्तर दिया था कि तुम्हारे गर्भ से लोह-पिण्ड (मूसल) उत्पन्न होगा, जिससे यदुकुल में बन्धु-घाती युद्ध होगा। दूसरे ही दिन प्रातःकाल, साम्ब के गर्भ से एक बृहद् लोह-पिण्ड (मूसल) उत्पन्न हुआ, जिसे उग्रसेन को उचित कार्यवाही के लिए सौंप दिया गया। बाद में सचमुच ही पूर्वघोषित बन्धुघाती युद्ध हुआ, जिसमें साम्ब मारे गये।

इस तरह भगवान् श्रीकृष्ण के ये पुत्र अपना-अपना स्थान त्याग कर तथा विश्राम करना, बैठना, खाना जैसे कृत्यों से विरत होकर अपने पूज्य पिता की ओर दौड़ पड़े।

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः ।

शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।

प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

वारण-इन्द्रम्—मांगलिक कार्यवाले हाथी को; पुरस्कृत्य—सामने करके; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; स-सुमङ्गलैः—समस्त शुभ लक्षणों सहित; शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही की; निनादेन—ध्वनि से; ब्रह्म-घोषेण—वेदों के स्तोत्रों के उच्चारण से; च—तथा; आदृताः—महिमा-मण्डित; प्रति—की ओर; उज्जग्मू—तेजी में बढ़े; रथैः—रथ पर; हृष्टाः—आनन्द में; प्रणयागत—स्नेह से सिक्त; साध्वसाः—सादर।

वे फूल थामे हुए ब्राह्मणों समेत रथों पर भगवान् की ओर तेजी से बढ़े। उनके आगे-आगे सौभाग्य-के प्रतीक हाथी थे। शंख तथा तुरही बज रहे थे और वैदिक स्तोत्र उच्चरित हो रहे थे। इस प्रकार उन्होंने स्नेहसिक्त अभिवादन किया।

तात्पर्य : किसी महापुरुष के स्वागत की वैदिक विधि से सम्मान का वातावरण उत्पन्न होता है, जो आगन्तुक के लिए स्नेह तथा सत्कार से पूर्ण होता है। ऐसे स्वागत का शुभ वातावरण उपर्युक्त साज-सामग्री पर निर्भर करता है, जिसमें शंख, पुष्प, धूप, सजे हुए हाथी तथा वैदिक साहित्य से स्तोत्रों का पाठ करते हुए योग्य ब्राह्मण सम्मिलित हैं। स्वागत का ऐसा कार्यक्रम स्वागतकर्ता तथा स्वागत किए जाने वाले दोनों की निष्ठा से पूरित होता है।

वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः ।

लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वारमुख्याः—विख्यात वेश्याएँ; च—तथा; शतशः—सैकड़ों; यानैः—सवारियों द्वारा; तद्-दर्शन—उनसे (भगवान् श्रीकृष्ण से) भेंट करने के लिए; उत्सुकाः—अत्यन्त उत्सुक; लसत्—लटकते हुए; कुण्डल—कान के आभूषण; निर्भात—चमकते हुए; कपोल—ललाट; वदन—मुख; श्रियः—सौन्दर्य।

उसी समय सैकड़ों विख्यात वेश्याएँ विविध सवारियों पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ चलीं। वे सभी भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक थीं और उनके सुन्दर मुख-मण्डल चमचमाते कुण्डलों से सुशोभित थे, जिनके कारण उनके ललाट की शोभा बढ़ रही थी।

तात्पर्य : यदि वेश्याएँ भगवद्भक्त हों, तो हम उनसे भी घृणा नहीं कर सकते। आज भी भारत के बड़े-बड़े नगरों में ऐसी अनेक वेश्याएँ हैं, जो भगवान् की निष्ठावान् भक्त हैं। समय के फेर से, किसी को ऐसा पेशा ग्रहण करना पड़ जाता है, जो समाज में सम्मानित न हो, लेकिन इसके कारण भगवद्भक्ति करने में कोई व्यवधान नहीं आता। भगवान् की भक्ति समस्त परिस्थितियों में बेरोकटोक रहती है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व, द्वारका जैसे नगर में भी, जहाँ श्रीकृष्ण निवास कर रहे थे, वेश्याएँ रहती थीं। इसका अर्थ यह है कि समाज के समुचित निर्वाह के लिए वेश्याएँ भी आवश्यक अंग हैं। सरकार शराब की दुकानें खोलने देती है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार मदिरापान को प्रोत्साहित करती है। भाव यह है कि लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो किसी भी कीमत पर मदिरापान करेगा और ऐसा अनुभव है कि मद्य-निषेध से बड़े-बड़े शहरों में शराब की तस्करी को बढ़ावा मिला है। इसी प्रकार जो व्यक्ति घरों में सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं, उन्हें ऐसी छूट की अपेक्षा रहती है और यदि वेश्याएँ न हों, तो ऐसे निम्न लोग, दुसरो को वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित करेंगे। अच्छा हो कि वेश्याएँ बाजारों में उपलब्ध हों, जिससे समाज की पवित्रता कायम रहे। समाज के अन्दर वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा वेश्या-वर्ग को बनाये रखना अच्छा होगा। वास्तविक सुधार तो सभी लोगों को भगवद्-भक्त बनने के लिए प्रबुद्ध करना है, जिससे जीवन के समस्त पतनोन्मुख कारकों पर रोक लगेगी।

विष्णुस्वामी वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य, श्री बिल्वमंगल ठाकुर, अपने गृहस्थ जीवन में एक वेश्या के प्रति अत्यधिक आसक्त थे, जो भगवान् की भक्त थी। एक रात जब घनघोर वर्षा हो रही थी तथा बिजली कड़क रही थी, तो उसी में बिल्वमंगल ठाकुर चिन्तामणि के घर पहुँचे। वह आश्चर्यचकित थी कि ऐसी भयानक रात्रि में बाढ़ से उफनती नदी को पार करके ठाकुर कैसे आ गये। उसने बिल्वमंगल ठाकुर से कहा कि उस नगण्य स्त्री के हाड़-मांस के प्रति उनका जो आकर्षण है, यदि उसे भगवद्भक्ति में भगवान् की दिव्य सुन्दरता के प्रति लगाया जाता, तो अच्छा होता। यह ठाकुर के

लिए परीक्षा की घड़ी थी और वे वेश्या के वचनों से आत्म-साक्षात्कार की ओर मुड़े। बाद में उन्होंने उस वेश्या को अपना गुरु माना और उन्होंने अपने काव्य में कई स्थलों पर चिन्तामणि के नाम का गुणगान किया है, जिसने उन्हें सही मार्ग दिखलाया।

भगवद्गीता (९.३२) में भगवान् कहते हैं, “हे पृथापुत्र! निम्नकुल में उत्पन्न चंडाल, नास्तिकों के वंश में उत्पन्न मनुष्य तथा वेश्याएँ तक भी, जीवन की पूर्णता प्राप्त करेंगी, यदि वे भगवान् की अनन्य भक्ति का आश्रय ग्रहण कर लें, क्योंकि भक्तिमय सेवा के मार्ग में नीच कुल में जन्म तथा वृत्ति अवरोधक नहीं हैं। यह मार्ग उन सबों के लिए खुला है, जो उसका अनुगमन करना चाहते हैं।”

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वारका की वेश्याएँ जो भगवान् से मिलने के लिए इतनी उत्सुक थीं, उनकी अनन्य भक्त थीं और इस तरह *भगवद्गीता* के उपरोक्त वचन के अनुसार वे सभी मोक्ष के पथ पर थीं। अतएव समाज में जिस एकमात्र सुधार की आवश्यकता है, वह है सारे नागरिकों को भगवद्भक्त बनाना। इस तरह उनमें स्वर्ग के निवासियों के समस्त सद्गुण स्वतः आ जाएँगे। दूसरी ओर, जो अभक्त हैं उनमें एक भी सद्गुण नहीं होता है, भले ही भौतिक दृष्टि से वे कितने ही उन्नत क्यों न हों। अन्तर इतना ही है कि भगवद्भक्त मोक्ष के पथ पर होते हैं, लेकिन अभक्त भवबन्धन में अधिकाधिक उलझने के मार्ग पर होते हैं। सभ्यता की प्रगति की कसौटी यह है कि लोग मोक्ष के मार्ग के लिए शिक्षित हैं या नहीं और उस पर अग्रसर हैं या नहीं।

नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः ।

गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

नट—नाटककार; नर्तक—नाचनेवाले; गन्धर्वाः—स्वर्ग के गवैय; सूत—पेशेवर पौराणिक; मागध—पेशेवर वंशावली-विशारद, भाट; वन्दिनः—पेशेवर विद्वान वक्ता; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; च—क्रमशः; उत्तमश्लोक—परमेश्वर के; चरितानि—कार्यकलाओं को; अद्भुतानि—अलौकिक; च—तथा।

कुशल नाटककार, कलाकार, नर्तक, गायक, पौराणिक, वंशावली-विशारद (भाट) तथा विद्वान वक्ता (वाचक) सबों ने भगवान् के अलौकिक कार्यकलापों से प्रेरित होकर अपना-अपना योगदान दिया। इस प्रकार वे आगे बढ़ते गये।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी समाज को नाटककारों, कलाकारों, नर्तकों, गायकों, पौराणिकों, वंशावली-विशारदों, सार्वजनिक वक्ताओं की भी आवश्यकता पड़ती थी। नर्तक, गायक तथा नाटक-कलाकार अधिकांशतया शूद्रजाति के होते थे, जबकि विद्वान पौराणिक, वंशावली-विशारद (भाट) तथा सार्वजनिक वक्ता ब्राह्मण जाति के होते थे। ये सभी किसी जाति विशेष से सम्बन्धित होते थे और अपने-अपने कुलों में इतने दक्ष हो जाते थे। ऐसे नट, नर्तक, गायक, पौराणिक, भाट तथा सार्वजनिक वक्ता विभिन्न युगों तथा कल्पों में भगवान् के अलौकिक कार्यकलापों का वर्णन करते थे, किसी सामान्य घटना का नहीं। न ही ये घटनाएँ किसी तिथि-क्रमानुसार होती थीं। सारे पुराण ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण हैं, जिनमें विभिन्न कालों तथा विभिन्न लोकों में भगवान् से सम्बन्धित विषयों का वर्णन है। अतः इसका कोई काल-क्रम नहीं मिलता है। अतएव जब आधुनिक इतिहासकार कोई शृंखला-सूत्र नहीं पकड़ पाते, तो वे अप्रामाणिक ढंग से यह आलोचना करते हैं कि सारे पुराण कपोल-कल्पित हैं।

यहाँ तक कि एक सौ वर्ष पूर्व भी भारत में सारे नाटकों का कार्य परमेश्वर के अलौकिक कार्यकलापों पर ही केन्द्रित होते थे। नाटकों के खेले जाने पर निश्चित रूप से जनसामान्य का मनोरंजन होता था और यात्रा टोलियाँ (नाटक मंडलियाँ) भगवान् के अलौकिक कार्यों का अभिनय करती थीं। इस प्रकार प्रत्येक निरक्षर किसान शैक्षिक योग्यता न होने पर भी वैदिक साहित्य के ज्ञान में सहभागी होता था। अतएव सामान्य व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रकाश के लिए नाटककारों, गायकों, वक्ताओं इत्यादि की आवश्यकता होती है। भाट किसी विशेष परिवार के वंशजों का पूरा ब्यौरा प्रस्तुत करते थे। आज भी भारत के तीर्थस्थानों के पंडे किसी भी नवागंतुक का पूरा वंश-ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। कभी-कभी यह आश्चर्यजनक कृत्य ऐसी महत्वपूर्ण जानकारी पाने के कारण अधिक ग्राहकों को आकर्षित करता है।

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम् ।

यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानमादधे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; तत्र—उस स्थान पर; बन्धूनाम्—मित्रों के; पौराणाम्—नागरिकों के; अनुवर्तिनाम्—स्वागतार्थ आये लोगों का; यथा-विधि—यथायोग्य; उपसङ्गम्य—पास जाकर; सर्वेषाम्—हर एक के लिए; मानम्—सम्मान तथा आदर; आदधे—प्रदान किया।

भगवान् श्रीकृष्ण उनके निकट गये और उन्होंने अपने समस्त मित्रों, सम्बन्धियों, नागरिकों तथा उन समस्त लोगों को, जो उन्हें लेने तथा स्वागत करने के लिए आये थे, यथायोग्य सम्मान तथा आदर प्रदान किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न तो निराकार हैं, न ऐसी निष्क्रिय वस्तु हैं, जो अपने भक्तों के भावों के साथ आदान-प्रदान करने में असमर्थ हों। यहाँ पर यथाविधि शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है “यथायोग्य”। वे अपने विभिन्न प्रकार के प्रशंसकों तथा भक्तों के साथ यथायोग्य आदान-प्रदान करते हैं। निस्सन्देह शुद्ध भक्त एक ही तरह के होते हैं, क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त उनका कोई अन्य सेवा-पात्र नहीं होता, इसीलिए भगवान् भी ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ यथायोग्य आदान-प्रदान करते हैं अर्थात् वे अपने शुद्ध भक्तों के सारे कार्यों के प्रति सतर्क रहते हैं। जो लोग उन्हें निराकार कहते हैं, भगवान् भी उनके प्रति कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं दिखाते। वे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास के रूप में प्रसन्न करते हैं और ऐसे आदान-प्रदान का नमूना यहाँ पर विभिन्न स्वागत करनेवालों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः ।

आश्वास्य चाश्रपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रह्वा—अपना सिर झुकाकर; अभिवादन—शब्दों से अभिवादन; आश्लेष—आलिंगन; कर-स्पर्श—हाथ मिलाना; स्मित-ईक्षणैः—बाँकी हँसी से; आश्वास्य—प्रोत्साहन द्वारा; च—तथा; आश्रपाकेभ्यः—कुत्ता खानेवाली अधम जाति तक; वरैः—आशीर्वादों से; च—तथा; अभिमतैः—जिसकी जैसी इच्छा हो; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

सर्वशक्तिमान भगवान् ने वहाँ पर समुपस्थित लोगों को, यहाँ तक कि नीच से नीच जाति वाले को, अपना मस्तक झुकाकर, बधाई देकर, आलिंगन करके, हाथ मिलाकर, देखकर तथा हँसकर, आश्वासन देकर तथा वरदान देकर उनका अभिवादन किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिए वहाँ सभी प्रकार के लोग थे—पिता वसुदेव, पितामह उग्रसेन तथा गुरु गर्गमुनि से लेकर वेश्याएँ तथा कुत्ते तक खाने के आदी चण्डाल तक थे। भगवान् ने इन सबों से उनके पद तथा प्रतिष्ठा के अनुसार उनका अभिवादन किया। शुद्ध जीवों के रूप में, सारे लोग भगवान् के भिन्नांश हैं और इस प्रकार अपने सनातन सम्बन्ध के कारण कोई उनसे पराया नहीं है। ऐसे शुद्ध जीव, भौतिक गुणों के संदूषण के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किये जाते हैं, लेकिन इन भौतिक श्रेणियों के बावजूद भगवान् अपने समस्त भिन्नांशों पर समान रूप से वत्सल रहते हैं। वे इन भौतिकता में डूबे जीवों को अपने धाम वापस लौटने के लिए स्मरण दिलाने के लिए ही अवतरित होते हैं और जो बुद्धिमान लोग हैं, वे भगवान् द्वारा सभी जीवों को दिए गए इस अवसर का लाभ उठाते हैं। भगवान् किसी को अपने धाम के लिए अयोग्य नहीं ठहराते, यह तो जीव पर निर्भर करता है कि वह इसे स्वीकार करे या नहीं।

स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि ।

आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—अपने आप; च—भी; गुरुभिः—वयस्क स्वजनों द्वारा; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; सदारैः—अपनी-अपनी पत्नियों सहित; स्थविरैः—अशक्तों (वृद्धों) के द्वारा; अपि—भी; आशीर्भिः—आशीर्वाद से; युज्यमानः—प्रशंसित होकर; अन्यैः—अन्यों द्वारा; वन्दिभिः—प्रशंसकों द्वारा; च—तथा; अविशत्—प्रवेश किया; पुरम्—नगर में।

तब भगवान् ने ज्येष्ठ-वरेष्ठ सम्बन्धियों तथा अपनी-अपनी पत्नियों के साथ आए अशक्त ब्राह्मणों के साथ नगर में प्रवेश किया। वे सब आशीर्वाद दे रहे थे और भगवान् के यशों का गान कर रहे थे। दूसरे लोगों ने भी भगवान् की महिमा की प्रशंसा की।

तात्पर्य : समाज में ब्राह्मण कभी भी भावी निवृत्त जीवन के लिए धन संग्रह करने के प्रति ध्यान नहीं देते थे। जब वे वृद्ध एवं अशक्त हो जाते थे, तब वे अपनी पत्नियों सहित राजदरबार पहुँचते थे और केवल राजाओं के महिमायुक्त कार्यों की प्रशंसा करने से उन्हें जीवन की सारी आवश्यकताएँ प्रदान की जाती थीं। ऐसे ब्राह्मण राजा के चाटुकार नहीं होते थे, अपितु इससे राजाओं को वास्तव में यश मिलता था और इन ब्राह्मणों के सम्मानयुक्त कार्यों से वे राजा पुण्यकर्मों को सच्चे दिल से करने के लिए

और भी प्रोत्साहित होते थे। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यशों के पात्र हैं और स्तुति करनेवाले ब्राह्मण तथा अन्य लोग भगवान् की महिमा का गान करने के कारण स्वयं धन्य हो गए।

राजमार्ग गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः ।

हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

राज-मार्गम्—आम सड़कों से; गते—जाते हुए; कृष्णे—भगवान् कृष्ण द्वारा; द्वारकायाः—द्वारका नगरी की; कुल-स्त्रियः—प्रतिष्ठित कुलों की स्त्रियाँ; हर्म्याणि—राजमहलों में; आरुरुहुः—चढ़ गईं; विप्र—हे ब्राह्मणों; तत्-ईक्षण—उनका (कृष्ण का) दर्शन करने के लिए; महा-उत्सवाः—महान् उत्सव मानकर।

जब भगवान् राजमार्ग से होकर जा रहे थे, तो द्वारका के प्रतिष्ठित परिवारों की सभी स्त्रियाँ भगवान् का दर्शन करने के लिए अपने-अपने महलों की अटारियों पर चढ़ गईं। इसे वे एक महान् उत्सव समझ रही थीं।

तात्पर्य : भगवान् का दर्शन करना, निस्सन्देह, अपने आप में एक महोत्सव है जैसाकि द्वारका नगर की स्त्रियों ने माना। इसे आज भी भारत की श्रद्धालु स्त्रियाँ इसी तरह मानती हैं। विशेषकर, झूलना तथा जन्माष्टमी-उत्सवों के अवसरों पर, भगवान् के मन्दिर में, जहाँ उनके शाश्वत दिव्य रूप की पूजा की जाती है, स्त्रियाँ सर्वाधिक संख्या में जुटती हैं। मन्दिर में स्थापित भगवान् का दिव्य स्वरूप, साक्षात् भगवान् से भिन्न नहीं होता। भगवान् का ऐसा स्वरूप *अर्चा-विग्रह* या *अर्चा-अवतार* कहलाता है और इस भौतिक जगत के असंख्य भक्तों की भक्ति को सरल बनाने के लिए भगवान् की अन्तरंगा शक्ति द्वारा इसे विस्तार दिया जाता है। भौतिक इन्द्रियाँ भगवान् की आध्यात्मिक प्रकृति की अनुभूति नहीं कर पातीं। अतएव भगवान् *अर्चा-विग्रह* रूप का स्वीकार करते हैं, जो बाह्य रूप से मिट्टी, काठ तथा पत्थर का बना होता है, लेकिन इसमें कोई भौतिक कल्मष नहीं होता। भगवान् कैवल्य (एकाकी) होने के कारण उनमें कोई भौतिक पदार्थ नहीं रहता। वे अद्वितीय हैं, अतएव वे भौतिक धारणा से कल्मषग्रस्त हुए बिना किसी भी रूप में प्रकट हो सकते हैं। अतएव भगवान् के मन्दिर के सारे उत्सव, जिस रूप में वे मनाये जाते हैं उन उत्सवों के समान होते हैं, जो लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व द्वारका में भगवान् के वास के दिनों में मनाये जाते थे। प्रामाणिक आचार्य, जो ईश-तत्त्व के विज्ञान से भलीभाँति परिचित होते हैं, ऐसे भगवत्-मन्दिरों की स्थापना विधि-विधानों के अन्तर्गत सामान्य लोगों की सुविधा के लिए

करते हैं, लेकिन जो लोग अल्पज्ञ हैं और इस विज्ञान से परिचित नहीं होते, वे इस महान् प्रयास को मूर्ति-पूजा मानने की गलती करते हैं और ऐसी बातों में अपनी टाँग अड़ाते हैं, जिन तक उनकी पहुँच नहीं होती। अतएव वे स्त्रियाँ या पुरुष, जो भगवान् के दिव्य स्वरूप की झाँकी प्राप्त करने के लिए भगवान् के मन्दिरों में उत्सव रचाते हैं, भगवान् के दिव्य रूप में विश्वास न करनेवालों से हजार गुना धन्य हैं।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि द्वारका के निवासी बड़े-बड़े महलों के मालिक थे। यह नगर की समृद्धि का द्योतक है। स्त्रियाँ जुलूस को देखने तथा भगवान् की झाँकी प्राप्त करने के उद्देश्य से अटारियों पर चढ़ गईं। स्त्रियाँ मार्गों की भीड़ के बीच में नहीं गईं और इस तरह उनकी प्रतिष्ठा भलिभाँतिबनी रही। वहाँ पर मनुष्य के साथ बनावटी समानता नहीं थी। स्त्री को पुरुष से पृथक् रखकर, उसकी प्रतिष्ठा की अधिक अच्छे ढंग से रक्षा की जा सकती है। स्त्री-पुरुषों को बे-रोक-टोक मिलना-जुलना नहीं चाहिए।

नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम् ।

न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नित्यम्—नियमित रूप से, सदैव; निरीक्षमाणानाम्—उनको देखनेवालों का; यत्—यद्यपि; अपि—के होते हुए; द्वारका-ओकसाम्—द्वारका के निवासी; न—कभी नहीं; वितृप्यन्ति—तृप्त होते हैं; हि—ठीक से; दृशः—दृश्य; श्रियः—सौन्दर्य; धाम-अङ्गम्—शरीर रूपी आगार; अच्युतम्—अमोघ।

द्वारकावासी समस्त सौन्दर्य के आगार अच्युत भगवान् को नित्य निहारने के अभ्यस्त थे, फिर भी वे कभी तृप्त नहीं होते थे।

तात्पर्य : जब द्वारका नगर की स्त्रियाँ अपने-अपने महलों की अटारियों पर चढ़ गईं, तो उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि इससे पूर्व, उन्होंने अच्युत भगवान् के सुन्दर शरीर को अनेक बार देखा था। इससे संकेत मिलता है कि उनके भगवद्दर्शन की इच्छा से स्त्रियाँ तृप्त नहीं हुई थीं। यदि कोई भौतिक वस्तु बारम्बार देखी जाती है, तो उसके प्रति तृप्ति के नियमानुसार, आकर्षण का कम होना स्वाभाविक है, लेकिन यह तृप्ति का नियम भौतिक वस्तुओं पर लागू होता है, आध्यात्मिक जगत में इसकी गुंजायश नहीं रहती। यहाँ पर अच्युत शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यद्यपि भगवान् ने कृपापूर्वक पृथ्वी पर

अवतरित हुए थे, किन्तु तो भी वे अच्युत हैं। सारे जीव च्युत अर्थात् पतनशील हैं, क्योंकि जब वे भौतिक जगत के संसर्ग में आते हैं, तो वे अपनी आध्यात्मिक पहचान खो देते हैं, जिसके कारण उनका भौतिक शरीर जन्म, वृद्धि, रूपान्तर, परिस्थिति, क्षय तथा विनाश जैसे प्राकृतिक नियमों के अधीन रहता है। किन्तु भगवान् का शरीर ऐसा नहीं होता है। वे अपने वास्तविक रूप में अवतरित होते हैं और भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा कभी भी प्रभावित नहीं होते। उनका शरीर प्रत्येक सम्भावित वस्तु का स्रोत है और अनुभवातीत समस्त शोभा का आगार है। अतएव भगवान् के दिव्य शरीर का दर्शन करके किसी को भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें नित्य नवीन सौन्दर्य दृष्टिगत होता रहता है। दिव्य नाम, रूप, गुण, पार्षद इत्यादि सभी आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं और भगवान् के पवित्र नाम का नाम-कीर्तन करने तथा उनके गुणों का कथन करने में कभी तृप्ति नहीं होती और न भगवान् के पार्षदों की ही कोई सीमा है। वे सबों के स्रोत हैं और असीम हैं।

श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रियः—लक्ष्मी का; निवासः—निवासस्थान; यस्य—जिसका; उरः—वक्षस्थल; पान-पात्रम्—जल का घड़ा; मुखम्—मुँह; दशाम्—आँखों का; बाहवः—बाहें; लोक-पालानाम्—प्रशासक देवताओं की; सारङ्गाणाम्—भक्तों का, जो किसी वस्तु के विषय में कुछ कहते या गाते हैं; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

भगवान् का वक्षस्थल लक्ष्मी देवी का निवासस्थल है। उनका चाँद जैसा मुखड़ा उन नेत्रों के लिए जलपात्र के समान है, जो सुन्दर वस्तुओं के लिए सदैव लालायित रहते हैं। उनकी भुजाएँ प्रशासक देवताओं के लिए आश्रयस्थल हैं और उनके चरणकमल उन शुद्ध भक्तों की शरणस्थली हैं, जो भगवान् के अतिरिक्त न तो कुछ कहते हैं, न गाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों की अनेक कोटियाँ हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग खोजती रहती हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो लक्ष्मीदेवी की कृपा के इच्छुक रहते हैं। उन्हें वैदिक साहित्य यह बताता है कि चिन्तामणिधाम* में भगवान् हजारों-हजार लक्ष्मियों के द्वारा पूरे भक्तिभाव सहित सेवित होते रहते हैं। यह धाम भगवान् का दिव्य घर है, जहाँ सारे वृक्ष कल्पतरु हैं और प्रासाद पारसमणि के बने हुए हैं। वहाँ पर भगवान् अपने स्वाभाविक पेशे के तौर पर सुरभि गायों को चराने में

लगे रहते हैं। यदि हम भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य से आकृष्ट हों, तो ये लक्ष्मियाँ स्वतः दिखाई पड़ती हैं। निर्विशेषवादी इन लक्ष्मियों को नहीं देख पाते, क्योंकि वे शुष्क चिन्तक होते हैं। लेकिन जो कलाकार हैं तथा सुन्दर सृष्टि द्वारा अभिभूत रहते हैं, उन्हें चाहिए कि पूर्ण तुष्टि

footnote starts here

चिन्तामणि-प्रकर-सद्गुण कल्पवृक्ष

लक्षावृक्षेषु सुरभिरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम

सेव्यमानम् गोविन्दामादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

(ब्रह्मसंहिता, ५.२९)

footnote ends here

के लिए भगवान् का सुन्दर मुख देखें। भगवान् का मुख समस्त सुन्दरता का आगार है। जिसे वे सुन्दर प्रकृति कहकर पुकारते हैं, वह तो उनकी मन्द मुस्कान है और जिसे वे पक्षियों का कलरव कहते हैं, वे भगवान् की मर्मर ध्वनियाँ हैं। ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के लिए प्रशासनाधिकारी देवता होते हैं और राज्य-स्तर पर भी छोटे-छोटे देवता होते हैं। वे सदैव अन्य प्रतियोगियों से भयभीत रहते हैं, किन्तु यदि वे भगवान् की भुजाओं का आश्रय लें, तो भगवान् शत्रुओं के आक्रमण से सदैव उनकी रक्षा कर सकते हैं। प्रशासनिक सेवा में लगा हुआ भगवान् का श्रद्धालु दास आदर्श प्रशासनाधिकारी होता है और वह सामान्य-जन के हितों की रक्षा भलीभाँति कर सकता है। अन्य तथाकथित प्रशासक राजतंत्र के प्रतीक होते हैं, जिनके द्वारा शासित लोगों को दुःसह दुख सहने पड़ते हैं। प्रशासकगण भगवान् की भुजाओं का संरक्षण प्राप्त करके सुरक्षित रह सकते हैं। परमेश्वर सभी वस्तुओं के सार हैं, अतएव वे सारम् कहलाते हैं और जो उनका गुणगान करते हैं, वे सारंग या शुद्ध भक्त कहलाते हैं। शुद्ध भक्त तो भगवान् के चरणकमलों के लिए लालायित रहते हैं। कमल में एक प्रकार का मधु होता है, जिसका दिव्य आस्वाद भक्तगण करते हैं। वे उन मधुमखियों के तुल्य हैं, जो मधु के लिए सदा दौड़ती रहती हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान् भक्त आचार्य श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी तुलना मधुमक्खी से करते हुए इस कमल-मधु के विषय में एक गीत लिखा है : “हे मेरे भगवान् कृष्ण! मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ। मेरा मन मधुमक्खी के समान है, जो थोड़ा कुछ मधु पाने के लिए लालायित है। अतएव कृपा

करके मेरी मनरूपी मधुमक्खी को अपने चरणकमलों में स्थान प्रदान करें, जो समस्त दिव्य मधु के आगार हैं। मैं जानता हूँ कि ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े देवता, वर्षों तक लगातार गहन ध्यान में तल्लीन रहकर भी, आपके चरणकमलों के नाखूनों की द्युति को भी देख नहीं पाते। फिर भी, हे अच्युत! मेरी ऐसी अभिलाषा है, क्योंकि आप शरणागतों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं। हे माधव! मैं यह भी जानता हूँ कि मुझ में आपके चरणों की सेवा के प्रति वास्तविक अनुरक्ति नहीं है, लेकिन आप अकल्पनीय शक्तिशाली हैं, अतएव आप असम्भव से असम्भव कार्य कर सकते हैं। आपके चरणकमलों के समक्ष स्वर्ग का अमृत भी तुच्छ है, अतएव मैं उनके प्रति अत्यधिक अनुरक्त हूँ। अतएव हे परम नित्य! मेरे मन को आपके चरणकमलों में स्थिर होने दे, जिससे मैं आपकी दिव्य सेवा का आस्वाद निरन्तर लेता रहूँ।” भक्तगण भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त करके तुष्ट रहते हैं और उन्हें भगवान् के सर्व-सुन्दर मुख को देखने अथवा उनकी बलिष्ठ भुजाओं के संरक्षण की कोई अभिलाषा नहीं रह जाती। वे स्वभाव से विनम्र होते हैं और भगवान् का ऐसे विनम्र भक्तों के प्रति सदैव झुकाव रहता है।

सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः

प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि ।

पिशङ्गवासा वनमालया बभौ

घनो यथाकोटुपचापवैद्युतैः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सित-आतपत्र—श्वेत छाता; व्यजनैः—चामर से; उपस्कृतः—झला जाकर; प्रसून—फूलों की; वर्षैः—वर्षा से; अभिवर्षितः—आच्छादित होकर; पथि—मार्ग पर; पिशङ्ग-वासा—पीताम्बर से; वन-मालया—फूलों के हारों से; बभौ—हो गया; घनः—बादल; यथा—जिस प्रकार; अर्क—सूर्य; उडुप—चन्द्रमा; चाप—इन्द्रधनुष; वैद्युतैः—बिजली से।

जब भगवान् द्वारका के राजमार्ग से होकर गुजर रहे थे, तब एक श्वेत छत्र तानकर उनके सिर को धूप से बचाया जा रहा था। श्वेत पंखों वाले पंख (चंवर) अर्धवृत्ताकार में झल रहे थे और मार्ग पर फूलों की वर्षा हो रही थी। पीताम्बर तथा फूलों के हार से वे इस प्रकार प्रतीत हो रहे थे, मानो श्याम बादल एक ही साथ सूर्य, चन्द्रमा, बिजली तथा इन्द्रधनुष से घिर गया हो।

तात्पर्य : सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष तथा बिजली एकसाथ आसमान में कभी प्रकट नहीं होते। सूर्य के रहने पर चाँदनी नगण्य बन जाती है और यदि बादल हों तथा इन्द्रधनुष उगा हो, तो फिर बिजली

नहीं चमकती। भगवान् के शरीर की कान्ति वर्षाऋतु के नवीन बादल जैसी है। उनकी तुलना यहाँ पर बादल से की गई है। उनके सिर के ऊपर तना श्वेत छाता मानो सूर्य है। चँवर के हिलने-डुलने की तुलना चन्द्रमा से की गई है। फूलों की वर्षा की उपमा तारों से और उनके पीताम्बर की तुलना इन्द्रधनुष से की गई है। अतएव आकाश की ये सारी गतिविधियाँ कभी भी एकसाथ घटित नहीं हो सकतीं और तुलना द्वारा समंजित नहीं की जा सकतीं। ऐसा सामञ्जस्य तभी सम्भव है, जब हम भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का चिन्तन करें। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी उपस्थिति में कोई भी असम्भव बात उनकी अचिन्त्य शक्ति से सम्भव बनाई जा सकती है। लेकिन द्वारका के मार्गों से उनके गुजरते समय जो स्थिति उत्पन्न हुई, वह सुन्दर थी और उसकी तुलना प्राकृतिक घटनाओं के वर्णन के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से नहीं की जा सकती।

प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः ।

ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

प्रविष्टः—प्रवेश करने पर; तु—लेकिन; गृहम्—घर में; पित्रोः—पिता के; परिष्वक्तः—आलिंगित होकर; स्व-मातृभिः—अपनी माताओं द्वारा; ववन्दे—नमस्कार किया; शिरसा—सिर से; सप्त—सात; देवकी—देवकी; प्रमुखा—इत्यादि; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक ।

अपने पिता के घर में प्रवेश करने पर उन्हें उनकी माताओं ने गले लगाया और भगवान् ने उनके चरणों पर अपना शिर रखकर उन्हें नमस्कार किया। माताओं में देवकी (उनकी असली माता) प्रमुख थीं।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव का अपना अलग से आवास था, जहाँ वे अपनी अठारह रानियों समेत रहते थे, जिनमें से श्रीमती देवकी कृष्ण की असली माता हैं। लेकिन इतने पर भी, अन्य सौतेली माताएँ उन्हें समान रूप से प्यार करती थीं, जैसाकि अगले श्लोक से पता चल जाएगा। भगवान् कृष्ण भी अपनी असली माता तथा विमाताओं में कोई भेदभाव नहीं करते थे और उन्होंने उस अवसर पर उपस्थित वसुदेव की समस्त पत्नियों को नमस्कार किया। शास्त्रों के अनुसार भी सात प्रकार की माताएँ होती हैं—(१) वास्तविक माता, (२) गुरु-पत्नी, (३) ब्राह्मण-पत्नी, (४) राजा की पत्नी, (५) गाय, (६) धाय तथा (७) पृथ्वी। ये सभी माताएँ हैं। शास्त्रों के इस

आदेश से भी विमाता, जो पिता की पत्नी होती है, माता के तुल्य होती है, क्योंकि पिता गुरु भी होता है। ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् कृष्ण अन्यो को विमाताओं के साथ व्यवहार करने की शिक्षा देने के लिए एक आदर्श पुत्र की भूमिका निभाते हैं।

ताः पुत्रमङ्गमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।

हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे सभी; पुत्रम्—पुत्र को; अङ्गम्—गोद में; आरोप्य—बिठाकर; स्नेह-स्नुत—स्नेह से सिकत; पयोधराः—वक्षस्थल; हर्ष—प्रसन्नता; विह्वलित-आत्मानः—से विभोर; सिषिचुः—नम; नेत्रजैः—आँखों के; जलैः—जल से।

माताओं ने अपने पुत्र को गले लगाने के बाद, उसे अपनी-अपनी गोद में बिठाया। विशुद्ध स्नेह के कारण उनके स्तनों से दूध निकल आया। वे हर्ष से विभोर हो गईं और उनके नेत्रों के अश्रुओं से भगवान् भीग गये।

तात्पर्य : जब भगवान् कृष्ण वृन्दावन में थे, तो गौँवे भी उनके प्रति स्नेहिल हो उठती थीं और वे उनके थनों से दूध दुह लिया करते थे। तो उनकी विमाताओं का क्या कहना, जो उनकी माता तुल्य ही थीं ?

अथाविशत् स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम् ।

प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अविशत्—प्रविष्ट हुए; स्व-भवनम्—अपने महलों में; सर्व—समस्त; कामम्—इच्छाएँ; अनुत्तमम्—सब तरह से पूर्ण; प्रासादाः—महल; यत्र—जहाँ; पत्नीनाम्—पत्नियों को; सहस्राणि—हजारों; च—इसके ऊपर; षोडश—सोलह।

तत्पश्चात् भगवान् अपने महलों में प्रविष्ट हुए, जो सभी तरह से परिपूर्ण थे। उनमें उनकी पत्नियाँ रहती थीं और वे सोलह हजार से अधिक थीं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं और प्रत्येक के लिए चारदीवारी तथा उद्यान से युक्त पूर्ण रूप से सुसज्जित महल थे। इन महलों का पूरा विवरण दशम स्कंध में दिया गया है। सारे महल सर्वोत्तम संगमरमर पत्थर के बने थे। वे रत्नों से प्रकाशित थे और मखमल तथा रेशम के पर्दों तथा गलीचों से सज्जित थे, जिनके किनारों पर सोने की जरी लगी थी। भगवान् का अर्थ है, जो समस्त

बल, समस्त शक्ति, समस्त ऐश्वर्य, समस्त सौन्दर्य, समस्त ज्ञान तथा समस्त वैराग्य से परिपूर्ण हो। अतएव भगवान् के महलों में कोई वस्तु ऐसी न थी, जिससे भगवान् की सारी इच्छाएँ पूरी न होती हों। भगवान् असीम हैं, अतएव उनकी इच्छाएँ भी असीमित हैं और पूर्ति भी असीमित है। प्रत्येक वस्तु असीम होने के कारण यहाँ पर संक्षेप में सर्वकामम्, अर्थात् सभी वांछनीय वस्तुओं से पूर्ण कहा गया है।

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं
विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुरारात् सहसासनाशयात्
साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

पत्न्यः—पत्नियाँ (भगवान् कृष्ण की); पतिम्—पति को; प्रोष्य—घर से दूर गया हुआ; गृह-अनुपागतम्—अब घर लौटा हुआ; विलोक्य—देखकर; सञ्जात—उत्पन्न करके; मनः—महा-उत्सवाः—मन के भीतर प्रसन्नतापूर्ण उत्सव का भाव; उत्तस्थुः—उठीं; आरात्—दूर से; सहसा—एकाएक; आसना—आसनों से; आशयात्—ध्यान अवस्था से; साकम्—के साथ; व्रतैः—व्रत के; व्रीडित—लज्जा से देखते; लोचन—नेत्र; आननाः—मुख।

दीर्घकाल तक बाहर रहने के बाद अपने पति को घर आया देखकर श्रीकृष्ण की रानियाँ मन ही मन अत्यन्त हर्षित हुईं। वे अपने-अपने आसनों तथा ध्यानों से तुरन्त उठकर खड़ी हो गईं। सामाजिक प्रथा के अनुकूल, उन्होंने लज्जा से अपने मुख ढक लिये और दृष्टि नीची किये देखने लगीं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है भगवान् अपनी १६,१०८ रानियों के महलों में प्रविष्ट हुए। इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने तुरन्त ही अपना विस्तार उतने अंशों में कर लिया, जितनी रानियाँ तथा महल थे और उन सबों में एकसाथ पृथक्-पृथक् प्रविष्ट हुए। यहाँ पर उनकी अन्तरंगा शक्ति की अन्य अभिव्यक्ति हुई है। वे इच्छानुसार अनेक आध्यात्मिक स्वरूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं, यद्यपि वे अद्वितीय हैं। श्रुति मंत्र से प्रतिपादित होता है कि परम पूर्ण एक हैं, किन्तु इच्छानुसार वे अनेक बन जाते हैं। परमेश्वर के ये अनेक विस्तार पूर्ण तथा भिन्नांशों के रूप में होते हैं। भिन्नांश उनकी शक्ति के द्योतक हैं और पूर्णांश उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तरह भगवान् ने अपने १६,१०८ पूर्ण अंश प्रकट किये और प्रत्येक रानी के महल में एक ही साथ प्रविष्ट हुए। इसे वैभव या भगवान् की

दिव्य शक्ति कहा जाता है। चूँकि वे ऐसा कर सकते हैं, अतएव वे योगेश्वर भी कहलाते हैं। सामान्यतया कोई योगी अपना अधिक से अधिक दस गुना विस्तार कर सकता है, लेकिन भगवान् इच्छानुसार कई हजार गुना या अनन्त विस्तार कर सकते हैं। अश्रद्धालु लोग यह जानकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि कृष्ण ने १६,००० से अधिक रानियों से विवाह किया, क्योंकि वे उन्हें अपने ही समान एक मान कर, अपनी सीमित शक्ति से उनकी शक्ति की तुलना करते हैं। अतएव मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि भगवान् कभी भी जीवों के स्तर पर नहीं होते। जीव उनकी तटस्था शक्ति के विस्तार मात्र हैं। मनुष्य को कभी सोचना भी नहीं चाहिए कि शक्तिमान तथा शक्ति समान होते हैं, यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में गुण का केवल रंचमात्र अन्तर है। रानियाँ भी उनकी अन्तरंगा शक्ति की विस्तार थीं और इस तरह शक्ति तथा शक्तिमान निरन्तर दिव्य आनन्द का आदान-प्रदान करते हैं। इन्हें ही भगवान् की लीलाएँ कहते हैं। अतएव किसी को यह जानकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि भगवान् की इतनी सारी पत्नियाँ थीं। उल्टे, लोगों को यह मानना चाहिए कि यदि भगवान् के लाखों-करोड़ों पत्नियाँ होतीं, तो भी वे अपनी असीम तथा अक्षय शक्ति को पूरी तरह प्रकट नहीं कर रहे। उन्होंने केवल १६,००० पत्नियों से ब्याह किया और उनमें से प्रत्येक के महल में यह दिखाने के लिए प्रवेश किया कि इस पृथ्वी पर कोई मनुष्य कितना ही बलवान् क्यों न हो, वह न तो उनकी समता कर सकता है, न उनसे बढ़कर है। अतएव न तो कोई उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। भगवान् सभी मामलों में सदा महान् हैं। शाश्वत सत्य भी यही है कि, “ईश्वर महान् हैं।”

अतएव कुरुक्षेत्र के युद्ध के कारण दीर्घकाल तक घर से दूर रहनेवाले अपने पति को ज्योंही रानियों ने कुछ दूरी पर देखा, तो वे ध्यान की निद्रा से जग गई और अपने प्रियतम की अगवानी के लिए तैयार हो गई। याज्ञवल्क्य के धार्मिक आदेशानुसार जिस स्त्री का पति घर से बाहर हो, उसे न तो किसी सामाजिक उत्सव में भाग लेना चाहिए, न शरीर को अलंकृत करना चाहिए, न हँसना चाहिए और न किसी भी परिस्थिति में अपने सम्बन्धी के घर जाना चाहिए। जिन स्त्रियों के पति बाहर हों, उनके लिए यही व्रत है। लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि पत्नी कभी भी अपने पति के समक्ष मलिन अवस्था में उपस्थित न हो। वह अपने आपको आभूषणों से अलंकृत करे और अच्छे वस्त्र पहने और पति के समक्ष सदैव प्रसन्न तथा हर्षित मुद्रा में जाए। कृष्ण की सारी रानियाँ पति की

अनुपस्थिति का चिन्तन करते हुए ध्यान-मग्न थीं और निरन्तर उन्हीं का ध्यान करती रहती थीं। भगवान् के भक्त भगवान् के ध्यान के बिना पल भर भी नहीं रह सकते, तो फिर रानियों के लिए क्या कहा जाय, जो द्वारका में भगवान् की लीलाओं में रानी के रूप में अवतरित हुई लक्ष्मीयाँ थीं। वे भगवान् की उपस्थिति द्वारा या समाधि द्वारा उनसे कभी विलग नहीं की जा सकतीं। वृन्दावन की गोपियाँ जब भगवान् वन में गाएँ चराने के लिए बाहर जाते थे, तो भगवान् को भुला नहीं पाती थीं। जब बाल-रूप भगवान् कृष्ण गाँव में नहीं होते थे, तो घर पर गोपियाँ, नरम चरणकमलों से कठोर भूमि पर चलते हुए कृष्ण के बारे में चिन्ता करती रहतीं। कभी-कभी इस तरह चिन्तन करते-करते वे समाधि में पहुँच जातीं और हृदय में सन्ताप करतीं। भगवान् के शुद्ध पार्षदों की ऐसी ही दशा होती है। वे सदैव समाधि में रहते हैं। अतएव कृष्ण की अनुपस्थिति में रानियाँ भी समाधिस्थ थीं। इस समय, भगवान् को कुछ दूरी पर देखकर, उन्होंने अपने सारे कार्य छोड़ दिये, जिनमें उपर्युक्त स्त्रियों के व्रत भी सम्मिलित थे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के मतानुसार इस अवसर पर नियमित मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई। पहले तो वे सभी अपने-अपने आसनों से उठ गईं, क्योंकि अपने-अपने पति को देखना चाहती थीं, किन्तु स्त्री योचित लज्जा के कारण वे रुक गईं, लेकिन प्रबल उत्कंठा के कारण उन्होंने इस दुर्बलता की अवस्था पर काबू पा लिया और भगवान् का आलिंगन करने की भावना से अभिभूत हो गईं और इस विचार ने उन्हें अपने आस-पास के परिवेश से अचेत बना दिया। इस उत्कंठा की मूल दशा के कारण सारी औपचारिकताओं एवं सामाजिक रीति-रिवाजों का अन्त हो गया और इस तरह भगवान् के मिलन-पथ के सारे अवरोध दूर हो गये। आत्मा के प्रभु, श्रीकृष्ण के मिलन की यह चरम अवस्था है।

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना

दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।

निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-

र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (भगवान्) को; आत्म-जैः—पुत्रों द्वारा; दृष्टिभिः—दृष्टि द्वारा; अन्तर-आत्मना—अन्तरात्मा से; दुरन्त-भावाः—दुर्लभ्य उत्कंठा; परिरेभिरे—आलिंगन किया; पतिम्—पति को; निरुद्धम्—अवरुद्ध; अपि—होते हुए; आस्रवत्—आँसू; अम्बु—जल

की बूँदों के समान; नेत्रयोः—आँखों से; विलज्जतीनाम्—लज्जा अनुभव करनेवाली; भृगु-वर्य—हे भृगुओं में श्रेष्ठ; वैक्लवात्—अनजाने।

रानियों की दुर्लभ उत्कण्ठा इतनी तीव्र थी कि लजाई होने के कारण उन्होंने सर्वप्रथम अपने अन्तरतम से भगवान् का आलिंगन किया, फिर उन्होंने दृष्टि से उनका आलिंगन किया और तब अपने पुत्रों को उनका आलिंगन करने के लिए भेजा (जो खुद ही आलिंगन करने जैसा है)। लेकिन हे भृगुश्रेष्ठ, यद्यपि वे भावनाओं को रोकने का प्रयास कर रही थीं, किन्तु अनजाने उनके नेत्रों से अश्रु छलक आये।

तात्पर्य : यद्यपि स्त्रियोचित लज्जा के कारण अपने प्रिय पति भगवान् श्रीकृष्ण का आलिंगन करने में अनेक अवरोध थे, लेकिन उन्होंने भगवान् को देखकर, उन्हें अपने अन्तरतम में स्थापित करके तथा आलिंगन करने के लिए अपने पुत्र भेज करके, इसे पूरा कर लिया। लेकिन इस पर भी काम अधूरा ही रहा और अत्यन्त प्रयास करने पर भी उनकी आँखों से आँसू ढुलक आये। पुत्र को पिता का आलिंगन करने के लिए भेजना अप्रत्यक्ष रूप से पति का आलिंगन करने जैसा है, क्योंकि पुत्र माता के शरीर से ही विकसित होता है। पुत्र द्वारा आलिंगन पति-पत्नी द्वारा काम-भावना की दृष्टि से किये जानेवाले आलिंगन-जैसा नहीं होता, लेकिन यह आलिंगन वात्सल्य की दृष्टि से तृप्तिदायक होता है। युगल सम्बंधों में दृष्टि द्वारा आलिंगन अधिक प्रभावशाली होता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, पति तथा पत्नी में इस प्रकार के भाव-विनिमय में कुछ भी गलत नहीं है।

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-

स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।

पदे पदे का विरमेत तत्पदा-

चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यदि—यद्यपि; अपि—निश्चय ही; असौ—वे (भगवान् श्रीकृष्ण); पार्श्व-गतः—बगल में; रहः-गतः—अकेले; तथापि—फिर भी; तस्य—उसका; अङ्घ्रि-युगम्—भगवान् के चरण; नवम् नवम्—नये-नये; पदे—पग; पदे—पग पर; का—कौन; विरमेत—विलग किया जा सकता है; तत्-पदात्—उनके चरणों से; चलापि—गतिशील; यत्—जिसको; श्रीः—लक्ष्मी जी; न—कभी नहीं; जहाति—छोड़ती है; कर्हिचित्—कभी भी।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण निरन्तर उनके पास थे और बिल्कुल अकेले भी थे, तो भी उनके चरण उन्हें नवीनतर लग रहे थे। यद्यपि लक्ष्मी जी स्वभाव से चंचल हैं, लेकिन वे भी भगवान् के

चरणों को नहीं छोड़ती थीं। तो भला जो स्त्री एक बार उन चरणों की शरण में जा चुकी हो, वह उनसे किस प्रकार विलग की जा सकती है ?

तात्पर्य : बद्धजीव लक्ष्मीजी की कृपा के सदैव भूखे रहते हैं, यद्यपि स्वभाव से लक्ष्मीजी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती रहती हैं। भौतिक जगत में कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, वह स्थायी रूप से भाग्यशाली नहीं होता। संसार के विभिन्न भागों में न जाने कितने विशाल साम्राज्य हुए हैं, संसार में न जाने कितने शक्तिशाली राजा हुए हैं और न जाने कितने भाग्यशाली पुरुष हो चुके हैं, लेकिन क्रमशः उन सबका क्षय हुआ है। यही प्रकृति का नियम है, लेकिन आध्यात्मिकता में स्थिति भिन्न होती है। *ब्रह्म-संहिता* के अनुसार, भगवान् की सेवा में सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ अत्यन्त विनम्रतापूर्वक लगी रहती हैं। वे भगवान् के साथ सदैव एकान्त में होती हैं। तो भी भगवान् का सान्निध्य नित-नित इतना नवीन लगता है कि वे क्षण भर के लिए भी, भगवान् को नहीं छोड़ पाती हैं, यद्यपि वे स्वभाव से चंचल हैं और इधर-उधर विचरण करती रहती हैं। भगवान् के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध इतना जीवन्त होता है कि एक बार उनकी शरण में आ जाने पर भगवान् का संग नहीं छोड़ा जा सकता।

सारे जीव स्वभाव से स्त्रैण हैं। पुरुष या भोक्ता तो भगवान् हैं और उनकी विभिन्न शक्तियों की सारी अभिव्यक्तियाँ भी स्त्रैण हैं। *भगवद्गीता* में जीवों को *परा-प्रकृति* अर्थात् उच्चतर शक्ति की उपाधि से दी गई है। भौतिक तत्त्व *अपरा-प्रकृति* या निकृष्ट शक्ति हैं। ऐसी शक्तियाँ भोक्ता की तुष्टि के लिए व्यवहार में लाई जाती हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है, परम भोक्ता तो स्वयं भगवान् हैं। अतएव जब शक्तियों को सीधे भगवान् की सेवा में लगाया जाता है, तो उन्हें असली रूप प्राप्त होता है और तब शक्ति तथा शक्तिमान में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

सामान्यतया किसी नौकरी में लगे लोग, सदैव राज्य या सरकार के परम भोक्ता के अधीन कोई पद चाहते हैं। चूँकि भगवान् इस ब्रह्माण्ड के भीतर या बाहर की प्रत्येक वस्तु के परम भोक्ता हैं, अतएव उनकी सेवा में लगना हर्ष का विषय है। एक बार भगवान् की परम सरकारी सेवा में लग जाने पर कोई भी जीव कभी उससे मुक्त होना नहीं चाहता। मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सिद्धि भगवान् की परम सेवा में कोई कार्य प्राप्त करना है। इससे मनुष्य परम सुखी बनता है। तब उसे भगवान् से सम्बन्ध बनाए बिना चंचला लक्ष्मी को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मना-
 मक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम् ।
 विधाय वैरं श्वसनो यथानलं
 मिथो वधेनोपरतो निरायुधः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; नृपाणाम्—राजाओं या प्रशासकों के; क्षिति-भार—पृथ्वी का बोझ; जन्मनाम्—इस प्रकार से उत्पन्न;
 अक्षौहिणीभिः—घोड़ों, हाथियों, रथों तथा पैदल सेना शक्ति के द्वारा शक्ति-सम्पन्न; परिवृत्त—ऐसे परिवेश से गर्वित;
 तेजसाम्—पराक्रम; विधाय—उत्पन्न करके; वैरम्—शत्रुता; श्वसनः—बाँसों के पौधों तथा वायु के घर्षण से; यथा—जिस
 प्रकार; अनलम्—अग्नि; मिथः—एक दूसरे के साथ; वधेन—मारने से; उपरतः—छूटकर; निरायुधः—युद्ध में किसी का पक्ष न
 करने से।

पृथ्वी पर भार-स्वरूप राजाओं को मारने के बाद, भगवान् को राहत हुई। वे अपनी सैन्य-
 शक्ति, अपने घोड़ों, हाथियों, रथों, पैदल सेना के बल पर गर्वित थे। युद्ध में भगवान् किसी दल
 में सम्मिलित नहीं हुए। उन्होंने बलशाली प्रशासकों में शत्रुता उत्पन्न की और वे आपस में लड़
 गये। वे उस वायु के समान थे, जो बाँसों में घर्षण उत्पन्न करके आग लगा देती है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जीव उन वस्तुओं का वास्तविक भोक्ता नहीं होता, जो
 भगवान् की सृष्टि के रूप में प्रकट होती हैं। भगवान् अपनी सृष्टि में प्रकट की गई प्रत्येक वस्तु के
 असली स्वामी तथा भोक्ता हैं। दुर्भाग्यवश, माया के वश में आकर, जीव प्रकृति के गुणों के
 आदेशानुसार मिथ्या भोक्ता बन जाता है। ईश्वर बनने की ऐसी मिथ्या भावना से गर्वित होकर मोहित
 जीव अनेकानेक कार्यों के द्वारा अपनी भौतिक शक्ति बढ़ाता है और इस तरह पृथ्वी का बोझ बन जाता
 है और यहाँ तक कि पृथ्वी भलेमानस के लिए रहने योग्य नहीं रह जाती। यह अवस्था धर्मस्य ग्लानि
 अर्थात् मानव शक्ति का दुरुपयोग कहलाती है। जब इस प्रकार धर्म की ग्लानि प्रकट होने लगती है, तो
 धर्मात्मा लोग, धरती के लिए भार-स्वरूप भ्रष्ट प्रशासकों द्वारा उत्पन्न विषम परिस्थिति में व्यग्र हो उठते
 हैं और तब धर्मात्मा लोगों की रक्षा करने तथा संसार विभिन्न भागों के ऐसे प्रशासकों के भार को कम
 करने के लिए भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतरित होते हैं। वे इन अवांछित प्रशासकों पर दया
 नहीं दिखाते, अपितु अपनी शक्ति से वे उनके बीच शत्रुता उत्पन्न कर देते हैं, ठीक उसी तरह जिस
 प्रकार वायु बाँसों की रगड़ से जंगल में अग्नि उत्पन्न कर देती है। यह अग्नि जंगल में स्वतः वायु के

प्रकोप से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार राजनेताओं के विभिन्न समूहों में शत्रुता का प्रादुर्भाव भगवान् की अदृश्य योजना से होता है। ये अवांछित प्रशासक झूठी शक्ति तथा सैन्य-बल से गर्वित होकर, आदर्शवादी संघर्षों के लिए परस्पर युद्ध करने लगते हैं और अपनी सारी शक्ति का क्षय कर लेते हैं। विश्व का इतिहास भगवान् की इस इच्छाशक्ति को दर्शाता है और यह तब तक चलती रहेगी, जब तक सारे जीव भगवान् की सेवा में अनुरक्त नहीं हो जाते। *भगवद्गीता* (७.१४) में यह तथ्य अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है, जिसमें कहा गया है, “माया मेरी शक्ति है इसलिए आश्रित जीवों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे भौतिक गुणों की शक्ति का अतिक्रमण कर सकें। किन्तु जो लोग मेरी (भगवान् श्रीकृष्ण की) शरण ग्रहण करते हैं, वे इस भौतिक शक्ति विशाल सागर को पार कर सकते हैं।” इसका अर्थ यह हुआ कि सकाम कर्म द्वारा या चिन्तन या आदर्शवाद द्वारा शान्ति तथा सम्पन्नता नहीं लाई जा सकती। इसका एकमात्र उपाय है परमेश्वर की शरण ग्रहण करना और माया के मोह से मुक्त हो लेना।

दुर्भाग्यवश जो लोग विध्वंसक कार्य में लगे हैं, वे भगवान् की शरण ग्रहण करने में अक्षम हैं। वे अव्वल दर्जे के मूर्ख हैं; वे मनुष्य योनि के निम्नतम स्तर पर गिरे हुए हैं; उनका सारा ज्ञान हर लिया गया होता है, यद्यपि बाहरी तौर पर शैक्षिक दृष्टि से वे पढ़े-लिखे लगते हैं। वे सारे आसुरी वृत्ति के होते हैं और सदैव ही भगवान् की परम शक्ति को ललकारते रहते हैं। जो अत्यधिक भौतिकतावादी हैं और भौतिक शक्ति एवं सत्ता के लिए लालायित रहते हैं, वे निस्सन्देह पहले दर्जे के मूर्ख हैं, क्योंकि उन्हें जीवंत शक्ति का कोई ज्ञान नहीं होता। वे सर्वोपरि अध्यात्म ज्ञान से अनजान होने के कारण भौतिक विज्ञान में मस्त रहते हैं, जिसका समापन शरीर के अन्त के साथ हो जाता है। वे निपट अधम मनुष्य होते हैं, क्योंकि मनुष्य जीवन तो विशेष रूप से भगवान् के साथ विस्मृत सम्बन्ध को पुनःस्थापित करने के निमित्त मिला है, किन्तु वे भौतिक कार्यकलापों में लगे रहने के कारण इस अवसर को खो देते हैं। उनकी बुद्धि मारी जाती है, क्योंकि दीर्घकालीन तर्क वितर्क के बाद भी वे उन भगवान् को नहीं जान पाते, जो प्रत्येक वस्तु के सार-सर्वस्व हैं। वे सारे के सारे आसुरी सिद्धान्त वाले होते हैं और वे उसी तरह अपने किये कर्मों का फल भोगते हैं, जिस तरह कि रावण, हिरण्यकशिपु, कंस तथा अन्य भौतिकतावादी शूरवीरों ने भोगा।

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।

रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वे (पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्); एषः—ये सब; नर-लोके—इस मनुष्य-लोक में; अस्मिन्—इस; अवतीर्णः—अवतार लेकर; स्व—निजी, अन्तः; मायया—अहैतुकी कृपा से; रेमे—भोग किया; स्त्री-रत्न—वह स्त्री, जो भगवान् की पत्नी बनने के लिए उपयुक्त है; कूटस्थः—मध्य में; भगवान्—भगवान्; प्राकृतः—संसारी; यथा—जिस प्रकार ।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अहैतुकी कृपा से अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा इस लोक में प्रकट हुए और सुयोग्य स्त्रियों के साथ इस तरह भोग किया, मानो वे संसारी कार्यों में लगे हुए हों।

तात्पर्य : भगवान् ने विवाह किया और गृहस्थ की भाँति रहे। यह निश्चय ही संसारी कार्य जैसा है, किन्तु जब हम यह जान लेते हैं कि उन्होंने १६,१०८ पत्नियों से विवाह किया और वे उन सबों के साथ पृथक्-पृथक् महलों में रहते थे, तो यह निश्चित रूप से सांसारिकता नहीं रह जाती। अतएव भगवान् का अपनी सुयोग्य पत्नियों के साथ गृहस्थ के रूप में रहना कभी भी संसारी नहीं हैं और उन सबके साथ उनका व्यवहार कोई संसारी यौन-सम्बन्ध नहीं समझा जाना चाहिए। जो स्त्रियाँ उनकी पत्नी बनी थीं, वे भी सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं, क्योंकि भगवान् को पति-रूप में प्राप्त करना कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या का परिणाम ही हो सकता है। जब भगवान् विभिन्न लोकों में या इस मनुष्यलोक में प्रकट होते हैं, तो वे बद्धजीवों को दिव्य लोक में अपना नित्य दास, मित्र, जननी, जनक तथा प्रियतम बनाने हेतु आकर्षित करने के लिए ही अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जहाँ भगवान् नित्य सेवा-विनिमय का प्रतिदान करते हैं। इस भौतिक जगत् में यह सेवा विकृत रूप में दिखती है और असमय ही छिन्न हो जाती है, जिससे बहुत ही कटु अनुभव होता है। मोहग्रस्त जीव, प्रकृति के द्वारा बद्ध होकर, अज्ञान के कारण समझ नहीं पाता कि हमारे यहाँ के सारे संसारी सम्बन्ध क्षणिक हैं और उन्माद से भरे हैं। ऐसे सम्बन्ध हमें निरन्तर सुखी नहीं रख सकते, किन्तु यदि यही सम्बन्ध भगवान् के साथ स्थापित किये जायें, तो हम इस भौतिक शरीर को त्यागने पर वैकुण्ठ चले जाते हैं और उनके साथ इच्छित शाश्वत सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अतएव जिन स्त्रियों के बीच में वे पति-रूप में रह रहे थे, वे इस भौतिक जगत् की स्त्रियाँ न होकर उनकी दिव्य पत्नियाँ थीं और वे भक्तिमय सेवा की पूर्णता के द्वारा दिव्य पद प्राप्त कर चुकी थीं। यही उनकी योग्यता थी। भगवान्

परब्रह्म अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं। बद्धजीव सर्वत्र ही शाश्वत सुख की खोज करते रहते हैं—न केवल इस धरा में, अपितु ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों में भी—क्योंकि वैधानिक रूप से आध्यात्मिक स्फुलिंग होने के कारण, जीव ईश्वर की सृष्टि के कोने-कोने में विचरण कर सकता है। लेकिन भौतिक गुणों के द्वारा बद्ध होने से वह अन्तरिक्षयानों द्वारा आकाश में विचरण करना चाहता है और अपने गन्तव्य तक पहुँच पाने में असफल रहता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम उसके लिए कैदी की जंजीरों के समान बाँधनेवाला है। वह अन्य विधियों से कहीं भी पहुँच सकता है, लेकिन चाहे वह सर्वोच्च लोक तक क्यों न पहुँच जाय, किन्तु उसे वह शाश्वत सुख नहीं मिल सकता, जिसकी खोज वह जन्म-जन्मांतर से करता रहता है। किन्तु जब वह होश सँभालता है, तो ब्रह्म-सुख की खोज यह जानते हुए करता है कि वह जिस असीम सुख की खोज कर रहा है, वह इस भौतिक जगत में कभी भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। अतएव, सर्वोपरि व्यक्ति, परब्रह्म कभी भौतिक जगत में इस सुख की खोज नहीं करते। न ही उनकी सुख-सामग्री इस भौतिक जगत में मिल सकती है। वे निराकार नहीं हैं। चूँकि वे नायक हैं और असंख्य जीवों में सर्वोपरि व्यक्ति हैं, अतएव वे निराकार नहीं हो सकते। वे हमारी ही तरह हैं और उनमें समस्त व्यक्तिगत जीवों की सी प्रवृत्ति पूर्ण रूप में पायी जाती है। वे हमारी ही तरह विवाह करते हैं, किन्तु उनका विवाह न तो संसारी है, न हमारा बद्ध अवस्था के अनुभव से सीमित है। अतएव उनकी पत्नियाँ संसारी लगती तो हैं, किन्तु वास्तव में वे सब दिव्य मुक्तात्माएँ हैं, जो अन्तरंगा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं।

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-

व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।

सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता

यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

उद्दाम—अत्यन्त गम्भीर; भाव—भाव; पिशुन—उत्तेजक; अमल—निष्कलंक; वल्गु-हास—सुन्दर मुसकान; व्रीड—आँख की कोर; अवलोक—देखना, चितवन; निहतः—जीता गया; मदनः—कामदेव (या अमदन; अपि—; यासाम्—; सम्मुह्य—; चापम्—; अजहात्—; प्रमद—; उत्तमाः—; ता—; यस्य—; इन्द्रियम्—; विमथितुम्—; कुहकैः—; न—; शेकुः—.

उद्दाम—अत्यन्त गम्भीर; भाव—भाव; पिशुन—उत्तेजक; अमल—निष्कलंक; वल्गु—हास—सुन्दर मुसकान; व्रीडा—आँख की कोर; अवलोक—देखना, चितवन; निहतः—जीता गया; मदनः—कामदेव (या अमदन—सहिष्णु शिव); अपि—भी; यासाम्—जिसका; सम्मुह्य—से विजित होकर; चापम्—धनुष; अजहात्—त्याग दिया; प्रमद—मादक बनानेवाली स्त्री; उत्तमाः—उच्च कोटि की; ता—वे सब; यस्य—जिसकी; इन्द्रियम्—इन्द्रियों को; विमथितुम्—विचलित करने के लिए; कुहकैः—हावभाव द्वारा; न—कभी नहीं; शेकुः—समर्थ।

यद्यपि रानियों की मृदु मुस्कानें तथा बाँकी चितवनें अत्यन्त विमल तथा उत्तेजक थीं, जिससे साक्षात् कामदेव भी मोहित होकर अपना धनुष त्यागने के लिए बाध्य हो सकते थे, यहाँ तक कि अत्यन्त सहिष्णु शिवजी भी उनके शिकार हो सकते थे, तो भी, वे अपने समस्त हाव-भाव तथा आकर्षण से भगवान् की इन्द्रियों को विचलित नहीं कर सकीं।

तात्पर्य : मोक्ष का पथ या भगवद्धाम वापस जाने का पथ सदैव स्त्री-संसर्ग का निषेध करता है और सारा सनातन धर्म या वर्णाश्रम-धर्म की सारी व्यवस्था स्त्री की संगति के लिए मना करते हैं या प्रतिबन्धित करते हैं। तो फिर जो व्यक्ति सोलह हजार से अधिक पत्नियों से अनुरक्त हो, उसे भगवान् कैसे मान लिया जाय? यह प्रश्न उन जिज्ञासुओं द्वारा उठाया जा सकता है, जो वास्तव में परमेश्वर की दिव्य प्रकृति को जानने के लिए उत्सुक हैं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही नैमिषारण्य में मुनियों ने इस श्लोक में तथा अगले श्लोकों में भगवान् के दिव्य स्वभाव के विषय में विचार-विमर्श किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि स्त्रियों के आकर्षक हाव-भाव, जो कामदेव को या परम सहिष्णु पुरुष शिवजी को भी डिगा सकते हैं, वे भगवान् की इन्द्रियों को नहीं जीत सके। कामदेव का एकमात्र कार्य है संसारी काम-वासना को उद्दीपित करना। सारा ब्रह्माण्ड कामदेव के बाण से विचलित होकर गति कर रहा है। विश्व के सारे कार्य-कलाप, स्त्री तथा पुरुष के केन्द्रीय आकर्षण के कारण गतिशील हैं। पुरुष अपनी रुचि की सहचरी खोजता रहता है और स्त्री उपयुक्त पुरुष की तलाश में रहती है। भौतिक उत्तेजना की यही शैली है। और ज्योंही पुरुष का संयोग स्त्री से हो जाता है, त्योंही यौन-सम्बन्ध के द्वारा जीव दृढ़ भौतिक बन्धन में बँध जाता है। परिणाम यह होता है कि घर, मातृभूमि, सन्तान, समाज तथा मैत्री एवं सम्पत्ति-संग्रह के प्रति नर-नारी का आकर्षण उसके सम्भ्रान्त कार्यक्षेत्र बन जाते हैं और इस तरह नाशवान संसार के प्रति मिथ्या किन्तु अनथक आकर्षण प्रकट होता है। अतः जो लोग अपने घर अर्थात् भगवद्धाम वापस जाने के लिए मोक्षपथ पर अग्रसर हैं, विशेषकर उनके लिए शास्त्रों का आदेश है कि वे इस प्रकार के भौतिक आकर्षण के साज-समानों से बचे रहें। और ऐसा तभी सम्भव है, जब भगवद्भक्तों अर्थात् महात्माओं की संगति की जाय। कामदेव जीवों पर अपना बाण चलाकर उन्हें

विपरीत लिंग के पीछे पागल बनाता है, चाहे वह सुन्दर हो या न हो। कामदेव का प्रभाव उस बर्बर समाज में भी देखा जाता है, जो सभ्य राष्ट्रों की निगाहों में कुरूप हैं। इस तरह कामदेव का प्रभाव कुरूप से कुरूप रूपों में देखा जाता है, तो परम सुन्दरियों के लिए क्या कहा जाय? शिवजी भी, जिन्हें परम सहिष्णु समझा जाता है, कामदेव के बाण द्वारा आहत हुए, क्योंकि वे भगवान् के मोहनी अवतार के पीछे दीवाने हो गये थे और उन्होंने अपनी हार स्वीकार की थी। तो भी वही कामदेव लक्ष्मी के हाव-भाव तथा कटाक्षों से विमोहित हो गया और हताश स्थिति में उसने अपने धनुष-बाण को खुद ही त्याग दिया था। भगवान् कृष्ण की रानियों की सुन्दरता और उनका आकर्षण ऐसा था। फिर भी वे भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को विचलित नहीं कर पाईं। इसका कारण यही है कि भगवान् पूर्ण आत्माराम हैं अर्थात् स्वयं-संतुष्ट हैं। उन्हें आत्मतुष्टि के लिए किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये रानियाँ अपने स्त्रियोचित आकर्षण के द्वारा भगवान् को तुष्ट न होते देख, अपने एकनिष्ठ स्नेह तथा सेवा से उन्हें तुष्ट कर सकीं। वे मात्र अनन्य दिव्य प्रेमाभक्ति से ही भगवान् को प्रसन्न कर सकीं और भगवान् ने भी बदले में पत्नियों के रूप में उनके साथ व्यवहार किया। भगवान् ने केवल उनकी अनन्य सेवा से प्रसन्न होकर, पत्नीव्रत पति की भाँति उन्हें प्रतिदान किया। अन्यथा उन्हें इतनी सारी पत्नियों का पति बनने की क्या आवश्यकता थी? वे हर एक के स्वामी (पति) हैं, किन्तु जो उन्हें इस रूप में मानता है, वे उसके साथ वैसा ही प्रतिदान करते हैं। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम की तुलना कभी संसारी कामवासना से नहीं की जानी चाहिए। यह नितान्त दिव्य है। रानियाँ भी जिस स्वाभाविक स्त्रियोचित ढंग से व्यवहार कर रही थीं, वह भी दिव्य था, क्योंकि वे अपने भावों को दिव्य आनन्दवश ही प्रकट कर रही थीं। पिछले श्लोक में यह बताया जा चुका है कि भगवान् एक संसारी पति जैसे प्रतीत हो रहे थे, लेकिन वास्तव में अपनी पत्नियों के साथ उनका यह सम्बन्ध दिव्य, शुद्ध तथा भौतिक प्रकृति के गुणों से मुक्त था।

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् ।

आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तम्—भगवान् कृष्ण को; अयम्—ये सब (सामान्य लोग); मन्यते—मन में सोचते हैं; लोकः—बद्धजीव; हि—निश्चय ही; असङ्गम्—अनासक्त; अपि—के होते हुए; सङ्गिनम्—प्रभावित; आत्म—स्वयं; औपम्येन—अपने साथ तुलना करके; मनुजम्—सामान्य मनुष्य; व्यापृण्वानम्—लगे रहकर; यतः—क्योंकि; अबुधः—अज्ञान के कारण मूर्ख ।

सामान्य भौतिकतावादी बद्धजीव सोचते रहते हैं कि भगवान् उन्हीं में से एक हैं। अपने अज्ञान के कारण वे सोचते हैं कि पदार्थ का भगवान् पर प्रभाव पड़ता है, भले ही वे अनासक्त रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अबुधः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। केवल अज्ञानवश, मूर्ख संसारी विवादक परमेश्वर को गलत समझते हैं और अबोध लोगों में प्रचार करके अपने मूर्खतापूर्ण विचारों को फैलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं और जब वे साक्षात् सबों के समक्ष विद्यमान थे, तब उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी पूर्ण दिव्य शक्ति का प्रदर्शन किया था। जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कर चुके हैं, भगवान् अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं, किन्तु उनके सारे कार्य शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण होते हैं। केवल मूर्ख भौतिकतावादी उनके ज्ञान तथा आनन्द से परिपूर्ण शाश्वत रूप को न जानते हुए उन्हें गलत तरीके से समझते हैं, यद्यपि इसकी पुष्टि भगवद्गीता एवं उपनिषदों में हुई है। उनकी विविध शक्तियाँ पूर्णतया प्राकृतिक क्रम के अनुसार कार्य करती हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों के माध्यम से सारे कार्य करते हुए वे निरन्तर परम स्वतंत्र रहते हैं। जब वे विभिन्न जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपा करके भौतिक संसार में अवतरित होते हैं, तब वे अपनी निजी शक्ति से ही ऐसा करते हैं। वे किसी तरह भी प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं होते और वे अपने मूल रूप में प्रकट होते हैं। मानसिक तर्कवादी उन्हें परम पुरुष के रूप में सही समझ नहीं पाते हैं और वे अव्यक्त ब्रह्मके निराकार पक्ष को ही सब कुछ मान लेते हैं। ऐसी धारणा बद्ध जीवन का ही परिणाम है, क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत क्षमता से आगे नहीं पहुँच पाते। अतएव जो भगवान् को अपनी सीमित शक्ति के स्तर पर समझता है, वह केवल सामान्य व्यक्ति होता है। ऐसे व्यक्ति को यह विश्वास कभी नहीं दिलाया जा सकता कि भगवान् प्रकृति के गुणों से किसी तरह प्रभावित नहीं होते। वह यह नहीं जान पाता कि सूर्य सदैव दूषित पदार्थ से अप्रभावित रहा करता है। मानसिक तर्कवादी सदैव अपने अनुभव के ज्ञान के आधार पर हर वस्तु को तोलते हैं। अतः जब भगवान् विवाह-बन्धन में सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते पाये जाते हैं, तो वे उन्हें अपने समान समझने लगते हैं और यह विचार नहीं करते कि भगवान् एकसाथ सोलह हजार या इससे भी अधिक पत्नियाँ से विवाह कर सकते हैं। अल्पज्ञान के कारण, वे चित्र के एक पक्ष को देखते हैं और दूसरे पक्ष

पर अविश्वास दिखाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अज्ञानवश ही वे कृष्ण को अपने समान मानते हैं और अपने निष्कर्ष निकालते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के मतानुसार निरर्थक तथा अप्रामाणिक होते हैं।

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।

न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ईशनम्—दिव्यता, भगवत्ता; ईशस्य—भगवान् की; प्रकृति-स्थः—प्रकृति के सम्पर्क में रहकर; अपि—भी; तद्-गुणैः—गुणों के द्वारा; न—कभी नहीं; युज्यते—प्रभावित होता है; सदा आत्म-स्थैः—शाश्वतता में स्थित रहनेवालों के द्वारा; यथा—जैसा है; बुद्धिः—बुद्धि; तत्—भगवान्; आश्रया—शरणागत।

यह तो भगवान् की अलौकिकता है कि वे भौतिक प्रकृति के गुणों के संसर्ग में रहते हुए भी उनसे प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, वे भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : वेदों तथा वैदिक ग्रंथों (श्रुति तथा स्मृति) में पुष्टि की गई है कि दिव्यता में लेशमात्र भौतिकता नहीं होती। भगवान् दिव्य (*निर्गुण*) ही होते हैं—परम ज्ञानमय होते हैं। हरि या भगवान् परम दिव्य पुरुष हैं, जो भौतिक प्रभाव की परिधि के बाहर स्थित होते हैं। इन तथ्यों की पुष्टि आचार्य शंकर द्वारा भी हुई है। कोई यह तर्क कर सकता है कि लक्ष्मीदेवी के साथ उनका सम्बन्ध दिव्य हो सकता है, लेकिन जिस यदुवंश में वे उत्पन्न हुए थे, उसके साथ या जरासंध तथा भौतिक गुणों से लिप्त रहने वाले अन्य असुरों के साथ, उनका ऐसा सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि किसी भी दशा में भगवान् की भगवत्ता (दिव्यता) कभी भी प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में नहीं आती। वस्तुतः वे ऐसे गुणों के सम्पर्क में इसलिए लगते हैं, क्योंकि वे ही हर वस्तु के परम उद्गम हैं। तो भी वे ऐसे गुणकर्मों से ऊपर रहते हैं। इसीलिए वे योगेश्वर कहलाते हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो वे सर्वशक्तिमान हैं। यहाँ तक कि उनके विद्वान भक्त भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। वृन्दावन के छः महान् गोस्वामी अत्यन्त सम्पन्न एवं राजसी परिवारों के थे, किन्तु जब वे वृन्दावन में सन्त जीवन बिताने लगे, तो भले ही ऊपरी तौर से उनकी दशा दारुण रही हो, किन्तु वास्तव में वे आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से सर्वाधिक सुसम्पन्न थे। ऐसे महाभागवत अर्थात् प्रथम कोटी के भक्त मनुष्यों के बीच विचरण करते हुए भी, प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न मान या अपमान, भूख या तृप्ति, निद्रा या जागरण

से कलुषित नहीं होते। इसी प्रकार उनमें से कुछ सांसारिक आचरण में रहकर भी उससे अप्रभावित बने रहते हैं। जब तक जीवन में ये उदासीनताएँ नहीं होतीं, तब तक कोई अध्यात्म में स्थित नहीं माना जाता। दिव्यता तथा भगवान् के पार्षद एक ही आध्यात्मिक धरातल पर रहते हैं और उनकी महिमा सदा ही योगमाया अर्थात् भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कर्म द्वारा पुनीत होती रहती है। भगवान् के भक्त सदैव दिव्य होते हैं, भले ही कभी-कभी उनके आचरण का पतन होता दिखता हो। भगवान् भगवद्गीता (९.३०) में बलपूर्वक घोषित करते हैं कि यदि पूर्व कल्मष के कारण कोई भक्त पतित हो भी जाय, तो भी उस भक्त को भगवद्भक्ति में पूर्ण रूप से प्रवृत्त रहने के कारण पूर्णतया दिव्य मानना चाहिए। भगवान् उसके द्वारा सेवा करते रहने के कारण उसकी सदैव रक्षा करते हैं, और उसकी पतित अवस्थाओं को आकस्मिक तथा क्षणिक मानना चाहिए। वे देखते ही देखते छूमन्तर हो जाएँगी।

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—श्रीकृष्ण को; मेनिरे—मान बैठते हैं; अबलाः—सुकुमार; मूढाः—सरलता के कारण; स्त्रैणम्—स्त्री के अधीन; च—भी; अनुव्रतम्—पालनकर्ता; रहः—एकान्त स्थान; अप्रमाण-विदः—महिमा से अनजान; भर्तुः—अपने पति की; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; मतयः—मत; यथा—जैसे।

वे सरल तथा सुकोमल स्त्रियाँ सचमुच ही सोच बैठीं कि उनके प्रिय पति, भगवान् श्रीकृष्ण, उनसे आकर्षित हैं और उनके वशीभूत हैं। वे अपने पति की महिमाओं से उसी तरह अनजान थीं, जिस प्रकार नास्तिक लोग परम नियन्ता के रूप में भगवान् से अनजान रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य पत्नियाँ तक भगवान् की अगाध महिमा को पूर्णतया जानती न थीं। यह अज्ञान सांसारिक नहीं है, क्योंकि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षदों के मध्य भावों के आदान-प्रदान में भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का कुछ न कुछ हाथ रहता है। भगवान् पाँच प्रकार से दिव्य सम्बन्धों अर्थात् ईश्वर, स्वामी, मित्र, पुत्र, प्रेमी भाव का आदान-प्रदान करते हैं और इन प्रत्येक लीलाओं में वे पूर्णतया अपनी अन्तरंगा शक्ति योगमाया द्वारा क्रीड़ा करते हैं। वे गोपों से या अर्जुन जैसे मित्रों के साथ समान स्तर के सखा की भाँति क्रीड़ा करते हैं। माता यशोदा के सामने वे सचमुच के पुत्र के रूप में क्रीड़ा करते हैं। गोपियों के समक्ष वे असली प्रेमी के रूप में और द्वारका की रानियों के

समक्ष साक्षात् पति-रूप में क्रीड़ा करते हैं। भगवान् के ऐसे भक्त कभी भी भगवान् को परमेश्वर के रूप में नहीं सोचते, अपितु सामान्य मित्र, प्रिय पुत्र, या प्रेमी या पति के रूप में सोचते हैं, जो हृदय और आत्मा को बहुत प्रिय हैं। भगवान् तथा उनके उन दिव्य भक्तों के मध्य यही सम्बन्ध होता है, जो चिन्मय आकाश में भगवान् के पार्षद के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ अनेक वैकुण्ठ लोक स्थित हैं। जब भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे दिव्य जगत की पूरी तस्वीर दिखाने के लिए अपने पार्षदों सहित अवतरित होते हैं, जहाँ भगवान् की सृष्टि के ऊपर किसी प्रकार का प्रभुत्व जताने का कोई नाम भी नहीं लेता और जहाँ भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम तथा भक्ति का ही प्राधान्य रहता है। ऐसे भगवद्-भक्त मुक्तात्मा होते हैं। वे बहिरंगा शक्ति के प्रभाव का निषेध करनेवाली तटस्था या अन्तरंगा शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति होते हैं। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति ने भगवान् कृष्ण की पत्नियों को भगवान् की अगाध महिमाओं को भुलवा दिया, जिससे आदान-प्रदान में कोई त्रुटि न रह जाये और वे यह मान बैठीं कि भगवान् उनके वश में रहनेवाले पति तथा सदैव एकान्त स्थान में उनके पीछे-पीछे जाने वाले पति हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के निजी पार्षद तक भगवान् को भलीभाँति नहीं जान पाते, अतएव शोधार्थी लेखक अथवा मानसिक तर्कबाज भगवान् की दिव्य महिमाओं के विषय में भला क्या जान सकेंगे? मानसिक तर्कबाज विभिन्न मतों के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं—कि वे सृष्टि के कारण हैं, सृष्टि के अवयव-स्वरूप हैं या सृष्टि के भौतिक तथा सक्षम कारण हैं—किन्तु यह तो भगवान्-विषयक केवल अधूरा ज्ञान है। वास्तव में वे सामान्य मनुष्य की ही तरह अनजान रहते हैं। भगवान् को केवल भगवान् की कृपा से ही जाना जा सकता है, अन्य किसी साधन से नहीं। चूँकि अपनी पत्नियों के साथ भगवान् के सारे आचरण शुद्ध दिव्य प्रेम तथा भक्ति पर आधारित हैं, अतएव सारी पत्नियाँ किसी भौतिक कल्मषरहित दिव्य पद पर आसीन हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “भगवान् कृष्ण का द्वारका में प्रवेश” नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

सम्राट परीक्षित का जन्म

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा ।

उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक मुनि ने कहा; अश्वत्थाम्न—अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) के; उपसृष्टेन—छोड़े जाने से; ब्रह्म-शीर्ष्णा—अजेय अस्त्र, ब्रह्मास्त्र; उरु-तेजसा—उच्च ताप से; उत्तरायाः—उत्तरा (परीक्षित की माता) का; हतः—नष्ट; गर्भः—गर्भ; ईशेन—परमेश्वर द्वारा; आजीवितः—जीवित कर दिया गया; पुनः—फिर से ।

शौनक मुनि ने कहा : महाराज परीक्षित की माता उत्तरा का गर्भ अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये अत्यन्त भयंकर तथा अजेय ब्रह्मास्त्र द्वारा विनष्ट कर दिया गया, लेकिन परमेश्वर ने महाराज परीक्षित को बचा लिया ।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के वन में एकत्रित हुए ऋषियों ने सूत गोस्वामी से महाराज परीक्षित के जन्म के विषय में प्रश्न किया, लेकिन इस वार्ता के बीच अन्य विषयों की चर्चा की गई, जैसे कि, द्रोणपुत्र द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र, अर्जुन द्वारा उसे दण्ड, रानी कुन्तीदेवी की प्रार्थना, पाण्डवों द्वारा भीष्मदेव के पास जाना, उनकी प्रार्थनाएँ, तत्पश्चात् द्वारका के लिए भगवान् का प्रस्थान इत्यादि । फिर कृष्ण का द्वारका आना तथा सोलह हजार रानीयों के साथ निवास करने इत्यादि की भी चर्चा की गई । सारे ऋषि-मुनि इन विवरणों के सुनने में लीन थे, किन्तु अब वे अपने मूल विषय पर लौटना चाह रहे थे, अतएव शौनक ऋषि ने इस तरह की जिज्ञासा की । इस तरह अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र की चर्चा फिर से आ गई ।

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः ।

निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (महाराज परीक्षित का); जन्म—जन्म; महा-बुद्धेः—अत्यन्त बुद्धिमान का; कर्माणि—कार्यकलाप; च—भी; महा-आत्मनः—महान्; निधनम्—मृत्यु; च—तथा; यथा—जिस प्रकार; एव—निस्सन्देह; आसीत्—हुआ; सः—वह; प्रेत्य—मृत्यु के पश्चात् गन्तव्य; गतवान्—प्राप्त किया; यथा—जिस तरह ।

अत्यन्त बुद्धिमान तथा महान् भक्त महाराज परीक्षित उस गर्भ से कैसे उत्पन्न हुए? उनकी मृत्यु किस तरह हुई? और मृत्यु के बाद उन्होंने कौन सी गति प्राप्त की?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के पुत्र के जीवन-काल तक, हस्तिनापुर (अब दिल्ली) का राजा सारे विश्व का सम्राट होता था। महाराज परीक्षित की रक्षा उनकी माता के गर्भ में भगवान् द्वारा की जा चुकी थी। अतएव वे एक ब्राह्मण-पुत्र के शाप से अकाल-मृत्यु से वे निश्चित ही बचाये जा सकते थे। चूँकि महाराज परीक्षित द्वारा राज्य सँभालने के बाद ही कलियुग ने अपना कार्य करना शुरू कर दिया था, अतएव इसका जो पहला कुलक्षण प्रकट हुआ, वह था इतने बुद्धिमान तथा भक्त राजा, महाराज परीक्षित, का शापित होना। राजा तो असहाय नागरिकों का रक्षक होता है और उन सबका कल्याण, शान्ति तथा सम्पन्नता उसी पर निर्भर रहती है। दुर्भाग्यवश, पतित कलियुग के बहकावे में आकर, एक अभागे ब्राह्मण-पुत्र द्वारा निर्दोष महाराज परीक्षित को लांछित कराया गया और इस तरह राजा को सात दिनों में अपनी मृत्यु के लिए तैयार होना था। महाराज परीक्षित, विष्णु द्वारा रक्षा किये जाने के लिए, विशेष रूप से विख्यात हैं। अतएव जब एक ब्राह्मण-पुत्र ने उन्हें वृथा ही शाप दे डाला, तब भी यदि वे चाहते तो अपनी रक्षा के लिए भगवान् की कृपा का आवाहन कर सकते थे, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने ऐसा नहीं करना चाहा। शुद्ध भक्त कभी भी भगवान् से अनावश्यक कृपा-याचना नहीं करता। महाराज परीक्षित को ज्ञात था और अन्य लोगों को भी पता था कि ब्राह्मण-पुत्र द्वारा दिया शाप अवैध है, किन्तु वे उसका प्रतिकार करना नहीं चाहते थे, क्योंकि वे यह भी जानते थे कि कलियुग का शुभारम्भ हो चुका है और इस युग का पहला लक्षण भी, अत्यन्त प्रतिभावान ब्राह्मण जाति के पतन के साथ प्रकट हो चुका है। वे काल-प्रवाह के मार्ग में बाधक बनना नहीं चाह रहे थे, अपितु वे खुशी-खुशी और उचित ढंग से मृत्यु-वरण करने के लिए तैयार थे। वे भाग्यशाली थे कि मृत्यु के लिए तैयारी करने के लिए उन्हें कम से कम सात दिन का समय मिला था। अतएव उन्होंने इस समय का सदुपयोग परम सन्त तथा भगवद्भक्त शुकदेव गोस्वामी के सान्निध्य में किया।

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे ।

ब्रूहि नः श्रद्धानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—सारा; इदम्—यह; श्रोतुम्—सुनने को; इच्छामः—सभी इच्छा कर रहे हैं; गदितुम्—वर्णन करने को; यदि—यदि; मन्यसे—आप सोचते हों; ब्रूहि—कृपा करके कहें; नः—हमसे; श्रद्धधानानाम्—श्रद्धालुओं को; यस्य—जिसका; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; अदात्—प्रदान किया; शुकः—श्री शुकदेव गोस्वामी ने।

हम सभी अत्यन्त आदरपूर्वक उनके (महाराज परीक्षित के) विषय में सुनना चाहते हैं, जिन्हें शुकदेव गोस्वामी ने दिव्य ज्ञान प्रदान किया। कृपया हमें इस विषय में बताएँ।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को उनके जीवन के अन्तिम सात दिनों में दिव्य ज्ञान प्रदान किया, जिसे महाराज ने श्रद्धालु शिष्य की भाँति ठीक से सुना। *श्रीमद्भागवत* के इस प्रकार के प्रामाणिक श्रवण तथा कीर्तन का प्रभाव श्रोता तथा वक्ता पर समान रूप से पड़ता है। इससे दोनों लाभान्वित हुए थे। *भागवत* में भक्ति के जिन नौ विभिन्न दिव्य साधनों का वर्णन हुआ है, यदि उनमें से सभी या कुछ का या किसी एक का भी ठीक से पालन हो, तो वे समान रूप से लाभप्रद होते हैं। महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी, दोनों ही प्रथम दो साधनों अर्थात् श्रवण तथा कीर्तन के साधक थे। अतएव दोनों ही अपने प्रशंसनीय प्रयास में सफल रहे। दिव्य अनुभूति ऐसे ही गम्भीर श्रवण तथा कीर्तन से होती है, अन्यथा नहीं। इस कलियुग में गुरु तथा शिष्य सम्बन्धी एक विशेष प्रकार का विज्ञापन हो रहा है। कहा जाता है कि गुरु द्वारा उत्पन्न विद्युत्-धारा के द्वारा, शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति प्रविष्ट की जाती है, जिससे शिष्य को उसका आघात अनुभव होता है। इससे वह अचेत हो जाता है और गुरु तथाकथित आध्यात्मिक निधि के क्षीण हो जाने पर रोता है। इस युग में इस तरह का झूठा विज्ञापन चल रहा है और निरीह जनता ऐसे विज्ञापन का शिकार बन रही है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी तथा उनके महान् शिष्य महाराज परीक्षित के आचरण के विषय में हमें ऐसी लोक-कथाएँ प्राप्त नहीं होतीं। मुनि ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक *श्रीमद्भागवत* सुनाई थी और राजा ने उसे अत्यन्त नियमपूर्वक सुना था। राजा ने न तो अपने गुरु से किसी प्रकार की विद्युत्-धारा के आघात का अनुभव किया था, न ही अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त करते समय वे अचेत हुए थे। अतएव लोगों को चाहिए कि वे वैदिक ज्ञान के इन निठल्ले प्रतिनिधियों द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के अप्रामाणिक विज्ञापनों के बहकावे में न आएँ। नैमिषारण्य के ऋषि-मुनि महाराज परीक्षित के विषय में अत्यन्त आदरपूर्वक श्रवण कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने गम्भीर श्रवण द्वारा शुकदेव गोस्वामी से ज्ञान प्राप्त किया था। दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन यह है कि उसे प्रामाणिक गुरु से गम्भीर श्रवण द्वारा ग्रहण किय जाय। उसके लिए आश्चर्यजनक

प्रभावों को उत्पन्न करने हेतु न तो किसी चिकित्सीय करतब की, न ही योग के चमत्कार की आवश्यकता है। यह विधि सरल है, लेकिन एकनिष्ठ होने पर ही मनोवांछित फल मिल सकता है।

सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद् रञ्जयन् प्रजाः ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादानुसेवया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; अपीपलत्—शासित सम्पन्नता; धर्म-राजः—राजा युधिष्ठिर ने; पितृ-वत्—अपने पिता के समान; रञ्जयन्—प्रसन्न करते हुए; प्रजाः—जन्म ग्रहण करने वालों को; निःस्पृहः—बिना किसी व्यक्तिगत आकांक्षा के; सर्व—समस्त; कामेभ्यः—इन्द्रियतृप्ति से; कृष्ण-पाद—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; अनुसेवया—निरन्तर सेवा करते रहने से।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : सम्राट युधिष्ठिर ने अपने राज्य-काल में सबों के ऊपर उदारतापूर्वक शासन चलाया। वे उनके पिता तुल्य ही थे। उन्हें कोई व्यक्तिगत आकांक्षा न थी और भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की निरन्तर सेवा करते रहने के कारण, वे सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से विरक्त थे।

तात्पर्य : जैसाकि हमने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है, “संसार के समस्त कष्ट सह रहे जनसमुदाय के लिए मानव समाज में कृष्ण के विज्ञान की आवश्यकता है और समस्त राष्ट्रों के प्रमुख महापुरुषों से हमारी एक ही विनती है कि वे अपने कल्याण हेतु, समाज के कल्याण हेतु तथा विश्व भर के लोगों के कल्याण हेतु, कृष्णातत्त्व को ग्रहण करें।” यहाँ पर सत्य की प्रतिमूर्ति, महाराज युधिष्ठिर के उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। भारत में लोग *रामराज्य* की लालसा करते हैं, क्योंकि भगवान् राम आदर्श राजा थे और भारत के सारे राजा या सम्राट, पृथ्वी पर जन्म लेनेवाले प्रत्येक प्राणी की सम्पन्नता के लिए विश्व के भाग्य का नियमन करते थे। यहाँ पर *प्रजा* शब्द महत्वपूर्ण है। इसका व्युत्पत्तिपरक आशय है, “जिसने जन्म लिया है वह।” पृथ्वी पर जीवों की अनेक योनियाँ हैं—जलचर से लेकर पूर्ण मनुष्यों तक और वे सभी *प्रजा* कहलाती हैं। इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी प्रजापति कहलाते हैं, क्योंकि जिन लोगों ने जन्म लिया है, उन सबके वे पितामह हैं। इस प्रकार *प्रजा* शब्द जिस अर्थ में आजकल प्रयुक्त होता है, वह उससे अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा सभी जीवों—जलचर, पौधे, वृक्ष, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है। इनमें से हर एक प्राणी

परमेश्वर का अंश है (*भगवद्गीता* १४.४) और भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा सबों को उचित सुरक्षा प्रदान करने के लिए वचनबद्ध होता है। किन्तु आज की चरित्रविहीन प्रशासन पद्धतियों के राष्ट्रपति तथा तानाशाहों के साथ ऐसा नहीं है, जहाँ निम्न पशुओं को कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती, जबकि उच्चतर पशुओं को तथाकथित सुरक्षा प्रदान प्राप्त रहती है। लेकिन यह एक महान् विज्ञान है, जिसे कृष्णतत्त्व जाननेवाला ही सीख सकता है। कृष्ण के विज्ञान को समझकर कोई भी विश्व का पूर्णतम व्यक्ति बन सकता है और जब तक मनुष्य को इस विज्ञान (तत्त्व) का ज्ञान नहीं होता, तब तक शिक्षा द्वारा अर्जित सारी उपाधियाँ तथा स्नातकोत्तर अनुसंधान की सनदें व्यर्थ और निरर्थक होती हैं। महाराज युधिष्ठिर इस कृष्ण-तत्त्व को भलीभाँति जानते थे, क्योंकि यहाँ पर यह कहा गया है कि इस विज्ञान के निरन्तर अनुशीलन से, या भगवान् कृष्ण की सतत भक्तिमय सेवा से, उन्होंने राज्य पर शासन करने की योग्यता प्राप्त कर ली थी। कभी-कभी पिता अपने पुत्र पर अनावश्यक रूप से निर्दय होते दिखता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि पिता ने पिता होने की योग्यता खो दी है। पिता सदा पिता ही रहता है, क्योंकि उसके हृदय में पुत्र का हित ही सर्वोपरि होता है। पिता चाहता है कि उसका हर लड़का उससे बड़कर हो। अतएव महाराज युधिष्ठिर जैसे राजा, जो सतोगुण की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे, चाहते थे कि उनके अधीन सारे लोग, विशेष रूप से मनुष्य जिनकी चेतना अधिक विकसित रहती है, भगवान् कृष्ण के भक्त बनें जिससे वे इस भौतिक संसार की झंझटों से मुक्त हो सकें। उनके शासन का मूलमंत्र था—सभी नागरिकों का कल्याण, क्योंकि मूर्तिमंत सत्त्वगुण होने के कारण वे जानते थे कि नागरिकों की भलाई किसमें है। वे इसी सिद्धान्त पर शासन चलाते रहे, इन्द्रिय-तृप्ति के राक्षसी या आसुरी सिद्धान्त पर नहीं। आदर्श राजा के रूप में, उनकी कोई निजी आकांक्षा न थी और इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई स्थान न था, क्योंकि उनकी सारी इन्द्रियाँ सदा परमेश्वर की प्रेममयी सेवा में लगी रहती थीं, जिसमें जीवों की आंशिक सेवा सम्मिलित है, क्योंकि जीव परम पूर्ण के अंश रूप हैं। जो लोग पूर्ण को छोड़कर केवल अंश की सेवा में व्यस्त रहते हैं, वे केवल अपने समय तथा शक्ति दोनों का अपव्यय ही करते हैं, जिस तरह कोई मनुष्य जड़ों को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों को सींचे। यदि जड़ों में पानी डाला जाता है, तो पत्तियाँ स्वतः पूरी तरह सजीव रहती हैं, किन्तु यदि केवल पत्तियों पर जल डाला जाय तो सारी शक्ति व्यर्थ जाती है। अतएव महाराज युधिष्ठिर भगवान् की सेवा में सदा लीन

रहते थे और इस प्रकार से भगवान् के अंश रूप सारे जीव, उनके सतर्क शासन के अन्तर्गत जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त करते थे और अगले जीवन में उनकी उन्नति होती थी। राज्य प्रशासन की पूर्ण व्यवस्था की यही विधि होती है।

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही ।

जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सम्पदः—ऐश्वर्य; क्रतवः—यज्ञ; लोकाः—भावी गन्तव्य; महिषी—रानियाँ; भ्रातरः—भाई; मही—पृथ्वी; जम्बू-द्वीप—वह मंडल या ग्रह जिसमें हम रह रहे हैं; आधिपत्यम्—सार्वभौम अधिपत्य; च—भी; यशः—ख्याति; च—तथा; त्रि-दिवम्—स्वर्गलोक तक; गतम्—व्याप्त।

महाराज युधिष्ठिर की सांसारिक उपलब्धियों, सद्गति प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले यज्ञों, उनकी महारानी, उनके पराक्रमी भाइयों, उनके विस्तृत भूभाग, पृथ्वी ग्रह पर उनका सार्वभौम अधिपत्य तथा उनकी ख्याति आदि के समाचार स्वर्ग-लोक तक पहुँच गये।

तात्पर्य : केवल धनी तथा महान् पुरुष का ही नाम तथा यश सारे विश्व में विख्यात होता है। महाराज युधिष्ठिर का नाम तथा यश उनके उत्तम शासन, भौतिक उपलब्धियों, महिमामयी पत्नी द्रौपदी, अपने भाइयों भीम तथा अर्जुन के पराक्रम तथा जम्बूद्वीप नाम से विख्यात विधि में अपनी सार्वभौम शक्ति के कारण स्वर्गलोक तक पहुँच चुके थे। यहाँ लोकाः शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिक तथा आध्यात्मिक आकाश में विभिन्न लोक बिखरे हुए हैं। इस जीवन में कोई भी व्यक्ति अपने कर्म से उन तक पहुँच सकता है, जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है। वहाँ पर कोई बलपूर्वक प्रवेश नहीं कर सकता। जिन क्षुद्र भौतिक विज्ञानियों तथा इंजीनियरों ने बाह्य अन्तरिक्ष में कुछ हजार मील दूरी तक यात्रा करने के यान खोज निकाले हैं, उन्हें वहाँ प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी जाएगी। उत्तम लोकों में पहुँचने की विधि यह नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ तथा सेवा के द्वारा ऐसे सुखी लोकों में प्रवेश करने का पात्र बने। जो पग-पग पर पापी जीवन बिताते हैं, उन्हें पशु जीवन में गिरकर अधिकाधिक भौतिक दुख भोगने की ही आशा करनी चाहिए और *भगवद्गीता* (१६.१९) में भी इसका उल्लेख है। महाराज युधिष्ठिर के उत्तम यज्ञ तथा उनकी योग्यताएँ इतनी महान् तथा यशपूर्ण थीं कि स्वर्गलोक के निवासी भी उन्हें अपने में से एक मानकर उनका स्वागत करने को तैयार थे।

किं ते कामाः सुरस्पर्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः ।

अधिजहुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

किम्—किसलिए; ते—वे सब; कामाः—इन्द्रिय भोग के विषय; सुर—स्वर्ग के निवासियों की; स्पर्हाः—आकांक्षाएँ; मुकुन्द-मनसः—पहले से ईश्वर भावना-भावित का; द्विजाः—हे ब्राह्मणो; अधिजहुः—सन्तुष्ट कर सके; मुदम्—प्रसन्नता; राज्ञः—राजा का; क्षुधितस्य—भूखे का; यथा—जिस तरह; इतरे—अन्य वस्तुओं में।

हे ब्राह्मणो, राजा का ऐश्वर्य इतना मोहक था कि स्वर्ग के निवासी भी उसकी आकांक्षा करने लगे थे। लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में तल्लीन रहते थे, अतएव उन्हें भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी तुष्ट नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : संसार में दो वस्तुएँ होती हैं, जिनसे जीवों की तुष्टि हो सकती है। जब कोई भौतिकता में डूबा हुआ रहता है, तो वह इन्द्रिय-तृप्ति से ही तुष्ट होता है, किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से मुक्त होता है, तो वह भगवान् की तुष्टि के लिए प्रेमामयी सेवा करके ही तुष्ट होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव वैधानिक रूप से सेवक है, सेव्य नहीं है। बहिरंगा शक्ति की दशाओं में मोह-ग्रस्त होने के कारण, वह अपने आपको सेव्य (सेवा कराने योग्य) समझता है, जबकि वास्तव में वह सेव्य होता नहीं; वह तो काम, इच्छा, क्रोध, लोभ, गर्व, उन्मत्तता तथा असहिष्णुता जैसी इच्छाओं का दास होता है। जब वह आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करके अपने होश में आता है, तो वह अनुभव करता है कि वह भौतिक जगत का स्वामी नहीं, अपितु अपनी इन्द्रियों का दास है। उस समय वह भगवत्-सेवा की याचना करता है और तब वह तथाकथित भौतिक सुख के द्वारा मोहग्रस्त हुए बिना सुखी बन जाता है। महाराज युधिष्ठिर मुक्तात्मा थे। अतएव उन्हें विशाल साम्राज्य, उत्तम पत्नी, आज्ञाकारी बन्धुओं, सुखी प्रजा तथा सुसम्पन्न जगत से कोई प्रसन्नता नहीं हो रही थी। शुद्ध भक्त को ये वर स्वतः प्राप्त होते हैं, भले ही वह उनकी कामना न करे। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि भूखे को भोजन के अतिरिक्त, अन्य किसी वस्तु से सन्तोष नहीं मिलता।

सारा संसार भूखे जीवों से भरा पड़ा है। यह भूख उत्तम भोजन, आश्रय या इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। भूख तो आध्यात्मिक वातावरण के लिए है। अज्ञान-वश ही लोग सोचते हैं कि संसार असन्तोष से व्याप्त है, क्योंकि पर्याप्त भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यह

मोह कहलाता है। जब जीव परिलक्षित आध्यात्मिक तृप्ति के लिए भूखा होता है, तो लोगों को उसमें भौतिक भूख दिखती है। लेकिन मूर्ख नेता यह भी नहीं देख पाते कि जो लोग भौतिक दृष्टि से पूरी तरह तृप्त हैं, वे फिर भी भूखे रहते हैं। और उनकी भूख तथा गरीबी है क्या? यह भूख वस्तुतः आध्यात्मिक भोजन, आध्यात्मिक आश्रय, आध्यात्मिक सुरक्षा तथा आध्यात्मिक इन्द्रियतृप्ति के लिए होती है। इन्हें परम आत्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जिनके पास ये वस्तुएँ हैं, वे भौतिक जगत के तथाकथित भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि स्वर्ग के निवासी भी इनका आनन्द उठाते हैं। अतएव *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् ने कहा है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक में भी, जहाँ जीवन अवधि (आयु) पृथ्वी की गणना से कई लाख गुनी होती है, जीव अपनी भूख नहीं बुझा सकता। ऐसी भूख तभी शमित होती है, जब जीव अमरता को प्राप्त होता है, जिसे वैकुण्ठलोक में ही, जो ब्रह्मलोक से भी काफी दूर है, उन भगवान् मुकुन्द के सान्निध्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जो अपने भक्तों को मुक्ति का दिव्य आनन्द प्रदान करनेवाले हैं।

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन ।

ददर्श पुरुषं कञ्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

मातुः—माता के; गर्भ—गर्भ में; गतः—स्थित होकर; वीरः—महान् योद्धा; सः—शिशु परीक्षित; तदा—उस समय; भृगु-नन्दन—हे भृगुपुत्र; ददर्श—देख सका; पुरुषम्—परमेश्वर को; कञ्चित्—मानो कोई दूसरा; दह्यमानः—जलते हुए; अस्त्र—ब्रह्मास्त्र के; तेजसा—ताप से।

हे भृगुपुत्र (शौनक), जब महान् योद्धा बालक परीक्षित अपनी माता उत्तरा के गर्भ में थे और (अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये) ब्रह्मास्त्र के ज्वलंत ताप से पीड़ित थे, तो उन्होंने परमेश्वर को अपनी ओर आते देखा।

तात्पर्य : मृत्यु सामान्यतया सात मास की समाधि है। जीव, अपने कर्म के अनुसार, पिता के वीर्य के माध्यम से माता के गर्भ में प्रवेश करता है और वांछित शरीर धारण करके विकसित होता रहता है। विशिष्ट जीवों में अपने-अपने विगत कर्मों के अनुसार जन्म का यह नियम है। जब वह इस समाधि से जागृत होता है, तो उसे गर्भ के भीतर बन्दी रहने में असुविधा का अनुभव होने लगता है और वह उससे

बाहर निकलने का प्रयत्न करता है और कभी-कभी ऐसी मुक्ति के लिए सौभाग्यवश वह भगवान् से प्रार्थना करता है। जब महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ में थे, तो अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र का उन पर प्रहार हुआ, जिससे उन्हें प्रखर ताप का अनुभव हो रहा था। किन्तु उनके भगवद्भक्त होने के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति से गर्भ के भीतर साक्षात् प्रकट हुए और बालक यह देख सका कि कोई उसे बचाने आया है। उस असहाय अवस्था में भी बालक परीक्षित ने असह्य ताप सहन किया, क्योंकि वे स्वभाव से महान् योद्धा थे। इसीलिए यहाँ वीरः शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम् ।

अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अङ्गुष्ठ—अँगूठे की माप का; मात्रम्—केवल; अमलम्—दिव्य; स्फुरत्—देदीप्यमान; पुरट—सोना; मौलिनम्—मुकुट;
अपीव्य—अत्यन्त सुन्दर; दर्शनम्—देखने के लिए; श्यामम्—श्याम रंग; तडित्—बिजली; वाससम्—वस्त्र; अच्युतम्—अच्युत
(भगवान्) को।

वे (भगवान्) केवल अँगूठा भर ऊँचे थे, किन्तु वे थे पूर्णतः दिव्य। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर, श्याम वर्ण का तथा अच्युत था और उनका वस्त्र बिजली के समान चमचमाता पीतवर्ण का तथा उनका मुकुट देदीप्यमान सोने का था। बालक ने उन्हें इस रूप में देखा।

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।

क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ।

परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रीमत्—समृद्ध; दीर्घ—लम्बे; चतुः—बाहुम्—चार भुजाओं वाले; तप्त-काञ्चन—पिघला सोना; कुण्डलम्—कान की बालियाँ; क्षतज-अक्षम्—रक्त की लालिमा से युक्त आँखें; गदा-पाणिम्—गदा से युक्त हाथ; आत्मनः—अपना; सर्वतः—सभी; दिशम्—चारों ओर; परिभ्रमन्तम्—घूमते हुए; उल्काभाम्—गिरते हुए तारे (उल्का) की भाँति; भ्रामयन्तम्—घुमाते हुए; गदाम्—गदा को; मुहुः—निरन्तर।

भगवान् चार भुजाओं से युक्त थे, उनके कुण्डल सोने के थे तथा आँखें क्रोध से रक्त जैसी लाल थीं। जब वे चारों ओर घूमने लगे, तो उनकी गदा उनके चारों ओर गिरते तारे (उल्का) की भाँति निरन्तर चक्कर लगाने लगी।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* (अध्याय ५) में कहा गया है कि परम ईश्वर गोविन्द, अपने एक पूर्ण अंश से, ब्रह्माण्ड-मण्डल में प्रवेश करते हैं और वे अपने आप, परमात्मा-रूप में, न केवल प्रत्येक जीव के हृदय में, अपितु भौतिक तत्त्वों के प्रत्येक परमाणु में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वव्यापी हैं और इस तरह वे अपने प्रिय भक्त महाराज परीक्षित की रक्षा करने के लिए उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हुए। *भगवद्गीता* (९.३१) में भगवान् हर एक को आश्चस्त करते हैं कि उनके भक्तों का कभी भी विनाश नहीं होता। कोई भी भगवान् के भक्त को नहीं मार सकता, क्योंकि भगवान् उसकी रक्षा करते हैं और भगवान् जिसे मारना चाहते हैं, उसे कोई भी बचा नहीं सकता। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं। अतएव वे चाहें तो मार भी सकते हैं और बचा भी सकते हैं। वे उस विषम परिस्थिति में (उत्तरा के गर्भ में) भी, अपने भक्त महाराज परीक्षित को ऐसे रूप में दिखाई पड़े, जो उसकी दृष्टि के अनुरूप था। भगवान् हजारों ब्रह्माण्डों से भी वृहत् रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही, परमाणु से भी लघु बन सकते हैं। दयालु तो वे हैं ही, अतएव वे जीव की सीमित दृष्टि के अनुरूप बन जाते हैं। वे असीम हैं। वे हमारी किसी गणना की परिधि से सीमित नहीं हैं। वे हम जितना सोच सकते हैं उससे भी अधिक विशाल और हमारी चिन्तन-शक्ति से भी अधिक लघु बन सकते हैं। किन्तु प्रत्येक दशा में वे वही सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। उत्तरा के गर्भ में अँगूठे के तुल्य विष्णु में तथा वैकुण्ठधामवासी पूर्ण नारायण रूप में कोई अन्तर नहीं है। वे अपने विभिन्न असमर्थ भक्तों की सेवा स्वीकार करने के लिए ही *अर्चाविग्रह* रूप स्वीकार करते हैं। *अर्चाविग्रह* अर्थात् भौतिक तत्त्वों से बने भगवान् के रूप की कृपा से, भौतिक जगत के सारे भक्त सरलता से भगवान् तक पहुँच सकते हैं, यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य हैं। अतएव *अर्चाविग्रह* भगवान् का पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप है, जिसे भौतिक भक्त देख सकते हैं; भगवान् के ऐसे अर्चाविग्रह को कभी भौतिक नहीं माना जाता। यद्यपि बद्धजीवों के लिए पदार्थ तथा आत्मा में काफी अन्तर होता है, किन्तु भगवान् के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। भगवान् के लिए सारा अस्तित्व केवल आध्यात्मिक है और इसी तरह भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले शुद्ध भक्त के लिए, आध्यात्मिक अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः ।

विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अस्त्र-तेजः—ब्रह्मास्त्र का प्रकाश; स्व-गदया—अपनी गदा से; नीहारम्—ओस के बिन्दु; इव—समान; गोपतिः—सूर्य;
विधमन्तम्—विनष्ट करने की क्रिया; सन्निकर्षे—निकट; पर्यैक्षत—देखते हुए; कः—कौन; इति असौ—यह शरीर।

भगवान् उस ब्रह्मास्त्र के तेज को विनष्ट करने में इस प्रकार संलग्न थे, जिस तरह सूर्य ओस की बूंदों को उड़ा देता है। वे बालक को दिखाई पड़े, तो वह सोचने लगा कि वे कौन थे?

विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुब् विभुः ।

मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विधूय—पूरी तरह विनष्ट करके; तत्—वह; अमेयात्मा—सर्वव्यापी परमात्मा; भगवान्—भगवान्; धर्म-गुप्—सदाचार के रक्षक; विभुः—परम; मिषतः—निरीक्षण करते हुए; दशमासस्य—जो समस्त दिशाओं के द्वारा वस्त्रावृत हैं, उनका; तत्र एव—तत्क्षण; अन्तः—अदृश्य; दधे—हो गये; हरिः—भगवान्।

इस प्रकार बालक के देखते-देखते, प्रत्येक जीव के परमात्मा तथा धर्म के पालक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जो सारी दिशाओं में व्याप्त हैं और काल तथा देश की सीमाओं से परे हैं, तुरन्त अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : बालक परीक्षित कोई ऐसे जीव को नहीं देख रहा था, जो देश तथा काल से बँधा रहता है। भगवान् तथा जीव में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। यहाँ पर भगवान् को जो देश-काल की सीमाओं से परे हैं ऐसे परम पुरुष बताया गया है। प्रत्येक जीव देश तथा काल से सीमित है। यद्यपि गुणात्मक रीति से जीव भगवान् से अभिन्न है, लेकिन मात्रात्मक दृष्टि से परमात्मा तथा सामान्य जीवात्मा में काफी अन्तर होता है। *भगवद्गीता* में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों को सर्वव्यापी कहा गया है (*येन सर्वमिदं ततम्*), फिर भी इन दोनों के सर्वव्यापकत्व में अन्तर होता है। सामान्य जीव या आत्मा, अपने खुद के शरीर में ही सर्वव्यापी हो सकता है, किन्तु परमात्मा समस्त देश तथा काल में व्याप्त है। कोई भी सामान्य जीव अपने सर्वव्यापकत्व से दूसरे जीव को प्रभावित नहीं कर सकता, लेकिन परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् असीम रूप से समस्त स्थानों तथा समस्त कालों एवं समस्त जीवों पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, देश तथा काल से परे हैं, अतएव वे बालक

परीक्षित की माता के गर्भ के भीतर भी प्रकट हो सकते हैं। यहाँ पर उन्हें धर्मपालक कहा गया है। जो भी भगवान् के शरणागत हो चुका है, वह धर्मात्मा है और उसका विशेष रूप से भगवान् द्वारा सभी परिस्थितियों में रक्षण किया जाता है। भगवान् परोक्ष रूप से अधर्मियों के भी रक्षक हैं, क्योंकि वे अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा उनके पापों को परिशोधित करते हैं। यहाँ पर भगवान् को दशों दिशाओं से वस्त्रावृत कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे दशों दिशाओं में ऊपर तथा नीचे वस्त्रों से आभूषित हैं। वे सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और स्वेच्छा से कहीं भी प्रकट तथा अन्तर्धान हो सकते हैं। बालक परीक्षित की दृष्टि से उनके ओझल होने का यह अर्थ नहीं है कि वे किसी अन्य स्थान से आकर वहाँ प्रकट हुए थे। वे वहीं विद्यमान थे और उनके अन्तर्धान होने के बाद भी वे वहीं थे। हाँ, वे बालक की आँखों को दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। इस तेजोमय आकाश का भौतिक आवरण भी माता प्रकृति के गर्भ की ही भाँति है और हम सभी जीवों के पिता, भगवान् द्वारा उस गर्भ में स्थापित किये गये हैं। वे सर्वत्र विद्यमान हैं, यहाँ तक कि माता दुर्गा के भौतिक गर्भ में भी और जो इसके लिए सुयोग्य हैं, वे भगवान् का दर्शन कर सकते हैं।

ततः सर्वगुणोदके सानुकूलग्रहोदये ।

जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सर्व—सभी; गुण—शुभ लक्षण; उदके—क्रमशः विकसित होने पर; स-अनुकूल—सभी अनुकूल; ग्रहोदये—नक्षत्रों का समूह; जज्ञे—जन्म लिया; वंश-धरः—उत्तराधिकारी; पाण्डोः—पाण्डु के; भूयः—होते हुए; पाण्डुः इव—पाण्डु के समान; ओजसा—पराक्रम से।

तत्पश्चात्, जब क्रमशः सारी राशि तथा नक्षत्रों से शुभ लक्षण प्रकट हो आये, तब पाण्डु के उत्तराधिकारी ने जन्म लिया, जो पराक्रम में उन्हीं के समान होगा।

तात्पर्य : जीव पर ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव कोरी कल्पना नहीं है, अपितु वास्तविकता है जैसा कि श्रीमद्भागवत में पुष्टि हो रही है। प्रत्येक जीव, हर क्षण प्रकृति के नियमों द्वारा नियंत्रित होता रहता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार नागरिक राज्य द्वारा नियंत्रित होता है। राज्य के नियमों का पालन स्थूल रूप से होता है, लेकिन प्रकृति के नियम हमारी मोटी बुद्धि के लिए सूक्ष्म होने के कारण स्थूल रूप से अनुभव नहीं किये जा सकते हैं। जैसा कि भगवद्गीता (३.९) में कहा गया है—जीवन के प्रत्येक कर्म

से प्रतिक्रिया (फल) उत्पन्न होती है, जो हम पर बन्धन-स्वरूप होती है और केवल वे कर्म जो यज्ञ (विष्णु) के लिए किये जाते हैं, वे फलों से बद्ध नहीं होते। हमारे कर्मों का निर्णय उच्च अधिकारियों अर्थात् भगवान् के दूतों द्वारा होता है और इस तरह हमें अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। प्रकृति का नियम इतना सूक्ष्म है कि हमारे शरीर के प्रत्येक अंग पर उन्हीं ग्रह-नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है और जीव को यह क्रियाशील शरीर इसीलिए प्राप्त होता है कि वह ऐसे ग्रह-नक्षत्रों के प्रभावों को साध कर, अपनी कारागार-अवधि को पूरा कर सके। अतएव मनुष्य का भाग्य उसके जन्म-काल के ग्रह-नक्षत्रों द्वारा निर्धारित होता है और विद्वान् ज्योतिषी उसकी तथ्यपरक कुण्डली तैयार करता है। यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु यदि इसका दुरुपयोग होता है, तो इससे यह निरर्थक नहीं बन जाता। महाराज परीक्षित या कि भगवान् भी किसी शुभ नक्षत्र राशि में प्रकट होते हैं और इस शुभ क्षण में जन्म लेने वाले शरीर पर इन नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। सबसे शुभ नक्षत्र वह है, जब भगवान् इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं और इसे *जयन्ती* कहते हैं। इस शब्द का किसी भी अन्य बात के लिए दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। महाराज परीक्षित केवल एक महान् क्षत्रिय सम्राट ही न थे, अपितु महान् भगवद्भक्त भी थे। अतएव वे किसी भी अशुभ क्षण में जन्म नहीं ले सकते थे। जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का स्वागत उचित स्थान तथा उचित समय पर किया जाता है, उसी प्रकार, भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षित महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति के स्वागतार्थ ऐसा उपयुक्त क्षण चुना गया था, जब सारे शुभ ग्रह एकत्र होकर राजा पर अपना प्रभाव डाल सकें। इस तरह उनका जन्म हुआ और वे *श्रीमद्भागवत* के महान् नायक कहलाये। नक्षत्रों का यह संयोग मनुष्य की इच्छा से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अपितु यह तो परमेश्वर की महती व्यवस्था का प्रबन्ध होता है। निस्सन्देह, जीव के शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार ही, यह व्यवस्था की जाती है। यहीं जीव द्वारा सम्पन्न शुभ कर्मों की महत्ता प्रकट होती है। केवल शुभ कर्मों के द्वारा ही, जीव को उत्तम सम्पत्ति, उत्तम शिक्षा तथा सुन्दर स्वरूप प्राप्त हो सकता है। नक्षत्रों के शुभ प्रभावों के लिए समुचित वातावरण तैयार करने में, सनातन धर्म मनुष्य का शाश्वत कर्तव्य सम्प्रदाय के संस्कार अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध होते हैं। अतएव उच्च वर्णों (द्विजों) के लिए संस्तुत गर्भाधान संस्कार समस्त शुभ कर्मों का शुभारंभ है, जिससे मानव समाज में अत्यन्त पवित्र तथा बुद्धिमान श्रेणी के मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उत्तम तथा योग्य जनता के द्वारा ही विश्व में

शान्ति तथा समृद्धि आएगी; अवांछित तथा विषयभोग में लिप्त रहनेवाली अयोग्य प्रजा से अशान्ति फैलेगी और यह संसार नरक बना रहेगा।

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः ।

जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; प्रीत-मना:—सन्तुष्ट; राजा—राजा युधिष्ठिर; विप्रैः—विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा; धौम्य—धौम्य; कृप—कृप;
आदिभिः—इत्यादि; जातकम्—शिशु-जन्म के तुरन्त बाद सम्पन्न होनेवाला संस्कार; कारयाम् आस—सम्पन्न किया;
वाचयित्वा—बाँच कर; च—भी; मङ्गलम्—शुभ।

महाराज परीक्षित के जन्म से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए राजा युधिष्ठिर ने जात-संस्कार करवाया।

धौम्य, कृप इत्यादि विद्वान् ब्राह्मणों ने शुभ स्तोत्रों का पाठ किया।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म में वर्णित संस्कारों को सम्पन्न कराने में निपुण हो ऐसे श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान ब्राह्मणों की आवश्यकता है। जब तक ये संस्कार सम्पन्न नहीं कराये जाते, तब तक अच्छी सन्तान की सम्भावना नहीं है और इस कलियुग में, इस संस्कार विधि के अभाव में, सारे संसार की जनता शूद्र गुण वाली या इससे भी निम्न होती है। किन्तु समुचित सुविधाओं तथा उत्तम ब्राह्मणों के अभाव के कारण, इस युग में वैदिक संस्कारों का पुनरुद्धार कर पाना सम्भव नहीं है। लेकिन इस युग के लिए अन्य पद्धति भी संस्तुत है और वह है पाञ्चरात्रिक पद्धति। यह पाञ्चरात्रिक पद्धति शूद्र श्रेणी के लोगों पर लागू की जाती है, जो कलियुग की प्रजा मानी जाती है और युग तथा काल के अनुरूप संस्तुत की जानेवाली यही संस्कार-विधि है। किन्तु यह संस्कार-विधि केवल आध्यात्मिक विकास के निमित्त है, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। आध्यात्मिक उन्नति कभी उच्च या निम्न पैतृकता से नियंत्रित नहीं होती।

गर्भाधान संस्कार के बाद अन्य संस्कार भी होते हैं—यथा सीमान्तोन्नयन, सध-भक्षणम् इत्यादि जो गर्भावस्था-काल में सम्पन्न होते हैं और जब शिशु का जन्म होता है, तो सबसे पहला संस्कार जातकर्म है। यह संस्कार महाराज युधिष्ठिर द्वारा राजपुरोहित धौम्य तथा महान् सेनापति एवं पुरोहित कृपाचार्य-जैसे योग्य ब्राह्मणों की सहायता से सम्पन्न कराया गया। महाराज युधिष्ठिर ने इन दोनों विद्वान् तथा योग्य पुरोहितों की सहायता के लिए तमाम उत्तम ब्राह्मणों को लगाकर यह उत्सव सम्पन्न कराया। अतएव सारे संस्कार अर्थात् शुद्धीकरण की विधियाँ मात्र औपचारिकताएँ या सामाजिक उत्सव हीं नहीं, अपितु

ये व्यवहारणीय हैं और धौम्य तथा कृप जैसे योग्य ब्राह्मणों द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न कराए जाते हैं। इस युग में ऐसे ब्राह्मण न केवल विरले हैं, अपितु उपलब्ध भी नहीं होते। अतएव इस पतित युग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए गोस्वामीजन वैदिक अनुष्ठानों की अपेक्षा पाञ्चरात्रिक सूत्रों को वरीयता प्रदान करते हैं।

कृपाचार्य महर्षि सर्दबन के पुत्र थे और गौतम के वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म एक अकस्मात घटना कही जाती है। संयोगवश महर्षि सर्दबन की भेंट जनपदी नामक स्वर्ग की एक सुप्रसिद्ध अप्सरा से हुई, तो सर्दबन का वीर्य दो भागों में बँट गया। एक भाग तुरन्त बालक बन गया और दूसरा बालिका। इस प्रकार जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हुए—बालक कृप नाम से और बालिका कृपी नाम से विख्यात हुई। महाराज शान्तनु को जंगल में शिकार करते समय, ये शिशु मिले और घर लाकर, संस्कार कराकर, उन्हें ब्राह्मण-पद प्रदान किया। बाद में कृपाचार्य द्रोणाचार्य के समान महान् सेनापति बने और उसकी बहन कृपी, द्रोणाचार्य को ब्याह दी गई। कालान्तर में कृपाचार्य कुरुक्षेत्र के युद्ध में सम्मिलित हुए और दुर्योधन के दल में चले गये। कृपाचार्य, महाराज परीक्षित के पिता अभिमन्यु को मारने में सहायक बने, किन्तु द्रोणाचार्य के ही समान महान् ब्राह्मण होने के कारण, वे अभी भी पाण्डव-कुल द्वारा सम्मानित थे। जब दुर्योधन से द्यूत-क्रीड़ा में हारकर पाण्डव वन चले गये, तो धृतराष्ट्र ने उनके मार्गदर्शन के लिए कृपाचार्य को नियुक्त किया। युद्ध समाप्त होने पर कृपाचार्य पुनः राजसभा के सदस्य बन गये और महाराज परीक्षित के जन्म के समय जन्मोत्सव को सफल बनाने के लिए उन्हें वेद मंत्रोच्चार करने के लिए आमंत्रित किया गया। जब महाराज युधिष्ठिर जब राजप्रासाद त्यागकर हिमालय के लिए महाप्रयाण करने लगे तब वे महाराज परीक्षित को शिष्य-रूप में कृपाचार्य को ही सौंप गये और उन्होंने सन्तुष्ट होकर घर का त्याग किया, क्योंकि महाराज परीक्षित का भार कृपाचार्य ने संभाल लिया था। बड़े-बड़े शासक, राजा तथा सम्राट तक, कृपाचार्य-जैसे विद्वान् ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में रहते हुए समुचित रूप से राजनैतिक उत्तरदायित्व निभाते थे।

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वा नृपतिर्वरान् ।

प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यम्—सोना; गाम्—गाँवें; महीम्—भूमि; ग्रामान्—गाँव; हस्ति—हाथी; अश्वान्—घोड़े; नृपतिः—राजा ने; वरान्—पुरस्कार; प्रादात्—दान में दिया; सु-अन्नम्—उत्तम अन्न; च—तथा; विप्रेभ्यः—ब्राह्मणों को; प्रजा-तीर्थ—पुत्र के जन्म-दिवस पर दान देते समय; सः—वह; तीर्थ-वित्—जो जानता है कि कब, कैसे और किसे दान दिया जाय।

पुत्र के जन्म लेने पर राजा ने ब्राह्मणों को सोना, भूमि, ग्राम, हाथी, घोड़े तथा उत्तम अन्न दान में दिया, क्योंकि वे जानते थे कि कैसे, कहाँ और कब दान देना चाहिए।

तात्पर्य : केवल ब्राह्मणों तथा संन्यासियों को गृहस्थियों से दान ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। समस्त संस्कारों के विभिन्न अवसरों पर, विशेष रूप से जन्म, विवाह तथा मृत्यु के संस्कारों के समय, ब्राह्मणों को धन वितरित किया जाता है, क्योंकि ब्राह्मण ही मानव जाति की प्राथमिक आवश्यकता के लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा प्रदान करते हैं। इन अवसरों पर स्वर्ण, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा अन्न के साथ समस्त भोज्य सामग्री के रूप में प्रचुर दान दिया जाता था। अतएव ब्राह्मण वास्तव में निर्धन नहीं होते थे, उल्टे, उनके पास प्रचुर सोना, भूमि, ग्राम, घोड़े, हाथी तथा पर्याप्त अन्न रहता था, जिससे उन्हें कुछ और कमाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसके बदले में, वे सम्पूर्ण समाज के कल्याण हेतु अपने को समर्पित कर देते थे।

तीर्थवित् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि राजा को पता था कि कहाँ और कब दान दिया जाय। दान कभी व्यर्थ नहीं जाता, न वह निरुद्देश्य होता है। शास्त्रों के अनुसार, दान उन व्यक्तियों को दिया जाता था, जो अपनी आध्यात्मिक प्रबुद्धता के बल पर दान लेने के पात्र होते थे। तथाकथित दरिद्र-नारायण, जो अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा परम भगवान् के बारे में फैलायी गयी एक भ्रान्त धारणा है, उसका उल्लेख दान के सुपात्र के रूप में शास्त्रों में कभी भी नहीं मिलता है। कोई भी दरिद्र व्यक्ति घोड़े, हाथी, भूमि तथा ग्रामों के रूप में, इतना मुक्तहस्त दान नहीं पा सकता था। निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्तियों, या भगवान् की सेवा में लगे हुए ब्राह्मणों का इस तरह पालन होता था कि उन्हें शरीर की आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं रहती थी तथा राजा एवं अन्य गृहस्थ, खुशी-खुशी उनके सुख का ध्यान रखते थे।

शास्त्रों का आदेश है कि जब तक शिशु नाल द्वारा माता से जुड़ा रहता है, तब तक शिशु तथा माता के शरीर का एक भाग माना जाता है, किन्तु ज्योंही नाल काट दी जाती है और शिशु माता से विलग हो जाता है, त्योंही जात-कर्म संस्कार सम्पन्न किया जाता है। नवजात शिशु को देखने के लिए प्रशासी

देवता (लोकपाल) एवं परिवार के पूर्व-पुरखे आते हैं और समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए उचित व्यक्तियों को धन वितरित करने के लिए इस अवसर को समुचित माना जाता है।

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम् ।

एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरुषां पौरवर्षभ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; ऊचुः—सम्बोधित किया; ब्राह्मणाः—विद्वान् ब्राह्मणों ने; तुष्टाः—अत्यधिक सन्तुष्ट; राजानम्—राजा को; प्रश्रय-अन्वितम्—अत्यधिक कृतज्ञता ज्ञापित करके; एषः—यह; हि—निश्चय ही; अस्मिन्—की शृंखला में; प्रजा-तन्तौ—परम्परा में; पुरुषाम्—पुरुषों की; पौरव-ऋषभ—पुरुषों में प्रमुख।

राजा के दान से अत्यधिक सन्तुष्ट विद्वान् ब्राह्मणों ने राजा को पुरुषों में प्रधान कहकर सम्बोधित किया और बताया कि उनका पुत्र निश्चय ही पुरुषों की परम्परा में है।

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि ।

रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दैवेन—अतिदैवी शक्ति द्वारा; अप्रतिघातेन—दुर्निवार; शुक्ले—शुद्ध; संस्थाम्—विनाश को; उपेयुषि—विवश किये जाने पर; रातः—फिर रक्षित; वः—तुम्हारे लिए; अनुग्रह—अर्थाय—अनुग्रह करने के लिए; विष्णुना—सर्वव्यापी भगवान् द्वारा; प्रभविष्णुना—सर्वशक्तिमान द्वारा।

ब्राह्मणों ने कहा : यह निष्कलंक पुत्र, आप पर अनुग्रह करने के लिए सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी भगवान् विष्णु द्वारा बचाया गया है। उसे तब बचाया गया, जब वह दुर्निवार अतिदैवी अस्त्र द्वारा नष्ट होने ही वाला था।

तात्पर्य : सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी विष्णु (भगवान् कृष्ण) द्वारा शिशु परीक्षित को दो कारणों से बचा लिया गया था। पहला कारण यह था कि भगवान् का विशुद्ध भक्त होने के कारण अपनी माता के गर्भ में यह शिशु निष्कलंक था। दूसरा कारण यह था कि यह शिशु पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर के पवित्र पूर्वज, पुरु के वंश का एकमात्र उत्तराधिकारी था। भगवान् चाहते हैं कि पवित्र राजाओं की परम्परा चलती रहे, जिससे वे शान्तिमय तथा सम्पन्न जीवन की वास्तविक प्रगति के लिए उनके प्रतिनिधियों के रूप में पृथ्वी पर राज्य करें। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, महाराज युधिष्ठिर की अगली पीढ़ी तक विनष्ट हो चुकी थी और उस महान् राजवंश में कोई ऐसा न था, जो दूसरा पुत्र उत्पन्न कर

सके। अभिमन्यु-पुत्र, महाराज परीक्षित ही परिवार के एकमात्र जीवित उत्तराधिकारी थे और अश्वत्थामा के दुर्निवार ब्रह्मास्त्र द्वारा उनका भी विनाश होनेवाला था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण को विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है और यह महत्त्वपूर्ण भी है। आदि भगवान् श्रीकृष्ण, अपने विष्णु-रूप में रक्षा तथा संहार का कार्य करते हैं और विष्णु उनके पूर्णांश हैं। भगवान् कृष्ण के सारे सर्वव्यापी कार्यकलाप उनके विष्णु-रूप द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। शिशु परीक्षित को यहाँ पर निष्कलंक श्वेत कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे। भगवान् के ऐसे अनन्य भक्त इस धरा पर भगवान् के कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही प्रकट होते हैं। भगवान् चाहते हैं कि भौतिक सृष्टि के आगे-पीछे मँडरानेवाले बद्धजीवों का उद्धार हो, जिससे वे भगवद्धाम वापस आ सकें। इस तरह भगवान् वेदों जैसा दिव्य साहित्य निर्मित करके, सन्तों तथा साधुओं को दूत के रूप में भेजकर तथा अपना प्रतिनिधि अर्थात् गुरु नियुक्त करके, उनकी सहायता करते हैं। ऐसा दिव्य साहित्य, ऐसे दूत तथा भगवान् के ऐसे प्रतिनिधि निष्कलुष श्वेत होते हैं, क्योंकि भौतिक गुणों का कल्मष उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाता। जब भी उन्हें विनाश का संकट आता है, तो भगवान् सदैव उनकी रक्षा करते हैं। ऐसे मूर्खतापूर्ण संकट निपट भौतिकतावादी पुरुषों द्वारा ढाये जाते हैं। अश्वत्थामा ने बालक परीक्षित पर जिस ब्रह्मास्त्र को छोड़ा था, वह निश्चित रूप से अतिदैवी शक्ति से पूर्ण था और भौतिक जगत की कोई भी वस्तु उसकी भेदन-शक्ति को रोकने में समर्थ न थी। किन्तु सर्वत्र विद्यमान, सर्वशक्तिमान भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा अपने प्रामाणिक सेवक तथा अपनी अहैतुकी कृपा से सदैव अनुग्रहीत अपने और एक भक्त महाराज युधिष्ठिर के वंशज को बचाने के लिए उसे रोकने में समर्थ हुए।

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके भविष्यति ।

न सन्देहो महाभाग महाभागवतो महान् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; नाम्ना—नामवाले; विष्णु-रातः—भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित; इति—इस प्रकार; लोके—समस्त लोकों में; भविष्यति—विख्यात होगा; न—नहीं; सन्देहः—सन्देह; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; महा-भागवतः—प्रथम कोटि का भगवद्भक्त; महान्—समस्त उत्तम गुणों से समन्वित।

इस कारण यह बालक संसार में विष्णुरात (भगवान् द्वारा रक्षित) नाम से विख्यात होगा। हे महा भाग्यशाली, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह बालक महाभागवत (उत्तम कोटि का भक्त) होगा और समस्त गुणों से सम्पन्न होगा।

तात्पर्य : भगवान् समस्त जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, क्योंकि वे उनके सर्वोपरि नेता हैं। वैदिक स्तोत्र इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त पुरुषों में परम पुरुष हैं। इन दोनों व्यक्तियों में अन्तर यह है कि इनमें से एक, अर्थात् भगवान्, अन्य समस्त जीवों का पालन करनेवाले हैं और उन्हें जान लेने से ही शाश्वत शान्ति प्राप्त की जा सकती है (कठोपनिषद्)। ऐसी सुरक्षा उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न कोटि के जीवों को प्रदान की जाती है। किन्तु जहाँ तक उनके अनन्य भक्तों का सम्बन्ध है, वे व्यक्तिगत रूप से उन्हें सुरक्षा प्रदान करते हैं। अतएव महाराज परीक्षित की रक्षा अपनी माता के गर्भ में प्रकट होते ही, भगवान् द्वारा शुरू हो गई थी। चूँकि उनकी भगवान् द्वारा विशेष रूप से सुरक्षा की गई थी, अतएव इससे संकेत मिलता था कि यह बालक समस्त उत्तम गुणों से समन्वित महाभागवत निकलेगा। भक्तों की तीन कोटियाँ हैं—महाभागवत, मध्यम अधिकारी तथा कनिष्ठ अधिकारी। ऐसे भक्त जो भगवान् के मन्दिर जाते हैं और आध्यात्मिक विज्ञान में पर्याप्त ज्ञान न होते हुए भी और इस तरह भगवान् के भक्तों के लिए किसी प्रकार का आदर न दिखाकर, अर्चाविग्रह की पूजा करके नमस्कार करते हैं, वे भौतिकतावादी भक्त या कनिष्ठ अधिकारी अर्थात् तृतीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। दूसरे भक्त वे हैं, जिन्होंने भगवान् की शुद्ध सेवा की चितवृत्ति विकसित कर ली है और इस तरह वे अपने जैसे भक्तों के साथ मैत्री स्थापित करते हैं, नवदीक्षितों का पक्ष ग्रहण करते हैं और नास्तिकों से बचते हैं, वे द्वितीय कोटि के भक्त कहलाते हैं। किन्तु जो लोग भगवान् में सारी वस्तुएँ देखते हैं या प्रत्येक वस्तु को भगवान् की समझते हैं और प्रत्येक वस्तु में भगवान् का नित्य सम्बन्ध देखते हैं, जिससे उन्हें भगवान् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता, वे महाभागवत या प्रथम कोटि के भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवान् के ऐसे प्रथम कोटि के भक्तगण सभी प्रकार से पूर्ण होते हैं। इन कोटियों के अन्तर्गत कोई भी भक्त स्वतः सर्व गुणों से सम्पन्न रहता है और इस तरह महाराज परीक्षित जैसा महाभागवत सभी प्रकार से पूर्ण होता है। चूँकि महाराज परीक्षित का जन्म महाराज युधिष्ठिर के कुल में हुआ था, इसीलिए उन्हें महाभागवत कहकर सम्बोधित किया गया है। जिस परिवार में

महाभागवत जन्म लेता है, वह भाग्यशाली होता है, क्योंकि ऐसे प्रथम कोटि के भक्त के जन्म से, भगवत्कृपा से, परिवार की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सौ पीढ़ियों के लोग मुक्त हो जाते हैं। अतएव भगवान् का अनन्य भक्त बनने मात्र से परिवार को सबसे बड़ा लाभ पहुँचाया जाता है।

श्रीराजोवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान् महात्मनः ।

अनुवर्तिता स्वियशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा—सर्वमंगलकारी राजा (महाराज युधिष्ठिर) ने; उवाच—कहा; अपि—क्या; एषः—इस; वंश्यान्—परिवार में; राज-
ऋषीन्—साधु राजाओं का; पुण्य-श्लोकान्—नाम से ही पवित्र; महा-आत्मनः—सभी महान् पुरुष; अनुवर्तिता—अनुयायी;
स्वित्—ऐसा होगा; यशसा—उपलब्धियों से; साधु-वादेन—महिमान्वित होने से; सत्-तमाः—हे महान् आत्माओ!.

उत्तम राजा (युधिष्ठिर) ने पूछा: हे महात्माओं, क्या यह बालक इस महान् राजवंश में प्रकट
हुए अन्य राजाओं की ही तरह राजर्षि, पवित्र नामवाला, उतना ही विख्यात तथा अपनी
उपलब्धियों से महिमामंडित होगा ?

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर के पूर्वज राजर्षि, पुण्यात्मा तथा अपनी महान् उपलब्धियों से
महिमामण्डित थे। वे राज-सिंहासन पर बैठकर भी संत थे। फलस्वरूप राज्य के सारे सदस्य सुखी,
पुण्यात्मा, सदाचारी, सुसम्पन्न तथा आध्यात्मिकता में प्रबुद्ध थे। ऐसे महान् साधु राजा महात्माओं तथा
आध्यात्मिक आदेशों के कठोर मार्गदर्शन में प्रशिक्षित थे। फलस्वरूप, राज्य साधु पुरुषों से परिपूर्ण
रहता था और आध्यात्मिक जीवन सुखमय होता था। महाराज युधिष्ठिर स्वयं अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति
थे और उनकी यह अभिलाषा थी कि उनके बाद जो भी राजा हो, वह उनके महान् पूर्वजों के समान
हो। वे विद्वान् ब्राह्मणों से यह जानकर प्रसन्न थे कि ज्योतिष-गणना के अनुसार, नवजात शिशु
महाभागवत होगा और वे व्यक्तिगत रूप से यह जानने के इच्छुक थे कि बालक अपने महान् पूर्वजों का
अनुगमन करनेवाला होगा या नहीं। यही राज-तंत्र की शैली है। शासन चलाने वाले राजा को पुण्यात्मा,
उदार भगवद्भक्त तथा छिछोरे के लिए साक्षात् भय होना चाहिए। उसे अबोध जनता के ऊपर राज्य
करने के लिए समान रूप से योग्य उत्तराधिकारी भी छोड़ जाना चाहिए। आज के लोकतांत्रिक ढाँचे में,
सारे लोग शूद्र के गुणों या उससे भी अधम गुणों तक पतित हो चुके हैं और इन्हीं के प्रतिनिधि द्वारा

सरकार चलाई जाती है, जो प्रशासनिक शिक्षा की शास्त्रीय शैली से अनजान होता है। इस प्रकार सारा वातावरण शूद्र-गुणों से व्याप्त हो जाता है, जो काम तथा लोभ के रूप में प्रकट होते हैं। ऐसे प्रशासक प्रतिदिन आपस में लड़ते रहते हैं। प्रायः दलों तथा समूहों के स्वार्थ के कारण मंत्रिमण्डल में परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु-पर्यन्त राज्य के संसाधनों का दोहन करते रहना चाहता है। कोई भी व्यक्ति राजनैतिक जीवन से तब तक निवृत्ति नहीं ले लेता, जब तक उसे ठोकर मार कर बाहर नहीं कर दिया जाता। भला ऐसे निम्न कोटि के लोग जनता का कल्याण कैसे कर सकते हैं? इसी का परिणाम है भ्रष्टाचार, चालबाजी तथा पाखण्ड। उन्हें विभिन्न पदों का भार सँभालने के पूर्व, *श्रीमद्भागवत* से यह सीखना चाहिए कि आदर्श प्रशासक कैसा हो।

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।

ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—उत्तम ब्राह्मणों ने; ऊचुः—कहा; पार्थ—हे पृथा (कुन्ती) पुत्र; प्रजा—जन्म धारण करनेवाले; अविता—पालक; साक्षात्—प्रत्यक्ष; इक्ष्वाकुः इव—राजा इक्ष्वाकु की तरह; मानवः—मनुपुत्र; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मणों का अनुयायी तथा आदर करनेवाला; सत्य-सन्धः—वचन का पक्का; च—भी; रामः—भगवान् राम; दाशरथिः—महाराज दशरथ के पुत्र; यथा—जिस तरह।

विद्वान् ब्राह्मणों ने कहा : हे पृथापुत्र, यह बालक मनु-पुत्र, राजा इक्ष्वाकु की ही तरह समस्त जीवों का पालन करनेवाला होगा। और जहाँ तक ब्राह्मणीय सिद्धान्तों के पालन की बात है, विशेष रूप से अपने वचन का पालन करने में, यह महाराज दशरथ के पुत्र भगवान् राम जैसा (दृढ़ प्रतिज्ञ) होगा।

तात्पर्य : प्रजा का अर्थ है इस भौतिक जगत में जन्म लेनेवाला जीव। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, लेकिन भगवान् की सेवा से विलग होने एवं भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के फलस्वरूप, उसे अपनी भौतिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है। ऐसा होने से, वह जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध हो जाता है और उसका भौतिक शरीर उसके कर्म के अनुसार बदलता रहता है। इस प्रकार जीव ८४,००,००० योनियों में देहान्तर करता रहता है। किन्तु भगवान् का अंश होने के कारण, भगवान् न केवल उसके जीवन की

सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसका पालन करते हैं, अपितु स्वयं तथा अपने प्रतिनिधियों, राजर्षियों द्वारा उसकी रक्षा भी करते हैं। ये राजर्षि, समस्त प्रजा अथवा जीवों को जीवित रहने तथा उन्हें दिये गये बन्दी जीवन को पूरा करने के लिए सुरक्षा प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित वास्तव में एक आदर्श राजर्षि थे, क्योंकि एक बार जब वे अपने राज्य का दौरा कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि साक्षात् कलि एक बेचारी गाय को मारने जा रहा था। उन्होंने उसे तुरन्त बधिक करार करते हुए दण्डित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि साधुचरित शासकों द्वारा पशुओं तक को संरक्षण दिया जाता था, जो किसी भावावेश के कारण नहीं था, अपितु इसलिए था कि जिन्होंने इस भौतिक संसार में जन्म लिया है, उन्हें जीवित रहने का अधिकार है। सारे साधु राजा, सूर्य ग्रह के राजा से लेकर पृथ्वी के राजा तक, वैदिक साहित्य के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। वैदिक साहित्य की शिक्षा उच्चतर ग्रहों में भी दी जाती है, जैसा कि *भगवद्गीता* (४.१) में भगवान् द्वारा सूर्यदेव (विवस्वान्) को उपदेश देने का प्रसंग मिलता है। ऐसी शिक्षाएँ गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा चलती रहती हैं, क्योंकि सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु को शिक्षा दी, फिर मनु ने महाराज इक्ष्वाकु को शिक्षा दी। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और यहाँ पर जिस मनु का उल्लेख हुआ है, वे सातवें मनु हैं, जो *प्रजापतियों* में से एक हैं और वे सूर्यदेव के पुत्र हैं। वे वैवस्वत मनु कहलाते हैं। उनके दस पुत्र थे और महाराज इक्ष्वाकु उन्हीं में से एक थे। महाराज इक्ष्वाकु ने अपने पिता मनु से, *भगवद्गीता* में बताये गये भक्तियोग को भी सीखा। मनु ने इसे अपने पिता सूर्यदेव से प्राप्त किया था। बाद में, महाराज इक्ष्वाकु के बाद, *भगवद्गीता* की शिक्षा परम्परा द्वारा चलती रही, किन्तु कालक्रम से यह शृंखला पाखण्डियों द्वारा छिन्न कर दी गई। अतएव कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को फिर से इसकी शिक्षा दी गई। इस तरह सारा वैदिक साहित्य, सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है और *अपौरुषेय* कहलाता है, जिसका अर्थ है कि वह मनुष्य द्वारा रचित नहीं है। वैदिक ज्ञान का प्रवचन भगवान् द्वारा किया गया और ब्रह्माण्ड के सर्वप्रथम सृजित जीव ब्रह्मा ने सबसे पहले इसे सुना।

महाराज इक्ष्वाकु—ये वैवस्वत मनु के पुत्रों में से एक थे। इनके १०० पुत्र थे। उन्होंने मांसाहार को प्रतिबन्धित किया। उनकी मृत्यु के बाद उनका पुत्र शशाद् राजा बना।

मनु—इस श्लोक में जिन मनु का उल्लेख इक्ष्वाकु के पिता के रूप में हुआ है, वे सातवें मनु, वैवस्वत मनु अर्थात् सूर्यदेव विवस्वान् के पुत्र थे, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के पूर्व *भगवद्गीता* का उपदेश दिया था। समस्त मानव जाति मनु के वंशज हैं। इन वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे, जिनके नाम थे इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष, पृषध्र तथा वसुमान। भगवान् का मत्स्य-अवतार वैवस्वत मनु के प्रारम्भ में हुआ था। उन्होंने अपने पिता, सूर्यदेव विवस्वान् से *भगवद्गीता* के नियमों की शिक्षा प्राप्त की और इसे उन्होंने अपने पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को प्रदान किया। त्रेतायुग के प्रारम्भ में, सूर्यदेव ने मनु को भक्तिमय सेवा का पाठ पढ़ाया और मनु ने सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण हेतु इक्ष्वाकु को भक्ति की शिक्षा दी।

भगवान् राम—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने साक्षात् श्रीराम के रूप में, अपने विशुद्ध भक्त, अयोध्या के राजा महाराज दशरथ का पुत्रत्व स्वीकार करके स्वयं अवतार लिया। भगवान् राम अपने पूर्ण अंशों के समेत अवतरित हुए और वे सब उनके छोटे भाइयों के रूप में प्रकट हुए। भगवान् त्रेतायुग में, चैत्रमास में शुक्ल पक्ष की नवमी को, हमेशा की तरह धर्म की स्थापना करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित हुए। अभी वे तरुण ही थे कि उन्होंने सुबाहु को मारकर तथा नैतिक कार्यों में बाधा डालनेवाली राक्षसी मारीचा का वध करके विश्वामित्र की सहायता की। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का कार्य जन-कल्याण के लिए एक-दूसरे से सहयोग करने का होता है। ब्राह्मण मुनि अपने पूर्ण ज्ञान द्वारा लोगों को प्रबुद्ध करते हैं और क्षत्रिय उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् रामचन्द्र मानवता की उत्कृष्टतम संस्कृति के, जिसे *ब्रह्मण्य धर्म* कहते हैं, पालन तथा संरक्षण के लिए आदर्श राजा हैं। वे विशेष रूप से गायों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं, अतएव वे जगत की सम्पन्नता को बढ़ानेवाले हैं। उन्होंने प्रशासक देवताओं को विश्वामित्र के माध्यम से असुरों को जीतने के लिए प्रभावशाली अस्त्र प्रदान किये। वे राजा जनक के धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे और शिवजी के अजेय धनुष को तोड़कर, महाराज जनक की पुत्री सीतादेवी के साथ ब्याह किया।

विवाह के बाद उन्होंने अपने पिता महाराज दशरथ के आदेश से चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। देवताओं के प्रशासन में सहायता करने के लिए, उन्होंने चौदह हजार असुरों का बध किया। रावण ने, असुरों की चाल से, उनकी पत्नी सीतादेवी का अपहरण किया। उन्होंने सुग्रीव से मैत्री

स्थापित की और उसके भाई वालि को मारने में सहायता की। भगवान् राम की सहायता से सुग्रीव वानरों का राजा बना। भगवान् ने हिन्द महासागर में पत्थरों का तैरता हुआ एक सेतु बनाया और सीता के अपहरणकर्ता रावण के राज्य लंका में पहुँचे। तत्पश्चात् उन्होंने रावण का वध किया और लंका के सिंहासन पर रावण के भाई विभीषण को बैठाया। यद्यपि विभीषण राक्षस रावण का भाई था, किन्तु भगवान् राम ने उसे अपने वर से अमर बना दिया। चौदह वर्ष बीतने पर लंका का निपटारा करके, भगवान् पुष्पक विमान द्वारा अपने राज्य अयोध्या लौट आये। उन्होंने अपने भाई शत्रुघ्न को आदेश दिया कि मथुरा पर शासन चलानेवाले असुर लवणासुर पर आक्रमण करे। उन्होंने उस असुर का वध किया। उन्होंने दस *अश्वमेध यज्ञ* सम्पन्न किये और बाद में वे सरयू नदी में स्नान करते-करते अन्तर्धान हो गये। *रामायण* नामक महाकाव्य इस संसार में भगवान् राम की लीलाओं का इतिहास है और प्रामाणिक *रामायण* का लेखन महाकवि वाल्मीकि द्वारा सम्पन्न हुआ।

एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिबिः ।

यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एषः—यह बालक; दाता—दानी; शरण्यः—शरणागतों का रक्षक; च—तथा; यथा—जिस तरह; हि—निश्चय ही; औशीनरः—उशीनर नामक देश का; शिबिः—शिबि; यशः—यश; वितनिता—फैलानेवाला; स्वानाम्—स्वजनों का; दौष्यन्तिः—दुष्यन्त के पुत्र भरत की तरह; यज्वनाम्—अनेक यज्ञ सम्पन्न करनेवालों का।

यह बालक सुप्रसिद्ध उशीनर नरेश, शिबि, की भाँति उदार दानवीर तथा शरणागतों का रक्षक होगा। यह अपने कुल के नाम तथा यश को उसी तरह फैला देगा, जिस तरह महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत ने किया था।

तात्पर्य : राजा अपने दान-कर्म, यज्ञों की सम्पन्न करने शरणागतों की रक्षा के कारण विख्यात बनता है। क्षत्रिय राजा शरणागतों को सुरक्षा प्रदान करके गर्वित होता है। राजा की यह मनोवृत्ति ईश्वर भाव अर्थात् अच्छे कार्य के लिए सुरक्षा प्रदान करने की वास्तविक शक्ति कहलाती है। *भगवद्गीता* में भगवान् जीवों को उपदेश देते हैं कि तुम मेरी शरण में आओ तो मैं तुम्हें समस्त सुरक्षा का वचन देता हूँ। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और अपने वचनों के पक्के हैं, अतएव वे अपने विभिन्न भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने से कभी चूकते नहीं। राजा में, भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण, अपने प्राण की बाजी

लगाकर भी, शरणागत की रक्षा करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। उशीनर-नरेश महाराज शिबि महाराज ययाति के घनिष्ठ मित्र थे, जो महाराज शिबि समेत स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे। महाराज शिबि को ज्ञात था कि मृत्यु के बाद उन्हें स्वर्गलोक में जाना है और इस स्वर्गलोक का विवरण *महाभारत* (आदि पर्व ९६.६-९) में दिया हुआ है। महाराज शिबि इतने प्रणव दानी थे कि वे स्वर्गलोक में प्राप्त अपने स्थान को ययाति को देना चाहते थे, लेकिन ययाति ने उसे स्वीकार नहीं किया। ययाति अष्टक तथा अन्य महर्षियों के साथ स्वर्गलोक गये। ऋषियों के पूछे जाने पर ययाति ने, स्वर्ग जाते समय, उनसे शिबि के पुण्यकर्मों का वर्णन किया। वे यमराज की सभा के सदस्य बने जो उनके पूज्यदेव थे। जैसा कि *भगवद्गीता* से पुष्ट होता है, देवताओं का उपासक देवलोक को जाता है (*यान्ति देवव्रता देवान्*), अतएव महाराज शिबि, उस लोक में परम वैष्णव अधिकारी यमराज के पार्षद बन गये। जब वे पृथ्वी पर विद्यमान थे तो वे शरणागतों के रक्षक तथा दानी के रूप में अत्यन्त विख्यात हो चुके थे। एक बार स्वर्ग के राजा (इन्द्र) ने बाज का रूप धारण किया और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण किया। इस कबूतर ने बाज द्वारा पीछा किये जाने पर, महाराज शिबि की गोद में आकर शरण ली, किन्तु बाज चाहता था कि राजा उसे छोड़ दे। राजा उसे खाने के लिए दूसरा मांस देना चाहता था। राजा ने कबूतर को न मारने के लिए अनुनय-विनय की। बाज ने पहले राजा का अनुरोध नहीं माना, लेकिन बाद में यह तय हुआ कि राजा अपने शरीर से कबूतर के भार के बराबर मांस काट कर दे। राजा कबूतर के भार के तुल्य अपने शरीर से मांस काट-काट कर तुला पर रखता जाता, लेकिन रहस्यमय कबूतर सदा भारी ही रहता। तब राजा स्वयं तुला पर चढ़ गया जिससे भार पूरा हो जाये। इस पर देवता उस पर प्रसन्न हो गये। स्वर्ग के राजा तथा अग्निदेव ने अपनी पहचान बताई और राजा को आशीर्वाद दिया। देवर्षि नारद ने भी महाराज शिबि के दान तथा शरणागत की रक्षा के लिए किए गए कार्यों के लिए उनकी महिमा का गान किया। उन्होंने अपने राज्य के मनुष्यों की तुष्टि के लिए अपने पुत्र की बलि दे दी। इस प्रकार बालक परीक्षित दान तथा संरक्षण के मामले में दूसरा शिबि बनेगा।

दौष्यन्ति भरत—इतिहास में अनेक भरत हुए हैं, जिनमें से भगवान् राम के भाई भरत, राजा ऋषभ के पुत्र भरत तथा महाराज दुष्यन्त के पुत्र भरत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सारे भरत विश्व विख्यात हैं। यह पृथ्वीलोक ऋषभ के पुत्र राजा भरत के कारण भारत या भारतवर्ष के नाम से

विख्यात है, लेकिन कुछ लोगों के मतानुसार, यह देश दुष्यन्त के पुत्र के शासन के कारण भारत के नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन हमारे मत से इस देश का भारतवर्ष नाम, राजा ऋषभ के पुत्र भरत के शासन के कारण पड़ा है। उनके पूर्व यह भू-भाग इलावर्त-वर्ष कहलाता था, किन्तु ऋषभ-पुत्र भरत के राज्यारोहण के बाद, यह भारतवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लेकिन इन सबके बावजूद, महाराज दुष्यन्त का पुत्र भरत कम महत्त्वपूर्ण न था। वह सुप्रसिद्ध सुन्दरी शकुन्तला का पुत्र था। महाराज दुष्यन्त वन में इस सुन्दरी के प्रेमपाश में बँधे, तो भरत का गर्भाधान हुआ। तत्पश्चात् दुर्वासा मुनि के शापवश राजा, अपनी पत्नी शकुन्तला को भूल गया। बालक भरत का पालन-पोषण उस वन में ही उसकी माता द्वारा हुआ। वह अपने बाल्यकाल में ही इतना बलशाली था कि वह जंगल के सिंहों तथा हाथियों को ललकारता और उनके साथ वैसे ही लड़ता, जैसे छोटे-छोटे बालक कुत्ते-बिल्लियों से खेलते हैं। बालक के अत्यन्त शक्तिशाली होने से, यहाँ तक कि आधुनिक तथाकथित टार्जन से भी बढ़कर होने से, वन के ऋषिगण उसे सर्वदमन कहते थे। महाराज भरत का पूरा विवरण *महाभारत* के आदि पर्व में दिया हुआ है। कभी-कभी पाण्डवों या कौरवों को भारत कहकर सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि वे राजा दुष्यन्त के पुत्र महाराज भरत के कुल में उत्पन्न हुए थे।

धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः ।

हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

धन्विनाम्—महान् धनुर्धरों में; अग्रणीः—सर्वश्रेष्ठ; एषः—यह बालक; तुल्यः—समान रूप से उत्तम; च—तथा; अर्जुनयोः—अर्जुनों का; द्वयोः—दो; हुताशः—अग्नि; इव—सदृश; दुर्धर्षः—दुर्निवार, बेरोक; समुद्रः—समुद्र; इव—सदृश; दुस्तरः—दुर्लभ, पार न करने योग्य।

महान् धनुर्धरों में यह बालक अर्जुन के समान होगा। यह अग्निदेव के समान दुर्निवार तथा समुद्र की भाँति दुर्लभ होगा।

तात्पर्य : इतिहास में दो अर्जुन हुए हैं—एक कार्तवीर्य अर्जुन, जो हैहय के राजा थे और दूसरे इस बालक के दादा। दोनों ही अर्जुन अपनी धनुर्विद्या के लिए विख्यात हैं। बालक परीक्षित के विषय में

भविष्यवाणी की जा रही है कि वह युद्ध-कला में इन दोनों के समान होगा। पाण्डव अर्जुन का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया है।

पाण्डव अर्जुन—ये *भगवद्गीता* के महान् नायक हैं। ये महाराज पाण्डु के क्षत्रिय पुत्र थे। महारानी कुन्ती देवी किसी भी देवता का आवाहन कर सकती थीं और इस तरह जब उन्होंने इन्द्र का आवाहन किया, तो उससे अर्जुन का जन्म हुआ। अतएव अर्जुन स्वर्ग के राजा इन्द्र के पूर्ण अंश हैं। चूँकि उनका जन्म फाल्गुन मास (फरवरी-मार्च) में हुआ था, अतएव वे फाल्गुनि भी कहलाते हैं। जब वे कुन्ती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए, तो आकाशवाणी हुई कि यह पुत्र महान् होगा। उनके जन्मोत्सव में ब्रह्माण्ड के सारे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—यथा देवता, गन्धर्व, आदित्य (सूर्य लोकवासी), रुद्र, वसु, नाग, ऋषि तथा अप्सराएँ सम्मिलित हुए थे। अप्सराओं ने अपने स्वर्गिक नृत्य तथा गायन से सबों को प्रमुदित किया था। कृष्ण के पिता तथा अर्जुन के मामा श्री वसुदेव ने अपने पुरोहित कश्यप को, सारे संस्कारों द्वारा अर्जुन को परिशुद्ध करने के लिए भेजा था। उनका नामकरण संस्कार शतशृंग के निवासी ऋषियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। उनकी चार पत्नियाँ थीं—द्रौपदी, सुभद्रा, चित्रांगदा तथा उलूपी, जिनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनके नाम क्रमशः श्रुतकीर्ति, अभिमन्यु, बभ्रुवाहन तथा इरावान थे।

विद्यार्थी जीवन में इन्हें अन्य पाण्डवों तथा कौरवों के साथ महान् आचार्य द्रोणाचार्य की देखरेख में अध्ययन करने के लिए सौंपा गया था। अपने अध्यवसाय के कारण, ये सबों से आगे रहते थे और द्रोणाचार्य भी इनके प्रति शिष्य-प्रेम के कारण अत्यधिक आकृष्ट थे। द्रोणाचार्य ने इन्हें प्रथम कोटि के छात्र के रूप में ग्रहण किया था और हृदय से प्यार करने के कारण, इन्हें सैन्य-विज्ञान के सारे वर दे दिये थे। वे इतने उत्सुक छात्र थे कि वे रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करते थे, जिसके कारण द्रोणाचार्य इन्हें विश्व का सर्वोपरि धनुर्धर बनाना चाह रहे थे। वे लक्ष्य-वेध की परीक्षा में प्रतिभाशाली रूप से सफल रहे, फलतः द्रोणाचार्य इनसे अतीव प्रसन्न थे। मणिपुर तथा त्रिपुरा के राजपरिवार, अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन के वंशज हैं। अर्जुन ने द्रोणाचार्य को एक घड़ियाल के हमले से बचाया था और आचार्य ने प्रसन्न होकर उन्हें *ब्रह्मशिरस* नामक एक अस्त्र प्रदान किया था। महाराज द्रुपद का द्रोणाचार्य से वैर था, अतएव जब उसने आचार्य पर आक्रमण किया, तब अर्जुन उसे बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के समक्ष लाये। उन्होंने महाराज द्रुपद की नगरी अहिछत्रा को घेर लिया और इसे जीतकर द्रोणाचार्य को

दिया। द्रोणाचार्य ने ब्रह्मशिरस अस्त्र को चलाने का रहस्य बतलाया और अर्जुन से प्रतिज्ञा ली कि वह आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग तभी करेगा, जब स्वयं द्रोणाचार्य शत्रु-रूप में उपस्थित हों। इस तरह आचार्य ने कुरुक्षेत्र के भावी युद्ध की भविष्यवाणी की थी, जिसमें द्रोणाचार्य विपक्ष के साथ थे। यद्यपि महाराज द्रुपद, अर्जुन द्वारा आचार्य के लिए पराजित हुए थे, किन्तु उन्होंने अर्जुन को अपनी पुत्री द्रौपदी समर्पित करने का निश्चय किया। लेकिन जब उन्होंने यह गलत समाचार सुना कि दुर्योधन द्वारा नियोजित लाक्षागृह में अग्नि लगने से अर्जुन की मृत्यु हो गई, तो वे अत्यधिक निराश हुए। अतएव उन्होंने द्रौपदी का स्वयंवर करने का प्रबन्ध किया, जिसमें भावी पति को छत से लटकती मछली की आँख को वेधना था। यह युक्ति जान-बूझकर इसलिए की गई थी, क्योंकि केवल अर्जुन ही ऐसा कर सकते थे। इस तरह वे अपनी योग्य पुत्री को अर्जुन को सौंपने की अपनी योजना में सफल रहे। उस समय अर्जुन व सभी भाई, दुर्योधन से किये गए समझौते के अनुसार, लाक्षागृह की अग्नि से बचकर अज्ञातवास कर रहे थे, अतएव अर्जुन तथा उसके भाइयों ने ब्राह्मण-वेश में द्रौपदी-स्वयंवर में भाग लिया। जब वहाँ पर एकत्रित समस्त क्षत्रिय राजाओं ने देखा कि द्रौपदी ने एक दरिद्र ब्राह्मण को पति रूप में चुना है, तब श्रीकृष्ण ने बलराम से अर्जुन के परिचय का भेद खुला किया।

हरिद्वार (हरद्वार) में उनकी भेंट नागलोक की कन्या उलूपी से हुई। वे उससे आकृष्ट हुए और इस प्रकार इरवान का जन्म हुआ। इसी प्रकार उनकी भेंट मणिपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा से हुई और इससे बभ्रुवाहन प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा के अपहरण के लिए अर्जुन की सहायता करने की योजना बनाई, क्योंकि बलदेव उसे दुर्योधन को देने पर तुले थे। युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण से सहमत थे और इस तरह अर्जुन ने बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण करके उसके साथ विवाह कर लिया। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु था, जिसकी मृत्यु के बाद परीक्षित महाराज ने पुत्र-रूप में जन्म लिया। अर्जुन ने खाण्डव वन का अग्निदाह करके जब अग्निदेव को प्रसन्न कर लिया, तो अग्निदेव ने उन्हें एक अस्त्र प्रदान किया। जब अर्जुन ने खाण्डव वन में अग्नि लगा दी, तो इन्द्र अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अन्य देवताओं की सहायता से अर्जुन पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वे सब अर्जुन द्वारा पराजित हुए और इन्द्रदेव को स्वर्ग लौट जाना पड़ा। अर्जुन ने एक मयासुर की भी रक्षा करने का वचन दिया था

और उसने उन्हें एक मूल्यवान शंख प्रदान किया, जिसका नाम देवदत्त था। इसी प्रकार इन्द्रदेव ने उनकी शूरवीरता से प्रसन्न होकर उन्होंने अनेक अस्त्र प्रदान किये।

जब महाराज युधिष्ठिर मगध के राजा जरासन्ध को न हरा पाने से निराश हो रहे थे, तब अर्जुन ने ही उन्हें इस प्रकार से आश्वासन दिया और तब अर्जुन, भीम तथा भगवान् कृष्ण उसका वध करने के लिए मगध के लिए रवाना हुए। जब वे विश्व भर के राजाओं को पाण्डवों के अधीन बनाने के लिए बाहर गये, जैसाकि प्रत्येक सम्राट के राजतिलक के बाद होता है, तो उन्होंने केलिन्द नामक देश को जीता और राजा भगदत्त को अपने अधीन किया। इसके बाद वे अन्तगिरि, उलुकपुर तथा मोदपुर जैसे देशों में विचरते रहे और समस्त राजाओं को अपने अधीन बनाया।

कभी-कभी उन्होंने कठोर तपस्याएँ कीं और बाद में उन्हें इन्द्रदेव से वरदान भी मिला। शिवजी भी अर्जुन के बल की परीक्षा करना चाहते थे, अतएव वे एक आदिवासी के रूप में अर्जुन से मिले। उन दोनों में भीषण युद्ध हुआ और अन्त में जब शिवजी उनसे प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय प्रकट किया। अर्जुन ने विनीत भाव से उनकी प्रार्थना की और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुन को *पाशुपत* अस्त्र प्रदान किया। उन्होंने विभिन्न देवताओं से अन्य अनेक अस्त्र प्राप्त किये—यथा यमराज से *दण्डास्त्र*, वरुण से *पाशास्त्र*, स्वर्ग के भंडारी कुवेर से *अन्तर्धान-अस्त्र*। इन्द्र ने चाहा कि अर्जुन चन्द्रलोक से भी आगे इन्द्रलोक नामक स्वर्ग के ग्रह में जायें। उस ग्रह पर स्थानीय निवासियों द्वारा उनका हार्दिक स्वागत हुआ और इन्द्रदेव की स्वर्गीय संसद में उनका भव्य स्वागत हुआ। तब वे इन्द्रदेव से मिले, जिन्होंने न केवल उन्हें *वज्रास्त्र* प्रदान किया, अपितु उन्हें सैन्य तथा संगीत-विद्या भी सिखलाई, जो उस समय स्वर्गलोक में प्रचलित थीं। एक तरह से, इन्द्र ही अर्जुन के वास्तविक पिता थे, अतएव वे अर्जुन का मनोरंजन स्वर्ग की सुन्दर अप्सरा उर्वशी द्वारा कराना चाहते थे। स्वर्ग की अप्सराएँ अत्यन्त कामुक होती हैं और उर्वशी अर्जुन के संसर्ग के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, क्योंकि अर्जुन अत्यन्त बलशाली मनुष्य थे। वह उनसे उनके कक्ष में मिली और उनसे अपनी इच्छा व्यक्त की, किन्तु अर्जुन ने अपनी आँखें बन्द करके, उसे कुरुवंश की माता के रूप में सम्बोधित करके अपने निर्दोष चरित्र का परिचय दिया तथा उर्वशी को कुन्ती, माद्री तथा इन्द्रपत्नी शचीदेवी की कोटि में ला दिया। निराश होकर उर्वशी

ने अर्जुन को शाप दे दिया और वहाँ से चली गई। स्वर्ग में ही उनकी भेंट विख्यात साधु लोमश से हुई, जिनसे उन्होंने महाराज युधिष्ठिर की रक्षा करने की प्रार्थना की।

जब उनका घोर विरोधी चचेरा भाई, दुर्योधन गन्धर्वों के चंगुल में था, तो उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से अर्जुन ने गन्धर्वों से अनुनय-विनय की थी कि वे उसे छोड़ दें, लेकिन गन्धर्वों के ऐसा करने से मना करने पर उनसे युद्ध करके दुर्योधन को छुड़ाया था। जब समस्त पाण्डव अज्ञातवास कर रहे थे, तो ये राजा विराट के दरबार में क्लीव (हिजड़ा) के रूप में उपस्थित होकर, अपनी भावी पुत्रवधू उत्तरा के संगीत-शिक्षक बने और विराट के दरबार में बृहन्नला के नाम से विख्यात हुए। बृहन्नला के रूप में वे राजा विराट के पुत्र उत्तर के पक्ष से लड़े थे और अज्ञातवास-काल में कुरुओं को हराया था। उनके गुप्त अस्त्र एक शमी वृक्ष में सुरक्षित रखे गये थे और उन्होंने उत्तर को आदेश दिया कि वह उन्हें ले आए। बाद में उत्तर को उनका तथा उनके भाइयों की असली पहचान प्रकट कर दी गई। द्रोणाचार्य को कुरुओं तथा विराटों के युद्ध में अर्जुन के उपस्थित होने की सूचना दी गई थी। बाद में अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में कर्ण तथा अन्य बड़े-बड़े सेनापतियों का वध किया। कुरुक्षेत्र-युद्ध के पश्चात्, उन्होंने अश्वत्थामा को दण्ड दिया, जिसने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया था। तब सभी भाई भीष्मदेव के पास गये थे।

यह अर्जुन के कारण ही सम्भव हुआ कि कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् ने *भगवद्गीता* का प्रवचन किया। कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में उनके आश्चर्यजनक कार्यों का *महाभारत* में विशद वर्णन हुआ है। किन्तु अर्जुन अपने ही पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा मणिपुर में पराजित हुए और मूर्छित हो गये, पर उलूपी ने तब उनकी रक्षा की। भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने का समाचार अर्जुन द्वारा महाराज युधिष्ठिर को दिया गया। पुनः अर्जुन ने द्वारका की यात्रा की, तो कृष्ण की सारी विधवा पत्नियों ने उनके सामने विलाप किया। वे उन सबों को वसुदेव के पास ले गये और सान्त्वना दी। बाद में, वसुदेव के दिवंगत हो जाने पर, कृष्ण की अनुपस्थिति में उन्होंने ही उनका दाह-संस्कार किया। जब अर्जुन कृष्ण की सभी पत्नियों को इन्द्रप्रस्थ ले जा रहे थे, तो मार्ग में उन पर आक्रमण हो गया और वे उन स्त्रियों की रक्षा नहीं कर पाये। अन्त में व्यासदेव के उपदेश से सारे पाण्डव महाप्रस्थान के लिए चल पड़े। मार्ग में उन्होंने अपने भाई के अनुरोध पर, अपने सारे अस्त्रों को व्यर्थ समझकर उन्हें पानी में फेंक दिया।

मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव ।
तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मृगेन्द्रः—सिंह; इव—सदृश; विक्रान्तः—शक्तिशाली; निषेव्यः—शरण ग्रहण करने योग्य; हिमवान्—हिमालय पर्वत; इव—सदृश; तितिक्षुः—क्षमावान्; वसुधा इव—पृथ्वी के समान; असौ—यह बालक; सहिष्णुः—सहिष्णु; पितरौ—माता-पिता; इव—सदृश ।

यह बालक सिंह के समान बलशाली तथा हिमालय की भाँति आश्रय प्रदान करनेवाला होगा। यह पृथ्वी के समान क्षमावान तथा अपने माता-पिता के समान सहिष्णु होगा।

तात्पर्य : जब कोई अपने शत्रु का पीछा करने में अत्यन्त प्रबल होता है, तो उसकी तुलना सिंह से की जाती है। मनुष्य को घर में मेमना बने रहना चाहिए, किन्तु शत्रु का पीछा करते समय उसे सिंह होना चाहिए। सिंह कभी पशु को पकड़ने में असफल नहीं होता। इसी प्रकार राज्य के प्रमुख को शत्रु का पीछा करने में कभी असफल नहीं होना चाहिए। हिमालय पर्वत अपनी समृद्धि के लिए विख्यात है। वहाँ रहने के लिए अनेक कन्दराएँ हैं, खाने के लिए उत्तम फलदार वृक्ष हैं, पानी पीने के लिए निर्मल झरने हैं और रोगों को ठीक करने की अनेक औषधियाँ तथा खनिज हैं। जो व्यक्ति भौतिक रूप से सम्पन्न न हो, उसे चाहिए कि इन पर्वतों की शरण ले, तो उसे सारी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाएँगी। भौतिकतावादी तथा अध्यात्मवादी दोनों ही समान रूप से हिमालय की शरण ग्रहण कर सकते हैं। पृथ्वी के निवासियों द्वारा पृथ्वी पर अनेक उत्पात मचाये जाते हैं। आधुनिक युग में लोग पृथ्वी की सतह पर परमाणु अस्त्रों का विस्फोट करने लगे हैं, फिर भी पृथ्वी इन निवासियों के उत्पातों को सहती रहती है। माता-पिता बच्चों की समस्त प्रकार की शैतानियों को सहते रहते हैं जिस प्रकार एक माता छोटे बच्चे को क्षमा करती है। आदर्श राजा में ये सारे उत्तम गुण होने चाहिए और बालक परीक्षित इन सारे गुणों से परिपूर्ण होने की भविष्यवाणी की जा रही है।

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः ।
आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पितामह—पितामह या ब्रह्मा; समः—तुल्य; साम्ये—समता में; प्रसादे—दान या कृपालुता में; गिरिश—शिवजी; उपमः—उपमा, तुलना; आश्रयः—आश्रय, विश्राम-स्थल; सर्व—सभी; भूतानाम्—जीवों का; यथा—जिस तरह; देवः—परमेश्वर; रमा-आश्रयः—भगवान्।

यह बालक मन की समता में अपने पितामह युधिष्ठिर या फिर ब्रह्मा के समान होगा। दानशीलता में यह कैलाशपति शिव के समान होगा। यह देवी लक्ष्मी के भी आश्रय, भगवान् नारायण के समान सबों को आश्रय देनेवाला होगा।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा जीवों के पितामह, ब्रह्मा, दोनों ही मन की समता (समदर्शिता) के द्योतक हैं। श्रीधरस्वामी के अनुसार, *पितामह* शब्द ब्रह्मा के लिए आया है, किन्तु विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, पितामह स्वयं महाराज युधिष्ठिर हैं। किन्तु दोनों ही तरह से यह उपमा समान रूप से उत्तम है, क्योंकि दोनों ही परमेश्वर के जाने-माने प्रतिनिधि हैं, अतएव दोनों को ही, जीव के कल्याणकार्य में लगे रहने से, मानसिक समता बनाये रखनी होती है। शासन के किसी भी सर्वोच्च जिम्मेदार कार्यकारी व्यक्ति को उन्हीं सबों के घात सहने पड़ते हैं, जिनके लिए वह कार्य करता है। ब्रह्माजी की आलोचना गोपियों तक ने की, जो भगवान् के महान्तम पूर्ण भक्त हैं। गोपियाँ ब्रह्माजी के कार्य से असन्तुष्ट थीं, क्योंकि इस ब्रह्माण्ड-विशेष के स्रष्टा-रूप में, उन्होंने पलकें बनाई, जिनके कारण भगवान् कृष्ण का दर्शन करने में उन्हें बाधा पहुँचती थी। वे क्षण भर भी पलक झपकाना पसन्द नहीं करती थीं, क्योंकि इससे उनके परम प्रिय भगवान् का दर्शन रुक जाता था। अतएव अन्यो के विषय में क्या कहा जाये, जो किसी भी उत्तरदायी व्यक्ति के हर कार्य की आलोचना करते रहते हैं? इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को, अपने शत्रुओं द्वारा उत्पन्न की गई अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करते रहना होता था, किन्तु सभी नाजुक परिस्थितियों में भी वे मानसिक सन्तुलन पूर्णरूपेण बनाये रहे। अतः मानसिक समता बनाये रखने में दोनों पितामहों का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

शिवजी भिखारियों को दान देने के लिए विख्यात देवता हैं। अतएव उनका नाम आशुतोष है, जिसका अर्थ है शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न होनेवाले। वे भूतनाथ भी कहलाते हैं, जिसका अर्थ है सामान्य (गँवई) लोगों के स्वामी, जो उनके प्रति इसलिए आकर्षित होते हैं, क्योंकि वे भावी परिणामों का विचार किये बिना उदार वर देते रहते हैं। रावण शिवजी के प्रति अत्यधिक आसक्त था और वह उन्हें सरलता से प्रसन्न करके इतना शक्तिशाली बन गया कि उसने भगवान् राम की सत्ता को चुनौति देना

चाहा। निस्सन्देह, जब रावण शिवजी के आराध्य भगवान् राम से लड़ा, तो शिवजी ने उसकी कोई सहायता नहीं की। शिवजी ने वृकासुर को ऐसा वरदान दिया था, जो न केवल उपहासास्पद था, अपितु भयावह भी था। शिवजी की कृपा से वृकासुर इतना शक्तिशाली बन गया कि वह किसीके भी मस्तक पर हाथ रख कर उसे तुरन्त नष्ट कर सकता था। यद्यपि शिवजी ने ही यह वरदान दिया था, किन्तु उस चालाक असुर ने शिवजी के मस्तक का स्पर्श करके इसकी शक्ति का परीक्षण करना चाहा। इस तरह शिवजी को इस मुसीबत से अपनी रक्षा करने के लिए विष्णु की शरण लेनी पड़ी। भगवान् विष्णु ने अपनी माया से वृकासुर को अपने ही मस्तक का स्पर्श करके परीक्षण करने के लिए कहा। उसने वैसा ही किया, जिससे वह नष्ट हो गया और इस तरह यह संसार देवताओं के चालाक याचक की सारी मुसीबतों से मुक्त हो सका। सबसे मजेदार बात यह है कि शिवजी कभी किसी को किसी प्रकार का वरदान देने से मना नहीं करते। अतएव वे सर्वाधिक उदार हैं, यद्यपि कभी-कभी उनसे ऐसी कुछ भूल हो जाती है।

रमा का अर्थ है भाग्य की देवी। उनके आश्रय भगवान् विष्णु हैं। भगवान् विष्णु समस्त जीवों के पालक हैं। जीव असंख्य होते हैं, जो न केवल इस ग्रह में रहते हैं, अपितु अन्य लाखों ग्रहों में भी रहते हैं। आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उन सबको जीवन की समस्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, लेकिन इन्द्रियतृप्ति के मार्ग में वे माया के कारण कठिनाई में फँस जाते हैं, अतएव वे आर्थिक विकास की मिथ्या योजना के मार्ग पर जाते हैं। ऐसा आर्थिक विकास कभी सफल नहीं होता, क्योंकि यह भ्रामक है। ये लोग सदैव भ्रामक लक्ष्मीदेवी के पीछे-पीछे लगे रहते हैं, लेकिन ये लोग यह नहीं जानते कि लक्ष्मीजी केवल विष्णु के संरक्षण में ही रह सकती हैं। विष्णु के बिना, लक्ष्मीजी कोरी माया हैं। अतएव हमें प्रत्यक्ष रूप से लक्ष्मीजी का आश्रय न ढूँढ़ कर विष्णु का आश्रय लेना चाहिए। केवल विष्णु तथा उनके भक्त ही सबों को आश्रय प्रदान कर सकते हैं और चूँकि महाराज परीक्षित की रक्षा स्वयं विष्णु कर रहे थे, अतएव यह सर्वथा सम्भव था कि वे अपने शासन में रहनेवाले सबों को पूरा-पूरा संरक्षण प्रदान कर सकें।

सर्वसद्गुणमाहात्म्ये एष कृष्णमनुव्रतः ।

रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सर्व-सत्-गुण-माहात्म्ये—समस्त दैवी गुणों से महिमान्वित; एषः—यह बालक; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण की तरह; अनुव्रतः—उनके पदचिह्नों पर चलनेवाला; रन्तिदेवः—रन्तिदेव; इव—सदृश; उदारः—उदार; ययातिः—ययाति; इव—सदृश; धार्मिकः—धर्म के मामले में।

यह बालक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों का पालन करते हुए, उन्हीं के समान होगा।

उदारता में यह राजा रन्तिदेव के समान तथा धर्म में यह महाराज ययाति की भाँति होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तिम उपदेश यह है कि मनुष्य सब कुछ त्याग कर भगवान् के ही चरणचिह्नों का अनुसरण करे। अल्पज्ञानी लोग इस महान् उपदेश को स्वीकार नहीं करते, जो उनका दुर्भाग्य ही है, किन्तु जो मनुष्य सचमुच बुद्धिमान है, वह इस अलौकिक उपदेश को ग्रहण करके तुरन्त लाभान्वित होता है। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि संगति से ही गुण ग्रहण किये जाते हैं। यहाँ तक कि भौतिक अर्थ में भी, अग्नि की संगति से कोई भी वस्तु गरम हो जाती है। अतएव परम पुरुषोत्तम भगवान् की संगति से मनुष्य भगवान् के ही समान योग्य बन जाता है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् की घनिष्ठ संगति से हम ७८ प्रतिशत भगवदीय गुण प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही भगवान् की संगति करना है। *भगवान् कोई भौतिक वस्तु नहीं हैं, जिसकी उपस्थिति का अनुभव ऐसा संग करने के लिए आवश्यक होता है।* भगवान् सर्वत्र और सभी काल में उपस्थित रहते हैं। यह पूरा सम्भव है कि केवल उनके आदेश पालन करने से ही उनकी संगति प्राप्त हो जाए, क्योंकि भगवान् एवं उनका आदेश तथा भगवान् एवं उनका नाम, यश, गुण तथा साज-सामान, परम ज्ञान होने के कारण उनसे अभिन्न हैं। महाराज परीक्षित अपनी माता के गर्भ से लेकर अपने अमूल्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक भगवान् की संगति में रहे, अतएव उन्होंने भगवान् के सारे अनिवार्य उत्तम गुण, पूर्णतया अर्जित कर लिये थे।

रन्तिदेव—ये *महाभारत* काल से भी पहले के प्राचीन राजा हैं, जिनका उल्लेख नारदमुनि ने संजय को उपदेश देते हुए किया था, जैसा कि *महाभारत* (द्रोण पर्व ६७) से ज्ञात होता है। ये महान् राजा थे और आतिथ्य के लिए तथा भोजन वितरण करने के लिए विख्यात थे। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इनके दान तथा आतिथ्य की प्रशंसा की थी। वशिष्ठ मुनि को शीतल जल प्रदान करने के कारण उन्हें उनसे वर प्राप्त हुआ, जिस से वे स्वर्गलोक गये। वे ऋषियों को फल, कन्द तथा पत्तियाँ पहुँचाया करते

थे, जिससे इच्छापूर्ति होने के कारण वे आशिष दिया करते थे। *यद्यपि वे जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु उन्होंने अपने जीवन में कभी भी मांस भक्षण नहीं किया।* उन्होंने वशिष्ठ मुनि का विशेष आतिथ्य किया और उनके आशीर्वाद से ही उन्हें स्वर्गलाभ हुआ। वे उन राजाओं में से हैं, जिनका स्मरण हर प्रातः तथा संध्या समय किया जाता है।

ययाति—ये विश्व के महान् सम्राट और आर्य तथा भारोपीय कुल से सम्बन्धित समस्त महान् राष्ट्रों के आदि पूर्वज थे। ये महाराज नहुष के पुत्र थे और अपने बड़े भाई के मुक्त योगी हो जाने पर विश्व के सम्राट बने थे। उन्होंने कई हजार वर्षों तक राज्य किया और अनेक यज्ञ तथा पुण्यकार्य किये जिनका इतिहास साक्षी है, यद्यपि उनका प्रारम्भिक यौवन अत्यन्त वासनामय तथा प्रेमपूर्ण कहानियों से भरा पड़ा था। वे देवयानी के प्रेमपाश में फँस गये, जो शुक्राचार्य की सर्वाधिक प्रिय पुत्री थी। देवयानी उनसे विवाह करना चाहती थी, किन्तु ब्राह्मण की पुत्री होने के कारण, ययाति ने पहले उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। शास्त्रों के अनुसार केवल एक ब्राह्मण ही ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह कर सकता था। वे विश्व में *वर्ण-संकर* जनसंख्या के प्रति विशेष सतर्क रहते थे। लेकिन शुक्राचार्य ने वर्जित विवाह के इस नियम को संशोधित करके राजा ययाति से देवयानी को स्वीकार करने के लिए आग्रह किया। देवयानी की एक सखी शर्मिष्ठा थी, वह भी राजा से प्रेम करने लगी थी। अतएव वह अपनी सखी देवयानी के साथ ससुराल गई। शुक्राचार्य ने सम्राट ययाति को मना किया कि वह शर्मिष्ठा को अपने शयन-कक्ष में न बुलाए, लेकिन ययाति उनके आदेशों का दृढ़ता से पालन न कर सके। उन्होंने चुपके से शर्मिष्ठा से भी विवाह कर लिया, जिससे उनके कई पुत्र हुए। जब इसका पता देवयानी को चला, तो वह अपने पिता के पास गई और शिकायत की। ययाति देवयानी के प्रति अत्यन्त आसक्त थे। अतएव जब वे उसे बुलाने अपने श्वसुर के घर गये, तो शुक्राचार्य ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया कि वह नपुंसक हो जाये। ययाति ने अपने श्वसुर से विनती की कि वे शाप को वापस ले लें। लेकिन मुनि ने ययाति को यौवन लौटाने की शर्त के तौर पर उनसे कहा कि वे अपने पुत्रों का यौवन लेकर, उन्हें वृद्ध एवं नपुंसक हो जाने दें। उनके पाँच पुत्र थे, जिनमें से दो देवयानी से प्राप्त हुए थे और तीन शर्मिष्ठा से। उनके पाँच पुत्रों (१) यदु, (२) तुर्वसु, (३) द्रुह्यु, (४) अनु तथा (५) पुरु से, क्रमशः पाँच विख्यात वंशों का उद्भव हुआ—(१) यदुवंश, (२) यवन (तुर्क) वंश (३) भोजवंश, (४) म्लेच्छ

वंश (ग्रीक) तथा (५) पौरव। ये सारे वंश विश्व भर में फैल गये। वे अपने पुण्यकर्मों से स्वर्गलोक पहुँच गये, लेकिन आत्म-प्रशंसा तथा अन्य महात्माओं की आलोचना करने के कारण उन्हें वहाँ से नीचे गिरना पड़ा। उनके पतन के बाद, उनकी कन्या तथा पौत्र ने उन्हें अपने सारे संचित पुण्य प्रदान किये और वे अपने पौत्र तथा अपने मित्र शिबि की सहायता से पुनः स्वर्गलोक में पहुँच सके, जहाँ वे यमराज की सभा के सदस्य बने और भक्त के रूप में वहीं रहते रहे। उन्होंने एक हजार से अधिक यज्ञ किये और मुक्तहस्त दान दिया। वे अत्यन्त प्रभावशाली राजा थे। सारे विश्व में उनका दबदबा था। जब वे कामवासना से एक हजार वर्षों तक अत्यधिक पीड़ित रहे, तो उनके सबसे छोटे पुत्र ने उन्हें अपना यौवन अर्पित किया। अन्ततः, वे सांसारिक जीवन से विरक्त हो गये और उन्होंने अपने पुत्र पुरु को उसका यौवन लौटा दिया। उन्होंने पुरु को राज्य भी सौंपना चाहा, लेकिन उनके दरबारी तथा प्रजागण इसके लिए राजी न हुए। किन्तु जब उन्होंने उनसे राजा पुरु की महानता का बखान किया, तो वे उसे राजा स्वीकार करने के लिए राजी हो गये और इस तरह सम्राट ययाति गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर गृहत्याग कर, वन चले गये।

धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः ।

आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धृत्या—धैर्य से; बलि-समः—बलि महाराज के समान; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के प्रति; प्रह्लाद—प्रह्लाद महाराज; इव—सदृश; सत्-ग्रहः—भक्त; आहर्ता—सम्पन्न करनेवाला; एषः—यह बालक; अश्वमेधानाम्—अश्वमेध यज्ञों का; वृद्धानाम्—वृद्ध तथा अनुभवी व्यक्तियों का; पर्युपासकः—अनुयायी।

यह बालक धैर्य में बलि महाराज के समान होगा और प्रह्लाद महाराज के समान कृष्ण का अनन्य भक्त, यह अनेक अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न करनेवाला तथा वृद्ध एवं अनुभवी व्यक्तियों का अनुयायी होगा।

तात्पर्य : बलि महाराज—ये भगवान् की भक्ति के बारह अधिकारियों (महाजनों) में से एक हैं। ये भक्ति के अधिकारी (महान्) इसलिए बने, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए इन्होंने सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था और अपने तथाकथित गुरु से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, क्योंकि गुरु ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व न्यौछावर करने में बाधा उत्पन्न की थी। धार्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि,

बिना किसी कारण के या किसी प्रकार के सांसारिक व्यवधान के, भगवद्भक्ति की अहैतुकी अवस्था प्राप्त करना है। बलि महाराज भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व त्याग देने के लिए कृतसंकल्प थे और उन्होंने किसी प्रकार की अड़चन की परवाह नहीं की। ये भक्ति के अन्य प्रामाणिक अधिकारी (महाजन) प्रह्लाद महाराज के पौत्र थे। बलि महाराज तथा विष्णु वामनदेव के साथ उनके व्यवहार की कथा *श्रीमद्भागवत* के आठवें स्कंध (अध्याय ११-२४) में वर्णित है।

प्रह्लाद महाराज—वे भगवान् कृष्ण (विष्णु) के परम भक्त थे। अभी वे केवल पाँच वर्ष के ही थे कि उनके पिता हिरण्यकशिपु ने भगवान् का अनन्य भक्त होने के लिए उन्हें कठोर दण्ड दिया। वे हिरण्यकशिपु के प्रथम पुत्र थे और उनकी माता का नाम कयाधु था। प्रह्लाद महाराज महाभागवत थे, क्योंकि उनके पिता का वध भगवान् नृसिंहदेव ने किया था। इससे यह दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ था कि यदि भक्ति मार्ग में पिता बाधक बने, तो उसे भी भक्ति के पथ से दूर कर देना चाहिए। उनके चार पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र, विरोचन के पुत्र-रूप में, बलि महाराज हुए जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के सातवें स्कंध में मिलता है।

राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ।

निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

राज-ऋषीणाम्—ऋषि तुल्य राजाओं का; जनयिता—उत्पन्न करनेवाला; शास्ता—दण्ड देनेवाला; च—तथा; उत्पथ-गामिनाम्—मर्यादा उल्लंघन करनेवालों का; निग्रहीता—दमनकर्ता; कलेः—उपद्रव करनेवालों का; एषः—यह; भुवः—संसार को; धर्मस्य—धर्म के; कारणात्—कारण से।

यह बालक ऋषि तुल्य राजाओं का पिता होगा। विश्व-शान्ति तथा धर्म के निमित्त यह मर्यादा तोड़नेवालों तथा उपद्रवकारियों को दण्ड देनेवाला होगा।

तात्पर्य : संसार में सबसे विचक्षण व्यक्ति भगवान् का भक्त होता है। ऋषिगण प्रज्ञावान व्यक्ति कहलाते हैं और ज्ञान की विविध शाखाओं के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्रज्ञावान व्यक्ति होते हैं। अतएव जब तक राजा, या किसी राज्य का अध्यक्ष, सबसे बुद्धिमान व्यक्ति नहीं होता, तब तक वह राज्य के सभी प्रकार के बुद्धिमान व्यक्तियों को वश में नहीं रख सकता। महाराज युधिष्ठिर के कुल की राजसी परम्परा से सारे राजा बिना किसी अपवाद के अपने काल के सर्वाधिक विचक्षण व्यक्ति थे और

ऐसी ही भविष्यवाणी महाराज परीक्षित तथा उनके होनेवाले पुत्र महाराज जनमेजय के विषय में की जा रही थी। ऐसे प्रज्ञावान राजा ही मर्यादा तोड़नेवालों को दण्ड देनेवाले तथा कलि अर्थात् या झगड़ालू तत्त्वों के विच्छेदक बन सकते हैं। जैसाकि अगले अध्यायों से स्पष्ट हो जायेगा, महाराज परीक्षित मूर्तिमंत कलि का वध करना चाहते थे, क्योंकि वह शान्ति तथा धर्म की प्रतीक गाय को मारने का प्रयत्न कर रहा था। कलि के लक्षण हैं—(१) सुरा, (२) स्त्रियाँ, (३) द्यूत क्रीड़ा तथा (४) कसाई घर। समस्त राज्यों के बुद्धिमान शासकों को चाहिए कि वे महाराज परीक्षित से शिक्षा ग्रहण करें कि किस तरह उन मर्यादा भंग करनेवालों का तथा उपद्रव करनेवालों का दमन करके शान्ति तथा नैतिकता स्थिर रखी जाती है, जो सुरा, सुन्दरी, द्यूत क्रीड़ा तथा नियमित रूप से चलाये जा रहे कसाईघरों से मिलनेवाले मांस का सेवन करते हैं। इस कलियुग में कलह उत्पन्न करने वाले इन विभिन्न विभागों को चालू रखने के लिए लाइसेंस दिये जाते हैं। तो ऐसे राज्य में शान्ति तथा नैतिकता की आशा किस तरह की जा सकती है? अतएव राज्य के जनकों को भगवान् की भक्ति द्वारा, अनुशासन को भंग करनेवालों को दण्ड देकर तथा कलह के लक्षणों का उन्मूलन करके चतुर बनने के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। यदि हम प्रज्वलित अग्नि चाहते हैं, तो सूखे ईंधन का प्रयोग करना पड़ेगा, क्योंकि प्रज्वलित अग्नि तथा गीले ईंधन का मेल नहीं होता। शान्ति तथा नैतिकता वहीं फल-फूल सकती हैं, जहाँ महाराज परीक्षित तथा उनके अनुयायियों के सिद्धान्तों का पालन होता हो।

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् ।

प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तक्षकात्—तक्षक नागराज द्वारा; आत्मनः—अपनी; मृत्युम्—मृत्यु को; द्विज-पुत्र—ब्राह्मण पुत्र द्वारा; उपसर्जितात्—भेजा गया; प्रपत्स्यते—शरण ग्रहण करने पर; उपश्रुत्य—सुनकर; मुक्त-सङ्गः—समस्त आसक्ति से मुक्त; पदम्—पद; हरेः—भगवान् का।

वह ब्राह्मण पुत्र के द्वारा भेजे गये तक्षक नाग के डसने से अपनी मृत्यु होने की बात सुनकर समस्त भौतिक आसक्ति से अपने आपको मुक्त करके, भगवान् को आत्म-समर्पण करके उन्हीं की शरण ग्रहण करेगा।

तात्पर्य : भौतिक आसक्ति तथा भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने में कोई मेल नहीं है। भौतिक आसक्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में दिव्य सुख के प्रति अज्ञान। इस संसार में रहते हुए, भगवान् की भक्तिमय सेवा भगवान् के साथ दिव्य सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अभ्यास करने का साधन है और जब यह परिपक्व हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है और भगवाद्धाम वापस जाने के लिए सक्षम बन जाता है। महाराज परीक्षित, अपनी माता के गर्भ में शरीर धारण करते हुए ही भगवान् के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हो चुके थे और निरन्तर भगवान् की शरण में रह रहे थे। ब्राह्मण पुत्र द्वारा दिये गये शाप के सात दिन के भीतर ही अपनी मृत्यु की तथाकथित चेतावनी उनके लिए वरदान थी, क्योंकि इससे वे भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी कर सकते थे। चूँकि वे भगवान् द्वारा सदा ही रक्षित थे, अतएव यदि वे चाहते तो भगवत्कृपा से इस शाप के प्रभाव से बच सकते थे। लेकिन उन्होंने बिना किसी कारण के भगवत्कृपा का अनुपयुक्त लाभ उठाना पसन्द नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इस नुकसान के सौदे का सर्वोत्तम लाभ उठाया। उन्होंने लगातार सात दिनों तक उपयुक्त पात्र से *श्रीमद्भागवत* सुना और इस तरह वे भगवान् के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त कर सके।

जिज्ञासितात्मयाथार्थ्यो मुनेर्व्याससुतादसौ ।

हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाकुतोभयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जिज्ञासित—जिज्ञासा करते हुए; आत्म-याथार्थ्यः—आत्मा का सही ज्ञान; मुनेः—विद्वान्, दार्शनिक; व्यास-सुतात्—व्यास के पुत्र से; असौ—वह; हित्वा—त्यागकर; इदम्—इस भौतिक आसक्ति को; नृप—हे राजा; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; यास्यति—जाएगा; अद्धा—सीधे; अकुतः—भयम्—निर्भय जीवन।

व्यासेदव के महान् दार्शनिक पुत्र से समुचित आत्म-ज्ञान के विषय में जिज्ञासा करने पर वह सारी भौतिक आसक्ति का परित्याग करेगा और निर्भय जीवन प्राप्त करेगा।

तात्पर्य : भौतिक ज्ञान का अर्थ है, आत्म-ज्ञान से अनभिज्ञता। दर्शन का अर्थ है सही आत्म-ज्ञान की खोज करना, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान। आत्म-साक्षात्कार के बिना का दर्शन मात्र शुष्क चिन्तन या समय तथा शक्ति का अपव्यय मात्र है। *श्रीमद्भागवत* वास्तविक आत्मज्ञान देता है और *श्रीमद्भागवत* सुनकर मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निर्भयता के साम्राज्य (अभयपद) में

प्रवेश कर सकता है। यह भौतिक जगत भय-प्रद है। इसके बन्दी सदैव इस तरह भयभीत रहते हैं मानो बन्दीगृह के भीतर हों। बन्दीगृह का कोई भी व्यक्ति बन्दीगृह के विधि-विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि करता है, तो उसका अर्थ है बन्दी-जीवन की एक और कालावधि का विस्तार। इसी प्रकार हम इस भौतिक जगत में हम सदा भयभीत बने रहते हैं। यह भयातुरता चिन्ता कहलाती है। भौतिक जीवन में समस्त योनियों में हर कोई या तो प्रकृति के नियमों को तोड़ने से या तोड़े बिना भी, चिन्ताग्रस्त रहता है। मुक्ति का अर्थ है इन अनवरत स्थायी चिन्ताओं से मुक्ति प्राप्त करना। यह तभी सम्भव है, जब चिन्ता को भगवद्-भक्ति में परिणत कर दिया जाय। *श्रीमद्भागवत* हमें अवसर प्रदान करता है कि हम चिन्ता के गुण को पदार्थ से अध्यात्म में बदल दें। ऐसा विद्वान् दार्शनिकों की संगति से, जैसे कि श्रीव्यासदेव के महान् पुत्र, स्वरूपसिद्ध शुक्रदेव गोस्वामी की संगति से सम्भव है। महाराज परीक्षित ने अपनी मृत्यु की चेतावनी मिलने के बाद इस अवसर का लाभ शुक्रदेव गोस्वामी की संगति करके उठाया और वांछित फल प्राप्त किया।

व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा *श्रीमद्भागवत* के इस तरह से वाचन तथा श्रवण का अनुकरण किया जाता है और मूर्ख श्रोता सोचते हैं कि वे भौतिक आसक्ति के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करके अभय-पद का जीवन प्राप्त कर सकेंगे। *श्रीमद्भागवत* का ऐसा अनुकरणात्मक श्रवण उपहासास्पद होता है और मनुष्य को ऐसे मसखरे लालची लोगों द्वारा भौतिक भोग को बनाये रखने के लिए सम्पन्न किये जानेवाले *भागवतम्* सप्ताह के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः ।

लब्धापचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; राज्ञे—राजा को; उपादिश्य—उपदेश देकर; विप्राः—वेदों में पारंगत व्यक्ति; जातक-कोविदाः—फलित ज्योतिष में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु व्यक्ति; लब्ध-अपचितयः—जिन्हें पारिश्रमिक के रूप में प्रचुर राशि प्राप्त हो चुकी थी; सर्वे—वे सब; प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; स्वकान्—अपने-अपने; गृहान्—घरों को।

इस प्रकार जो लोग ज्योतिष ज्ञान में तथा जन्मोत्सव सम्पन्न कराने में पटु थे, उन्होंने इस बालक के भविष्य के विषय में राजा युधिष्ठिर को उपदेश दिया। फिर प्रचुर दक्षिणा प्राप्त करके, वे अपने घरों को लौट गये।

तात्पर्य : वेद भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार से ज्ञान के आगार हैं। किन्तु ऐसे ज्ञान का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्णता है। दूसरे शब्दों में, सभ्य मनुष्यों के लिए वेद सभी प्रकार से मार्गदर्शक हैं। चूँकि मानव जीवन समस्त प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाने का सुअवसर है, अतएव वेदों के ज्ञान द्वारा इसका समुचित ढंग से पथ-प्रदर्शन होता है—चाहे वह भौतिक आवश्यकताएँ हों या आध्यात्मिक मोक्ष। मनुष्यों का ऐसा विशेष वर्ग, जो वेदों के ज्ञान में समर्पित होकर लगा रहता था, विप्र अर्थात् वैदिक ज्ञान का स्नातक कहलाता था। वेदों में ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैं, जिनमें से ज्योतिष तथा आयुर्वेद दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं, जो सामान्य जन के लिए आवश्यक हैं। अतएव, बुद्धिमान लोग, जिन्हें सामान्यतया ब्राह्मण कहा जाता है, वैदिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में पारंगत होकर समाज का मार्गदर्शन करते थे। यहाँ तक कि ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति धनुर्वेद में भी पारंगत होते थे। और विप्रगण ज्ञान के इस अनुभाग के भी शिक्षक होते थे, यथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य इत्यादि हुए हैं।

यहाँ पर वर्णित *विप्र* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *विप्रों* तथा *ब्राह्मणों* में थोड़ा अन्तर होता है। विप्रगण वे हैं जो कर्मकाण्ड में दक्ष होते हैं, जो समाज का मार्गदर्शन करके जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे, जबकि ब्राह्मण लोग दिव्यता के आध्यात्मिक ज्ञान में पटु होते हैं। ज्ञान का यह विभाग ज्ञान-काण्ड कहलाता है और इससे भी ऊपर उपासना-काण्ड होता है। उपासना-काण्ड का चरम परिणति भगवान् विष्णु की भक्तिमय सेवा में होती है और जब ब्राह्मण सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तो वे वैष्णव कहलाते हैं। पूजा की विधियों में विष्णु-पूजा सर्वोच्च विधि है। समुन्नत ब्राह्मण वैष्णव होते हैं, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत*, जो भक्ति का विज्ञान है, वैष्णवों को अत्यन्त प्रिय है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में बताया जा चुका है, यह वैदिक ज्ञान का परिपक्व फल है और उपरोक्त तीनों काण्डों अर्थात् कर्म, ज्ञान तथा उपासना काण्डों से कहीं अधिक श्रेष्ठ विषय है।

कर्मकाण्ड के पण्डितों में से जातक कर्म में पटु विप्र अच्छे ज्योतिषी होते थे, जो नवजात शिशु के भविष्य को केवल समय (लग्न) की गणना से बता देते थे। महाराज परीक्षित के जन्मकाल के समय ऐसे पटु जातक विप्र विद्यमान थे और उनके पितामह, महाराज युधिष्ठिर ने इन विप्रों को पर्याप्त सोना, भूमि, गाँव, अन्न तथा गाय समेत अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेंट कीं। सामाजिक संरचना में ऐसे विप्रों की

आवश्यकता है और राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे लोगों का अच्छी तरह पालन करे, जैसाकि वैदिक पद्धति में विधान है। ऐसे पटु विप्र, राज्य द्वारा पर्याप्त धन दिए जाने पर, सामान्य लोगों की निःशुल्क सेवा कर सकते हैं और इस तरह वैदिक ज्ञान का यह विभाग सबों के लिए सुलभ हो सकता है।

स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः ।

पूर्वं दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—इस; लोके—संसार में; विख्यातः—प्रसिद्ध; परीक्षित्—परीक्षा लेने वाला; इति—इस प्रकार; यत्—जो; प्रभुः—हे राजा; पूर्वम्—पहले; दृष्टम्—देखा जा चुका; अनुध्यायन्—निरन्तर विचारा जाकर; परीक्षेत—परीक्षा लेगा; नरेषु—प्रत्येक व्यक्ति की; इह—यहाँ।

इस तरह यह पुत्र संसार में परीक्षित (परीक्षक) नाम से विख्यात होगा, क्योंकि यह उन व्यक्ति की खोज करने के लिए सारे मनुष्यों का परीक्षण करेगा, जिन्हें इसने अपने जन्म के पूर्व देखा है। इस तरह यह निरन्तर उनका (भगवान् का) चिन्तन करता रहेगा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे, क्योंकि माता के गर्भ में रहते हुए ही उन पर भगवान् की छाप पड़ चुकी थी, अतएव वे निरन्तर भगवान् का चिन्तन किया करते थे। एक बार यदि भगवान् के दिव्य रूप की छाप किसी के मन में स्थित हो जाय, तो वह भगवान् को भुलाये नहीं भूल सकता। बालक परीक्षित गर्भ से बाहर आने के बाद, प्रत्येक व्यक्ति की परीक्षा यह देखने के लिए करता रहता था कि कहीं यह वही व्यक्ति तो नहीं हैं, जिसे उसने गर्भ में सर्वप्रथम देखा था। लेकिन भगवान् के समान या उनसे बढ़कर आकर्षक कोई नहीं हो सकता, अतएव वह बालक किसी को स्वीकार नहीं कर सका। लेकिन ऐसी परीक्षा के द्वारा भगवान् निरन्तर उसके साथ रहे और इस तरह स्मरण के द्वारा, महाराज परीक्षित भगवान् की भक्ति में सदैव लगे रहते।

इस प्रसंग में श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यदि प्रत्येक बालक पर बचपन से ही भगवान् की छाप पड़ जाय, तो वह निश्चित रूप से महाराज परीक्षित की ही भाँति भगवद्भक्त बन सकता है। भले ही कोई महाराज परीक्षित की तरह इतना भाग्यशाली न हो कि उसे माता के गर्भ में ही भगवान् के दर्शन हो लें, लेकिन यदि बालक के माता-पिता चाहें, तो वह ऐसा बन सकता है। इस प्रसंग में मैं अपना व्यावहारिक उदाहरण दे सकता हूँ। मेरे पिता भगवान् के शुद्ध भक्त थे और जब मैं चार-पाँच

वर्ष का था, तो मेरे पिता ने मुझे राधा-कृष्ण की एक युगल मूर्ति प्रदान की थी। मैं खेल-खेल में, अपनी बहन के साथ इन विग्रहों की पूजा किया करता था और मैं निकट के राधा-गोविन्द मन्दिर की पूजाविधि का अनुकरण किया करता था। निरन्तर इस मन्दिर में जाकर तथा वहाँ होनेवाले उत्सवों का अपने खेल के विग्रहों के साथ अनुकरण करके मैंने भगवान् के प्रति सहज आकर्षण विकसित कर लिया। मेरे पिता मेरी स्थिति के अनुरूप इन उत्सवों का अवलोकन करते थे। बाद में स्कूल तथा कालेज जाने के कारण, मेरे ये कार्यकलाप ठप्प हो गये और मेरा अभ्यास छूट गया। किन्तु अपनी युवावस्था में, जब मैं अपने गुरु श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज से मिला, तो मेरी पुरानी अभिरुचि फिर से जागृत हो उठी और वही खेल की मूर्तियाँ मेरे आराध्य अर्चा-विग्रह बन गईं। यह तब तक चलता रहा, जब तक मैंने पारिवारिक सम्बन्ध नहीं तोड़ लिये और मुझे प्रसन्नता है कि मेरे पिता ने मुझ पर जो पहली छाप छोड़ी, वह गुरु की कृपा से बाद में भक्ति में विकसित हो सकी। महाराज प्रह्लाद ने भी यही उपदेश दिया है कि इस प्रकार ईश्वरी छाप बाल्यपन के प्रारम्भ में ही पड़ जानी चाहिए। अन्यथा जीव मनुष्य जीवन रूपी सुअवसर को खो सकता है, जो अन्य रूपों की भाँति नश्वर होते हुए भी अत्यन्त मूल्यवान है।

स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः ।

आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; राज-पुत्रः—राजकुमार; ववृधे—बड़ा हो गया; आशु—जल्दी ही; शुक्ले—शुक्लपक्ष; इव—सदृश; उडुपः—चन्द्रमा; आपूर्यमाणः—विलासपूर्ण; पितृभिः—पिता जैसे संरक्षकों द्वारा; काष्ठाभिः—पूर्ण विकास; इव—सदृश; सः—वह; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन।

जिस तरह शुक्लपक्ष में चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, उसी तरह यह राजकुमार (परीक्षित) शीघ्र ही अपने संरक्षक पितामहों की देख-रेख तथा सुख-सुविधाओं के बीच तेजी से विकास करने लगा।

यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया ।

राजा लब्धधनो दध्यौ नान्यत्र करदण्डयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यक्ष्यमाणः—सम्पन्न करने की इच्छा करते हुए; अश्वमेधेन—अश्वमेध उत्सव द्वारा; ज्ञाति-द्रोह—स्वजनों से युद्ध; जिहासया—मुक्त होने के लिए; राजा—राजा युधिष्ठिर; लब्ध-धनः—कुछ धन प्राप्त करने के लिए; दध्यौ—विचार किया; न अन्यत्र—अन्यथा नहीं; कर-दण्डयोः—लगान तथा जुर्माना।

इसी समय राजा युधिष्ठिर स्वजनों से युद्ध करने के कारण किए गए पापों से मुक्ति पाने के लिए अश्वमेध यज्ञ करने पर विचार कर रहे थे। लेकिन उन्हें कुछ धन प्राप्त करने की चिन्ता सवार थी, क्योंकि लगान तथा जुर्माने से एकत्र कोष के अतिरिक्त और कोई धन-संग्रह न था।

तात्पर्य : जिस तरह ब्राह्मणों तथा विप्रों को राज्य की तरफ से कुछ आर्थिक सहायता का अधिकार मिला हुआ था, उसी तरह राज्य के कार्यकारी अध्यक्ष को अधिकार था कि वह नागरिकों से कर तथा जुर्माने एकत्र करे। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् राजकोष खाली हो चुका था, अतएव कर तथा जुर्माना-संग्रह के अलावा कोई अतिरिक्त निधि नहीं थी। ऐसा कोष केवल राज्य-व्ययों के लिए ही पर्याप्त था तथा और कोई निधि न होने से राजा चिन्तित थे कि किसी अन्य विधि से वे अधिक धन प्राप्त करें, जिससे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो सके। महाराज युधिष्ठिर इस यज्ञ को भीष्मदेव के आदेशानुसार सम्पन्न करना चाह रहे थे।

तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः ।

धनं प्रहीणमाजहुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; अभिप्रेतम्—मन की इच्छा, अभिप्राय; आलक्ष्य—देखकर; भ्रातरः—अपने भाई; अच्युत—अच्युत, (भगवान् श्रीकृष्ण); चोदिताः—प्रेरणा पाकर; धनम्—धन; प्रहीणम्—एकत्र करके; आजहुः—ले आया; उदीच्याम्—उत्तरी; दिशि—दिशा; भूरिशः—प्रचुर।

राजा की हार्दिक इच्छाओं को जानकर, उसके भाइयों ने अच्युत भगवान् कृष्ण की प्रेरणानुसार, उत्तर दिशा से (राजा मरुत्त द्वारा छोड़ा गया) प्रचुर धन एकत्र किया।

तात्पर्य : महाराज मरुत्त—ये विश्व के एक महान् सम्राट थे। इन्होंने महाराज युधिष्ठिर से काफी पहले संसार पर राज्य किया था। ये महाराज अविक्षित के पुत्र थे और सूर्यदेव के यमराज नामक पुत्र के महान् भक्त थे। इनका भाई संवर्त, देवताओं के विद्वान् पुरोहित वृहस्पति का प्रतिद्वन्द्वी पुरोहित था। उसने शंकर-यज्ञ का संचालन किया जिससे भगवान् इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे स्वर्ण के पर्वत-

शृंग का अधिकारी बना दिया। यह स्वर्ण-शंगू हिमालय पर्वत में कहीं पर है और आधुनिक साहसिक यात्री इसकी खोज कर सकते हैं। यह सम्राट इतना शक्तिशाली था कि प्रतिदिन यज्ञ समाप्त होने के बाद, इन्द्र, चन्द्र तथा बृहस्पति लोकों के देवता उसके महल में आया करते थे। चूँकि उसके अधिकार में स्वर्ण-शंगू था, अतएव उसके पास प्रचुर सोना था। उसके यज्ञ की वेदी का मण्डप पूर्णतया सोने से बनाया गया था। नित्य किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानों में, वायुलोक के कुछ निवासियों को रसोई बनाने के काम जल्दी करने के लिए आमंत्रित किया जाता था तथा देवों की सभा का नेतृत्व विश्वदेव करते थे।

अपने निरन्तर पुण्यकर्मों से वे अपने राज्य से समस्त प्रकार की व्यधियों को दूर रखने में समर्थ हुए थे। उनके महान् याज्ञिक उत्सवों से देवलोक तथा पितृलोक के सारे निवासी प्रसन्न थे। वे प्रतिदिन विद्वान् ब्राह्मणों को शय्या, आसन, वाहन तथा प्रचुर सोना दान में देते रहते थे। अपने मुक्तहस्त दान तथा असंख्य यज्ञ सम्पन्न करने के कारण, स्वर्ग के राजा इन्द्रदेव उन पर अत्यधिक प्रसन्न थे और सदा उनकी मंगल कामना करते थे। अपने पुण्यकर्मों के कारण, वे आजीवन युवक बने रहे और अपनी सन्तुष्ट प्रजा, मंत्रियों, वैध पत्नी, पुत्रों तथा भाइयों के साथ रहकर, उन्होंने एक हजार वर्षों तक राज्य किया। यहाँ तक कि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उनके पुण्यकर्मों की प्रशंसा की है। उन्होंने अपनी एकमात्र पुत्री का विवाह महर्षि अंगिरा से कर दिया था और उनके आशीर्वाद से वे स्वर्गलोक का भागी बने। पहले तो वे यज्ञों का पौरोहित्य विद्वान् बृहस्पति को देना चाहते थे, लेकिन बृहस्पति ने इस पद को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि राजा इसी धरती का एक मर्त्य प्राणी होता था। इससे वे अत्यन्त दुखी हुए, लेकिन नारद मुनि के कहने पर, उन्होंने संवर्त को इस पद पर नियुक्त किया और अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

किसी विशेष यज्ञ की सफलता इसके प्रभारी पुरोहित पर निर्भर करती है। इस युग में सभी प्रकार के यज्ञ वर्जित हैं, क्योंकि तथाकथित ब्राह्मणों में कोई ऐसा विद्वान् पुरोहित नहीं है। वे बिना किसी योग्यता के ही, ब्राह्मण पुत्र होने से ब्राह्मण बन जाते हैं। अतएव इस कलियुग में केवल एक प्रकार के यज्ञ की संस्तुति की गई है, वह है *सङ्कीर्तन यज्ञ* जिसका उद्घाटन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ था।

तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस धन से; सम्भृत—एकत्रित; सम्भारः—सामग्री, घटक; धर्म-पुत्रः—पवित्र राजा; युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर; वाजिमेधैः—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; त्रिभिः—तीन बार; भीतः—कुरुक्षेत्र युद्ध से अत्यधिक भयभीत; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; समयजत्—ठीक से पूजा की; हरिम्—भगवान् की।

उस धन से राजा तीन अश्वमेध यज्ञों के लिए सामग्री उपलब्ध कर सके। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद अत्यन्त भयभीत पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार भगवान् हरि को प्रसन्न किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर विश्व के आदर्श एवं विख्यात पुण्यात्मा राजा थे, फिर भी वे कुरुक्षेत्र युद्ध के समापन पर अत्यधिक भयभीत थे, क्योंकि इस युद्ध में में बड़ी मात्रा में नर-संहार हुआ था और यह सब उन्हें सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए किया गया था। अतएव युद्ध में होनेवाले सारे पापों का उत्तरदायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और इन पापों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तीन अश्वमेध यज्ञ करने चाहे, जिसमें घोड़े की बलि दी जाती है। ऐसे यज्ञ काफी महँगे पड़ते हैं। इसके लिए महाराज युधिष्ठिर को भी महाराज मरुत का सोना तथा उनके द्वारा ब्राह्मणों को दिया गया सोना लाना पड़ा। चूँकि विद्वान ब्राह्मण महाराज मरुत द्वारा दान दिया गया सारा सोना अपने साथ नहीं ले जा सके थे, अतएव दान में प्राप्त बहुत सा सोना वे वहीं छोड़ गए थे। महाराज मरुत भी इस तरह दान दिये गए सोने को फिर से संग्रह नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ में काम आनेवाले सारे स्वर्ण की थालियाँ तथा पात्र कूड़े में फेंक दिये गए थे और यह सोना तब तक बिना किसी के स्वामीत्व का पड़ा रहा, जब तक महाराज युधिष्ठिर ने अपने काम के लिए उसे एकत्र नहीं कर लिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के भाइयों को सलाह दी कि वे बिना किसी के स्वामीत्व के सोने को ले आयें, क्योंकि यह सोना राजा का था। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि राज्य की प्रजा ने ऐसे अनधिकृत सोने को एकत्र करके किसी उद्योग अथवा ऐसे ही किसी उद्यम में नहीं लगाया। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य की प्रजा अपनी सभी आवश्यकताओं में अत्यन्त सन्तुष्ट थी, अतएव इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ का उद्योग नहीं चलाना चाहती थी। महाराज युधिष्ठिर ने यह स्वर्ण राशि यज्ञ सम्पन्न करने तथा भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए मँगवाई, अन्यथा राजकोष के लिए संग्रह करने की उनमें कोई आकांक्षा न थी।

हमें चाहिए कि महाराज युधिष्ठिर के कर्मों से शिक्षा ग्रहण करें। वे युद्धस्थल में घटित पापों से भयातुर थे, अतएव वे परम पुरुष को प्रसन्न करना चाह रहे थे। इससे संकेत मिलता है कि हमारे दैनिक कार्यकलापों में अनायास पाप होते रहते हैं और ऐसे अनचाहे पापों के प्रायश्चित्त के लिए, शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं (*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*) कि समस्त अवैध कर्म करने या अनिच्छित अपराधों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को शास्त्रों द्वारा अनुमोदित यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए। ऐसा करने से वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाएगा। किन्तु जो ऐसा नहीं करते हैं और स्वार्थ अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करते हैं, उन्हें अपने द्वारा किये गये पापों का कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव यज्ञ करने का मुख्य प्रयोजन परम पुरुष हरि को प्रसन्न करना है। यज्ञ की विधियाँ देश, काल तथा व्यक्ति के अनुसार बदल सकती हैं, किन्तु यज्ञों का उद्देश्य सभी काल में तथा सभी परिस्थितियों में एक ही रहता है और वह है परमेश्वर हरि की तुष्टि। पुण्यमय जीवन की यही रीति है और यही संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता लाने की विधि है। महाराज युधिष्ठिर ने संसार के आदर्श पुण्यात्मा राजा के रूप में यह सब किया।

यदि महाराज युधिष्ठिर अपने दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने में, राज्य कार्यों के संचालन में, जहाँ मनुष्य तथा पशुओं के वध को मानी हुई कला समझा जाता है, पाप कर बैठते तो जरा अनुमान करें कि कलियुग की अप्रशिक्षित जनता जाने तथा अनजाने में कितना पाप करती होगी, जिनके पास भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने का कोई साधन भी नहीं है। अतः *भागवत* का कथन है कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य यह है कि अपने वृत्तिपरक कार्यों को सम्पन्न करके परमेश्वर को प्रसन्न करे (*भागवत १.२.१३*)।

भले ही कोई, किसी भी स्थान या समुदाय, जाति या सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति किसी भी वृत्तिपरक कार्य में क्यों न लगा हो, लेकिन उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार शास्त्रोचित यज्ञ करने चाहिए। वैदिक ग्रंथों में संस्तुति की गई है कि कलियुग में लोग, बिना अपराध के, कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् का गुणगान करें (*कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं ब्रजेत्*)। ऐसा करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम वापस जा कर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। हम इस ग्रंथ में कई स्थानों पर, विशेष रूप से आरम्भ में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का

जीवन-वृत्त प्रस्तुत करते समय, इस विषय में बता चुके हैं और अब भी समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए उसी को दुहरा रहे हैं।

भगवान् ने *भगवद्गीता* में खुलकर घोषणा की है कि वे किस तरह हम पर प्रसन्न होते हैं और वही विधि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन तथा उनके उपदेश-कार्य से प्रदर्शित होती है। भगवान् हरि (परम भगवान् जो हमें संसार के सब कष्टों से मुक्त करते हैं) को जो हमें इस भवबंधन से छुटकारा दिलाते हैं, प्रसन्न करने के लिए यज्ञ सम्पन्न करने की सम्यक् विधि यही है कि इस कलह तथा विरोध के अंधकारमय युग में भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के मार्ग का पालन किया जाय।

महाराज युधिष्ठिर को समृद्धि के दिनों में अश्वमेध यज्ञ करने के लिए सामग्री जुटाने हेतु स्वर्ण राशि एकत्र करनी पड़ी थी। अतएव आज के अभावग्रस्त तथा स्वर्ण के सर्वथा अभाव के दिनों में हम ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने की बात नहीं सोच सकते हैं। इस समय हमारे पास कागज का अम्बार है और आधुनिक सभ्यता के आर्थिक विकास द्वारा उसे स्वर्ण में बदलने का वादा किया जाता है। फिर भी हम न तो व्यक्तिगत रूप से, न सामूहिक या राज्य संरक्षण में, महाराज युधिष्ठिर के समान प्रचुर धन खर्च कर सकते हैं। अतएव इस युग के लिए शास्त्र सम्मत तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु द्वारा अनुमोदित विधि ही सर्वथा उपयुक्त है। इस विधि में किसी भी प्रकार का खर्च नहीं होता, फिर भी इससे अन्य व्ययसाध्य यज्ञ विधियों से अधिक लाभ पहुँचता है।

वैदिक विधानों द्वारा सम्पन्न होनेवाले अश्वमेध यज्ञों या गोमेध यज्ञों से यह नहीं समझना चाहिए कि ये पशुओं को मारने की विधियाँ हैं। वास्तव में यज्ञ में बलि किये गये पशु वैदिक मंत्रों के उच्चारण की दिव्य शक्ति से नया जीवन प्राप्त करते थे। समुचित विधि से मंत्र उच्चारण करने की शक्ति सामान्य लोगों की समझ से बाहर है। सारे वेद-मंत्र व्यावहारिक हैं और इसका प्रमाण था, बलि किये गये पशु को नवजीवन का प्राप्त होना।

आधुनिक युग के तथाकथित ब्राह्मणों या पुरोहितों द्वारा इस प्रकार से वैदिक मंत्रों का विधिपूर्वक उच्चारण हो पाना सम्भव नहीं है। द्विज कुलों की अप्रशिक्षित सन्तानें अपने पूर्वजों जैसी नहीं हैं। अतएव उनकी गिनती शूद्रों में अर्थात् एक-जन्मा में की जाती है। ऐसा मनुष्य वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने के लिए अयोग्य होता है, अतएव मूल-मंत्रों का उच्चारण करने से कोई लाभ नहीं होता है।

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन सबों की रक्षा करने के लिए समस्त व्यावहारिक कार्यों के लिए सङ्कीर्तन आन्दोलन या यज्ञ का विधान किया था और आधुनिक युग के लोगों के लिए इस निश्चित तथा संस्तुत मार्ग का अनुसरण करने के लिए पुरजोर संस्तुति की गई है।

आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

आहूतः—बुलाये जाने पर; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; राज्ञा—राजा द्वारा; याजयित्वा—सम्पन्न कराकर; द्विजैः—विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा; नृपम्—राजा की ओर से; उवास—निवास किया; कतिचित्—थोड़े; मासान्—महीने; सुहृदाम्—सम्बन्धियों के लिए; प्रिय-काम्यया—प्रसन्नता के लिए।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा यज्ञ में आमंत्रित होकर, भगवान् श्रीकृष्ण ने इस बात का ध्यान रखा कि ये सारे यज्ञ योग्य (द्विज) ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न कराये जाएँ। तत्पश्चात् सम्बन्धियों की प्रसन्नता के लिए, भगवान् वहाँ कुछेक मास रहते रहे।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण को महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ सम्पन्नता का निरीक्षण करने के लिए आमंत्रित किया था और भगवान् ने अपने अग्रज के आदेशों का पालन करने के लिए, विद्वान् द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ सम्पन्न कराया। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से ही कोई यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं बन जाता। उसे समुचित प्रशिक्षण तथा प्रामाणिक आचार्य से दीक्षा ग्रहण करके द्विज बनना होता है। ब्राह्मण कुलों की एकजन्मा सन्तानें शूद्रों के तुल्य होती हैं। अतएव ऐसे ब्रह्म-बन्धुओं को किसी ऐसे धार्मिक या वैदिक उत्सव के निमित्त अस्वीकार कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण को यह प्रबन्ध देखना था और चूँकि वे परम पूर्ण हैं, अतएव उन्होंने सफल सम्पन्नता के लिए प्रामाणिक द्विज ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों को सम्पन्न कराया।

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः ।
ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; राज्ञा—राजा द्वारा; अभ्यनुज्ञातः—अनुमति दिये जाने पर; कृष्णया—द्रौपदी से भी; सह—सहित; बन्धुभिः—अन्य सम्बन्धियों के साथ; ययौ—गये; द्वारवतीम्—द्वारका धाम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; स-अर्जुनः—अर्जुन के सहित; यदुभिः—यदुवंश के सदस्यों से; वृतः—घिरे हुए।

हे शौनक, तत्पश्चात् भगवान् ने राजा युधिष्ठिर, द्रौपदी तथा अन्य सम्बन्धियों से विदा लेकर, अर्जुन तथा यदुवंश के अन्य सदस्यों के साथ, द्वारका नगरी के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “सम्राट परीक्षित का जन्म” नामक बारहवें

अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

धृतराष्ट्र द्वारा गृह-त्याग

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् ।

ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तथावाप्तविवित्सितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; विदुरः—विदुर; तीर्थ-यात्रायाम्—विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए; मैत्रेयात्—महर्षि मैत्रेय से; आत्मनः—अपनी, स्व की; गतिम्—गति, गन्तव्य; ज्ञात्वा—जानकर; अगात्—लौट आया; हास्तिनपुरम्—हस्तिनापुर नगरी में; तथा—उस ज्ञान से; अवाप्त—प्रचुर लाभ उठाने वाला; विवित्सितः—प्रत्येक ज्ञेय विषय में निष्णात।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तीर्थयात्रा करते हुए विदुर ने महर्षि मैत्रेय से आत्मा की गति का ज्ञान प्राप्त किया और फिर वे हस्तिनापुर लौट आये। वे अपेक्षानुसार इस विषय में पारंगत हो गये।

तात्पर्य : विदुर—महाभारत के इतिहास में ये प्रसिद्ध व्यक्तियों में से एक थे। महाराज पाण्डु की माता अम्बिका की दासी के गर्भ से, ये व्यासदेव के द्वारा उत्पन्न हुए थे। वे यमराज के अवतार हैं। मण्डूक मुनि से शाप-ग्रस्त होने के कारण इन्हें शूद्र होना पड़ा। कहानी इस प्रकार है : एक बार राज्य के सिपाहीयों ने कुछ चोर पकड़े, जो मण्डूक मुनि की कुटी में छिपे हुए थे। सिपाहीयों ने चोरों के साथ-साथ जैसे सामान्य रूप से किया जाता है, मण्डूक मुनि को भी बन्दी बना लिया। न्यायाधीश ने

विशेष रूप से मुनि को विशेष रूप से शूली पर चढ़ा कर मार डालने का आदेश दिया। किन्तु जब उन्हें भाला भोंका जाने वाला था, तो इसका समाचार राजा के पास पहुँच गया। अतः उसने तुरन्त ही उनका, महामुनि होने के नाते, वध रोकने का आदेश दिया। राजा ने स्वयं मुनि से अपने व्यक्तियों की गलती के लिए क्षमा माँगी। यह मुनि तुरन्त ही जीवों के भाग्य-विधाता, यमराज के पास पहुँचे। जब मुनि ने उनसे पूछा तो यमराज ने उत्तर दिया कि मुनि ने अपने बचपन में एक तेज नुकीले तिनके से चोंटी को बीध डाला था, इसलिए उसे यह कष्ट उठाना पड़ा। मुनि ने सोचा कि यह यमराज की मूर्खता थी कि उन्हें बचपन के अज्ञान के लिए दण्डित किया गया, अतएव मुनि ने यमराज को शाप दे डाला कि वे शूद्र बन जाये। यमराज का यह शूद्र अवतार विदुर के नाम से विख्यात हुआ, जो धृतराष्ट्र तथा महाराज पाण्डु का शूद्र भ्राता थे। लेकिन भीष्मदेव ने कुरुवंश के इस शूद्र पुत्र के साथ अपने अन्य भतीजों के समान ही व्यवहार किया। कालान्तर में विदुर का विवाह ऐसी कन्या से हुआ, जो एक ब्राह्मण द्वारा शूद्राणी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि विदुर अपने पिता (भीष्मदेव के भाई) की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं हुए, लेकिन विदुर के बड़े भाई धृतराष्ट्र ने उन्हें पर्याप्त राज्य-सम्पत्ति प्रदान की थी। विदुर अपने बड़े भाई के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे और वे उसे निरन्तर सही मार्ग पर ले जाना चाहते थे। कुरुक्षेत्र के भ्रातृ युद्ध के समय विदुर ने बारम्बार अपने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वह पाण्डु-पुत्रों के साथ न्याय बरते, लेकिन दुर्योधन को अपने चाचा की यह दखल पसन्द न थी। अतएव उसने विदुर का अपमान कर दिया था। इसके कारण विदुर घर छोड़कर तीर्थाटन करने तथा मैत्रेय से उपदेश ग्रहण करने चले गये।

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः ।

जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यावतः—वह सब; कृतवान्—उन्होंने किये; प्रश्नान्—प्रश्न; क्षत्ता—विदुर का नाम; कौषारव—मैत्रेय का नाम; अग्रतः—की उपस्थिति में; जात—बड़े होकर; एक—एक; भक्तिः—दिव्य प्रेममयी सेव; गोविन्दे—भगवान् कृष्ण की; तेभ्यः—अगले प्रश्नों के सम्बन्ध में; च—तथा; उपरराम—विराम ले लिया; ह—भूतकाल में।

विविध प्रश्न पूछने के बाद तथा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में स्थिर हो चुकने पर, विदुर ने मैत्रेय मुनि से प्रश्न पूछना बन्द किया।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय मुनि से तब प्रश्न पूछना बन्द किया, जब मैत्रेय ऋषि ने उन्हें आश्चस्त किया कि जीवन का *आश्रय-तत्त्व* तो अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में सुस्थापित होना है, जो गोविन्द हैं अर्थात् जो अपने भक्तों को सभी प्रकार से तुष्ट रखते हैं। बद्धजीव अर्थात् भौतिक अस्तित्व में फँसा हुआ जीव भौतिकतागुणों में अपनी इन्द्रियों को लगाकर सुख की खोज करता है, किन्तु इससे उसे सन्तोष नहीं होता। तब वह अनुभव सिद्ध तात्त्विक तर्क करने की विधि से तथा बौद्धिक करतबों से परम सत्य की खोज में जुट जाता है। किन्तु यदि उसे अन्तिम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, तो वह पुनः भौतिक कार्यकलापों में पतित हो जाता है और अपने आप को विविध परोपकारी तथा परमार्थ कार्य करने में लगा देता है, किन्तु इन सबसे उसे संतोष नहीं मिल पाता। अतः न तो सकाम कर्म और न ही शुष्क दार्शनिक चिन्तन से किसी को सन्तोष मिल सकता है, क्योंकि जीव स्वभावतः परमेश्वर श्रीकृष्ण का सेनातन सेवक है और सारे वैदिक ग्रन्थ इसी चरम लक्ष्य की ओर उसका मार्गदर्शन करते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) द्वारा इस कथन की पुष्टि होती है।

विदुर के समान ही, जिज्ञासु बद्धजीव को, मैत्रेय जैसे प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए और बुद्धिपरक जिज्ञासाओं द्वारा कर्म (सकाम कर्म), ज्ञान (परम सत्य को जानने के लिए दार्शनिक अनुसंधान) और योग (आत्म-साक्षात्कार की योग-विधि) के विषय में प्रत्येक वस्तु को जानने का प्रयास करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गुरु से प्रश्न पूछने के प्रति गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, उसे न तो दिखावटी गुरु करने की आवश्यकता है और न उस व्यक्ति को अन्यो का गुरु होने का दिखावा करना चाहिए, यदि वह अपने शिष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख न कर सके। विदुर मैत्रेय जैसे गुरु के पास पहुँचने में सफल हुए थे और उन्हें जीवन का चरम लक्ष्य—गोविन्द की भक्ति—प्राप्त हो सका। अतः उनके लिए आध्यात्मिक प्रगति के विषय में और कुछ जानना शेष न बचा था।

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः ।

धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥

गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी ।

अन्याश्च जामयः पाण्डोर्जातयः ससुताः स्त्रियः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; बन्धुम्—सम्बन्धी को; आगतम्—वहाँ आया हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; धर्म-पुत्रः—युधिष्ठिर ने; सह-अनुजः—अपने छोटे भाइयों के साथ; धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; युयुत्सुः—सात्यकि; च—तथा; सूतः—संजय; शारद्वतः—कृपाचार्य; पृथा—कुन्ती; गान्धारी—गान्धारी; द्रौपदी—द्रौपदी; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; सुभद्रा—सुभद्रा; च—तथा; उत्तरा—उत्तरा; कृपी—कृपी; अन्याः—अन्य लोग; च—तथा; जामयः—अन्य परिवारवालों की पत्नियाँ; पाण्डोः—पाण्डुओं की; जातयः—पारिवारिक सदस्य; स-सुताः—अपने-अपने पुत्रों सहित; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

जब उन्होंने देखा कि विदुर राजमहल लौट आये हैं, तो—महाराज युधिष्ठिर, उनके छोटे भाई, धृतराष्ट्र, सात्यकि, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, कौरवों की अन्य पत्नियाँ तथा अपने-अपने बच्चों के साथ स्त्रियों समेत सारे निवासी—सभी अत्यन्त हर्षित होकर तेजी से उनकी ओर बढ़े। ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने दीर्घकाल के बाद अपनी चेतना फिर से प्राप्त की हो।

तात्पर्य : गान्धारी—विश्व के इतिहास की आदर्श सती महिला। ये गान्धार के राजा (अब काबुल का कन्दहार) महाराज सुबल की कन्या थीं। उन्होंने कौमार अवस्था में शिवजी की आराधना की थी। सामान्यतया हिन्दू कुमारिकाएँ उत्तम पति प्राप्त करने के लिए शिवजी की आराधना करती हैं। गान्धारी ने शिवजी को प्रसन्न कर लिया और सौ पुत्र प्राप्त करने का वर प्राप्त करके धृतराष्ट्र से सगाई कर ली, यद्यपि वे जन्मांध थे। जब गान्धारी को पता चला कि उनका होनेवाला पति अन्धा है, तो उन्होंने अपने जीवन-संगी का अनुगमन करने के लिए स्वेच्छा से अन्धा बनने का निश्चय कर लिया। अतएव उन्होंने अपनी आँखों में रेशम की अनेक पट्टियाँ बाँध लीं और वे अपने बड़े भाई शकुनि के मार्गदर्शन में धृतराष्ट्र के साथ ब्याह दी गईं। वे अपने समय की सर्वाधिक सुन्दर कन्या थीं और समान रूप से स्त्री-योचित गुणों से युक्त थीं, जिससे कौरव दरबार का प्रत्येक सदस्य उनसे प्रेम करता था। किन्तु इन सब सद्गुणों के होते हुए भी उनमें स्त्री की सहज दुर्बलताएँ थीं और जब कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया तो ये उसके प्रति ईर्ष्या करने लगीं। यद्यपि दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, किन्तु पहले कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया। इस तरह गान्धारी क्रुद्ध हो गईं और अपने उदर पर प्रहार किया। फलस्वरूप उसने मांस के एक पिण्ड को ही जन्म दिया, लेकिन चूँकि वे व्यासदेव की भक्त थीं, अतएव व्यासदेव की आज्ञा से उस पिण्ड को सौ भागों में विभक्त कर दिया गया और इनमें से प्रत्येक भाग धीरे-धीरे बालक के रूप में विकसित हो गया। इस प्रकार, एक सौ पुत्रों की माता बनने की उनकी मनोकामना पूरी हो गई और वे

उन सबों का अपनी उच्च स्थिति के अनुसार पालन-पोषण करने लगीं। जब कुरुक्षेत्र-युद्ध का षड्यंत्र चल रहा था, तो वे पाण्डवों से युद्ध किये जाने के पक्ष में न थीं, अपितु उन्होंने अपने पति धृतराष्ट्र को ऐसे बन्धुघाती युद्ध के लिए लांछित भी किया। वे चाहती थीं कि राज्य को दो भागों में विभक्त किया जाय और पाण्डु पुत्रों तथा अपने पुत्रों को एक-एक भाग दे दिया जाय। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में उनके सारे पुत्र मारे गये तो वे अत्यन्त शोकमग्न हुईं और वे भीमसेन तथा युधिष्ठिर को शाप देना चाहती थीं, किन्तु व्यासदेव ने उन्हें रोक लिया। भगवान् कृष्ण के समक्ष दुर्योधन तथा दुःशासन की मृत्यु पर उनका विलाप अत्यन्त कारुणिक था और भगवान् कृष्ण ने उन्हें दिव्य संदेश द्वारा सान्त्वना दी। वे कर्ण की मृत्यु से भी उतनी ही दुखी थीं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से कर्ण की पत्नी का विलपना बतलाया। जब श्रील व्यासदेव ने उन्हें उनके मृत पुत्रों को दिखलाया, जिनकी बाद में स्वर्गलोक में उन्नति हुई, तब उन्हें सान्त्वना प्राप्त हुई। वे गंगा के मुहाने के निकट हिमालय के जंगलों में अपने पति के साथ मरीं; वे दावाग्नि में जल मरीं। महाराज युधिष्ठिर ने अपने चाचा तथा चाची का अन्तिम संस्कार किया।

पृथा—ये महाराज शूरसेन की पुत्री तथा भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं। बाद में महाराज कुन्तिभोज ने उन्हें गोद ले लिया था, अतएव वे कुन्ती कहलाईं। वे भगवान् की विजया शक्ति की अवतार थीं। जब उच्चतर ग्रहमंडल से स्वर्ग के निवासी राजा कुन्तीभोज को मिलने के लिए आते थे, तो कुन्ती उनके स्वागत में लगी रहती थीं। उन्होंने महान् योगी दुर्वासा मुनि की भी सेवा की थी। दुर्वासा ने उनकी अच्छी सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें एक मंत्र दिया, जिससे वे मनवांछित देवता का आवाहन कर सकती थीं। उन्होंने उत्सुकतावश तुरन्त ही सूर्यदेव का आवाहन किया, जिन्होंने उनके साथ समागम करना चाहा, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। लेकिन जब सूर्यदेव ने आश्चस्त किया कि इससे उनका कौमार्य भंग नहीं होगा, तो उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। इस समागम के कारण वे गर्भवती हो गईं और उनसे कर्ण का जन्म हुआ। सूर्य की कृपा से वे पुनः कुमारी कन्या में परिणत हो गईं लेकिन माता-पिता के भय से उन्होंने अपने नवजात शिशु, कर्ण का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् जब पति चुनने की बारी आई, तो उन्होंने स्वेच्छा से पाण्डु को पति-रूप में चुना। बाद में महाराज पाण्डु गृहस्थ जीवन त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे, किन्तु कुन्ती ने अपने पति को ऐसा नहीं करने दिया। अन्त में महाराज पाण्डु ने उन्हें अनुमति दे दी कि वे उपयुक्त महापुरुष का

आवाहन करके पुत्र प्राप्त कर सकती हैं। पहले कुन्ती ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब पाण्डु ने अनेक उपयुक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किये, तो वे राजी हो गईं। इस तरह दुर्वासा मुनि द्वारा प्रदत्त मंत्र से उन्होंने धर्मराज का आवाहन किया, जिससे युधिष्ठिर का जन्म हुआ। इसके बाद उन्होंने वायुदेव का आवाहन किया, तो भीम उत्पन्न हुआ। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन करने पर अर्जुन का जन्म हुआ। नकुल तथा सहदेव का जन्म स्वयं पाण्डु ने अश्विनीकुमारों द्वारा माद्री के गर्भ से कराया। बाद में जब महाराज पाण्डु अल्प आयु में ही दिवंगत हो गये, तो कुन्ती इतनी दुखी हुई कि उन्हें मूर्छा आ गई। तब कुन्ती तथा माद्री दोनों सह-पत्नियों ने यह निश्चय किया कि कुन्ती पाँचों अल्प-वयस्क बालकों, पाण्डवों को पालने के लिए जीवित रहें और माद्री अपने पति के साथ सती हों। वहाँ पर उपस्थित शतसृङ्ग तथा अन्य उपस्थित महर्षियों ने इस निर्णय का समर्थन किया।

बाद में जब दुर्योधन के षड्यंत्र से पाण्डवों को राज्य से बाहर निकाल दिया गया, तब कुन्ती अपने पुत्रों के साथ-साथ रहीं और उन दिनों में उन्होंने सारे कष्ट उठाये। वनवास के समय एक असुर कन्या हिडिम्बा ने भीम को पति बनाना चाहा। भीम ने इनकार कर दिया, किन्तु जब कन्या कुन्ती तथा युधिष्ठिर के पास पहुँची, तो उन्होंने भीम को आदेश दिया कि वह उसका प्रस्ताव स्वीकार करे और उसे पुत्र-प्रदान करे। इस संयोग से घटोत्कच का जन्म हुआ और उसने अपने पिता की ओर से कौरवों के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध किया। उनके वनवास-काल में सभी पाण्डव एक ब्राह्मण परिवार के साथ रहे, जो बकासुर राक्षस के कारण अत्यन्त व्यथित था। कुन्ती ने भीम को आदेश दिया कि वह बकासुर का वध करके ब्राह्मण परिवार को असुर के उत्पीड़नों से बचाए। उन्होंने युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे पांचाल देश के लिए प्रस्थान करें। इसी पांचाल देश में अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया, लेकिन कुन्ती के आदेश से पाँचों भाई पांचाली या द्रौपदी के समान रूप से पति बने। वह व्यासदेव की उपस्थिति में पाँचों पाण्डवों के साथ ब्याही गईं। कुन्तीदेवी अपने प्रथम पुत्र कर्ण को कभी भी नहीं भूल पाईं। उन्होंने कुरुक्षेत्र-युद्ध में कर्ण की मृत्यु होने पर विलाप किया और अपने अन्य पुत्रों के समक्ष स्वीकार किया कि महाराज पाण्डु से विवाह करने के पूर्व ही कर्ण का जन्म हो चुका था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, जब कृष्ण अपने घर वापस जाने लगे, तब तो उन्होंने जो प्रार्थनाएँ की, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। बाद में वे गान्धारी

के साथ घोर तपस्या करने के लिए जंगल चली गई। वे प्रत्येक तीसवें दिन पर भोजन करतीं। अन्ततः वे ध्यान में लीन होकर, दावाग्नि में जलकर भस्म हो गईं।

द्रौपदी—ये महाराज द्रुपद की सर्वश्रेष्ठ सती पुत्री तथा इन्द्रपत्नी देवी शची की अंशावतार थीं। महाराज द्रुपद ने मुनि यज की अधीक्षता में एक महान् यज्ञ सम्पन्न किया। पहली आहुति के साथ धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ, और द्वितीय आहुति से द्रौपदी जन्मीं। अतएव ये धृष्टद्युम्न की बहन हैं और पांचाली के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। पाँचों पाण्डवों ने इन्हें पत्नी के रूप में ब्याहा और हर एक पति से इन्हें एक-एक पुत्र प्राप्त हुआ। महाराज युधिष्ठिर से प्रतिभित, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक तथा सहदेव से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ। ये अपनी सास कुन्ती के ही समान अत्यन्त सुन्दरी बताई गई हैं। इनके जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि इनका नाम कृष्णा होगा। साथ ही यह भी आकाशवाणी हुई कि इनका जन्म कई क्षत्रियों का वध करने के लिए हुआ है। शंकर के आशीर्वाद से इन्हें एक से एक योग्य पाँच पति मिले। जब उन्होंने स्वयं अपना पति चुनना चाहा, तो विश्व भर के देशों के राजा तथा राजकुमार आमंत्रित किये गये। वह पाण्डवों के वनवास के समय पाण्डवों से विवाहित हुई। किन्तु जब वे अपने घर वापस गये, तो महाराज द्रुपद ने उन्हें प्रचुर दहेज दिया। धृतराष्ट्र की सभी बहुओं ने द्रौपदी का स्वागत किया। जब वे जुए में हार दी गईं, तो उन्हें सभा-भवन में जबरन घसीट कर लाया गया और दुःशासन द्वारा नग्न किये जाने का यत्न किया गया, यद्यपि वहाँ पर भीष्म तथा द्रोण जैसे गुरुजन उपस्थित थे। वे भगवान् कृष्ण की परम भक्त थीं। उनकी प्रार्थना सुनकर, भगवान् ने स्वयं असीम वस्त्र बनाकर उन्हें अपमान से बचाया। जब जटायु नाम के राक्षस ने उनका अपहरण किया, तो भीमसेन ने उसका वध करके उनकी रक्षा की। उन्होंने भगवान् कृष्ण की कृपा से पाण्डवों को दुर्वासा मुनि के शाप से बचाया। जब पाण्डव विराट के राजमहल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कीचक उनके अपूर्व सौन्दर्य पर मोहित हो गया। तब भीमसेन की सहायता से इस दुष्ट का वध किया गया और इस तरह वे बच गईं। जब अश्वत्थामा ने उनके पाँचों पुत्रों का वध कर दिया, तो वे अत्यन्त शोकाकुल हुईं। अन्तिम अवस्था में वे अपने पति युधिष्ठिर तथा अन्यो के साथ स्वर्गारोहण के लिए गईं तथा मार्ग पर गिर गईं। युधिष्ठिर ने उनके गिरने का कारण बताया, किन्तु जब युधिष्ठिर स्वर्ग पहुँचे तो उन्होंने देखा कि लक्ष्मीदेवी के रूप में द्रौपदी वहाँ पहले से विद्यमान थीं।

सुभद्रा—वसुदेव की पुत्री तथा भगवान् श्रीकृष्ण की बहिन। ये न केवल वसुदेव की लाड़ली पुत्री थीं, अपितु श्रीकृष्ण तथा बलदेव की भी अत्यन्त प्रिय बहिन थीं। ये दोनों भाई तथा बहन, पुरी के सुप्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर में मूर्तिमान हैं और आज भी नित्य हजारों तीर्थयात्री इस मन्दिर में दर्शन करते हैं। यह मन्दिर सूर्यग्रहण के अवसर पर भगवान् की कुरुक्षेत्र यात्रा तथा बाद में वृन्दावनवासियों से मिलने का स्मृति-स्वरूप है। इस अवसर पर राधा तथा कृष्ण का मिलन अत्यन्त कारुणिक है और पुरी में, भगवान् श्री चैतन्य राधारानी के भाव में, सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के लिए लालायित रहते थे। जब अर्जुन द्वारका में थे, तो उन्होंने सुभद्रा को अपनी रानी बनाना चाहा और भगवान् श्रीकृष्ण से अपनी इच्छा व्यक्त की। श्रीकृष्ण जानते थे कि उनके बड़े भाई, बलदेव, सुभद्रा का विवाह अन्यत्र तय कर रहे हैं। चूँकि श्रीकृष्ण बलदेव द्वारा की जा रही व्यवस्था के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वह उसका हरण कर ले। अतएव जब सारे लोग रैवत पर्वत पर आनन्द मनाने गये थे, तो अर्जुन ने कृष्ण की योजना के अनुसार, सुभद्रा का हरण कर लिया। इस पर बलदेव अर्जुन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और वे उन्हें मार डालना चाहते थे, किन्तु कृष्ण ने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वे अर्जुन को क्षमा-दान दें। तब अर्जुन के साथ सुभद्रा का विधिवत् ब्याह हुआ और सुभद्रा से अभिमन्यु का जन्म हुआ। अभिमन्यु की अकाल मृत्यु से सुभद्रा अत्यन्त दुखी थीं, किन्तु परीक्षित के जन्म से वे सुखी तथा संतुष्ट हुई।

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम् ।

अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रति—की ओर; उज्जग्मुः—गया; प्रहर्षेण—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; प्राणम्—जीवन, प्राण; तन्वः—शरीर का; इव—सदृश; आगतम्—वापस आया; अभिसङ्गम्य—निकट जाकर; विधि-वत्—अच्छी तरह से; परिष्वङ्ग—अलिंगन; अभिवादनैः—अभिवादन (प्रणाम) द्वारा ।

वे सब परम प्रसन्नतापूर्वक उनके निकट गये, मानो उनके शरीरों में फिर से प्राण का संचार हुआ हो। उन्होंने एक दूसरे को प्रणाम किया और गले मिलते हुए एक दूसरे का स्वागत किया।

तात्पर्य : चेतना के अभाव में शरीर के अंग निष्क्रिय रहते हैं, लेकिन जब चेतना वापस आती है, तो अंग तथा इन्द्रियाँ सक्रिय हो उठती हैं और जीव हर्षित हो उठता है। कौरव-परिवार के लिए विदुर

इतने प्रिय थे कि राजमहल में उनकी अनुपस्थिति की तुलना निष्क्रियता से की गई थी। सभी लोग उनके तीव्र वियोग का अनुभव कर रहे थे। अतएव राजमहल में उनका वापस आना सभी के लिए आनन्ददायक था।

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।

राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुमुचुः—छोड़ा; प्रेम—प्रेम के; बाष्प—ओघम्—भावुकता के अश्रु; विरह—वियोग; औत्कण्ठ्य—उत्कण्ठा, उत्सुकता; कातराः—दुखी; राजा—राजा युधिष्ठिर; तम्—उसको (विदुर को); अर्हयाम् चक्रे—प्रदान किया; कृत—किया गया; आसन—बैठने का स्थान; परिग्रहम्—व्यवस्था।

चिन्ता तथा लम्बे वियोग के कारण, वे सब प्रेम-विवश होकर रूदन करने लगे। तब राजा युधिष्ठिर ने उनके बैठने के लिए आसन की व्यवस्था की और उनका सत्कार किया।

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने ।

प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (विदुर को); भुक्तवन्तम्—ठीक से भोजन कराकर; विश्रान्तम्—तथा विश्राम कराके; आसीनम्—बैठाकर; सुखम् आसने—सुखद आसन पर; प्रश्रय-अवनतः—स्वाभाविक रूप से अत्यन्त भद्र तथा विनीत; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; प्राह—बोलना प्रारम्भ किया; तेषाम् च—तथा उनके द्वारा; शृण्वताम्—सुना जाकर।

जब विदुर ठीक से भोजन कर चुके और पर्याप्त विश्राम कर लेने पर उन्हें सुखदायक आसन पर बिठाया गया। तब राजा ने उनसे बोलना शुरू किया और वहाँ पर उपस्थित सारे लोग सुनने लगे।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर अपने पारिवारिक सदस्य तक का स्वागत करने में पटु थे। सभी पारिवारिक सदस्यों ने विदुर का गले मिलते हुए तथा अभिवादन द्वारा सत्कार किया। तत्पश्चात् स्नान एवं समुचित भोजन की व्यवस्था की। फिर पर्याप्त विश्राम करने दिया गया। विश्राम के बाद उन्हें बैठने के लिए सुखद आसन प्रदान किया गया। तब राजा ने परिवार की तथा अन्य विषयों की बातें शुरू कीं। प्रिय मित्र या यहाँ तक कि शत्रु के भी स्वागत की यही उचित विधि है। भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार, घर आये शत्रु का भी इस तरह स्वागत होना चाहिए कि उसे भय की प्रतीति न हो। शत्रु सदैव अपने

शत्रु से भयभीत रहता है, किन्तु जब शत्रु के घर कोई शत्रु आए, तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि घर आये व्यक्ति का कुटुम्बी के समान सत्कार होना चाहिए; तो विदुर जैसे कुटुम्बी का कहना ही क्या, जो परिवार के सभी सदस्यों के शुभचिन्तक थे। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर अन्य सभी सदस्यों की उपस्थिति में विदुर से बोले।

युधिष्ठिर उवाच

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् ।

विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अपि—क्या; स्मरथ—आपको स्मरण है; नः—हमको; युष्मत्—आपसे; पक्ष—पक्षियों के पंखों सदृश हमारे प्रति पक्षपात; छाया—संरक्षण; समेधितान्—आपके द्वारा पाले गये हम सबों द्वारा; विपत्-गणात्—विभिन्न प्रकार की विपत्तियों से; विष—विष-रूप शासन द्वारा; अग्नि-आदेः—अग्नि-काण्ड आदि से; मोचिताः—छुटकारा दिलाया; यत्—आपने जो किया; स—सहित; मातृकाः—हमारी माता।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे चाचा, क्या आपको याद है कि आपने किस तरह सदा हमारी माता तथा हम सबकी समस्त प्रकार की विपत्तियों से रक्षा की है? आपके पक्षपात ने, पक्षियों के पंखों के समान, हमें विष-पान तथा अग्निदाह से बचाया है।

तात्पर्य : अल्पायु में ही पाण्डु की मृत्यु हो जाने से उनके छोटे-छोटे पुत्र तथा विधवा स्त्री परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों द्वारा, विशेष रूप से भीष्मदेव तथा महात्मा विदुर द्वारा, संरक्षण प्राप्त करते रहे। पाण्डवों की राजनीतिक स्थिति के कारण विदुर उनका थोड़ा-बहुत पक्षपात करते रहते थे। यद्यपि धृतराष्ट्र भी महाराज पाण्डु के छोटे-छोटे बालकों के प्रति समान रूप से सचेष्ट रहते थे, लेकिन वे उन षड्यंत्रकारी दलों में से एक थे, जो पाण्डु के वंशजों का नामोनिशान मिटा देना चाहते थे और उनके स्थान पर अपने पुत्रों को राज्य का शासक बनाना चाहते थे। महाराज विदुर धृतराष्ट्र तथा उनके दल के इस षड्यंत्र को समझते थे। अतएव अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के आज्ञाकारी सेवक होते हुए भी उन्हें उनकी यह राजकीय महत्वाकांक्षा, जो अपने पुत्रों के निमित्त थी, पसन्द नहीं थी। अतएव वे पाण्डवों एवं उनकी विधवा माता की सुरक्षा के प्रति अत्यधिक सावधान रहते थे। इस प्रकार कह सकते हैं कि वे पाण्डवों के पक्षपाती थे और उन्हें धृतराष्ट्र के पुत्रों से अधिक चाहते थे, यद्यपि सामान्य दृष्टि से वे दोनों ही उन्हें प्रिय थे। वे अपने भतीजों के दोनों दलों के प्रति इस तरह समान-वत्सल थे, फिर भी

अपने चचेरे भाइयों के प्रति षड्यंत्र करने की नीति के लिए वे दुर्योधन को सदैव प्रताड़ित करते रहते थे। वे अपने अग्रज की आलोचना अपने पुत्रों को बढ़ावा देने की नीति के लिए करते रहते, किन्तु साथ ही पाण्डवों को विशेष संरक्षण प्रदान करने के प्रति सदैव सतर्क रहते। राजमहल के भीतर विदुर के ये सारे कार्यकलाप उन्हें पाण्डवों का पक्षपाती घोषित करनेवाले थे। महाराज युधिष्ठिर ने विदुर के घर से दीर्घकालीन तीर्थाटन के लिए जाने के पूर्व के विगत इतिहास का उल्लेख किया है। महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें याद दिलाई कि वे कुरुक्षेत्र-युद्ध जैसी घोर पारिवारिक दुर्घटना के बाद भी अपने बड़े हो चुके भतीजों के प्रति कितने दयालु तथा पक्षपाती बने रहे।

कुरुक्षेत्र-युद्ध के पूर्व, धृतराष्ट्र की नीति यह थी कि वह अपने भतीजों का सफाया शान्तिपूर्ण ढंग से कर दे, अतएव उसने पुरोचन को आज्ञा दी कि वह वारणावत में एक महल निर्मित करे और जब वह महल बन कर तैयार हो गया, तो धृतराष्ट्र ने इच्छा व्यक्त की कि उसके भाई का परिवार वहाँ कुछ काल तक रहे। जब सारे पाण्डव राजकुल के अन्य सदस्यों की उपस्थिति में वहाँ जा रहे थे, तो विदुर ने अत्यन्त चालाकी से पाण्डवों को धृतराष्ट्र की भावी योजना की जानकारी दी। इसका विशेष वर्णन *महाभारत* (आदिपर्व ११४) में हुआ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें संकेत दिया—“ऐसा अस्त्र जो इस्पात या किसी अन्य धातु का न बना हो वह इतना तेज हो सकता है कि शत्रु का वध कर दे। किन्तु जो यह जानता है, वह कभी मारा नहीं जाता।” कहने का तात्पर्य यह था कि उन्होंने संकेत कर दिया कि पाण्डवों को वारणावत इसलिए भेजा जा रहा है कि उनका वध किया जा सके। इस तरह उन्होंने युधिष्ठिर को सचेत किया कि वे नये आवास-महल में अत्यन्त सतर्क रहें। उन्होंने अग्नि का भी संकेत किया और कहा कि अग्नि आत्मा का दहन नहीं कर सकती, लेकिन भौतिक शरीर को विनष्ट कर सकती है। किन्तु जो आत्मा की रक्षा करता है, वह जीवित रह सकता है। महाराज युधिष्ठिर तथा विदुर के ऐसे वार्तालाप को कुन्ती नहीं समझ पाई, अतएव जब उन्होंने अपने पुत्र से उस वार्तालाप का भावार्थ जानना चाहा, तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि विदुर की बातों से लग रहा है कि हम लोग जहाँ रहने जा रहे हैं, उस भवन में अग्नि लगने का संकेत है। बाद में, विदुर अपना वेश बदल कर पाण्डवों के पास पहुँचे और उन्हें सूचित किया कि शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को द्वारपाल महल में आग लगाएगा। यह धृतराष्ट्र का षड्यंत्र था कि पाण्डव अपनी माता समेत एकसाथ मर जाएँ। उनके सचेत करने से, पाण्डव

पृथ्वी के नीचे बनी सुरंग के द्वारा बच निकले, किन्तु उनके बचने का समाचार धृतराष्ट्र को ज्ञात न हो सका, यहाँ तक कि अग्नि लगने के बाद, सारे कौरव पाण्डवों की मृत्यु के प्रति इतने आश्चस्त थे कि धृतराष्ट्र ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनके अन्तिम संस्कार भी सम्पन्न कर डाले तथा शोक की अवधि में महल के सारे सदस्य शोक-मग्न थे, किन्तु विदुर ने शोक नहीं मनाया, क्योंकि उन्हें पता था कि सारे पाण्डव कहीं पर जीवित हैं। विपत्तियों के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं और उन सबों में विदुर ने एक ओर जहाँ पाण्डवों को संरक्षण प्रदान किया, तो दूसरी ओर, वे अपने भाई धृतराष्ट्र को ऐसी षड्यंत्रकारी नीतियों से रोकते रहे। इसलिए वे पाण्डवों के प्रति उसी तरह पक्षपात करते रहे, जिस प्रकार पक्षी अपने पंख से अंडों की रक्षा करता है।

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् ।

तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कया—किन; वृत्त्या—साधनों से; वर्तितम्—जीविका चलाते रहे; वः—आप; चरद्भिः—विचरण करते हुए; क्षिति-मण्डलम्—पृथ्वी पर; तीर्थानि—तीर्थ-स्थानों; क्षेत्र-मुख्यानि—प्रमुख पवित्र स्थानों; सेवितानि—आपके द्वारा सेवित; इह—इस संसार में; भूतले—इस ग्रह में।

पृथ्वी पर विचरण करते हुए, आपने अपनी जीविका कैसे चलाई? आपने किन-किन पवित्र स्थलों तथा तीर्थस्थानों पर सेवा की?

तात्पर्य : विदुर राजमहल से बाहर इसलिए चले गये थे, क्योंकि वे अपने को घरेलू मामलों से, विशेष रूप से राजनीतिक षड्यंत्रों से विलग करना चाह रहे थे। जैसाकि इसके पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, दुर्योधन उन्हें शूद्राणी-पुत्र कहकर उनका एक तरह से अपमान कर चुका था, यद्यपि किसी की पितामही (दादी) के विषय में अनाप-शनाप बातें करना कोई नई बात नहीं है। विदुर की माता शूद्राणी होते हुए भी, दुर्योधन की दादा लगती थी और कभी-कभी दादी तथा नातियों के बीच ऐसा मजाक चलता है। चूँकि यह छींटाकशी एक वास्तविकता थी, अतएव विदुर को बुरी लगनेवाली थी; फलतः इसे प्रत्यक्ष अपमान के रूप में ग्रहण किया गया। फलस्वरूप, विदुर ने तय किया कि वे अपना पैतृक महल त्याग कर, विरक्त जीवन बिताने की तैयारी करेंगे। यह तैयारी की अवस्था वानप्रस्थ आश्रम कहलाती है, अर्थात् ऐसा विरक्त जीवन जिसमें पृथ्वी भर में विचरण करके तीर्थस्थलों का दर्शन किया

जाता है। भारत में वृन्दावन, हरिद्वार, जगन्नाथपुरी तथा प्रयाग जैसे तीर्थस्थलों में अनेक महान् भक्त हैं और जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं, उनके लिए वे मुफ्त अन्नक्षेत्र (लंगर) चलाये जाते हैं। महाराज युधिष्ठिर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि क्या विदुर अपना जीवन-निर्वाह ऐसे अन्नक्षेत्रों (छत्र) से कर रहे थे ?

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भवत्—आप; विधाः—जैसे; भागवताः—भक्त; तीर्थ—तीर्थयात्रा के पवित्र स्थल; भूताः—बने हुए; स्वयम्—अपने आप; विभो—हे शक्तिमान; तीर्थी-कुर्वन्ति—तीर्थस्थान बनाते हैं; तीर्थानि—तीर्थस्थल; स्व-अन्तः-स्थेन—हृदय में स्थित होकर; गदा-भृता—भगवान् के ।

हे प्रभु, आप जैसे भक्त, निश्चय ही, साक्षात् पवित्र स्थान होते हैं। चूँकि आप भगवान् को अपने हृदय में धारण किए रहते हैं, अतएव आप समस्त स्थानों को तीर्थस्थानों में परिणत कर देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण सर्वव्यापी हैं, जिस प्रकार बिजली सर्वत्र फैली हुई रहती है। भगवान् की सर्वव्यापकता का अनुभव तथा उसका प्राकट्य उसी प्रकार विदुर जैसे अनन्य भक्तों द्वारा किया जाता है, जिस प्रकार बिजली के बल्ब में बिजली प्रकट होती है। विदुर जैसा शुद्ध भक्त भगवान् की उपस्थिति को सर्वत्र अनुभव करता है। वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति में देखता है और भगवान् को प्रत्येक वस्तु में। पृथ्वी पर जितने भी पवित्र स्थान हैं, वे भगवान् के अनन्य भक्तों की उपस्थिति से परिपूरित वातावरण द्वारा मनुष्य की दूषित चेतना को शुद्ध बनाने के निमित्त हैं। यदि कोई इन पवित्र स्थानों में जाता है, तो उसे चाहिए कि वहाँ रहनेवाले शुद्ध भक्तों को खोजे, उनसे शिक्षा ग्रहण करें, उस शिक्षा को व्यावहारिक जीवन में उतारे और इस तरह धीरे-धीरे अपने आपको मोक्ष के लिए, या भगवद्-धाम वापस जाने के लिए तैयार करे। किसी पवित्र स्थान में जाने का अर्थ मात्र गंगा या यमुना नदी में स्नान करना या उन स्थानों के मन्दिरों का दर्शन करना नहीं होता। उसे विदुर जैसे प्रतिनिधियों को खोजना चाहिए, जिन्हें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई आकांक्षा नहीं होती। भगवान् सदा से ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ रहते हैं, क्योंकि उनकी अनन्य सेवा,

सकाम कर्म या व्यर्थ चिन्तन से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती। वे भगवान् की असली सेवा में, विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन के माध्यम से लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त प्राधिकारियों से श्रवण करते हैं, कीर्तन करते हैं और भगवान् की महिमाओं का लेखन करते हैं। महामुनि व्यासदेव ने नारद से सुना था और तब उन्होंने लिखकर कीर्तन किया; शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता से शिक्षा ग्रहण की और परीक्षित से उसका वर्णन किया, *श्रीमद्भगवत* की यही विधि है। इस तरह भगवान् के शुद्ध भक्त अपने कार्यों से किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल सकते हैं और तीर्थस्थलों का नाम उन्हीं के कारण होता है। ऐसे शुद्ध भक्त किसी भी स्थान के दूषित वातावरण को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं। तो ऐसे पवित्र स्थान की तो बात ही क्या है, जो उन स्वार्थी व्यक्तियों के सन्देहास्पद कार्यों द्वारा अपवित्र हो रहा हो, जो ऐसे पवित्र स्थान की प्रसिद्धि की परवाह न करते हुए अपना धन्धा चलाते हैं।

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।

दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्या सुखमासते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारे; सुहृदः—शुभचिन्तक; तात—हे चाचा; बान्धवाः—मित्र; कृष्ण-देवताः—भगवान् कृष्ण की सेवा में सदैव तत्पर रहनेवाले; दृष्टाः—उन्हें देखकर; श्रुताः—या उनके विषय में सुनकर; वा—अथवा; यदवः—यदुवंशी लोग; स्व-पुर्याम्—अपने-अपने निवास-स्थानों में; सुखम् आसते—सुखी तो हैं।

हे चाचा, आप द्वारका भी गये होंगे? उस पवित्र स्थान में यदुवंशी हमारे मित्र तथा शुभचिन्तक हैं, जो नित्य ही भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। आप उनसे मिले होंगे अथवा उनके विषय में सुना होगा? वे अपने-अपने घरों में सुखपूर्वक रह रहे हैं न?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *कृष्ण देवताः* महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, वे जो सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं। यादव तथा पाण्डव, जो सदा ही भगवान् कृष्ण एवं उनकी विभिन्न दिव्य लीलाओं के विचार में मग्न रहते थे, वे सबके सब विदुर के ही समान भगवान् के शुद्ध भक्त थे। विदुर ने इसीलिए गृहत्याग किया था, जिससे वे पूर्णतया भगवान् की सेवा में लग सकें, किन्तु सारे पाण्डव तथा यादव तो सदा ही कृष्ण के विचार में डूबे रहते थे। अतएव उनके शुद्ध भक्ति-गुणों में कोई अन्तर नहीं है। शुद्ध भक्त, चाहे घर में रहे या घर छोड़ दे, उसका वास्तविक गुण तो कृष्ण के विचार में अनुकूल रूप से मग्न रहना होता है अर्थात् भलीभाँति यह जानना कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् हैं। यद्यपि कंस, जरासंध, शिशुपाल तथा उन्हीं जैसे अन्य असुर भी भगवान् कृष्ण के विचार में सदैव निमग्न रहते थे, किन्तु वे भिन्न प्रकार से—प्रतिकूल होकर—निमग्न रहते थे या उन्हें केवल शक्तिशाली मनुष्य मानते थे। अतएव कंस तथा शिशुपाल को शुद्ध भक्तों का वह पद प्राप्त नहीं है, जो विदुर, पाण्डवों तथा यादवों जैसे शुद्ध भक्तों को प्राप्त है।

महाराज युधिष्ठिर भी भगवान् कृष्ण तथा उनके द्वारका के पार्षदों के विचार में सदैव निमग्न रहा करते थे। अन्यथा, वे विदुर से उन सबके विषय में न पूछते। अतएव महाराज युधिष्ठिर विश्व के राज्य के मामलों में लगे रहकर भी, विदुर के समान भक्ति-पद पर स्थित थे।

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—पूछे जाने पर; धर्म-राजेन—राजा युधिष्ठिर द्वारा; सर्वम्—सब कुछ; तत्—यह; समवर्णयत्—ठीक से वर्णन किया; यथा-अनुभूतम्—जैसा उसने अनुभव किया था; क्रमशः—एक के बाद एक; विना—रहित; यदु-कुल-क्षयम्—यदुवंश का विनाश।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा इस तरह पूछे जाने पर महात्मा विदुर ने क्रमशः सब कुछ कह सुनाया, जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। केवल यदुवंश के विनाश की बात उन्होंने नहीं कही।

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम् ।
नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अप्रियम्—अप्रिय; दुर्विषहम्—असह्य; नृणाम्—मानव जाति का; स्वयम्—अपने ढंग से; उपस्थितम्—प्राकट्य; न—नहीं; आवेदयत्—व्यक्त किया; सकरुणः—दयामय; दुःखितान्—दुखी जनों को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अक्षमः—असमर्थ।

दयावान महात्मा विदुर पाण्डवों को कभी भी दुखी नहीं देख सकते थे। अतएव उन्होंने इस अप्रिय तथा असह्य घटना को प्रकट नहीं होने दिया, क्योंकि आपदाएँ तो अपने आप आती हैं।

तात्पर्य : नीतिशास्त्र के अनुसार, ऐसा अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिए, जिससे अन्यो को कष्ट हो। विपदा सदैव प्रकृति के नियमानुसार स्वतः आती है। अतएव इसका प्रचार करते हुए इसे अधिक उभारना नहीं चाहिए। विदुर जैसे दयावान व्यक्ति के लिए, विशेष रूप से प्रिय पाण्डवों के साथ व्यवहार

करते हुए, यदुवंश के विनाश जैसी अप्रिय घटना को उद्घाटित करना प्रायः असम्भव था। इसीलिए उन्होंने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया।

कञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम् ।
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां सुखमावहन् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कञ्चित्—कुछ दिनों तक; कालम्—समय; अथ—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहते रहे; सत्-कृतः—सम्मानित होने पर; देव-वत्—दैवी व्यक्ति के समान; सुखम्—सुविधाएँ; भ्रातुः—भाई का; ज्येष्ठस्य—बड़े भाई का; श्रेयः-कृत्—उनके प्रति अच्छाई करने के कारण; सर्वेषाम्—आप सबों का; सुखम्—सुख; आवहन्—सम्भव बनाया।

इस प्रकार अपने कुटुम्बियों द्वारा देवतुल्य सम्मानित होकर, महात्मा विदुर कुछ काल तक अपने बड़े भाई की मनोदशा को ठीक करने के लिए तथा इस प्रकार अन्य सबों को सुख देने के लिए वहाँ पर रहते रहे।

तात्पर्य : विदुर जैसे महात्मा पुरुषों का सत्कार स्वर्ग के निवासियों जैसा होना चाहिए। उन दिनों, स्वर्ग के निवासी महाराज युधिष्ठिर जैसे लोगों के घरों में आया करते थे और कभी-कभी अर्जुन जैसे व्यक्ति स्वर्ग-लोक की यात्रा किया करते थे। नारद तो ऐसे अन्तरिक्ष-यात्री हैं, जो बिना रोक-टोक के न केवल भौतिक ब्रह्माण्डों में, अपितु आध्यात्मिक लोकों में भी विचरण कर सकते हैं। नारद भी महाराज युधिष्ठिर के महलों में आते जाते थे, तो फिर अन्य देवताओं के विषय में कहना ही क्या। सम्बद्ध लोगों की आध्यात्मिक संस्कृति से ही, विभिन्न लोकों के मध्य इसी शरीर से यात्रा कर पाना सम्भव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने विदुर का वैसा ही सत्कार किया, जैसा देवताओं का किया जाता है।

महात्मा विदुर पहले ही वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर चुके थे। अतएव वे अपने पैतृक महल में भी कोई भौतिक सुख भोगने नहीं आये थे। उन्होंने अपनी कृपा से ही महाराज युधिष्ठिर द्वारा अर्पित सेवाभाव का स्वीकार किया, लेकिन उस महल में रहने का एकमात्र उद्देश्य अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का उद्धार करना था, जो सांसारिकता में अत्यधिक आसक्त थे। धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर से युद्ध करके अपना सारा राजपाट तथा सारे वंशज खो दिये थे; तो भी अपनी असहाय अवस्था के कारण वे महाराज युधिष्ठिर का दान तथा आतिथ्य ग्रहण करने में लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिर के

लिए यह बिल्कुल उचित था कि वे अपने तारु को समुचित ढंग से रख रहे थे, किन्तु इस प्रकार का भव्य आतिथ्य धृतराष्ट्र के लिए स्वीकार करना उचित न था। उन्होंने इसे स्वीकार कर रखा था, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अन्य कोई विकल्प न था। विदुर वहाँ पर विशेष रूप से धृतराष्ट्र को प्रबुद्ध करने तथा उन्हें उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही आये थे। प्रबुद्ध व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे पतितात्माओं का उद्धार करें और विदुर इसी उद्देश्य से आये थे। किन्तु आध्यात्मिक प्रबोध की बातें इतनी सुहावनी होती हैं कि जब विदुर धृतराष्ट्र को उपदेश दे रहे थे, तो परिवार के सारे सदस्य उनकी ओर आकृष्ट हो गये और सबों ने धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनने में आनन्द का अनुभव किया। आध्यात्मिक अनुभूति की यही विधि है। सन्देश को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए और यदि किसी अनुभूत व्यक्ति द्वारा यह सन्देश दिया जाता है, तो यह बद्धजीव के सुप्त हृदय पर प्रभाव डालता है। और निरन्तर श्रवण करते रहने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।

यावद्धार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अबिभ्रत्—दिया गया; अर्यमा—अर्यमा; दण्डम्—दण्ड; यथावत्—समुचित; अघ-कारिषु—पाप करनेवालों को; यावत्—जब तक; दधार—स्वीकार किया; शूद्रत्वम्—शूद्र का शरीर; शापात्—शाप के फलस्वरूप; वर्ष-शतम्—सौ वर्षों तक; यमः—यमराज।

मण्डूक मुनि के द्वारा शापित होकर, जब तक विदुर शूद्र का शरीर धारण किये रहे, तब तक पाप कर्म करने वालों को दण्डित करने के लिए यमराज के पद पर अर्यमा कार्य करते रहे।

तात्पर्य : विदुर शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने भाइयों—धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के साथ राज्य के उत्तराधिकार से भी वंचित थे; तो भला वे धृतराष्ट्र तथा महाराज युधिष्ठिर जैसे विद्वान राजाओं एवं क्षत्रियों के शिक्षक पद पर कैसे रह सकते थे? इसका पहला उत्तर यह है कि यद्यपि वे जन्म से शूद्र माने जाते थे, लेकिन चूँकि उन्होंने ऋषि मैत्रेय के आदेशानुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिए संसार का परित्याग कर दिया था और उनसे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी, अतएव वे आचार्य पद को ग्रहण करने के लिए पूर्णतया सक्षम थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो दिव्य ज्ञान या ईश-तत्त्व में निपुण है, वह चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, गुरु होने के लिए

योग्य है। यहाँ तक कि सामान्य नीतिशास्त्र में (महान् राजनीतिज्ञ तथा नीतिविद् चाणक्य पंडित के मतानुसार) शूद्र से भी निम्न व्यक्ति से शिक्षा ग्रहण करने में कोई हानि नहीं मानी गई। यह उत्तर का एक अंश हुआ। दूसरा अंश यह है कि विदुर वास्तव में शूद्र न थे। उन्हें मण्डूक मुनि के शाप के कारण, एक सौ वर्षों तक शूद्र की भूमिका निभानी थी। वे यमराज के अवतार थे, जो बारह महाजनों में से एक थे और ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, भीष्म, प्रह्लाद इत्यादि महापुरुषों के समान उच्च पद पर थे। महाजन होने के कारण, यमराज का कर्तव्य है कि वे विश्व के लोगों को भक्ति सम्प्रदाय का उसी प्रकार उपदेश दें जिस प्रकार नारद, ब्रह्मा तथा अन्य महाजन करते हैं। किन्तु यमराज सदैव अपने राज्य में पापकर्म करनेवालों को दण्ड देने के कार्य में ही व्यस्त रहते हैं। भगवान् ने यमराज को एक विशेष ग्रह के लिए, जो पृथ्वी से कुछ लाखों मील दूरी पर स्थित है, नियुक्त किया है, जहाँ वे मृत्यु के बाद भ्रष्ट जीवात्माओं को ले जाकर उनके पाप कर्मों के अनुसार दण्ड दें। अतएव यमराज को दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देने के उत्तरदायी काम से ही फुरसत नहीं मिल पाती। दुष्कर्म करनेवालों की संख्या सत्कर्मियों से अधिक है। अतएव यमराज को भगवान् द्वारा अधिकृत अन्य देवों की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है। लेकिन यमराज तो भगवान् की महिमा का उपदेश देना चाहते थे। अतएव भगवत् इच्छा से मण्डूक मुनि के शाप के कारण, उन्हें विदुर के अवतार रूप में इस पृथ्वी पर आने का मौका मिला और महान् भक्त की तरह निरन्तर भगवान् की सेवा में जुटने का मौका मिला। ऐसा भक्त न तो शूद्र होता है, न ब्राह्मण। वह संसारी समाज के ऐसे विभाजन से परे होता है, जिस प्रकार भगवान् शूकर के रूप में अवतरित होकर भी न तो शूकर हैं, न ही ब्रह्मा हैं। वे समस्त संसारी प्राणियों के ऊपर हैं। कभी-कभी, भगवान् तथा उनके विभिन्न अधिकृत भक्तों को बद्धजीवों के उद्धार हेतु निम्नतर प्राणियों की भूमिका अदा करनी पड़ती है, किन्तु भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त दोनों सदैव दिव्य पद पर बने रहते हैं। जब यमराज इस तरह विदुर के रूप में अवतरित हुए, तो कश्यप तथा अदिति के अनेक पुत्रों में से एक, अर्यमा ने यह पद सँभाला। आदित्यगण अदिति के पुत्र हैं और आदित्यों की संख्या बारह है। अर्यमा इन बारह आदित्यों में से एक है। अतएव विदुर की अनुपस्थिति में सौ वर्षों तक यमराज के कार्यभार को सँभालने के लिए अर्यमा का चुनाव ठीक ही था। निष्कर्ष यह है कि विदुर कभी भी शूद्र न थे, वे तो शुद्धतम ब्राह्मण से भी महान् थे।

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम् ।
भ्रातृभिलोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर ने; लब्ध-राज्यः—अपने पैतृक राज्य का अधिकारी होकर; दृष्ट्वा—देखकर; पौत्रम्—नाती को; कुलम्-
धरम्—वंश के अनुकूल; भ्रातृभिः—भाइयों से; लोक-पालाभैः—जो सभी पटु प्रशासक थे; मुमुदे—जीवन का भोग किया;
परया—असामान्य; श्रिया—ऐश्वर्य से।

अपना राज्य वापस पाकर तथा एक ऐसे पौत्र का जन्म देखकर, जो उनके परिवार की प्रशस्त परम्परा को आगे चलाने में सक्षम था, महाराज युधिष्ठिर ने शान्तिपूर्वक शासन चलाया और उन छोटे भाइयों के सहयोग से, जो सारे के सारे कुशल प्रशासक थे, असामान्य ऐश्वर्य का भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन दोनों ही, कुरुक्षेत्र युद्ध के शुरू होने के दिन से ही अप्रसन्न थे, किन्तु युद्ध में स्वजनों को मारने की अनिच्छा होते हुए भी, उन्हें उसे कर्तव्य समझकर करना पड़ रहा था, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की परम इच्छा से इसकी योजना की गई थी। युद्ध के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ऐसे सामूहिक संहार से दुखी थे। एक तरह पाण्डवों के बाद कुरु वंश को चलानेवाला कोई नहीं था। यदि एक मात्र आशा शेष थी, तो वह पुत्रवधू उत्तरा के गर्भ में स्थित बालक था और उस पर भी अश्वत्थामा ने हमला कर दिया था, किन्तु भगवान् की कृपा से वह बालक बच गया था। अतएव सभी उपद्रवों के शान्त होने पर तथा राज्य में शान्ति स्थापित होने पर और एकमात्र बचे हुए बालक परीक्षित को देखकर युधिष्ठिर सन्तुष्ट थे और सदैव क्षणिक और भ्रांत करने वाले भौतिक सुख के प्रति आकर्षण न होने पर भी मानव होने के कारण, उन्हें कुछ चैन मिला था।

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; गृहेषु—घरेलू मामलों में; सक्तानाम्—अत्यन्त आसक्त पुरुषों के; प्रमत्तानाम्—बेवकूफी से आसक्त; तत्-
ईहया—ऐसे विचारों में निमग्न; अत्यक्रामत्—पार कर गया; अविज्ञातः—अनजाने; कालः—सनातन काल; परम—परम;
दुस्तरः—दुर्लभ।

जो लोग घरेलू मामलों में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और उन्हीं के विचारों में मग्न रहते जाते हैं, उन्हें दुस्तर सनातन काल अनजाने ही धर दबोचता है।

तात्पर्य : “मैं अब सुखी हूँ; अब सब कुछ ठीक-ठीक है; मेरे पास बैंक में प्रचुर धन है; अब मैं अपने लड़कों को काफी जागीर दे सकता हूँ; अब मैं सफल हूँ; ये भिखारी संन्यासी ईश्वर पर आश्रित तो रहते हैं, किन्तु वे मेरे सामने हाथ फैलाने आते हैं, अतएव मैं परमेश्वर से भी बढ़कर हूँ।” ये कुछ विचार हैं, जो उन प्रमत्त आसक्त गृहस्थों के मनो में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, जो शाश्वत काल के प्रति अन्धे रहते हैं। हमारी आयु सीमित है और परम इच्छा से नियत किये गये काल के विपरीत, इसे एक क्षण भी बढ़ा पाना सम्भव नहीं है। मनुष्यों के लिए ऐसा समय अत्यन्त मूल्यवान है और इसे सतर्कता से बिताया जाना चाहिए, क्योंकि अदृश्य रूप से बीते एक क्षण को कठिन कमाई से संग्रह किये गये हजारों सोने के सिक्कों से भी बदला नहीं जा सकता। मानव जीवन का प्रत्येक क्षण अन्ततः जीवन की समस्याओं को हल करने के निमित्त अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु एवं ८४,००,००० योनियों में भटकते रहने से छुटकारा पाने के लिए है। यह भौतिक शरीर, जो जन्म तथा मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे से ग्रस्त होता रहता है, जीव के समस्त कष्टों की जड़ है अन्यथा जीव तो शाश्वत है। न तो वह कभी जन्मता है, न कभी मरता है। मूर्ख लोग इस समस्या को भूल जाते हैं। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि जीवन की समस्याओं को किस तरह हल किया जाए। उल्टे वे क्षणिक पारिवारिक झंझटों में उलझे रहते हैं और उनकी समझ में यह नहीं आता कि शाश्वत समय, अदृश्य रूप से बीतता जा रहा है, उनकी सीमित आयु हर क्षण घटती जा रही है और जन्म-मृत्यु एवं रोग तथा बुढ़ापे के चक्कर की सबसे बड़ी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। ही भ्रम कहलाता है।

किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा के प्रति जागरूक रहता है, उस पर यह भ्रम प्रभाव नहीं डाल सकता। युधिष्ठिर महाराज तथा उनके भाई पाण्डव सभी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लगे रहते थे और उन्हें इस भौतिक जगत के मायावी सुख के प्रति तनिक भी आकर्षण न था। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, महाराज युधिष्ठिर भगवान् मुकुन्द (मोक्षदाता भगवान्) की सेवा में अचल थे, अतएव उन्हें स्वर्ग में उपलब्ध जीवन के सुख का भी आकर्षण न था, क्योंकि ब्रह्मलोक तक में उपलब्ध सुख क्षणिक तथा भ्रामक होता है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव वह भगवान् के नित्य धाम

(परव्योम) में ही सुखी रह सकता है जहाँ से बारम्बार जन्म-मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे के इस भूभाग में कोई नहीं लौटता। अतः ऐसा कोई भी सुख या भौतिक सुविधा, जो शाश्वत जीवन प्रदान नहीं कर सकती, शाश्वत जीव के लिए भ्रम ही है। जो इस तथ्य को समझ लेता है, वह विद्वान है और ऐसा विद्वान व्यक्ति, *ब्रह्मसुखम्* के नाम से विख्यात वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी भौतिक सुख का बलिदान कर सकता है। इस सुख के लिए वास्तविक योगी तक लालायित रहते हैं और जिस तरह भूखा व्यक्ति, भोजन के बिना, अन्य समस्त सुख-सुविधाओं से सुखी नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार जिसे आध्यात्मिक परम सुख की भूख है, उसे कितना ही भौतिक सुख क्यों न प्राप्त हो, किन्तु इसकी यह भूख बुझती नहीं। अतएव इस श्लोक में वर्णित उपदेश को महाराज युधिष्ठिर पर या उनके भाइयों तथा माता पर लागू नहीं किया जा सकता। यह धृतराष्ट्र जैसे व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें शिक्षा देने के लिए विदुर विशेष रूप से आये।

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।

राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—महात्मा विदुर ने; तत्—वह; अभिप्रेत्य—ठीक से जानकर; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र से; अभाषत—कहा; राजन्—हे राजा; निर्गम्यताम्—कृपा करके बाहर निकलें; शीघ्रम्—शीघ्र ही; पश्य—देखो; इदम्—इस; भयम्—भय को; आगतम्—पहले से आया हुआ।

महात्मा विदुर यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा : हे राजन्, कृपा करके यहाँ से शीघ्र ही बाहर निकल चलिये। विलम्ब न कीजिये। जरा देखें तो, भय ने किस प्रकार आपको वशीभूत कर रखा है।

तात्पर्य : क्रूर काल को किसी की परवाह नहीं रहती, चाहे वह धृतराष्ट्र हो या महाराज युधिष्ठिर ही क्यों न हों। अतएव बूढ़े धृतराष्ट्र को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया गया, वह उनसे कम आयुवाले महाराज युधिष्ठिर पर भी लागू होता था। एक तरह से, राजमहल का प्रत्येक व्यक्ति, राजा तथा उनके भाइयों एवं माता सहित, विदुर के भाषणों को ध्यान से सुन रहा था। किन्तु विदुर को ज्ञात था कि उनके उपदेश विशेषकर धृतराष्ट्र के ही निमित्त हैं, क्योंकि वे अत्यधिक भौतिकतावादी थे। *राजन्* शब्द से धृतराष्ट्र को विशेष रूप से सम्बोधित किया गया है। धृतराष्ट्र अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे, अतएव

नियमों के अनुसार, उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर आरूढ़ होना था, किन्तु जन्मान्ध होने के कारण, वे अपने न्यायोचित अधिकार से अयोग्य मान लिए गये थे। वे इस शोकावस्था को भूल नहीं पाये, किन्तु अपने छोटे भाई पाण्डु की मृत्यु के बाद, यह निराशा कुछ कम हो गई। उनके छोटे भाई अपने पीछे कुछ अल्पवयस्क पुत्र छोड़ गये थे। अतएव धृतराष्ट्र उनके स्वाभाविक अभिभावक बन चुके थे, किन्तु उनकी हार्दिक अभिलाषा यह थी कि वे असली राजा बनें और अपना राज्य दुर्योधन आदि अपने पुत्रों को हस्तान्तरित कर दें। इन राजसी महत्वाकांक्षाओं को लेकर, धृतराष्ट्र राजा बनना चाह रहे थे, अतएव वे अपने साले शकुनी की सलाह से, सभी प्रकार के षड्यंत्र रच रहे थे। किन्तु भगवान् की इच्छा से सारी योजना असफल रही। वे अन्तिम अवस्था में भी अपना सब कुछ, सारे लोग तथा अपना सारा धन खोकर भी, राजा बने रहना चाहते थे, क्योंकि वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ जो थे। अपना कर्तव्य समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की राजसी प्रतिष्ठा को बनाये रखा और धृतराष्ट्र सुखपूर्वक राजा बने रहने, अथवा महाराज युधिष्ठिर के राजसी ताऊ होने के भ्रम में अपने इने-गिने दिन काट रहे थे। विदुर धृतराष्ट्र के छोटे कर्तव्यनिष्ठ स्नेही भाई एवं एक साधु पुरुष होने के कारण, एक साधु पुरुष, उन्हें रोग तथा बुढ़ापे की नींद से जगाना चाह रहे थे। अतएव उन्होंने व्यंग्यपूर्वक धृतराष्ट्र को “राजन्” कहकर सम्बोधित किया जबकि वास्तव में वे राजा थे नहीं। हर व्यक्ति सनातन काल का दास है, अतएव कोई भी इस भौतिक जगत में राजा नहीं हो सकता। राजा का अर्थ है, वह जो आज्ञा दे सके। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजा काल तथा ज्वार-भाटा को आदेश देना चाहता था, किन्तु काल तथा ज्वार-भाटा ने उसकी आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया। अतएव इस भौतिक जगत में मनुष्य मिथ्या का राजा होता है और धृतराष्ट्र को विशेष रूप से, उनके मिथ्या पद का तथा उन वास्तविक भयानक घटनाओं का, जो उस समय घट चुकी थीं, स्मरण दिलाया जा रहा था। विदुर ने उनसे तुरन्त ही इस अवस्था से बाहर निकल आने के लिए कहा, यदि वे तेजी से बढ़ने वाली इस भयावह परिस्थिति से बचना चाह रहे हों। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से इस प्रकार नहीं कहा, क्योंकि उन्हें पता था कि महाराज युधिष्ठिर इस विकट संसार की भयावह परिस्थिति से अवगत हैं और कालक्रम में वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकेंगे, भले ही उस समय विदुर वहाँ उपस्थित न हों।

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।

स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रतिक्रिया—उपचार; न—**नहीं है**; यस्य—**जिसका**; इह—**इस भौतिक संसार में**; कुतश्चित्—**किसी प्रकार से भी**; कर्हिचित्—**या किसी के द्वारा**; प्रभो—**हे स्वामी**; सः—**वह**; एषः—**निश्चित रूप से**; भगवान्—**भगवान्**; कालः—**शाश्वत काल**; सर्वेषाम्—**सबों का**; नः—**हम सबका**; समागतः—**आया हुआ** ।

इस भौतिक संसार में कोई भी व्यक्ति इस भयावह स्थिति का निराकरण नहीं कर सकता । हे स्वामी, शाश्वत काल के रूप में, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हम सबों के पास आ पहुँचे हैं ।

तात्पर्य : ऐसी कोई बेहतर शक्ति नहीं है, जो मृत्यु के क्रूर पंजे को रोक सके । किसी को चाहे कितना ही शारीरिक कष्ट क्यों न होता हो, तब भी कोई मरना नहीं चाहता । आज की तथाकथित ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति के समय में भी न तो बुढ़ापे का कोई उपचार है, न मृत्यु का । वृद्धावस्था क्रूर काल द्वारा दी गई मृत्यु के आगमन की सूचना है और कोई भी शाश्वत काल के बुलावे को या परम निर्णय को स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता है । यह सब धृतराष्ट्र को बताया जा रहा है, क्योंकि हो सकता है कि वे विदुर से इस आसन्न भयावह स्थिति से निपटने के लिए कोई उपचार ढूँढ़ निकालने के लिए कहें, जैसाकि वे इसके पूर्व कई बार कह चुके थे । किन्तु आज्ञा देने के पूर्व, विदुर ने धृतराष्ट्र को सूचित किया कि इस जगत में इसका किसी के पास या किसी साधन से कोई उपचार प्राप्त नहीं हो सकता । और चूँकि इस भौतिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, अतः मृत्यु भगवान् से अभिन्न है जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा है ।

इस भौतिक जगत में मृत्यु को न तो किसी के द्वारा, न ही किसी साधन से रोका जा सकता है । हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था और उसने उग्र तपस्या की थी, जिससे सारा संसार थरथरा रहा था और ब्रह्मा स्वयं उसे ऐसी उग्र तपस्या से विरत कराने के लिए उसके पास गये थे । हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से यह वर माँगा कि वह अमर हो जाय, किन्तु ब्रह्मा ने कहा कि वे स्वयं सर्वोच्च लोक में रहकर भी मृत्यु के अधीन हैं, अतएव वे उसे अमरत्व का वरदान कैसे दे सकते हैं ? अतः इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक में भी मृत्यु है । फिर अन्य लोकों के विषय में तो कहना ही क्या, जो गुणता में ब्रह्मा के आवास के ग्रह ब्रह्मलोक से कहीं निम्न कोटि के हैं ? जहाँ कहीं भी सनातन काल का प्रभाव है, वहीं-वहीं जन्म, रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु इन कष्टों की शृंखला का अस्तित्व है और ये सारे अपराजेय हैं ।

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि ।

जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

येन—ऐसे काल द्वारा खींचा गया; च—तथा; एव—निश्चय ही; अभिपन्नः—पकड़ में या प्रभाव में; अयम्—यह; प्राणैः—जीवन से; प्रिय-तमैः—जो सबों को अत्यन्त प्रिय है; अपि—यद्यपि; जनः—व्यक्ति; सद्यः—शीघ्र; वियुज्येत—त्याग दे; किम् उत अन्यैः—अन्य वस्तु के विषय में क्या कहा जाय; धन-आदिभिः—यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर।

जो भी सर्वोपरि काल (शाश्वत समय) के प्रभाव में है, उसे अपना सबसे प्रिय जीवन काल को अर्पित करना पड़ता है, अन्य वस्तुओं यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर का तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : एक महान् भारतीय वैज्ञानिक जो आयोजन करने के कार्य में व्यस्त रहता था, जब योजना आयोग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेने जा रहा था, तो सहसा उसे अजेय काल का बुलावा आ गया और उसे अपना जीवन, पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, धन इत्यादि सब कुछ त्यागना पड़ा। भारत में राजनीतिक उथल-पुथल तथा पाकिस्तान एवं हिन्दुस्तान में इसके विभाजन के समय अनेक धनी तथा प्रभावशाली भारतीयों को काल के वश में आकर अपना जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान, सभी कुछ समर्पित कर देना पड़ा। सारे विश्व में, सारे ब्रह्माण्ड में, इस तरह के सैकड़ों-हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं, जो सारे काल के प्रभाव के कारण हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा शक्तिशाली जीव नहीं है, जो काल के प्रभाव को जीत सके। अनेक कवियों ने काल के प्रभाव के विषय में विलाप करते हुए कविताएँ लिखीं हैं। काल के प्रभाव से ही ब्रह्माण्डों में अनेक विनाश-की घटनाएँ होती रही हैं और कोई भी उन्हें किसी साधन से रोक नहीं पाया। यहाँ तक कि हमारे हररोज के जीवन में ऐसी अनेक बातें घटती रहती हैं, जिनमें हमारा वश नहीं चलता और हमें उन्हें सहना पड़ता है। उनका कोई निवारक उपाय नहीं होता। यही काल का परिणाम है।

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयम् ।

आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पितृ—पिता; भ्रातृ—भाई; सुहृत्—शुभचिन्तक; पुत्राः—पुत्र; हताः—सारे के सारे मृत; ते—आपके; विगतम्—निःशेष; वयम्—आयु; आत्मा—शरीर; च—भी; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्तः—अभिभूत, परास्त; पर-गेहम्—दूसरे के घर; उपाससे—जमे रहते हो।

आपके पिता, भाई, शुभचिन्तक तथा पुत्र सभी मर चुके हैं और दूर चले गये हैं। आपने स्वयं भी अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत कर लिया है, अब आपके शरीर को बुढ़ापे ने आ दबोचा है और आप पराए घर में पड़े हुए हैं।

तात्पर्य : राजा धृतराष्ट्र को क्रूर काल द्वारा वशीभूत उनकी गम्भीर दशा का स्मरण कराया जा रहा है। उन्हें अपने विगत अनुभव के कारण उन्हें अधिक बुद्धिमान हो जाना चाहिए था कि उनके जीवन में क्या घटित होने जा रहा है। उनके पिता, विचित्रवीर्य, काफी पहले मर चुके थे, जब वे तथा उनके छोटे भाई सभी छोटे-छोटे बालक थे। यह तो भीष्मदेव की देखरेख तथा सहृदयता का परिणाम था कि वे सभी अच्छी तरह पल सके। फिर उनके भाई पाण्डु भी चल बसे। तत्पश्चात्, उनके एक सौ पुत्र तथा सारे पौत्र, अपने अन्य समस्त हितैषि समेत, यथा भीष्मदेव, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा अन्य बहुत से राजाओं तथा मित्र सभी, कुरुक्षेत्र के युद्ध में काम आ चुके थे। इस प्रकार उनके सारे जन तथा उनका सारा धन नष्ट हो चुका था और अब वे अपने भतीजे की कृपा पर जीवित थे, जिसे उन्होंने सभी प्रकार की मुसीबतों में डाला था। इन सारी विफलताओं के बावजूद, वे सोच रहे थे कि वे अपना जीवन दीर्घ काल तक ऐसे ही चलाते रहेंगे। धृतराष्ट्र को विदुर यह बता देना चाहते थे कि हर एक को अपने कर्म तथा भगवत्कृपा द्वारा अपनी रक्षा करनी होती है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक अपना कर्म करना चाहिए, फल तो परमेश्वर पर आश्रित है। जो व्यक्ति परमेश्वर द्वारा रक्षित नहीं है, उसकी रक्षा न कोई मित्र, न सन्तानें, न पिता, न भाई, न राज्य या अन्य कोई कर सकता है। अतएव मनुष्य को भगवान् के संरक्षण की खोज करनी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य जीवन इसी खोज के लिए मिला है। उन्हें उनकी गम्भीर स्थिति की जानकारी निम्नलिखित शब्दों द्वारा और भी अधिक दी गई।

अन्धः पुरैव वधिरो मन्दप्रज्ञाश्च साम्प्रतम् ।

विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः सरागः कफमुद्वहन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्धः—अंधा; पुरा—प्रारम्भ से; एव—निश्चय ही; वधिरः—बहरा; मन्द-प्रज्ञाः—कुन्द स्मृति; च—तथा; साम्प्रतम्—हाल ही में; विशीर्ण—हिलते हुए; दन्तः—दाँत; मन्द-अग्निः—यकृत की क्रिया का कम होना; स-रागः—ध्वनि सहित; कफम्—कफ; उद्धहन्—निकलता हुआ।

आप जन्म से ही अन्धे रहे हैं और हाल ही में आप कुछ बहरे हो चुके हैं। आपकी स्मृति कम हो गई है और आपकी बुद्धि विचलित हो गई है। आपके दाँत हिल चुके हैं, आपका यकृत खराब हो चुका है और आपके कफ निकल रहा है।

तात्पर्य : वृद्धावस्था के सारे लक्षण धृतराष्ट्र में पहले से प्रकट हो चुके थे और उन सबों को एक-एक करके बतलाकर, उन्हें आगाह किया जा रहा है कि उनकी मृत्यु अत्यन्त निकट है; तो भी वे भविष्य के प्रति मूर्ख की तरह लापरवाह थे। धृतराष्ट्र के शरीर में इंगित किये गये सारे लक्षण अपक्षय के थे, अर्थात् मृत्यु के अन्तिम आघात के पूर्व शरीर के क्षय होने के लक्षण थे। यह शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है, बना रहता है, दूसरे शरीरों को जन्म देता है, उसका क्षय होता है और तब वह नष्ट हो जाता है। किन्तु मूर्ख लोग नश्वर शरीर के साथ स्थायी समझौता करना चाहते हैं और सोचते हैं कि उनकी जायदाद, सन्तानें, समाज, देश इत्यादि उन्हें संरक्षण प्रदान करेंगे। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों में आकर, वे ऐसे अस्थायी कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि उन्हें यह अस्थायी शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना है और समाज, मित्रता तथा प्यार की फिर नई व्यवस्था करनी है और अन्त में फिर से नष्ट हो जाना है। वे अपना स्थायी स्वरूप भूल जाते हैं और अपने मूल कर्तव्य को भूलकर अस्थायी कार्यों में सक्रिय हो जाते हैं। विदुर जैसे साधु-सन्त ऐसे लोगों को वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत करने के लिए उनके पास पहुँचते हैं, किन्तु वे ऐसे साधु-सन्तों को समाज पर आश्रित अवांछित तत्त्व समझते हैं और लगभग सभी उनकी बातें अनसुनी कर देते हैं, यद्यपि वे अपनी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले तथाकथित दिखावटी साधु-सन्तों का स्वागत करते रहते हैं। विदुर ऐसे साधु न थे, जो धृतराष्ट्र की दुर्भावना की तुष्टि करते। वे जीवन की वास्तविक स्थिति को सही-सही बता रहे थे और यह बता रहे थे कि ऐसी विपत्तियों से अपने आपको किस प्रकार बचाया जाए।

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यथा भवान् ।

भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; महीयसी—शक्तिमान; जन्तोः—जीवों की; जीवित-आशा—जीवन की उम्मीद; यथा—जिस तरह; भवान्—आप हैं; भीम—भीमसेन (युधिष्ठिर के भाई) के; अपवर्जितम्—जूठा; पिण्डम्—भोजन; आदत्ते—खाया गया; गृह-पाल-वत्—घेरलू कुत्ते के समान।

ओह! प्राणी में जीवित रहने की कितनी प्रबल इच्छा होती है! निश्चय ही आप एक घेरलू कुत्ते की भाँति रह रहे हैं और भीम द्वारा दिये गये जूठन को खा रहे हैं।

तात्पर्य : साधु को कभी भी सुखमय जीवन बिताने की इच्छा से, राजाओं या धनियों की चापलूसी नहीं करनी चाहिए। साधु को चाहिए कि वह गृहस्थों से जीवन के कटु सत्य के बारे में बताए, जिससे वे इस भौतिक अस्तित्व के संकटपूर्ण अनिश्चित जीवन के विषय में सचेत हो सकें। धृतराष्ट्र गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त वृद्ध पुरुष के जीते-जागते उदाहरण हैं। वे वास्तव में दरिद्र हो चुके थे, फिर भी वे पाण्डवों के घर में सुख-पूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। इनमें से भीमसेन का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र के दो प्रमुख पुत्रों—दुर्योधन तथा दुस्शासन का स्वयं वध किया था। ये दोनों पुत्र अपने छल-कपट एवं दुष्ट कार्यों के कारण उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और भीमसेन का विशेष उल्लेख इसलिए हुआ है, क्योंकि उसने इन दोनों प्रिय पुत्रों को मारा था। तो धृतराष्ट्र पाण्डवों के घर में क्यों रह रहे थे? क्योंकि सारा अपमान सहकर भी वे सुखपूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। अतः विदुर को आश्चर्य हो रहा था कि जीवित रहने की आशा कितनी प्रबल होती है। यह जीविताशा सूचित करती है कि जीव शाश्वत है और वह अपने शारीरिक निवासस्थान को बदलना नहीं चाहता। मूर्ख व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे यह शरीर सीमित अवधि के लिए बन्दी के रूप में बिताने के लिए मिला है और मनुष्य शरीर तो अनेकानेक जन्मांतरों के बाद मिलता है, जो भगवद्धाम वापस जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार का सुअवसर होता है। लेकिन धृतराष्ट्र जैसे व्यक्ति, लाभ-सहित सुखी रहकर जीवित रहने की योजनाएँ बनाते हैं, क्योंकि उन्हें असली रूप में ज्ञान नहीं होता। धृतराष्ट्र अन्धे थे और जीवन की समस्त विषमताओं के बीच वे सुखपूर्वक जीवित रहने की आशा लगाये हुए थे। विदुर जैसे साधु ऐसे अंधे व्यक्तियों को सावधान करने के लिए तथा शाश्वत जीवन बिताने के लिए भगवद्-धाम जाने में सहायता करने के लिए होते हैं। एक बार वहाँ जाकर कोई इस दुःखमय संसार में वापस नहीं आना चाहता। अतएव हम सोच सकते हैं कि महात्मा विदुर जैसे साधु पुरुषों को कितना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने के लिए सौंपा जाता है।

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्वत्तैरसुभिः कियत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; निसृष्टः—लगाया हुआ; दत्तः—दिया हुआ; च—तथा; गरः—विष; दाराः—विवाहिता स्त्री; च—तथा;
दूषिताः—अपमानित; हृतम्—बलपूर्वक छीना गया; क्षेत्रम्—राज्य; धनम्—सम्पत्ति; येषाम्—जिनका; तत्—उनका; दत्तैः—
दिया गया; असुभिः—जीने में; कियत्—अनावश्यक है।

आपने अग्नि लगाकर तथा विष देकर जिन लोगों को मारना चाहा, उन्हीं के दान पर आपको जीवित रहने तथा गिरा हुआ जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं है। उनकी एक पत्नी को भी आपने अपमानित किया है और उनका राज्य तथा धन छीन लिया है।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म पद्धति में मनुष्य जीवन का एक अंश पूर्णतया आत्म-साक्षात्कार के हेतु तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सुरक्षित रहता है। यह जीवन काल का सामान्य विभाजन है, लेकिन धृतराष्ट्र-जैसे लोग वृद्धावस्था में भी घर में बने रहना चाहते हैं, भले ही दुश्मन से दान स्वीकार करके अधम जीवन ही क्यों न बिताना पड़े। विदुर यह बताना चाह रहे थे और धृतराष्ट्र पर जोर डालना चाहते थे कि इस तरह अपमानित होकर दान स्वीकार करने की अपेक्षा अपने पुत्रों की भाँति मर जाना अधिक श्रेयस्कर है। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व एक धृतराष्ट्र था, लेकिन इस समय तो घर-घर में धृतराष्ट्र हैं! राजनेता तो विशेष रूप से राजनैतिक गतिविधियों से तब तक अवकाश नहीं लेते, जब तक क्रूर मृत्यु उन्हें घसीटकर नहीं ले जाती या कोई विरोधी तत्त्व उन्हें मार नहीं डालता। अपने मनुष्य जीवन के अन्त तक गृहस्थ जीवन में चिपके रहना सबसे निपट अधमता है। अतएव इस समय भी ऐसे विदुरों की आवश्यकता है, जो धृतराष्ट्रों को मार्ग दिखा सकें।

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—के बावजूद; तव—तुम्हारा; देहः—शरीर; अयम्—यह; कृपणस्य—कंजूस का; जिजीविषोः—जीवन की इच्छा करनेवाले का; परैति—क्षीण हो जाएगा; अनिच्छतः—न चाहते हुए भी; जीर्णः—टूटा-फूटा; जरया—पुराने; वाससी—वस्त्रों; इव—सदृश।

मरने के लिए आपकी अनिच्छा होने तथा आत्म-सम्मान की बलि देकर जीवित रहने की आपकी इच्छा होने पर भी, आपका यह कृपण शरीर निश्चय ही क्षीण होगा तथा पुराने वस्त्र की भाँति नष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : *कृपणस्य जिजीविषोः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्यों के दो वर्ग होते हैं—एक *कृपण* कहलाते हैं और दूसरे *ब्राह्मण*। *कृपण* अर्थात् कंजूस अपने भौतिक शरीर का कोई मूल्यांकन नहीं कर पाता, किन्तु ब्राह्मण अपना तथा अपने शरीर का पूरा-पूरा मूल्यांकन कर सकता है। *कृपण* अपने शरीर का गलत मूल्यांकन करने के कारण, इन्द्रियतृप्ति का भरपूर ताकत से भोग करना चाहता है और बुढ़ापे में भी औषधियों के उपचार से या किसी अन्य तरह से जवान बनना चाहता है। धृतराष्ट्र को यहाँ पर *कृपण* कहा गया है, क्योंकि वह अपने शरीर का कोई मूल्यांकन किये बिना येन-केन-प्रकारेण जीवित रहना चाहता है। विदुर उसकी आँखें खोलना चाह रहे हैं कि वह निश्चित अवधि से अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता और अब उसे मरने के लिए तैयार रहना चाहिए। चूँकि मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो उसे जीवित रहने के लिए ऐसी अपमाजनक स्थिति का स्वीकार क्यों करना चाहिए? श्रेयस्कर तो यही है कि मृत्यु की जोखिम उठाते हुए भी समुचित राह पकड़ी जाय। यह मनुष्य जीवन भौतिक अस्तित्व के सारे दुखों को समाप्त करने के लिए मिला है और जीवन को इस प्रकार नियमित बनाना चाहिए कि वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सके। धृतराष्ट्र, जीवन के प्रति गलत धारणा के कारण, अपनी अर्जित शक्ति का अस्सी प्रतिशत भाग पहले ही गँवा चुके थे, अतएव उन्हें *कृपण* जीवन के अन्तिम दिनों का सदुपयोग परम कल्याण के लिए करना चाहिए। ऐसा जीवन *कृपण* कहलाता है, क्योंकि इस तरह कोई मनुष्य जीवन की सारी निधियों का सही-सही उपयोग नहीं कर पाता। सौभाग्य से ही, ऐसे *कृपण* मनुष्य की विदुर जैसे स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से भेंट होती है और उसके उपदेश से भवसागर के अज्ञान से छुटकारा प्राप्त होता है।

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।

अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गत-स्व-अर्थम्—ठीक से उपयोग किये बिना; इमम्—इस; देहम्—भौतिक शरीर को; विरक्तः—अन्यमनस्क; मुक्त—मुक्त होकर; बन्धनः—सारे बन्धनों से; अविज्ञात-गतिः—अज्ञात लक्ष्य; जह्यात्—इस शरीर को त्याग देना चाहिए; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निश्चय ही; धीरः—अविचल; उदाहृतः—कहलाता है।

वह धीर कहलाता है, जो किसी अज्ञात सुदूर स्थान को चला जाए और जब यह भौतिक शरीर व्यर्थ हो जाए, तब सारे बन्धनों से मुक्त होकर अपने शरीर को त्यागता है।

तात्पर्य : महान् भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है, “हे भगवान्! मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। मनुष्य शरीर पाने पर भी, मैंने आपकी उपासना की उपेक्षा की है, अतः मैंने जानबूझ कर विषपान किया है।” दूसरे शब्दों में, मनुष्य का शरीर विशेष रूप से भगवान् की भक्तिमय सेवा के ज्ञान के अनुशीलन के लिए मिला है, जिसके बिना जीवन चिन्ताओं से भरा तथा कष्टमय बन जाता है। अतएव जिसने ऐसे सांस्कृतिक कार्यकलापों के बिना ही अपना जीवन गवाँ दिया हो, तो उसे सलाह दी जाती है कि वह मित्रों तथा सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़ दे और इस तरह परिवार, समाज, देश इत्यादि के बन्धनों से मुक्त हो ले तथा ऐसे अज्ञात स्थान में शरीर का त्याग करे, जिससे लोग यह न जान सकें कि कब और कैसे उसकी मृत्यु हुई। धीर का अर्थ है, जो बहुत उत्तेजित किये जाने पर भी विचलित न हो। मनुष्य अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अपने स्नेहमय सम्बन्धों के कारण सुखमय गृहस्थ जीवन का त्याग नहीं कर पाता। परिवार के प्रति ऐसे व्यर्थ के स्नेह से आत्म-साक्षात्कार अवरूद्ध हो जाता है और जो कोई ऐसे सम्बन्ध को भुलाने में समर्थ होता है, वह धीर कहलाता है। किन्तु यह तो हताश जीवन का वैराग्य-पथ है। ऐसे वैराग्य का स्थिरीकरण प्रामाणिक सन्तों तथा स्वरूप-सिद्ध महात्माओं के सान्निध्य से ही सम्भव है, जिससे मनुष्य भगवद्भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। दिव्य सेवाभाव को जागृत करके भगवान् के चरणकमलों में एकनिष्ठ शरणागति सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा सम्भव हो पाता है। धृतराष्ट्र भाग्यशाली थे कि उनका ऐसा भाई था, जिसकी संगति उनके हताश जीवन के लिए मुक्ति का साधन थी।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।

हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; स्वकात्—अपने जागरण से; परतः वा—अथवा अन्यो से सुनकर; इह—इस संसार में; जात—बनता है; निर्वेदः—भौतिक आसक्ति के प्रति अन्यमनस्क; आत्मवान्—चेतना; हृदि—हृदय के भीतर; कृत्वा—ग्रहण किया जाकर; हरिम्—भगवान् को; गेहात्—घर से; प्रव्रजेत्—बाहर चला जाता है; सः—वह; नर-उत्तमः—प्रथम कोटि का मनुष्य है।

अपने आप से या दूसरे के समझाने से जो व्यक्ति जाग जाता है और इस भौतिक जगत की असत्यता तथा दुखों को समझ लेता है तथा अपने हृदय के भीतर निवास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित होकर घर त्याग देता है, वह निश्चय ही उत्तम कोटि का मनुष्य है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादीयों की तीन श्रेणियाँ हैं—(१) धीर अर्थात् वह जो पारिवारिक संगति से दूर रहने के कारण विचलित नहीं होता, (२) संन्यासी जो हताश भावना के कारण विरक्त जीवन बिताता है; तथा (३) निष्ठावान भगवद्भक्त, जो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ईश्वर-चेतना जगाता है और हृदय में वास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहकर गृह-त्याग कर देता है। भाव यह है कि भौतिक जगत में हताश भावनामय जीवन के बाद संन्यास आत्म-साक्षात्कार के मार्ग का प्रथम सोपान हो सकता है, किन्तु मुक्ति-मार्ग में वास्तविक सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य उन भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास कर लेता है, जो परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित रहते हैं। वह, भले ही घर के परे गहन अंधकारमय जंगल में क्यों न रहे, किन्तु धीर भक्त अच्छी तरह जानता है कि वह अकेला नहीं है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सदैव अपने सच्चे भक्त के साथ रहते हैं और किसी भी विषम परिस्थिति में उसकी रक्षा करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् के पवित्र नाम, रूप, लीलाओं, पार्षदों आदि का श्रवण तथा कीर्तन करते हुए घर पर ही भक्ति का अभ्यास करे और यह अभ्यास उसकी निष्ठा के अनुसार उसमें ईश्वर-चेतना जगाने में सहायता करता है। जो व्यक्ति ऐसे कार्यों के द्वारा भौतिक लाभ चाहता है, वह कभी भी भगवान् पर आश्रित नहीं रह सकता, यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में वास करनेवाले हैं। न ही, उन लोगों को जो इस तरह के भौतिक लाभ के लिये भगवान् की पूजा करते हैं, भगवान् कोई निर्देश देते हैं। ऐसे भौतिकतावादी भक्तों को भगवान् भौतिक लाभ का वर दे सकते हैं, किन्तु वे कभी भी उत्तमकोटि के पुरुषों की कोटि को प्राप्त नहीं कर पाते, जैसाकि ऊपर बताया गया है। विश्व के इतिहास में, विशेष रूप से भारत में, ऐसे निष्ठावान भक्तों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं और वे सब आत्म-साक्षात्कार के पथ में हमारे

मार्गदर्शक हैं। महात्मा विदुर ऐसे ही एक महान् भक्त हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिये हमें उनके कमल सदृश चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिये।

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।

इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; उदीचीम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा को; यातु—चले जाइये; स्वैः—अपने सम्बन्धियों द्वारा; अज्ञात—जाने बिना; गतिः—गतिविधियाँ; भवान्—आपकी; इतः—इसके बाद; अर्वाक्—सूत्रपात होगा; प्रायशः—सामान्यतया; कालः—काल, समय; पुंसाम्—मनुष्यों के; गुण—गुण; विकर्षणः—ह्रास।

अतएव कृपया आप अपने कुटुम्बियों को बताये बिना, तुरन्त उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दीजिए, क्योंकि शीघ्र ही ऐसा समय आनेवाला है, जिसमें मनुष्य के सद्गुणों का ह्रास होगा।

तात्पर्य : मनुष्य धीर बनकर या अपने सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़कर, हताश जीवन की क्षतिपूर्ति कर सकता है और विदुर ने अपने अग्रज को अविलम्ब इस मार्ग को अपनाने की सलाह दी, क्योंकि कलियुग का शीघ्र ही आगमन होने वाला था। बद्धजीव भौतिक संसर्ग के कारण पहले से पतित हुआ होता है और कलियुग में तो मनुष्य के सद्गुण निम्नतम स्तर तक पहुँच चुके होंगे। उन्हें सलाह दी गई है कि कलियुग के आगमन के पूर्व ही वे घर छोड़ दें, क्योंकि विदुर ने जीवन के कई सत्य के विषय में अपने बहुमूल्य उपदेशों द्वारा जो वातावरण उत्पन्न किया था, वह कलियुग के तेजी से निकट आने के कारण लुप्त हो जाएगा। सामान्य व्यक्ति के लिए, *नरोत्तम* बनना अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण पर पूर्णतया निर्भर रहनेवाला उत्तम कोटि का मनुष्य बनना सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२८) में कहा गया है कि जो व्यक्ति पापकर्मों के दूषणों से पूर्णतया रहित हो जाता है, वही भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित रह सकता है। धृतराष्ट्र को विदुर ने सलाह दी कि यदि वे *संन्यासी* या *नरोत्तम* नहीं बन सकते, तो प्रारम्भ में कम से कम *धीर* तो बन लें। *धीर* अवस्था से *नरोत्तम* अवस्था प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। धीर अवस्था योग-पद्धति के दीर्घकालीन अभ्यास से, प्राप्त होती है, किन्तु विदुर की कृपा से धीर अवस्था के साधनों के ग्रहण करने

की इच्छा करने से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है, जो संन्यास की प्रारम्भिक अवस्था है।
 संन्यास अवस्था परमहंस अवस्था अर्थात् प्रथम श्रेणी के भक्त की प्रारम्भिक अवस्था है।

एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।

छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; राजा—राजा धृतराष्ट्र; विदुरेण अनुजेन—अपने छोटे भाई विदुर द्वारा; प्रज्ञा—आत्मनिरीक्षण का ज्ञान;
 चक्षुः—आँखें; बोधितः—समझी जाकर; आजमीढः—धृतराष्ट्र, जो आजमीढ़ वंश की संतान थे; छित्त्वा—तोड़कर; स्वेषु—
 सम्बन्धियों के विषय में; स्नेह-पाशान्—स्नेह के बन्धनों को; द्रढिम्नः—दृढ़ता के कारण; निश्चक्राम—बाहर चले गये; भ्रातृ—
 अपने भाई द्वारा; सन्दर्शित—दिखलाये हुए; अध्वा—मुक्तिपथ।

इस प्रकार आजमीढ़ के वंशज महाराज धृतराष्ट्र ने आत्मनिरीक्षणयुक्त ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा
 पूर्णतः आश्वस्त होकर तुरन्त ही अपने दृढ़ संकल्प से पारिवारिक स्नेह के सारे दृढ़ पाश तोड़
 दिये। तत्पश्चात् वे तत्काल घर छोड़कर, अपने छोटे भाई विदुर द्वारा दिखलाये गये मुक्ति-पथ पर
 निकल पड़े।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों के महान् प्रचारक भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं
 अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति पर विशेष बल दिया है। उन्होंने बताया है कि शुद्ध भक्त के
 साथ एक क्षण की संगति से भी उसे सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हम यह स्वीकार करते हुए तनिक
 भी लज्जित नहीं हैं कि हमने अपने व्यावहारिक जीवन में ऐसा ही अनुभव किया है। यदि कुछ मिनट
 की प्रथम भेंट के समय कृष्ण कृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज की कृपा न
 हुई होती, तो अंग्रेजी में श्रीमद्भागवत के वर्णन का यह गुरुतर कार्य स्वीकार कर पाना हमारे लिए
 असम्भव होता। उस उपयुक्त क्षण में उनका दर्शन किये बिना हम एक धुरंधर व्यापारी होते, किन्तु मुक्ति
 के मार्ग पर चलने तथा अपने गुरु के आदेशानुसार भगवान् की सेवा करने के मार्ग पर अग्रसर होने में
 कभी समर्थ न हुए होते। और यहाँ पर प्रस्तुत है दूसरा व्यावहारिक उदाहरण—धृतराष्ट्र के साथ विदुर की
 संगति का प्रभाव। महाराज धृतराष्ट्र राजनीति, अर्थशास्त्र तथा पारिवारिक आसक्ति से सम्बद्ध भौतिक
 आकर्षण के जाल में मजबूती से बँधे हुए थे और अपनी सुनियोजित परियोजनाओं को सफल बनाने के
 लिये उन्होंने पूरी शक्ति से कार्य किया, किन्तु उन्हें अपने भौतिक कार्यकलापों में अथ से इति तक,

हताशा ही हाथ लगी। इसके बावजूद, अपने जीवन की विफलताओं के होते हुए भी, उन्होंने आदर्श साधु के प्रतीक समान भगवान् के शुद्ध भक्त के शक्तिशाली उपदेशों से आत्म-साक्षात्कार में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की। अतएव शास्त्रों का आदेश है कि केवल साधुओं की संगति करनी चाहिये और अन्य समस्त प्रकार की संगतियों का तिरस्कार कर देना चाहिए। ऐसा करने से साधुओं से श्रवण करने के लिए पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हो सकेगा, जो इस भौतिक जगत में माया के स्नेह-बन्धन को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। तथ्य यह है कि यह भौतिक जगत महान् मोह (भ्रम) है, क्योंकि इसमें प्रत्येक वस्तु यथार्थ सत्य प्रतीत होती है, लेकिन दूसरे ही क्षण वह समुद्र के उफनते फेन की भाँति या आकाश में बादलों की भाँति छूमन्तर हो जाती है। आकाश में बादल सचमुच ही वास्तविक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनसे वर्षा होती है और वर्षा के कारण बहुत सारी क्षणभंगुर हरी-हरी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु काल-क्रम में बादल, वर्षा तथा हरी-हरी वनस्पतियाँ सब कुछ विलुप्त हो जाता है। लेकिन आकाश बना रहता है और आकाश में चमचमाते तारे हमेशा ही बने रहते हैं। इसी प्रकार परम सत्य जिसकी उपमा आकाश से दी जाती है, शाश्वत बने रहते हैं और बादल स्वरूप मोह (भ्रम) आता तथा जाता रहता है। मूर्ख जीव क्षणिक बादल के प्रति आकृष्ट होते हैं, लेकिन जो बुद्धिमान हैं, वे शाश्वत आकाश तथा वहाँ की समस्त विविधता से सरोकार रखते हैं।

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री

पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।

हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं

मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति को; प्रयान्तम्—घर त्यागते समय; सुबलस्य—राजा सुबल की; पुत्री—योग्य पुत्री; पति-व्रता—अपने पति को समर्पित; च—भी; अनुजगाम—पीछे-पीछे गई; साध्वी—सती; हिमालयम्—हिमालय पर्वत की ओर; न्यस्त-दण्ड—संन्यास आश्रम के दण्ड को स्वीकार करनेवाला; प्रहर्षम्—हर्ष का विषय; मनस्विनाम्—महान् योद्धाओं का; इव—सदृश; सत्—वैध; सम्प्रहारः—अच्छी पिटाई।

कन्दहार (गान्धार) के राजा सुबल की पुत्री, परम साध्वी गान्धारी ने जब यह देखा कि उसके पति हिमालय पर्वत की ओर जा रहे हैं, जो कि संन्यासियों को वैसा ही आनन्द देता है

जैसा कि युद्ध के मैदान में योद्धा को शत्रुओं के प्रहार से प्राप्त होता है, तो वह भी अपने पति के पीछे-पीछे चल पड़ीं।

तात्पर्य : सुबल की पुत्री तथा राजा धृतराष्ट्र की पत्नी, सौबलिनी अर्थात् गान्धारी, अत्यन्त पति-परायणा आदर्श पत्नी थीं। वैदिक सभ्यता में साध्वी तथा पतिव्रता स्त्रियाँ होती थीं, जिनमें से गान्धारी का भी वर्णन इतिहास में पाया जाता है। लक्ष्मीजी सीता देवी एक महान् राजा की पुत्री होते हुए भी अपने पति भगवान् रामचन्द्र के पीछे-पीछे जंगल गईं। इसी प्रकार सामान्य स्त्री की तरह, गान्धारी अपने घर या मायके में रह सकती थीं, किन्तु साध्वी तथा भद्र महिला की भाँति, बिना कुछ विचार किये उन्होंने अपने पति का अनुसरण किया। विदुर ने धृतराष्ट्र को वानप्रस्थ आश्रम के उपदेश दिये थे और गान्धारी अपने पति के साथ-साथ रहीं। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि तुम मेरे साथ चलो, क्योंकि उस समय वे उसी तरह दृढ़-संकल्प थे, जिस प्रकार एक महान् योद्धा युद्धभूमि में सभी प्रकार के खतरों को झेलता है। वे तथाकथित पत्नी या सम्बन्धियों के प्रति अब तनिक भी आकृष्ट न थे, उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया था, किन्तु साध्वी नारी के रूप में गान्धारी ने अन्तिम क्षण तक अपने पति का अनुसरण करने का निश्चय किया। महाराज धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर लिया। इस अवस्था में स्त्री को स्वेच्छा से सेविका-रूप में साथ रहने की अनुमति है, लेकिन संन्यास आश्रम में कोई भी पत्नी अपने पूर्व पति के साथ नहीं रह सकती। नागरिकता की दृष्टि से, संन्यासी मृत मनुष्य समझा जाता है, अतएव उसकी स्त्री अपने पूर्व पति से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने के कारण विधवा हो जाती है। महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी श्रद्धालु पत्नी को मना नहीं किया और वह स्वेच्छा से अपने पति का अनुसरण करती रही।

संन्यासी लोग संन्यास आश्रम के प्रतीक-स्वरूप दण्ड धारण करते हैं। संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। जो श्रीपाद शंकराचार्य के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते हैं, वे केवल एक दण्ड स्वीकार करते हैं (*एक-दण्डी*), किन्तु जो वैष्णव दर्शन का पालन करते हैं, वे तीन संयुक्त दण्ड धारण करते हैं (*त्रि-दण्डी*)। मायावादी संन्यासी एक-दण्डी स्वामी होते हैं जबकि वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी स्वामी, या और स्पष्टता से कहा जाए तो त्रि-दण्डी गोस्वामी कहलाते हैं, जिससे मायावादी चिन्तकों से अन्तर किया जा सके। एक-दण्डी स्वामी अधिकांशतया हिमालय के प्रेमी होते हैं, लेकिन वैष्णव संन्यासी

वृन्दावन तथा पुरी के लिये इच्छुक रहते हैं। वैष्णव संन्यासी *नरोत्तम* होते हैं जबकि मायावादी संन्यासी *धीर* होते हैं। महाराज धृतराष्ट्र को *धीरों* का अनुगमन करने की सलाह दी गई थी, क्योंकि उस अवस्था में उनके लिये *नरोत्तम* बन पाना कठिन था।

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-

विप्रात्रत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।

गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय

न चापश्यत्पितरौ सौबलीं च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अजात—जो कभी जन्मा नहीं; शत्रुः—शत्रु; कृत—किया गया; मैत्रः—देवताओं की पूजा करना; हुत-अग्निः—अग्नि में; विप्रान्—ब्राह्मणों को; नत्वा—नमस्कार करके; तिल-गो-भूमि-रुक्मैः—अन्न, गौवों, भूमि तथा स्वर्ण के साथ; गृहम्—महल के भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; गुरु-वन्दनाय—गुरुजनों को नमस्कार करने के लिये; न—नहीं; च—भी; अपश्यत्—देखा; पितरौ—अपने चाचाओं को; सौबलीम्—गांधारी को; च—भी।

अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर ने वन्दना करके, सूर्यदेव को अग्नि-यज्ञ अर्पित करके तथा ब्राह्मणों को नमस्कार करके एवं उन्हें अन्न, गाय, भूमि तथा स्वर्ण अर्पित करके, अपने नैतिक प्रातःकालीन कर्म किये। तत्पश्चात् वे गुरुजनों का अभिवादन करने के लिए राजमहल में प्रविष्ट हुए। किन्तु उन्हें न तो उनके ताऊ मिले, न ही राजा सुबल की पुत्री (गांधारी) अर्थात् ताई मिलीं।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त पवित्र राजा थे, क्योंकि वे स्वयं गृहस्थ के सारे नैतिक कर्म किया करते थे। गृहस्थों को प्रातःकाल जल्दी जगना होता है और स्नान करने के बाद, उन्हें प्रार्थना से, अग्नि में आहुति से, ब्राह्मणों को भूमि, गौवें, अन्न, सोना, इत्यादि का दान देकर तथा गुरुजनों को सादर नमस्कार करके अर्चा-विग्रह को अभिवादन करना होता है। जो व्यक्ति, शास्त्रों द्वारा नियत आदेशों का पालन करने को तैयार नहीं होते, वे केवल किताबी ज्ञान से उत्तम व्यक्ति (नरोत्तम) नहीं बन सकते। आधुनिक गृहस्थों को विभिन्न प्रकार की जीवन-शैलियों की आदत हो गई है, जैसे कि देर से जगना और फिर बिना किसी प्रकार की उपरिवर्णित शुद्धि के बिस्तर में लेटे-लेटे चाय पीना। घर के बच्चे अपने माता-पिता को जो कुछ करते देखते हैं, उसी का अभ्यास करते हैं, अतएव सारी की सारी पीढ़ी का नर्क की ओर पतन होता है। जब तक वे साधु की संगति नहीं करते, तब तक उनसे किसी अच्छाई

की आशा नहीं की जा सकती। भौतिकतावादी मनुष्य, धृतराष्ट्र की भाँति, विदुर जैसे साधु से शिक्षा ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार आधुनिक जीवन के दुष्प्रभावों से शुद्ध हो सकता है।

लेकिन महाराज युधिष्ठिर को राजमहल में, राजा सुबल की पुत्री गांधारी समेत, उनके चाचा-ताऊ-धृतराष्ट्र तथा विदुर—नहीं मिले। वे उन्हें मिलने को आतुर थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र के निजी सचिव सञ्जय से पूछा।

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।

गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; सञ्जयम्—संजय को; आसीनम्—बैठा; पप्रच्छ—पूछा; उद्विग्न-मानसः—चिन्ता से पूरित; गावल्गणे—गवल्गण पुत्र, सञ्जय; क्व—कहाँ हैं; नः—हमारा; तातः—ताऊ; वृद्धः—बूढ़ा; हीनः च—तथा विहीन; नेत्रयोः—आँखों से।

चिन्ता से पूरित महाराज युधिष्ठिर संजय की ओर मुड़े, जो वहाँ बैठे थे और उनसे पूछा : हे संजय, हमारे वृद्ध तथा अंधे ताऊ कहाँ हैं ?

अम्बा च हतपुत्रार्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् ।

अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया ।

आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अम्बा—माता, ताई; च—तथा; हत-पुत्रा—जिनके सारे पुत्र मारे जा चुके थे; आर्ता—अत्यन्त दुखी; पितृव्यः—चाचा विदुर; क्व—कहाँ; गतः—गये हुए; सुहृत्—शुभ-चिन्तक; अपि—क्या; मयि—मुझको; अकृत-प्रज्ञे—कृतघ्न; हत-बन्धुः—जिसके सारे पुत्र नहीं रहे हों; सः—धृतराष्ट्र; भार्यया—अपनी पत्नी सहित; आशंसमानः—संशय-युक्त मन में; शमलम्—अपराध; गङ्गायाम्—गंगा-जल में; दुःखितः—मन में दुखी; अपतत्—गिर पड़े।

मेरे शुभचिन्तक चाचा विदुर तथा अपने सभी पुत्रों के निधन से अत्यन्त शोकाकुल माता गांधारी कहाँ हैं ? मेरे ताऊ धृतराष्ट्र भी अपने समस्त पुत्रों तथा पौत्रों की मृत्यु के कारण शोकातृ थे। निस्सन्देह, मैं अत्यन्त कृतघ्न हूँ। अतएव, क्या वे मेरे अपराधों को अत्यन्त गम्भीर मानकर अपनी पत्नी-सहित गंगा में कूद पड़े ?

तात्पर्य : पाण्डवों ने और विशेष रूप से महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन ने, कुरुक्षेत्र युद्ध के परवर्ती प्रभावों की पूर्ण कल्पना कर ली थी, अतएव अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था। यह युद्ध

भगवान् की इच्छा से हुआ, लेकिन पारिवारिक शोक के प्रभाव उसी तरह सत्य उतरे, जैसा उन्होंने पहले से सोच रखा था। महाराज युधिष्ठिर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा ताई गांधारी की दुर्दशा के प्रति सदैव सचेत थे। अतएव उनकी वृद्धावस्था में तथा दुखी अवस्थाओं में, वे उनकी यथा-सम्भव देखभाल करते रहते थे। अतएव जब उन्हें राजमहल में अपने ताऊ तथा ताई नहीं मिले, तो स्वाभाविक था कि उन्हें सन्देह हुआ और उन्होंने सोचा कि वे गंगा की धारा में डूब गये। उन्होंने अपने आपको कृतघ्न माना, क्योंकि जब सारे पाण्डव पितृ-विहीन थे, तब महाराज धृतराष्ट्र ने रहने के लिए उन्हें सारी राजसी सुविधाएँ प्रदान की थीं, किन्तु एक वे हैं कि बदले में उन्होंने धृतराष्ट्र के सारे पुत्रों को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मार डाला। पुण्यात्मा के रूप में, महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे अपरिहार्य दुष्कर्मों पर विचार किया, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने ताऊ तथा उनके दल के दुष्कर्मों के विषय में नहीं सोचा। धृतराष्ट्र भगवान् की इच्छा से ही अपने दुष्कर्मों के फल भोग चुके थे, लेकिन महाराज युधिष्ठिर अपने अपरिहार्य दुष्कर्मों के ही विषय में सोच रहे थे। एक श्रेष्ठ मनुष्य तथा भगवद्भक्त का ऐसा ही स्वभाव होता है। एक भक्त कभी भी दूसरों में दोष नहीं निकालता, अपितु अपने ही दोषों को खोजने का प्रयास करता है और जहाँ तक सम्भव होता है, उन्हें सुधारने का प्रयास करता है।

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।

अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

पितरि—मेरे पिता के; उपरते—मरने पर; पाण्डौ—महाराज पाण्डु के; सर्वान्—समस्त; नः—हम सबों का; सुहृदः—शुभचिन्तक; शिशून्—छोटे छोटे बालकों को; अरक्षताम्—रक्षा की; व्यसनतः—सभी प्रकार के संकटों से; पितृव्यौ—दोनों चाचाओं ने; क्व—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से।

जब मेरे पिता पाण्डु की मृत्यु हो गई और हम सभी छोटे-छोटे बालक थे, तो इन दोनों चाचा-ताऊ ने हमें समस्त प्रकार की विपत्तियों से बचाया था। वे सदैव हमारे शुभचिन्तक रहे। हाय! वे यहाँ से कहाँ चले गये?

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्षितः ।

आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृपया—करुणा से; स्नेह—वैकलव्यात्—अत्यधिक स्नेह के कारण मानसिक असंतुलन से; सूतः—सञ्जय; विरह—कर्षितः—वियोग से दुखी; आत्म-ईश्वरम्—अपने स्वामी को; अचक्षाणः—न देखने से; न—नहीं; प्रत्याह—उत्तर दिया; अति-पीडितः—अत्यधिक दुखी होकर।

सूत गोस्वामी ने कहा : करुणा तथा मानसिक क्षोभ के कारण, संजय अपने स्वामी धृतराष्ट्र को न देखने से अत्यन्त दुखी थे, अतएव वे महाराज युधिष्ठिर को ठीक से उत्तर नहीं दे सके।

तात्पर्य : सञ्जय दीर्घकाल तक महाराज धृतराष्ट्र के निजी सहायक रहे, अतएव उन्हें धृतराष्ट्र के जीवन का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। अतः जब उन्होंने देखा कि उनकी जानकारी के बिना धृतराष्ट्र घर से चले गये, तो उनके शोक का ठिकाना नहीं रहा। वे धृतराष्ट्र के प्रति अत्यन्त करुणामय थे, क्योंकि कुरुक्षेत्र युद्धरूपी जुए में, वे सर्वस्व, सारे पुरुष तथा धन, हार चुके थे और अन्त में राजा तथा रानी को हताशा में घर छोड़ देना पड़ा। उन्होंने इस परिस्थिति का अध्ययन अपने ढंग से किया, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात न था कि विदुर द्वारा धृतराष्ट्र की अन्तर्दृष्टि जगाई जा चुकी है और वे गृह-रूपी अंधे कुएँ से निकल कर श्रेष्ठतर जीवन बिताने के लिए घर छोड़ गए हैं। जब तक किसी को इस जीवन के त्याग के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की आशा नहीं होती, तब तक वह केवल कृत्रिम वेश में, अथवा घर से बाहर रह कर संन्यासी-जीवन में चिपका नहीं रह सकता।

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना ।

अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विमृज्य—पोंछ कर; अश्रूणि—आँखों के आँसुओं को; पाणिभ्याम्—अपने हाथों से; विष्टभ्य—स्थित; आत्मानम्—मन को; आत्मना—बुद्धि से; अजात-शत्रुम्—महाराज युधिष्ठिर को; प्रत्यूचे—उत्तर देने लगा; प्रभोः—अपने स्वामी के; पादौ—पाँवों का; अनुस्मरन्—चिन्तन करते हुए।

पहले उन्होंने बुद्धि द्वारा अपने मन को शान्त किया, फिर अश्रु पोंछते हुए तथा अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का स्मरण करते हुए, वे महाराज युधिष्ठिर को उत्तर देने लगे।

सञ्जय उवाच

नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।

गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; व्यवसितम्—संकल्प; पित्रोः—चाचाओं का; वः—आपके; कुल-नन्दन—हे कुरुवंश की सन्तान; गान्धार्याः—गान्धारी का; वा—अथवा; महा-बाहो—हे महान् राजा; मुषितः—धोखा दिया गया, ठगा गया; अस्मि—हूँ; महा-आत्मभिः—उन महात्माओं द्वारा।

संजय ने कहा : हे कुरुवंशी, मुझे आपके दोनों ताउओं तथा गान्धारी के संकल्प का कुछ भी पता नहीं है। हे राजन्, उन महात्माओं द्वारा मैं तो ठगा गया।

तात्पर्य : यह जानकर आश्चर्य होगा कि महात्मा अन्यो को धोखा देते (ठगते) हैं, किन्तु यह तथ्य है कि महात्मा महत् कार्य के लिए अन्यो को ठगते हैं। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को सलाह दी थी कि वे द्रोणाचार्य के समक्ष असत्य बोलें और यह भी एक महान् उद्देश्य के लिए था। चूँकि भगवान् इसे चाहते थे, अतः यह महान् उद्देश्य था। जो प्रामाणिक भक्त है, उसके समक्ष एकमात्र कसौटी है भगवान् की प्रसन्नता और उसके जीवन की चरम सिद्धि यह है कि अपने धर्म द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया जाय। यह गीता तथा भागवत का निर्णय है।* गांधारी समेत धृतराष्ट्र तथा विदुर ने, संजय से अपना संकल्प प्रकट नहीं किया, यद्यपि वह निजी सहायक के रूप में धृतराष्ट्र के साथ निरन्तर रहता था। संजय ने यह कभी नहीं सोचा था कि धृतराष्ट्र उससे पूछे बिना कोई काम करेंगे। किन्तु धृतराष्ट्र का घर से निकल जाना इतना गोपनीय था कि संजय को भी इसका पता नहीं चल पाया। सनातन गोस्वामी ने भी बन्दी-गृह के पहरेदार को धोखा दिया, तभी वे श्री चैतन्य महाप्रभु से मिल पाये थे। इसी प्रकार रघुनाथ दास गोस्वामी ने भी अपने पुरोहित को धोखा देकर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए घर छोड़ा था। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाय वह उत्तम है, क्योंकि यह परम सत्य से सम्बन्धित रहता है। हमने भी अपने परिवार वालों को धोखा दिया था और श्रीमद्भागवत की सेवा में लगने के लिए घर छोड़ा था। एक महान् कार्य के लिए इस तरह धोखा देना आवश्यक था और ऐसे दिव्य षड्यंत्र में किसी भी पक्ष को कोई क्षति नहीं होती।

अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः ।

प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्मुनिम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आजगाम—आ पहुँचे; भगवान्—दैवी पुरुष; नारदः—नारद; सह-तुम्बुरुः—अपने तंबूरे के साथ;
प्रत्युत्थाय—अपने-अपने आसनों से उठकर; अभिवाद्य—प्रणाम करके; आह—कहा; स-अनुजः—अपने छोटे भाइयों समेत;
अभ्यर्चयन्—अच्छे मन से स्वागत करते हुए; मुनिम्—मुनि से।

*footnote starts here

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (भगवद्गीता १८.४६)

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरि-तोषणम् ॥ (भगवत् १.२.१३)

footnote ends here

जब संजय इस प्रकार बोल रहे थे, तो शक्तिसम्पन्न दैवी पुरुष श्रीनारद अपना तंबूरा लिए हुए वहाँ प्रकट हुए। महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों समेत, अपने-अपने आसन से उठकर प्रणाम करते हुए उनका विधिवत् स्वागत किया।

तात्पर्य : देवर्षि नारद को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त हैं। जो लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् तथा उनके अत्यन्त विश्वास-पात्र भक्तों को एक ही जैसा माना जाता है। भगवान् को ऐसे विश्वास-पात्र भक्त अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि वे भगवान् के यश का गुणगान करने के लिए अपनी विभिन्न क्षमता के अनुसार सर्वत्र विचरण करते रहते हैं और अभक्तों को भक्त बनाने के लिए प्रयास करते रहते हैं, जिससे उन्हें सचेतन स्तर पर लाया जा सके। वास्तव में कोई भी जीव अपनी वैधानिक स्थिति के कारण अभक्त नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई अभक्त या नास्तिक बन जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह व्यक्ति अपने जीवन की समुचित अवस्था में नहीं है। भगवान् के विश्वासपात्र भक्त ऐसे मोहग्रस्त जीवों का उपचार करते हैं, अतएव वे भगवान् की नजरों में प्रिय माने जाते हैं। भगवान् भगवद्गीता में कहते हैं कि जो नास्तिकों तथा अभक्तों को भक्त बनाने के लिए भगवान् की महिमा का प्रचार करते हैं, उनसे अधिक प्रिय उन्हें अन्य कोई नहीं है। नारद जैसे महापुरुषों को उसी प्रकार का समुचित सम्मान मिलना चाहिए, जिस प्रकार साक्षात् भगवान् को मिलता है। महाराज युधिष्ठिर अपने सुयोग्य भाइयों समेत नारद जैसे शुद्ध भगवद्भक्त का

सम्मान करना अन्यो के लिए अनुकरणीय हैं, जिनके लिए अपनी वीणा लिए हुए भगवान् का गुणगान करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः ।

अम्बा वा हतपुत्रार्ता क्व गता च तपस्विनी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; गतिम्—प्रयाण; पित्रोः—चाचाओं का; भगवन्—हे दैवी पुरुष; क्व—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से; अम्बा—ताई; वा—अथवा; हत-पुत्रा—अपने पुत्रों के मारे जाने से; आर्ता—दुखी; क्व—कहाँ; गता—गई हुई; च—भी; तपस्विनी—साध्वी।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देव पुरुष, मैं नहीं जानता कि मेरे दोनों चाचा कहाँ चले गये।

न ही मैं अपनी उन तपस्विनी ताई को देख रहा हूँ, जो अपने समस्त पुत्रों की क्षति के कारण शोक से व्याकुल थीं।

तात्पर्य : महात्मा तथा भगवद्भक्त के रूप में महाराज युधिष्ठिर सदैव अपनी ताई की महान् क्षति तथा तपस्विनी के रूप में उनके कष्टों के प्रति सदैव जागरूक रहे। तपस्वी सभी प्रकार के कष्टों से कभी विचलित नहीं होता। इससे तो वह और भी मजबूत तथा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर दृढ़ होता है। महारानी गांधारी अनेक अग्नि-परीक्षाओं में अपने अद्भुत चरित्र के कारण तपस्विनी का एक अद्भुत उदाहरण हैं। वे माता, पत्नी तथा तपस्विनी के रूप में एक आदर्श महिला थीं और विश्व के इतिहास में ऐसे चरित्र वाली महिला विरले ही पाई जाती है।

कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः ।

अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कर्ण-धारः—जहाज के कप्तान; इव—सदृश; अपारे—विस्तृत सागर में; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; पार-दर्शकः—दूसरी ओर ले जानेवाले; अथ—इस प्रकार; आबभाषे—कहने लगे; भगवान्—देव पुरुष; नारदः—ऋषि नारद; मुनि-सत्-तमः—भक्त-चिन्तकों में सर्वश्रेष्ठ।

आप इस अपार समुद्र में जहाज के कप्तान सदृश हैं और आप ही हमें अपने गन्तव्य का मार्ग दिखा सकते हैं। इस प्रकार से सम्बोधित किये जाने पर, देव-पुरुष, भक्तों में सर्वश्रेष्ठ चिन्तक देवर्षि नारद कहने लगे।

तात्पर्य : दार्शनिक चिन्तक कई प्रकार के होते हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़े वे हैं, जिन्होंने भगवान् का दर्शन पा लिया है और भगवान् की प्रेमाभ्यास दिव्य सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है। भगवान् के ऐसे समस्त शुद्ध भक्तों में देवर्षि नारद प्रमुख हैं, अतएव यहाँ पर उन्हें सभी दार्शनिक भक्तों में सबसे बड़ा बताया गया है। जब तक कोई प्रामाणिक गुरु से वेदान्त-दर्शन का श्रवण करके विद्वान् दार्शनिक नहीं बन लेता, तब तक वह विद्वान् दार्शनिक भक्त नहीं हो सकता। उसे अत्यन्त श्रद्धालु, विद्वान् तथा विरक्त होना चाहिए, अन्यथा वह शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। भगवान् का शुद्ध भक्त ही हमें अज्ञान-सागर की दूसरी ओर जाने का मार्गदर्शन कर सकता है। देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर के महल में आया करते थे, क्योंकि सारे पाण्डव भगवान् के शुद्ध भक्त थे और देवर्षि नारद आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अच्छी सलाह देने के लिए सदैव तैयार रहते थे।

नारद उवाच

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।

लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।

स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; मा—कभी नहीं; कञ्चन—सभी प्रकार से; शुचः—मत शोक करो; राजन्—हे राजा; यत्—क्योंकि; ईश्वर-वशम्—भगवान् के वश में; जगत्—संसार; लोकाः—सारे जीव; स-पालाः—अपने नेताओं समेत; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; वहन्ति—ले जाते हैं; बलिम्—पूजा का साधन; ईशितुः—रक्षित होने के लिए; सः—वह; संयुनक्ति—पास लाता है; भूतानि—सारे जीवों को; सः—वह; एव—भी; वियुनक्ति—विलग करता है; च—तथा।

श्रीनारद ने कहा : हे धर्मराज, आप किसी के लिए शोक मत करो, क्योंकि सारे लोग परमेश्वर के अधीन हैं। अतएव सारे जीव तथा उनके नेता (लोकपाल) अपनी रक्षा के लिए पूजा करते हैं। वे ही सबों को पास-पास लाते हैं तथा उन्हें विलग करते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह इस जगत् में हो या आध्यात्मिक जगत् में, परमेश्वर के अधीन है। इस ब्रह्माण्ड के नायक ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक, सभी परमेश्वर की आज्ञा का पालन

करनेवाले हैं। इस प्रकार जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् के अधीन रहने की है। मूर्ख जीव, विशेषतया मनुष्य, झूठे ही परमेश्वर के नियम के विरुद्ध विद्रोह करता है और इस तरह असुर या नियम-भंग करने वाले के रूप में प्रताड़ित होता है। कोई भी जीव, परमेश्वर की आज्ञा से किसी विशेष स्थिति को प्राप्त होता है और वह परमेश्वर या उनके अधिकृत दूत के आदेश द्वारा ही किसी अन्य पद पर बिठाया जाता है। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर या आधुनिक इतिहास के नैपोलियन, अकबर, सिकन्दर, गाँधी, सुभाष तथा नेहरू—सभी भगवान् के दास हैं और परमेश्वर की परम इच्छा से ही अपने स्थानों पर बिठाये तथा उनसे हटाये जाते हैं। इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। यद्यपि ऐसे लोग या नेता विद्रोह करके भगवान् की श्रेष्ठता को मान्यता नहीं प्रदान करते, किन्तु इसके लिए उन्हें विभिन्न कष्टों द्वारा भौतिक संसार के और अधिक कठोर नियमों के अन्तर्गत रखा जाता है। अतः जो मूर्ख व्यक्ति होगा, वही कहता है कि ईश्वर नहीं हैं। महाराज युधिष्ठिर को इस कटु सत्य के प्रति आश्चर्य किया जा रहा था, क्योंकि वे अपने चाचाओं तथा ताई के सहसा चले जाने से अत्यधिक व्याकुल थे। महाराज धृतराष्ट्र को यह स्थिति उनके पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त हुई थी; वे भूतकाल में तमाम कष्ट भोग चुके थे या सुख पा चुके थे, लेकिन सौभाग्य से उन्हें विदुरजैसा छोटा भाई प्राप्त हुआ था और उन्होंने उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार के सारे खातों को बन्द करके गृह-त्याग कर दिया था।

सामान्यतया, कोई किसी योजना से अपने सुख तथा दुख के प्रवाह को बदल नहीं सकता। हर एक को काल के सूक्ष्म प्रबन्ध के अन्तर्गत उन्हें उसी रूप में ग्रहण करना होता है। उनका प्रतिरोध करने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करे और यह जन्मसिद्ध अधिकार मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि उसके मन तथा बुद्धि अत्यन्त विकसित होते हैं। मनुष्य जीवन में मोक्ष-लाभ के लिए, मनुष्य को ही, विभिन्न वैदिक आदेश उपलब्ध हैं। जो कोई उन्नत बुद्धि के इस सुअवसर का दुरुपयोग करता है, वह अधम है और उसे इसी जीवन में या भविष्य में विभिन्न प्रकार के कष्ट मिलते हैं। यही तरीका है, जिससे भगवान् सब पर नियंत्रण रखते हैं।

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाश्च दामभिः ।

वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गावः—बैल; नसि—नाक से; प्रोताः—नाथी हुई; तन्त्याम्—डोरी से; बद्धाः—बँधी हुई; च—भी; दामभिः—रस्सियों से; वाक्-तन्त्याम्—वैदिक स्तोत्रों के जाल में; नामभिः—नाम पद्धति से; बद्धाः—बद्ध; वहन्ति—पालन करते हैं; बलिम्—आदेशों को; ईशितुः—परमेश्वर द्वारा नियंत्रित होने के लिए।

जिस प्रकार बैल एक लम्बी रस्सी से नाक से नत्थी होकर बंधन में रहता है, उसी तरह मनुष्य जाति विभिन्न वैदिक आदेशों से बँध कर परमेश्वर के आदेशों का पालन करने के लिए बद्ध है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह मनुष्य हो या पशु या पक्षी, यही सोचता है कि वह स्वतंत्र है, किन्तु वास्तव में भगवान् के कठोर नियमों से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। भगवान् के नियम कठोर हैं, क्योंकि किसी भी परिस्थिति में उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। धूर्त लोग मनुष्य-निर्मित नियमों से बच सकते हैं, किन्तु, परम विधि-नियन्ता की संहिता में, नियमों के उल्लंघन की तनिक भी सम्भावना नहीं होती। ईश्वर-निर्मित नियम में थोड़ा-सा भी परिवर्तन करनेवाले नियम-भंजक को काफी कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। परमेश्वर के ऐसे नियम विभिन्न अवस्थाओं में धर्म-संहिता कहलाते हैं, किन्तु धर्म का सिद्धान्त सर्वत्र एक सा होता है, यह है, परमेश्वर के आदेशों का पालन करना। ऐसी है भौतिक जगत की दशा। सभी जीवों ने इस भौतिक संसार में अपनी रुचि से बद्ध जीवन का खतरा मोल ले रखा है और इस तरह वे प्रकृति के नियमों द्वारा जकड़े हुए हैं। इस बंधन से छूटने की एकमात्र विधि यह है कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन किया जाय। लेकिन, माया के चंगुल से मुक्त होने के बजाय मूर्ख लोग विभिन्न पद-नामों से और अधिक बँध जाते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, भारतीय, यूरोपीय, अमरीकी, चीनी इत्यादि कहलाते हैं और इस तरह वे अपने-अपने शास्त्रों या विधानों के प्रभाव में परमेश्वर के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य के संवैधानिक नियम धार्मिक संहिता के अपूर्ण प्रतिरूप हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य या ईश्वर-विहीन राज्य नागरिकों को ईश्वरीय नियमों को तोड़ने की छूट देते हैं, किन्तु राज्य के नियमों का उल्लंघन करने से रोकते हैं; फल यह होता है कि मनुष्य-निर्मित अपूर्ण नियमों का पालन करने की अपेक्षा ईश्वर के नियमों को तोड़ने के कारण जनसामान्य को अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक जगत के विधान की परिस्थिति के अन्तर्गत अपूर्ण है और इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं है कि भौतिकता में सर्वाधिक उन्नत व्यक्ति भी पूर्ण विधान का पालन कर सके। दूसरी ओर ईश्वर के नियम हैं, जिनमें ऐसी अपूर्णता नहीं है। यदि

नेताओं को भगवान् के नियमों की शिक्षा दी जाय, तो उद्देश्यहीन व्यक्तियों की कामचलाऊ विधान सभा बनाने की कोई आवश्यकता ही न रहे। मानव-निर्मित कामचलाऊ नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता तो रहती है, लेकिन ईश्वर-निर्मित नियमों में नहीं, क्योंकि वे परम पूर्ण भगवान् द्वारा पूर्ण बनाये गये हैं। धर्म-संहिताएँ या शास्त्रीय आदेश, जीव की विभिन्न दशाओं को देखते हुए, ईश्वर के मुक्त प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हैं और सारे जीव, भगवान् के आदेशों का पालन करके, संसार-बंधन से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो परमेश्वर के सनातन सेवक की है। अपनी मुक्त अवस्था में वह दिव्य प्रेम से भगवान् की सेवा करता है और पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन बिताता है—कभी-कभी भगवान् के समान स्तर पर, तो कभी-कभी उनसे भी बढ़कर। लेकिन इस बद्ध भौतिक जगत में प्रत्येक जीव अन्य जीवों के ऊपर प्रभुता जमाना चाहता है। इस तरह माया के भ्रम से यह प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति बद्ध भौतिक जीवन के आगे-आगे बढ़ते रहने का कारण बनती है। अतएव जब तक जीव सनातन सेवक भाव की मूल स्थिति को पुनः प्राप्त करके भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह इस भौतिक जगत से अधिकाधिक बद्ध होता जाता है। यही *भगवद्गीता* तथा संसार के अन्य सभी मान्य शास्त्रों का अन्तिम उपदेश है।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।

इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; क्रीड-उपस्कराणाम्—खेल की वस्तुएँ; संयोग—मिलना; विगमौ—बिछुड़ना; इह—इस संसार में; इच्छया—इच्छा से; क्रीडितुः—खेल करने के लिए; स्याताम्—घटित होता है; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; ईश—परमेश्वर की; इच्छया—इच्छा से; नृणाम्—मनुष्यों की।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।

इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; क्रीड-उपस्कराणाम्—खेल की वस्तुएँ; संयोग—मिलना; विगमौ—बिछुड़ना; इह—इस संसार में; इच्छया—इच्छा से; क्रीडितुः—खेल करने के लिए; स्याताम्—घटित होता है; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; ईश—परमेश्वर की; इच्छया—इच्छा से; नृणाम्—मनुष्यों की।

जिस प्रकार खिलाड़ी अपनी इच्छानुसार खिलौनों को सजाता तथा बिगाड़ता है, उसी तरह भगवान् की परम इच्छा मनुष्यों को पास-पास लाती है और उन्हें विलग भी करती है।

तात्पर्य : हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि हम जिस पद पर अभी हैं, वह हमारे अपने ही विगत कर्मों के अनुसार, परम इच्छा द्वारा नियोजित है। परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२३) में बताया गया है। अतएव वे हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था की गतिविधियों को जानते रहते हैं। वे हमें किसी विशेष पद पर बिठाकर, हमारे कर्मों का फल प्रदान करते हैं। धनी मनुष्य का बच्चा सम्पन्नता के बीच जन्म लेता है; किन्तु धनी मनुष्य के पुत्र के रूप में आने वाला बच्चा इस स्थान के योग्य था; अतः यह स्थान उसे ईश्वर की इच्छा से मिलता है। यदि उस बच्चे को किसी क्षण किसी दूसरे स्थान में ले जाया जाता है, तो वह भी परमेश्वर की इच्छा से होता है, भले ही बच्चा या पिता ऐसे सुखद सम्बन्ध से वियोग पसन्द न करें। यही बात निर्धन व्यक्ति पर भी लागू होती है। जीवों के मिलने या बिछुड़ने पर धनी या निर्धन कोई भी व्यक्तियों का कोई वश नहीं चलता। खिलाड़ी तथा उसके खिलौने के उदाहरण से किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब भगवान् हमें हमारे कर्मों का ही फल देने के लिए बाध्य हैं, तो खिलाड़ी का उदाहरण यहाँ पर उपयुक्त नहीं बैठता। लेकिन ऐसा नहीं है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् की ही इच्छा परम है और वे किसी नियम से बँधे नहीं हैं। सामान्यतया कर्म का नियम यह है कि लोगों को उन्हीं के कर्मों का फल मिलता है, लेकिन विशेष मामलों में भगवान् की इच्छा से ऐसे कर्म-फल बदल भी जाते हैं। लेकिन यह बदलाप भगवान् की इच्छा से ही आ सकता है, अन्य किसी से नहीं। अतएव इस श्लोक में दिया गया खिलाड़ी का उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि भगवान् जो कुछ चाहते हैं, उसे करने के लिए परम स्वतंत्र हैं और चूँकि वे सभी प्रकार से पूर्ण हैं, अतएव उनके कर्मों या फलों में कोई त्रुटि नहीं रहती। जब किसी शुद्ध भक्त का मामला आता है, तब कर्म-फलों में ये परिवर्तन विशेष रूप से परमेश्वर द्वारा किये जाते हैं। *भगवद्गीता* (९.३०-३१) में आश्वासन दिया गया है कि भगवान् अपने उस शुद्ध भक्त को सारे पाप-फलों से बचाते हैं, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। विश्व के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान् द्वारा कर्म-फल बदले गये हैं। यदि भगवान् किसी के

विगत कर्मों के फलों को परिवर्तित कर सकते हैं, तो यह निश्चित है कि वे अपने ही कर्मों से या कर्मों के फलों से बँधे नहीं रहते। वे पूर्ण हैं और सारे नियमों के परे होते हैं।

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।

सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यत्—भले ही; मन्यसे—सोचते हो; ध्रुवम्—परम सत्य; लोकम्—लोगों की; अध्रुवम्—अवास्तविकता; वा—अथवा; न—नहीं; च—भी; उभयम्—अथवा दोनों; सर्वथा—सभी परिस्थितियों में; न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; शोच्याः—शोक का विषय; ते—वे; स्नेहात्—स्नेह के कारण; अन्यत्र—अथवा दूसरी तरह; मोह-जात्—मोह-जनित।

हे राजन्, सभी परिस्थितियों में, चाहे आप आत्मा को नित्य मानो अथवा भौतिक देह को नश्वर, अथवा प्रत्येक वस्तु को निराकार परम सत्य में स्थित मानो या प्रत्येक वस्तु को पदार्थ तथा आत्मा का अकथनीय संयोग मानो, वियोग की भावनाएँ केवल मोहजनित स्नेह के कारण हैं, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जीव परम पुरुष का व्यक्तिगत अंश है और उसकी स्वाभाविक स्थिति अधीनस्थ सहयोगी सेवक की है। चाहे जीव अपनी बद्ध अवस्था में हो अथवा ज्ञान तथा शाश्वतता से पूर्ण अपनी मुक्त अवस्था में हो, वह नित्य परमेश्वर के ही अधीन रहता है। लेकिन जो वास्तविक ज्ञान के जानकार नहीं हैं, वे जीव की वास्तविक स्थिति के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु दर्शन की सभी विचारधाराओं द्वारा यह स्विकार किया गया है कि जीव शाश्वत है और यह पाँच भौतिक तत्त्वों से बना शरीर रूपी ओढ़न विनाशशील तथा अस्थायी है। यह शाश्वत जीव, कर्म-नियम के द्वारा, एक भौतिक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है और ये भौतिक शरीर, अपनी मूलभूत संरचना के कारण, विनाशशील हैं। अतएव आत्मा के देहान्तरण के कारण या किसी अवस्था में भौतिक शरीर के विनष्ट होने से किसी तरह का शोक नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग हैं, जो भौतिक बन्धन से छूटने पर, परमात्मा में आत्मा के तादात्म्य में विश्वास करते हैं। और कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते, अपितु पदार्थ में विश्वास करते हैं। हमारे दैनिक जीवन में हम न जाने कितने पदार्थ अन्य पदार्थों में रूपान्तरित होते देखे जाते हैं, किन्तु हम ऐसे

परिवर्तनशील स्वरूपों के लिये शोक नहीं करते। प्रत्येक दशा में, दैवी शक्ति का वेग अप्रतिहत होता है, इसमें किसी का वश नहीं है, अतएव शोक करने का कोई कारण नहीं होता।

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।

कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; जहि—छोड़ दो; अङ्ग—हे राजा; वैक्लव्यम्—मानसिक विकलता; अज्ञान—अज्ञान; कृतम्—के कारण; आत्मनः—अपना; कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अनाथाः—असहाय; कृपणाः—निरीह प्राणी; वर्तेरन्—जीवित रहने में समर्थ; ते—वे; च—भी; माम्—मेरे; विना—रहित।

अतएव तुम आत्मा को न जानने के कारण उत्पन्न अपनी चिन्ता छोड़ दो। अब आप यह सोच रहे हैं कि वे असहाय जीव तुम्हारे बिना किस तरह रहेंगे।

तात्पर्य : जब हम अपने सगे-सम्बन्धियों को असहाय तथा अपने ऊपर आश्रित सोचते हैं, तो यह अज्ञान के कारण होता है। परमेश्वर के आदेश से प्रत्येक जीव को इस संसार में उसकी अर्जित स्थिति के अनुसार सुरक्षा प्रदान की गई है। भगवान् भूत-भृत् कहलाते हैं, अर्थात् वे जो सभी जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। मनुष्य को केवल अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई किसी को भी सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। अगले श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।

कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत समय; कर्म—कर्म; गुण—प्रकृति के गुण; अधीनः—के अधीन; देहः—भौतिक शरीर तथा मन; अयम्—यह; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना; कथम्—कैसे; अन्यान्—दूसरे; तु—लेकिन; गोपायेत्—सुरक्षा प्रदान करते हैं; सर्प-ग्रस्तः—साँप द्वारा दंशित; यथा—जिस तरह; परम्—दूसरे।

पाँच तत्त्वों से निर्मित यह स्थूल भौतिक शरीर पहले से ही सनातन काल, कर्म तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन है। तो किस तरह से यह अन्यो की रक्षा कर सकता है, जबकि यह स्वयं सर्प के मुँह में फँसा हुआ है?

तात्पर्य : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रचार द्वारा विश्व आन्दोलनों से किसी को कोई लाभ होनेवाला नहीं, क्योंकि ये श्रेष्ठ शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। बद्धजीव पूरी तरह से भौतिक प्रकृति के नियंत्रण में होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाववश होने वाले कर्म तथा सनातन काल के रूप में व्यक्त होता है। प्रकृति के तीन गुण हैं अर्थात् सत, रज तथा तम। सतोगुणी हुए बिना, मनुष्य वस्तुओं को असली रूप में नहीं देख पाता। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति वस्तुओं को उनके असली रूप में कभी नहीं देख पाता। अतएव रजोगुणी तथा तमोगुणी व्यक्ति अपने कार्यों को सही दिशा नहीं दे पाते, केवल सतोगुणी व्यक्ति ही कुछ हद तक ऐसा कर पाता है। चूँकि अधिकांश व्यक्ति राजसी तथा तामसी होते हैं, अतएव उनकी योजनाएँ तथा परियोजनाएँ शायद ही अन्यो को कुछ लाभ पहुँचा सकें। प्रकृति के गुणों के भी ऊपर शाश्वत समय होता है, जो काल कहलाता है, क्योंकि यह भौतिक जगत की हर वस्तु की आकृति को बदल देता है। यदि हम अस्थायी रूप से कोई लाभ-प्रद कार्य कर भी लें, तो समय बीतने पर काल द्वारा यह अच्छी परियोजना भी विनष्ट कर दी जाती है। यदि कुछ किया जा सकता है, तो इतना ही कि इस सनातन काल से छुटकारा पा लिया जाय, जिसकी तुलना काल-सर्प से की गई है, जिसका दंश सदैव जानलेवा होता है। कोई भी व्यक्ति सर्प-दंश से नहीं बच पाता। अतएव काल-सर्प अथवा प्रकृति के गुणों के चंगुल से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्तियोग है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* (१४.२६) में की गई है। सबसे पूर्ण लोकोपयोगी परियोजना यह है कि हर व्यक्ति को, विश्व भर में, भक्तियोग के प्रचार कार्य में लगाया जाय, क्योंकि उसी के द्वारा लोगों को काल, कर्म तथा गुण द्वारा व्यक्त माया के चंगुल से बचाया जा सकता है। *भगवद्गीता* (१४.२६) से इसकी स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है।

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।

फल्लूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अहस्तानि—हाथविहीनों के; स-हस्तानाम्—हाथ वालों के; अपदानि—पैर-विहीनों का; चतुः-पदाम्—चार पैर वालों का; फल्लूनि—निर्बल; तत्र—वहाँ; महताम्—शक्तिमानों को; जीवः—जीव; जीवस्य—जीव का; जीवनम्—जीवन निर्वाह, गुजारा।

जो बिना हाथ वाले हैं, वे हाथ वालों के शिकार हैं। जो पाँवों से विहीन हैं, वे चौपायों के शिकार हैं। निर्बल सबल के भोज्य हैं और सामान्य नियम यह है कि एक जीव दूसरे जीव का भोजन बना हुआ है।

तात्पर्य : अस्तित्व टिकाए रखने के लिए जीवन-संघर्ष का नियम भगवान् की परम इच्छा से है और कितनी भी योजनाओं के द्वारा किसी के भी लिए इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। जो जीव इस संसार में परम पुरुष की इच्छा के विपरीत आये हैं, वे माया-शक्ति नामक उच्चतर शक्ति के अधीन रहते हैं, जो भगवान् द्वारा नियुक्त होती है। यह दैवी माया बद्धजीवों को तीन प्रकार के तापों से सताती रहती है, जिनमें से एक की व्याख्या इस श्लोक में हुई है—*निर्बल सबल का आहार है*। कोई भी, अपने से अधिक सबल के हमले से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और भगवान् की इच्छा से निर्बल, सबल तथा सर्वाधिक सबल—ये तीन कोटियाँ बनी हुई हैं। यदि बाघ निर्बल पशु को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, खा जाता है, तो इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह तो परमेश्वर का नियम है। यद्यपि नियम यह कहता है कि मनुष्य को किसी अन्य के जीवन पर जीवन-निर्वाह करना होता है, लेकिन सद्भाव का भी नियम है, क्योंकि मनुष्य को शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। अन्य जीवधारियों द्वारा ऐसा करना सम्भव नहीं होता। मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिये आया है, इसलिये उसे भगवान् को अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु नहीं खानी है। भगवान् अपने भक्तों से शाक, फल, पत्ती तथा अन्न के बने विविध व्यंजन स्वीकार करते हैं। अतएव फल, पत्ती तथा दूध के विविध पकवान भगवान् को अर्पित किये जा सकते हैं और जब भगवान् इन्हें पा लें, तो भक्त इस प्रसाद को ग्रहण कर सकता है, जिससे जीवन-संघर्ष के सारे क्लेश क्रमशः दूर हो जायेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२६) में हुई है। जो लोग पशुओं का भक्षण करने के आदी हो गये हैं, वे भी सीधे भगवान् को भोज्य-पदार्थ न अर्पित कर, धार्मिक अनुष्ठानों की कतिपय दशाओं में, भगवान् के किसी दूत को अर्पित कर सकते हैं। शास्त्रों का आदेश मांस-भक्षकों को प्रोत्साहित करना नहीं, अपितु नियमों के द्वारा उन पर प्रतिबन्ध लगाना है।

जीव अपने से अधिक सबल अन्य जीव का भक्ष्य होता है। किसी को किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन-निर्वाह के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र ही जीव हैं और कहीं पर

भोजन के अभाव में एक भी जीव भूखों नहीं मरता। महाराज युधिष्ठिर को नारद जी उपदेश देते हैं कि भोजन के अभाव में अपने चाचाओं के कष्ट भोगने की चिन्ता न करें, क्योंकि वे जंगलों में उपलब्ध शाकों को भगवान् के प्रसाद के रूप में प्राप्त करके जीवित रह सकते हैं और इस तरह मोक्ष-मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

सबल द्वारा दुर्बल का शोषण प्राकृतिक अस्तित्व का नियम है; जीवों के विभिन्न साम्राज्यों में, निर्बल को निगल जाने का सदैव प्रयास होता रहता है। भौतिक परिस्थितियों में, किसी कृत्रिम साधन से इस प्रवृत्ति को रोके जाने की कोई सम्भावना नहीं है। इसे मनुष्य के आध्यात्मिक भाव को, आध्यात्मिक नियमों के अभ्यास द्वारा जगाकर ही रोका जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक विधि-विधान एक ओर मनुष्य को निर्बल पशुओं का वध करने तथा दूसरी ओर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की शिक्षा नहीं देता। यदि मनुष्य पशुओं को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अनुमति नहीं देता, तो फिर वह किस तरह मानव समाज में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की उम्मीद कर सकता है? अतएव अन्धे नेताओं को चाहिए कि वे परम पुरुष को जानें और तब ईश्वर की राजसत्ता को लागू करने का प्रयास करें। विश्व के जन-समुदाय के मन में ईश्वर-चेतना को जगाये बिना ईश्वर राज्य या राम-राज्य असम्भव है।

तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्मात्मनां स्वदृक् ।

अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; इदम्—यह अभिव्यक्ति; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजन्; एकः—एक अद्वितीय; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अपनी शक्तियों से; स्व-दृक्—गुणों में अपने ही जैसा; अन्तरः—बाहर; अनन्तरः—भीतर तथा अपने द्वारा; भाति—प्रकट करता है; पश्य—देखो; तम्—उन्हें ही; मायया—विभिन्न शक्तियों के प्राकट्य से; उरुधा—अनेक प्रतीत होता है।

अतएव हे राजन्, तुम्हें एकमात्र परमेश्वर को देखना चाहिए, जो अद्वितीय हैं और जो विभिन्न शक्तियों से साक्षात् प्रकट होते हैं और भीतर तथा बाहर दोनों में हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा स्वयं प्रकट होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आनन्दमय हैं। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति के प्राकट्य हैं, जो गुणों में भगवान् के समान हैं और भगवान् की बहिरंगा तथा अंतरंगा शक्तियों के भीतर तथा बाहर,

दोनों ही जगह असंख्य जीव हैं। चूँकि आध्यात्मिक जगत भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, अतएव जो जीव उस अन्तरंगा शक्ति के भीतर हैं, वे बहिरंगा शक्ति से दूषित हुए बिना, गुण में भगवान् समान ही हैं। जीव भगवान् से गुणों में एक होकर भी, भौतिक जगत के कल्मष के कारण विकृत रूप में दिखता है। अतएव उसे भौतिक जगत में तथाकथित सुख तथा दुख का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव क्षणिक होते हैं और उनसे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे क्षणिक सुख तथा दुख की अनुभूति अपने भगवान् के समान गुण की विस्मृति के कारण होती है। किन्तु भगवान् से भीतर तथा बाहर एक नियमित धारा प्रवाहित होती रहती है, जिससे जीव अपनी पतित अवस्था को सुधार सकता है। भीतर से, वे अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में इच्छा करनेवाले जीवों को सुधारते हैं और बाहर से, वे गुरु तथा शास्त्रों के रूप में अपनी अभिव्यक्ति द्वारा सुधारते रहते हैं। मनुष्य को भगवान् की ओर ही दृष्टि लगानी चाहिए। उसे तथाकथित सुख तथा दुख प्रकट होने पर विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु पतितात्माओं का सुधार करने के भगवान् के बाह्यकार्यों में उनकी सहायता करनी चाहिए। उन्हीं के आदेश से ही मनुष्य को आध्यात्मिक गुरु बनकर उनको सहयोग देना चाहिए। किसी को अपने निजी लाभ के लिए, आजीविका कमाने के लिए अथवा धन्य के साधन के लिए गुरु नहीं बनना चाहिए। ऐसे प्रामाणिक गुरु जो भगवान् को सहयोग देने के लिए भगवान् की ओर दृष्टि लगाते हैं, वे गुणात्मक रूप से भगवान् से एक होते हैं और भुलकड़ जीव केवल विकृत प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। अतएव युधिष्ठिर महाराज को नारद उपदेश देते हैं कि वे तथाकथित सुख तथा दुख के मामलों से तनिक भी विचलित न हों, अपितु भगवान् के उस ध्येय को पूरा करने के लिए भगवान् की ओर देखें, जिसके लिए भगवान् अवतरित हुए हैं। यही उनका मूल कर्तव्य है।

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।

कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे परमेश्वर; अयम्—भगवान् श्रीकृष्ण; अद्य—इस समय; महाराज—हे राजा; भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—प्रत्येक सृजित वस्तु के स्रष्टा या पिता; काल-रूपः—सर्वभक्षी काल के वेश में; अवतीर्णः—अवतरित; अस्याम्—विश्व पर; अभावाय—निकाल फेंकने के लिए; सुर-द्विषाम्—जो लोग भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हैं, उन्हें।

वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, सर्वभक्षी काल के वेश (कालरूप) में, अब संसार से द्वेषी लोगों का सर्वनाश करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की दो श्रेणियाँ हैं—द्वेषी तथा आज्ञा-पालक। चूँकि परमेश्वर एक हैं और वे सभी जीवों के पिता हैं, अतएव द्वेषी लोग भी उन्हीं की सन्तान हैं, लेकिन वे असुर कहलाते हैं। किन्तु जो जीव सर्वोपरि पिता के प्रति आज्ञाकारी है, वे देवता कहलाते हैं, क्योंकि वे जीवन की भौतिक अवधारणा द्वारा कलुषित नहीं होते हैं। असुर लोग न केवल भगवान् के अस्तित्व को नकार करके द्वेष दिखाते हैं, अपितु वे अन्य समस्त जीवों से भी द्वेष रखते हैं। जगत में असुरों के प्राधान्य को कभी-कभी भगवान् उनको पूरी तरह विनष्ट करके ठीक करते हैं और पाण्डव जैसे देवताओं का राज्य स्थापित करते हैं। छद्मरूप में काल नाम की उनकी उपाधि महत्त्वपूर्ण है। वे रंचमात्र भी भयावह नहीं हैं, अपितु वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के दिव्य रूप हैं। जो भक्त हैं, उनके सामने उनका वास्तविक रूप प्रकट होता है, किन्तु जो अभक्त हैं उनके लिए वे कालरूप में प्रकट होते हैं, जो उनका कारण-रूप है। भगवान् का यह कारण-रूप असुरों को तनिक भी सुहावना नहीं लगता, अतएव वे भगवान् को निराकार मान लेते हैं, जिससे उनको (झूठी) सुरक्षा की भावना का अनुभव हो और वे ऐसा सोच सकें कि अब उन्हें भगवान् द्वारा नष्ट नहीं किया जाएगा।

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।

तावद् यूयमवेक्षध्वं भवेद् यावदिहेश्वरः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

निष्पादितम्—सम्पन्न; देव-कृत्यम्—देवताओं की ओर से जो कुछ होना था; अवशेषम्—शेष; प्रतीक्षते—प्रतीक्षित होकर;
तावत्—उस समय तक; यूयम्—आप सारे पाण्डव; अवेक्षध्वम्—देखो तथा प्रतीक्षा करो; भवेत्—हो; यावत्—जब तक;
इह—इस संसार में; ईश्वरः—परमेश्वर।

भगवान् ने देवताओं की सहायता करने का अपना कर्तव्य पहले ही पूरा कर दिया है और जो शेष है, उसके लिए वे प्रतीक्षारत हैं। आप सभी पाण्डव तब तक प्रतीक्षा कर सकते हो, जब तक भगवान् इस धरा पर उपस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने धाम (कृष्णलोक) से, जो आध्यात्मिक आकाश का सर्वोच्च लोक है, इस भौतिक विश्व के देव-शासकों की सहायता करने के लिए तब-तब अवतरित होते हैं, जब-जब वे

उन असुरों द्वारा अत्यधिक सताये जाते हैं, जो न केवल भगवान् से अपितु उनके भक्तों से भी द्वेष रखते हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, बद्धजीव अपनी ही रुचि से भौतिक जगत के साधनों पर प्रभुत्व जताने की अपनी प्रबल इच्छा द्वारा प्रेरित होकर भौतिक संसर्ग में आते हैं और वे सभी वस्तुओं के नकली स्वामी बन बैठते हैं। प्रत्येक व्यक्ति नकली ईश्वर बनना चाहता है; ऐसे नकली ईश्वरों में प्रबल होड़ लगी रहती है और ऐसे प्रतियोगी सामान्यतया असुर कहलाते हैं। जब संसार में असुरों की संख्या बढ़ जाती है, तब यह जगत भगवद्भक्तों के लिए नरक बन जाता है। असुरों की वृद्धि के कारण जनता, जो स्वाभाविक रूप से भगवान् की भक्ति को समर्पित होती है और उच्चलोक के देवताओं समेत भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं, और तब भगवान् या तो स्वयं अपने धाम से नीचे आते हैं या अपने भक्तों में से किसी को मानव या पशु-समाज की गिरी दशा सुधारने के लिए नियुक्त करते हैं। ऐसी अशान्ति केवल मानव समाज में ही नहीं, अपितु पशुओं, पक्षियों या उच्च लोकों के देवताओं सहित अन्य जीवों के बीच भी मचती रहती है। भगवान् श्रीकृष्ण तब कंस, जरासंध तथा शिशुपाल जैसे असुरों का वध करने के लिए स्वयं अवतरित हुए। महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल में लगभग इन सारे असुरों का वध भगवान् ने किया। अब वे अपने ही वंश, यदुवंश के विनाश की प्रतीक्षा में थे, जो इस संसार में उनकी अपनी इच्छा से ही प्रकट हुआ था। वे अपने स्वयं के नित्य धाम जाने के पूर्व इस वंश को समेट लेना चाहते थे। नारद ने, विदुर की तरह, यदुवंश के आसन्न विनाश की बात प्रकट नहीं होने दी, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राजा तथा उनके भाइयों से संकेत कर दिया कि वे इस घटना के घटने तथा भगवान् के प्रयाण करने तक प्रतीक्षा करें।

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया ।

दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; सह—साथ; भ्रात्रा—अपने भाई विदुर के; गान्धार्या—गांधारी भी; च—तथा; स्व-भार्यया—अपनी पत्नी; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; ऋषीणाम्—ऋषियों का; आश्रमम्—आश्रम में; गतः—गये।

हे राजन्, आपके चाचा धृतराष्ट्र, उनके भाई विदुर तथा उनकी पत्नी गांधारी, हिमालय के दक्षिण की ओर गये हैं, जिधर बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रम हैं।

तात्पर्य : शोकातुर महाराज युधिष्ठिर को ढाढ़स बँधाने के लिए, सर्वप्रथम नारद ने दार्शनिक दृष्टि से उपदेश दिया और फिर अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हुए, उनके बड़े चाचा की भावी गतिविधियों का वर्णन करना प्रारम्भ किया, जो इस प्रकार है।

स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।

सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोतः प्रचक्षते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

स्रोतोभिः—धाराओं से; सप्तभिः—सात (भाग); या—नदी; वै—निश्चय ही; स्वर्धुनी—पवित्र गंगा; सप्तधा—सात शाखाएँ; व्यधात्—उत्पन्न किया; सप्तानाम्—सातों की; प्रीतये—तुष्टि के लिए; नाना—विविध; सप्त-स्रोतः—सात स्रोत; प्रचक्षते—नाम से ज्ञात।

यह स्थान सप्तस्रोत (सात द्वारा विभाजित) कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर पवित्र गंगा नदी का जल सात शाखाओं में विभाजित किया गया था। ऐसा महान् सप्तर्षियों की तुष्टि के लिए किया गया था।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि ।

अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—नियमित रूप से तीन बार (प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय); तस्मिन्—सप्तधा गंगा में; हुत्वा—अग्निहोत्र यज्ञ करके; च—भी; अग्नीन्—अग्नि में; यथा-विधि—शास्त्र के नियमों के अनुसार; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर उपवास करके; उपशान्त—पूर्ण रूप से संयमित; आत्मा—स्थूल इन्द्रियों तथा सूक्ष्म मन; सः—धृतराष्ट्र; आस्ते—स्थित होंगे; विगत—रहित; एषणः—पारिवारिक कुशलता-सम्बन्धी विचार।

इस समय सप्तस्रोत के तट पर धृतराष्ट्र नित्य तीन बार प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय, स्नान करके, अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न करके तथा केवल जल पीकर अष्टांग योग का अभ्यास करने में लगे हैं। इससे मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखने में सहायता मिलती है और वह पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धी विचारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : योग-पद्धति इन्द्रियों तथा मन को वश में करने तथा उन्हें पदार्थ से आत्मा की ओर मोड़ने की यांत्रिक विधि है। इसकी प्रारम्भिक विधियाँ हैं—आसन, ध्यान, आध्यात्मिक विचार, प्राणायाम, समाधि तथा परम पुरुष परमात्मा की ओर उन्मुख होना। इस तरह की यांत्रिक विधि से

आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठने के लिए कुछ विधान नियत किए गए हैं—दिन में तीन बार स्नान करना, जहाँ तक सम्भव हो उपवास करना, आसन मारकर मन को आध्यात्मिक विषयों में एकाग्र करना तथा इस प्रकार धीरे-धीरे विषय अर्थात् भौतिक ध्येय से मुक्त होना। भौतिक जगत का अर्थ है भौतिक विषय में लिप्त होना, जो भ्रम मात्र है। घर, देश, परिवार, समाज, सन्तान, सम्पत्ति तथा व्यापार—ये आत्मा के कतिपय आवरण हैं। योग-पद्धति इन मोहमय विचारों से मुक्त होने और क्रमशः परम पुरुष परमात्मा की ओर मुड़ने में सहायक होती है। भौतिक संगति तथा शिक्षा द्वारा हम व्यर्थ की वस्तुओं में केन्द्रित होना सीखते हैं, लेकिन योग ऐसी विधि है, जिससे हम इन्हें पूरी तरह से भूल जाते हैं। आधुनिक तथाकथित योगी तथा योग-पद्धतियाँ कुछ जादू जैसे करतब दिखाती हैं और अज्ञानी लोग ऐसी झूठी बातों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, अथवा वे स्थूल शरीर के रोगों को अच्छा करने के लिए, इसे एक सस्ती विधि के रूप में मानते हैं। लेकिन वास्तव में, योग-पद्धति वह विधि है, जिससे हमने जीवन-सघर्ष के दौरान जो कुछ सीखा है, उसे हम भुला सकें। धृतराष्ट्र आजीवन अपने पुत्रों के लिए पाण्डवों की सम्पत्ति छीनकर उनका जीवन-स्तर ऊँचा करके पारिवारिक मामलों को सुधारने में व्यस्त रहे। नितान्त भौतिकतावादी एवं आध्यात्मिक शक्ति के ज्ञान से रहित व्यक्ति के लिए यही सामान्य व्यापार हैं। वह यह नहीं देख पाता कि ये किस तरह उसे स्वर्ग से नरक में घसीट कर ले जा सकते हैं। किन्तु अपने छोटे भाई विदुर के अनुग्रह से, धृतराष्ट्र को ज्ञान हुआ और वे अपने निपट मोहयुक्त व्यापारों को देख पाये और ऐसे ज्ञान के कारण ही वे आत्मानुभूति के लिए अपना घर छोड़ सके। श्री नारददेव ऐसे स्थान पर, जो स्वर्गिक गंगा के प्रवाह से पवित्र था, उनकी आध्यात्मिक प्रगति की भविष्यवाणी कर रहे थे। बिना भोजन किये केवल जल पीकर रहना भी उपवास करना माना जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। मूर्ख व्यक्ति विधि-विधानों का पालन किये बिना सस्ता योगी बनना चाहता है। सर्वप्रथम जिस व्यक्ति की अपनी जीभ पर लगाम नहीं है, वह कभी योगी नहीं बन सकता। योगी तथा भोगी दो विरोधी शब्द हैं। भोगी अर्थात् जो खाता-पीता, मौज करता है, वह योगी नहीं बन सकता, क्योंकि योगी को मनमाना खाने तथा पीने की छूट कभी भी नहीं है। हमें इस बात पर ध्यान देने से लाभ होगा कि धृतराष्ट्र ने केवल जल पीकर तथा एकान्त में बैठकर भगवान् हरि के विचारों में तन्मय होकर कैसे अपना योग प्रारम्भ किया था।

जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः ।

हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

जित-आसनः—जिसने आसनों पर विजय प्राप्त कर ली है; जित-श्वासः—जिसने श्वास-प्रक्रम को वश में कर लिया है; प्रत्याहृत—पीछे मुड़कर; षट्—छः; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; हरि—भगवान् में; भावनया—तन्मय; ध्वस्त—विजित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्त्वगुण; तमः—तमोगुण; मलः—कल्मष ।

जिसने यौगिक आसनों तथा श्वास लेने की विधि को वश में कर लिया है, वह अपनी इन्द्रियों को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति मोड़कर भौतिक प्रकृति के गुणों अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के कल्मष के प्रति निर्लिप्त बन जाता है ।

तात्पर्य : योग-विधि की प्रारम्भिक गतिविधियाँ हैं आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, इत्यादि । महाराज धृतराष्ट्र को इन प्रारम्भिक कार्यों में सफलता प्राप्त करनी थी, क्योंकि वे पवित्र स्थान पर आसीन थे और एक ही लक्ष्य अर्थात् (हरि) पर ध्यान लगाये हुए थे । इस तरह उनकी सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी थीं । यह विधि भक्त को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्ति दिलाने में सहायक होती है । जब भौतिक सत्त्वगुण भी, जो कि सर्वोच्च गुण है, भव-बन्धन का कारण है, तो अन्य गुणों—रज तथा तम के विषय में क्या कहा जाय । रज तथा तम-गुणों से भौतिक भोग की इच्छा बढ़ती है और प्रबल कामेच्छा से सम्पत्ति तथा शक्ति के संचय को बल मिलता है । जिसने इन दोनों अधम प्रवृत्तियों को जीत लिया है और अपने आप को सत्त्वगुण के स्तर तक उन्नत कर लिया है, जो ज्ञान तथा नैतिकता से परिपूर्ण है, वह भी इन्द्रियों को अर्थात् नेत्र, जीभ, नाक, कान तथा स्पर्शेन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता । किन्तु जिसने उपर्युक्त विधि से, भगवान् हरि के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभावों को पार कर सकता है और भगवान् की सेवा में स्थिर हो सकता है । अतएव भक्तियोग-विधि इन्द्रियों को सीधे भगवान् की प्रेमामयी सेवा में लगाती है । इससे कर्ता भौतिक कार्यकलापों में नहीं लग पाता । इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से मोड़कर भगवान् की दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगाने की यह विधि प्रत्याहार कहलाती है और यह सारी प्रक्रिया प्राणायाम कहलाती है, जिसका अन्त समाधि में अर्थात् सभी तरह से परमेश्वर हरि को प्रसन्न करने के लिये तन्मय रहने में होता है ।

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् ।

ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान—शुद्ध पहचान; आत्मनि—बुद्धि में; संयोज्य—ठीक से स्थिर करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव में; प्रविलाप्य—तादात्म्य करके; तम्—उसको; ब्रह्मणि—सर्वोपरि में; आत्मानम्—शुद्ध जीव; आधारे—आधार में; घट-अम्बरम्—घट के भीतर आकाश; इव—सदृश; अम्बरे—परम व्योम में।

धृतराष्ट्र को अपनी शुद्ध सत्ता को बुद्धि में संयोजित करके, तब परम पुरुष के साथ, जीव के रूप में, गुणों के एकात्मकता के बोध सहित, परम ब्रह्म के साथ तदाकार होना होगा। घटाकाश से मुक्त होकर उन्हें आध्यात्मिक आकाश ऊपर तक उठना होगा।

तात्पर्य : जीव भौतिक जगत पर प्रभुता जताने तथा परमेश्वर के साथ सहयोग न करने की इच्छा से महत् तत्त्व से सम्पर्क करता है और इस महत् तत्त्व से भौतिक जगत, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों के साथ उसकी झूठी पहचान बनती है। इससे उसकी शुद्ध आध्यात्मिक पहचान ठक जाती है। योग-विधि से जब आत्म-साक्षात्कार में उसकी शुद्ध पहचान की अनुभूति हो जाती है, तो उसे पाँच स्थूल तत्त्वों तथा मन और बुद्धि नामक सूक्ष्म तत्त्वों को संयोजित करके मूल स्थिति में अर्थात् पुनः महत्-तत्त्व में लौटना होता है। इस प्रकार उसे महत्-तत्त्व के बन्धन से छूटकर परमात्मा में तदाकार होना होता है। दूसरे शब्दों में, उसे इसकी अनुभूति करनी होती है कि वह गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न है। इस तरह से वह अपनी शुद्ध पहचान करके भौतिक आकाश को पार कर सकता है और इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। धृतराष्ट्र ने विदुर तथा भगवान् की कृपा से आध्यात्मिक पहचान की यह सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली। विदुर के व्यक्तिगत सम्पर्क से उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकी और जब वे विदुर के उपदेशों का वास्तव में पालन कर रहे थे, तब भगवान् ने सिद्ध अवस्था प्राप्त करने में उनकी सहायता दी।

भगवान् का शुद्ध भक्त न तो भौतिक आकाश के किसी ग्रह पर रहता है, न ही वह भौतिक तत्त्वों से किसी प्रकार के सम्पर्क का अनुभव करता है। भगवान् के उद्देश्य के समान ही उद्देश्य की आध्यात्मिक धारा से परिपूरित होने के कारण उसके तथाकथित भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं रहता और इस तरह वह महत् तत्त्व के सारे कल्मष से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। वह सदैव

आध्यात्मिक आकाश में रहता है, जिसे वह अपनी भक्तिमय सेवा के प्रभाव से सात भौतिक आवरणों को भेदकर प्राप्त करता है। बद्धजीव इन आवरणों के भीतर रहते हैं, जबकि मुक्त जीव इनसे परे होते हैं।

ध्वस्तमायागुणोदको निरुद्धकरणाशयः ।

निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ।

तस्यान्तरायो मैवाभूः सन्न्यस्ताखिलकर्मणः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ध्वस्त—विनष्ट होकर; माया-गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; उदकः—परवर्ती प्रभाव; निरुद्ध—रुक कर; करण-आशयः—इन्द्रियों तथा मन; निवर्तित—रुका हुआ; अखिल—समस्त; आहारः—इन्द्रियों का भोजन; आस्ते—आसीन है; स्थाणुः—अचर; इव—सदृश; अचलः—स्थिर; तस्य—उसके; अन्तरायः—विघ्न, बाधाएँ; मा एव—कभी इस तरह; अभूः—हो; सन्न्यस्त—विरक्त; अखिल—सभी तरह के; कर्मणः—भौतिक कर्तव्य।

उन्हें इन्द्रियों के सारे कार्य बाहर से भी रोक देने होंगे और भौतिक प्रकृति के गुणों से प्रभावित होनेवाली इन्द्रियों की अन्तःक्रियाओं के प्रति भी अभेद्य रहना होगा। इन सारे भौतिक कार्यों का परित्याग करने पर वे अचल हो जायेंगे और मार्ग के सारे अवरोधों को पार कर जायेंगे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र ने योग-विधि के द्वारा सब प्रकार की भौतिक प्रतिक्रिया का निषेध करने का स्तर प्राप्त कर लिया था। प्रकृति के भौतिक गुणों के प्रभाव का शिकार बना जीव पदार्थ को भोगने की दुर्दम्य इच्छा के वश हो जाता है, किन्तु योग-विधि से मनुष्य ऐसे मिथ्या भोग से बच सकता है। प्रत्येक इन्द्रिय सदा अपने भोजन की तलाश में रहती है और इस तरह बद्धजीव पर चारों ओर से हमला होता है और उसे किसी भी कार्य में स्थिर होने का अवसर नहीं मिल पाता। नारद ने महाराज युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे अपने ताऊ को घर वापस लाने का प्रयास करके उन्हें विचलित न करें। वे अब किसी भी भौतिक वस्तु के आकर्षण से परे थे। भौतिक प्रकृति के गुणों की कार्य करने की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु प्रकृति के भौतिक गुणों के भी ऊपर आध्यात्मिक गुण हैं, जो परमपूर्ण हैं। *निर्गुण* का अर्थ है, प्रतिक्रिया-विहीन। आध्यात्मिक गुण तथा इसका प्रभाव समान हैं, अतएव आध्यात्मिक गुण को *निर्गुण* कहकर उसे भौतिक गुण से भिन्न दिखाया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों से पूर्णतः अवरुद्ध होने पर, मनुष्य आध्यात्मिक मंडल में प्रवेश करता है और आध्यात्मिक गुणों से प्रेरित कर्म *भक्ति* कहलाता है।

अतएव भक्ति परम पूर्ण के सीधे सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया गया निर्गुण है, जिसे परम-पूर्ण सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है।

स वा अद्यतनाद् राजन् परतः पञ्चमेऽहनि ।

कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वा—सम्भवतया; अद्य—आज; तनात्—से; राजन्—हे राजन्; परतः—आगे; पञ्चमे—पाँचवें; अहनि—दिन; कलेवरम्—शरीर; हास्यति—छोड़ देंगे; स्वम्—अपनी इच्छा से; तत्—वह; च—भी; भस्मी—राख; भविष्यति—हो जायेगा।

हे राजन्, सम्भव यह है कि वे आज से पाँचवें दिन अपना शरीर छोड़ देंगे और उनका शरीर राख हो जायेगा।

तात्पर्य : नारद मुनि की भविष्यवाणी ने युधिष्ठिर महाराज को उस स्थान को जाने से रोक दिया, जहाँ उनके ताऊ रह रहे थे, क्योंकि अपनी योग-शक्ति से अपना शरीर त्यागने के बाद भी धृतराष्ट्र को किसी दाह-संस्कार की आवश्यकता न थी। नारदमुनि ने संकेत किया कि उनका शरीर स्वतः जलकर भस्म हो जायेगा। योग-पद्धति की सिद्धि ऐसी ही योग-शक्ति से प्राप्त की जाती है। योगी इच्छित समय में अपना शरीर-त्याग कर सकता है और अपने इस शरीर को, खुद के लिए सृजित की हुई अग्नि से भस्म करके इच्छित ग्रह को प्राप्त कर सकता है।

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोदजे ।

बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनु वेक्ष्यति ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

दह्यमाने—जलते हुए; अग्निभिः—अग्नि द्वारा; देहे—शरीर में; पत्युः—पति के; पत्नी—पत्नी; सह-उदजे—कुटिया समेत; बहिः—बाहर; स्थिता—स्थित; पतिम्—पति को; साध्वी—सती नारी; तम्—उस; अग्निम्—अग्नि को; अनु वेक्ष्यति—ध्यानपूर्वक देखते हुए अग्नि में प्रवेश करेगी।

बाहर से अपने पति को अपनी योग शक्ति की अग्नि में अपनी कुटिया समेत जलता हुआ देखकर उसकी साध्वी पत्नी एकाग्रता पूर्वक ध्यानमग्न होकर अग्नि में प्रवेश करेगी।

तात्पर्य : गान्धारी एक आदर्श सती नारी थीं। वे अपने पति की जीवन-संगिनी थीं, अतएव जब उन्होंने देखा कि उनके पति योग की अग्नि में पर्णकुटी समेत जल रहे हैं, तो वे निराश हो गईं। उन्होंने

अपने सौ पुत्र खोने के बाद घर छोड़ दिया था और अब जंगल में अपने अत्यन्त प्रिय पति को भी जलते हुए देख रही थीं। अब वे वास्तव में अकेली अनुभव कर रही थीं, अतएव वे भी अपने पति की अग्नि में प्रवेश कर, पति का अनुगमन करते हुए मर गईं। सती स्त्री का अपने पति की अग्नि में प्रवेश करना *सती-संस्कार* कहलाता है और यह कर्म स्त्री के लिए अत्युत्तम माना जाता है। बाद के युग में, यह सती-प्रथा अत्यन्त घृणित अपराधी कृत्य बन गयी, क्योंकि यह प्रथा अनिच्छित स्त्री पर भी थोपी जाने लगी। इस पतित युग में किसी भी स्त्री के लिए गान्धारी तथा अन्यो के समान सती-संस्कार का शुद्ध विधि से पालन करना सम्भव नहीं है। गान्धारी-जैसी सती नारी को पति का वियोग वास्तविक अग्नि से अधिक दाहक प्रतीत होता था। ऐसी नारी स्वेच्छा से सती-धर्म का पालन कर सकती है, किन्तु किसी के द्वारा बल प्रयोग नहीं किया जाता है। जब यह प्रथा औपचारिकता बन गयी, तो इस नियम के पालन कराने के लिए नारी पर बलप्रयोग किया जाने लगा, तब यह सचमुच अपराध-पूर्ण बन गयी, अतएव राज-नियम द्वारा इसे बन्द कराना पड़ा। नारदमुनि की इस भविष्यवाणी ने, महाराज युधिष्ठिर को अपनी विधवा ताई के पास जाते रोक दिया।

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।

हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर भी; तु—लेकिन; तत्—वह घटना; आश्चर्यम्—आश्चर्यमय; निशाम्य—देखकर; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंश के पुत्र; हर्ष—प्रसन्नता; शोक—दुख; युतः—से प्रभावित; तस्मात्—उस स्थान से; गन्ता—चले जाएँगे; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; निषेवकः—शक्ति प्राप्त करने के लिए।

तब हर्ष तथा शोक से अभिभूत होकर, विदुर उस पवित्र तीर्थ-स्थान से चले जाएँगे।

तात्पर्य : विदुर, मुक्त योगी के रूप में अपने भ्राता धृतराष्ट्र के आश्चर्यमय प्रयाण को देखकर चकित थे, क्योंकि वे अपने विगत जीवन में भौतिकतावाद अत्यधिक लिस थे। निस्सन्देह, विदुर के ही कारण, उनके भाई को जीवन की वांछित गति प्राप्त हुई। अतएव यह जानकर विदुर परम प्रसन्न थे। लेकिन उन्हें दुख था कि वे अपने भाई को शुद्ध भक्त न बना पाये। विदुर ऐसा न कर पाये, क्योंकि धृतराष्ट्र उन पाण्डवों से शत्रुभाव रखते थे, जो सारे भगवान् के भक्त थे। वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराध से अधिक घातक होता है। निश्चय ही विदुर

अपने भाई धृतराष्ट्र पर अत्यन्त कृपालु थे, जिनका पिछला जीवन अत्यन्त भौतिकवादी था, किन्तु ऐसी कृपा का वर्तमान जीवन में फल अन्ततः परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है। अतएव धृतराष्ट्र को केवल मुक्ति-लाभ हुआ। ऐसे अनेक मुक्त जीवनों के बाद ही भक्ति की अवस्था प्राप्त हो पाती है। विदुर अपने भाई तथा भाभी की मृत्यु से अत्यन्त शोकातुर थे और ऐसे शोक को दूर करने का एकमात्र उपाय था कि वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ें। अतएव महाराज युधिष्ठिर के पास अपने जीवित चाचा विदुर को वापस बुलाने का अवसर न था।

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।

युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—सम्बोधित करके; अथ—तत्पश्चात्; आरुहत्—चढ़ गये; स्वर्गम्—बाह्य आकाश में; नारदः—महर्षि नारद; सह—के साथ; तुम्बुरुः—तम्बूरा; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; वचः—उपदेश; तस्य—उनका; हृदि कृत्वा—हृदय में रखकर; अजहात्—त्याग दिया; शुचः—सारा शोक।

ऐसा कहकर महर्षि नारद, अपनी वीणा-समेत बाह्य आकाश में चले गये। युधिष्ठिर ने उनके उपदेश को अपने हृदय में धारण किया, जिससे वे सारे शोकों से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : श्री नारदजी शाश्वत अन्तरिक्ष पुरुष हैं, जिन्हें भगवत्कृपा से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ है। वे बिना किसी प्रतिरोध के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगत्‌ओं के बाह्य आकाश में विचरण कर सकते हैं और देखते ही देखते, दूर-सूदूर के किसी भी ग्रह में तत्क्षण पहुँच सकते हैं। दासी-पुत्र के रूप में हम उनके विगत जीवन का वर्णन पहले ही कर चुके हैं। शुद्ध भक्तों की संगति करने से ही, उन्हें शाश्वत अन्तरिक्ष-पुरुष का पद प्राप्त हुआ था, अतएव उन्हें विचरण करने की स्वतंत्रता थी। हमें नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयास करना चाहिए और यांत्रिक साधनों से अन्य लोकों तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए। महाराज युधिष्ठिर धर्मात्मा राजा थे, अतएव समय-समय पर उन्हें नारदमुनि के दर्शन होते रहते थे; अतएव जो नारदमुनि का दर्शन करने के इच्छुक हों, उन्हें सर्वप्रथम पवित्र बनना होगा और नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलना होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “धृतराष्ट्र द्वारा गृहत्याग” नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तर्धान होना

सूत उवाच

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदृक्षया ।

ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; सम्प्रस्थिते—जाकर; द्वारकायाम्—द्वारका नगरी में; जिष्णौ—अर्जुन; बन्धु—मित्रों तथा सम्बन्धियों से; दृक्षया—मिलने के लिए; ज्ञातुम्—जानने के लिए; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—जिनका यश वैदिक स्तोत्रों द्वारा गाया जाता है; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण का; च—तथा; विचेष्टितम्—अगला कार्यक्रम।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य मित्रों को मिलने तथा भगवान् से उनके अगले कार्यकलापों के विषय में जानने के लिए अर्जुन द्वारका गये।

तात्पर्य : जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् इस पृथ्वी पर धर्मात्माओं की रक्षा करने तथा अधर्मियों का संहार करने के लिए अवतीर्ण हुए थे, अतएव कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त होने तथा महाराज युधिष्ठिर का राज्य स्थापित हो जाने पर भगवान् का कार्य पूर्ण हो चुका था। पाँच पाण्डव और विशेष रूप से अर्जुन, भगवान् कृष्ण के सनातन संगी थे। अतएव कृष्ण से उनके अगले कार्यक्रम के विषय में जानने के लिए अर्जुन द्वारका गये।

व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततोऽर्जुनः ।

ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

व्यतीताः—व्यतीत करके; कतिचित्—कुछ; मासाः—महीने; तदा—उस समय; न आयात्—नहीं लौटा; ततः—वहाँ से; अर्जुनः—अर्जुन; ददर्श—देखा; घोर—भयानक; रूपाणि—दृश्य; निमित्तानि—विभिन्न कारण; कुरु-उद्धहः—महाराज युधिष्ठिर ने।

कुछ मास बीत गये, किन्तु अर्जुन वापस नहीं लौटे। तब महाराज युधिष्ठिर को कुछ अपशकुन दिखने लगे, जो अपने आप में अत्यन्त भयानक थे।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं, हमारे संसार के सर्वाधिक शक्तिमान सूर्य से भी अधिक शक्तिशाली हैं। उनके एक श्वास-काल में लाखों-करोड़ों सूर्यों की सृष्टि और पुनः उनका संहार होता रहता है। भौतिक जगत में, सूर्य को समस्त उत्पादकर्ता तथा सारी भौतिक शक्ति का स्रोत माना जाता है और सूर्य के कारण ही हमें जीवन की आवश्यकताएँ उपलब्ध होती हैं। अतएव जब पृथ्वी पर भगवान् स्वयं उपस्थित थे, तो उस समय उनकी उपस्थिति के कारण हमारी शान्ति तथा सम्पन्नता का सारा साज-सामान, विशेष रूप से धर्म तथा ज्ञान, अपनी चरमावस्था में थे, जिस प्रकार चमकते सूर्य की उपस्थिति में सर्वत्र प्रकाश झलझलाता रहता है। महाराज युधिष्ठिर को अपने राज्य में कुछ न्यूनताएँ दिखीं, अतएव वे अर्जुन के विषय में अत्यधिक चिन्तित हो उठे, जो दीर्घकाल से अनुपस्थित थे और द्वारका की कुशलता का भी कोई समाचार नहीं मिला था। उन्हें भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की आशंका हुई, अन्यथा ऐसे भयानक अपशकुनों की सम्भावना नहीं थी।

कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः ।

पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कालस्य—शाश्वत समय की; च—भी; गतिम्—दिशा; रौद्राम्—भयानक; विपर्यस्त—विपरीत; ऋतु—मौसम की; धर्मिणः—नियमितताएँ; पापीयसीम्—पापी; नृणाम्—मनुष्य की; वार्ताम्—जीविका का साधन; क्रोध—क्रोध; लोभ—लोभ; अनृत—झूठ; आत्मनाम्—लोगों का।

उन्होंने देखा कि सनातन काल की गति बदल गई है और यह अत्यन्त भयावह था। ऋतु-सम्बन्धी नियमितताओं में व्यतिक्रम हो रहे थे। सामान्य लोग अत्यन्त लालची, क्रोधी तथा धोखेबाज हो गये थे। वे देख रहे थे कि वे सभी जीविका के अनुचित साधन अपना रहे थे।

तात्पर्य : जब सभ्यता का सम्बन्ध पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रेम से टूट जाता है, तो ऋतु की नियमितता में परिवर्तन, जीविका के अनुचित साधन, लोभ, क्रोध तथा धोखाधड़ी जैसे लक्षणों का प्राधान्य हो जाता है। ऋतु-सम्बन्धी नियमितता के परिवर्तन का अर्थ है, एक ऋतु के समय दूसरी ऋतु के लक्षणों का प्रकट होना। उदाहरणार्थ, वर्षाऋतु, शरदऋतु में चली जाय या एक ऋतु में फूलने-फलने की क्रिया दूसरी ऋतु में होने लगे। ईश्वरविहीन मनुष्य अनिवार्यतः लालची, क्रोधी तथा धोखेबाज होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी साधन से अपनी जीविका चला सकता है चाहे वह साधन उचित हो या

अनुचित। महाराज युधिष्ठिर के राज्यकाल में ध्यान खींचने वाली बात यह थी कि उपर्युक्त सारे लक्षणों का अभाव था। लेकिन जब महाराज युधिष्ठिर को अपने राज्य के दैवी वातावरण में यत्किंचित् परिवर्तन का अनुभव होने लगा, तो वे चकित हो गए और उन्हें तुरन्त आशंका हुई कि भगवान् अप्रकट हो गये हैं। जीविका के अनुचित साधनों का अर्थ है, अपने वृत्तिपरक कर्म से हटना। हर एक के लिए, चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, कुछ कर्म नियत हैं, किन्तु यदि कोई इन कर्मों को न करके, अन्यो के कर्म को अपना कर्म घोषित करते हुए उसे अपनाता है, तो वह अनुचित कर्तव्य का पालन करता है। जब मनुष्य के समक्ष उच्चतर जीवन-उद्देश्य नहीं होता और वह सोचता है कि उसका कुछ वर्षों का भौतिक जीवन ही सब कुछ है, तो मनुष्य सम्पत्ति तथा शक्ति के लिए अत्यधिक लोभी बन जाता है। अज्ञान ही मानव समाज की सारी विसंगतियों का कारण है और इस अज्ञान को हटाने के लिए, विशेष रूप से इस अधोगति के युग में, श्रीमद्भागवत रूपी प्रबल सूर्य अपना प्रकाश वितरित करने के लिए उपलब्ध है।

जिह्वाप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् ।

पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

जिह्वा-प्रायम्—धोखा देना; व्यवहृतम्—समस्त सामान्य लेन-देन के कार्यों में; शाठ्य—कपट; मिश्रम्—अपमिश्रित; च—तथा; सौहृदम्—मैत्रीपूर्ण शुभचिन्तकों से सम्बन्धित; पितृ—पिता; मातृ—माता-सम्बन्धी; सुहृत्—शुभचिन्तक; भ्रातृ—निजी भाई; दम्-पतीनाम्—पति-पत्नी-विषयक; च—भी; कल्कनम्—पारस्परिक कलह।

सारे सामान्य लेन-देन, यहाँ तक कि मित्रों के बीच के व्यवहार तक, कपट के कारण दूषित हो गये थे। पारिवारिक मामलों में पिता, माता तथा पुत्रों के बीच, शुभचिन्तकों के बीच तथा भाई-भाई के बीच सदैव गलतफहमी होती थी। यहाँ तक कि पति तथा पत्नी के बीच भी सदैव तनाव तथा झगड़ा होता रहता था।

तात्पर्य : बद्धजीव में चार दुर्गुण पाये जाते हैं—त्रुटियाँ करना, मूर्खता, असमर्थता तथा वंचकता (ठगी)। ये अपूर्णता के लक्षण हैं और इन चारों में से अन्यो को ठगने की प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। यह ठगी बद्धजीवों में इसलिए आती है, क्योंकि वे प्रकृति पर प्रभुता जताने की अप्राकृतिक इच्छा से लिस होकर भौतिक जगत् में फँसे हुए हैं। शुद्ध अवस्था में जीव नियमों द्वारा बद्ध नहीं रहता,

क्योंकि अपनी शुद्ध अवस्था में उसे यह ज्ञान रहता है कि जीव परम पुरुष के अधीन है और इस तरह अधीन बने रहना उसके हित में है, बजाय इसके कि वह परमेश्वर की सम्पत्ति पर झूठी प्रभुता जताये। बद्ध अवस्था में यदि उसे सर्वस्व मिल जाए जो उसे कभी मिलनेवाला नहीं हैं, तो भी वह तुष्ट नहीं होता, अतएव वह सभी प्रकार की ठगी करने लगता है, यहाँ तक कि वह अपने निकटतम प्रिय सम्बन्धियों को भी ठगता है। ऐसी असंतोषजनक स्थिति में पिता तथा पुत्र या पति तथा पत्नी के बीच भी मेल नहीं रह पाता। लेकिन इन सभी विरोधी कठिनाइयों को एक विधि से दूर किया जा सकता है, और वह है भगवान् की भक्तिमय सेवा। पाखण्डमय संसार को भगवान् की भक्तिमय सेवा की प्रतिक्रिया द्वारा ही रोका जा सकता है, अन्य किसी विधि से नहीं। जब महाराज युधिष्ठिर ने इस प्रकार की विषमता देखी, तो उन्होंने अनुमान लगा लिया कि इस धरती से भगवान् का तिरोभाव हो चुका है।

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् ।

लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वावाचानुजं नृपः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

निमित्तानि—कारण; अति—गम्भीर; अरिष्टानि—अशुभ लक्षण, अपशकुन; काले—कालक्रम में; तु—लेकिन; अनुगते—चला जाना; नृणाम्—मानव जाति का; लोभ-आदि—यथा लालच; अधर्म—अधर्म; प्रकृतिम्—आदतें; दृष्ट्वा—देख कर; उवाच—कहा; अनुजम्—छोटे भाई से; नृपः—राजा ने।

कालक्रम में ऐसा हुआ कि लोग लोभ, क्रोध, गर्व इत्यादि के अभ्यस्त हो गये। महाराज युधिष्ठिर ने इन सब अपशकुनों को देखकर अपने छोटे भाई से कहा।

तात्पर्य : जब समाज में लोभ, क्रोध, अधर्म तथा दम्भ जैसे अमानवीय लक्षणों का प्राधान्य हो उठा, तो महाराज युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा राजा अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि पतित समाज के ये सारे लक्षण उस काल के लोगों को अज्ञात थे और कलियुग के आगमन के साथ इनका अनुभव किया जाना उनके लिए आश्चर्यजनक था।

युधिष्ठिर उवाच

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया ।

ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; सम्प्रेषितः—गया हुआ है; द्वारकायाम्—द्वारका; जिष्णुः—अर्जुन; बन्धु—मित्रों से; दिदक्षया—मिलने के लिए; ज्ञातुम्—जानने के लिए; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—भगवान् का; कृष्णस्य—श्रीकृष्ण का; च—तथा; विचेष्टितम्—कार्यक्रम।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने छोटे भाई भीमसेन से कहा : मैंने अर्जुन को द्वारका भेजा था कि वह अपने मित्रों से भेंट कर आये और भगवान् श्रीकृष्ण से उनका कार्यक्रम जानता आये।

गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः ।

नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

गताः—बीत चुके; सप्त—सात; अधुना—इस समय तक; मासाः—महीने; भीमसेन—हे भीमसेन; तव—तुम्हारा; अनुजः—छोटा भाई; न—नहीं; आयाति—आता है; कस्य—किसलिए; वा—अथवा; हेतोः—कारण; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; इदम्—यह; अञ्जसा—वास्तव में।

जब से वह गया है, तब से सात मास बीत चुके हैं, फिर भी वह लौटा नहीं। मुझे ठीक से पता नहीं है कि वहाँ क्या हो रहा है।

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः ।

यदात्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्तिसृक्षति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; देव-ऋषिणा—देवर्षि (नारद) द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया गया; सः—वह; कालः—शाश्वत समय; अयम्—यह; उपस्थितः—आ चुका है; यदा—जब; आत्मनः—अपने आप; अङ्गम्—अंश; आक्रीडम्—प्राकट्य; भगवान्—भगवान्; उत्तिसृक्षति—छोड़ने जा रहे हैं।

क्या वे अपनी मर्त्यलोक की लीलाओं को छोड़ने जा रहे हैं, जैसा देवर्षि नारद ने इंगित किया था? क्या वह समय आ भी चुका है?

तात्पर्य : जैसा हम कई बार बतला चुके हैं, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के कई पूर्ण अंश हैं और इनमें से यद्यपि सभी समान रूप से शक्तिमान हैं, किन्तु वे भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् के कई तरह के कथन हैं और इनमें से प्रत्येक कथन विभिन्न अंशों या अंशांशों के लिए है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

“हे भारत, जब जब भी और जहाँ जहाँ भी, धर्म का पतन तथा अधर्म का प्राधान्य होने लगता है, तब-तब मैं अवतरित होता हूँ।” (*भगवद्गीता* ४.७)

“भक्तजनों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म के सिद्धान्तों की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ।” (*भगवद्गीता* ४.८)

“यदि मैं कर्म न करूँ, तो सारे लोग कुपथगामी हो जाँय। तब मैं अवांछित जन-समुदाय (वर्णसंकर) को उत्पन्न करने का कारण बनूँगा और इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशकर्ता बनूँगा।” (*भगवद्गीता* ३.२४)

“महापुरुष जो-जो आचरण करता है, सामान्य लोग उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो भी आदर्श प्रस्तुत करता है, संपूर्ण विश्व उसी का अनुगमन करता है।” (*भगवद्गीता* ३.२१)

उपर्युक्त सारे कथन भगवान् के विभिन्न अंशों पर लागू होते हैं—यथा संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा नारायण—इन सब दिव्य अंशों में वे स्वयं ही हैं। फिर भी श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् अपने विभिन्न कोटि के भक्तों से विभिन्न प्रकार की दिव्यानुभूति का आदान-प्रदान करते हैं। तो भी भगवान् कृष्ण अपने मूल रूप में, ब्रह्मा के प्रत्येक चौबीस घण्टों में (या ८,६४,००,००,००० सौर वर्षों के बाद) प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक बार प्रकट होते हैं और उनकी सारी दिव्य लीलाएँ प्रत्येक ब्रह्माण्ड में क्रमशः दिखलाई पड़ती हैं। किन्तु निपट अनजान व्यक्ति के लिए, भगवान् कृष्ण, भगवान् वासुदेव आदि के कार्य जटिल समस्याएँ बने रहते हैं। स्वयं भगवान् तथा भगवान् के दिव्य शरीर में कोई भी अन्तर नहीं है। विभिन्न अंश तरह-तरह के कार्य सम्पन्न करते हैं। किन्तु जब भगवान्, सशरीर श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं, तब उनके अन्य अंश भी उनकी अचिन्त्य शक्ति *योगमाया* से उनके साथ हो लेते हैं। इस प्रकार वृन्दावन के भगवान् कृष्ण मथुरा या द्वारका के कृष्ण से भिन्न हैं। इसी तरह कृष्ण का *विराट* रूप भी उनकी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनसे भिन्न है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में प्रदर्शित विराट रूप उनके रूप की भौतिक अवधारणा है। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि जब बहेलिया के तीर-कमान से भगवान् कृष्ण बाह्य दृष्टि से मारे गये, तब भगवान् अपना तथाकथित भौतिक शरीर इसी संसार में छोड़ते गये। भगवान् तो कैवल्य हैं और उनके लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है,

क्योंकि उन्हीं से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हुई है। अतएव उनके द्वारा एक शरीर को त्यागना या दूसरा शरीर ग्रहण करने का अर्थ यह नहीं है कि वे सामान्य जीव जैसे हैं। ऐसे सारे कार्यकलाप उनकी अचिन्त्य शक्ति के कारण एक ही साथ एक तथा भिन्न-भिन्न हैं। जब महाराज युधिष्ठिर उनके अन्तर्धान होने की सम्भावना से शोकाकुल थे, तो यह अपने घनिष्ठ मित्र के अन्तर्धान होने पर शोक करने की प्रथा स्वरूप था, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि भगवान् कभी भी अपना दिव्य शरीर नहीं त्यागते, जैसाकि अल्पज्ञानी लोग भ्रमवश सोचते हैं। *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने ऐसे अल्पज्ञों की भर्त्सना की है और उन्हें मूढ़ कहा गया है। भगवान् के शरीर-त्याग का अर्थ यह हुआ कि उन्होंने पुनः अपने अंशों को अपने-अपने दिव्य धामों में छोड़ दिया, जिस तरह इस संसार में उन्होंने अपना *विराट्* रूप छोड़ा था।

यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः ।

आसन्सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; नः—हमारा; सम्पदः—ऐश्वर्य; राज्यम्—राज्य; दाराः—पत्नियाँ; प्राणाः—जीवनाधार; कुलम्—वंश; प्रजाः—प्रजागण; आसन्—सम्भव हुए; सपत्न—प्रतियोगी; विजयः—जीतकर; लोकाः—उच्च लोकों में भावी निवास; च—तथा; यत्—जिसके; अनुग्रहात्—अनुग्रह से।

केवल उन्हीं से हमारा सारा राजसी ऐश्वर्य, अच्छी पत्नियाँ, जीवन, सन्तान, प्रजा के ऊपर नियंत्रण, शत्रुओं पर विजय तथा उच्चलोकों में भावी निवास, सभी कुछ सम्भव हो सका। यह सब हम पर उनकी अहैतुकी कृपा के कारण है।

तात्पर्य : भौतिक सम्पन्नता में अच्छी पत्नी, अच्छा घर, पर्याप्त भूमि, अच्छी सन्तानें, राजसी पारिवारिक सम्बन्ध, प्रतियोगियों पर विजय तथा पुण्य कर्म के द्वारा भौतिक सुविधाओं की बेहतर व्यवस्था के लिए उच्चतर दैवी लोकों में निवासस्थान की प्राप्ति सम्मिलित हैं। ये सुविधाएँ न केवल खुद के कठोर श्रम से या अनुचित साधनों से प्राप्त की जाती हैं, अपितु भगवान् की कृपा से प्राप्त होती हैं। किसी के निजी उद्यम से अर्जित सम्पन्नता भी भगवान् की कृपा पर ही निर्भर करती है। भगवान् के आशीर्वाद के साथ-साथ निजी श्रम तो होना ही चाहिए, किन्तु भगवान् के आशीर्वाद के बिना केवल श्रम से ही किसी को सफलता नहीं मिलती। कलियुग का आधुनिकता-प्रिय व्यक्ति निजी उद्यम में

विश्वास करता है और परमेश्वर के आशीर्वाद को नकारता है। यहाँ तक कि भारत के एक महान् संन्यासी ने शिकागो में दिये गये अपने भाषण में परमेश्वर के आशीर्वादों का विरोध किया। लेकिन जहाँ तक वैदिक शास्त्रों का सम्बन्ध है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* के पृष्ठों में देखने में आता है, सभी प्रकार की सफलता का अन्तिम अधिकार परमेश्वर के हाथों में रहता है। महाराज युधिष्ठिर अपनी निजी सफलता के प्रसंग में इस सत्य को स्वीकार करते हैं। अतएव मनुष्य के लिए करने योग्य यही होगा कि वह महान् राजा एवं भगवान् के भक्त के पदचिह्नों का अनुसरण करे, जिससे उसका जीवन पूर्णतया सफल बने। यदि भगवान् की मर्जी के बिना कोई सफलता प्राप्त कर सकता था, तो कोई भी चिकित्सक (वैद्य) अपने रोगी को चंगा करने में असफल न होता। आधुनिकतम चिकित्सक के द्वारा रोगी की उन्नत चिकित्सा होने पर भी उसकी मृत्यु होती है, किन्तु कभी-कभी अत्यन्त आशाहीन रोगी बिना किसी उपचार के आश्चर्यजनक रूप में चंगा हो जाता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि सारी घटनाएँ, चाहे अच्छी हों या बुरी, भगवान् की मर्जी के कारण ही घटती हैं। किसी भी सफल व्यक्ति को अपनी सफलता के लिए भगवान् के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करना चाहिए।

पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् ।

दारुणान् शंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पश्य—जरा देखो तो; उत्पातान्—उत्पातों को; नर-व्याघ्र—हे बाघ-सदृश बलवाले मनुष्य; दिव्यान्—आकाश की या ग्रहों के प्रभाव से घटनेवाली; भौमान्—पृथ्वी पर की घटनाएँ; स-दैहिकान्—शरीर तथा मन की घटनाएँ; दारुणान्—अत्यन्त खतरनाक; शंसतः—सूचित करनेवाली; अदूरात्—निकट के भविष्य में; भयम्—भय, खतरा; नः—हमारी; बुद्धि—बुद्धि को; मोहनम्—मोहग्रस्त करनेवाला।

हे पुरुषव्याघ्र, जरा देखो तो कि दैवी प्रभावों, पृथ्वी की प्रतिक्रियाओं तथा शारीरिक वेदनाओं के कारण उत्पन्न होने वाली कितनी खतरनाक आपदाएँ हमारी बुद्धि को मोहित करके निकट के भविष्य में आने वाले खतरे की सूचना दे रही हैं।

तात्पर्य : सभ्यता की भौतिक उन्नति का अर्थ है तीन प्रकार की आपदाओं की प्रगति, जो दैवी प्रभावों के कारण, पृथ्वी की प्रतिक्रियाओं के कारण एवं शरीर या मन की वेदनाओं के कारण हैं। नक्षत्रों के दैविक प्रभाव से अनेक विपत्तियाँ आती हैं—जैसे अत्यधिक गर्मी, सर्दी, वर्षा या सूखा तथा

इनके बाद के प्रभाव से दुर्भिक्ष, रोग तथा महामारी आती हैं। इन सबका सम्मिलित फल होता है, शारीरिक तथा मानसिक क्लेश। मानवकृत भौतिक विज्ञान इन तीन प्रकार की आपदाओं का प्रतिकार करने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। ये सब परमेश्वर की अध्यक्षता में उच्चतर शक्ति माया द्वारा, दिया जाने वाला दण्ड हैं। अतएव भक्तिमय सेवा द्वारा भगवान् के साथ हमारा निरन्तर सम्पर्क हमें राहत प्रदान कर सकता है और हम विचलित हुए बिना हमारे मनुष्योचित कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं। फिर भी असुर जन जो ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, वे इन तीनों प्रकार की आपदाओं का सामना करने के लिए अपनी खुद की योजनाएँ बनाते हैं, अतएव वे हर बार विफल होते हैं। भगवद्गीता (७.१४) में स्पष्ट कहा गया है कि तीनों भौतिक गुणों के बाह्यकारी प्रभावों के कारण भौतिक शक्ति की प्रतिक्रिया को कभी जीता नहीं जा सकता है। इन्हें वे ही जीत सकते हैं, जिन्होंने भक्ति-भाव से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है।

ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः ।

वेपथुश्चापि हृदये आरादास्यन्ति विप्रियम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऊरु—जाँघें; अक्षि—आँखें; बाहवः—भुजाएँ; मह्यम्—मेरे; स्फुरन्ति—फड़कते हैं; अङ्ग—शरीर का बाँया भाग; पुनः पुनः—बारम्बार; वेपथुः—धड़कनें; च—भी; अपि—निश्चय ही; हृदये—हृदय में; आरात्—डर के मारे; दास्यन्ति—सूचित कर रहे हैं; विप्रियम्—अशुभ, अनिष्ट।

मेरे शरीर का बाँयाँ भाग, मेरी जाँघें, भुजाएँ तथा आँखें बारम्बार फड़क रही हैं। भय से मेरा हृदय धड़क रहा है। ये सब अनिष्ट घटना को सूचित करने वाले हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक अस्तित्व अनिष्टों से भरा हुआ है। जिन वस्तुओं को हम नहीं चाहते, वे ही किसी उच्चतर शक्ति द्वारा हम पर लाद दी जाती हैं और हम यह नहीं देख पाते कि ये अनिष्ट प्रकृति के तीनों गुणों के नियंत्रण में हैं। जब किसी मनुष्य की जाँघें, भुजाएँ तथा आँखें लगातार फड़कें, तो यह समझ लेना चाहिए कि कुछ अनिष्ट होनेवाला है। इन सब अनिष्टों की तुलना दावग्न से की जाती है। जंगल में कोई आग लगाने नहीं जाता, फिर भी यह आग स्वतः लग जाती है, जिससे जंगल के जीवों को अकल्पनीय विपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं। ऐसी आग को किसी भी मानवीय प्रयास से नहीं बुझाया जा सकता। यह अग्नि केवल भगवान् की कृपा से ही बुझ सकती है, जो अग्नि का शमन करने के लिए

बादलों को भेजते हैं। इसी प्रकार कितनी भी योजनाएँ क्यों न बनाई जाँय, जीवन की अप्रिय घटनाओं को रोका नहीं जा सकता। ऐसी विपत्तियाँ केवल भगवत्कृपा से ही दूर की जा सकती हैं, जिसके निमित्त भगवान् अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को भेजकर मनुष्य को प्रबुद्ध करते हैं और विपत्तियों से बचाते हैं।

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।

मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरेभत्यभीरुवत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

शिवा—सियारिन; एषा—यह; उद्यन्तम्—उगता; आदित्यम्—सूर्य को; अभि—की ओर; रौति—रोती हुई; अनल—अग्नि; आनना—मुँह; माम्—मुझको; अङ्ग—हे भीम; सारमेयः—कुत्ता; अयम्—यह; अभिरेभति—भूकता है; अभीरु-वत्—भयरहित।

हे भीम, जरा देखो तो यह सियारिन किस तरह उगते हुए सूर्य को देखकर रो रही है और अग्नि उगल रही है और यह कुत्ता किस तरह निर्भय होकर, मुझ पर भूक रहा है।

तात्पर्य : ये कतिपय अपशकुन हैं, जो निकट के भविष्य में अनिष्ट का संकेत देनेवाले हैं।

शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे ।

वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

शस्ताः—गाय जैसे उपयोगी पशु; कुर्वन्ति—रखते हैं; माम्—मुझको; सव्यम्—बाई ओर; दक्षिणम्—प्रदक्षिणा करते हुए; पशवः अपरे—अन्य पशु, यथा गधे; वाहान्—घोड़े (वाहक); च—भी; पुरुष-व्याघ्र—हे पुरुषों में बाघ; लक्षये—मैं देख रहा हूँ; रुदतः—रोते हुए; मम—मेरे।

हे भीमसेन, हे पुरुष-व्याघ्र, अब गाय जैसे उपयोगी पशु मेरी बाई ओर से निकले जा रहे हैं और गधे जैसे निम्न पशु, मेरी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। मेरे घोड़े मुझे देखकर रोते प्रतीत होते हैं।

मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन् मनः ।

प्रत्युलूकश्च कुह्वनैर्विश्वं वै शून्यमिच्छतः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मृत्यु—मृत्यु का; दूतः—दूत; कपोतः—कबूतर; अयम्—यह; उल्लूकः—उल्लू; कम्पयन्—काँपाती हुई; मनः—मन;
प्रत्युल्लूकः—उल्लूओं के प्रतियोगी, कौवे; च—तथा; कुहानैः—चीख; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; वै—अथवा; शून्यम्—शून्य;
इच्छतः—चाहते हैं।

जरा देखो तो! यह कबूतर मानो मृत्यु का दूत हो। उल्लूओं तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी कौवों की चीख मेरे हृदय को दहला रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शून्य बना देना चाहते हैं।

धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः ।

निर्घातश्च महांस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धूम्राः—धुँधली; दिशः—सभी दिशाएँ; परिधयः—मंडल; कम्पते—काँपती हुई; भूः—पृथ्वी; सह अद्रिभिः—पर्वतों समेत;
निर्घातः—आकाश से वज्रपात; च—भी; महान्—विशाल; तात—हे भीम; साकम्—सहित; च—भी; स्तनयित्नुभिः—बिना बादल के गर्जन।

जरा देखो तो, किस तरह धुँआ आकाश को घेरे हुए है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो पृथ्वी तथा पर्वत काँप रहे हों। बिना बादलों की यह गर्जन तो जरा सुनो और आकाश से गिरते ब्रजपात को तो देखो!

वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः ।

असृग् वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वायुः—वायु; वाति—बह रही है; खर-स्पर्शः—तेजी से; रजसा—धूल से; विसृजन्—उत्पन्न करते; तमः—अँधेरा; असृक्—रक्त; वर्षन्ति—बरसा रहे हैं; जलदाः—बादल; बीभत्सम्—भयानक; इव—सदृश; सर्वतः—सर्वत्र।

वायु तेजी से बह रही है और वह सर्वत्र धूल बिखरा कर अँधेरा उत्पन्न कर रही है। बादल सर्वत्र रक्तिम आपदाओं की वर्षा कर रहे हैं।

सूर्य हतप्रभं पश्य ग्रहमर्द मिथो दिवि ।

ससङ्कुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सूर्यम्—सूर्य को; हत-प्रभम्—क्षीण पड़ती किरणों वाले; पश्य—जरा देखो; ग्रह-मर्दम्—तारों की भिड़न्त; मिथः—परस्पर; दिवि—आकाश में; स-सङ्कुलैः—एक दूसरे से मिलकर; भूत-गणैः—जीवों द्वारा; ज्वलिते—जलाया जाकर; इव—मानो; रोदसी—रो रहा हो।

सूर्य की किरणों मन्द पड़ रही हैं और तारे परस्पर भिड़ रहे प्रतीत हो रहे हैं। भ्रमित जीव जलते हुए तथा रोते प्रतीत हो रहे हैं।

नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च ।

न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नद्यः—नदियाँ; नदाः च—तथा सहायक नदियाँ; क्षुभिताः—सभी विक्षुब्ध; सरांसि—जलाशय; च—तथा; मनांसि—मन; च—भी; न—नहीं; ज्वलति—जलती है; अग्निः—अग्नि; आज्येन—घी की सहायता से; कालः—काल, समय; अयम्—यह कितना असामान्य है; किम्—क्या; विधास्यति—होनेवाला है।

नदियाँ, नाले, तालाब, जलाशय तथा मन सभी विक्षुब्ध हैं। घी से अग्नि नहीं जल रही है, यह कैसा असामान्य समय है? आखिर क्या होने वाला है?

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः ।

रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पिबन्ति—पीते हैं; स्तनम्—थन को; वत्साः—बछड़े; न—नहीं; दुह्यन्ति—दुहने देती हैं; च—भी; मातरः—गाएँ; रुदन्ति—रोती हैं; अश्रु-मुखाः—आँसुओं से युक्त मुँह; गावः—गाएँ; न—नहीं; हृष्यन्ति—प्रसन्न होते हैं; ऋषभाः—बैल; व्रजे—चरागाह में।

बछड़े न तो गौवों के थनों में मुँह लगा रहे हैं, न गौवें दूध देती हैं। वे आँखों में आँसू भरे खड़ी-खड़ी रम्भा रही हैं और बैलों को चरागाहों में कोई प्रसन्नता नहीं हो रही है।

दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च ।

इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।

भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दैवतानि—मन्दिरों के अर्चाविग्रह; रुदन्ति—रोते प्रतीत हो रहे हैं; इव—सदृश; स्विद्यन्ति—पसीज रहे हैं; हि—निश्चय ही; उच्चलन्ति—मानो बाहर जा रहे हों; च—भी; इमे—ये; जन-पदाः—शहर, नगर; ग्रामाः—गाँव; पुर—कस्बे; उद्यान—बगीचे;

आकर—खानें; आश्रमाः—कुटिया.; भ्रष्ट—रहित; श्रियः—सौन्दर्य से; निरानन्दाः—समस्त आनन्द से विहीन; किम्—किस तरह की; अघम्—आपत्तियाँ; दर्शयन्ति—प्रकट होने वाली हैं; नः—हम पर।

मन्दिर में अर्चाविग्रह रोते, शोक करते तथा पसीजते प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे प्रयाण करनेवाले हैं। सारे नगर, ग्राम, कस्बे, बगीचे, खानें तथा आश्रम अब सौन्दर्यविहीन तथा समस्त आनन्द से रहित हैं। मैं नहीं जानता कि हम पर किस तरह की विपत्तियाँ आनेवाली हैं।

मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः ।

अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्हतसौभगा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं मान लेता हूँ; एतैः—इन सबसे; महा—महान्; उत्पातैः—उत्पातों से; नूनम्—के अभाव में; भगवतः—भगवान् का; पदैः—पाँव के तलवे में चिह्न; अनन्य—असामान्य; पुरुष—परम पुरुष का; श्रीभिः—शुभ चिह्नों से; हीना—विहीन; भूः—पृथ्वी; हत-सौभगा—सौभाग्य से रहित।

मैं सोचता हूँ कि पृथ्वी पर की ये सारी उथल-पुथल विश्व के सौभाग्य की किसी बहुत बड़ी हानि को सूचित करनेवाले हैं। संसार भाग्यशाली था कि उस पर भगवान् के चरणकमलों के पदचिह्न अंकित हुए। किन्तु ये लक्षण यह सूचित कर रहे हैं कि अब आगे ऐसा नहीं रह पाएगा।

इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा ।

राज्ञः प्रत्यागमद् ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह; चिन्तयतः—अपने आप सोचते हुए; तस्य—उनका; दृष्टा—देखकर; अरिष्टेन—अपशकुन से; चेतसा—मन से; राज्ञः—राजा को; प्रति—वापस; आगमत्—आया; ब्रह्मन्—हे ब्रह्माण; यदु-पुर्याः—यदुओं के राज्य से; कपि-ध्वजः—अर्जुन।

हे ब्राह्मण शौनक, जब महाराज युधिष्ठिर उस समय पृथ्वी पर इन अशुभ लक्षणों को देख रहे थे और अपने मन में इस प्रकार सोच रहे थे, तभी अर्जुन यदुओं की पुरी (द्वारका) से वापस आ गये।

तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् ।

अधोवदनमब्बिन्दून् सृजन्तं नयनाब्जयोः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (अर्जुन को); पादयोः—पाँवों पर; निपतितम्—गिर कर; अयथा-पूर्वम्—अपूर्व रीति से; आतुरम्—खिन्न; अधः-वदनम्—मुख नीचा किये; अप्-बिन्दून्—जल के बिन्दु; सृजन्तम्—उत्पन्न करते हुए; नयन-अब्जयोः—कमल-जैसे नेत्रों से।

जब उसने राजा के चरणों पर नमन किया, तो राजा ने देखा कि उनकी निराशा अभूतपूर्व थी। उनका सिर नीचे झुका था और उनके कमल-नेत्रों से आँसू झर रहे थे।

विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः ।

पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; उद्विग्न—चिन्तित; हृदयः—हृदय; विच्छायम्—पीला चेहरा; अनुजम्—अर्जुन को; नृपः—राजा ने; पृच्छति स्म—पूछा; सुहृत्—मित्रों के; मध्ये—मध्य में; संस्मरन्—स्मरण करते हुए; नारद—नारदमुनि द्वारा; ईरितम्—सूचित।

हृदय की उद्विग्नताओं के कारण अर्जुन को पीला हुआ देखकर, राजा ने नारदमुनि द्वारा बताये गये संकेतों का स्मरण करते हुए, मित्रों के मध्य में ही उनसे पूछा।

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिदानर्तपुर्या नः स्वजनाः सुखमासते ।

मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर ने कहा; कच्चित्—क्या; आनर्त-पुर्याम्—द्वारका में; नः—हमारे; स्व-जनाः—सम्बन्धी; सुखम्—सुखपूर्वक; आसते—दिन बिता रहे हैं; मधु—मधु; भोज—भोज; दशार्ह—दशार्ह; आर्ह—आर्ह; सात्वत—सात्वत; अन्धक—अन्धक; वृष्णयः—वृष्णि परिवार के।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : मेरे भाई, मुझे बताओ कि हमारे मित्र तथा सम्बन्धी, यथा मधु, भोज, दशार्ह, आर्ह, सात्वत, अन्धक तथा यदुवंश के सारे सदस्य, अपने दिन सुख से बिता रहे हैं न?

शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः ।

मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शूरः—शूरसेन; मातामहः—नाना; कच्चित्—क्या; स्वस्ति—सभी शुभ; आस्ते—अपने दिन बिता रहे हैं; वा—अथवा; अथ—अतएव; मारिषः—आदरणीय; मातुलः—मामा; स-अनुजः—अपने छोटे भाइयों सहित; कच्चित्—क्या; कुशली—सभी कुशल; आनक-दुन्दुभिः—वसुदेव।

मेरे आदरणीय नाना शूरसेन प्रसन्न तो हैं? तथा मेरे मामा वसुदेव तथा उनके छोटे भाई ठीक से तो हैं?

सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः ।

आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सप्त—सात; स्व-सारः—परस्पर बहनें; तत्-पत्न्यः—उनकी पत्नियाँ; मातुलान्यः—मौसियाँ; सह—के साथ; आत्म-जाः—पुत्र तथा पौत्र; आसते—सभी हैं; सस्नुषाः—अपनी बहुओं सहित; क्षेमम्—सुख; देवकी—देवकी; प्रमुखाः—अग्रणी; स्वयम्—स्वयं।

देवकी इत्यादि उनकी सातों पत्नियाँ परस्पर बहनें हैं। वे तथा उनके पुत्र एवं बहुएँ सब सुखी तो हैं?

कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः ।

हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥ २८ ॥

आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः ।

कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—क्या; राजा—राजा; आहुकः—उग्रसेन का अन्य नाम; जीवति—अब भी जीवित है; असत्—शैतान, दुष्ट; पुत्रः—पुत्र; अस्य—उनका; च—भी; अनुजः—छोटा भाई; हृदीकः—हृदीक; स-सुतः—अपने पुत्र कृतवर्मा समेत; अक्रूरः—अक्रूर; जयन्त—जयन्त; गद—गद; सारणाः—सारण; आसते—सब हैं; कुशलम्—आनन्द से; कच्चित्—क्या; ये—वे; च—भी; शत्रुजित्—शत्रुजित; आदयः—आदि; कच्चित्—क्या; आस्ते—वे हैं; सुखम्—अच्छी तरह; रामः—बलराम; भगवान्—भगवान्; सात्वताम्—भक्तों के; प्रभुः—रक्षक।

क्या उग्रसेन जिसका पुत्र दुष्ट कंस था तथा उनका छोटा भाई अब भी जीवित हैं? क्या हृदीक तथा उसका पुत्र कृतवर्मा कुशल से हैं? क्या अक्रूर, जयन्त, गद, सारण तथा शत्रुजित प्रसन्न हैं? भक्तों के रक्षक भगवान् बलराम कैसे हैं?

तात्पर्य : पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर आजकल की नई दिल्ली के निकट कहीं पर स्थित थी और उग्रसेन का राज्य मथुरा में था। द्वारका से दिल्ली लौटते हुए, अर्जुन अवश्य ही मथुरा नगरी गये

होंगे, अतएव मथुरा के राजा के विषय में पूछताछ योग्य है। सम्बन्धियों के विविध नामों में से भगवान् कृष्ण के बड़े भाई, राम या बलराम के साथ, भगवान् शब्द जुड़ा हुआ है, क्योंकि भगवान् बलराम विष्णु-तत्त्व के तुरन्त के विस्तार हैं और भगवान् कृष्ण के प्रकाश-विग्रह हैं। परमेश्वर यद्यपि अद्वितीय हैं, किन्तु वे अन्य तमाम जीवों के रूप में विस्तार करते हैं। विष्णु-तत्त्व, परमेश्वर के अंश (विस्तार) हैं और वे सब गुण तथा परिमाण की दृष्टि से भगवान् के तुल्य हैं। लेकिन जीवशक्ति के अंश सामान्य जीवों की श्रेणी में आते हैं और वे जरा भी भगवान् के तुल्य नहीं हैं। जो कोई जीवशक्ति तथा विष्णु-तत्त्व को समान स्तर पर मानता है, उसे संसार का अधम जीव समझा जाता है। श्रीराम या बलराम भगवद्भक्तों के रक्षक हैं। वे समस्त भक्तों के गुरु हैं और उनकी अहैतुकी कृपा से पतित आत्माओं का उद्धार होता है। भगवान् चैतन्य के आविर्भाव के समय, श्रीबलदेव श्रीनित्यानन्द प्रभु के रूप में प्रकट हुए थे, जिन्होंने जगाड़ तथा माधाड़ नामक दो अत्यन्त अधम जीवों का उद्धार अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा किया। अतएव यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि बलराम भगवद्भक्तों के रक्षक हैं। उनकी दैवी कृपा से ही कोई परमेश्वर कृष्ण तक पहुँच सकता है। अतएव श्रीबलराम भगवान् के कृपा-अवतार हैं, जो गुरु के रूप में, शुद्ध भक्तों के त्राता के रूप में, प्रकट होते हैं।

प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः ।

गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

प्रद्युम्नः—प्रद्युम्न (भगवान् कृष्ण के पुत्र); सर्व—सभी; वृष्णीनाम्—वृष्णि-परिवार के सदस्यों का; सुखम्—सुख; आस्ते—हैं; महा-रथः—महान् सेनापति; गम्भीर—गहराई से; रयः—दक्षता; अनिरुद्धः—अनिरुद्ध (कृष्ण का पौत्र); वर्धते—बढ़ता है; भगवान्—भगवान्; उत—अवश्य चाहिए।

वृष्णि-कुल के महान् सेनापति प्रद्युम्न कैसे हैं? वे प्रसन्न तो हैं? और भगवान् के पूर्ण अंश अनिरुद्ध ठीक से तो हैं?

तात्पर्य : प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी भगवान् के अंश हैं और इस तरह वे दोनों भी विष्णु-तत्त्व हैं। द्वारका में भगवान् वासुदेव, अपने पूर्णांशों—संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—सहित अपनी दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। अतएव इनमें से प्रत्येक को भगवान् कहा जा सकता है जैसाकि अनिरुद्ध नाम के साथ कहा जा चुका है।

सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।

अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

सुषेणः—सुषेण; चारुदेष्णः—चारुदेष्ण; च—तथा; साम्बः—साम्ब; जाम्बवती-सुतः—जाम्बवती का पुत्र; अन्ये—अन्य; च—भी; कार्ष्णि—भगवान् कृष्ण के पुत्र; प्रवराः—सेना-नायक; स-पुत्राः—अपने-अपने पुत्रों सहित; ऋषभ—ऋषभ; आदयः—इत्यादि।

कृष्ण के सभी सेना-नायक पुत्र यथा सुषेण, चारुदेष्ण, जाम्बवती-पुत्र साम्ब तथा ऋषभ अपने-अपने पुत्रों समेत ठीक से तो रह रहे हैं?

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा चुका है, भगवान् कृष्ण की १६,१०८ पत्नियाँ थीं और हर एक को दस-दस पुत्र थे। अतएव कुल मिलाकर $१६,१०८ \times १० = १,६१,०८०$ पुत्र थे। वे सब बड़े हुए तो उनके भी अपने-अपने पिता की तरह दस-दस पुत्र हुए, जिससे भगवान् के परिवार में १६,१०,८०० सदस्य थे। भगवान् असंख्य जीवों के पिता हैं, अतएव उनमें कुछ ही इस पृथ्वी पर भगवान् की द्वारका की दिव्य लीलाओं में उनके संगी रूप में बुलाए गये थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि भगवान् के परिवार में इतने सारे लोग थे। अच्छा तो यह होगा कि भगवान् की तुलना अपने साथ करने से बचा जाय और ज्योंही हम भगवान् के दिव्य पद के थोड़े से अंश को ही समझ लेते हैं, त्योंही यह बात एक सच्चाई बन जाती है। राजा युधिष्ठिर ने द्वारका-स्थित भगवान् के पुत्रों तथा पौत्रों का कुशल समाचार पूछते समय उनमें से केवल सेनानायकों के ही नाम लिये हैं, क्योंकि कृष्ण के परिवार भर के सदस्यों के नाम स्मरण रख पाना राजा के लिए सम्भव न था।

तथैवानुचराः शौरैः श्रुतदेवोद्धवादयः ।

सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥ ३२ ॥

अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः ।

अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तथा एव—इसी प्रकार; अनुचराः—नित्य-संगी; शौरैः—भगवान् श्रीकृष्ण के, यथा; श्रुतदेव—श्रुतदेव; उद्धव-आदयः—उद्धव तथा अन्य; सुनन्द—सुनन्द; नन्द—नन्द; शीर्षण्याः—अन्य नायक; ये—वे सब; च—तथा; अन्ये—अन्य; सात्वत—मुक्त जीव; ऋषभाः—श्रेष्ठ पुरुष; अपि—यदि; स्वस्ति—कुशल से; आसते—हैं; सर्वे—वे सब; राम—बलराम; कृष्ण—भगवान् कृष्ण;

भुज-आश्रयाः—के संरक्षण में; अपि—यदि भी; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; कुशलम्—कुशलता; अस्माकम्—हमारे; बद्ध-सौहृदाः—शाश्वत मैत्री से बँधे हुए।

इसके अतिरिक्त, श्रुतदेव, उद्धव तथा अन्य, नन्द, सुनन्द तथा अन्य मुक्तात्माओं के नायक, जो भगवान् के नित्यसंगी हैं, भगवान् बलराम तथा कृष्ण द्वारा सुरक्षित तो हैं? वे सब अपना-अपना कार्य ठीक से चला रहे हैं न? वे जो हमसे नित्य मैत्री-पाश में बँधे हैं, हमारी कुशलता के बारे में पूछते तो हैं?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण के नित्यसंगी, यथा उद्धव, सबके सब मुक्तात्माएँ हैं और वे भगवान् के ही कार्य को परिपूर्ण करने के लिए इस धरा पर अवतरित हुए थे। पाण्डव-जन भी मुक्तात्माएँ हैं, जो भगवान् के साथ इस पृथ्वी पर उनकी दिव्य लीलाओं में सेवा करने के लिए अवतरित हुए। जैसा कि *भगवद्गीता* (४.८) में कहा गया है, भगवान् तथा भगवान् की ही तरह मुक्तात्माएँ, उनके नित्यसंगी, कुछ-कुछ अन्तरालों के बाद इस पृथ्वी पर आते रहते हैं। भगवान् उन सबों को स्मरण रखते हैं, लेकिन उनके संगी, मुक्तात्माएँ होते हुए भी, *तटस्था* शक्ति होने के कारण भूल जाते हैं। *विष्णु तत्त्व* तथा *जीव तत्त्व* में यही अन्तर होता है। जीव-तत्त्व भगवान् के अत्यन्त सूक्ष्म शक्तिमान कण हैं, अतएव उन्हें सदैव भगवान् की सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है और भगवान् अपने सेवकों को सर्वदा समस्त सुरक्षा प्रदान करने में प्रसन्न रहते हैं। अतएव मुक्तात्माएँ कभी भी अपने को भगवान् के समान मुक्त या भगवान् के समान शक्तिमान नहीं मानतीं, अपितु सभी परिस्थितियों में, चाहे भौतिक जगत में हों या आध्यात्मिक जगत में, भगवान् की सुरक्षा की कामना करती हैं। मुक्तात्मा की यह पराश्रयता स्वाभाविक है, क्योंकि मुक्तात्माएँ अग्नि के स्फुलिंगों की भाँति हैं, जो अग्नि की उपस्थिति में ही अपनी चमक दिखा सकती हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। स्वतंत्र रूप से, स्फुलिंग की चमक बुझ जाती है, भले ही उसमें अग्नि के गुण तथा चमक रहती है। अतएव जो भगवान् की सुरक्षा त्यागकर, आध्यात्मिक अज्ञान के कारण स्वयं प्रभु बन जाते हैं, वे पुनः इस भौतिक जगत में आते हैं, भले ही वे कठोर से कठोर तपस्या क्यों न करें। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का यही मत है।

भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः ।

कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् कृष्ण; अपि—भी; गोविन्दः—जो गायों तथा इन्द्रियों को अनुप्राणित करते हैं; ब्रह्मण्यः—भक्तों या ब्राह्मणों को समर्पित; भक्त-वत्सलः—भक्तों के प्रति स्नेहपूर्ण; कच्चित्—क्या; पुरे—द्वारकापुरी में; सुधर्मायाम्—पवित्र सभा में; सुखम्—सुख; आस्ते—भोग करते हैं; सुहृत्-वृत्तः—मित्रों से घिरे हुए।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, जो गायों, इन्द्रियों तथा ब्राह्मणों को आनन्द प्रदान करने वाले हैं और अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल हैं, अपने मित्रों से घिर कर, द्वारकापुरी में पवित्र सभा का भोग तो कर रहे हैं?

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक में भगवान् का वर्णन गोविन्द, ब्रह्मण्य तथा भक्तवत्सल शब्दों से किया गया है। वे भगवान् स्वयं अर्थात् आदि भगवान् हैं और वे समस्त ऐश्वर्य, समस्त शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त सौन्दर्य, समस्त यश तथा समस्त त्याग से परिपूर्ण हैं। कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वे गोविन्द हैं, क्योंकि वे गौवों तथा इन्द्रियों के आनन्द हैं। जिन्होंने भगवान् की भक्तिमय सेवा द्वारा अपनी इन्द्रियों को शुद्ध कर लिया है, वे ही उनकी वास्तविक सेवा कर सकते हैं और ऐसी शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। केवल अशुद्ध बद्धजीव ही, इन्द्रियों से कोई आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु इन्द्रियों के मिथ्या आनन्द से मोहग्रस्त हो करके इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। अतएव अपने हित के लिए हमें भगवान् के संरक्षण की आवश्यकता है। भगवान् गायों के तथा ब्राह्मण-संस्कृति के रक्षक हैं। जो समाज गो-संरक्षण तथा ब्राह्मण-संस्कृति से विहीन है, वह भगवान् के प्रत्यक्ष संरक्षण में नहीं होता, जिस तरह कि कारागार के बन्दी राजा के संरक्षण में न रहकर, राजा के किसी कठोर प्रतिनिधि के संरक्षण में रहते हैं। गो-संरक्षण तथा मानव समाज में, कम से कम समाज के कुछ सदस्यों में, ब्राह्मण गुणों के अनुशीलन के बिना कोई भी मानव सभ्यता उन्नति नहीं कर सकती। ब्राह्मण संस्कृति से ही ब्राह्मण बना जा सकता है और भगवान् के यथारूप में दर्शन किये जा सकते हैं। ब्राह्मण संस्कृति सुप्त सत्त्वगुणों का विकास है, जिसमें सत्यनिष्ठा, समता, इन्द्रिय निग्रह, सहिष्णुता, सरलता, सामान्य ज्ञान, दिव्य ज्ञान तथा वैदिक वाङ्मय में अटूट श्रद्धा सम्मिलित हैं। ब्राह्मणत्व की पूर्णता पा लेने के बाद, मनुष्य को भगवद्भक्त बनना होता है, जिससे मालिक, स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी के रूप में उनके स्नेह को दिव्य रूप से प्राप्त किया जा सके। भक्त की अवस्था, जो भगवान् के दिव्य प्रेम को आकर्षित करती है, उसका तब तक विकास नहीं होता, जब तक मनुष्य उपरोक्त ब्राह्मणत्व के गुणों का विकास नहीं करता। भगवान् ब्राह्मण के गुणों की ओर आकृष्ट होते हैं,

उसकी झूठी प्रतिष्ठा की ओर नहीं। जो लोग योग्यता में ब्राह्मण से कम होते हैं, वे भगवान् से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते हैं, जैसे कि काष्ठ के बिना कच्ची मिट्टी में आग नहीं जलाई जा सकती, यद्यपि काष्ठ तथा मिट्टी में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनकी कुशलता का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने यह प्रश्न नहीं पूछा। उन्होंने केवल उनके आवास स्थान 'द्वारकापुरी' के सम्बन्ध में ही पूछा, जहाँ पुण्यात्मा एकत्र होते हैं। भगवान् वहीं रहते हैं, जहाँ पुण्यात्माएँ एकत्र होती हैं और परम सत्य के गुणगान में आनन्द लेते हैं। महाराज युधिष्ठिर द्वारका के पवित्र व्यक्तियों तथा उनके पुण्य कर्मों के विषय में जानने के लिए उत्सुक थे।

मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च ।

आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ॥ ३५ ॥

यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः ।

क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मङ्गलाय—कल्याण के लिए; च—भी; लोकानाम्—समस्त लोकों के; क्षेमाय—सुरक्षा के लिए; च—तथा; भवाय—उन्नति के लिए; च—भी; आस्ते—हैं; यदु-कुल-अम्भोधौ—यदुवंश रूपी सागर में; आद्यः—आदि; अनन्त-सखः—अनन्त (बलराम) के साथ; पुमान्—परम भोक्ता; यत्—जिसको; बाहु-दण्ड-गुप्तायाम्—उनके बाहुओं से सुरक्षित होकर; स्व-पुर्याम्—अपनी नगरी में; यदवः—यदुवंश के सदस्य; अर्चिताः—योग्यता के अनुसार; क्रीडन्ति—आनन्द ले रहे हैं; परम-आनन्दम्—दिव्य आनन्द; महा-पौरुषिकाः—वैकुण्ठ के वासी; इव—सदृश।

परम भोक्ता आदि भगवान् तथा जो मूल भगवान् अनन्त हैं, बलराम यदुवंश रूपी सागर में समस्त ब्रह्माण्ड के कल्याण, सुरक्षा तथा उन्नति के लिए निवास कर रहे हैं। और सारे यदुवंशी भगवान् की भुजाओं द्वारा सुरक्षित रहकर, वैकुण्ठवासियों की भाँति जीवन का आनन्द उठा रहे हैं।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं, भगवान् विष्णु प्रत्येक ब्रह्माण्ड में दो रूपों में निवास करते हैं—गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में। क्षीरोदकशायी विष्णु का अपना लोक है, जो ब्रह्माण्ड के उत्तरी शीर्ष पर है और वहाँ क्षीर का एक विशाल समुद्र है, जिसमें वे बलदेव के अवतार अनन्त की शय्या पर वास करते हैं। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर ने यदुवंश की तुलना क्षीरसागर से की है और श्री बलराम की तुलना अनन्त से की है, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण वास

करते हैं। उन्होंने द्वारका के निवासियों की तुलना वैकुण्ठलोक के मुक्त निवासियों से की है। भौतिक आकाश के परे, जहाँ तक हमारी आँखें देख सकती हैं उससे भी आगे तथा ब्रह्माण्ड के सप्तावरणों के भी आगे कारणार्णव सागर है, जिसमें सारे ब्रह्माण्ड गेंद की तरह तैर रहे हैं। इस कारण सागर के आगे वैकुण्ठलोक का असीम पाट है, जिसे सामान्यतया ब्रह्मतेज कहते हैं। इस तेज में असंख्य आध्यात्मिक ग्रह हैं और वे वैकुण्ठलोक के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक वैकुण्ठ ग्रह इस भौतिक जगत के सबसे बड़े ब्रह्माण्ड से भी बड़ा है और प्रत्येक में असंख्य निवासी रहते हैं, जो बिलकुल भगवान् विष्णु जैसे दिखते हैं। ये निवासी महापौरुषिक कहलाते हैं—अर्थात् ऐसे पुरुष, जो प्रत्यक्ष रूप में भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। वे उन ग्रहों में सुखी हैं और उन्हें कोई कष्ट नहीं सताता, वे सदैव तरुण बने रहते हैं और पूर्ण आनन्द तथा ज्ञान का जीवन बिताते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा या रोग का कोई भय नहीं रहता और उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता। महाराज युधिष्ठिर ने द्वारकावासियों की तुलना वैकुण्ठलोक के महापौरुषिकों से की है, क्योंकि वे भगवान् के साथ परम प्रसन्न हैं। *भगवद्गीता* में वैकुण्ठलोकों का कई बार संदर्भ आया है और वहाँ वे *मद्भाम* (मेरे धाम) के रूप में अर्थात् भगवद्भाम के रूप में वर्णित हुए हैं।

यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा
सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।
निर्जित्य सङ्ख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका; पाद—पैर; शुश्रूषण—भोग; मुख्य—सर्वाधिक महत्वपूर्ण; कर्मणा—कर्म के; सत्य-आदयः—सत्यभामा इत्यादि रानियाँ; द्वि-अष्ट—आठ का दो गुना (सोलह); सहस्र—हजार; योषितः—स्त्रियाँ; निर्जित्य—दमन करके; सङ्ख्ये—युद्ध में; त्रि-दशान्—स्वर्ग के निवासियों को; तत्-आशिषः—देवताओं द्वारा भोग्य; हरन्ति—हर लेते हैं; वज्र-आयुध-वल्लभा—वज्र के स्वामी की पत्नियाँ; उचिताः—योग्य।

समस्त सेवाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण, भगवान् के चरणकमलों की शुश्रूषा करने मात्र से, द्वारका-स्थित सत्यभामा के अधीक्षण में रानियों ने भगवान् को प्रेरित किया कि वे देवताओं को जीत लें। इस प्रकार रानियाँ उन वस्तुओं का भोग कर रही हैं, जो वज्र के नियंत्रक की पत्नियों द्वारा भोग्य हैं।

तात्पर्य : *सत्यभामा*—द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानियों में से एक। नरकासुर का वध करने के बाद, भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामा के साथ नरकासुर के महल में गये। वे इन्द्रलोक भी सत्यभामा के साथ गये थे, जहाँ सत्यभामा का स्वागत शचीदेवी द्वारा हुआ जिन्होंने देवोंकी माता 'अदिति' से उनका परिचय कराया। अदिति सत्यभामा से अत्यन्त प्रसन्न हुई और उन्होंने वर दिया कि जब तक भगवान् कृष्ण पृथ्वी पर रहें, तब तक वे तरुणी बनी रहें। अदिति ने उन्हें स्वर्गलोक में देवताओं द्वारा भोग्य सारी वस्तुएँ भी दिखलाई। जब सत्यभामा ने पारिजात पुष्प देखा, तो उन्होंने उसे द्वारका स्थित अपने महल में ले जाने की इच्छा व्यक्त की। तत्पश्चात् वे अपने पति के साथ द्वारका लौट आईं और उनसे इच्छा व्यक्त की कि पारिजात पुष्प को द्वारका में उनके महल में ले आएँ। सत्यभामा का महल बहुमूल्य रत्नों से विशेष रूप से सुसज्जित किया गया था और ग्रीष्मऋतु में भी महल का भीतरी भाग शीतल बना रहता था, मानों वातानुकूलित हो। उन्होंने अपने महल को अनेक पताकाओं से सजा रखा था, जो उनके पति की उपस्थिति की सूचक थीं। एक बार वे अपने पति के साथ जब द्रौपदी से मिलीं, तो वे उत्सुक थीं कि उनसे पति को प्रसन्न करने की कला सीखें। द्रौपदी इस कला में निपुण थीं, क्योंकि उनके पाँच पति थे, जो पाण्डव थे और वे सब उनसे प्रसन्न थे। द्रौपदी से उपदेश लेकर, उन्होंने उनके प्रति शुभकामनाएँ व्यक्त कीं और द्वारका लौट आईं। वे सत्राजित की पुत्री थीं। भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद, जब अर्जुन द्वारका गये तो सत्यभामा तथा रुक्मिणी समेत सारी रानियाँ कृष्ण के लिए अत्यधिक शोक कर रही थीं। अपने जीवन के अन्त-समय में, उन्होंने जंगल में जाकर कठिन तपस्या की।

सत्यभामा ने अपने पति को उकसाया कि वे स्वर्गलोक से पारिजात पुष्प लायें और भगवान् ने बलपूर्वक देवताओं से उसे प्राप्त किया, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक सामान्य पति अपनी पत्नी को रिझाने के लिए इच्छित वस्तुएँ लाता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भगवान् को सामान्य व्यक्ति की भाँति अपनी पत्नियों के आदेशों को पूरा करने की आवश्यकता न थी, लेकिन चूँकि रानियों ने उच्चकोटि की भक्ति—भगवान् की शुश्रूषा—करना स्वीकार किया था, अतएव भगवान् भी आज्ञाकारी पति की भूमिका निभा रहे थे। पृथ्वी का कोई भी व्यक्ति स्वर्गलोक की कोई वस्तु और वह भी पारिजात पुष्प प्राप्त करने की बात सोच भी नहीं सकता, क्योंकि उसका उपयोग केवल देवता करते हैं।

लेकिन भगवान् की आज्ञाकारिणी पत्नियाँ होने के कारण, रानियों को भी स्वर्ग के निवासियों की पत्नियों जैसा विशेषाधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपनी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं, अतएव द्वारका की रानियों के लिए ब्रह्माण्ड की किसी भी दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर पाना आश्चर्यजनक नहीं था।

यद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो
यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहतां बलात्
सभां सुधर्मा सुरसत्तमोचिताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; बाहु—दण्ड—बाँहों के द्वारा; अभ्युदय—प्रभावित; अनुजीविनः—सदैव जीवित रहकर; यदु—यदुवंशी लोग;
प्रवीराः—महान् वीर; हि अकुतोभयाः—सभी प्रकार से निर्भय; मुहुः—निरन्तर; अधिक्रमन्ति—पार करते हैं; अङ्घ्रिभिः—पैर से; आहताम्—लाये गये; बलात्—बलपूर्वक; सभाम्—सभाभवन को; सुधर्मा—सुधर्मा नामक; सुर-सत्-तम—देवताओं में श्रेष्ठ; उचिताम्—योग्य।

बड़े-बड़े यदुवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्ण की बाहुओं द्वारा सुरक्षित रहकर सभी प्रकार से निर्भय बने रहते हैं। अतएव उनके चरण उस सुधर्मा के सभा-भवन में पड़ते रहते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ देवताओं के लिए है, किन्तु जो उनसे छीन लिया गया था।

तात्पर्य : जो भगवान् के प्रत्यक्ष रूप में सेवक हैं, वे भगवान् द्वारा सभी प्रकार के भय से सुरक्षित रखे जाते हैं और सर्वोत्कृष्ट वस्तुओं का भोग करते हैं, चाहे वे बलपूर्वक एकत्र क्यों न की गई हों। भगवान् सभी जीवों के साथ समान व्यवहार करते हैं, किन्तु वे अपने भक्तों के प्रति अत्यधिक वत्सल होने के कारण विशेष पक्षपात करते हैं। द्वारकापुरी समुन्नति पर थी, क्योंकि वहाँ भौतिक संसार की श्रेष्ठतम वस्तुएँ उपलब्ध थीं। राज्य का सभा-भवन हर राज्य की प्रतिष्ठा के अनुसार बनाया जाता है। स्वर्गलोक में सुधर्मा नामक सभा-भवन श्रेष्ठ देवताओं की प्रतिष्ठा के अनुरूप था। ऐसा सभा-भवन महिमंडल के किसी भी राज्य के हेतु नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी के मनुष्य इसका निर्माण नहीं कर सकते, चाहे कोई राज्य भौतिक रूप से कितना ही समृद्ध क्यों न हो। किन्तु जब भगवान् कृष्ण इस धरा पर विद्यमान थे, तो इस स्वार्गिक सभागार को यदुवंशियों ने छीनकर, इसे द्वारका में लाकर स्थापित किया था। वे ऐसा बल प्रयोग कर सकते थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि परम भगवान् श्रीकृष्ण उनकी

रक्षा करेंगे। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् के लिए ब्रह्माण्ड की श्रेष्ठ वस्तुएँ ला जुटाते हैं। यदुवंशियों ने भगवान् कृष्ण के लिए ब्रह्माण्ड में सुलभ सारे सुख-साधन जुटा दिये थे, जिसके बदले में भगवान् ऐसे भक्तों की रक्षा करते थे जिससे वे निर्भय थे।

भुलकड़ बद्धजीव भयभीत रहता है, किन्तु मुक्तात्मा कभी भयभीत नहीं रहता, जिस प्रकार एक छोटा-सा बालक जो अपने पिता की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित रहता है वह कभी किसी से डरता नहीं। भीरुता जीव के लिए एक प्रकार का मोह है, जिसमें वह निद्रा में रहकर भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाता है। चूँकि वैधानिक रूप से जीव कभी मरता नहीं, जैसा कि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है, तो फिर भीरुता का क्या कारण है? कोई व्यक्ति स्वप्न में बाघ से डर सकता है, किन्तु उसी की बगल में जगते हुए व्यक्ति को कोई बाघ नहीं दिखता। यह बाघ दोनों के लिए, अर्थात् सोये हुए व्यक्ति के लिए तथा जागते हुए व्यक्ति के लिए मिथ्या है, क्योंकि वास्तव में वहाँ पर बाघ है ही नहीं। लेकिन जो व्यक्ति अपने जाग्रत जीवन को भूल जाता है, वह भयभीत रहता है और जो अपनी स्थिति को नहीं भूलता, वह बिल्कुल नहीं डरता। इस तरह सारे यदुवंशी भगवान् की सेवा के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। अतएव उनके लिए बाघ से किसी समय भी भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं था। यदि असली बाघ होता भी, तो भगवान् उनकी रक्षा करने के लिए तो थे ही।

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे ।

अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; ते—तुम्हारा; अनामयम्—स्वास्थ्य ठीक तो है; तात—मेरे भ्राता; भ्रष्ट—विहीन; तेजाः—कान्ति; विभासि—प्रतीत होते हो; मे—मुझको; अलब्ध-मानः—सम्मान न पाया हुआ; अवज्ञातः—उपेक्षित; किम्—क्या; वा—अथवा; तात—मेरे भ्राता; चिरोषितः—दीर्घकाल तक रहने के कारण।

मेरे भाई अर्जुन, मुझे बताओ कि तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक तो है? ऐसा लगता है कि तुम्हारे शरीर की कान्ति खो गई है। क्या द्वारका में दीर्घकाल तक रहने से, अन्यो द्वारा असम्मान तथा उपेक्षा दिखलाने से ऐसा हुआ है?

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने सभी प्रकार से अर्जुन से द्वारका का कुशलक्षेम पूछा, लेकिन उन्होंने अन्त में यही निष्कर्ष निकाला कि जब तक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ थे, तब तक कोई अशुभ घटना

नहीं घट सकती थी। लेकिन साथ ही, अर्जुन कान्तिहीन लग रहे थे, अतएव राजा ने उनसे उनकी कुशलता पूछी और साथ ही अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी पूछे।

कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः ।

न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; न—नहीं; अभिहतः—सम्बोधित, कहा गया; अभावैः—अमित्रतापूर्ण; शब्द-आदिभिः—शब्दों आदि से; अमङ्गलैः—अशुभ; न—नहीं; दत्तम्—दान में दिया गया; उक्तम्—कहा गया; अर्थिभ्यः—याचक को; आशया—आशा से; यत्—जो; प्रतिश्रुतम्—दिये जाने के लिए वचन-बद्ध।

कहीं किसी ने तुम्हें अपमानजनक शब्द तो नहीं कहे? या तुम्हें धमकाया तो नहीं? क्या तुम याचक को दान नहीं दे सके? या किसी से अपना वचन नहीं निभा पाये?

तात्पर्य : क्षत्रिय या धनी व्यक्ति के पास कभी-कभी ऐसे व्यक्ति आते हैं, जिन्हें धन की आवश्यकता रहती है। जब उन्हें दान देने के लिए कहा जाता है, तो धन के स्वामी का कर्तव्य है कि पात्र, देश तथा काल का विचार करते हुए दान दे। यदि क्षत्रिय या धनी व्यक्ति इस कर्तव्य को पूरा नहीं कर पाता, तो उसे इस विसंगति के लिए खेद होना चाहिए। इसी प्रकार दान देने के अपने वचन को नहीं भूलना चाहिए। ये त्रुटियाँ कभी-कभी निराशा का कारण बनती हैं और विफल होने पर मनुष्य आलोचना का भागी होता है और यही अर्जुन की विपन्नावस्था का कारण हो सकता था।

कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् ।

शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; त्वम्—तुम; ब्राह्मणम्—ब्राह्मणों को; बालम्—बालक को; गाम्—गाय को; वृद्धम्—बूढ़े व्यक्ति को; रोगिणम्—रोगी को; स्त्रियम्—स्त्री को; शरण-उपसृतम्—रक्षा के लिए आये हुए को; सत्त्वम्—किसी जीव को; न—क्या; अत्याक्षीः—शरण नहीं दी हो; शरण-प्रदः—जो शरण का पात्र रहा है।

तुम तो सदा से सुपात्र जीवों के यथा ब्राह्मणों, बालकों, गायों, स्त्रियों तथा रोगियों के रक्षक रहे हो। क्या तुम उनके शरण माँगे जाने पर उन्हें शरण नहीं दे सके?

तात्पर्य : ब्राह्मण-जन समाज के कल्याण-कार्य के लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टि से ज्ञान की खोज में सदैव लगे रहते हैं, अतः वे सभी प्रकार से राजा के संरक्षण के पात्र हैं। इसी प्रकार

राज्य के बालकों, गायों, रोगी व्यक्तियों, स्त्रियों तथा वृद्ध पुरुषों को राज्य या क्षत्रिय राजाओं के संरक्षण की अपेक्षा रहती है। यदि ऐसे जीवों को क्षत्रिय या राजा या राज-सत्ता की ओर से संरक्षण नहीं मिलता, तो यह क्षत्रिय या राज्य के लिए लज्जास्पद है। यदि अर्जुन के साथ सचमुच ही ऐसी घटनाएँ घटी थीं, तो महाराज युधिष्ठिर उनके विषय में जानने के लिए आतुर थे।

कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् ।

पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; त्वम्—तुमने; न—नहीं; अगमः—सम्पर्क किया है; अगम्याम्—दुश्चरित्र; गम्याम्—स्वीकार्य; वा—अथवा; असत्-कृताम्—अनुचित व्यवहार; स्त्रियम्—स्त्री से; पराजितः—हराया हुआ; वा—अथवा; अथ—अन्ततः; भवान्—तुम; न—न तो; उत्तमैः—उच्चतर शक्ति द्वारा; न—नहीं; असमैः—समान धर्म वाले द्वारा; पथि—मार्ग में।

क्या तुमने दुश्चरित्र स्त्री से समागम किया है अथवा सुपात्र स्त्री के साथ तुमने भद्र व्यवहार नहीं किया? अथवा तुम मार्ग में किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा पराजित किये गये हो, जो तुमसे निकृष्ट है या तुम्हारे समकक्ष हो?

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवों के काल में पुरुष तथा स्त्री को, कतिपय परिस्थितियों में मुक्त ही, समागम करने दिया जाता था। उच्च जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वैश्य या शूद्र जाति की स्त्री को स्वीकार कर सकते थे, किन्तु निम्न जाति का व्यक्ति उच्च जाति की स्त्री से सम्पर्क नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण जाति की स्त्री से समागम नहीं कर सकता था। ब्राह्मण की पत्नी सात माताओं में से एक मानी जाती है (अपनी माता, गुरु अथवा शिक्षक की पत्नी, ब्राह्मणी, राजा की पत्नी, गाय, धाय तथा पृथ्वी—ये सप्त मातृकाएँ हैं)। पुरुष तथा स्त्री के ऐसे समागम को उत्तम तथा अधम कहा जाता था। ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री का समागम उत्तम होता था, किन्तु क्षत्रिय पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री का समागम अधम होता था, अतएव कुत्सित माना जाता था। यदि कोई स्त्री, किसी पुरुष के पास समागम की इच्छा से जाये, तो उसे कभी मना नहीं करना चाहिए, लेकिन जैसाकि ऊपर कहा गया है, विवेक से काम लेना चाहिए। भीम के पास हिडिम्बा आई थी और वह शूद्र से भी निम्न जाति की थी। ययाति ने शुक्राचार्य की पुत्री के साथ विवाह करने से इनकार कर दिया था, क्योंकि शुक्राचार्य ब्राह्मण थे। व्यासदेव ब्राह्मण थे। उनसे पाण्डु तथा धृतराष्ट्र को

जन्म देने के लिए कहा गया था। सत्यवती मछुआरे की जाति की कन्या थी, लेकिन महान् ब्राह्मण पराशर द्वारा उससे व्यासदेव का जन्म हुआ। अतएव स्त्री के साथ समागम के अनेक उदाहरण हैं, किन्तु ये सारे समागम न तो निन्दनीय थे, न ऐसे समागम के परिणाम बुरे थे। पुरुष तथा स्त्री का समागम स्वाभाविक है, लेकिन इसे भी विधानपूर्वक होना चाहिए, जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा न बिगड़े या वर्णसंकर की वृद्धि होने से विश्व में अशान्ति न फैले।

क्षत्रिय के लिए यह निन्दनीय है कि वह अपने से निम्न या समकक्ष बलवाले से पराजित हो। यदि कोई हारे, तो उसे किसी श्रेष्ठ शक्ति से हारना चाहिए। अर्जुन भीष्मदेव से पराजित हुए थे और कृष्ण ने उन्हें विपत्ति से बचाया था। यह अर्जुन के लिए अपमान नहीं था, क्योंकि भीष्मदेव सभी प्रकार से अर्जुन से श्रेष्ठ थे—चाहे आयु को लें, सम्मान को लें, या बल को लें। लेकिन कर्ण अर्जुन के समकक्ष था। अतएव कर्ण से युद्ध करते हुए अर्जुन संकट में था। अर्जुन को यह बुरा लगा, अतएव कर्ण छल से भी मारा गया। क्षत्रिय के ऐसे-ऐसे कार्य होते हैं और महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाई से पूछा कि द्वारका से घर आते हुए कहीं कोई प्रतिकूल घटना तो नहीं घट गई?

अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् ।

जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवान्न यदक्षमम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अपि स्वित्—यदि ऐसा हो तो; पर्य—एक ओर छोड़कर; भुङ्क्थाः—खाया है; त्वम्—तुमने; सम्भोज्यान्—साथ-साथ खाने के योग्य; वृद्ध—वृद्ध पुरुषों को; बालकान्—बच्चों को; जुगुप्सितम्—गर्हित; कर्म—काम; किञ्चित्—कुछ; कृतवान्—तुमने किया होगा; न—नहीं; यत्—जो; अक्षमम्—जिसे क्षमा न किया जा सके।

क्या तुमने उन वृद्धों तथा बालकों की परवाह नहीं की, जो तुम्हारे साथ भोजन करने के योग्य थे? क्या उन्हें छोड़कर तुमने अकेले भोजन किया है? क्या तुमने कोई अक्षम्य गलती की है, जो निन्दनीय मानी जाती है?

तात्पर्य : गृहस्थ का धर्म है कि वह पहले बालकों, परिवार के बूढ़ों, ब्राह्मणों तथा अशक्तों को भोजन करा दे। इसके साथ ही, आदर्श गृहस्थ को चाहिए कि यदि कोई अज्ञात भूखा व्यक्ति हो, तो उसे बुलाकर खिला दे और तब स्वयं भोजन करे। उसे ऐसे भूखे व्यक्ति को मार्ग में जाकर तीन बार बुलाना

चाहिए। गृहस्थ के लिए निर्धारित इस कर्तव्य की अवहेलना, विशेषकर बूढ़ों तथा बच्चों की अवहेलना, अक्षम्य है।

कच्चित् प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना ।

शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

कच्चित्—कहीं; प्रेष्ठ-तमेन—सर्वाधिक प्रिय को; अथ—मेरा भाई अर्जुन; हृदयेन—अत्यन्त घनिष्ठ; आत्म-बन्धुना—अपने मित्र कृष्ण से; शून्यः—शून्य; अस्मि—हूँ; रहितः—खोकर; नित्यम्—सदा के लिए; मन्यसे—तुम सोचते हो; ते—तुम्हारा; अन्यथा—अन्यथा; न—कभी नहीं; रुक्—मानसिक ताप।

अथवा कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम इसलिए रिक्त अनुभव कर रहे हो, क्योंकि तुमने अपने घनिष्ठ मित्र भगवान् कृष्ण को खो दिया हो? हे मेरे भ्राता अर्जुन, तुम्हारे इतने हताश होने का मुझे कोई अन्य कारण नहीं दिखता।

तात्पर्य : विश्व की विसंगतियों के कारण के विषय में महाराज युधिष्ठिर की सारी जिज्ञासाओं का अन्दाज विश्व की दृष्टि से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने के आधार पर लगाया गया था। और अब अर्जुन की घोर निराशा के कारण उसे उन्होंने प्रकट कर दिया, जो अन्यथा सम्भव नहीं हो पाता। अतएव इसके बारे में संशयग्रस्त होते हुए भी, श्रीनारद के संकेत के अनुसार, उन्हें अर्जुन से स्पष्ट पूछने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'भगवान् कृष्ण का अन्तर्धान होना' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पन्द्रह

पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः ।

नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्षितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृष्ण-सखः—कृष्ण का विख्यात मित्र; कृष्णः—अर्जुन; भ्रात्रा—अपने बड़े भाई; राज्ञा—राजा युधिष्ठिर द्वारा; विकल्पितः—सोचा गया; नाना—विविध; शङ्का-आस्पदम्—अनेक संशयों पर आधारित; रूपम्—रूप; कृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण की; विश्लेष—वियोग की भावना से; कर्षितः—अत्यन्त दुखी।

सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् कृष्ण का विख्यात मित्र अर्जुन, महाराज युधिष्ठिर की सशंकित जिज्ञासाओं के अतिरिक्त भी, कृष्ण के वियोग की प्रबल अनुभूति के कारण शोक-संतप्त था।

तात्पर्य : अत्यधिक संतप्त होने के कारण, अर्जुन का गला रूँध-सा गया, अतएव वह महाराज युधिष्ठिर की विभिन्न सशंकित जिज्ञासाओं का ठीक से उत्तर नहीं दे पा रहा था।

शोकेन शुष्यद्वदनहत्सरोजो हतप्रभः ।

विभुं तमेवानुस्मरन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

शोकेन—विरह से; शुष्यत्-वदन—सूखता मुँह; हत्-सरोजः—कमल-सदृश हृदय; हत—विहीन; प्रभः—शारीरिक कान्ति; विभुम्—परम; तम्—भगवान् कृष्ण को; एव—निश्चय ही; अनुस्मरन्—भीतर ही भीतर सोचते हुए; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हो सका; प्रतिभाषितुम्—ठीक से उत्तर देने के लिए।

शोक से अर्जुन का मुँह तथा कमल-सदृश हृदय सूख चुके थे, अतएव उसकी शारीरिक कान्ति चली गई थी। अब भगवान् का स्मरण करने पर, वह उत्तर में एक शब्द भी न बोल पाया।

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।

परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रेण—बड़ी कठिनाई से; संस्तभ्य—वेग को रोककर; शुचः—विरह के; पाणिना—अपने हाथों से; आमृज्य—पोंछते हुए; नेत्रयोः—आँखों को; परोक्षेण—दृष्टि से दूर होने के कारण; समुन्नद्ध—अत्यधिक; प्रणय-औत्कण्ठ्य—स्नेह का उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हुए; कातरः—व्याकुल।

उसने बड़ी कठिनाई से आँखों में भरे हुए शोकाश्रुओं को रोका। वह अत्यन्त दुखी था, क्योंकि भगवान् कृष्ण उसकी दृष्टि से ओझल थे और वह उनके लिए अधिकाधिक स्नेह का अनुभव कर रहा था।

सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।

नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सख्यम्—शुभचिन्तन; मैत्रीम्—आशीर्वाद; सौहृदम्—घनिष्टतापूर्वक सम्बन्धित; च—भी; सारथ्य-आदिषु—सारथी बनने आदि में; संस्मरन्—इन सबों को स्मरण करते हुए; नृपम्—राजा से; अग्रजम्—बड़ा भाई; इति—इस प्रकार; आह—कहा; बाष्प—उसासैं भरते; गद्गदया—अभिभूत होकर; गिरा—वाणी से।

भगवान् कृष्ण को तथा उनकी शुभकामनाओं, आशीषों, घनिष्ट पारिवारिक सम्बन्ध एवं उनके रथ हाँकने का स्मरण करके, अर्जुन का गला रूँध आया और वह भारी साँस लेता हुआ बोलने लगा।

तात्पर्य : परम पुरुष अपने शुद्ध भक्त के साथ सारे सम्बन्धों में पूर्ण हैं। श्री अर्जुन भगवान् के विशिष्ट भक्तों में से हैं, जो सख्य भाव का आदान-प्रदान कर रहे हैं और अर्जुन के साथ भगवान् का व्यवहार सर्वोच्च कोटि की मित्रता को प्रदर्शित करता है। वे अर्जुन के न केवल शुभचिन्तक थे, अपितु उसको लाभ प्रदान करने वाले भी थे और इसे अधिक परिपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने सुभद्रा का विवाह उससे करके, उसे पारिवारिक सम्बन्ध में भी बाँध लिया था। इसके भी ऊपर, भगवान् ने अपने मित्र की युद्ध के संकटों से रक्षा करने के लिए अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था और जब उन्होंने पाण्डवों को विश्व पर शासन करने के लिए स्थापित कर दिया, तो वे सचमुच प्रसन्न हुए थे। अर्जुन ने यह सब एक के बाद एक स्मरण किया और इस तरह ऐसे विचारों से अभिभूत हो गया।

अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा ।

येन मेऽपहतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; वञ्चितः—त्यक्त; अहम्—मैं; महा-राज—हे राजा; हरिणा—भगवान् द्वारा; बन्धु-रूपिणा—घनिष्ट मित्र रूपी; येन—जिससे; मे—मेरा; अपहतम्—छीना गया है; तेजः—पराक्रम; देव—देवता; विस्मापनम्—आश्चर्यजनक; महत्—अत्यधिक प्रबल।

अर्जुन ने कहा : हे राजन्, मुझे अपना घनिष्ठ मित्र माननेवाले भगवान् हरि ने मुझे अकेला छोड़ दिया है। इस तरह मेरा प्रबल पराक्रम, जो देवताओं तक को चकित करनेवाला था, अब मुझमें नहीं रह गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में भगवान् कहते हैं, “कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली तथा सम्पत्ति, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा भौतिक मामलों में ऐश्वर्यवान् क्यों न हो, उसे मेरी पूर्ण शक्ति का एक तुच्छ अंश-स्वरूप समझो।” अतएव कोई भी स्वतंत्र रूप से भगवान् से शक्ति प्राप्त किये बिना शक्तिमान नहीं हो सकता। जब भगवान् पृथ्वी पर अपने नित्यमुक्त पार्षदों के साथ अवतरित होते हैं, तो वे न केवल अपनी दिव्य शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, अपितु वे अपने पार्षद भक्तों को अपना अवतारी सन्देश पूरा करने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* (४.५) में भी कहा गया है कि भगवान् तथा उनके नित्य पार्षद पृथ्वी पर अनेक बार अवतरित होते हैं, किन्तु जहाँ भगवान् सभी विभिन्न अवतारों की भूमिकाओं का स्मरण रखते हैं, वहीं पार्षद उनकी परम इच्छा से उन्हें भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब भगवान् इस धरा से अन्तर्धान होते हैं, तब वे सारे पार्षदों को अपने साथ लेते जाते हैं। भगवान् ने अर्जुन को जो पराक्रम तथा शक्ति प्रदान की थी, वह भगवान् के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी, किन्तु जब यह उद्देश्य पूरा हो गया, तो अर्जुन से आपात्कालीन शक्तियाँ वापस ले ली गईं, क्योंकि स्वर्ग के निवासियों को भी चकित करनेवाली अर्जुन की इन प्रबल शक्तियों की और आगे आवश्यकता नहीं रह गई थी। वे उनके भगवद्धाम वापस जाने के निमित्त नहीं थीं। यदि अर्जुन—जैसे महान् भक्त को या स्वर्ग के निवासियों को भगवान् शक्ति प्रदान कर सकते हैं, एवं शक्ति वापस भी ले सकते हैं, तो उन क्षुद्र प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो ऐसे महात्माओं की तुलना में नगण्य हैं। अतएव इससे शिक्षा यह मिलती है कि भगवान् से प्राप्त की हुई शक्ति पर किसी को अभिमान नहीं करना चाहिए। अपितु विज्ञ मनुष्य को भगवान् के प्रति ऐसे वरदान के लिए कृतज्ञ होना चाहिए और ऐसी शक्ति का उपयोग भगवान् की सेवा करने के लिए करना चाहिए। भगवान् ऐसी शक्ति को कभी भी वापस ले सकते हैं, अतएव ऐसी शक्ति तथा ऐश्वर्य का सदुपयोग यह है कि उन्हें भगवान् की सेवा में लगाया जाय।

यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः ।

उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; क्षण—एक क्षण; वियोगेन—वियोग से; लोकः—सारे ब्रह्माण्ड; हि—निश्चय ही; अप्रिय-दर्शनः—प्रत्येक वस्तु प्रतिकूल लगती है; उक्थेन—जीवन से; रहितः—विहीन; हि—निश्चय ही; एषः—ये सारे शरीर; मृतकः—शव; प्रोच्यते—कहे जाते हैं; यथा—जिस तरह ।

मैंने अभी-अभी उन्हें खोया है, जिनके क्षणमात्र वियोग से सारे ब्रह्माण्ड प्रतिकूल तथा शून्य हो जायेंगे, जिस तरह प्राण के बिना शरीर ।

तात्पर्य : वास्तव में जीव के लिए भगवान् से बढ़कर अन्य कोई प्रिय नहीं होता । भगवान् अपना विस्तार अपने असंख्य अंशों द्वारा, स्वांश तथा विभिन्नांश रूपों में करते हैं । परमात्मा भगवान् का स्वांश है, जबकि सारे जीव विभिन्नांश हैं । जिस प्रकार भौतिक शरीर में जीव महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है, क्योंकि जीव के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं होता, उसी तरह परमात्मा के बिना जीव की कोई पूर्वस्थिति नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्म या परमात्मा को, भगवान् कृष्ण के बिना प्रवेशाधिकार नहीं है, कोई वास्तविक आधार नहीं है । इसकी विशद व्याख्या भगवद्गीता में की गई है । ये सब एक दूसरे से परस्पर सन्नद्ध हैं, या अन्योन्याश्रित हैं । अतः अन्ततः भगवान् ही आश्रयतत्त्व हैं, अतएव हर एक वस्तु के लिए जीवन-स्वरूप हैं ।

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां

राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।

तेजो हतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः

सज्जीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके कृपामय; संश्रयात्—बल से; द्रुपद-गेहम्—राजा द्रुपद के महल में; उपागतानाम्—सभी एकत्र; राज्ञाम्—राजाओं का; स्वयंवर-मुखे—स्वयंवर के अवसर पर; स्मर-दुर्मदानाम्—समस्त कामुक विचारवालों का; तेजः—बल; हतम्—हरा गया; खलु—मानो; मया—मेरे द्वारा; अभिहतः—छेदा गया; च—भी; मत्स्यः—मछली का निशाना; सज्जी-कृतेन—धनुष तैयार करके; धनुषा—उस धनुष से; अधिगता—प्राप्त किया; च—भी; कृष्णा—द्रौपदी ।

उनकी कृपामयी शक्ति से ही मैं उन समस्त कामोन्मत्त राजकुमारों को परास्त कर सका, जो राजा द्रुपद के महल में स्वयंवर के अवसर पर एकत्र हुए थे । अपने धनुषबाण से मैं मत्स्य लक्ष्य का भेदन कर सका और इस प्रकार द्रौपदी का पाणिग्रहण कर सका ।

तात्पर्य : द्रौपदी राजा द्रुपद की सर्वसुन्दरी कन्या थी और जब वह तरुणी हुई तो प्रायः समस्त राजकुमार उससे विवाह करने के इच्छुक थे। लेकिन द्रुपद महाराज ने अपनी पुत्री अर्जुन को ही देने का निश्चय किया, अतएव उन्होंने एक अद्भुत युक्ति सोची। मकान की छत से, एक चक्र के भीतर, एक मछली लटका दी गई। शर्त यह थी कि हर राजकुमार को, रक्षक चक्र से होकर, मछली की आँखें बेधनी होंगी, और उसे लक्ष्य की ओर देखने की अनुमति नहीं होगी। जमीन पर एक जलपात्र था जिसमें लक्ष्य तथा चक्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था और पात्र के हिलते हुए जल में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब को देखकर लक्ष्य साधना था। महाराज द्रुपद यह भलीभाँति जानते थे कि यह कार्य केवल अर्जुन या फिर कर्ण ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। फिर भी वे अर्जुन को ही अपनी पुत्री सौंपना चाहते थे। जब उस राजदरबार में, द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने सभी राजकुमारों से अपनी युवा बहन का परिचय कराया, तो उस समय कर्ण भी उपस्थित था। लेकिन द्रौपदी ने अत्यन्त चतुरतापूर्वक अर्जुन के प्रतिद्वन्द्वी कर्ण को हटाने के लिए अपने भाई से इच्छा व्यक्त की कि वह केवल क्षत्रिय राजकुमार को ही स्वीकार करेगी। वैश्य तथा शूद्र, क्षत्रियों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं। कर्ण को एक शूद्र बढई के पुत्र के रूप में जाना जाता था। इस तर्क के आधार पर द्रौपदी ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब दरिद्र ब्राह्मण के वेश में अर्जुन ने मत्स्यवेध कर दिया, तो सबों को आश्चर्य हुआ और सबों ने, विशेषतया कर्ण ने, उससे घनघोर युद्ध किया, किन्तु भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन राजकुमारों के इस युद्ध में सफल हुआ और उसे द्रौपदी अथवा कृष्णा का हाथ प्राप्त हुआ। अर्जुन जिन भगवान् की शक्ति से ही इतना शक्तिशाली था, उन्हीं की अनुपस्थिति में, इस घटना का स्मरण करके वह शोक कर रहा था।

यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदा-

मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।

लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया

दिग्भ्योऽहरन्पतयो बलिमध्वरे ते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; सन्निधौ—पास में होने से; अहम्—मैंने; उ—आश्चर्यवाचक शब्द; खाण्डवम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का सुरक्षित वन; अग्नये—अग्निदेव को; अदाम्—प्रदान किया; इन्द्रम्—इन्द्र को; च—भी; स—सहित; अमर-गणम्—देवताओं को; तरसा—कौशल के साथ; विजित्य—जीतकर; लब्धा—प्राप्त करके; सभा—सभा भवन; मय-कृता—मय द्वारा निर्मित;

अद्भुत—अत्यन्त अद्भुत; शिल्प—कला तथा कारीगरी; माया—शक्ति; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; अहरन्—एकत्र;
नृपतयः—सारे राजकुमार; बलिम्—भेंटें; अध्वरे—ले आये; ते—आप।

चूँकि वे मेरे निकट थे, अतएव मेरे लिए अत्यन्त कौशलपूर्वक स्वर्ग के शक्तिशाली राजा इन्द्रदेव को उनके देव-पार्षदों सहित जीत पाना सम्भव हो सका और इस तरह अग्निदेव खाण्डव वन को विनष्ट कर सके। उन्हीं की कृपा से, मय नामक असुर को जलते हुए खाण्डव वन से बचाया जा सका। इस तरह हम अत्यन्त आश्चर्यमयी शिल्प-कला वाले सभाभवन का निर्माण कर सके, जहाँ राजसूय-यज्ञ के समय सारे राजकुमार एकत्र हो सके और आपको आदर प्रदान कर सके।

तात्पर्य : मय दानव खाण्डव-वन का निवासी था, किन्तु जब खाण्डव-वन में आग लगा दी गई, तब उसने अर्जुन से रक्षा करने के लिए याचना की। अतः अर्जुन ने उसकी जान बचाई। फलस्वरूप वह अत्यन्त कृतज्ञ था। बदले में उसने पाण्डवों के लिए एक अद्भुत सभा-भवन निर्माण कर दिया, जिसके प्रति सभी देशों के राजकुमार अत्यन्त आकृष्ट थे। उन्होंने पाण्डवों की अलौकिक शक्ति का अनुभव किया और सबों ने बिना ईर्ष्या या झिझक के, महाराज को भेंटें प्रदान कीं। असुरों में भौतिक आश्चर्य उत्पन्न करने की अद्भुत तथा अलौकिक शक्ति पाई जाती है, लेकिन वे सदैव समाज के लिए उपद्रवकारी तत्त्व होते हैं। आधुनिक असुर तो भौतिक विज्ञानी हैं, जो समाज में उत्पात मचाने के लिये किसी न किसी भौतिक आश्चर्य को जन्म देते रहते हैं। उदाहरणार्थ, परमाणु हथियारों के निर्माण से मानव समाज में कुछ खलबली मची है। मैं भी इसी तरह का भौतिकतावादी था और वह ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ तैयार करना जानता था। फिर भी भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाह रहे थे। जब अग्नि तथा भगवान् कृष्ण का चक्र दोनों ही उसका पीछा कर रहे थे, तो उसने अर्जुन जैसे भक्त की शरण ग्रहण की और जिसने भगवान् श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि से उसे बचा लिया। अतः भगवान् के भक्त, भगवान् से अधिक दयालु होते हैं और भक्तिमय सेवा में भक्त की दया का महत्त्व भगवान् से भी अधिक होता है। जब अग्नि तथा भगवान् दोनों ने देखा कि असुर को अर्जुन ने शरण दे रखी है, तो उन्होंने उसका पीछा करना बन्द कर दिया। इस असुर ने अर्जुन के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करते हुए, अर्जुन की सेवा करनी चाही, लेकिन अर्जुन ने बदले में कुछ भी लेने से इनकार कर दिया। किन्तु भगवान् कृष्ण मय दानव से प्रसन्न हुए, क्योंकि उसने भक्त की शरण ग्रहण की थी; अतएव उन्होंने

उससे कहा कि राजा युधिष्ठिर के लिए वह एक अद्भुत सभा-भवन तैयार कर दे। इस तरह प्रक्रिया यह है कि भक्त की दया से भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भगवान् की कृपा से भगवद्भक्त की सेवा करने का अवसर मिलता है। भीमसेन की गदा भी मय दानव द्वारा दी गई भेंट थी।

यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थम्

आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।

तेनाहताः प्रमथनाथमखाय भूपा

यन्मोचितास्तदनयन्बलिमध्वरे ते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; नृप-शिरः-अङ्घ्रिम्—जिसके पाँव राजाओं के सिरों से अलंकृत हों; अहन्—मारा हुआ; मख-अर्थम्—यज्ञ हेतु; आर्यः—सम्माननीय, श्रेष्ठ; अनुजः—छोटा भाई; तव—आपका; गज-अयुत—दस हजार हाथी; सत्त्व-वीर्यः—शक्तिशाली जीवन; तेन—उसके द्वारा; आहताः—एकत्रित; प्रमथ-नाथ—भूतों के देवता (महाभैरव); मखाय—यज्ञ के लिए; भूपाः—राजा; यत्-मोचिताः—जिसके द्वारा वे छोड़े गये; तत्-अनयन्—वे सब लाये; बलिम्—कर; अध्वरे—भेंट किया; ते—आपको।

दस हजार हाथियों की शक्ति रखनेवाले आपके छोटे भाई ने भगवान् की ही कृपा से जरासंध का वध किया, जिसकी पादपूजा अनेक राजाओं द्वारा की जाती थी। ये सारे राजा जरासंध के महाभैरव यज्ञ में बलि चढ़ाये जाने के लिए लाए गये थे, किन्तु उनको छुड़ा दिया गया। बाद में उन्होंने आपका आधिपत्य स्वीकार किया।

तात्पर्य : जरासंध मगध का अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसके जन्म तथा कार्यकलापों की कथा भी अत्यन्त रोचक है। उसका पिता बृहद्रथ राजा भी मगध का अत्यन्त सम्पन्न एवं शक्तिशाली राजा था। उसने काशी के राजा की दो पुत्रियों से विवाह किया था, किन्तु उसको कोई पुत्र नहीं था। दोनों पत्नियों से कोई पुत्र उत्पन्न न होने से निराश होकर राजा अपनी दोनों पत्नियों के साथ जंगल में जाकर तपस्या करने लगा। वहाँ पर एक महर्षि ने उसे पुत्र प्राप्त करने का वरदान दिया और रानियों को खाने के लिये एक आम दिया। रानियों ने आम खा लिया तो वे शीघ्र ही गर्भिणी हो गईं। राजा अत्यन्त प्रसन्न था कि रानियाँ गर्भवती हैं, किन्तु जब समय पूरा हुआ तो दोनों रानियों के गर्भ से दो भागों में विभाजित एक बालक उत्पन्न हुआ। ये दोनों भाग जंगल में फेंक दिये गये, जहाँ एक महान् असुरिनी रहती थी। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई कि उसके खाने के लिए नवजात शिशु का रक्त तथा मांस मिला, किन्तु उत्सुकतावश

उसने उन दोनों हिस्सों को जोड़ दिया, तो एक पूर्ण शिशु बन गया और उसमें जान आ गई। यह असुरिनी जरा नाम से विख्यात थी। वह सन्तानहीन राजा के ऊपर दया करके राजा के पास गई और उसे वह सुन्दर बालक भेंट कर आई। राजा उस असुरिनी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे इच्छित पुरस्कार माँगने के लिए कहा। राक्षसी ने इच्छा व्यक्त की कि इस बालक का नाम उसके नाम पर रखा जाय। इस तरह उस बालक का नाम जरासन्ध पड़ा, जिसका अर्थ है जरा नामक असुरिनी द्वारा जोड़ा हुआ। वास्तव में, यह जरासन्ध विप्रचित्ति नामक असुर के अंश-रूप में उत्पन्न हुआ था। जिस साधु ने रानियों को पुत्र का वरदान दिया, वह चन्द्रकौशिक कहलाता था, जिसने राजा के समक्ष उस पुत्र के बारे में भविष्य कथन किया था।

चूँकि जन्म से ही जरासन्ध में आसुरी गुण थे, अतः स्वभावतः वह समस्त भूतप्रेतों के स्वामी, शिवजी का महान् भक्त बना। जिस प्रकार रावण शिवजी का महान् भक्त था, उसी प्रकार जरासन्ध भी था। वह बन्दी बनाये गये सारे राजाओं को महाभैरव (शिव) के समक्ष बलि चढ़ा देता था। इस तरह अपनी सैन्यशक्ति से उसने अनेक छोटे-छोटे राजाओं को हराकर, उन्हें बन्दी बनाकर, महाभैरव के समक्ष बलि चढ़ा दिया था। महाभैरव या कालभैरव के अनेक भक्त बिहार प्रान्त में पाये जाते हैं, जो पहले मगध कहलाता था। जरासन्ध कृष्ण के मामा कंस का सम्बन्धी था, अतएव कंस की मृत्यु के बाद वह कृष्ण का महान् शत्रु बन गया और जरासन्ध तथा कृष्ण के बीच कई युद्ध हुए। भगवान् कृष्ण उसका वध करना चाहते थे, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि जो लोग जरासन्ध के सैनिक-रूप में कार्य कर रहे हैं, वे न मारे जाँय। अतएव उसे मारने की योजना बनाई गई। कृष्ण, भीम तथा अर्जुन तीनों निर्धन ब्राह्मण-वेश में जरासन्ध के पास गये और उससे भिक्षा माँगी। जरासन्ध ब्राह्मणों को भिक्षा देने से कभी इनकार नहीं करता था और उसने अनेक यज्ञ भी किये थे, तो भी वह भक्तिमय सेवा के स्तर पर न था। भगवान् कृष्ण, भीम तथा अर्जुन ने उससे मल्लयुद्ध करने की भिक्षा माँगी और यह तय हुआ कि जरासन्ध केवल भीम से मल्लयुद्ध करेगा। इस तरह वे सब जरासन्ध के अतिथि तथा प्रतिद्वन्द्वी भी थे। भीम तथा जरासन्ध कई दिनों तक मल्लयुद्ध करते रहे। जब भीम हताश हो गया, तो कृष्ण ने उसे संकेत किया कि बचपन में जरासन्ध को जोड़ा गया था। अतः भीम ने पुनः उसे दो भागों में चीर करके मार डाला और जितने राजा महाभैरव के समक्ष बलि किये जाने के लिए बन्दीगृह में रोके गये थे, उन

सबों को भीम ने छुड़ाया। इस तरह पाण्डवों के प्रति कृतज्ञ होने के कारण उन्होंने राजा युधिष्ठिर का आधिपत्य स्वीकार किया।

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेक-

श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।

स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रमुख्या

यस्तत्स्त्रियोऽकृतहते शविमुक्तकेशाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पत्न्याः—पत्नी का; तव—आपकी; अधिमख—विशाल यज्ञोत्सव के समय; क्लृप्त—वस्त्राभूषित; महा—अभिषेक—अच्छी तरह पवित्र की गई; श्लाघिष्ठ—इस प्रकार महिमावान्; चारु—सुन्दर; कबरम्—बालों की चोटी; कितवैः—दुष्टों के द्वारा; सभायाम्—सभा में; स्पृष्टम्—पकड़ी जाने पर; विकीर्य—खोलकर; पदयोः—पैरों पर; पतित-अश्रु-मुख्याः—आँखों में अश्रु भरकर चरणों में गिरी हुई का; यः—वह; तत्—उनकी; स्त्रियः—पत्नियाँ; अकृत—हो गई; हत-ईश—पतिविहीन; विमुक्त-केशाः—खुले हुए बाल।

उन्होंने ही उन दुष्टों की पत्नियों के बाल खोल दिये, जिन्होंने आपकी महारानी (द्रौपदी) की उस चोटी को खोलने का दुस्साहस किया था, जो महान् राजसूय-यज्ञ अनुष्ठान के अवसर पर सुन्दर ढंग से सजाई तथा पवित्र की गई थी। उस समय वह अपनी आँखों में आँसू भर कर भगवान् कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ी थी।

तात्पर्य : रानी द्रौपदी की चोटी अत्यन्त सुन्दर थी, जिसे राजसूय यज्ञ के अवसर पर पवित्र किया गया था। किन्तु जब वे दाँव में हारी जा चुकी थी, तो दुःशासन ने उनके महिमा-मण्डित केशों को छूकर, उनका अपमान किया था। तब द्रौपदी भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर गिर पड़ी, अतः भगवान् कृष्ण ने निश्चय किया कि वे कुरुक्षेत्र के युद्ध के फलस्वरूप दुःशासन तथा उसके दलवालों की सारी पत्नियों के केश खुलवाकर रहेंगे। इस प्रकार कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात्, जब धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र युद्ध में मारे जा चुके थे, तो परिवार की सारी स्त्रियों को विधवाओं के रूप में केश खोलने पड़े। दूसरे शब्दों में, दुःशासन द्वारा भगवान् के महान् भक्त का अपमान किये जाने से ही कुरुवंश की सारी स्त्रियाँ विधवा हो गईं। भगवान् भले ही अपने ऊपर किसी दुष्ट द्वारा किये गये अपमान को सह लें, क्योंकि पिता अपने पुत्र के द्वारा किये गये अपमान को सह लेता है, किन्तु वे अपने भक्तों का अपमान

कभी नहीं सहते। महान् आत्मा का अपमान करने पर मनुष्य को अपने सारे पुण्यों तथा वरों की बलि दे देनी पड़ती है।

यो नो जुगोप वन एत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः ।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यः—जिसने; नः—हमको; जुगोप—सुरक्षा प्रदान की; वने—वन में; एत्य—प्रवेश करके; दुरन्त—भयानक; कृच्छ्रात्—संकट से; दुर्वाससः—दुर्वासा मुनि के; अरि—शत्रु द्वारा; रचितात्—बनाया गया; अयुत—दस हजार; अग्र-भुक्—पहले खानेवाला; यः—वह व्यक्ति; शाक-अन्न-शिष्टम्—बचा हुआ भोजन, जूठन; उपयुज्य—स्वीकार करके; यतः—क्योंकि; त्रि-लोकीम्—तीनों संसारों को; तृप्ताम्—संतुष्ट; अमंस्त—मन में सोचा; सलिले—जल के भीतर; विनिमग्न-सङ्घः—सभी जल में विलीन हुए।

हमारे वनवास के समय, दस हजार शिष्यों के साथ भोजन करनेवाले दुर्वासा मुनि ने हमें भयावह संकट में डालने के लिए, हमारे शत्रुओं के साथ मिलकर चाल चली। उस समय उन्होंने (कृष्ण ने) केवल जूठन ग्रहण करके हमें बचाया था। इस तरह उनके भोजन ग्रहण करने से नदी में स्नान करती मुनि-मण्डली ने अनुभव किया कि वह भोजन से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गई और तीनों लोक भी सन्तुष्ट हो गये।

तात्पर्य : दुर्वासा मुनि—ये शक्तिशाली योगी ब्राह्मण थे, जिन्होंने कठिन तपस्या तथा महान् व्रतों के द्वारा धर्म के नियमों का पालन करने का संकल्प किया था। उनका नाम अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के साथ जुड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें शिवजी की भाँति सरलता से प्रसन्न किया जा सकता था तथा सरलता से रुष्ट किया जा सकता था। प्रसन्न होने पर, वे सेवक का अपार शुभ कर सकते थे और अप्रसन्न होने पर भारी विपदा उत्पन्न कर सकते थे। कुमारी कुन्ती अपने पिता के घर में सभी महान् ब्राह्मणों की सेवा किया करती थीं और उनके अच्छे सत्कार से प्रसन्न होकर दुर्वासा मुनि ने उन्हें ऐसी शक्ति का वर दिया कि जिससे वे इच्छित देवता का आवाहन कर सकती थीं। ऐसा समझा जाता है कि वे शिवजी के अंशावतार थे, अतएव वे शीघ्र ही प्रसन्न या रुष्ट किए जा सकते थे। वे शिव के महान् भक्त थे और शिवजी के आदेश से उन्होंने श्वेतकेतु का पुरोहित बनना स्वीकार किया था, क्योंकि

श्वेतकेतु एक सौ वर्षों तक यज्ञ कर चुके थे। वे कभी-कभी इन्द्रदेव की स्वर्ग-सभा में भी जाया करते थे। वे अपनी महान् योगशक्ति के बल से बाह्यावकाश में यात्रा कर सकते थे और ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने बाह्यावकाश में बहुत दूरी तक-भौतिक आकाश से भी परे वैकुण्ठ के ग्रहों तक यात्रा की थी। उन्होंने इतनी लम्बी दूरी एक वर्ष में तब तय की थी, जब उन्होंने चक्रवर्ती सम्राट एवं परम भक्त राजा अम्बरीष से झगड़ा किया था।

उनके लगभग दस हजार शिष्य थे और वे जहाँ कहीं जाते तथा जिन क्षत्रिय राजाओं के अतिथि बनते, वहीं अपने बहुत से शिष्यों को साथ लेते जाते। एक बार वे महाराज युधिष्ठिर के शत्रु चचेरे भाई दुर्योधन के घर गये। दुर्योधन इतना तो बुद्धिमान था कि वह समझे कि ब्राह्मण को सब प्रकार से सन्तुष्ट करना चाहिए और ऐसा करने पर इस महर्षि ने दुर्योधन को कुछ वरदान देना चाहा। दुर्योधन इनकी योगशक्ति से परिचित था और उसे यह भी पता था कि ये योगी ब्राह्मण अप्रसन्न होने पर किस प्रकार ये बवंडर खड़ा कर सकते हैं। अतएव उसने ऐसी चाल सोची कि यह ब्राह्मण अपना क्रोध उनके शत्रु पाण्डवों पर उतारे। जब ऋषि ने दुर्योधन को कुछ वर देना चाहा, तो उसने इच्छा व्यक्त कि अच्छा हो यदि श्रीमान् उसके अग्रज तथा प्रमुख महाराज युधिष्ठिर के घर जायें। लेकिन उसने विनति की कि वे तब पहुँचें, जब युधिष्ठिर अपनी महारानी द्रौपदी के साथ भोजन कर चुके हों। दुर्योधन जानता था कि द्रौपदी के साथ भोजन करने के बाद महाराज युधिष्ठिर इतने सारे ब्राह्मण अतिथियों को भोजन नहीं दे पायेंगे और तब यह ऋषि क्रुद्ध होकर महाराज युधिष्ठिर के लिए संकट उत्पन्न कर देंगे। यह थी दुर्योधन की योजना। दुर्वासा मुनि ने उसके प्रस्ताव को मान लिया और दुर्योधन की योजना के अनुसार ही वनवासी राजा के यहाँ उस समय पहुँचे, जब राजा तथा द्रौपदी भोजन कर चुके थे।

महाराज युधिष्ठिर के द्वार पर पहुँचते ही दुर्वासा ऋषि का स्वागत किया गया और राजा ने उनसे प्रार्थना की कि वे दोपहर का धार्मिक कृत्य नदी के किनारे सम्पन्न करें, क्योंकि तब तक भोजन तैयार हो जाएगा। दुर्वासा अपने अनेक शिष्यों सहित नदी में स्नान करने गये और महाराज युधिष्ठिर इन अतिथियों के कारण बहुत चिन्ता करने लगे। जब तक द्रौपदी नहीं खाती थी, तब तक चाहे कितने ही अतिथि क्यों न आ जाँय, उन्हें भोजन दिया जा सकता था, किन्तु ऋषि तो दुर्योधन की योजना के अनुसार, उस समय पहुँचे थे, जब द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं।

जब भक्तगण कठिनाई में होते हैं, तब उन्हें ध्यानमग्न होकर भगवान् का स्मरण करने का अवसर प्राप्त होता है। अतएव द्रौपदी उस विषम स्थिति में भगवान् कृष्ण का स्मरण कर रही थीं और सर्वव्यापी भगवान् तुरन्त अपने भक्तों की कठिन स्थिति को समझ गयी। अतः वे वहाँ पर उपस्थित हुए और द्रौपदी से कहा कि जितना भी भोजन बचा हो, उसे वे ले आयें। भगवान् की बात सुनकर द्रौपदी अत्यन्त खिन्न हुई, क्योंकि भोजन तो था नहीं और भगवान् भोजन माँग रहे थे। उन्होंने भगवान् से कहा कि यदि वे खा न चुकी होतीं, तो सूर्य द्वारा प्रदत्त रहस्यमयी थाली से वे कितना ही भोजन दे सकती थीं, किन्तु उस दिन वे भोजन कर चुकी थीं, अतएव अब संकट उपस्थित था। वे अपनी कठिनाइयाँ बताकर कृष्ण के समक्ष रोने लगीं, जैसाकि ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ करती हैं। किन्तु भगवान् ने द्रौपदी से रसोई के पात्र लाने को कहा, जिससे वे देख सकें कि उनमें कहीं भोजन का कोई कण लगा तो नहीं रह गया है। द्रौपदी के ऐसा करने पर भगवान् ने देखा कि पात्र में शाक का एक कण लगा हुआ है। भगवान् ने उसे निकाल कर तत्क्षण खा लिया। उसके बाद भगवान् ने द्रौपदी से कहा कि दुर्वासा समेत सारे अतिथियों को बुलायें।

भीम को नदी-तट से उन सबों को बुला लाने के लिए भेजा गया। भीम ने कहा, “हे महोदय! आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं? आइये, आपके लिए भोजन तैयार है।” किन्तु भगवान् कृष्ण ने भोजन का एक कण ग्रहण कर लिया था, अतएव नदी में स्नान करते समय अतिथियों का भी पेट पूरा भर चुका था। उन्होंने सोचा कि महाराज युधिष्ठिर ने उन सबों के लिए नाना प्रकार के व्यंजन तैयार कराये होंगे और चूँकि उन्हें भूख नहीं लग रही थी और वे खा नहीं सकेंगे, तो महाराज युधिष्ठिर को दुख होगा, अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि वे वहाँ जायें ही नहीं। इसलिए उन सबों ने वहाँ से चले जाने का निश्चय किया।

यह घटना सिद्ध करती है कि भगवान् सर्वोत्कृष्ट योगी हैं, अतएव वे योगेश्वर कहलाते हैं। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वह भगवान् को भोजन भेंट करे। इसका फल यह होगा कि हर व्यक्ति सन्तुष्ट हो जायेगा, भले ही दस हजार अतिथि क्यों न हों, क्योंकि भगवान् सन्तुष्ट हैं। यही भक्ति की विधि है।

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
 विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
 अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
 प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; तेजसा—प्रभाव से; अथ—एक समय; भगवान्—ईश्वर (शिवजी); युधि—युद्ध में; शूल-पाणिः—त्रिशूलधारी;
 विस्मापितः—आश्चर्यचकित; स-गिरिजः—हिमालय की पुत्री समेत; अस्त्रम्—अस्त्र; अदात्—दिया; निजम्—अपना; मे—
 मुझको; अन्ये अपि—और दूसरे भी; च—तथा; अहम्—मैं; अमुना—उनके; एव—निश्चय ही; कलेवरेण—शरीर से; प्राप्तः—
 प्राप्त; महा-इन्द्र-भवने—इन्द्रदेव के घर में; महत्—महान्; आसन-अर्धम्—आधा ऊँचा आसन।

यह उन्हीं का प्रताप था कि मैं एक युद्ध में शिवजी तथा उनकी पत्नी पर्वतराज हिमालय की कन्या को आश्चर्यचकित करने में समर्थ हुआ। इस तरह वे (शिवजी) मुझ पर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे अपना निजी अस्त्र प्रदान किया। अन्य देवताओं ने भी मुझे अपने-अपने अस्त्र भेंट किये और इसके अतिरिक्त, मैं इसी वर्तमान शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सका, जहाँ मुझे आधे ऊँचे आसन पर बैठने दिया गया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से शिवजी समेत सारे देवता अर्जुन से प्रसन्न थे। भाव यह है कि जिस किसी पर शिवजी की या किसी अन्य देवता की कृपा होती है, उस पर भगवान् श्रीकृष्ण की भी कृपा हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। रावण निश्चित रूप से शिवजी का महान् भक्त था, किन्तु वह भगवान् रामचन्द्र के क्रोध से बच नहीं पाया। और पुराणों में ऐसी अनेक घटनाएँ भरी पड़ी हैं। किन्तु यहाँ पर एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जिसमें शिवजी अर्जुन से युद्ध करके भी प्रसन्न होते हैं। परमेश्वर के भक्त जानते हैं कि देवताओं का सम्मान किस तरह किया जाय, किन्तु देवताओं के भक्त कभी-कभी मूर्खतावश ऐसा सोचते हैं कि भगवान् देवताओं से बड़े नहीं हैं। ऐसी धारणा से मनुष्य अपराधी बन जाता है और उसका अन्त वैसा ही होता है, जैसा रावण तथा अन्यो का हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सख्य भाव में सम्पन्न कार्यों का अर्जुन द्वारा किया गया उल्लेख उन सबों के लिए शिक्षाप्रद है, जो इस शिक्षा से आश्वस्त हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न करके अन्य सारे वर प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु देवताओं के भक्तों या पूजकों को केवल आंशिक लाभ होगा, जो खुद देवताओं की ही भाँति विनाशशील होगा।

इस श्लोक की दूसरी महत्ता यह है कि भगवान् कृष्ण की कृपा से अर्जुन इसी शरीर से स्वर्गलोक पहुँच सके, जहाँ स्वर्ग के देवता इन्द्रदेव ने अर्ध-ऊँचे सिंहासन पर अपने साथ बिठाकर उन्हें सम्मानित किया। कोई मनुष्य पुण्य कर्मों से स्वर्गलोक पहुँच सकता है, जैसा कि सकाम कर्मों की श्रेणी में शास्त्रों का अभिमत है। जैसा कि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है, जब ऐसे पुण्य कर्मों का फल क्षीण हो जाता है, तब भोक्ता को पुनः पृथ्वीलोक पर ला गिराया जाता है। चन्द्रमा भी, स्वर्गीय ग्रहों के समान स्तर पर है और जिन लोगों ने यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर तथा कठोर तपस्या करके पुण्य अर्जित किया है, उन्हें ही शरीर की आयु पूरी होने के बाद स्वर्गलोक में प्रविष्ट होने दिया जायेगा। अर्जुन को उसी शरीर में स्वर्ग में प्रविष्ट होने दिया गया जो केवल भगवत्कृपा का प्रसाद था, अन्यथा ऐसा होना सम्भव नहीं है। आधुनिक विज्ञानियों द्वारा स्वर्गलोक में प्रवेश करने के सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होंगे, क्योंकि ऐसे विज्ञानी अर्जुन के समान स्तर पर नहीं हैं। वे तो सामान्य मनुष्य हैं, जो यज्ञ, दान या तप की निधि से विहीन हैं। यह भौतिक शरीर प्रकृति के तीन गुण—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित होता रहता है। आधुनिक प्रजा न्यूनाधिक रूप से रजोगुण तथा तमोगुण से प्रभावित है और इस प्रभाव के लक्षण उनके अत्यन्त कामुक तथा लोभी होने से प्रकट होते हैं। ऐसे पतित लोग मुश्किल से स्वर्गलोक पहुँच सकते हैं। स्वर्गलोक के ऊपर भी अन्य अनेक लोक भी हैं, जहाँ केवल सतोगुणी जीव ही पहुँच सकता है। इस ब्रह्माण्ड में, स्वर्ग तथा अन्य लोकों के निवासी अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं—मनुष्यों से कई गुना अधिक और वे एक से एक बढ़कर सतोगुणी होते हैं। वे सब भगवान् के भक्त होते हैं और यद्यपि उनका सत्त्वगुण विशुद्ध नहीं होता है, तो भी वे देवता कहलाते हैं, जिनमें इस भौतिक जगत में सम्भव अधिकतम मात्रा में सद्गुण पाये जाते हैं।

तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं
गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस स्वर्गलोक में; एव—निश्चय ही; मे—मैं स्वयं; विहरतः—अतिथि के रूप में रहते हुए; भुज-दण्ड-युग्मम्—अपनी दोनों भुजाओं को; गाण्डीव—गांडीव धनुष; लक्षणम्—चिह्न; अराति—निवातकवच नामक असुर; वधाय—मारने के लिए; देवाः—सारे देवता; स—सहित; इन्द्राः—स्वर्ग का राजा, इन्द्र; श्रिताः—शरण लेकर; यत्—जिसके; अनुभावितम्—शक्तिमान होने के लिए सम्भव; आजमीढ—हे राजा आजमीढ के वंशज; तेन—उसके द्वारा; अहम्—मैं; अद्य—इस समय; मुषितः—रहित; पुरुषेण—व्यक्ति से; भूम्ना—परम।

जब मैं स्वर्गलोक में अतिथि के रूप में कुछ दिन रुका रहा, तो इन्द्रदेव समेत स्वर्ग के समस्त देवताओं ने निवातकवच नामक असुर को मारने के लिए गाण्डीव धनुष धारण करनेवाली मेरी भुजाओं का आश्रय लिया था। हे आजमीढ के वंशज राजा, इस समय मैं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विहीन हो गया हूँ, जिनके प्रभाव से मैं इतना शक्तिशाली था।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के देवता निश्चय ही अधिक बुद्धिमान, शक्तिमान तथा सुन्दर होते हैं, तो भी उन्हें अर्जुन से उनके गाण्डीव धनुष के कारण सहायता लेनी पड़ी, क्योंकि गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से शक्ति-सम्पन्न था। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं और उनकी कृपा से शुद्ध भक्त उनकी इच्छा के अनुसार शक्तिमान हो सकता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती है। किन्तु जब भगवान् किसी से अपनी शक्ति वापस ले लेते हैं, तो वह भगवान् की इच्छा से शक्तिविहीन हो जाता है।

यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार—

मेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।

प्रत्याहतं बहु धनं च मया परेषां

तेजास्पदं मणिमयं च हतं शिरोभ्यः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यत्-बान्धवः—जिनकी मैत्री मात्र से; कुरु-बल-अब्धिम्—कुरुओं की सैन्य-शक्ति-रूपी सागर को; अनन्त-पारम्—दुर्लभ; एकः—एकाकी; रथेन—रथ पर आरूढ़ होकर; ततरे—पार करने में समर्थ था; अहम्—मैं; अतीर्य—अजेय; सत्त्वम्—अस्तित्व; प्रत्याहतम्—वापस ले लिया; बहु—अत्यधिक; धनम्—धन; च—भी; मया—मेरे द्वारा; परेषाम्—शत्रु का; तेज-आस्पदम्—तेज (प्रकाश) का स्रोत; मणि-मयम्—मणियों से अलंकृत; च—भी; हतम्—बलपूर्वक लाया गया; शिरोभ्यः—उनके सिरों से।

कौरवों की सैन्यशक्ति उस समुद्र की तरह थी, जिसमें अनेक अजेय प्राणी रहते थे। फलतः वह दुर्लभ थी। किन्तु उनकी मित्रता के कारण, मैं रथ पर आरूढ़ होकर, उसे पार कर सका। यह उन्हीं की कृपा थी कि मैं गौवों को वापस ला सका और बलपूर्वक राजाओं के तमाम मुकुट एकत्र कर सका, जो समस्त तेज के स्रोत रत्नों से जटित थे।

तात्पर्य : कौरवों के पक्ष में भीष्म, द्रोण, कृप तथा कर्ण जैसे बड़े-बड़े सेनानायक थे और उनकी सैन्य-शक्ति विशाल समुद्र की तरह दुर्लभ थी। फिर भी यह श्रीकृष्ण की ही कृपा थी कि अर्जुन ने अकेले ही रथ पर बैठकर उन सबों को एक-एक करके सरलता से समाप्त कर दिया। दूसरे पक्ष के सेनापतियों में अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु पाण्डवों की ओर से श्रीकृष्ण द्वारा चालित रथ पर आरूढ़ अर्जुन अकेले इस महायुद्ध का भार सँभाले रहे। इसी प्रकार जब पाण्डव विराट के महल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कौरवों ने राजा विराट से झगड़ा मोल लिया और उनकी बड़ी तादाद में गौवं हर लीं। जब वे गौवं ले जा रहे थे, तो अर्जुन ने उनसे अज्ञात वेष में युद्ध किया और गायों के साथ बलपूर्वक लूटी गई सम्पत्ति तथा राजमुकुटों में लगे रत्नों को भी उनसे छीन लिया। अर्जुन स्मरण करने लगे कि यह सब भगवान् कृष्ण की ही कृपा से सम्भव हो सका।

यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्र-
 राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
 अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना-
 मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—केवल वे ही; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; गुरु—द्रोणाचार्य; शल्य—शल्य; चमूषु—व्यूह के मध्य; अदभ्र—विशाल; राजन्य-वर्य—बड़े-बड़े राजकुमार; रथ-मण्डल—रथों की शृंखला; मण्डितासु—अलंकृत; अग्रे चरः—आगे-आगे जाते हुए; मम—मेरा; विभो—हे राजा; रथ-यूथ-पानाम्—सारे रथी; आयुः—उम्र अथवा सकाम कर्म; मनांसि—मानसिक उथल-पुथल; च—भी; दृशा—चितवन से; सहः—शक्ति; ओजः—पराक्रम; आर्च्छत्—वापस ले लिया।

एकमात्र वे ही थे जिन्होंने सबों की आयु छीन ली थी और जिन्होंने युद्धभूमि में भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य, इत्यादि कौरवों द्वारा निर्मित सैन्य-व्यूह की कल्पना तथा उत्साह को हर लिया था। उन सबकी योजना अत्यन्त पटु थी और आवश्यकता से अधिक थी, लेकिन उन्होंने (भगवान् श्रीकृष्ण ने) आगे बढ़कर यह सब कर दिखाया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण घट-घट व्यापी अपने परमात्मा-अंश से सभी के हृदय में विस्तार करते हैं और इस तरह स्मृति, विस्मृति, ज्ञान, बुद्धिहीनता तथा मनोवैज्ञानिक कार्यकलापों में सबों का निर्देशन करते हैं (भगवद्गीता १५.१५)। परमेश्वर होने के नाते, वे जीव की आयु को घटा-बढ़ा सकते हैं। इस तरह भगवान् ने अपनी योजना के अनुसार कुरुक्षेत्र-युद्ध का संचालन किया। वे इस युद्ध को इसलिये

कराना चाह रहे थे, जिससे वे युधिष्ठिर को इस लोक का सम्राट बना सकें। इस दिव्य कार्य को सुगम बनाने के लिये उन्होंने अपनी परम शक्तिमान इच्छा से विरोधी पक्ष के उन सभी लोगों को मार डाला। विरोधी पक्ष में भीष्म, द्रोण तथा शल्य जैसे महान् सेनापति थे, अतएव उस युद्ध में यदि भगवान् ने सब प्रकार की युक्तियों से सहायता न की होती, तो अर्जुन का जीतना असम्भव था। सामान्यतया ऐसी युक्तियाँ आधुनिक राजनीति में भी सभी नीतिज्ञों द्वारा अपनायी जाती हैं, लेकिन ये सब भौतिक शक्तिशाली गुप्तचरी, सैन्य-निपुणता तथा राजनयिक दाँव-पेंच द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। चूँकि अर्जुन भगवान् के प्रिय भक्त थे, अतएव भगवान् ने स्वयं यह सब किया, अर्जुन को इसकी चिन्ता नहीं करनी पड़ी। भगवान् की भक्तिमय सेवा की विधि ऐसी होती है।

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशल्यसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके अन्तर्गत; दोःषु—हथियारों की सुरक्षा; मा प्रणिहितम्—स्वयं मेरे स्थित होने पर; गुरु—द्रोणाचार्य; भीष्म—भीष्म; कर्ण—कर्ण; नप्तृ—भूरिश्रवा; त्रिगर्त—राजा सुशर्मा; शल्य—शल्य; सैन्धव—राजा जयद्रथ; बाह्लिक—महाराज शान्तनु (भीष्म के पिता) का भाई; आद्यैः—इत्यादि; अस्त्राणि—अस्त्रों को; अमोघ—अचूक; महिमानि—अत्यन्त शक्तिशाली; निरूपितानि—व्यवहृत; न—नहीं; उपस्पृशुः—स्पर्श किया; नृहरि-दासम्—नृसिंह देव का सेवक (प्रह्लाद); इव—सदृश; असुराणि—असुरों द्वारा प्रयुक्त हथियार।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ तथा बाह्लिक जैसे बड़े-बड़े सेनापतियों ने अपने-अपने अचूक हथियार मुझ पर चलाये, लेकिन उनकी (भगवान् कृष्ण की) कृपा से सब वे मेरा बाल बाँका भी न कर पाये। इसी प्रकार भगवान् नृसिंह देव के परम भक्त प्रह्लाद महाराज असुरों द्वारा प्रयुक्त समस्त शस्त्रास्त्रों से अप्रभावित रहे।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज नृसिंह-देव के परम भक्त थे। उनकी कथा श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध में दी गई है। प्रह्लाद महाराज अभी पाँच वर्ष के नन्हे बालक ही थे कि वे अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के क्रोध के पात्र बने, क्योंकि वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। असुर पिता ने अपने भक्त पुत्र प्रह्लाद को मारने के लिए सभी हथियारों को आजमाया, लेकिन भगवान् की कृपा से वे अपने पिता की

सभी घातक कार्यवाहियों से बचते गये। उन्हें जलती अग्नि में, उबलते तेल में, पर्वत की चोटी से नीचे, हाथी के पाँव के नीचे फेंका गया और उन्हें विष भी दिया गया। अन्त में पिता ने अपने पुत्र को मारने के लिए गँड़ासा उठाया, तो नृसिंह देव प्रकट हुए और उस जघन्य पिता का पुत्र के समक्ष वध कर दिया। इस तरह भगवान् के भक्त को कोई नहीं मार सकता। इसी प्रकार अर्जुन को भी भगवान् ने बचाया, यद्यपि उन्हें मारने के लिए भीष्म जैसे महान् प्रतिद्वन्द्वी द्वारा सभी घातक हथियार छोड़े गये थे।

कर्ण—ये कुन्ती के पुत्र थे, जो महाराज पाण्डु से विवाह होने के पूर्व सूर्यदेव से प्राप्त हुए थे। कर्ण का जन्म हाथ के कड़े तथा कान के कुण्डल सहित हुआ था, जो दुर्दम वीर के असामान्य लक्षण थे। प्रारम्भ में उसका नाम वसुसेन था, लेकिन जब वह बड़ा हुआ तो उसने अपने प्राकृतिक कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को भेंट कर दिये और उसके बाद वैकर्तन कहलाया। कुमारी कुन्ती ने जन्म देने के बाद, उसे गंगा नदी में फेंक दिया गया था। बाद में अधिरथ ने उसे उठा लिया और उसने तथा उसकी पत्नी राधा ने उसे अपनी सन्तान की तरह पाला-पोसा। कर्ण अत्यन्त दानी था, विशेषतः ब्राह्मणों के प्रति। ब्राह्मणों को दान देते समय, वह अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत रहता था। इसी दानी भावना से उसने अपने कड़े तथा कुण्डल इन्द्रदेव को दे दिये थे, जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने बदले में शक्ति नाम का महान् अस्त्र प्रदान किया। उसकी द्रोणाचार्य के शिष्य-रूप में भर्ती हुई थी और प्रारम्भ से ही उसमें तथा अर्जुन में स्पर्धा चलती थी। अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा देखकर ही दुर्योधन ने उसे अपना संगी बना लिया था और क्रमशः उनमें प्रगाढ़ मैत्री हो गई। वह द्रौपदी के स्वयंवर में भी उपस्थित था और जब उस सभा में उसने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहा, तो द्रौपदी के भाई ने घोषणा की कि कर्ण उस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकता, क्योंकि वह शूद्र बढई का पुत्र था। यद्यपि उसे उस प्रतियोगिता में भाग लेने नहीं दिया गया, किन्तु जब अर्जुन मत्स्य-भेद में सफल रहा और द्रौपदी ने अर्जुन को माला पहना दी, तो कर्ण तथा हारे हुए राजकुमारों ने द्रौपदी-सहित जाते हुए अर्जुन के लिए असामान्य रूकावट खड़ी की। विशेष रूप से कर्ण उनसे बहादुरी से लड़ा, किन्तु वे सभी अर्जुन द्वारा परास्त हुए। दुर्योधन कर्ण से अत्यधिक प्रसन्न था, क्योंकि अर्जुन से उसकी निरन्तर स्पर्धा चलती रहती थी और जब दुर्योधन राजा बना तो उसने कर्ण को अंगराज्य का राजा बना दिया। द्रौपदी को जीतने का प्रयास असफल होने से कर्ण ने दुर्योधन को सलाह दी कि राजा द्रुपद पर हमला कर

दिया जाये, क्योंकि उसे हराकर द्रौपदी तथा अर्जुन दोनों को बन्दी बनाया जा सकता था। लेकिन द्रोणाचार्य ने इस षड्यंत्र के लिए उनको फटकारा। फलतः वे इस कार्य से विरत हो गये। कर्ण, कई बार हारा था, न केवल अर्जुन से, अपितु भीमसेन से भी। वह बंगाल, उड़ीसा तथा मद्रास के सम्मिलित राज्य का राजा था। बाद में उसने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सक्रिय भाग लिया और जब शकुनि द्वारा सुझाये जाने पर प्रतिद्वन्द्वी बन्धुओं में जुआ खेला गया, तो कर्ण ने उसमें भाग लिया और जब द्रौपदी दाँव पर चढ़ गई, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। इससे उसके पुराने वैर का शोधन हुआ। जब द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया, उसने ही अत्यन्त प्रोत्साहित होकर इसकी सूचना दी और उसने ही पाण्डवों तथा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के लिए दुस्शासन को आज्ञा दी। उसने द्रौपदी से दूसरा पति चुनने को कहा, क्योंकि पाण्डवों के द्वारा हारी जाने से वह कुरुओं की दासी बन चुकी थी। वह पाण्डवों का स्थायी दुश्मन बना रहा और जब-जब अवसर मिलता रहा, वह उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास करता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध में उसने पहले ही परिणाम जान लिया था और उसने अपना अभिमत व्यक्त किया था कि अर्जुन के सारथी के रूप में, कृष्ण के होने से, यह युद्ध अर्जुन द्वारा जीता जायेगा। वह भीष्म का सदैव विरोध करता रहा और कभी-कभी गर्वित होकर कहता कि यदि भीष्म उसकी योजना में दखल न दें, तो वह पाण्डवों को पाँच दिनों में जीत सकता है। लेकिन जब भीष्म की मृत्यु हुई, तब वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने इन्द्र से प्राप्त हुए शक्ति अस्त्र द्वारा घटोत्कच का वध किया। अर्जुन ने उसके पुत्र वृषसेन का वध किया उसने सर्वाधिक पाण्डव सैनिकों को मारा था। अन्त में अर्जुन से उसका घनघोर युद्ध हुआ, और वह अकेल ही ऐसा था, जिसने युद्ध में अर्जुन के मुकुट को मार गिराया था। लेकिन ऐसा हुआ कि उसके रथ का पहिया युद्धभूमि के कीचड़ में फँस गया और जब वह उस पहिये को ठीक करने रथ से नीचे उतरा, तो उसके मना करने पर भी अर्जुन ने उसे मार डाला।

नप्ता अथवा **भूरिश्रवा**—भूरिश्रवा कुरुवंशी सोमदत्त का पुत्र था। शल्य उसका भाई था। दोनों भाई तथा पिता द्रौपदी-स्वयंवर में गये थे। इन सबों ने भगवान् के भक्त-मित्र होने के कारण, अर्जुन की अद्भुत शक्ति की प्रशंसा की थी और भूरिश्रवा ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को सलाह दी थी कि वे उनसे झगड़ा मोल न लें अथवा युद्ध न करें। इन सबों ने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भी भाग लिया। उसके

पास एक अक्षौहिणी सेना थी जिसमें पैदल सिपाही, घुड़सवार, हाथी और रथ शामिल थे और यह सेना दुर्योधन की ओर से कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ी थी। भीम उसे यूथपतियों में से एक मानते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वह विशेष तौर पर सात्यकी से लड़ा था और उसने सात्यकी के दस पुत्रों को मार डाला था। बाद में अर्जुन ने उसके हाथ काट दिये तब सात्यकी ने उसे मार डाला। मृत्यु के बाद वह विश्वदेव में समा गया।

त्रिगर्त अथवा *सुशर्मा*—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का पुत्र तथा त्रिगर्त देश का राजा था और वह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था। यह दुर्योधन का मित्र था और इसने दुर्योधन को मत्स्यदेश (दरभंगा) पर आक्रमण करने की सलाह दी थी। विराट नगर में गायों को चुराते समय, वह महाराज विराट को बन्दी बना ने में सफल हुआ था, लेकिन बाद में भीम ने महाराज विराट को छुड़ा लिया था। कुरुक्षेत्र युद्ध के में भी वह वीरतापूर्वक लड़ा, किन्तु अन्त में अर्जुन द्वारा मारा गया।

जयद्रथ—यह महाराज वृद्धक्षेत्र का ही एक अन्य पुत्र था। यह सिन्धुदेश (आधुनिक सिंध जो पाकिस्तान में है) का राजा था। इसकी पत्नी का नाम दुःशला था। यह भी द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित था और उससे विवाह करने के लिए बहुत उत्सुक था, किन्तु प्रतियोगिता में असफल रहा। किन्तु तब से वह हमेशा द्रौपदी के निकट आने के फेर में रहा करता था। जब वह अपना विवाह करने शल्यदेश जा रहा था, तो उसने रास्ते में काम्यवन में उसने एक बार फिर द्रौपदी को देखा और वह उसके प्रति अत्यधिक आकर्षित हो गया था। तब अपना राज्य जुए में हारकर पाण्डव तथा द्रौपदी वनवास में थे और तब जयद्रथ ने अपने संगी कोटिशष्य के द्वारा, अनुचित तरीके से द्रौपदी के पास सन्देश भेजा। द्रौपदी ने तुरन्त ही जयद्रथ के प्रस्ताव को बड़ी बुरी तरह ठुकरा दिया था, किन्तु द्रौपदी के सौन्दर्य के प्रति वह इतना आकर्षित था कि वह बारम्बार प्रयास करता रहा और हर बार द्रौपदी ने उसे ठुकरा दिया। उसने द्रौपदी को जबरन रथ पर बैठाना चाहा, लेकिन द्रौपदी ने उसे ऐसी पटकनी दी कि वह कटे हुए वृक्ष की तरह धराशायी हो गया। लेकिन वह हतोत्साहित नहीं हुआ और द्रौपदी को जबरन रथ पर बिठाने में सफल रहा। धौम्य मुनि ने यह घटना देखी तो उन्होंने जयद्रथ के इस कार्य का तीव्र विरोध किया। उन्होंने रथ का पीछा भी किया और धात्रेयिका के द्वारा इसकी जानकारी महाराज युधिष्ठिर तक पहुँचाई। तब पाण्डवों ने आक्रमण करके उसके सारे सैनिकों को मार डाला और अन्त में

भीमसेन ने जयद्रथ को पकड़कर उसकी जमकर पिटाई की और वह लगभग मरा सा हो गया। फिर उसके पाँच बाल छोड़कर सिर के सारे बाल काट लिये गये और समस्त राजाओं के समक्ष लाकर, महाराज युधिष्ठिर के दास के रूप में, परिचय कराया गया। उसे सभी राजकुमारों के समक्ष अपने को महाराज युधिष्ठिर का दास स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और उसे उसी अवस्था में महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख लाया गया। महाराज युधिष्ठिर ने दयालु होकर उसे छोड़ने का आदेश दिया और जब उसने त्रिगर्त राजकुमार को महाराज के अधीन बनाने के लिए आत्म-स्वीकृति कर ली, तो महारानी द्रौपदी ने भी उसको मुक्त करने की इच्छा व्यक्त कर दी। इस घटना के बाद उसे अपने देश जाने दिया गया। इस प्रकार अपमानित होने के बाद, वह हिमालय पर्वत पर गंगोत्री चला गया और उसने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या की। उसने पाँचों पाण्डवों को कम से कम एक-एक करके हराने का वर माँगा। तत्पश्चात् जब कुरुक्षेत्र-युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसने दुर्योधन का पक्ष लिया। पहले दिन उसने महाराज द्रुपद से, फिर विराट से और तब अभिमन्यु से युद्ध किया। जब अभिमन्यु को सात महान् सेनापति घेरकर निर्दयतापूर्वक मार रहे थे, तो पाण्डव उसकी सहायता करने के लिए पहुँचे, किन्तु जयद्रथ ने शिवजी की कृपा से अपनी शक्ति से उन्हें पीछे हटा दिया। इस पर अर्जुन ने उसका वध करने की प्रतिज्ञा की। यह सुनकर जयद्रथ ने युद्धस्थल छोड़कर भागना चाहा और कौरवों से इसकी अनुमति माँगी, किन्तु उसे ऐसा नहीं करने दिया गया। उल्टे उसे अर्जुन से युद्ध करने के लिए विवश किया गया और जब युद्ध चल रहा था, तो भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को याद दिलाई कि जयद्रथ को शिवजी का यह वरदान प्राप्त है कि जो भी उसका सिर धरती पर गिराएगा, वह तुरन्त मर जायेगा। अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वे जयद्रथ के सिर को सीधे उसके पिता की गोद में गिराये, जो समन्तपंचक तीर्थ में तप कर रहा था। अर्जुन ने वास्तव में ऐसा ही किया। जयद्रथ का पिता पुत्र के कटे हुए सिर को अपनी गोद में देखकर अचम्भित हो उठा। अतएव उसने तुरन्त ही उस सिर को भूमि पर फेंक दिया। उसके पिता का सिर सात खण्डों में विभक्त हो गया और वह तुरन्त मर गया।

सौत्ये वृतः कुमतिनात्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।

मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं

न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सौत्ये—सारथी के विषय में; वृतः—लगा हुआ; कुमतिना—बुरी चेतना के कारण; आत्म-दः—उद्धार करनेवाला; ईश्वरः—परमेश्वर; मे—मेरा; यत्—जिसको; पाद-पद्मम्—चरणकमल को; अभवाय—मोक्ष के मामले में; भजन्ति—सेवा करते हैं; भव्याः—बुद्धिमान पुरुष; माम्—मुझको; श्रान्त—प्यासा; वाहम्—मेरे घोड़े; अरयः—शत्रु; रथिनः—महान् सेनापति; भुविष्ठम्—भूमि पर खड़े हुए; न—नहीं; प्राहरन्—आक्रमण किया; यत्—जिसकी; अनुभाव—कृपा; निरस्त—अनुपस्थित होने से; चित्ताः—मन।

यह उन्हीं की कृपा थी कि जब मैं अपने प्यासे घोड़ों के लिए जल लेने रथ से नीचे उतरा था, तो मेरे शत्रुओं ने मुझे मारने की परवाह न की। यह तो अपने प्रभु के प्रति मेरा असम्मान ही था कि मैंने उन्हें अपना सारथी बनाने का दुस्साहस किया, क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ पुरुष उनकी पूजा तथा सेवा करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण निर्विशेषवादियों तथा भगवद्भक्तों दोनों के द्वारा समान रूप से आराध्य हैं। निर्विशेषवादी उनके जाज्वल्यमान तेज की पूजा करते हैं, जो सच्चिदानन्द-स्वरूप दिव्य देह से उद्भासित होता रहता है और भक्तगण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में उनकी पूजा करते हैं। जो लोग निर्विशेषवादियों से भी नीचे के हैं, वे उन्हें महान् ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। किन्तु भगवान् तो अपनी विशिष्ट दिव्य लीलाओं के द्वारा सबों को आकृष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं और इस तरह वे पूर्ण स्वामी, मित्र, पुत्र तथा प्रेमी की भूमिका निभाते हैं। अर्जुन से उनका दिव्य सम्बन्ध मित्र (सख्य) भावका था, अतएव उन्होंने अपनी भूमिका पूरी तरह निभाई, जिस तरह उन्होंने अपने माता-पिता, प्रेमिकाओं तथा पत्नियों के साथ किया था। इस तरह के पूर्ण दिव्य भाव में भक्त, भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के कारण यह भूल जाता है कि उसका मित्र या पुत्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है, यद्यपि भक्त भी कभी-कभी भगवान् के कार्यों से मोहग्रस्त हो जाता है। भगवान् के प्रयाण के बाद अर्जुन को अपने परम मित्र का बोध था, लेकिन इस विषय में अर्जुन कोई गलती नहीं कर रहा था और न ही उसे भगवान् के विषय में कोई भ्रान्त धारणा थी। बुद्धिमान व्यक्ति अर्जुन जैसे शुद्ध अनन्य भक्तों के प्रति भगवान् की दिव्य करनी के द्वारा आकृष्ट होते हैं।

युद्धभूमि में जल का अभाव सर्वविदित तथ्य है। जल वहाँ दुर्लभ रहता है। और पशु तथा मनुष्य, दोनों ही युद्धक्षेत्र में निरन्तर श्रम करते रहने से प्यासे हो उठते हैं और प्यास बुझाने के लिए जल की

आवश्यकता पड़ती है। विशेष रूप से, घायल सैनिक तथा सेनापति मृत्यु के समय अत्यधिक प्यासे हो उठते हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जल न मिलने के कारण ही विवश होकर मृत्यु हो जाती है। लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्ध में पानी के अभाव को भूमि का बेधन करके पूरा किया गया। भगवान् की कृपा से किसी भी स्थान को बेध करके जल आसानी से प्राप्त किया जा सकता था, यदि वहाँ बेधन करने की सुविधा हो। आधुनिक प्रणाली भी भूमि के बेधन के सिद्धान्त पर कार्य करती है। फिर भी आज के इंजीनियर, आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त खुदाई करने में समर्थ नहीं हो पाते। लेकिन इतिहास से पता चलता है कि पाण्डवों के काल में अर्जुन जैसे बड़े-बड़े सेनानायक घोड़ों तक को तुरन्त जल पिला सकते थे—मनुष्यों की तो बात ही क्या? वे तीक्ष्ण बाण से पृथ्वी की कठोर सतह को भेदकर ही नीचे से जल निकाल सकते थे। यह विधि आधुनिक विज्ञानियों को आज भी अज्ञात है।

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नर्माणि—परिहास में बातचीत; उदार—खुलकर बातें करनेवाले; रुचिर—अच्छी लगनेवाली; स्मित-शोभितानि—हँसीले चेहरे से अलंकृत; हे—हे, अरे (सम्बोधन का चिह्न); पार्थ—हे पृथा-पुत्र; हे—हे; अर्जुन—अर्जुन; सखे—मित्र; कुरु-नन्दन—कुरुवंश के पुत्र; इति—इस प्रकार; सञ्जल्पितानि—ऐसी बातचीत; नर-देव—हे राजा; हृदि—हृदय में; स्पृशानि—स्पर्श करती; स्मर्तुः—उन्हें स्मरण करके; लुठन्ति—अभिभूत करती हैं; हृदयम्—हृदय तथा आत्मा को; मम—मेरे; माधवस्य—माधव (कृष्ण) का।

हे राजन्, उनके परिहास तथा उनकी मुक्त बातें अत्यन्त सुहावनी तथा सौंदर्य से अलंकृत होती थीं। “हे पार्थ, हे सखा, हे कुरुनन्दन” कहकर उनका पुकारना तथा उनकी समस्त सहृदयता की अब मुझे याद आ रही है और मैं अभिभूत हूँ।

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि—

ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।

सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्व

सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शय्या—एक ही बिस्तर पर सोना; आसन—एक ही आसन पर बैठना; अटन—साथ-साथ घूमना; विकल्थन—आत्मश्लाघा; भोजन—साथ-साथ खाना; आदिषु—इत्यादि में; ऐक्यात्—एकत्व होने से; वयस्य—हे मित्र; ऋतवान्—सत्यवादी; इति—इस प्रकार; विप्रलब्धः—बुरा आचरण किया गया; सख्युः—मित्र से; सखा इव—मित्र की भाँति; पितृवत्—पिता की भाँति; तनयस्य—बालक का; सर्वम्—सारे; सेहे—सह लेते; महान्—महान्; महितया—यश से; कुमतेः—दुर्बुद्धि का; अधम्—अपराध; मे—मेरे।

सामान्यतः हम दोनों साथ-साथ रहते और सोते, साथ-साथ बैठते और घूमने जाते। और बहादुरी के कार्यों के लिए आत्म-प्रशंसा करते हुए कभी-कभी यदि कोई भूल होती, तो मैं उन्हें यह कहकर चिढ़ाया करता था “हे मित्र, तुम तो बड़े सत्यवादी हो।” उस समय भी जब उनका महत्व घटता होता, वे परमात्मा होने के कारण, मेरी उटपटांग बातों को सह लेते थे और मुझे उसी प्रकार क्षमा कर देते थे जिस तरह एक सच्चा मित्र अपने सच्चे मित्र को या पिता अपने पुत्र को क्षमा कर देता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् श्रीकृष्ण परम-पूर्ण हैं, अतएव शुद्ध भक्तों के साथ उनकी दिव्य लीलाओं में किसी तरह की कमी नहीं रहती, चाहे वह मित्र, पुत्र या प्रेमी के रूप में हों। भगवान् अपने मित्रों, माता-पिता या प्रेमिकाओं की झिड़कियों में बड़े-बड़े विद्वानों तथा धर्म-विशारदों द्वारा विधिपूर्वक अर्पित की जानेवाली वैदिक ऋचाओं से भी अधिक आनन्द उठाते हैं।

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; नृप-इन्द्र—हे सम्राट्; रहितः—विहीन; पुरुष-उत्तमेन—परमेश्वर द्वारा; सख्या—अपने मित्र द्वारा; प्रियेण—अपने सर्वाधिक प्रिय द्वारा; सुहृदा—शुभचिन्तक द्वारा; हृदयेन—हृदय तथा आत्मा से; शून्यः—शून्य, रहित; अध्वनि—हाल ही में; उरुक्रम-परिग्रहम्—सर्वशक्तिमान की पत्नियाँ; अङ्ग—शरीर; रक्षन्—रक्षा करते हुए; गोपैः—ग्वालों द्वारा; असद्भिः—नास्तिक, असभ्य, दुष्ट; अबला इव—निर्बल स्त्री की तरह; विनिर्जितः अस्मि—पराजित हो चुका हूँ।

हे राजन्, अब मैं अपने मित्र तथा सर्वाधिक प्रिय शुभचिन्तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से विलग हो गया हूँ, अतएव मेरा हृदय हर तरह से शून्य-सा प्रतीत हो रहा है। उनकी अनुपस्थिति

में, जब मैं कृष्ण की तमाम पत्नियों की रखवाली कर रहा था, तो अनेक अविश्वस्त ग्वालों ने मुझे हरा दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अर्जुन किस तरह ग्वालों की असभ्य टोली द्वारा हरा दिये गये और किस तरह इन संसारी ग्वालों ने भगवान् की पत्नियों के शरीर का स्पर्श किया होगा, जिनकी रखवाली अर्जुन कर रहे थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *विष्णुपुराण* तथा *ब्रह्मपुराण* से खोज करके इस विरोधाभास को मान्य ठहराया है। इन पुराणों में कहा गया है कि एक बार स्वर्ग की सुन्दरियों ने अपनी सेवा से अष्टावक्र मुनि को प्रसन्न कर लिया, तो मुनि ने उन्हें वरदान दिया कि तुम्हें परमेश्वर पति के रूप में प्राप्त होंगे। अष्टावक्र का शरीर आठ स्थानों से टेढ़ा था, अतएव वे एक खास तरह से झुककर टेढ़ा चलते थे। फलतः देवताओं की पुत्रियाँ उनकी चाल देखकर अपनी हँसी रोक न पाई, तो मुनि ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दिया कि यदि उन्हें पति-रूप में भगवान् प्राप्त हो भी जायें, तो भी उनका अपहरण दुष्टों के द्वारा होगा। बाद में उन कन्याओं ने स्तुतियों द्वारा मुनि को फिर से प्रसन्न किया, तो मुनि ने फिर वरदान दिया कि अपहरण होने पर भी, उन्हें अपने अपने पति वापस मिल जायेंगे। अतएव मुनि के वचनों को सही बनाने के लिए स्वयं भगवान् ने अपनी पत्नियों का अपहरण अर्जुन की सुरक्षा में रहते हुए भी कर लिया, अन्यथा उन दुष्टों के स्पर्श करते ही सारी की सारी पत्नियाँ अदृश्य हो गई होतीं। इसके साथ ही जिन गोपियों ने कृष्ण की पत्नी बनने के लिए प्रार्थना की थी, वे भी अपनी-अपनी इच्छा पूरी होने पर अपने-अपने स्थानों पर लौट आईं। भगवान् कृष्ण के प्रस्थान के बाद उन्होंने चाहा कि उनके सारे संगी भगवद्धाम वापस आ जाँय और वे सभी विभिन्न अवस्थाओं में वापस बुला लिए गये।

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
 सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
 सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
 भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वही; वै—निश्चय ही; धनुः—धनुष; ते इषवः—वही तीर; सः—वही; रथः—रथ; हयाः ते—वे ही घोड़े; सः अहम्—मैं वही अर्जुन हूँ; रथी—रथारूढ़ वीर; नृपतयः—सारे राजा; यतः—जिनको; आनमन्ति—नमस्कार किया करते थे; सर्वम्—सब; क्षणेन—एक क्षण भर में; तत्—वे सब; अभूत्—हो गये; असत्—व्यर्थ; ईश—ईश्वर के कारण; रिक्तम्—रिक्त होने से; भस्मन्—राख; हुतम्—घी की आहुति; कुहक-राद्धम्—जादूगरी से उत्पन्न धन; इव—सदृश; उप्तम्—बोया हुआ; ऊष्याम्—बंजर भूमि में।

मेरे पास वही गाण्डीव धनुष है, वे ही तीर हैं, उन्हीं घोड़ों के द्वारा खींचा जानेवाला वही रथ है और उन्हें इस्तेमाल करनेवाला मैं वही अर्जुन हूँ, जिसके सामने सारे राजा सिर झुकाया करते थे। किन्तु भगवान् कृष्ण की अनुपस्थिति में वे सब एक ही क्षण में शून्य हो गये हैं। यह वैसा ही है जैसे राख में घी की आहुति डालना, जादू की छड़ी से धन एकत्र करना या बंजर भूमि में बीज बोना।

तात्पर्य : जैसाकि हम कई बार कह चुके हैं कि किसी को उधार ली गई पगड़ी पर गर्व नहीं करना चाहिए। सारी शक्तियाँ तथा बल परम स्रोत भगवान् कृष्ण से प्राप्त होते हैं। वे सब तब तक कार्यशील रहते हैं, जब तक भगवान् की इच्छा रहती है। उनके न चाहने पर, वे सब समाप्त हो जाते हैं। जिस तरह सारी विद्युत् शक्ति बिजलीघर से प्राप्त होती है और ज्योंही बिजलीघर विद्युत् ऊर्जा देना बन्द कर देता है कि सारे बल्ब बेकार हो जाते हैं। ऐसी शक्तियाँ भगवान् की इच्छा से क्षण भर में उत्पन्न की जा सकती हैं या वापस ली जा सकती हैं। भगवान् के आशीष के बिना आधुनिक सभ्यता मात्र बच्चों का खेल है। जब तक माता-पिता बच्चे को खेलने देते हैं, तब तक सब कुछ ठीक-ठाक रहता है, लेकिन ज्योंही माता-पिता अपनी अनुमति वापस ले लेते हैं, बच्चे को खेलना बन्द करना पड़ता है। मानवीय सभ्यता तथा इसके सारे कार्यकलापों को भगवान् के परम आशीष का अनुगमन करना चाहिए। इस आशीष के बिना मानवीय सभ्यता की सारी प्रगति किसी शव को सजाने जैसा ही है। यहाँ पर कहा गया है कि मृत सभ्यता तथा उसके कार्यकलाप राख में घी डालने के तुल्य, जादू की छड़ी से धन जुटाने के तुल्य या बंजर भूमि में बीज बोने के तुल्य हैं।

राजंस्त्वयानुपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे ।

विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥ २२ ॥

वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।

अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; त्वया—आपके द्वारा; अनुपृष्टानाम्—पूछे गये; सुहृदाम्—मित्रों तथा सम्बन्धियों का; नः—हमारे; सुहृत्-पुरे—द्वारका नगरी में; विप्र—ब्राह्मण के; शाप—शाप से; विमूढानाम्—मूर्खों का; निघ्नताम्—मारे हुआ का; मुष्टिभिः—लाठियों द्वारा; मिथः—परस्पर; वारुणीम्—खमीर उठे चावल को; मदिराम्—शराब को; पीत्वा—पीकर; मद-उन्मथित—नशे में आकर; चेतसाम्—मानसिक स्थिति का; अजानताम्—न जानते हुए; इव—सदृश; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; चतुः—चार; पञ्च—पाँच; अवशेषिताः—अब बचे हुए।

हे राजन्, चूँकि आपने द्वारका नगरी के हमारे मित्रों तथा सम्बन्धियों के विषय में पूछा है, अतएव मैं आपको सूचित कर रहा हूँ कि वे सब ब्राह्मणों द्वारा शापित होकर, सड़े हुए चावलों से बनी शराब पीकर उन्मत्त हो उठे और एक-दूसरे को न पहचानने के कारण लाठियाँ लेकर परस्पर लड़ने लगे। अब केवल चार-पाँच को छोड़कर शेष सभी मर चुके हैं।

प्रायेणैतद् भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् ।

मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण एतत्—प्रायः यह; भगवतः—भगवान् की; ईश्वरस्य—ईश्वर की; विचेष्टितम्—इच्छा से; मिथः—परस्पर; निघ्नन्ति—मारते हैं; भूतानि—जीवों को; भावयन्ति—तथा पालते हैं; च—भी; यत्—जिसका; मिथः—परस्पर।

वास्तव में यह सब भगवान् की इच्छा के फलस्वरूप है कि कभी-कभी लोग एक दूसरे को मार डालते हैं और कभी एक दूसरे की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : नृत्त्वशास्त्रियों के अनुसार 'जीवन संघर्ष' तथा 'योग्यतम की दीर्घजीविता' प्राकृतिक नियम हैं। लेकिन वे यह नहीं जानते कि प्राकृतिक नियम के पीछे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का परम निर्देशन है। भगवद्गीता में इसकी पुष्टि की गई है कि भगवान् के निर्देशन में ही प्रकृति का नियम सम्पन्न होता है। अतएव जब भी विश्व में शान्ति रहती है, तो इसे भगवान् की सदिच्छा समझा जाता है और जब विश्व में उत्पात मचता है, तब भी भगवान् की परम इच्छा रहती है। भगवान् की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती। अतएव जब-जब भगवान् द्वारा स्थापित नियमों का उल्लंघन होता है तब-तब मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच युद्ध होता है। अतएव शान्ति का निश्चित मार्ग यही है कि भगवान् के द्वारा स्थापित नियमों का पालन किया जाय। स्थापित नियम यह है कि हम जो भी करें, जो भी खायें, जो भी यज्ञ करें या जो भी दान दें, वह भगवान् की पूर्ण तुष्टि के निमित्त किया जाए। भगवान् की

इच्छा के विरुद्ध न तो कुछ किया जाय, न खाया जाय, न यज्ञ किया जाय और न दान दिया जाय। हमें विवेक से उन कार्यों में, जिनसे भगवान् प्रसन्न होते हैं तथा वे कार्य जिनसे भगवान् रुष्ट होते हैं, अन्तर करना सीखना चाहिए। इसी तरह किसी कर्म का निर्णय भगवान् की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता से किया जाता है। इसमें वैयक्तिक स्वेच्छाचारिताओं के लिए कोई स्थान नहीं रहता; हमें सदैव भगवान् की इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। ऐसा कर्म *योगः कर्मसु कौशलम्* कहलाते हैं अर्थात् किए गए कर्म जो भगवान् से संबद्ध होते हैं। यही है किसी वस्तु को ठीक से सम्पन्न करने की कला।

जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः ।

दुर्बलान्बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥ २५ ॥

एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः ।

यदून्यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जलौकसाम्—जलचरों का; जले—जल में; यद्वत्—जिस तरह; महान्तः—बड़ा प्राणी; अदन्ति—निगल जाते हैं; अणीयसः—छोटा प्राणी; दुर्बलान्—दुर्बल को; बलिनः—बलवान्; राजन्—हे राजन्; महान्तः—सबसे बलवान्; बलिनः—कम बली; मिथः—द्वन्द्व में; एवम्—इस तरह; बलिष्ठैः—सर्वाधिक बलवान् द्वारा; यदुभिः—यदुवंशियों द्वारा; महद्भिः—सर्वाधिक शक्तिशाली; इतरान्—सामान्य लोग; विभुः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; यदून्—सारे यदुवंशियों; यदुभिः—यदुओं द्वारा; अन्योन्यम्—परस्पर; भू-भारान्—धरती का भार; सञ्जहार—उतार दिया; ह—भूतकाल में।

हे राजन्, जिस तरह समुद्र में बड़े तथा बलशाली जलचर, छोटे-मोटे तथा निर्बल जलचरों को निगल जाते हैं, उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने भी धरती का भार हलका करने के लिए, निर्बल यदु को मारने के लिए बलशाली यदु को और छोटे यदु को मारने के लिए बड़े यदु को भिड़ा दिया है।

तात्पर्य : भौतिक जगत का नियम है—जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष एवं योग्यतम का बचे रहना—क्योंकि भौतिक जगत में बद्धजीवों के मध्य असमानता है, जो भौतिक साधनों पर प्रभुता जताने की इच्छा के कारण है। भौतिक प्रकृति पर प्रभुता जताने की यही प्रवृत्ति बद्ध जीवन का मूल कारण है। ऐसे बनावटी प्रभुओं की सुविधा के लिए ही भगवान् की भ्रामक शक्ति ने बद्धजीवों में प्रत्येक योनि के अन्तर्गत सबल तथा निर्बल की सृष्टि करके अन्तर उत्पन्न कर दिया है। भौतिक प्रकृति तथा सृष्टि पर प्रभुता जताने से ही असमानता की सृष्टि हुई और इसीसे जीवन-संघर्ष का नियम आया। आध्यात्मिक

जगत में न तो ऐसी असमानता होती है, न ऐसा जीवन-संघर्ष होता है। आध्यात्मिक जगत में जीवन-संघर्ष इसलिए नहीं रहता, क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है। वहाँ असमानता इसलिए नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की सेवा करना चाहता है और कोई भी खुद लाभ लेने के लिए भगवान् बनने की नकल नहीं करता। भगवान् हर वस्तु के, यहाँ तक कि जीवों के भी स्रष्टा होने के कारण प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं, लेकिन भौतिक जगत में माया के जादू से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ का यह नित्य सम्बन्ध भुला दिया जाता है। अतएव जीव 'जीवन टिकाए रखने के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम का बचे रहना' नियमों के द्वारा बद्ध हो जाता है।

देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च ।

हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

देश—अवकाश; काल—समय; अर्थ—महत्ता; युक्तानि—से युक्त; हृत्—हृदय; ताप—जलन; उपशमानि—बुझाना; च—तथा; हरन्ति—आकर्षित कर रहे हैं; स्मरतः—स्मरण करने से; चित्तम्—मन को; गोविन्द—हर्ष के परम पुरुष; अभिहितानि—के द्वारा कहा गया; मे—मुझको।

अब मैं भगवान् (गोविन्द) द्वारा मुझे दिये गये उपदेशों की ओर आकृष्ट हूँ, क्योंकि वे देश-काल की समस्त परिस्थितियों में हृदय की जलन को शान्त करनेवाले आदेशों से परिपूर्ण बनाए गये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन का संकेत *भगवद्गीता* के उपदेश की ओर है, जिसे भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल पर प्रदान किया था। भगवान् के द्वारा दिये गये *भगवद्गीता* के उपदेश न केवल अर्जुन के लाभ के लिए थे, अपितु समस्त देशों तथा समस्त काल के लिए हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा कही गयी *भगवद्गीता* समस्त वैदिक वाङ्मय का सार है। जिन लोगों के पास *उपनिषद्*, *पुराण* तथा *वेदान्त-सूत्र* सरीखे विशाल वैदिक ग्रंथों को पढ़ने के लिए समय नहीं है, उनके लिए स्वयं भगवान् ने यह ग्रंथ सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ महान् पौराणिक महाकाव्य *महाभारत* के अन्तर्गत आता है, जिसे विशेष रूप से कम बुद्धिमान श्रेणी के लोगों के लिए, यथा स्त्रियों, श्रमिकों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और उच्चवर्गीय वैश्यों की अयोग्य सन्तानों के लिए तैयार किया गया था। अर्जुन के मन में कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में जो समस्या उठी थी, वह *भगवद्गीता* की शिक्षाओं से हल हो गई थी। अब, जबकि भगवान्

पृथ्वी के लोगों की दृष्टि से ओझल हो चुके थे और अर्जुन अपने पराक्रम तथा प्राधान्य को खोने जा रहा था, तो उसने पुनः *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाओं का स्मरण करना चाहा, क्योंकि वह लोगों को शिक्षा देना चाह रहा था कि न केवल समस्त प्रकार के मानसिक क्लेशों में सान्त्वना दिलाने के लिए, अपितु संकट उपस्थित होने पर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों से निकलने के लिए *भगवद्गीता* से निराकरण किया जा सकता है।

कृपासिन्धु भगवान् अपने पीछे *भगवद्गीता* की महान् शिक्षाएँ इसीलिए छोड़ते गये, जिससे मनुष्य भगवान् के भौतिक दृष्टि से अदृश्य होने पर भी उनकी शिक्षाओं को ग्रहण कर सके। भौतिक इन्द्रियों से परमेश्वर का अनुमान कोई नहीं लगा सकता, लेकिन भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से पदार्थ के माध्यम से बद्धजीवों की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति किये जाने के लिए अवतार ले सकते हैं, क्योंकि पदार्थ भी भगवान् की प्रकट शक्ति का दूसरा रूप है। इस तरह *भगवद्गीता* या भगवान् की कोई भी प्रामाणिक शास्त्रीय शब्द-अभिव्यक्ति भी भगवान् का अवतार है। भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्ति में और स्वयं भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। कोई भी मनुष्य *भगवद्गीता* से वही लाभ उठा सकता है, जो अर्जुन ने भगवान् की व्यक्तिगत उपस्थिति में उठाया था।

कोई भी श्रद्धालु मनुष्य जो भव-बन्धन से मुक्त होने का इच्छुक रहता है, वह *भगवद्गीता* से बहुत आसानी से लाभ उठा सकता है। इसी दृष्टि से भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया मानो उसे इसकी आवश्यकता थी। *भगवद्गीता* में पाँच महत्त्वपूर्ण ज्ञान की बातें खोज निकाली गई, हैं जिनका सम्बन्ध (१) परमेश्वर (२) जीव (३) प्रकृति (४) देश और काल तथा (५) कर्म-विधान से है। इनमें से परमेश्वर तथा जीव गुणात्मक रूप से एक हैं। दोनों का अन्तर पूर्ण तथा उसके अंश के अन्तर-जैसा है। प्रकृति जड़ पदार्थ है, जिसमें तीन विभिन्न गुणों की अन्तःक्रिया होती रहती है और शाश्वत समय तथा असीम अवकाश भौतिक प्रकृति के जगत के परे माने जाते हैं। जीव के कार्यकलाप विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं, जो जीव को प्रकृति के भीतर तथा बाहर जकड़ सकती हैं या मुक्त कर सकती हैं। इन सभी विषयों की संक्षिप्त व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है और इसके आगे प्रबुद्ध करने के लिए *श्रीमद्भागवत* में भी उनका विस्तार किया गया है। इन पाँच विषयों में से परमेश्वर, जीव, प्रकृति तथा देश-काल शाश्वत हैं, लेकिन इनमें से जीव, प्रकृति तथा काल परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं, जो स्वयं

परम तथा किसी अन्य नियंत्रण से पूरी तरह स्वतंत्र होते हैं। परमेश्वर परम नियन्ता हैं। जीव की भौतिक गतिविधि अनादि है, लेकिन इसे आध्यात्मिक गुण में स्थानान्तरित करके ठीक किया जा सकता है। इस तरह यह भौतिक गुणात्मक प्रतिक्रियाओं में नहीं रह जाती। भगवान् तथा जीव दोनों प्रबुद्ध हैं और उनकी पहचान जीवित शक्ति के रूप में होती है; लेकिन प्रकृति की अवस्था, जिसे *महत् तत्त्व* कहते हैं, उसके अन्तर्गत जीव अपनी गलत से पहचान करता है कि वह भगवान् से भिन्न है। वैदिक वाङ्मय की पूरी योजना ऐसी भ्रान्त धारणा को निर्मूल करने के निमित्त है और इस तरह जीव को भौतिक पहचान के भ्रम (मोह) से मुक्त करती है। जब यह भ्रम (मोह) ज्ञान तथा वैराग्य से समूल नष्ट हो जाता है, तो जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों का उत्तरदायित्व सँभालता है। भगवान् में भोग की भावना वास्तविक है, लेकिन जीव में ऐसी भावना मात्र मनचाही इच्छा है। भावना का यह अन्तर ही दो स्वरूपों का— भगवान् तथा जीव का—अन्तर है। अन्यथा भगवान् और जीव में कोई अन्तर नहीं होता। अतः जीव सदैव एकसाथ एक तथा भिन्न होता है। *भगवद्गीता* का सारा उपदेश एकमात्र इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

भगवद्गीता में भगवान् तथा जीव दोनों को सनातन कहा गया है और भगवान् का धाम, जो भौतिक आकाश से बहुत दूर है, उसे भी सनातन बताया गया है। जीव को भगवान् के सनातन जगत में रहने के लिए आमंत्रित किया जाता है और जहाँ आत्मा की मुक्त क्रियाशीलता प्रकट होती है, उस भगवान् के धाम में पहुँचने की विधि को सनातन धर्म कहा जाता है। किन्तु भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त हुए बिना कोई भगवद्-धाम नहीं पहुँच सकता। *भगवद्गीता* हमें सिद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करने के सूत्र उपलब्ध करती है। भौतिक पहचान की भ्रान्त धारणा से मुक्त होने की विधि अलग-अलग अवस्थाओं में सकाम कर्म से लेकर, अनुभवसिद्ध दर्शन, भक्तिमय सेवा तथा दिव्य अनुभूति कहलाती है। ऐसी दिव्य अनुभूति तभी सम्भव है, जब उपर्युक्त सारी बातें भगवान् के साथ जोड़ दी जाँय। वेदों द्वारा निर्दिष्ट मनुष्यों के कर्तव्य धीरे-धीरे बद्धजीव के पापी मन को धीरे-धीरे शुद्ध कर सकते हैं और उसे ज्ञान की अवस्था तक ले जाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने की शुद्ध अवस्था भगवान् की भक्तिमय सेवा का आधार बनती है। जब तक मनुष्य जीवन की समस्याओं का हल ढूँढ़ता रहता है, तब तक उसकी जानकारी ज्ञान या शुद्ध ज्ञान कहलाती है, किन्तु जीवन के वास्तविक हल की अनुभूति होने

पर, मनुष्य भगवान् की भक्तिमय सेवा में लग जाता है। *भगवद्गीता* का शुभारम्भ जीवन की समस्याओं से होता है, जिसमें पदार्थ के तत्त्वों को आत्मा से अलग करके देखा जाता है और हर तर्क से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा सभी परिस्थितियों में अविनाशी है और पदार्थ का बाह्य आवरण, मन तथा शरीर परिवर्तित होकर फिर से इस संसार में आते हैं, जो दुखों से भरा हुआ होता है। अतएव *भगवद्गीता* विभिन्न प्रकार के कष्टों को समाप्त करने के लिए है और अर्जुन ने इस महान् ज्ञान का आश्रय लिया, जो उन्हें कुरुक्षेत्र के युद्ध में प्रदान किया जा चुका था।

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।

सौहार्देनातिगाढेन शान्तासीद्विमला मतिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; चिन्तयतः—उपदेशों का चिन्तन करते हुए; जिष्णोः—भगवान् के; कृष्ण-पाद—कृष्ण के चरण; सरोरुहम्—कमलों की तरह के; सौहार्देन—घनिष्ठ मित्रता से; अति-गाढेन—अत्यधिक घनिष्ठता में; शान्ता—शान्त; आसीत्—हो गया; विमला—किसी भौतिक कल्मष का रंज भी नहीं; मतिः—मन।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् के उपदेश, जो अत्यधिक घनिष्ठ मित्रता में प्रदान किये गये थे उसके विषय में सोचने में तथा उनके चरणकमलों का चिन्तन करने में तल्लीन अर्जुन का मन शान्त और समस्त भौतिक कल्मष से रहित हो गया।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अतएव उनका गहन ध्यान यौगिक समाधि के समान ही है। भगवान् अपने नाम, रूप, गुण, लीलाओं, पार्षदों तथा विशिष्ट कर्मों से अभिन्न हैं। अर्जुन भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र के युद्ध-स्थल में उसे दिये गये उपदेशों का चिन्तन करने लगा। उन्हीं उपदेशों से अर्जुन के मन का भौतिक कल्मष नष्ट होने लगा। भगवान् सूर्य के समान हैं। सूर्योदय का अर्थ है अंधकार या अज्ञान का तत्काल दूर होना और भक्त के मन में भगवान् के प्राकट्य से तुरन्त ही कष्टप्रद भौतिक प्रभाव दूर हो जाते हैं। अतएव संसार के समस्त कल्मष से सुरक्षा के लिए भगवान् चैतन्य ने भगवान् के नाम का निरन्तर कीर्तन करने के लिए संस्तुति की है। निस्सन्देह, भक्त के लिए भगवान् का वियोग कष्टप्रद होता है। लेकिन इसका सम्बन्ध भगवान् से है, अतएव इसका विशेष दिव्य प्रभाव पड़ता है, जो

हृदय को शान्त बनाता है। वियोग की अनुभूति दिव्य आनन्द का स्रोत भी बनती है और इसकी तुलना कभी भी कलुषित भौतिक वियोग से नहीं की जा सकती।

वासुदेवाद्भ्यनुध्यानपरिवृंहितरंहसा ।

भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

वासुदेव-अङ्घ्रि—भगवान् के चरणकमल; अनुध्यान—निरन्तर स्मरण करने से; परिवृंहित—विस्तीर्ण; रंहसा—अत्यन्त वेग से; भक्त्या—भक्ति से; निर्मथित—शान्त हुआ; अशेष—असीम; कषाय—प्रहार; धिषणः—धारणा; अर्जुनः—अर्जुन।

अर्जुन द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण किये जाने से उसकी भक्ति तेजी से बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप उसके विचारों का सारा मैल दूर हो गया।

तात्पर्य : मन की भौतिक इच्छाएँ भौतिक कल्मष के कूड़ा-करकट के समान हैं। ऐसे कल्मष से जीव को अनेक ग्राह्य तथा अग्राह्य वस्तुओं का सामना करना होता है, जो आध्यात्मिक स्वरूप के अस्तित्व को ही हतोत्साहित कर देती है। बद्धजीव जन्म-जन्मांतर तक अनेक रुचिकर तथा अरुचिकर तत्त्वों में फँसा रहता है, जो मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। वे हमारी भौतिक इच्छाओं की प्रतिक्रियास्वरूप एकत्र होते रहते हैं, किन्तु जब हम भक्तिमय सेवा के द्वारा दिव्य भगवान् की विभिन्न शक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, तो सारी इच्छाओं के नग्न रूप प्रकट होते हैं और जीव की बुद्धि सही अर्थ में शान्त हो जाती है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेशों की ओर अपना ध्यान मोड़ा, त्योंही भगवान् के साथ नित्य संगति का असली रंग प्रकट हुआ और इस तरह उसे सारे भौतिक कल्मषों से मुक्ति का आभास हुआ।

गीतं भगवता ज्ञानं यत् तत् सङ्ग्राममूर्धनि ।

कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत् प्रभुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

गीतम्—उपदिष्ट; भगवता—भगवान् द्वारा; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; यत्—जो; तत्—वह; सङ्ग्राम-मूर्धनि—युद्ध के बीच में; काल-कर्म—समय तथा कर्म; तमः-रुद्धम्—ऐसे अंधकार से घिरा; पुनः-अध्यगमत्—पुनः स्मरण हो आया; प्रभुः—अपनी इन्द्रियों का स्वामी।

भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों के कारण तथा उनकी अनुपस्थिति से ऐसा लगा कि अर्जुन भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को भूल गया हो। लेकिन, वास्तव में बात ऐसी न थी और वह पुनः अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन गया।

तात्पर्य : बद्धजीव शाश्वतकाल के प्रभाव से अपने सकाम कर्मों में लिपटा हुआ रहता है। किन्तु जब परमेश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं, तो वे काल द्वारा—भूत, वर्तमान तथा भविष्य की भौतिक धारणा द्वारा—प्रभावित नहीं होते। भगवान् के कार्यकलाप शाश्वत हैं और वे उनकी *आत्म-माया* या अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। भगवान् की सारी लीलाएँ या कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं, किन्तु अबूझ लोगों को ये भौतिक कार्यकलापों जैसे दिखते हैं। ऐसा लगता है कि अर्जुन तथा भगवान् कृष्ण दूसरे पक्ष की ही तरह युद्ध में लगे थे, किन्तु वास्तव में भगवान् अपने अवतार के उद्देश्य को तथा अपने शाश्वत सखा अर्जुन की संगति को पूरा कर रहे थे। अतएव ऊपर से भौतिक लगनेवाले अर्जुन के ये कार्यकलाप उसे उसकी दिव्य स्थिति से दूर नहीं ले गये, अपितु इसके विपरीत उसे *भगवद्गीता* की उसकी चेतना का पुनःस्मरण दिलाया जैसे भगवान् ने उसे स्वयं सुनाया था। चेतना की इस पुनः जागृति का आश्वासन भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६५) में इस प्रकार दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

मनुष्य को चाहिए कि वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करे; मन से उन्हें भूले नहीं। मनुष्य को भगवद्भक्त बनकर उनको नमस्कार करना चाहिए। जो इस तरह रहता है, उसे भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त होने पर भगवान् का आशीष प्राप्त होता है। इस चिरन्तन सत्य के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। चूँकि अर्जुन उनका विश्वासपात्र तथा मित्र था, अतएव उससे यह रहस्य प्रकट किया गया।

अर्जुन को अपने सम्बन्धियों से युद्ध करने की कोई इच्छा नहीं थी, लेकिन उसने भगवान् के ध्येय के कारण युद्ध किया। वह सदा उनके ध्येय की ही पूर्ति में लगा रहा, अतएव भगवान् के प्रयाण के बाद वह उसी दिव्य स्थिति में रहा, यद्यपि ऐसा लग रहा था कि वह *भगवद्गीता* के सारे उपदेशों को भूल गया है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन के कार्यकलापों और भगवान् के ध्येय में

तालमेल पैदा करे। ऐसा करने से उसका भगवद्धाम लौटना निश्चित है। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः ।

लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशोकः—शोक से रहित; ब्रह्म-सम्पत्त्या—आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी होने से; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटकर; द्वैत-संशयः—द्वैत के संशय से; लीन—संलग्न; प्रकृति—भौतिक प्रकृति; नैर्गुण्यात्—अध्यात्म में रहने से; अलिङ्गत्वात्—भौतिक शरीर से विहीन होने के कारण; असम्भवः—जन्म तथा मृत्यु से मुक्त।

आध्यात्मिक सम्पत्ति से युक्त होने के कारण उसके द्वैत के संशय पूर्ण रूप से छिन्न हो गये।

इस तरह वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त होकर अध्यात्म में स्थित हो गया। अब जन्म तथा मृत्यु के पाश में उसके फँसने की कोई आशंका न थी, क्योंकि वह भौतिक रूप से मुक्त हो चुका था।

तात्पर्य : द्वैत के संशय देहात्म-बुद्धि की गलत धारणा से प्रारम्भ होते हैं, क्योंकि अल्पज्ञ लोग शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। हमारी अज्ञानता का सबसे मूर्खतापूर्ण अंश यह है कि हम इस भौतिक शरीर को ही आत्मा के रूप में पहचानने लगते हैं। अज्ञानवश, शरीर से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अपनी निजी मान लिया जाता है। “मैं और मेरा” की भ्रान्तधारणा से उत्पन्न संशय—दूसरे शब्दों में, “मेरा शरीर,” “मेरे सम्बन्धी,” “मेरी सम्पत्ति,” “मेरी पत्नी,” “मेरी सन्तान,” “मेरा धन,” “मेरा देश,” “मेरा समाज” तथा इस प्रकार के सैकड़ों-हजारों भ्रामक विचार बद्धजीव के लिए मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशों को आत्मसात् करने से मनुष्य निश्चित रूप से ऐसे मोह से छुटकारा पा सकता है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान यह जान लेना है कि भगवान् वासुदेव या भगवान् कृष्ण ही सब कुछ हैं, जिसमें अपना आत्मा भी सम्मिलित है। प्रत्येक वस्तु उनकी शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अतएव पूर्ण ज्ञान के प्राप्त होते ही द्वैत का भाव समाप्त हो जाता है। ज्योंही अर्जुन ने *भगवद्गीता* के उपदेशों को ग्रहण किया, जिसमें वह दक्ष था, त्योंही उसके शाश्वत-सखा भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में उसका भौतिक बोध मिट गया। उसे यह अनुभव हुआ कि भगवान् अपने उपदेश के द्वारा अपने रूप, लीलाओं, गुणों इत्यादि के द्वारा अब भी

उसके समक्ष उपस्थित हैं। वह अनुभव कर सका कि उसके मित्र भगवान् कृष्ण विभिन्न अद्वैत शक्तियों में अपनी दिव्य उपस्थिति के कारण अब भी उसके समक्ष उपस्थित थे और देश-काल के प्रभाव के अन्तर्गत शरीर के अन्य परिवर्तन के द्वारा भगवान् की संगति को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं था। परम ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य इसी जीवन में भी भगवान् की निरन्तर संगति में रह सकता है, यदि वह केवल परमेश्वर का श्रवण, कीर्तन, चिन्तन तथा पूजन करे। इसी जीवन में मनुष्य उन्हें देख सकता है, उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है यदि वह केवल भक्तियोग द्वारा, जो कि उनका श्रवण करने से प्रारम्भ होता है, *अद्वयज्ञान* भगवान् को जान ले। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि केवल भगवन्नाम-कीर्तन से ही शुद्ध चेतना के दर्पण की धूल को हटाया जा सकता है और इस धूल के हटते ही मनुष्य तत्काल समस्त भौतिक बन्धनों से छूट जाता है। भौतिक बन्धनों से मुक्त होने का अर्थ है, आत्मा को मुक्त करना। अतएव ज्योंही मनुष्य परम ज्ञान में स्थित होता है, त्योंही उसकी देहात्मबुद्धि दूर हो जाती है या वह जीवन के मिथ्याबोध से उबर जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति में शुद्ध आत्मा का कार्य फिर से चालू हो जाता है। जीव की यह व्यावहारिक अनुभूति, प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों से उसके मुक्त होने पर सम्भव हो पाती है। भगवत्कृपा से शुद्ध भक्त तुरन्त भगवद्भाम को चला जाता है और भक्त की पुनः बद्ध जीवन में फँसने की कोई संभावना नहीं रह जाती। जब तक मनुष्य में प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा नियत की गई भक्तिमय सेवा के द्वारा आवश्यक आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक उसे भगवान् की उपस्थिति का अनुभव नहीं हो पाता। अर्जुन को यह अवस्था कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में बहुत ही पहले प्राप्त हो चुकी थी, अतएव ज्योंही उसे भगवान् की अनुपस्थिति का अनुभव हुआ कि तुरन्त ही उसने *भगवद्गीता* के उपदेशों का आश्रय लिया की और इस तरह वह अपनी मूल स्थिति को फिर से प्राप्त हो सका। यह *विशोक* की अवस्था अर्थात् समस्त शोक तथा चिन्ता से मुक्त होने की अवस्था है।

निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च ।

स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निशाम्य—कहकर; भगवत्—भगवान् के विषय में; मार्गम्—भगवान् के प्रकट तथा अप्रकट होने के रास्ते; संस्थाम्—अन्त; यदु-कुलस्य—राजा यदु के वंश का; च—भी; स्वः—भगवान् का धाम; पथाय—रास्ते में; मतिम्—इच्छा; चक्रे—ध्यान दिया; निभृत-आत्मा—अकेले, एकान्त; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने।

भगवान् कृष्ण के स्वधाम गमन को सुनकर तथा यदुवंश के पृथ्वी के अस्तित्व का अन्त समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय किया।

तात्पर्य : इस संसार के लोगों की दृष्टि से भगवान् के दूर चले जाने की खबर सुनकर, महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना ध्यान *भगवद्गीता* के उपदेशों की ओर मोड़ा। वे भगवान् के प्राकट्य तथा प्रयाण की विधि के विषय में सोचने लगे। इस मर्त्य ब्रह्माण्ड में भगवान् के प्रकट होने तथा उनके अन्तर्धान होने का उद्देश्य पूर्ण रूप से भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है। वे किसी उच्चतर शक्ति द्वारा प्रकट या अप्रकट होने के लिए बाध्य नहीं हैं, जिस प्रकार जीव भौतिक प्रकृति के नियमों द्वारा प्रकट या अप्रकट होने के लिए बाध्य होते हैं। जब भी भगवान् चाहते हैं, वे कहीं भी और सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं। इससे किसी अन्य स्थान पर उनके प्राकट्य तथा तिरोधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सूर्य के समान हैं। सूर्य स्वेच्छा से किसी स्थान पर उदय और अस्त होता है, किन्तु इससे अन्य स्थानों पर उसकी उपस्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य पश्चिम गोलार्ध में अस्त हुए बिना भारत में प्रातःकाल उदय होता है। सूर्य पूरे सौर मण्डल में सर्वत्र उपस्थित रहता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक स्थान में सूर्य निश्चित समय पर प्रातः उदय होता है और शाम को निश्चित समय पर अस्त होता है। जब सूर्य के लिए समय की सीमा कोई अर्थ नहीं रखती, तो फिर परमेश्वर के विषय में क्या कहा जाय, जो सूर्य के भी स्रष्टा तथा नियामक हैं। अतएव *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के द्वारा उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान को वास्तव में समझ लेता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है और चिन्मय आकाश में स्थित हो जाता है, जहाँ पर वैकुण्ठ के ग्रह हैं। वहाँ पर ऐसे मुक्त व्यक्ति जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के भय से रहित होकर शाश्वत रूप से रह सकते हैं। आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तथा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा में निरन्तर लगे रहनेवाले सारे लोग सदैव तरुण बने रहते हैं, क्योंकि वहाँ न बुढ़ापा है, न रोग और न मृत्यु। चूँकि वहाँ मृत्यु नहीं होती, अतएव वहाँ जन्म भी नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि एकमात्र भगवान् के प्राकट्य तथा तिरोधान को समझ लेने पर मनुष्य जीवन की सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सकता है। अतएव

महाराज युधिष्ठिर भी भगवद्धाम वापस जाने के विषय में सोचने लगे। भगवान् पृथ्वी पर या अन्य किसी लोक में अपने पार्षदों के साथ प्रकट होते हैं, जो उनके साथ नित्य निवास करते हैं और यदुवंश के सारे सदस्य जो भगवान् की लीलाओं में सहायक बने रहे, उनके पार्षद ही थे। उसी तरह महाराज युधिष्ठिर, उनके भाई तथा उनकी माता इत्यादि भी उनके नित्य पार्षद ही थे। चूँकि भगवान् तथा उनके पार्षदों का प्राकट्य तथा तिरोधान दिव्य होता है, अतएव प्राकट्य तथा तिरोधान के बाह्य लक्षणों से किसी को मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए।

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पृथा—कुन्ती ने; अपि—भी; अनुश्रुत्य—सुनकर; धनञ्जय—अर्जुन द्वारा; उदितम्—कथित; नाशम्—अन्त; यदूनाम्—यदुवंश का; भगवत्—भगवान् का; गतिम्—तिरोधान; च—भी; ताम्—उन सबको; एक-अन्त—अनन्य; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अधोक्षजे—अध्यात्म में; निवेशित-आत्मा—पूर्ण मनोयोग से; उपरराम—मुक्त हो गयी; संसृतेः—भौतिक अस्तित्व से।

अर्जुन द्वारा यदुवंश के नाश तथा भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होने की बात सुनकर, कुन्ती ने पूर्ण मनोयोग से दिव्य भगवान् की भक्ति में अपने को लगा दिया और इस तरह संसार के आवागमन से मोक्ष प्राप्त किया।

तात्पर्य : सूर्य के अस्त होने का यह अर्थ नहीं होता कि सूर्य का अन्त हो गया है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इसी प्रकार किसी विशेष लोक या ब्रह्माण्ड में भगवान् के कार्य के अन्त का अर्थ केवल इतना ही होता है कि वे हमारी दृष्टि से ओझल हो गये हैं। यदुवंश के अन्त का यह भी अर्थ नहीं है कि उसका विनाश हो गया। वह भगवान् के साथ हमारी दृष्टि से अप्रकट हो जाता है। जिस तरह महाराज युधिष्ठिर ने भगवद्धाम जाने का निश्चय कर लिया, उसी तरह कुन्ती ने भी किया। अतएव वे भगवान् की दिव्य भक्ति में लग गईं, जिसमें वर्तमान भौतिक इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश-पत्र निश्चित हो सके। भगवान् की भक्ति का शुभारम्भ इस देह के आध्यात्मिकीकरण की शुरुआत है और इस तरह भगवान् के अनन्य भक्त का इस देह से सारा

भौतिक सम्पर्क छूट जाता है। भगवद्धाम कोई कपोल-कल्पना नहीं है, जैसाकि नास्तिक या अज्ञानी लोग सोचते हैं। लेकिन वहाँ तक स्फुटनिक या अन्तरिक्ष-यान जैसे किसी भौतिक साधन द्वारा पहुँचा नहीं जा सकता। लेकिन इस शरीर को त्यागने के बाद अवश्य ही वहाँ पहुँचा जा सकता है और मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय सेवा के अभ्यास से वह भगवद्धाम वापस जाने की तैयारी करे। यह भगवद्धाम जाने के लिए प्रवेश पत्र का कार्य करती है और कुन्ती ने यही किया।

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः ।

कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यया—जिससे; अहरत्—छीन लिया; भुवः—संसार का; भारम्—भार, बोझा; ताम्—उस; तनुम्—शरीर को; विजहौ—त्याग दिया; अजः—अजन्मा ने; कण्टकम्—काँटे को; कण्टकेन—काँटे से; इव—सदृश; द्वयम्—दोनों; च—भी; अपि—यद्यपि; ईशितुः—नियंत्रण करते हुए; समम्—समान।

सर्वोपरि अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवंश के सदस्यों से अपना-अपना शरीर त्याग करवा दिया और इस तरह उन्होंने पृथ्वी के भार को उतारा। यह कार्य काँटे को काँटे से निकालने जैसा था, यद्यपि नियन्ता के लिए दोनों एक से हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बताते हैं कि शौनक तथा अन्य ऋषि जो नैमिषारण्य में सूत गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुन रहे थे, यदुओं के इस प्रकार मदोन्मत्त होकर मरने की बात सुनकर प्रसन्न नहीं थे। अतएव उनकी मनोव्यथा को दूर करने के लिए सूत गोस्वामी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि भगवान् ने यदुवंश के सदस्यों से अपना शरीर त्याग करवा दिया, जिससे वे संसार के भार को हल्का कर सकें। भगवान् तथा उनके नित्य संगी इस धरा पर पृथ्वी का भार उतारने में प्रशासनिक देवताओं की सहायता करने के लिए प्रकट हुए थे। अतएव उन्होंने अपने कतिपय विश्वासपात्र देवताओं को यदुवंश में प्रकट होने और उन्हें अपने महान् उद्देश्य में सेवा करने के लिए बुलाया था। उद्देश्य पूरा हो जाने पर भगवान् की इच्छा से देवताओं ने मदोन्मत्त होकर परस्पर लड़भिड़ कर अपने भौतिक शरीर त्याग दिये। देवता *सोमरस* पीने के अभ्यस्त हैं, अतएव शराब तथा मादक द्रव्यों का सेवन उनसे अछूता नहीं है। कभी-कभी उन्हें उन्मत्तता के कारण कष्ट उठाने पड़े थे। एक बार मदोन्मत्त होने के कारण कुबेर के पुत्र नारद के शाप-भाजन बने, लेकिन बाद में भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से उन्हें असली रूप

प्राप्त हो सका। यह कथा दशम स्कंध में मिलेगी। परमेश्वर के लिए असुर तथा देवता (सुर) दोनों समान हैं, लेकिन देवता भगवान् के आज्ञाकारी हैं, किन्तु असुर नहीं हैं। अतएव काँटे से काँटा निकालने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। एक काँटा जो भगवान् के पाँव में चुभता है, वह निश्चय ही उन्हें कष्टदायक है और दूसरा काँटा जो पीड़ादायक तत्त्वों को निकालता है, निश्चय ही भगवान् की सेवा करता है। यद्यपि प्रत्येक जीव भगवान् का अंश है, फिर भी जो भगवान् को चुभता है, वह असुर है और जो स्वेच्छा से सेवक है, वह देवता कहलाता है। भौतिक जगत में देवता तथा असुर सदा ही लड़ते रहते हैं और देवता सदा ही भगवान् द्वारा असुरों के हाथों से बचाये जाते हैं। ये दोनों ही भगवान् के नियंत्रण में रहते हैं। यह संसार दो प्रकार के जीवों से भरा हुआ है और भगवान् का उद्देश्य सदैव देवताओं की रक्षा करना तथा जब भी संसार में आवश्यकता होती है तब असुरों का विनाश करना है। इस तरह दोनों का कल्याण होता है।

यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः ।

भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; मत्स्य-आदि—मत्स्य अवतार इत्यादि.; रूपाणि—स्वरूप; धत्ते—स्वीकार करते हैं; जह्यात्—ऊपर से छोड़ देते हैं; यथा—जिस तरह; नटः—नट, जादूगर; भू-भारः—संसार का भार; क्षपितः—उद्धार; येन—जिससे; जहौ—जाने दिया; तत्—उस; च—भी; कलेवरम्—शरीर को।

परमेश्वर ने जिस शरीर को पृथ्वी का भार कम करने के लिए प्रकट किया था, उसे उन्होंने छोड़ दिया। वे एक जादूगर के समान विभिन्न शरीरों को, यथा मत्स्य अवतार तथा अन्य अवतारों में धारण करने के लिए एक शरीर को छोड़ते हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् न तो निर्विशेष हैं, न निराकार, किन्तु उनका शरीर उनसे अभिन्न है। अतएव वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के स्वरूप जाने जाते हैं। बृहद् वैष्णव तंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि जो कोई भगवान् कृष्ण के स्वरूप को भौतिक शक्ति से बना मानता है, उसे समाज से सभी प्रकार से अलग कर दिया जाना चाहिए और यदि संयोगवश कोई ऐसे अविश्वासी का मुँह देख ले, तो उसे वस्त्र-समेत नदी में कूद कर अपने को स्वच्छ करना चाहिए। भगवान् को अमृत या मृत्युरहित कहा जाता है, क्योंकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता। ऐसी परिस्थितियों में भगवान् का मरना या

शरीर त्याग करना एक जादूगर की जादूगरी जैसा है। जादूगर अपनी कलाबाजियों से दिखाता है कि उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं, वह जलकर राख हो गया है या सम्मोहन द्वारा बेहोश हो गया, लेकिन ये सब झूठे प्रदर्शन मात्र होते हैं। वास्तव में जादूगर का शरीर न तो खंड-खंड होता है, न जलकर राख होता है, न वह मृत होता है, न जादू प्रदर्शन की किसी भी अवस्था के समय वह बेहोश रहता है। इसी प्रकार भगवान् के भी अनन्त शाश्वत रूप हैं, जिनमें इस ब्रह्माण्ड में प्रदर्शित मत्स्य अवतार भी एक है। चूँकि ब्रह्माण्ड अनन्त हैं अतएव यह मत्स्य अवतार किसी न किसी ब्रह्माण्ड में अपनी लीलाएँ प्रदर्शित कर रहा होगा। इस श्लोक में विशिष्ट शब्द धत्ते प्रयुक्त है (जिसका अर्थ “शाश्वत रूप से स्वीकृत” है धित्वा “विशेष अवसर के लिए स्वीकृत” शब्द ठीक नहीं है)। भाव यह है कि भगवान् मत्स्य अवतार की सृष्टि नहीं करते, उनका यह रूप शाश्वत होता है और ऐसे अवतार के प्राकट्य से तथा अन्तर्धान होने से विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि होती है। *भगवद्गीता* (७.२४-२५) में भगवान् कहते हैं, “निर्विशेषवादी सोचते हैं कि मेरा कोई स्वरूप नहीं होता, मैं निराकार हूँ, लेकिन, चूँकि इस समय मैंने एक प्रयोजन पूरा करने के लिए स्वरूप स्वीकार किया है, अतएव मैं प्रकट हूँ। लेकिन ऐसे चिन्तक वास्तव में बुद्धिहीन होते हैं। भले ही वे वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान हों, लेकिन वे मेरी अचिन्त्य शक्तियों एवं मेरे शाश्वत स्वरूपों के प्रति एक तरह अनजान रहते हैं। इसका कारण यह है कि मैं अपने योग-आवरण से अभक्तों के समक्ष स्वयं को प्रकट न करने का अधिकार बनाए रखता हूँ। अतएव अल्पज्ञानी मूर्ख मेरे शाश्वत रूप से अनजान रहते हैं, जो कभी भी नष्ट नहीं होता और अजन्मा है।” *पद्मपुराण* में यह कहा गया है कि जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं और सदैव उन पर क्रुद्ध रहते हैं, वे भगवान् के वास्तविक तथा शाश्वत रूप को जानने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। *भागवत्* में भी कहा गया है कि मल्लों के समक्ष भगवान् वज्र के समान प्रकट हुए। जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया, तो वह ब्रह्मज्योति की चकाचौंध से उन्हें कृष्ण के रूप में नहीं देख पाया। अतः कंस द्वारा नियुक्त मल्लों के समक्ष वज्र के रूप में भगवान् का क्षणिक प्राकट्य अथवा शिशुपाल के समक्ष भगवान् का जाज्वल्यमान स्वरूप भगवान् ने त्याग दिया, लेकिन जादूगर के रूप में भगवान् शाश्वत रूप से विद्यमान हैं और किसी दशा में नष्ट नहीं होते। ऐसे रूप असुरों के समक्ष ही कुछ समय के लिए प्रदर्शित किये जाते हैं, किन्तु जब भगवान् ऐसे प्रदर्शन को बन्द कर देते हैं, तो असुर लोग

सोचते हैं कि अब ईश्वर नहीं हैं, जिस प्रकार मूर्ख दर्शकगण सोचते हैं कि जादूगर जल गया या खण्ड-खण्ड हो गया। निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव वे न कभी मारे जाते हैं और न कभी अपना दिव्य शरीर बदलते हैं।

यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं
जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसा-
मभद्रहेतुः कलिरन्ववर्तत ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मुकुन्दः—कृष्ण ने; भगवान्—भगवान्; इमाम्—इस; महीम्—पृथ्वी को; जहौ—छोड़ा; स्व-तन्वा—अपने उसी शरीर के साथ; श्रवणीय-सत्-कथः—उनके विषय में श्रवण करने योग्य है; तदा—उस समय; अहः एव—उसी दिन से; अप्रति-बुद्ध-चेतसाम्—जिनके मन पर्याप्त विकसित नहीं हैं उनके; अभद्र-हेतुः—सारे दुर्भाग्य का कारण; कलिः अन्ववर्तत—कलि पूर्ण रूप से प्रकट हुआ।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने उसी रूप के साथ इस पृथ्वीलोक को छोड़ दिया, उसी दिन से कलि, जो पहले ही अंशतः प्रकट हो चुका था, अल्पज्ञों के लिए अशुभ परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए पूरी तरह प्रकट हो गया।

तात्पर्य : जो लोग पूर्ण रूप से ईश्वर-भावनाभावित नहीं हैं, उन्हीं पर कलि का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य अपने आप को भगवान् की देख-रेख में रखकर कलियुग के प्रभावों को निरस्त कर सकता है। कलियुग का पदार्पण कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद ही हो गया था, किन्तु भगवान् की उपस्थिति के कारण यह अपना प्रभाव न दिखा सका। लेकिन जब भगवान् अपने ही दिव्य शरीर को साथ लेकर इस धरालोक को छोड़ गये, तो उनके जाते ही कलियुग के लक्षण उसी तरह प्रकट होने लगे, जिस रूप में द्वारका से अर्जुन के आगमन से पूर्व महाराज युधिष्ठिर को दृष्टिगोचर हो रहे थे और महाराज युधिष्ठिर ने ठीक ही इस धरा से भगवान् के प्रयाण की कल्पना कर ली। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् हमारी आँखों से उसी तरह ओझल हो गये, जिस तरह सूर्य अस्त होने पर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः
पुरे च राष्ट्रे च गृहे तथात्मनि ।

विभाव्य लोभानृतजिह्वाहिंसना-

द्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर; तत्—उस; परिसर्पणम्—विस्तार को; बुधः—पूर्ण अनुभवी; पुरे—राजधानी में; च—भी; राष्ट्रे—राज्य में; च—तथा; गृहे—घर में; तथा—और; आत्मनि—अपने में; विभाव्य—देखकर; लोभ—लालच; अनृत—झूठ; जिह्वा—कुटिल नीति; हिंसन—आदि—हिंसा, ईर्ष्या; अधर्म—अधर्म; चक्रम्—छल; गमनाय—प्रस्थान के लिए; पर्यधात्—तदनुसार वस्त्र धारण किये।

महाराज युधिष्ठिर पर्याप्त बुद्धिमान थे कि वे कलियुग के प्रभाव को समझ गये, जिसके विशेष लक्षण होते हैं—बढ़ता लालच, असत्य भाषण, धोखा देना तथा सारी राजधानी, राज्य, घर तथा समस्त व्यक्तियों में हिंसा का आधिक्य इत्यादि। अतएव उन्होंने घर छोड़ने की तैयारी की और तदनुकूल वस्त्र धारण कर लिये।

तात्पर्य : आधुनिक युग कलि के विशिष्ट गुणों से प्रभावित है। कुरुक्षेत्र युद्ध के दिनों से, जिसे लगभग पाँच हजार वर्ष हुए हैं, कलियुग का प्रभाव प्रकट होने लगा है और प्रामाणिक शास्त्रों से पता चलता है कि अभी कलियुग ४,२७,००० वर्ष और चलता रहेगा। कलियुग के जिन लक्षणों का उल्लेख ऊपर किया गया है अर्थात् लोभ, असत्य, छल, भाई-भतीजावाद, हिंसा इत्यादि, उनका पहले से ही बोलबाला है और यह कोई नहीं जानता कि ज्यों-ज्यों कलि का प्रभाव बढ़ेगा, प्रलय होने तक क्या-क्या न हो ले। हम यह पहले ही जान चुके हैं कि कलियुग के प्रभाव ईश्वर-विहीन तथाकथित सभ्य मनुष्य के लिए हैं। जो लोग भगवान् के आश्रय में हैं, उन्हें इस भयावह युग से डरने की कोई बात नहीं है। महाराज युधिष्ठिर भगवान् के महान् भक्त थे, अतएव उन्हें कलियुग से भयभीत होने की आवश्यकता न थी, किन्तु उन्होंने सक्रिय गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर अपने घर, भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयारी करना उचित समझा। चूँकि पाण्डव भगवान् के सनातन संगी हैं, अतएव वे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा भगवान् की संगति के लिए अधिक बेचैन रहते थे। इसके साथ ही, आदर्श राजा होने के नाते महाराज युधिष्ठिर अन्यो के लिए आदर्श स्थापित करने के लिए भी विरत होना चाहते थे। ज्योंही गृहस्थी के कार्यों को देखनेवाला कोई नवयुवक तैयार हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि वह आध्यात्मिक साक्षात्कार तक ऊपर उठने के लिए तुरन्त गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दे। उसे गृहस्थी के अंधकूप में तब तक सड़ते नहीं रहना चाहिए, जब तक यमराज आकर उसे बाहर न खींच निकाले।

आधुनिक राजनेताओं को महाराज युधिष्ठिर से स्वेच्छिक वैराग्य लेने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और नई पीढ़ी को अवसर प्रदान करना चाहिए। यही नहीं, सेवा-निवृत्त (रिटायर्ड) वृद्धों को भी उनसे शिक्षा लेनी चाहिए और इसके पूर्व कि वे मृत्यु के लिए बलपूर्वक घसीटे जाँय, उन्हें आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए घर छोड़ देना चाहिए।

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।

तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

स्व-राट्—सम्राट्; पौत्रम्—पौत्र को; विनयिनम्—भली-भाँति प्रशिक्षित; आत्मनः—अपना; सु-समम्—सभी प्रकार से समान; गुणैः—गुणों से; तोय-नीव्याः—समुद्रों से घिरा; पतिम्—स्वामी को; भूमेः—भूमि के; अभ्यषिञ्चत्—सिंहासन पर बिठाया; गजाह्वये—हस्तिनापुर की राजधानी में।

तत्पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुर की राजधानी में, उन्होंने अपने पौत्र को सिंहासनारूढ़ किया, जो समुद्र से घिरी सारी भूमि के स्वामी तथा सम्राट के रूप में प्रशिक्षित था और उन्हीं के समान सुयोग्य था।

तात्पर्य : समुद्रों से घिरी हुई सारी भूमि हस्तिनापुर के राजा के अधीन थी। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र महाराज परीक्षित को, जो उन्हीं के समान सुयोग्य था, नागरिक के प्रति राजा के कर्तव्य को ध्यान में रखकर राज्य-प्रशासन में प्रशिक्षित किया। इस तरह महाराज युधिष्ठिर के भगवद्धाम जाने के पूर्व, परीक्षित उनके स्थान पर सिंहासनारूढ़ हो चुके थे। यहाँ पर महाराज परीक्षित के प्रसंग में विनयिनम् शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो महत्वपूर्ण है। कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक, हस्तिनापुर का राजा पूरे संसार का सम्राट क्यों माना जाता था? इसका कारण यही था कि सम्राट के अच्छे शासन के कारण संसार के लोग सुखी थे। नागरिकों के सुख का कारण प्रचुर प्राकृतिक उपज थी—जैसे अन्न, फल, दुग्ध, औषधियाँ, रत्न, खनिज तथा जनता की आवश्यकता की सारी वस्तुएँ। वे शारीरिक व्याधियों, मन की चिन्ताओं तथा प्राकृतिक उत्पातों एवं अन्य जीवों द्वारा दी जाने वाली सारी आपदाओं से मुक्त थे। चूँकि सभी लोग सभी तरह से सुखी थे, अतएव कहीं कोई असन्तोष न था, यद्यपि राजनैतिक कारणों तथा श्रेष्ठता-प्रदर्शन के लिए विभिन्न प्रान्त के राजाओं में कभी-कभी युद्ध हुआ करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता

था, अतएव लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़ते न थे। किन्तु धीरे-धीरे कलियुग का दुष्प्रभाव राजा तथा प्रजा दोनों के सद्गुणों में प्रविष्ट हो गया, अतएव शासक तथा शासित के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी। किन्तु शासक तथा शासित के मध्य विषमता के इस युग में भी आध्यात्मिक विकास तथा ईश्वर-चेतना सम्भव है। यही एक विशेष अधिकार उपलब्ध है।

मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मथुरायाम्—मथुरा में; तथा—भी; वज्रम्—वज्र को; शूरसेन-पतिम्—शूरसेन का राजा; ततः—तत्पश्चात्; प्राजापत्याम्—प्राजापति यज्ञ; निरूप्य—सम्पन्न करके; इष्टिम्—लक्ष्य; अग्नीन्—अग्नि को; अपिबत्—अपने में स्थापित किया; ईश्वरः—समर्थ।

तब उन्होंने अनिरुद्ध (भगवान् कृष्ण के पौत्र) के पुत्र वज्र को मथुरा में शूरसेन का राजा बना दिया। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने प्राजापत्य यज्ञ किया और गृहस्थ जीवन त्यागने के लिए अपने भीतर अग्नि प्रतिष्ठित की।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने महाराज परीक्षित को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठाकर तथा भगवान् कृष्ण के प्रपौत्र वज्र को मथुरा का राजा बनाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। वर्णाश्रम धर्म, गुण और कार्य की दृष्टि से वास्तविक मानव-जीवन का शुभारम्भ है और महाराज युधिष्ठिर तो इस वर्णाश्रम धर्म के रक्षक थे, अतएव उन्होंने शासन का भार प्रशिक्षित राजकुमार, महाराज परीक्षित को सौंप दिया और स्वयं संन्यासी बन गये। वर्णाश्रम धर्म की वैज्ञानिक पद्धति मानव जीवन को चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आश्रमों में विभाजित करती है। जीवन के चार आश्रम हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी। सभी को इन चारों का पालन करना आवश्यक है, चाहे उसका वृत्तिपरक-विभाग कुछ भी हो। आधुनिक राजनेता सक्रिय जीवन से विरत नहीं होना चाहते, भले ही वे कितने ही बूढ़े क्यों न हो जाँय, लेकिन महाराज युधिष्ठिर आदर्श राजा थे, अतएव वे स्वेच्छा से प्रशासनिक जीवन से विरत हो गये, जिससे वे अगले जीवन की तैयारी कर सकें। हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने जीवन की ऐसी व्यवस्था करे कि जीवन की अन्तिम व्यवस्था के कम से कम अन्तिम पन्द्रह-बीस वर्ष पूरी तरह भगवान् की सेवा में लगाये जा सकें, जिससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके। यह

सचमुच नादानी है कि जीवन का सारा समय भौतिक भोग तथा सकाम कर्मों में लगाया जाय, क्योंकि जब तक मन भौतिक भोग के लिए सकाम कर्मों में लगा रहता है, तब तक बद्धजीवन या भवबन्धन से बाहर निकलने की कोई गुंजाईश नहीं रहती। किसी भी व्यक्ति को जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के परम कार्य की, अर्थात् भगवद्धाम जाने की, उपेक्षा करने की आत्मघाती नीति नहीं अपनानी चाहिए।

विसृज्य तत्र तत् सर्वं दुकूलवलयादिकम् ।

निर्ममो निरहङ्कारः सञ्छिन्नाशेषबन्धनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; तत्र—वे सब; तत्—यह; सर्वम्—सब कुछ; दुकूल—पेटी; वलय—आदिकम्—कंगन आदि; निर्ममः—उदास; निरहङ्कारः—अनासक्त; सञ्छिन्न—पूर्ण रूप से कटा हुआ; अशेष—बन्धनः—असीम लगाव।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे वस्त्र, कमर-पेटी तथा राजसी आभूषण तुरन्त त्याग दिये और वे पूर्ण रूप से उदासीन तथा प्रत्येक वस्तु से विरक्त हो गये।

तात्पर्य : भगवान् का पार्षद बनने के लिए यह आवश्यक है कि भौतिक कल्मष से शुद्ध हो लिया जाय। ऐसी शुद्धि के बिना कोई न तो भगवान् का पार्षद बन सकता है, न भगवद्-धाम वापस जा सकता है। अतएव, आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध होने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने राजसी वेश-भूषा तथा वस्त्रों का त्याग कर राजसी ऐश्वर्य त्याग दिया। संन्यासी का कषाय या केसरिया कौपीन बताता है कि उसे आकर्षक वस्त्रों से मुक्ति मिल चुकी है, अतएव उन्होंने अपनी वेशभूषा बदल ली। वे अपने राज्य तथा परिवार के प्रति उदासीन हो गये और समस्त भौतिक कल्मष या भौतिक उपाधि से मुक्त हो गये। लोग सामान्यतया विविध उपाधियों से जुड़े होते हैं जैसे परिवार, समाज, देश, वृत्ति, धन, पद, इत्यादि। जब तक मनुष्य ऐसी उपाधियों से जुड़ा रहता है, तब तक वह भौतिक दृष्टि से अशुद्ध माना जाता है। आधुनिक युग के तथाकथित नेता राष्ट्रीय चेतना से जुड़े रहते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि ऐसी मिथ्या चेतना बद्धजीव की दूसरी उपाधि है। भगवद्-धाम जाने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी उपाधियों का परित्याग कर दिया जाय। वे लोग मूर्ख हैं, जो राष्ट्रीय चेतना में मरनेवालों की पूजा करते हैं, लेकिन यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण है, जिन्होंने राजा होते हुए भी ऐसी राष्ट्रीय चेतना से रहित होकर इस संसार से जाने के लिए तैयारी की। फिर भी लोग उन्हें आज तक याद करते हैं,

क्योंकि वे एक महान् पवित्र राजा थे और लगभग भगवान् श्रीराम के ही समान स्तर पर थे। चूँकि संसार में ऐसे पुण्यात्मा राजाओं का प्राधान्य था, अतएव वे सभी तरह से सुखी थे और ऐसे महान् सम्राटों के लिए विश्व पर शासन चलाना सम्भव हो पाया।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी को; जुहाव—त्याग दिया; मनसि—मन में; तत् प्राणं—मन को श्वास लेने में; इतरे च—अन्य इन्द्रियों को भी; तम्—उसमें; मृत्यौ—मृत्यु में; अपानम्—श्वास; स-उत्सर्गम्—पूर्ण समर्पण को; तम्—उस; पञ्चत्वे—पाँच तत्त्वों से बने शरीर में; हि—निश्चय ही; अजोहवीत्—समाहित कर दिया।

तब उन्होंने अपनी सारी इन्द्रियों को मन में, मन को जीवन में, जीवन को प्राण में, अपने पूर्ण अस्तित्व को पाँच तत्त्वों के शरीर में तथा अपने शरीर को मृत्यु में समाहित कर दिया। तत्पश्चात् शुद्ध आत्मा के रूप में वे देहात्म-बुद्धि से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर भी अपने भाई अर्जुन की तरह एकाग्रचित्त होकर क्रमशः सारे भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये। सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्रियों के समस्त कर्मों को एकाग्र किया और उन्हें मन में समाहित कर दिया, अथवा दूसरे शब्दों में, उन्होंने मन को भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मोड़ा। उन्होंने प्रार्थना की कि चूँकि सारे भौतिक कार्यकलाप मन द्वारा इन्द्रियों के कर्मों तथा फलों के रूप में सम्पन्न होते हैं और चूँकि वे भगवद्-धाम जा रहे थे, अतएव मन को अपने भौतिक कार्यकलापों को समेट लेना चाहिए और भगवान् की दिव्य सेवा की ओर मुड़ना चाहिए। तब भौतिक कार्यकलापों की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वस्तुतः मन के कार्यकलापों को रोका नहीं जा सकता, क्योंकि वे सनातन आत्मा के प्रतिबिम्ब हैं, किन्तु कार्यकलापों के गुण को पदार्थ से भगवान् की दिव्य सेवा में बदला जा सकता है। जब मन के मैल को प्राण वायु द्वारा स्वच्छ कर लिया जाता है, तो उसका भौतिक रंग बदल जाता है और वह जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो जाता है और शुद्ध आध्यात्मिक जीवन में स्थित हो जाता है। भौतिक देह के क्षणिक रूप से धारण होने पर सब कुछ प्रकट होता है और यह शरीर मृत्यु के समय की मन की उपज है, अतएव यदि मन को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है और उसे निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में प्रवृत्त रखा जाता है, तो मृत्यु

के बाद मन द्वारा अन्य भौतिक शरीर को उत्पन्न कर पाने की सम्भावना ही नहीं रहेगी। तब यह भौतिक कल्मष में डूबे रहने से मुक्त हो जायेगा और शुद्ध आत्मा भगवद्-धाम को लौट जायेगा।

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः ।

सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्रित्वे—तीनों गुणों में; हुत्वा—आहुति करके; च—भी; पञ्चत्वम्—पाँच तत्त्व; तत्—वह; च—भी; एकत्वे—एक अविद्या में; अजुहोत्—लीन हो गया; मुनिः—विचारवान; सर्वम्—कुल मिलाकर; आत्मनि—आत्मा में; अजुहवीत्—स्थिर; ब्रह्मणि—आत्मा में; आत्मानम्—आत्मा को; अव्यये—कभी न समाप्त होने वाले।

इस प्रकार उन्होंने पञ्चत्वमय स्थूल शरीर को विनष्ट करके, प्रकृति के तीन गुणों में मिलाकर उसे अज्ञानता में मिला दिया और तब उस अज्ञानता को आत्मा या ब्रह्म में विलीन कर दिया, जो सर्वदा अक्षय है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में जो कुछ व्यक्त है, वह महत् तत्त्व अव्यक्त का प्रतिफल है और हमें जितनी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ऐसे विविध भौतिक पदार्थों के विविध संयोग हैं। लेकिन जीव ऐसे भौतिक पदार्थों से भिन्न होता है। यह तो जीव द्वारा भगवान् के नित्य दास-रूप में अपना शाश्वत स्वभाव भूलने के कारण तथा प्रकृति पर प्रभुता जताने की मिथ्या धारणा के कारण है कि उसे मिथ्या इन्द्रिय-भोग के संसार में प्रवेश करना पड़ता है। इस तरह भौतिकता द्वारा मन के प्रभावित होने का मुख्य कारण भौतिक शक्ति की साथ-साथ उत्पत्ति है। इस तरह पाँच तत्त्वों का स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। महाराज युधिष्ठिर ने इस क्रिया को उलट दिया और उन्होंने शरीर के पाँचों तत्त्वों को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में मिला दिया। इससे शरीर के उत्तम, मध्यम या निकृष्ट होने का अन्तर जाता रहता है और पुनः गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ भौतिक शक्ति में समाहित हो जाती हैं, जो शुद्ध जीव के मिथ्या भाव से उत्पन्न हैं। इस तरह जब कोई वैकुण्ठलोक के असंख्य लोकों में से किसी एक में, विशेषतया गोलोक वृन्दावन में, भगवान् का पार्षद बनना चाहता है, तो उसे निरन्तर यह सोचना होता है कि वह इस भौतिक शक्ति से भिन्न है, उसे इससे कोई सरोकार नहीं है और उसे अपनी अनुभूति शुद्ध आत्मा या ब्रह्म के रूप में करनी होती है, जो गुण में परम ब्रह्म (परमेश्वर) के तुल्य है। महाराज युधिष्ठिर ने अपना साम्राज्य परीक्षित तथा वज्र को सौंप देने के बाद उन्होंने अपने आपको न तो विश्व का सम्राट

माना, न ही कुरुवंश का अग्रणी माना। भौतिक सम्बन्धों से एवं स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों के भौतिक बन्धन से स्वतंत्रता का यह भाव मनुष्य को भगवान् के दास के रूप में कार्य करने के लिए मुक्त बनाता है, भले ही वह अभी भौतिक जगत में रहता हो। यह अवस्था इसी भौतिक जगत में रहते हुए भी जीवन्मुक्त अवस्था कहलाती है। भौतिक अस्तित्व को समाप्त करने की विधि यही है। मनुष्य को न केवल अपने को ब्रह्म समझना चाहिए, अपितु उसे ब्रह्म के समान आचरण भी करना चाहिए। जो अपने को मात्र ब्रह्म समझता है, वह मायावादी (निर्विशेषवादी) है। किन्तु जो ब्रह्म की भाँति कर्म करता है, वह शुद्ध भक्त है।

चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः ।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ।
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन्बधिरो यथा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

चीर-वासा:—चिथड़े ग्रहण किये; निराहारः—ठोस भोजन करना त्याग दिया; बद्ध-वाक्—बोलना बन्द कर दिया; मुक्त-मूर्धजः—बाल खोल दिए; दर्शयन्—दिखाने लगे; आत्मनः—अपने; रूपम्—शारीरिक स्वरूप को; जड—निष्क्रिय; उन्मत्त—पागल; पिशाच-वत्—उजड़ु की तरह; अनवेक्षमाणः—प्रतीक्षा किये बिना; निरगात्—स्थित था; अशृण्वन्—बिना सुने; बधिरोः—बहुरा व्यक्ति; यथा—जिस तरह।

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने फटे हुए वस्त्र पहन लिये, ठोस आहार लेना बन्द कर दिया, वे जान कर गूँगे बन गये और बालों को खोल दिया। इन सबके मिल-जुले रूप में, वे एक उजड़ु या वृत्तिविहीन पागल की तरह दिखने लगे। वे किसी वस्तु के लिए अपने भाइयों पर आश्रित नहीं रहे। वे बहरे मनुष्य की तरह कुछ भी न सुनने लगे।

तात्पर्य : इस प्रकार समस्त बाह्य झंझटों से छूटने पर, उन्हें राजसी जीवन या परिवार-प्रतिष्ठा से कुछ लेना-देना नहीं रहा और वे एक तरह से वे निष्क्रिय, पागल, उजड़ु की तरह बन गये और भौतिक मामलों के विषय में कुछ भी बोलना बन्द कर दिया। अब वे अपने उन भाइयों पर आश्रित नहीं रहे जो निरन्तर उनकी सहायता करते थे। सभी प्रकार की इस पूर्ण स्वतंत्रता को निर्भीकता की शुद्ध अवस्था (निर्भयपद) कहते हैं।

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वा महात्मभिः ।

हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

उदीचीम्—उत्तरी दिशा; प्रविवेश-आशाम्—वहाँ प्रवेश करने की इच्छा करनेवाले; गत-पूर्वाम्—अपने पूर्वजों द्वारा स्वीकृत पथ; महा-आत्मभिः—विशाल हृदय के कारण; हृदि—हृदय के भीतर; ब्रह्म—परमेश्वर; परम्—परम; ध्यायन्—निरन्तर ध्यान करते हुए; न आवर्तेत—अपने दिन बिताये; यतः—जहाँ कहीं भी; गतः—गये।

तब उन्होंने उत्तर दिशा की ओर अपने पूर्वजों तथा महापुरुषों द्वारा स्वीकृत पथ पर चलते हुए प्रस्थान किया, जिससे वे परमेश्वर के विचार में पूर्ण रूप से लग सकें। वे जहाँ कहीं भी गये, इसी तरह रहे।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह विदित होता है कि महाराज युधिष्ठिर ने अपने पूर्वजों तथा भगवान् के महान् भक्तों के चरण-चिह्नों का अनुगमन किया। हम पहले कई बार यह बता चुके हैं कि जिस रूप में वर्णाश्रम-धर्म विश्व के निवासियों द्वारा और विशेष रूप से आर्यावर्त के निवासियों द्वारा पालित होता है, उसमें जीवन की एक अवस्था में, घर-बार के सारे सम्बन्धों को छिन्न करने की महत्ता पर बल दिया जाता है। इसी दृष्टि से प्रशिक्षण तथा शिक्षा दी जाती थी और इस तरह महाराज युधिष्ठिर जैसे सम्मानित व्यक्ति को आत्म-साक्षात्कार करने तथा भगवद्धाम वापस लौटने के लिए सारे पारिवारिक सम्बन्ध छोड़ने पड़ते थे। गृहस्थ जीवन को न कोई राजा, न कोई सम्मानित व्यक्ति, अन्त तक चला सकता है, क्योंकि इसे मानव जीवन की सिद्धि के प्रतिकूल तथा उसकी आत्म-हत्या जैसा माना जाता है। अतएव सारी पारिवारिक झंझटों से मुक्त होने एवं भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा में शत-प्रतिशत लगने की हमेशा संस्तुति की जाती है, क्योंकि यह प्रामाणिक पथ है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.६२) में शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को, कम से कम अपनी अन्तिम अवस्था में, भगवद्भक्त बनना चाहिए। भगवान् के प्रति एकनिष्ठ आत्मा को अपने हित के लिए महाराज युधिष्ठिर की भाँति भगवान् के उपदेश का पालन करना चाहिए।

ब्रह्म परम् शब्द भगवान् श्रीकृष्ण के सूचक हैं। इसकी पुष्टि अर्जुन द्वारा *भगवद्गीता* (१०.१३) में असित, देवल, नारद तथा व्यास जैसे महापुरुषों के सन्दर्भ में की गई है। इस प्रकार उत्तरापथ के लिए गृहत्याग करते हुए महाराज युधिष्ठिर अपने अन्तःकरण में निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करते रहे और अपने पूर्वजों तथा सभी परम भक्तों के चरण-चिह्नों पर चलते रहे।

सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः ।

कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सारे; तम्—उनको; अनुनिर्जग्मुः—पीछा करते हुए घर छोड़ दिया; भ्रातरः—भाइयों ने; कृत-निश्चयाः—निश्चित रूप से; कलिना—कलियुग द्वारा; अधर्म—अधर्म; मित्रेण—मित्र के द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; स्पृष्टाः—प्रभावित, वशीभूत; प्रजाः—सारे नागरिक; भुवि—पृथ्वी पर।

महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाइयों ने देखा कि कलियुग का पहले से ही संसार भर में पदार्पण हो चुका है और राज्य के नागरिक पहले से ही अधर्म द्वारा प्रभावित हैं। अतएव उन्होंने अपने बड़े भाई के चरण-चिन्हों का अनुगमन करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर के छोटे भाई पहले से ही सम्राट के आज्ञाकारी आज्ञापालक थे और जीवन के परम उद्देश्य को जानने के लिए उन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण दिया गया था। अतएव उन्होंने भगवान् कृष्ण की भक्ति करने में अपने बड़े भाई का अनुसरण करने का निश्चय किया। सनातन धर्म के नियमानुसार आधी आयु बीत जाने पर गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त होना चाहिए। लेकिन इस प्रकार प्रवृत्त होना सदैव निश्चित नहीं रहता। कभी-कभी निवृत्ति-प्राप्त लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं कि जीवन के अन्तिम दिनों में अपने को किस तरह लगाये रखा जाये। यहाँ पाण्डव जैसे अधिकारीजनों का निर्णय दिया हुआ है। उन सबों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा के अनुशीलन में अपने आपको प्रवृत्त किया। स्वामी श्रीधर के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के चरम लक्ष्य नहीं हैं, जैसाकि कई लोग सोचते हैं। इनका अभ्यास तो वे करते हैं, जिन्हें जीवन के चरम लक्ष्य की कोई जानकारी नहीं है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में जीवन के चरम उद्देश्य का संकेत किया है और पाण्डवों ने बिना किसी संकोच के उनका पालन करने की बुद्धिमानी की।

ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः ।

मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; साधु-कृत—साधु के अनुरूप किया गया; सर्व-अर्थाः—प्रत्येक योग्य वस्तु से युक्त; ज्ञात्वा—जानकर;
आत्यन्तिकम्—चरम; आत्मनः—जीव का; मनसा—मन के भीतर; धारयाम् आसुः—पालन किया; वैकुण्ठ—वैकुण्ठ के
स्वामी; चरण-अम्बुजम्—चरणकमल का।

उन्होंने धर्म के सारे नियम सम्पन्न कर लिये थे। अतएव उनका यह निश्चय ठीक ही था कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल ही सबों के चरम लक्ष्य हैं। अतएव उन्होंने बिना व्यवधान के उनके चरणों का ध्यान किया।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.२८) में भगवान् कहते हैं कि जिन्होंने पूर्वजन्म में सत्कर्म किये हैं और जो समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो चुके हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने को एकाग्र कर सकते हैं। पाण्डवों ने न केवल इस जन्म में, अपितु अपने पूर्वजन्मों में भी सदैव पुण्य कर्म किये थे। और इस प्रकार वे पापकर्मों के फलों से हमेशा मुक्त थे। अतः यह उचित ही है कि उन्होंने अपना ध्यान भगवान् के चरणकमलों पर केन्द्रित किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के नियमों को वे ही अपनाते हैं, जो पापकर्म के फलों से मुक्त नहीं हुए हैं। ऐसे लोग उपर्युक्त चारों नियमों के कल्मष से प्रभावित होने के कारण वैकुण्ठलोक के स्वामी भगवान् के चरणकमलों को तुरन्त ही अपना नहीं पाते। वैकुण्ठ विश्व भौतिक आकाश से बहुत दूर स्थित है। भौतिक आकाश दुर्गादेवी या भगवान् की भौतिक शक्ति के अधीन है, किन्तु वैकुण्ठ विश्व की व्यवस्था भगवान् की निजी शक्ति द्वारा होती है।

तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।

तस्मिन् नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥ ४७ ॥

अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः ।

विधूतकल्मषा स्थानं विरजेनात्मनैव हि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ध्यान—ध्यान; उद्रिक्तया—मुक्त होकर; भक्त्या—भक्ति से; विशुद्ध—विशुद्ध; धिषणाः—बुद्धि द्वारा; परे—
अध्यात्म में; तस्मिन्—उसमें; नारायण—भगवान् श्रीकृष्ण के; पदे—चरणकमल में; एकान्त-मतयः—जो एक और अनन्य ऐसे
भगवान् में स्थित हैं, उनके; गतिम्—गन्तव्य; अवापुः—प्राप्त किया; दुरवापाम्—प्राप्त करना अत्यन्त कठिन; ते—उनके द्वारा;
असद्भिः—भौतिकतावादियों द्वारा; विषय-आत्मभिः—भौतिक आवश्यकताओं में लीन; विधूत—धोया हुआ; कल्मषाः—
भौतिक मल; स्थानम्—धाम; विरजेन—रजोगुण से रहित; आत्मना एव—ठीक उसी शरीर से; हि—निश्चय ही।

इस प्रकार भक्तिभाव से निरन्तर स्मरण करने से उत्पन्न भक्तिमयी शुद्ध चेतना के द्वारा उन्होंने आदि नारायण भगवान् कृष्ण द्वारा अधिशासित वैकुण्ठलोक प्राप्त किया। यह वैकुण्ठलोक केवल उन्हें प्राप्त होता है, जो अविचल भाव से एक परमेश्वर का ध्यान धरते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यह धाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और यह उन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होता, जो जीवन की भौतिक अवधारणा में लीन रहते हैं। लेकिन समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से शुद्ध होने के कारण पाण्डवों ने अपने इसी शरीर में उस धाम को प्राप्त किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति सत्त्व, रजो तथा तमो गुणों से मुक्त हो तथा अध्यात्म में स्थित हो, तो वह शरीर-परिवर्तन हुए बिना ही जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। श्रील सनातन गोस्वामी ने *हरि-भक्ति-विलास* नामक अपनी कृति में कहा है कि कोई भी व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन में आध्यात्मिक अनुशासनात्मक कर्म करके द्विजन्मा ब्राह्मण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक रसायनशास्त्री रासायनिक प्रक्रिया से पीतल जैसी किसी धातु को सोने में बदल देता है। अतएव शरीर-परिवर्तन के बिना ही ब्राह्मण बनने या बिना शरीर-परिवर्तन के भगवद्धाम जाने में वास्तविक मार्गदर्शन का महत्त्व होता है। श्रील जीव गोस्वामी की टीका है कि यहाँ *हि* शब्द का उपयोग इस सत्य की पुष्टि करता है और इस वास्तविक स्थिति के विषय में कोई सन्देह नहीं है। *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी श्रील जीव गोस्वामी के इस कथन की पुष्टि होती है, जब भगवान् कहते हैं कि जो अविचल भाव से विधिपूर्वक भक्ति करता है, वह भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष को लाँघ करके ब्रह्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है और जब भक्तिमय सेवा के स्वयंस्फूर्त आचरण द्वारा ब्रह्मसिद्धि को और भी उन्नत बनाया जाता है, तो इसमें जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि उसे बिना शरीर-परिवर्तन के गोलोक वृन्दावन प्राप्त होता है, जैसा बिना शरीर-परिवर्तन के भगवान् के अपने धाम लौटने के सम्बन्ध में हम पहले ही बता चुके हैं।

विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभासे देहमात्मनः ।

कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर (महाराज युधिष्ठिर के चाचा); अपि—भी; परित्यज्य—त्याग कर; प्रभासे—प्रभास नामक तीर्थस्थल में; देहम् आत्मनः—अपना शरीर; कृष्ण—परमेश्वर; आवेशेन—उसी विचार में लीन होकर; तत्—उनका; चित्तः—विचार तथा कार्य; पितृभिः—पितृलोक के वासियों सहित; स्व-क्षयम्—अपने निजी धाम को; ययौ—चला गये।

तीर्थाटन के लिए गये हुए विदुर ने प्रभास में अपना शरीर त्याग किया। चूँकि वे भगवान् कृष्ण के विचार में मग्न रहते थे, अतएव उनका स्वागत पितृलोक के निवासियों ने किया, जहाँ वे अपने मूल पद पर लौट गये।

तात्पर्य : पाण्डवों तथा विदुर में अन्तर इतना ही है कि पाण्डव भगवान् के नित्य संगी हैं, लेकिन विदुर पितृलोक के प्रशासक देवताओं में से एक हैं और यमराज के रूप में जाने जाते हैं। लोग यमराज से भयभीत रहते हैं, क्योंकि वे ही इस जगत के दुष्टों को दण्ड देते हैं, किन्तु जो भगवान् के भक्त हैं, उन्हें उनसे डरने की कोई बात नहीं है। वे भक्तों के सुहृद मित्र हैं, किन्तु अभक्तों के लिए साक्षात् भय हैं। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, यमराज को मण्डूक मुनि ने शाप दिया था कि वे शूद्र बन जाये, अतएव विदुर यमराज के अवतार थे। उन्होंने भगवान् के सनातन सेवक के रूप में अत्यन्त मनोयोग से भक्ति का प्रदर्शन किया और पुण्यात्मा का जीवन बिताया, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र जैसे भौतिकतावादी मनुष्य को भी उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त हो सका। अतएव वे भक्ति के पुण्यकर्मों द्वारा भगवान् के चरणकमलों का स्मरण सदैव कर सकते थे और इस तरह उनके शूद्र-जन्मा जीवन के सारे कल्मष धुल गये। अन्त में पितृलोक के निवासियों ने उनका स्वागत किया और पुनः उन्हें अपना मूल पद मिल गया। देवता भी भगवान् के पार्षद हैं, किन्तु उन्हें भगवान् का व्यक्तिगत संग प्राप्त नहीं हो पाता, जबकि भगवान् के प्रत्यक्ष पार्षदों को उनका निरन्तर संग प्राप्त होता रहता है। भगवान् तथा उनके निजी पार्षद निरन्तर विभिन्न ब्रह्माण्डों में अवतरित होते रहते हैं। भगवान् सभी पार्षदों का स्मरण रखते हैं, किन्तु भगवान् के सूक्ष्म अंश होने के कारण वे उन्हें भूल जाते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इस तरह भूलना सहज है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.५) में हुई है।

द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।

वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

द्रौपदी—द्रौपदी (पाण्डव पत्नी); च—तथा; तदा—उस समय; आज्ञाय—भगवान् कृष्ण को भलीभाँति जानते हुए; पतीनाम्—पतियों के; अनपेक्षताम्—उसकी परवाह न करनेवाले; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव (कृष्ण) में; भगवति—भगवान्; हि—ठीक उसी तरह; एक-अन्त—पूर्णतया; मतिः—ध्यान; आप—प्राप्त किया; तम्—उसको (भगवान् को) ।

द्रौपदी ने भी देखा कि उसके पतिगण, उसकी परवाह किये बिना घर छोड़ रहे हैं। वे भगवान् वासुदेव कृष्ण को भलीभाँति जानती थीं। अतएव वे तथा सुभद्रा दोनों भगवान् कृष्ण के ध्यान में लीन हो गईं और अपने-अपने पतियों की सी गति प्राप्त की।

तात्पर्य : हवाई जहाज उड़ते समय कोई किसी दूसरे जहाजों की संभाल नहीं ले सकता। हर एक को अपने खुद के जहाज की संभाल लेनी होती है और यदि कोई संकट आ पड़े, तो उस अवस्था में कोई अन्य जहाज दूसरे की सहायता नहीं कर सकता। इसी प्रकार जीवन के अन्त में, जब हर एक को अपने घर, भगवद्धाम वापस जाना होता है, तो उसे दूसरे के ऊपर निर्भर न रह कर, स्वयं अपनी संभाल लेनी होती है। हाँ, उड़ने के पूर्व जमीन पर सहायता की जाती है। इसी प्रकार किसी के जीवन काल में उसे उसका गुरु, पिता, माता, सम्बन्धी, पति तथा अन्य लोग सहायता कर सकते हैं, किन्तु भवसागर पार करते समय हर एक को अपनी खुद की परवाह करनी होती है और पहले से प्राप्त उपदेशों का उपयोग करना होता है। द्रौपदी के पाँच पति थे, किन्तु किसी ने नहीं कहा कि चलो। द्रौपदी को अपने महान् पतियों की प्रतीक्षा किये बिना अपनी परवाह स्वयं करनी थी और चूँकि वे पहले से प्रशिक्षित थीं, अतएव उन्होंने तुरन्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव कृष्ण का ध्यान किया। पत्नियों को भी उसी तरह पतियों जैसी गति प्राप्त हुई, अर्थात् वे बिना शरीर बदले, भगवान् के धाम पहुँच गईं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का मत है कि द्रौपदी तथा सुभद्रा दोनों को एक सा ही फल मिला, यद्यपि यहाँ पर उनका नाम उल्लिखित नहीं है। उनमें से किसी को भी अपना शरीर त्यागना नहीं पड़ा।

यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणां

पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।

शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं

लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; एतत्—यह; भगवत्-प्रियाणाम्—भगवान् के अत्यन्त प्रियजनों का; पाण्डोः—पाण्डु के; सुतानाम्—पुत्रों का; इति—इस प्रकार; सम्प्रयाणम्—चरम लक्ष्य के लिए प्रस्थान; शृणोति—सुनता है; अलम्—केवल; स्वस्त्ययनम्—सौभाग्य; पवित्रम्—पूरी तरह शुद्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; हरौ—भगवान् की; भक्तिम्—भक्ति को; उपैति—प्राप्त करता है; सिद्धिम्—सिद्धि को।

पाण्डु-पुत्रों द्वारा जीवन के परम लक्ष्य भगवद्धाम के लिए प्रस्थान का यह विषय अत्यन्त शुभ तथा परम पवित्र है। अतएव जो भी इस कथा को भक्तिभावपूर्वक सुनता है, वह जीवन की परम सिद्धि भगवद्भक्ति को निश्चय ही प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् एवं पाण्डवों जैसे भगवद्भक्तों की कथा है। भगवान् और उनके भक्तों की कथा अपने आप में पूर्ण है। अतएव भक्तिभाव से इसे सुनना भगवान् तथा उनके नित्य-संगियों से सान्निध्य प्राप्त करने जैसा है। मनुष्य श्रीमद्भागवत का श्रवण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् भगवद्धाम-प्रस्थान को प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'पाण्डवों की सामयिक निवृत्ति' नामक पंद्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

परीक्षित ने कलियुग का सत्कार किस तरह किया

सूत उवाच

ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया

महीं महाभागवतः शशास ह ।

यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः

समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; परीक्षित्—महाराज परीक्षित ने; द्विज-वर्य—श्रेष्ठ ब्राह्मण; शिक्षया—अपने उपदेशों से; महीम्—पृथ्वी को; महा-भागवतः—परम भक्त; शशास—शासन किया; ह—भूतकाल में; यथा—जैसा उन्होंने कहा था; हि—निश्चय ही; सूत्याम्—उनके जन्म के समय; अभिजात-कोविदाः—जन्म के समय पटु ज्योतिषी; समादिशन्—अभिमत व्यक्त किया; विप्र—हे ब्राह्मण; महद्-गुणः—महान् गुण; तथा—उसी के अनुसार सत्य।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे विद्वान् ब्राह्मणों, तब महाराज परीक्षित श्रेष्ठ द्विज ब्राह्मणों के आदेशों के अनुसार महान् भगवद्भक्त के रूप में संसार पर राज्य करने लगे। उन्होंने उन महान् गुणों के द्वारा शासन चलाया, जिनकी भविष्यवाणी उनके जन्म के समय पटु ज्योतिषियों ने की थी।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के जन्म के समय निपुण ज्योतिषी ब्राह्मणों ने उनके कुछ गुणों की भविष्यवाणी की थी। भगवान् के महान् भक्त होने के कारण, महाराज परीक्षित में इन सारे गुणों का विकास हो सका। असली योग्यता भगवद्भक्त होना है और धीरे-धीरे सभी ग्राह्य गुणों का विकास होता जाता है। महाराज परीक्षित *महाभागवत* या प्रथम श्रेणी के भक्त थे, जो न केवल भक्ति के विज्ञान में पटु थे अपितु अपने दिव्य उपदेशों से अन्यो को भी भक्त बनाने में समर्थ थे। अतएव महाराज परीक्षित प्रथम श्रेणी के भक्त थे और इस तरह वे बड़े-बड़े मुनियों तथा विद्वान् ब्राह्मणों से राय लिया करते थे, जो उन्हें शास्त्रों के आधार पर सलाह दे सकें कि राज्य का शासन किस तरह चलाया जाय। ऐसे महान् राजा आजकल के निर्वाचित प्रशासकों से अधिक जिम्मेदार होते थे, क्योंकि वे महापुरुषों द्वारा वैदिक साहित्य में संकलित अनुदेशों का पालन करके उनके प्रति कृतज्ञ रहते थे। तब ऐसे अव्यावहारिक मूर्खों की आवश्यकता नहीं होती थी, जो नित्य ही नये-नये विधान बनाएँ और अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर उसे बारम्बार बदलते रहें। ऐसे विधि-विधान तो मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा अन्य मुक्त मुनियों द्वारा पहले ही स्थापित किये जा चुके थे और उनका प्रचलन सभी युगों तथा सभी स्थानों के लिए उपयुक्त था। अतएव सारे विधि-विधान प्रामाणिक थे और किसी त्रुटि या दोष से रहित होते थे। महाराज परीक्षित जैसे राजाओं की अपनी सलाहकार-समिति होती थी और इस समिति के सदस्य या तो ऋषि-मुनि होते थे या प्रथम श्रेणी के ब्राह्मण होते थे। वे कोई वेतन नहीं लेते थे, न उन्हें ऐसे वेतन की आवश्यकता ही रहती थी। *राजा बिना किसी व्यय के श्रेष्ठ सलाह प्राप्त करता था।* वे स्वयं *समदर्शी* होते थे—सबों के प्रति समदर्शी, चाहे मनुष्य हो या पशु। वे राजा को ऐसी सलाह नहीं देते थे कि मनुष्य को तो सुरक्षा प्रदान की जाय और बेचारे पशुओं का वध किया जाय। समिति के ऐसे सदस्य न तो मूर्ख होते थे, न दिवास्वप्न देखने वाले मूर्खों के प्रतिनिधि होते थे। वे सभी स्वरूपसिद्ध होते थे और वे भलीभाँति जानते थे कि किस तरह राज्य के सारे जीव इस जीवन में तथा

अगले जीवन में सुखी रह सकते हैं। वे 'खाओ, पियो और मौज करो' जैसी भोगवादी विचारधारा के समर्थक न थे। वे वास्तविक अर्थ में विचारक होते थे और यह भलीभाँति जानते थे कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है। इन सारे प्रतिबन्धों के अन्तर्गत राजा की सलाहकार समिति सही निर्देश देती थी और राजा या प्रशासनाधिकारी स्वयं योग्य भगवद्भक्त होने के कारण राज्य के कल्याण के लिए उन आदेशों की छानबीन करके उनका पालन करता था। महाराज युधिष्ठिर अथवा महाराज परीक्षित के समय का राज्य वास्तव में जन-कल्याणकारी राज्य होता था, क्योंकि राज्य में कोई भी दुखी नहीं रहता था, चाहे वह मनुष्य हो या पशु। महाराज परीक्षित विश्व के जनकल्याणकारी राज्य के एक आदर्श राजा थे।

स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम् ।

जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत् सुतान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; उत्तरस्य—राजा उत्तर की; तनयाम्—पुत्री को; उपयेमे—विवाह किया; इरावतीम्—इरावती को; जनमेजय-आदीन्—महाराज जनमेजय तथा अन्य; चतुरः—चार; तस्याम्—उसमें; उत्पादयत्—जन्म दिया; सुतान्—पुत्रों को।

राजा परीक्षित ने राजा उत्तर की पुत्री इरावती से विवाह किया और उससे उन्हें ज्येष्ठ पुत्र महाराज जनमेजय सहित चार पुत्र प्राप्त हुए।

तात्पर्य : महाराज उत्तर विराट के पुत्र तथा महाराज परीक्षित के मामा थे। इरावती महाराज उत्तर की पुत्री होने से, महाराज परीक्षित की ममेरी बहन थी, लेकिन यदि ममेरे भाइयों तथा बहनों का गोत्र अर्थात् परिवार एक न हो, तो उन्हें विवाह करने की अनुमति होती थी। विवाह की वैदिक पद्धति में गोत्र या परिवार पर बल दिया जाता था। अर्जुन ने भी सुभद्रा से विवाह किया था, यद्यपि वह उनकी ममेरी बहन लगती थी।

जनमेजय—राजर्षियों में से एक तथा महाराज परीक्षित के विख्यात पुत्र। इनकी माता का नाम इरावती अथवा कुछ लोगों के अनुसार माद्रवती था। महाराज जनमेजय के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे ज्ञातानीक तथा शंकुकर्ण। उन्होंने कुरुक्षेत्र तीर्थस्थल पर अनेक यज्ञ किये। उनके तीन छोटे भाइयों के नाम श्रुतसेन, उग्रसेन तथा भीमसेन-द्वितीय थे। उन्होंने तक्षला (अजन्ता) पर आक्रमण किया और अपने महान् पिता महाराज परीक्षित को दिये गये अवैध शाप का बदला लेने का निश्चय किया। उन्होंने

अपने पिता को डँसनेवाले तक्षक सहित सर्पों की सम्पूर्ण जाति को विनष्ट करने के लिए सर्प-यज्ञ किया। किन्तु अनेक प्रभावशाली देवताओं तथा मुनियों के आग्रह पर, उन्हें सम्पूर्ण सर्प जाति को विनष्ट करने का अपना निर्णय बदलना पड़ा, किन्तु यज्ञ बन्द करने के बावजूद उन्होंने यज्ञ से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को समुचित पुरस्कार देकर उन्हें सन्तुष्ट किया। इस उत्सव में महामुनि व्यासदेव भी उपस्थित थे और उन्होंने स्वयं राजा के समक्ष कुरुक्षेत्र युद्ध का सारा वृत्तान्त सुनाया। बाद में, व्यासदेव की आज्ञा से उनके शिष्य वैशम्पायन ने राजा को *महाभारत* सुनाया। वे अपने पिता के असामयिक निधन से अत्यधिक दुखी थे और उन्हें दुबारा देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते थे। अतएव उन्होंने महामुनि व्यासदेव से अपनी इच्छा व्यक्त की। व्यासदेव ने उनकी इच्छा पूरी की। उनके पिता उनके समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने अपने पिता एवं व्यासदेव का पूजन बड़े ही आदर तथा धूमधाम से किया। उन्होंने उस यज्ञ में उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रसन्न होकर मुक्तहस्त दान दिया।

आजहाराश्वमेधांस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान् ।

शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आजहार—सम्पन्न किया; अश्व-मेधान्—अश्वमेध यज्ञ; त्रीन्—तीन; गङ्गायाम्—गंगा तट पर; भूरि—पर्याप्त; दक्षिणान्—दक्षिणाएँ, पुरस्कार; शारद्वतम्—कृपाचार्य को; गुरुम्—गुरु; कृत्वा—चुनकर; देवाः—देवतागण; यत्र—जहाँ पर; अक्षि—आँखें; गोचराः—दृष्टिगत।

महाराज परीक्षित ने कृपाचार्य को अपना गुरु चुनने के बाद गंगा के तट पर तीन अश्वमेध यज्ञ किये। इन्हें आगन्तुकों एवं निमंत्रितों को पर्याप्त दक्षिणा देकर संपन्न किया गया। इन यज्ञों में सामान्य लोग भी देवताओं का दर्शन पा सके।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि स्वर्ग के निवासियों द्वारा अन्तर्ग्रहीय यात्रा सुगम है। *भागवत* में अनेक स्थलों पर हमने देखा है कि प्रभावशाली राजाओं तथा सम्राटों द्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञों में स्वर्ग के निवासी भी भाग लेने के लिए पृथ्वी पर आया करते थे। यहाँ भी हम पाते हैं कि महाराज परीक्षित के अश्वमेध यज्ञ में अन्य ग्रहों के देवता यज्ञोत्सव के कारण सामान्य व्यक्ति को भी दिखाई दे रहे थे। देवता सामान्यतया आम लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होते, ठीक उसी तरह जिस तरह भगवान् नहीं दिखते। किन्तु जिस तरह भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए दृश्य होने के निमित्त अपनी अहैतुकी कृपा से

अवतरित होते हैं, इसी तरह देवता भी सामान्य व्यक्ति को अपनी कृपा से दृष्टिगोचर हुए। यद्यपि स्वर्ग के निवासी इस पृथ्वी के लोगों की आँखों से दिखते नहीं, किन्तु यह महाराज परीक्षित का प्रताप था कि देवताओं ने दृश्य होना स्वीकार कर लिया। राजागण ऐसे यज्ञों के समय जी खोलकर खर्च करते थे, जिस तरह बादल पानी बरसाते हैं। बादल आखिर पानी का दूसरा रूप ही तो है, अथवा दूसरे शब्दों में पृथ्वी का पानी ही बादलों में रूपान्तरित होता है। इसी प्रकार ऐसे यज्ञों में राजाओं द्वारा दिया गया दान प्रजा से ही संग्रह किये गये कर का दूसरा रूप होता है। किन्तु जिस तरह जब प्रचुर वर्षा होती है, तो वह आवश्यकता से अधिक प्रतीत होती है, उसी तरह ऐसे राजाओं द्वारा दिया दान भी प्रजा की आवश्यकताओं से अधिक प्रतीत होता है। संतुष्ट प्रजा कभी राजा के विरुद्ध संघर्ष नहीं करती, अतएव राजतंत्रीय राज्य को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए भी मार्गदर्शन के लिए गुरु की आवश्यकता थी। ऐसे मार्गदर्शन के बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर पाना सम्भव नहीं है। गुरु को प्रामाणिक होना चाहिए और जो आत्म-साक्षात्कार के लिए इच्छुक रहते हैं, उन्हें वास्तविक सफलता प्राप्त करने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए।

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।

नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

निजग्राह—पर्याप्त दण्डित; ओजसा—पराक्रम से; वीरः—वीर पुरुष; कलिम्—इस युग के स्वामी, कलि को; दिग्विजये—विश्व को विजित करने के मार्ग पर; क्वचित्—एक बार; नृप-लिङ्ग-धरम्—राजा का वेश धारण करके विचरण करने वाला; शूद्रम्—नीच जाति का; घ्नन्तम्—चोट पहुँचाते हुए; गो-मिथुनम्—गाय तथा बैल की जोड़ी को; पदा—पाँव में।

एक बार, जब महाराज परीक्षित विश्व-दिग्विजय करने निकले, तो उन्होंने देखा कि कलियुग का स्वामी, जो शूद्र से भी निम्न था, राजा का वेश धारण करके गाय तथा बैल की जोड़ी के पाँवों पर प्रहार कर रहा था। राजा ने उसे पर्याप्त दण्ड देने के लिए तुरन्त पकड़ लिया।

तात्पर्य : दिग्विजय करने के लिए राजा के बाहर निकलने का उद्देश्य आत्मश्लाघा नहीं है। महाराज परीक्षित सिंहासन पर बैठने के बाद दिग्विजय करने निकले थे, किन्तु यह अन्य राजाओं के उत्पीड़न के उद्देश्य से नहीं था। वे विश्व के सम्राट थे और समस्त छोटे-छोटे राज्य उनके अधीन ही थे।

उनका बाहर जाने का उद्देश्य यह देखना था कि क्या राज्य का शासन भगवद्भावनामय ढंग से चल रहा था कि नहीं? भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण राजा को भगवान् की इच्छाओं को भलीभाँति पूरा करना होता है। इसमें आत्मश्लाघा का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव ज्योंही महाराज परीक्षित ने एक निम्न जाति के मनुष्य को राजा के वेश में गाय तथा बैल की जोड़ी के पाँव पर प्रहार करते देखा, तो उन्होंने तुरन्त उसे बन्दी बनाकर दण्ड दिया। राजा न तो सबसे महत्त्वपूर्ण पशु गाय का अनादर होते सह सकता है, न वह सबसे महत्त्वपूर्ण मनुष्य ब्राह्मण का अनादर सह सकता है। मानव सभ्यता का अर्थ है, ब्राह्मण संस्कृति को आगे बढ़ाना और उसके पालन के लिए गोरक्षा अनिवार्य है। गाय के दूध में चमत्कार है, क्योंकि इसमें उच्चतर उपलब्धि के लिए मनुष्य की शारीरिक स्थिति को बनाये रखने के लिए सभी आवश्यक विटामिन रहते हैं। ब्राह्मण संस्कृति तभी प्रगति कर सकती है, जब मनुष्य को सतोगुण विकसित करने की शिक्षा दी जाय और उसके लिए दूध, फल तथा अन्न का तैयार किया गया भोजन मूल आवश्यकता है। महाराज परीक्षित यह देखकर चकित थे कि एक काला शूद्र, राजा का वेश बनाये, मानव समाज के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पशु गाय के साथ दुर्व्यवहार कर रहा था।

कलियुग का अर्थ है, कुव्यवस्था तथा कलह। इस कुव्यवस्था तथा कलह का मूल कारण यह है कि निम्न श्रेणी के निकम्मे व्यक्ति, जिनकी कोई उच्चतर महत्वाकांक्षा नहीं है, राज्य के प्रबन्ध में अग्रणी बन जाते हैं। राजा के पद पर ऐसे लोग निश्चित रूप से सर्वप्रथम गाय तथा ब्राह्मण संस्कृति को हानि पहुँचाते हैं, जिससे सारा समाज नरक की ओर आगे बढ़ता है। स्वयं महाराज परीक्षित ने प्रशिक्षित होने के कारण, संसार के सारे झगड़े के मूल कारण की गंध पा ली थी। अतएव वे इसे प्रारम्भ में ही रोक देना चाहते थे।

शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः ।

नृदेवचिह्नधृक्शूद्रकोऽसौ गां यः पदाहनत् ।

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—शौनक ऋषि ने कहा; कस्य—किस; हेतोः—कारण से; निजग्राह—पर्याप्त दण्ड दिया; कलिम्—कलियुग के स्वामी को; दिग्विजये—अपनी विश्व यात्रा के समय; नृपः—राजा; नृ-देव—राजसी व्यक्ति; चिह्न-धृक्—के समान सजा हुआ; शूद्रकः—शूद्रों में भी अधम; असौ—वह; गाम्—गाय को; यः—जो; पदा अहनत्—लात से मारा; तत्—वह सब; कथ्यताम्—कृपा करके कहो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; यदि—यदि, फिर भी; कृष्ण—कृष्ण विषयक; कथा-आश्रयम्—उनकी कथाओं से सम्बन्धित।

शौनक ऋषि ने पूछा : महाराज परीक्षित ने उसे केवल दण्ड क्यों दिया, जबकि वह शूद्रों में अधम था, उसने राजा का वेश बना रखा था तथा गाय पर पाद प्रहार किया था? ये सब घटनाएं यदि भगवान् कृष्ण की कथा से सम्बन्धित हों, तो कृपया इनका वर्णन करें।

तात्पर्य : शौनक तथा ऋषिगण यह सुनकर विस्मित थे कि पुण्यात्मा महाराज परीक्षित ने अपराधी को केवल दण्डित ही क्यों किया, उसे मार क्यों नहीं डाला? इससे यह सूचित होता है कि महाराज परीक्षित जैसे पुण्यात्मा राजा को चाहिए कि वह ऐसे अपराधी को तुरन्त मार डाले, जो राजा का वेश बनाकर जनता को ठगता है और साथ ही पवित्रतम पशु गाय को अपमानित करने का दुस्साहस करता है। उस काल के ऋषियों ने यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि कलियुग के अग्रगामी दिनों में निम्नतम शूद्रों को प्रशासक के रूप में चुना जायेगा और गोवध करने के लिए खुले सुनियोजित कसाईघर खोल दिये जायेंगे। जो हो, यद्यपि ऋषियों को उस शूद्रक के विषय में सुनना अधिक रुचिकर नहीं लगा, जो ठग था तथा गाय का अपमान करने वाला था, फिर भी वे इसके विषय में यह जानने के लिए सुनना चाहते थे कि इसका सम्बन्ध कहीं भगवान् कृष्ण से तो नहीं है। वे केवल कृष्ण कथा में रुचि रखते थे, क्योंकि कृष्ण कथा से जो भी विषय सम्बन्धित हो, वह श्रवण करने योग्य होता है। भागवत में समाज विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, सांस्कृतिक मामले इत्यादि के विषय में अनेक प्रसंग हैं, किन्तु वे सभी कृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव वे सबके सब श्रवणीय हैं। कृष्ण सभी मामलों के शुद्धकर्ता अवयव हैं, चाहे वे जैसे भी हों। इस संसार में हर वस्तु प्रकृति के तीनों गुणों से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध है। किन्तु कृष्ण शुद्धकर्ता तत्त्व हैं।

अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ।

किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथवा—अन्यथा; अस्य—उनका (भगवान् कृष्ण का); पद-अम्भोज—चरणकमल; मकरन्द-लिहाम्—कमल पुष्प के मधु को चाटनेवाले; सताम्—निरन्तर जीवित रहनेवालों के; किम् अन्यैः—अन्य किसी वस्तु से क्या लाभ; असत्—भ्रामक; आलापैः—विषय, प्रसंग; आयुषः—आयु में; यत्—जो है; असत्-व्ययः—जीवन का अपव्यय।

भगवान् के भक्त भगवान् के चरणकमलों से प्राप्त मधु के चाटने के आदी हैं। उन कथा प्रसंगों से क्या लाभ जो मनुष्य के बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ नष्ट करें?

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्त दोनों ही दिव्य स्तर पर रहते हैं, अतएव भगवान् कृष्ण तथा उनके शुद्ध भक्तों की कथाएँ समान रूप से उत्तम होती हैं। यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध राजनीति तथा कूटनीति से भरा हुआ है, परन्तु इसकी कथाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव *भगवद्गीता* सारे विश्व में पूजित है। राजनीति, अर्थशास्त्र या समाज विज्ञान जो संसारियों के लिए भौतिकतामय हों, उनके उच्छेदन की कोई आवश्यकता नहीं है। शुद्ध भक्त के लिए, जो वास्तव में भगवान् से जुड़ा है, ऐसी संसारी वस्तुएँ दिव्य होती हैं, यदि वे कृष्ण या उनके शुद्ध भक्तों के साथ जुड़ी हों। हम पाण्डवों के कार्यकलापों के सम्बन्ध में कह-सुन चुके हैं और अब हम महाराज परीक्षित की कथाओं के विषय में बातें कर रहे हैं, किन्तु ये सब कथाएँ भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव ये सबकी सब दिव्य हैं और शुद्ध भक्त इन्हें बड़ी रुचि से सुनते हैं। हम इस बात को भीष्मदेव की स्तुतियों के प्रसंग में पहले ही बता चुके हैं।

हमारी आयु बहुत लम्बी नहीं होती और ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है कि हमें कब अगली मंजिल के लिए हर वस्तु को छोड़ने के लिए आदेश मिल जाँय। अतएव यह हमारा परम धर्म है कि हम कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी विषय में एक क्षण भी व्यर्थ न बिताएँ। कोई भी विषय कितना ही रोचक क्यों न हो, यदि वह कृष्ण से सम्बन्धित नहीं है, तो सुनने योग्य नहीं होता।

आध्यात्मिक ग्रह गोलोक वृन्दावन, जो भगवान् कृष्ण का सनातन धाम है, कमल पुष्प के गुच्छे के आकार का है। जब भगवान् किसी एक भौतिक ग्रह में भी अवतरित होते हैं, तब वे अपने निजी धाम को यथारूप में प्रकट करके ही ऐसा करते हैं। इस प्रकार उनके चरण सदैव उसी कमलदल के बड़े गुच्छे पर रहते हैं। उनके चरण कमल पुष्प के समान ही सुन्दर हैं, इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण के पाँव कमल-स्वरूप हैं।

जीव वैधानिक रूप से शाश्वत है। वह भौतिक शक्ति के सम्पर्क में रहने के कारण जन्म तथा मृत्यु के भँवर में पड़ा हुआ है। ऐसी भौतिक शक्ति से छूटने पर जीव मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम जाने के योग्य बन जाता है। जो लोग अपना शरीर बदले बिना सदा-सदा के लिए जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें कृष्ण तथा उनके भक्तों की कथाओं के अतिरिक्त अन्य किसी कथा में अपना बहुमूल्य समय नहीं गँवाना चाहिए।

क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ।
इहोपहृतो भगवान्मृत्युः शामित्रकर्मणि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

क्षुद्र—अत्यन्त छोटी; आयुषाम्—आयु वाले; नृणाम्—मनुष्यों का; अङ्ग—हे सूत गोस्वामी; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; ऋतम्—शाश्वत् जीवन; इच्छताम्—चाहनेवालों का; इह—यहाँ; उपहृतः—उपस्थित होने के लिए बुलाया गया; भगवान्—भगवान् का प्रतिनिधित्व करते हुए; मृत्युः—मृत्यु के नियंत्रक, यमराज; शामित्र—दमन करते हुए; कर्मणि—कार्यों को।

हे सूत गोस्वामी, मनुष्यों में से कुछ ऐसे हैं, जो मृत्यु से मुक्ति पाने के और शाश्वत जीवन प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। वे मृत्यु के नियंत्रक यमराज को बुलाकर वध किये जाने की क्रिया से बच जाते हैं।

तात्पर्य : जैसे-जैसे जीव निम्नतर पशु जीवन से उच्चतर मनुष्य जीवन में विकसित होकर धीरे-धीरे उच्चतर बुद्धि प्राप्त करता है, त्यों-त्यों वह मृत्यु के पाश से मुक्त होने के लिए उत्सुक रहता है। आधुनिक विज्ञानी शरीर सम्बन्धी रासायनिक ज्ञान की प्रगति द्वारा मृत्यु से बचना चाहते हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश मृत्यु के नियंत्रक यमराज इतने क्रूर हैं कि वे खुद उस विज्ञानी तक को नहीं छोड़ते। जो विज्ञानी वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से मृत्यु रोकने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, वह खुद यमराज के बुलाने पर मृत्यु का शिकार बन जाता है। मृत्यु रोकने की बात तो कोसों दूर रही, कोई जीवन की लघु अवधि को क्षण के एक अंश भर भी नहीं बढ़ा सकता। यदि यमराज की क्रूर वध-क्रिया को रोकने की कोई आशा है, तो यही है कि उन्हें बुलाकर भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण तथा कीर्तन कराया जाय। यमराज भगवान् के परम भक्त हैं और उन्हें उन शुद्ध भक्तों द्वारा कीर्तनों तथा यज्ञों में आमंत्रित किया जाना अच्छा लगता है, जो भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं। इस तरह, शौनक आदि ऋषियों

ने नैमिषारण्य में सम्पन्न हो रहे यज्ञ में यमराज को सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। यह उन लोगों के लिए अच्छा हुआ, जो मरना नहीं चाहते थे।

न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदास्त इहान्तकः ।

एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः ।

अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कश्चित्—कोई; म्रियते—मरेगा; तावत्—तब तक; यावत्—जब तक; आस्ते—उपस्थित हैं; इह—यहाँ; अन्तकः—जीवन का अन्त करने वाले; एतत्—यह; अर्थम्—कारण; हि—निश्चय ही; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; आहूतः—आमंत्रित; परम-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों द्वारा; अहो—ओह; नृ-लोके—मानव समाज में; पीयेत—पीने दो; हरि-लीला—भगवान् की दिव्य लीलाएँ; अमृतम्—अमृत; वचः—कथाएँ।

जब तक सबों की मृत्यु के कारण यमराज यहाँ पर उपस्थित हैं, तब तक किसी की मृत्यु नहीं होगी। ऋषियों ने मृत्यु के नियंत्रक यमराज को आमंत्रित किया है, जो भगवान् के प्रतिनिधि हैं। उनकी पकड़ में आनेवाले सारे जीवों को भगवान् की दिव्य लीलाओं की इस वार्ता के रूप में मृत्युरहित अमृत का श्रवण करने का लाभ उठाना चाहिए।

तात्पर्य : प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी मृत्यु न हो, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मृत्यु से छुटकारा कैसे पाया जाय। मृत्यु से बचने की रामबाण औषधि है भगवान् की उन अमृत-तुल्य लीलाओं का श्रवण करने के लिए अपने को अभ्यस्त करना, जो क्रमबद्ध रूप में श्रीमद्भागवत में कही गई हैं। अतएव यहाँ पर यह सलाह दी गई है कि कोई भी मनुष्य, जो मृत्यु से मुक्ति पाने का अभिलाषी है, उसे शौनक आदि ऋषियों द्वारा संस्तुत जीवन-शैली अपनानी चाहिए।

मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै ।

निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मन्दस्य—आलसी का; मन्द—अल्प; प्रज्ञस्य—बुद्धि का; वयः—आयु; मन्द—लघु; आयुषः—आयु का; च—तथा; वै—ठीक-ठीक; निद्रया—सोने में; ह्रियते—बीत जाती है; नक्तम्—रात्रि; दिवा—दिन; च—भी; व्यर्थ—बेकार; कर्मभिः—कार्यों में।

अल्प बुद्धि तथा कम आयु वाले आलसी मनुष्य रात को सोने में तथा दिन को व्यर्थ के कार्यों में बिता देते हैं।

तात्पर्य : अल्पज्ञ लोग मनुष्य-जीवन के वास्तविक महत्त्व को नहीं जानते। भौतिक प्रकृति के द्वारा जीव पर दुखदायी कठोर नियम लागू करने की प्रक्रिया के दौरान जीव को मनुष्य-जीवन प्रदान करना प्रकृति का एक विशेष उपहार है। यह जीवन के सर्वोच्च वरदान को प्राप्त करने, अर्थात् बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से निकलने के लिए अच्छा अवसर होता है। बुद्धिमान लोग, बन्धन से निकलने के लिए कठिन प्रयत्न द्वारा इस महत्त्वपूर्ण उपहार की रक्षा करते हैं, लेकिन अल्पज्ञ लोग आलसी होते हैं और इस उपहारस्वरूप मानव-शरीर को भव-बन्धन से मोक्ष पाने के लिए प्रयोग करने में असमर्थ रहते हैं। वे तो तथाकथित आर्थिक विकास में अधिक रुचि दिखाते हैं और क्षणिक शरीर के इन्द्रिय-भोग हेतु ही जीवन भर कठिन श्रम करते रहते हैं। प्रकृति ने इन्द्रिय-भोग की अनुमति तो पशुओं को भी दे रखी है और इस तरह मनुष्य को भी, अपने पूर्वजन्म या इस जन्म के अनुसार, कुछ न कुछ इन्द्रियभोग तो दिया ही गया है। लेकिन मनुष्य को इतना अवश्य समझना चाहिए कि इन्द्रियभोग इस मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। यहाँ कहा गया है कि दिन में मनुष्य व्यर्थ ही कार्य करता है, क्योंकि एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियभोग रहता है। हम विशेष करके बड़े-बड़े शहरों में तथा औद्योगिक नगरों में देख सकते हैं कि किस तरह मनुष्य व्यर्थ के कार्यों में लगा रहता है। मानवीय शक्ति से तरह-तरह की वस्तुएँ निर्मित की जाती हैं, किन्तु वे सब इन्द्रियभोग के लिए ही होती हैं, भवबन्धन से छूटने के लिए नहीं। दिन भर कठिन श्रम करने के बाद, थका-हारा मनुष्य रात में या तो सो जाता है या संभोग करता है। अल्पज्ञों के लिए भौतिकतावादी सभ्य जीवन का यही कार्यक्रम होता है। अतएव यहाँ पर उन्हें आलसी, अभागे तथा अल्पायु वाले कहे गये हैं।

सूत उवाच

यदा परीक्षित् कुरुजाङ्गलेऽवसत्

कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते ।

निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः

शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; यदा—जब; परीक्षित—महाराज परीक्षित; कुरु-जाङ्गले—कुरु प्रदेश की राजधानी में; अवसत्—रहते थे; कलियुग—कलियुग के लक्षण; प्रविष्टम्—प्रवेश किया; निज-चक्रवर्तिने—अपनी सीमा में; निशम्य—इस तरह का सुनकर; वार्ताम्—समाचार को; अनति-प्रियाम्—अधिक रोचक नहीं; ततः—तत्पश्चात्; शरासनम्—धनुष-बाण; संयुग—अवसर पाकर; शौण्डिः—वीरोचित कार्य-कलाप; आददे—ग्रहण किया।

सूत गोस्वामी ने कहा : जब महाराज परीक्षित कुरु-साम्राज्य की राजधानी में रह रहे थे, तो अपने राज्य की सीमा के भीतर कलियुग के लक्षणों को प्रवेश होते देखा। जब उन्हें इसका पता चला, तो उन्हें यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। लेकिन इससे उन्हें उसके विरुद्ध लड़ने का अवसर अवश्य प्राप्त हो सका। अतएव उन्होंने अपना धनुष-बाण उठाया और सैनिक कार्यवाही के लिए सन्नद्ध हो गये।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित का राज्य-प्रशासन इतना चुस्त था कि वे अपनी राजधानी में शान्तिपूर्वक रह रहे थे। लेकिन उन्हें समाचार मिल गया कि कलियुग के लक्षण उनकी राज्य सीमा में प्रवेश पा चुके हैं, और उन्हें यह समाचार अच्छा नहीं लगा। कलियुग के लक्षण क्या हैं? ये इस प्रकार हैं: (१) स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध, (२) मांस-भक्षण की लत, (३) मादक द्रव्य सेवन (नशा); तथा (४) द्यूत-क्रीड़ा में रुचि। कलियुग का शाब्दिक अर्थ कलह का युग है और मानव समाज में उपर्युक्त चारों लक्षण सभी प्रकार के कलह के मुख्य कारण होते हैं। महाराज परीक्षित ने सुना कि उनके राज्य के कुछ लोग पहले ही उन लक्षणों के शिकार हो चुके हैं, अतएव वे चाह रहे थे कि अशान्ति के ऐसे कारणों के विरुद्ध अविलम्ब कदम उठाये जायँ। इसका अर्थ यह हुआ कि कम से कम महाराज परीक्षित के राज्य-काल तक जन-जीवन में ऐसे लक्षण व्यावहारिक रूप से अज्ञात थे और ज्योंही उनका थोड़ा पता चला, त्योंही वे उन्हें समूल नष्ट कर देना चाहते थे। यह समाचार उन्हें रुचिकर नहीं लगा, लेकिन एक दृष्टि से महाराज परीक्षित को युद्ध करने का यह अवसर मिल रहा था। यद्यपि छोटे-छोटे राज्यों से लड़ने की आवश्यकता न थी, क्योंकि वे सभी शान्तिपूर्वक उनके अधीन थे, लेकिन कलियुग के दुष्टों ने उन्हें अवसर प्रदान किया कि वे अपनी शूरता का प्रदर्शन कर सकें। पक्का क्षत्रिय, युद्ध का अवसर पाते ही, प्रफुल्लित होता है, जिस तरह खेल के मैच का अवसर उपस्थित होने पर खिलाड़ी उत्सुक हो उठता है। यह कोई तर्क नहीं है कि कलियुग में ऐसे लक्षण पूर्व-निर्धारित होते हैं। यदि ऐसा होता तो फिर ऐसे लक्षणों के विरुद्ध चढ़ाई करने की क्या आवश्यकता थी? ऐसे तर्क

आलसी तथा अभागे लोग ही देते हैं। वर्षाऋतु में वर्षा अवश्यम्भावी है; फिर भी लोग अपनी सुरक्षा के लिये सावधानी बरतते हैं। इसी प्रकार कलियुग में सामाजिक जीवन में उपर्युक्त लक्षणों का प्रविष्ट होना अवश्यम्भावी है, लेकिन यह राज्य का कर्तव्य है कि नागरिकों को कलियुग के एजेण्टों के सम्पर्क से बचाएँ। महाराज परीक्षित कलि के लक्षणों में शरीक होनेवाले दुष्टों को दण्डित करना चाह रहे थे और इस तरह धर्मात्मा एवं निर्दोष नागरिकों को बचाना चाहते थे। राजा का धर्म है कि वह ऐसी सुरक्षा प्रदान करे और यह ठीक ही था कि महाराज परीक्षित लड़ने के लिए तैयार हो गये।

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं
रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात् ।
वृतो रथाश्चद्विपत्तियुक्तया
स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सु-अलङ्कृतम्—अच्छी तरह से सजकर; श्याम—काले; तुरङ्ग—घोड़े; योजितम्—जोते हुए; रथम्—रथ को; मृग-इन्द्र—सिंह; ध्वजम्—ध्वजा लगी; आश्रितः—संरक्षण में; पुरात्—राजधानी से; वृतः—घिरा हुआ; रथ—सारथी; अश्व—अश्वारोही दल; द्विपत्ति—हाथी; युक्तया—इस तरह सुसज्जित; स्व-सेनया—पैदल सेना के साथ; दिग्विजयाय—जीतने के लिए; निर्गतः—बाहर गया।

महाराज परीक्षित काले घोड़ों द्वारा खींचे जानेवाले रथ पर सवार हो गये। उनकी ध्वजा पर सिंह का चिन्ह अंकित था। इस प्रकार सुसज्जित होकर तथा सारथियों, अश्वारोहियों, हाथीयों तथा पैदल सैनिकों से घिरे हुए, उन्होंने सभी दिशाएँ जीतने के लिए राजधानी से प्रस्थान किया।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित अपने पितामह अर्जुन से इस बात में भिन्न थे कि उनके रथ को खींचनेवाले घोड़े श्वेत रंग के न होकर काले रंग के थे। उनकी ध्वजा का चिह्न सिंह था, जबकि उनके पितामह की ध्वजा पर हनुमानजी चिह्नित थे। महाराज परीक्षित जैसा राजसी जुलूस जिसमें सुसज्जित रथ, घोड़े, हाथी, पैदल सिपाही तथा बैण्ड थे, नेत्रों को अत्यन्त सुहावना लगने वाला था, लेकिन साथ ही ऐसी सभ्यता का प्रतीक है, जो लड़ाई के मैदान में भी सौन्दर्य-परक था।

भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरुन् ।
किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

भद्राश्वम्—भद्राश्व; केतुमालम्—केतुमाल; च—भी; भारतम्—भारत; च—तथा; उत्तरान्—उत्तरी देश; कुरून्—कुरुवंश का राज्य; किम्पुरुष-आदीनि—हिमालय की उत्तरी दिशा के आगे का देश; वर्षाणि—पृथ्वी-लोक के भागों को; विजित्य—जीतकर; जगृहे—वसूल किया; बलिम्—भेंटें।

तब महाराज परीक्षित ने पृथ्वी-लोक के समस्त भागों—भद्राश्व, केतुमाल, भारत, कुरुजांगल का उत्तरी भाग, किम्पुरुष इत्यादि को जीत लिया और उनके शासकों से भेंटें वसूल कीं।

तात्पर्य : भद्राश्व—यह मेरु पर्वत के निकट का द्वीप है और यह गंधमादन पर्वत से खारे पानी के समुद्र तक फैला हुआ है। महाभारत (भीष्म पर्व ७.१४-१८) में इस द्वीप का वर्णन है। संजय ने धृतराष्ट्र को इसका वर्णन सुनाया था।

महाराज युधिष्ठिर ने भी इस द्वीप को जीता था और यह प्रान्त उनके राज्य की सीमा के भीतर आ गया था। महाराज परीक्षित को पहले ही अपने पितामह द्वारा शासित सारे देशों का सम्राट घोषित किया गया था, लेकिन उन्हें उस समय अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनी थी, जब वे ऐसे राज्यों से भेंटें लेने के लिए राजधानी से बाहर निकले थे।

केतुमाल—यह पृथ्वी-लोक सात समुद्रों द्वारा सात द्वीपों में विभक्त है, और जम्बूद्वीप नामक केन्द्रीय द्वीप नौ वर्षों में अर्थात् नौ भागों में आठ विशाल पर्वतों द्वारा विभाजित किया जाता है। इनमें से भारतवर्ष भी एक है और केतुमाल को भी उपर्युक्त वर्षों में एक बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि केतुमाल वर्ष की स्त्रियाँ अत्यन्त सुन्दर होती हैं। इस 'वर्ष' अर्थात् भू-भाग को अर्जुन ने भी जीता था। इस भू-भाग का वर्णन महाभारत (सभा-पर्व २८.६) में उपलब्ध है।

ऐसा कहा जाता है कि विश्व का यह भाग मेरु पर्वत के पश्चिम में स्थित है और इस प्रान्त के निवासी दस हजार वर्षों तक जीवित रहते थे (भीष्म-पर्व ६.३१)। इस भाग के मनुष्य सुनहरे रंग के होते हैं और स्त्रियाँ स्वर्ग की अप्सराओं के समान होती हैं। यहाँ के निवासी सभी प्रकार के रोगों तथा शोको से मुक्त होते हैं।

भारतवर्ष—संसार का यह भाग भी जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से एक है। भारतवर्ष का वर्णन महाभारत (भीष्म पर्व, अध्याय ९ और १०) में दिया हुआ है।

जम्बूद्वीप के मध्य में इलावृत वर्ष है और इलावृतवर्ष के दक्षिण में हरिवर्ष है। इन वर्षों का वर्णन महाभारत (सभापर्व २८.७-८) में इस प्रकार दिया गया है—

नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः ।

पुरुषान्देवकल्पांश्च नारीश्च प्रिय-दर्शनाः ॥

अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनञ्जयः ।

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसां निभाः ॥

यहाँ पर उल्लेख है कि इन दोनों वर्षोंकी स्त्रियाँ सुन्दर होती हैं और उनमें से कुछ तो अप्सराओं के तुल्य होती हैं।

उत्तरकुरु—वैदिक भूगोल के अनुसार, जम्बूद्वीप का उत्तरी भाग उत्तरकुरुवर्ष कहलाता है। यह तीन ओर से नमकीन पानी के समुद्र से घिरा है और हिरण्मय वर्ष से शृंगवान् पर्वत के द्वारा विभाजित होता है।

किम्पुरुष वर्ष—बताया जाता है कि यह वर्ष महान् हिमालय पर्वत के उत्तर में स्थित है, जो लम्बाई और ऊँचाई में ८० हजार मील है और चौड़ाई में १६ हजार मील है। विश्व के इन भागों को भी अर्जुन ने जीता था (सभापर्व २८.१-२)। किम्पुरुष लोग दक्ष की पुत्री की सन्तानें हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ किया था, तो इन देशों के निवासी भी उस उत्सव में भाग लेने आये थे और उन्होंने सम्राट का यशोगान किया था। विश्व के इस भाग को किम्पुरुष वर्ष या कभी-कभी हिमवती (हिमालय के प्रान्त) कहा जाता है। कहा जाता है कि शुकदेव गोस्वामी इस हिमालय प्रान्त में पैदा हुए थे और वे हिमालय देशों को पार करके भारतवर्ष आये थे।

दूसरे शब्दों में, महाराज परीक्षित ने सारा विश्व जीत लिया था। उन्होंने सभी महाद्वीपों की सभी दिशाओं के समस्त सागरों से सटे हुए भाग अर्थात् पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भागों को जीत लिया था।

तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् ।

प्रगीयमाणं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥ १३ ॥

आत्मानं च परित्रातमश्चत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः ।

स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे ॥ १४ ॥

तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः ।

महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ-जहाँ राजा गये; उपशृण्वानः—निरन्तर सुनते रहे; स्व-पूर्वेषाम्—अपने पुरखों के विषय में; महा-आत्मनाम्—जो सबके सब भगवान् के महान् भक्त थे; प्रगीयमाणम्—इस तरह सम्बोधित करनेवालों को; च—भी; यशः—यश; कृष्ण—भगवान् कृष्ण; माहात्म्य—यशस्वी कार्य; सूचकम्—सूचित करनेवाले; आत्मानम्—अपने को; च—भी; परित्रातम्—उद्धार किया; अश्चत्थाम्नः—अश्चत्थामा का; अस्त्र—हथियार; तेजसः—शक्तिशाली किरणें; स्नेहम्—स्नेह; च—भी; वृष्णि-पार्थानाम्—वृष्णि तथा पृथा की सन्तानों के बीच; तेषाम्—उन सब की; भक्तिम्—भक्ति; च—भी; केशवे—भगवान् कृष्ण में; तेभ्यः—उनको; परम—अत्यधिक; सन्तुष्टः—प्रसन्न; प्रीति—आकर्षण; उज्जृम्भित—हर्ष से खुले; लोचनः—नेत्रोंवाला; महा-धनानि—बहुमूल्य धन; वासांसि—वस्त्र; ददौ—दान में दिया; हारान्—गले के हार; महा-मनाः—विशाल हृदय-वाला ।

राजा जहाँ कहीं भी जाते, उन्हें निरन्तर अपने उन महान् पूर्वजों का यशोगान सुनने मिलता, जो सभी भगवद्भक्त थे, तथा भगवान् श्रीकृष्ण के यशस्वी कार्यों की गाथा सुनने को भी मिलती। वे यह भी सुनते कि किस तरह वे स्वयं अश्चत्थामा के ब्रह्मास्त्र के प्रचण्ड ताप से भगवान् कृष्ण द्वारा बचाये गये थे। लोग वृष्णि तथा पृथा-वंशियों के मध्य अत्यधिक स्नेह का भी उल्लेख करते, क्योंकि पृथा भगवान् केशव के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान थी। राजा ने ऐसे यशोगान करनेवालों से अत्यधिक प्रसन्न होकर परम सन्तोष के साथ अपनी आँखें खोलीं। उदारतावश उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें मूल्यवान मालाएँ तथा वस्त्र भेंट किये।

तात्पर्य : राजाओं तथा राज्य के बड़े-बड़े लोगों को स्वागत के सम्बोधनों द्वारा मान दिया जाता है। यह प्रथा अनादिकाल से चली आ रही है। महाराज परीक्षित तो विश्व के विख्यात सम्राटों में से थे, अतएव वे विश्व के जिन-जिन स्थानों में जाते, वहीं उनको मानपत्र दिया जाता। इन सम्बोधनों के विषय होते थे कृष्ण। कृष्ण का अर्थ है कृष्ण तथा उनके सनातन भक्त, जिस तरह राजा का अर्थ होता है, राजा तथा उसके विश्वासपात्र दरबारी-गण।

कृष्ण तथा उनके अनन्य भक्तों को विलग नहीं किया जा सकता। अतएव भक्त के यशोगान का अर्थ है, भगवान् का यशोगान और भगवान् के यशोगान का अर्थ है भक्त का यशोगान। महाराज परीक्षित को अपने पूर्वज, महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन का यशोगान सुनकर इतनी प्रसन्नता न होती, यदि वे सब भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों से जुड़े न होते। भगवान् अपने भक्तों का उद्धार करने

(परित्राणाय साधूनाम्) के उद्देश्य से ही अवतरित होते हैं। भक्तगण भगवान् की उपस्थिति से ही महिमामण्डित हो जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् तथा उनकी विभिन्न शक्तियों के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकते। भक्तों के लिए भगवान् अपने कार्यों तथा महिमा से उपस्थित रहते हैं। अतएव जब भगवान् के कार्यों द्वारा उनका यशोगान किया जा रहा था, तो उन्हें भगवान् की उपस्थिति का अनुभव हुआ, विशेष रूप से जब भगवान् ने माता के गर्भ में ही उनकी रक्षा की थी। भगवान् के भक्त कभी संकट में नहीं होते, किन्तु भौतिक जगत में वे ऊपरी रूप से भयावह परिस्थितियों में पड़ जाते हैं, क्योंकि यह जगत पद-पद पर संकटों से भरा हुआ है। अतएव जब भगवान् द्वारा भक्तों की रक्षा होती है, तो भगवान् का यशोगान किया जाता है। यदि पाण्डव जैसे भगवद्भक्त कुरुक्षेत्र के युद्ध में फँसे न होते, तो भगवान् कृष्ण कभी भी भगवद्गीता के उद्घोषक के रूप में महिमामण्डित न किये जाते। स्वागत-उद्बोधन में भगवान् के ऐसे समस्त कार्यों का उल्लेख था, अतएव महाराज परीक्षित ने पूर्ण रूप से सन्तुष्ट होकर ऐसे मानपत्र भेंट करनेवालों को पुरस्कृत किया। आज के तथा तब के स्वागत-उद्बोधन करने में यही अन्तर है कि प्राचीन समय में महाराज परीक्षित जैसे व्यक्ति को ही ऐसे उद्बोधन भेंट किये जाते थे। ऐसे उद्बोधन तथ्यों तथा आँकड़ों से भरे होते थे और जो इन उद्बोधनों को भेंट करता था, वह प्रचुर पुरस्कार पाता था। किन्तु आजकल जो स्वागत-उद्बोधन भेंट किया जाता है, उसमें वास्तविक आँकड़े नहीं रहते। वह किसी पदाधिकारी को प्रसन्न करने के लिए भेंट किया जाता है और प्रायः चापलूसी से भरा हुआ रहता है। और शायद ही ऐसा मान भेंट करनेवाला कभी कोई पुरस्कार पाता हो।

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्य-

वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।

स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णो-

र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सारथ्य—सारथी के पद की स्वीकृति; पारषद—राजसूय यज्ञ की सभा में प्रधान पद की स्वीकृति (अग्रत्व); सेवन—भगवान् की सेवा में मन को निरन्तर लगाना; सख्य—भगवान् को मित्र-रूप में सोचना; दौत्य—दूत-पद को स्वीकारना; वीर-आसन—रात्रि में हाथ में तलवार लिए रखवाले के पद की स्वीकृति; अनुगमन—चरणचिह्नों पर चलना; स्तवन—प्रार्थना करना; प्रणामान्—प्रणाम करते हुए; स्निग्धेषु—जो लोग भगवान् की इच्छा के प्रति विनम्र हैं उनको, विनीत; पाण्डुषु—पाण्डवों में;

जगत्—विश्व; प्रणतिम्—जिसकी आज्ञा का पालन किया जाय, उसको; च—तथा; विष्णोः—विष्णु की; भक्तिम्—भक्ति; करोति—करता है; नृ-पतिः—राजा; चरण-अरविन्दे—भगवान् के चरणकमलों पर।

महाराज परीक्षित ने सुना कि जिन भगवान् कृष्ण (विष्णु) की आज्ञा का पालन सारा जगत करता है, उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से पाण्डु के विनीत पुत्रों की उनकी इच्छानुसार सभी प्रकार से सेवाएँ कीं, जिनमें सारथी बनने से लेकर अग्रपूजा ग्रहण करने तथा दूत बनने, मित्र बनने, रात्रि में रक्षक बनकर सेवाएँ करने के कार्य सम्मिलित हैं। उन्होंने सेवक की भाँति पाण्डवों की आज्ञा का पालन किया तथा आयु में छोटों की भाँति उन्हें प्रणाम किया। जब महाराज परीक्षित ने यह सब सुना, तो वे भगवान् के चरणकमलों की भक्ति से अभिभूत हो उठे।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण पाण्डवों जैसे अनन्य भक्तों के लिए सर्वस्व हैं। वे उनके लिए परमेश्वर, गुरु, आराध्य देव, पथ-प्रदर्शक, सारथी, मित्र, सेवक, दूत तथा जो कुछ भी सोचा जा सकता है, वह सब कुछ थे। इस प्रकार भगवान् ने भी पाण्डवों की भावनाओं का प्रतिदान किया। भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में महाराज परीक्षित भगवान् द्वारा अपने भक्तों की भावनाओं के दिव्य आदान-प्रदान का महत्त्व समझ सकते थे और इस तरह वे स्वयं भगवान् के आचरण से अभिभूत थे। मात्र अपने शुद्ध भक्तों के साथ भगवान् के आचरण के महत्त्व को समझ लेने से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि भक्तों के साथ भगवान् के आचरण सामान्य मानवीय आचरण जैसे प्रतीत होते हैं, लेकिन जो उन्हें यथार्थ रूप में समझता है, वह तुरन्त ही भगवद्धाम जाने के लिए सुपात्र बन जाता है। पाण्डवजन भगवान् की इच्छा के प्रति इतने विनीत थे कि वे भगवान् की सेवा में कितनी ही शक्ति लगा सकते थे और ऐसे अनन्य संकल्प से वे इच्छित रूप में भगवान् की कृपा के भाजन बन सके थे।

तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम् ।

नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत् तन्निबोध मे ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्य—महाराज परीक्षित का; एवम्—इस प्रकार; वर्तमानस्य—ऐसे विचारों में लीन रहकर; पूर्वेषाम्—अपने पूर्वजों में; वृत्तिम्—अच्छा कार्य; अन्वहम्—दिन-प्रतिदिन; न—नहीं; अति-दूरे—काफी दूर; किल—निश्चय ही; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक; यत्—वह; आसीत्—था; तत्—जो; निबोध—उसे जानो; मे—मुझसे।

अब तुम लोग मुझसे वह घटना सुन सकते हो, जो तब घटी, जब महाराज परीक्षित अपने पूर्वजों की उत्तम वृत्तियों के विषय में सुनते हुए तथा उन विचारों में डूबे हुए अपने दिन बिता रहे थे।

धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् ।
पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—साक्षात् धर्म; पदा—पाँव से; एकेन—एक ही; चरन्—विचरण करते; विच्छायाम्—शोक की छाया से ग्रसित;
उपलभ्य—मिलकर; गाम्—गाय को; पृच्छति—पूछते हुए; स्म—सहित; अश्रु-वदनाम्—मुख-मंडल में अश्रुओं सहित;
विवत्साम्—बिना बछड़े की; इव—सदृश; मातरम्—माता को।

साक्षात् धर्म, बैल के रूप में विचरण कर रहा था। उसे गाय के रूप में साक्षात् पृथ्वी मिली, जो ऐसी माता के समान शोकग्रस्त दिखाई पड़ी, जो अपना पुत्र खो चुकी हो। उसकी आँखों में आँसू थे और उसके शरीर का सौन्दर्य उड़ गया था। धर्म ने पृथ्वी से इस प्रकार प्रश्न किया।

तात्पर्य : बैल नैतिक सिद्धान्त का प्रतीक है और गाय पृथ्वी की प्रतिनिधि है। जब बैल तथा गाय प्रसन्न मुद्रा में रहते हैं, तो यह माना जाता है कि संसार भर के लोग भी प्रसन्न हैं। इसका कारण यह है कि बैल खेतों से अन्न उपजाने में सहायता करता है और गाय दूध देती है, जो समग्र भोज्य आहारों में चमत्कारिक पदार्थ है। अतः मानव समाज इन दो महत्त्वपूर्ण पशुओं का बड़ी ही सावधानी से पालन करता है, जिससे वे प्रसन्नतापूर्वक सर्वत्र विचरण कर सकें। लेकिन आज के समय में इस कलियुग में बैल तथा गाय दोनों का वध हो रहा है और दोनों ही उन लोगों द्वारा भोजन के रूप में उपयोग में लाये जा रहे हैं, जो ब्राह्मण संस्कृति को नहीं जानते। समस्त मानव समाज के कल्याण हेतु ब्राह्मण सभ्यता को समस्त सांस्कृतिक मामलों में सर्वोपरि सिद्धि मानकर बैल तथा गाय को बचाया जा सकता है। ऐसी संस्कृति की समृद्धि से समाज का मनोबल समुचित रूप से बना रहता है और इस तरह बिना किसी बाहरी प्रयास के ही शान्ति तथा सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है। जब ब्राह्मण संस्कृति का पतन होता है, तो गाय-बैल के साथ दुर्व्यवहार होता है और जो परिणाम निकलता है उसके निम्नलिखित प्रमुख लक्षण हैं।

धर्म उवाच
 कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते
 विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन ।
 आलक्षये भवतीमन्तराधिं
 दूरे बन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

धर्मः उवाच—धर्म ने पूछा; कच्चित्—क्या; भद्रे—महोदया; अनामयम्—स्वस्थ एवं प्रसन्न; आत्मनः—स्वयं; ते—आपको;
 विच्छाया असि—शोक की छाया से आवृत प्रतीत होते हैं; म्लायता—श्याम रंग की; ईषत्—कुछ-कुछ; मुखेन—मुख मंडल से;
 आलक्षये—आप दिखती हो; भवतीम्—आप; अन्तराधिम्—आन्तरिक व्याधि; दूरे—दूर स्थित; बन्धुम्—मित्र के विषय में;
 शोचसि—चिन्ता कर रहे हैं; कञ्चन—कोई; अम्ब—हे माता ।

धर्म ने (बैल रूप में) पूछा : हे महोदया, आप स्वयं स्वस्थ तथा प्रसन्न तो हैं? आप शोक की छाया से आवृत क्यों हैं? आपके मुख से ऐसा लगता है कि आप म्लान पड़ गई हैं। क्या आपको कोई भीतरी रोग हो गया है या आप अपने किसी दूर स्थित सम्बन्धी के विषय में सोच रही हैं?

तात्पर्य : इस कलियुग में विश्व भर के लोग सदैव चिन्ताग्रस्त रहते हैं। हर एक किसी न किसी रोग से ग्रस्त है। इस युग के लोगों के चेहरों से ही उनके मनों की बात पढ़ी जा सकती है। हर व्यक्ति, घर से दूर स्थित अपने सम्बन्धी की अनुपस्थिति का अनुभव करता है। कलियुग का विशेष लक्षण यह है कि कोई भी परिवार अब एकसाथ रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाता। जीविकोपार्जन के लिए पिता अपने पुत्र से, अथवा पत्नी अपने पति से दूर रहती है। आन्तरिक रोग, प्रियजनों से विछोह तथा पूर्ववत् स्थिति बनाये रखने की चिन्ता सबों को सताती है। ये कतिपय कारण हैं जिनसे इस युग के लोग सदैव दुखी रहते हैं।

पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपाद—
 मात्मानं वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणम् ।
 आहो सुरादीन् हृतयज्ञभागान्
 प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादैः—तीन पाँवों से; न्यूनम्—विहीन; शोचसि—क्या आप शोक कर रही हो; मा—मेरा; एक-पादम्—केवल एक पाँव; आत्मानम्—अपना शरीर; वा—अथवा; वृषलैः—अवैध मांस-भक्षकों के द्वारा; भोक्ष्यमाणम्—शोषित किये जाने के लिए; आहोः—यज्ञ में; सुर-आदीन्—देवता-गण; हत-यज्ञ—यज्ञ से रहित; भागान्—हिस्से; प्रजाः—जीव; उत—बढ़ता हुआ; स्वित्—कहीं; मघवति—दुर्भिक्ष में; अवर्षति—वर्षा न होने से।

मेरे तीन पाँव नहीं रहे और अब मैं केवल एक पाँव पर खड़ा हूँ। क्या आप मेरी इस दशा पर शोक कर रही हैं या इस बात पर कि अब आगे अवैध मांस-भक्षक आपका शोषण करेंगे? या आप इसलिए दुखी हैं कि अब देवताओं को यज्ञ की बलि में से अपना हिस्सा नहीं मिल रहा, क्योंकि इस समय कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं हो रहे? या आप दुर्भिक्ष तथा सूखे के कारण दुखी जीवों के लिए दुःखित हो रही हैं?

तात्पर्य : ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों चार बातों का विशेष रूप से क्षरण होता जायेगा। ये हैं—आयु, दया, स्मरण-शक्ति तथा नैतिक और धार्मिक सिद्धान्त। चूँकि धर्म के चार भागों में से तीन भाग का लोप हो जायेगा, अतएव प्रतीक-स्वरूप बैल केवल एक पैर पर खड़ा था। जब सारे संसार की तीन चौथाई जनता धर्म-हीन हो जाती है, तो पशुओं के लिए नरक-जैसी-स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कलियुग में ईश्वर-विहीन सभ्यताएँ अनेक तथाकथित समितियों को जन्म देंगी, जिनमें ईश्वर की प्रत्यक्ष या परोक्ष निन्दा की जाएगी। और इस प्रकार नास्तिक समितियाँ दुनिया को ऐसा बना देगी, जिससे दुनिया अच्छे लोगों के लिए बसने योग्य नहीं रहेगी। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति श्रद्धा के अनुपात के अनुसार मनुष्य की कोटियाँ होती हैं। सर्वश्रेष्ठ श्रद्धालु व्यक्ति वैष्णव तथा ब्राह्मण हैं, तब क्षत्रिय, फिर वैश्य, तब शूद्र, फिर म्लेच्छ, यवन और अन्त में चण्डाल आते हैं। मानवीय भाव का पतन म्लेच्छों से प्रारम्भ हो जाता है और मनुष्य जाति के पतन में चण्डाल तो अवनति की अन्तिम अवस्था है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित ये सारे शब्द किसी जाति-विशेष या जन्म के लिए प्रयुक्त नहीं हैं। ये सामान्य रूप से मनुष्यों के विभिन्न गुण हैं। जन्म-अधिकार या जाति का कोई प्रश्न नहीं है। कोई भी व्यक्ति अपने निजी प्रयासों से इन गुणों को अर्जित कर सकता है और इस तरह वैष्णव का पुत्र म्लेच्छ बन सकता है या चण्डाल का पुत्र ब्राह्मण से भी बढ़कर हो सकता है। यह सब उनके सत्संग तथा भगवान् के साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध के सापेक्ष होता है।

सामान्यतया मांस खानेवालों को म्लेच्छ कहा जाता है। किन्तु सारे मांस-भक्षक म्लेच्छ नहीं होते। जो लोग शास्त्रीय आदेशानुसार मांस ग्रहण करते हैं, वे म्लेच्छ नहीं हैं, किन्तु जो बिना रोक-टोक के मांस-भक्षण करते हैं, वे म्लेच्छ हैं। शास्त्रों में गो-मांस वर्जित है और वेदों के अनुयायी बैलों तथा गायों को विशेष संरक्षण प्रदान करते हैं। लेकिन इस कलियुग में लोग गाय तथा बैल के शरीर का इच्छानुसार शोषण करेंगे और इस तरह वे नाना प्रकार के कष्टों को बुलावा देते रहेंगे।

इस युग के लोग कोई यज्ञ नहीं करेंगे। म्लेच्छ लोग ऐसे यज्ञों की तनिक भी परवाह नहीं करेंगे, यद्यपि भौतिक इन्द्रिय-भोग में व्यस्त रहनेवालों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य है। *भगवद्गीता* (३.१४-१६) में यज्ञों को सम्पन्न करने की जोरदार संस्तुति की गई है।

सारे जीव स्रष्टा ब्रह्मा द्वारा सृजित हैं और उत्पन्न किये गये जीवों को निरन्तर भगवद्धाम की ओर अग्रसर होने के लिए उन्होंने ही यज्ञ सम्पन्न करने की प्रणाली स्थापित की है। पद्धति यह है कि सभी जीव अन्न तथा शाक की उपज पर जाते हैं और ऐसे खाद्यपदार्थ खाकर वे रक्त तथा वीर्य के रूप में शरीर की जीवनी शक्ति को प्राप्त करते हैं, और रक्त तथा वीर्य से ही एक जीव दूसरे जीवों को उत्पन्न करने के लिए समर्थ बनता है। किन्तु अन्न, घास इत्यादि तभी उत्पन्न होते हैं, जब वर्षा होती है और बताये गये यज्ञों को सम्पन्न करने से ही वर्षा समुचित रूप से बरसती है। 'साम', 'यजुर्', 'ऋग्' तथा 'अथर्व' वेदों के अनुष्ठानों द्वारा ऐसे यज्ञों का निर्देशन होता है। *मनु-स्मृति* में कहा गया है कि अग्नि की वेदी पर यज्ञ करने से सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं। जब सूर्यदेव प्रसन्न होते हैं, तब वे समुद्र से उचित रीति से जल एकत्र करते हैं और इस तरह आकाश में प्रचुर बादल जुटते हैं और तब वर्षा होती है। पर्याप्त वर्षा होने पर मनुष्यों तथा पशुओं के लिए प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है और इस तरह जीवों में आगे उन्नति करने के लिए शक्ति प्राप्त होती है। लेकिन म्लेच्छ-गण अन्य पशुओं के साथ-साथ बैलों तथा गायों को मारने के लिए कसाईघर स्थापित करते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि फैक्ट्रियों की संख्या बढ़ाकर वे उन्नति करेंगे और यज्ञों को सम्पन्न किये बिना तथा अन्न उपजाये बिना भी, वे पशु-मांस पर रह लेंगे। लेकिन उन्हें यह जान लेना चाहिए कि पशुओं के लिए भी उन्हें घास तथा वनस्पति उत्पन्न करनी होगी। अन्यथा पशु जीवित नहीं रह सकते। और पशुओं के लिए घास उत्पन्न करने के लिए उन्हें पर्याप्त वर्षा

की आवश्यकता होगी। अतएव अन्ततः उन्हें सूर्यदेव, इन्द्र, चन्द्र जैसे देवों की कृपा पर आश्रित रहना होगा और ऐसे देवताओं को यज्ञ सम्पन्न करके ही प्रसन्न किया जा सकता है।

यह भौतिक जगत एक बन्दीगृह के समान है, जैसाकि हम कई बार बता चुके हैं। देवता भगवान् के सेवक हैं, जो बन्दीगृह के रख-रखाव को देखते हैं। ये देवता चाहते हैं कि जो विद्रोही जीव श्रद्धा-विहीन होकर जीवित रहना चाहते हैं, वे धीरे-धीरे भगवान् की परम शक्ति की ओर मुड़ें। अतएव शास्त्रों में यज्ञ सम्पन्न करने की संस्तुति की गयी है।

भौतिकतावादी मनुष्य कठिन श्रम करके इन्द्रिय-भोग के लिए कर्म-फलों को भोगना चाहते हैं। अतः वे जीवन में पग-पग पर कई प्रकार के पाप करते हैं। किन्तु जो लोग सचेतन रहकर भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगे रहते हैं, वे सभी प्रकार के पाप तथा पुण्यों से परे रहते हैं। उनके कार्य-कलाप प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्त होते हैं। भक्तों को संस्तुत यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भक्त का सारा जीवन ही यज्ञ का प्रतीक है। किन्तु जो लोग इन्द्रियभोग के लिए सकाम कर्म में लगे रहते हैं, उन्हें संस्तुत यज्ञ करने चाहिए, क्योंकि सकाम-कर्मियों द्वारा किये गये समस्त पाप-कर्मों से मुक्त होने का यही एकमात्र साधन है। यज्ञ ही ऐसे संचित पापों के शमन का साधन है। देवतागण ऐसे यज्ञों के करने से उसी तरह प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार जेल के बन्दियों के आज्ञाकारी बन जाने पर बन्दीगृह के अधिकारी प्रसन्न होते हैं। किन्तु भगवान् चैतन्य ने केवल एक यज्ञ जिसे *सङ्कीर्तन-यज्ञ* कहते हैं, करने के लिए संस्तुति की है, और उसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग ले सकता है। इस तरह संकीर्तन यज्ञ अर्थात् हरे कृष्ण का कीर्तन से भक्त तथा सकाम कर्मी दोनों ही समान रूप से लाभ उठा हो सकते हैं।

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान्
 शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् ।
 वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्म-
 ण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अरक्ष्यमाणाः—अरक्षित; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उर्वि—पृथ्वी पर; बालान्—बच्चों को; शोचसि—आपको तरस आ रही है; अथो—इस तरह; पुरुष-आदैः—आदमियों के द्वारा; इव—सदृश; आर्तान्—दुखियारी; वाचम्—वाणी; देवीम्—देवी को; ब्रह्म-कुले—ब्राह्मण-कुल में; कुकर्मणि—धर्म के विरुद्ध कार्य करता है; अब्रह्मण्ये—ब्राह्मण-संस्कृति के विरोधी लोग; राज-कुले—प्रशासनिक वंश में; कुल-अछयान्—अधिकांश कुल (ब्राह्मण)।

क्या आप को उन दुखियारी स्त्रियों तथा बच्चों पर दया आ रही है, जिन्हें चरित्रहीन पुरुषों द्वारा अकेले छोड़ दी गई हैं? अथवा आप इसलिए दुखी हैं कि ज्ञान की देवी अधर्म में रत ब्राह्मणों के हाथ में हैं? या यह आप देख कर दुखी हैं कि ब्राह्मणों ने उन राजकुलों का आश्रय ग्रहण कर लिया है, जो ब्राह्मण संस्कृति का आदर नहीं करते?

तात्पर्य : कलियुग में ब्राह्मण तथा गायों के साथ स्त्रियाँ तथा बच्चे अत्यन्त उपेक्षित रहेंगे और अरक्षित छोड़ दिये जायेंगे। इस युग में स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध के कारण अनेक स्त्रियाँ तथा बच्चे अरक्षित हो जायेंगे। परिस्थितियों के चलते स्त्रियाँ, पुरुषों के संरक्षण से स्वतंत्र होना चाहेंगी और विवाह, पुरुष तथा स्त्री के मध्य औपचारिक समझौता मात्र बन कर रह जायेगा। अधिकतर बच्चों की ठीक से देख-रेख नहीं हो सकेगी। ब्राह्मण परम्परागत बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं, अतएव वे आधुनिक शिक्षा के शीर्ष तक पहुँच सकेंगे, किन्तु जहाँ तक चारित्रिक तथा धार्मिक नियमों का सम्बन्ध है, वे अत्यन्त गिरे हुए होंगे। शिक्षा तथा दुष्चरित्रता का कभी साथ नहीं होता, किन्तु ये दोनों साथ-साथ चलेंगे। प्रशासन के शीर्षस्थ लोग वैदिक वाङ्मय की नीतियों की भर्त्सना करेंगे और तथाकथित धर्म-निरपेक्ष राज्य का संचालन करेंगे और तथाकथित शिक्षित ब्राह्मण ऐसे चरित्रहीन लोगों द्वारा खरीद लिए जायेंगे। यहाँ तक कि दर्शनवेत्ता तथा धर्म पर अनेक पुस्तकें लिखनेवाला भी सरकार से उच्च पद स्वीकार करेगा जिसमें शास्त्रों की आचार-संहिता का तिरस्कार होता है। ब्राह्मणों को ऐसी नौकरी स्वीकार करने पर विशेष रूप से प्रतिबन्ध है। लेकिन इस युग में वे न केवल चाकरी स्वीकार करेंगे, अपितु यदि वह अति अधम प्रकार की नौकरी होगी, फिर भी वे ऐसा करेंगे। ये कलियुग के कुछ लक्षण हैं, जो मानव समाज के सामान्य कल्याण के लिए हानिकारक हैं।

किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान्
राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।

इतस्ततो वाशनपानवासः

स्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; क्षत्र-बन्धून्—अयोग्य प्रशासक; कलिना—कलियुग के प्रभाव से; उपसृष्टान्—मोह-ग्रस्त; राष्ट्राणि—राज्य के मामले; वा—अथवा; तैः—उनके द्वारा; अवरोपितानि—अव्यवस्थित किया गया; इतः—इधर; ततः—उधर; वा—अथवा; अशन—भोजन ग्रहण करते हुए; पान—पेय; वासः—आवास; स्नान—स्नान; व्यवाय—संभोग; उन्मुख—प्रवृत्त; जीव-लोकम्—मानव-समाज।

अब तथाकथित प्रशासक इस कलियुग के प्रभाव से मोहग्रस्त हो गये हैं और इस तरह उन्होंने राज्य के सारे मामलों को अस्त-व्यस्त कर रखा है। क्या आप इस कुव्यवस्था के लिए शोक कर रही हैं? अब सामान्य जनता खाने, पीने, सोने तथा सहवास के विधि-विधानों का पालन नहीं कर रही है और वह सारे कार्य कहीं भी और कैसे भी करने के लिए सन्नद्ध रहती है। क्या आप इस कारण से अप्रसन्न हैं?

तात्पर्य : जीवन की कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं, जो पशुओं के समान ही हैं—यथा खाना, सोना, डरना तथा सहवास करना। ये शारीरिक आवश्यकताएँ मनुष्य तथा पशु दोनों के लिए हैं। लेकिन मनुष्य को इन इच्छाओं की पूर्ति पशुओं की तरह नहीं, अपितु मानव की भाँति करनी होती है। एक कुत्ता लोगों के समक्ष, बिना हिचक के, कुतिया के साथ संभोग कर सकता है, किन्तु यदि मनुष्य ऐसा करे तो इसे सामान्य रूप से अनाचार कहा जायेगा और उस व्यक्ति को अपराधी की भाँति दण्डित किया जायेगा। अतएव मनुष्य के लिए कुछ विधि-विधान हैं, जो सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी हैं। जब मानव-समाज कलियुग के प्रभाव से मोहग्रस्त हो जाता है, तो ऐसे विधि-विधानों की अनदेखी करता है। लोग इस युग में जीवन की ऐसी आवश्यकताओं में विधि-विधानों का पालन किये बिना लिप्त रहते हैं और सामाजिक तथा चारित्रिक नियमों में ऐसी गिरावट निश्चय ही शोचनीय है, क्योंकि ऐसे पाशविक आचरण के प्रभाव अत्यन्त हानिकारक होते हैं। इस युग में पिता तथा अभिभावक अपने-अपने रक्षितों के आचरण से प्रसन्न नहीं हैं। उन्हें जानना चाहिए कि कितने ही निर्दोष बालक, इस कलि के दुष्प्रभाव में आकर बुरी संगति के शिकार होते हैं। हमें श्रीमद्भागवत से पता चलता है कि अबोध ब्राह्मण-पुत्र, अजामिल, एक बार सड़क पर चल रहा था, तो उसने एक शूद्र दम्पति को कामपीडित होकर एक दूसरे को आलिंगन करते देखा। इससे बालक आकृष्ट हो गया और

बाद में वह तमाम व्यसनों का शिकार बन गया। वह शुद्ध ब्राह्मण के पद से गिरकर एक अधम आवारा लुच्चा बन गया और यह सब कुसंगति के कारण हुआ। उस समय अजामिल जैसा एक भुक्तभोगी था, किन्तु इस कलियुग में बेचारे अबोध विद्यार्थी नित्य सिनेमा के शिकार होते हैं, जिससे पुरुष केवल कामवासना की ओर प्रेरित होते हैं। तथाकथित प्रशासक सबके-सब *क्षत्रिय-कर्म* में प्रशिक्षित नहीं हैं। जिस तरह ब्राह्मण ज्ञान तथा मार्ग-दर्शन के लिए होते हैं, उसी तरह क्षत्रिय प्रशासन के लिए होते हैं। *क्षत्र-बन्धु* शब्द उन तथाकथित प्रशासकों या व्यक्तियों का सूचक है, जो संस्कृति तथा परम्परा-विषयक उचित प्रशिक्षण पाये बिना प्रशासक के पद पर बिठा दिये गये हैं। आजकल वे इन उच्च पदों पर उस जनता के मतों द्वारा पहुँच जाते हैं, जिसका स्वयं जीवन के विधि-विधानों में अधोपतन हुआ होता है। जिन लोगों का जीवन-स्तर इतना निम्न हो, वे भला किस तरह उचित व्यक्ति का चुनाव कर सकते हैं? अतएव, कलियुग के प्रभाव से सर्वत्र हर वस्तु—राजनीतिक, सामाजिक, अथवा धार्मिक—उलट-पुलट है, अतएव बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह चिन्ता की बात है।

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार
कृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा
कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यद्वा—हो सकता है; अम्ब—हे माता; ते—आपका; भूरि—भारी; भर—बोझा; अवतार—बोझा घटाना; कृत—किया गया; अवतारस्य—अवतारी; हरेः—भगवान् श्रीकृष्ण का; धरित्रि—हे पृथ्वी; अन्तर्हितस्य—दृष्टि से ओझल भगवान् का; स्मरती—सोचते हुए; विसृष्टा—किया गया सब कुछ; कर्माणि—कर्म; निर्वाण—मोक्ष; विलम्बितानि—जो निहित हो।

हे माता पृथ्वी, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि ने तुम्हारे भारी बोझ को उतारने के लिए ही श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं अवतार लिया। यहाँ के उनके सारे कार्य दिव्य हैं और वे मोक्ष-पथ को पक्का करनेवाले हैं। अब आप उनकी उपस्थिति से विहीन हो गई हैं। शायद अब आप उन्हीं कार्यों को सोच रही हैं और उनकी अनुपस्थिति में दुखी हो रही हैं।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यों में मोक्ष सम्मिलित है, किन्तु वे किसी निर्वाण या मोक्ष से प्राप्त होनेवाले आनन्द से अधिक आनन्ददायी हैं। श्रील जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के

मतानुसार, यहाँ पर प्रयुक्त शब्द *निर्वाण-विलम्बितानि* का अर्थ है, “मोक्ष के महत्त्व को कम करनेवाला” निर्वाण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कठोर तपस्या करनी होती है, लेकिन भगवान् इतने दयालु हैं कि वे पृथ्वी का भार कम करने के लिए अवतरित होते हैं। मनुष्य ऐसे कार्यों को केवल स्मरण करके निर्वाण से प्राप्त होनेवाले सुख को लात मार कर, भगवान् का सान्निध्य पाने और वहाँ उनकी आनन्दमयी सेवा में लगे रहने के लिए उनके दिव्य धाम में पहुँच सकता है।

इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं
वसुन्धरे येन विकर्षितासि ।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा
सुरार्चितं किं हतमम्ब सौभगम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; मम—मुझको; आचक्ष्व—कृपया बताओ; तव—तुम्हारे; आधिमूलम्—आपके दुखों की जड़; वसुन्धरे—हे समस्त धन की खान; येन—जिससे; विकर्षिता असि—इतनी दुर्बल हो; कालेन—समय के प्रभाव से; वा—अथवा; ते—आपका; बलिनाम्—अत्यन्त शक्तिशाली से; बलीयसा—अधिक शक्तिशाली; सुर-अर्चितम्—देवताओं द्वारा वन्दनीय; किम्—क्या; हतम्—छीन लिया; अम्ब—माता; सौभगम्—सौभाग्य।

हे माता, आप सारे धन की खान हैं। कृपया मुझे अपने उन कष्टों का मूल कारण बतायें, जिससे आप इस दुर्बल अवस्था को प्राप्त हुई हैं। मैं सोचता हूँ कि अत्यन्त बलवानों को भी जीतनेवाले प्रबल काल ने देवताओं द्वारा वन्दनीय आपके सारे सौभाग्य को छीन लिया है।

तात्पर्य : भगवान् की कृपा से प्रत्येक ग्रह पूर्णतः सुसज्जित रूप में सृजित होता है। अतएव यह पृथ्वी अपने निवासियों के पालन हेतु आवश्यक सम्पत्ति से पूर्ण रूप से सुसज्जित है और इतना ही नहीं, अपितु जब भगवान् इस धरा पर अवतरित होते हैं, तब सारी पृथ्वी सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से इतनी समृद्ध हो जाती है कि स्वर्ग के निवासी भी बड़े प्यार से इसकी पूजा करते हैं। लेकिन भगवान् की इच्छा से सारी पृथ्वी तुरन्त बदल सकती है। वे अपनी मृदुल इच्छानुसार इसे बना-बिगाड़ सकते हैं। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह आत्म-निर्भर है या भगवान् से स्वतंत्र है।

धरण्युवाच

भवान् हि वेद तत्सर्वं

यन्मां धर्मानुपृच्छसि ।
 चतुर्भिर्वर्तसे येन
 पादैर्लोकसुखावहैः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धरणी उवाच—माता पृथ्वी ने उत्तर दिया; भवान्—आप; हि—निश्चय ही; वेद—जानते हैं; तत् सर्वम्—वह सब, जिसे आप मुझसे पूछा है; यत्—जो; माम्—मुझसे; धर्म—हे धर्म-रूप पुरुष; अनुपृच्छसि—आप एक-एक करके पूछा; चतुर्भिः—चारों; वर्तसे—आप उपस्थित हो; येन—जिससे; पादैः—पाँवों से; लोक—प्रत्येक लोक में; सुख-आवहैः—सुख को बढ़ानेवाला ।

(गाय के रूप में) पृथ्वी देवी ने (बैल-रूप में) धर्म-रूप पुरुष को इस प्रकार उत्तर दिया :

हे धर्म, आपने मुझसे जो भी पूछा है, वह आपको ज्ञात हो जायेगा । मैं आपके उन सारे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करूँगी । कभी आप भी अपने चार पाँवों द्वारा पालित थे और आपने भगवान् की कृपा से सारे विश्व में सुख की वृद्धि की थी ।

तात्पर्य : धर्म के नियमों की स्थापना भगवान् स्वयं करते हैं और ऐसे नियमों को कार्यान्वित करनेवाले हैं धर्मराज या यमराज । ऐसे नियम सत्ययुग में पूरी तरह काम करते हैं, त्रेतायुग में इनमें एक चौथाई कमी आ जाती है, द्वापरयुग में आधी कमी आती है और कलियुग में ये एक चौथाई रह जाते हैं और धीरे-धीरे घट कर शून्य पर आ जाते हैं; तब प्रलय हो जाती है । विश्व में सुख धार्मिक नियमों के पालन के अनुपात में मिलता है, चाहे वह व्यक्तिगत रूप से हो या सामूहिक रूप से । सर्वश्रेष्ठ शौर्य यही होगा कि सभी प्रकार की विषमताओं के होते हुए भी, धर्म को धारण किया जाय । इस तरह मनुष्य अपने जीवनकाल में सुखी हो सकता है और अन्ततः भगवद्धाम को लौट सकता है ।

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।
 शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥ २६ ॥
 ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
 स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ २७ ॥
 प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
 गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः ॥ २८ ॥
 एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः ।
 प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ॥ २९ ॥

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ।

शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सच्चाई; शौचम्—स्वच्छता; दया—दूसरे के दुखों को न सह पाना; क्षान्तिः—क्रोध का कारण होते हुए भी आत्मसंयम; त्यागः—वैराग्य; सन्तोषः—आत्म-तुष्टि; आर्जवम्—स्पष्टता; शमः—मन की स्थिरता; दमः—इन्द्रियों का संयम; तपः—अपने उत्तरदायित्व के प्रति सच्चाई; साम्यम्—मित्र तथा शत्रु के बीच भेदभाव न करना; तितिक्षा—अन्यों के अपराधों के प्रति सहनशीलता; उपरतिः—लाभ-हानि के प्रति उदासीनता; श्रुतम्—शास्त्रों के आदेशों का पालन; ज्ञानम्—ज्ञान (आत्म-साक्षात्कार); विरक्तिः—इन्द्रियभोग से अनासक्ति; ऐश्वर्यम्—नायकत्व; शौर्यम्—बहादुरी; तेजः—प्रभाव, प्रताप; बलम्—असम्भव को सम्भव बनाना; स्मृतिः—समुचित कर्तव्य की खोज; स्वातन्त्र्यम्—अन्यों पर आश्रित न रहना; कौशलम्—सारी कार्यकुशलता; कान्तिः—सौन्दर्य; धैर्यम्—उपद्रव से मुक्ति; मार्दवम्—दयालुता; एव—इस प्रकार; च—भी; प्रागल्भ्यम्—उदारता; प्रश्रयः—विनय; शीलम्—शील; सहः—संकल्प; ओजः—पूर्ण ज्ञान; बलम्—उपयुक्त दक्षता; भगः—भोग का विषय; गाम्भीर्यम्—प्रसन्नता; स्थैर्यम्—स्थिरता; अस्तित्वम्—आज्ञाकारिता; कीर्तिः—यश; मानः—पूजित होने के योग्य; अनहङ्कृतिः—निरभिमानता; एते—ये सब; च अन्ये—तथा अन्य अनेक; च—तथा; भगवन्—भगवान्; नित्याः—शाश्वत; यत्र—जहाँ; महा-गुणाः—बड़े-बड़े गुण; प्रार्थ्याः—रखने के योग्य; महत्त्वम्—महानता; इच्छद्भिः—इच्छा करनेवाले; न—कभी नहीं; वियन्ति—घटते हैं; स्म—सदैव; कर्हिचित्—किसी समय; तेन—उनके द्वारा; अहम्—मैं; गुण-पात्रेण—समस्त गुणों का आगार; श्री—भाग्य की देवी; निवासेन—रहने के स्थान द्वारा; साम्प्रतम्—हाल ही में; शोचामि—सोच रही हूँ; रहितम्—विहीन; लोकम्—ग्रह; पाप्मना—समस्त पापों के संग्रह से; कलिना—कलि द्वारा; ईक्षितम्—देखा जाता है।

उनमें निम्नलिखित गुण तथा अन्य अनेक दिव्य गुण पाये जाते हैं, जो शाश्वत रूप से विद्यमान रहते हैं और उनसे कभी विलग नहीं होते। ये हैं (१) सच्चाई (२) स्वच्छता (३) दूसरे के दुखों को सह न पाना, (४) क्रोध को नियंत्रित करने की शक्ति, (५) आत्मतुष्टि, (६) निष्कपटता, (७) मन की स्थिरता, (८) इन्द्रियों का संयम, (९) उत्तरदायित्व, (१०) समता, (११) सहनशीलता, (१२) समदर्शिता, (१३) आज्ञाकारिता, (१४) ज्ञान, (१५) इन्द्रिय भोग से अनासक्ति, (१६) नायकत्व, (१७) बहादुरी, (१८) प्रभाव, (१९) असम्भव को सम्भव बनाना, (२०) कर्तव्य पालन, (२१) पूर्ण स्वतंत्रता, (२२) कार्य कुशलता, (२३) सौन्दर्यमयता, (२४) धैर्य, (२५) दयालुता, (२६) उदारता, (२७) विनय, (२८) शील, (२९) संकल्प, (३०) ज्ञान की पूर्णता, (३१) उपयुक्त दक्षता, (३२) समस्त भोग विषयों का स्वामित्व, (३३) प्रसन्नता, (३४) स्थिरता, (३५) आज्ञाकारिता, (३६) यश, (३७) पूजा, (३८) निरभिमानता, (३९) अस्तित्व (भगवान् के रूप में), (४०) शाश्वतता। समस्त सत्त्व तथा सौन्दर्य के आगार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने इस धरा पर अपनी दिव्य लीलाएँ बन्द कर दी हैं। उनकी अनुपस्थिति में कलि ने सर्वत्र अपना प्रभाव फैला लिया है। अतएव मैं संसार की यह दशा देखकर अत्यन्त दुखी हूँ।

तात्पर्य : भले ही पृथ्वी को चूर्ण-चूर्ण करके इसके परमाणुओं को गिन लिया जाय, तो भी भगवान् के दिव्य गुणों का अनुमान लगाना दुष्कर होगा। कहा जाता है कि भगवान् अनन्तदेव ने अपनी अनन्त जिह्वाओं से परमेश्वर के दिव्य गुणों का गान करना चाहा, किन्तु भगवान् के गुणों का अनुमान लगा पाना अनन्त वर्षों तक सम्भव न हो पाया। भगवान् के गुणों के विषय में उपर्युक्त कथन उतनी ही दूर तक सही है जहाँ तक मनुष्य उन गुणों को देख पाता है। किन्तु यदि इतने ही गुण मान लिए जाँय, तो भी वे कई उपशीर्षकों में विभाजित किये जा सकते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, तीसरे गुण, अर्थात् दूसरे के दुखों को न सह पाना, के दो उपविभाग हो सकते हैं—(१) शरणागत जीवों की रक्षा तथा (२) भक्तों के लिए शुभकामनाएँ। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे चाहते हैं कि प्रत्येक जीव उन्हीं की शरण में आये और वे आश्वस्त करते हैं कि जो लोग ऐसा करेंगे, उनकी वे सारे पापों से रक्षा करेंगे। जो शरणागत नहीं हैं, वे भगवान् के भक्त नहीं हैं और इस प्रकार हर एक को विशेष संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता है। किन्तु भक्तों के साथ उनकी समस्त शुभकामनाएँ रहती हैं और जो लोग वास्तव में उनकी दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगे रहते हैं, भगवान् उन पर विशेष ध्यान देते हैं। वे ऐसे शुद्ध भक्तों का मार्गदर्शन करते हैं, जिससे वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भगवद्धाम लौटने में समर्थ हो सकें। समता (१०) से, भगवान् हर एक पर समान रूप से दयालु हैं, जिस तरह से सूर्य हर एक को समान रूप से अपनी किरणें वितरित करता है। फिर भी ऐसे अनेक लोग होते हैं, जो सूर्य की किरणों का लाभ नहीं उठा पाते। इसी प्रकार, भगवान् कहते हैं कि उनके शरणागत होना एक प्रकार से सुरक्षा की गारन्टी है, किन्तु जो अभागे हैं, वे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर पाते और इस प्रकार भौतिक कष्टों को भोगते रहते हैं। इस तरह यद्यपि भगवान् सबों के समान रूप से शुभचिन्तक हैं, तो भी अभागे जीव कुसंगति के कारण ही उनके उपदेशों को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते। इसके लिए भगवान् को कभी भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वे केवल भक्तों के शुभचिन्तक कहलाते हैं। वे अपने भक्तों के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह जीव पर निर्भर करता है कि वह भगवान् के समान व्यवहार को स्वीकार करे या ठुकरा दे।

भगवान् कभी अपने वचनों से मुकरते नहीं। जब वे सुरक्षा का आश्वासन दे देते हैं, तो चाहे जो भी हो, वे अपने वचनों को पूरा करते हैं। यह शुद्ध भक्त का कर्तव्य है कि भगवान् ने, या भगवान् के

प्रामाणिक प्रतिनिधि ने अर्थात् गुरु ने, उस पर जो भार सौंपा है, वह उसे पूरा करने के लिए दृढ़ रहे। शेष तो भगवान् अबाध रूप से पूरा करेंगे।

भगवान् का उत्तरदायित्व भी अद्वितीय है। भगवान् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, क्योंकि उनके सारे कार्य उनके द्वारा नियुक्त की गई विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। फिर भी वे अपनी दिव्य-लीलाओं का प्रदर्शन करते समय कुछ स्वैच्छिक जिम्मेदारियाँ निभाते हैं। बालक के रूप में वे ग्वाल-बाल की भूमिका निभा रहे थे। उन्होंने नन्द महाराज के पुत्र के रूप में अपनी जिम्मेदारी बहुत अच्छे से निभाई। इसी प्रकार जब वे महाराज वसुदेव के पुत्र-रूप में क्षत्रिय की भूमिका निभा रहे थे, तब उन्होंने शूरवीर क्षत्रिय की सम्पूर्ण निपुणता दिखलाई। प्रायः सदा ही, क्षत्रिय राजा को युद्ध जीतकर या अपहरण करके पत्नी प्राप्त करनी होती थी। इस तरह का आचरण क्षत्रिय के लिए प्रशंसनीय होता था, क्योंकि क्षत्रिय को अपनी होनेवाली पत्नी के समक्ष बहादुरी का प्रदर्शन करना होता था, जिससे क्षत्रिय पुत्री अपने होनेवाले पति के पराक्रम को देख सके। यहाँ तक कि भगवान् श्रीरामचन्द्र को भी अपने विवाह के समय ऐसे ही शौर्य का प्रदर्शन करना पड़ा। उन्होंने सबसे मजबूत धनुष, हरधनुर् को तोड़ा और समस्त ऐश्वर्य की जननी सीतादेवी को वरण किया। क्षत्रियत्व का प्रदर्शन विवाहोत्सव के समय ही होता है और ऐसे युद्ध में कोई दोष नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इस उत्तरदायित्व को भी पूरी तरह निभाया, क्योंकि यद्यपि उनकी सोलह हजार से अधिक पत्नियाँ थीं, किन्तु उन्होंने हर एक को पाने के लिए वीर क्षत्रिय की भाँति युद्ध किया था। सोलह हजार पत्नियों के लिए सोलह हजार बार युद्ध करना भगवान् के लिए ही सम्भव था। इसी प्रकार उन्होंने प्रत्येक लीला के प्रत्येक कार्य में पूरी जिम्मेदारी दिखाई।

चौदहवाँ गुण है, ज्ञान, जिसे पुनः पाँच उपविभागों में बाँटा जा सकता है, अर्थात्—(१) बुद्धि, (२) कृतज्ञता, (३) देश काल तथा वस्तु के अनुसार परिस्थितियों को समझने की शक्ति, (४) हर वस्तु का पूर्ण ज्ञान; तथा (५) आत्मज्ञान। जो मूर्ख होते हैं, वे ही अपने उपकारियों के प्रति कृतघ्न होते हैं। लेकिन भगवान् तो खुद के अतिरिक्त अन्य किसी से कोई लाभ नहीं चाहते, क्योंकि वे स्वयंसम्पूर्ण हैं; फिर भी वे अपने भक्तों की अनन्य सेवा से लाभान्वित अनुभव करते हैं। भगवान् अपने भक्तों के प्रति ऐसी सरल, अप्रतिबन्धित सेवा के लिए कृतज्ञता का अनुभव करते हैं और सेवा द्वारा प्रतिदान करते

हैं, यद्यपि भक्त के मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं रहती। भगवान् की दिव्य सेवा, भक्त के लिए अपने में ही दिव्य लाभ है, अतएव भक्त को भगवान् से किसी वस्तु की आशा नहीं होती। वैदिक नीति-वाक्य, *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*, के आधार पर भगवान् अपने तेज की सर्वव्यापी किरणों के द्वारा, जिन्हें ब्रह्मज्योति कहते हैं, प्रत्येक वस्तु के भीतर या बाहर, सर्वव्यापी भौतिक आकाश की तरह, व्याप्त हैं और इस तरह वे सर्वज्ञ भी हैं।

जहाँ तक भगवान् के सौन्दर्य की बात है, उनमें कुछ विशिष्ट लक्षण पाये जाते हैं, जिनसे वे अन्य सारे जीवों से पृथक् हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त, उनके कतिपय विशिष्ट सुन्दर लक्षण अत्यन्त आकर्षक हैं, जिनसे परमेश्वर की सर्वसुन्दर कृति, राधारानी का मन भी आकृष्ट हो जाता है। अतएव वे मदनमोहन कहलाते हैं, अर्थात् वे जो कामदेव के मन को भी आकृष्ट करनेवाले हैं। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने भगवान् के अन्य दिव्य गुणों का भी विश्लेषण किया है और वे इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (परब्रह्म) हैं। वे अपनी अचिन्त्य शक्तियों के कारण सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के सर्वोपरि स्वामी हैं। योगेश्वर होने के कारण उनका शाश्वत स्वरूप आध्यात्मिक है—शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द का सम्मिश्रण है। अभक्तगण उनके ज्ञान की गतिशील प्रकृति को नहीं समझ सकते, क्योंकि वे उनके ज्ञान के शाश्वत रूप तक पहुँचकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। सारे महापुरुष उनके समान ज्ञानवान बनने की आकांक्षा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य सारा ज्ञान सदैव अपर्याप्त, लोचशील तथा माप्य है, किन्तु भगवान् का ज्ञान सदैव स्थिर तथा अगाध है। श्रील सूत गोस्वामी ने *भागवत* में इसकी पुष्टि की है कि यद्यपि द्वारका के निवासी नित्य ही भगवान् के दर्शन करते थे, तो भी वे उन्हें पुनः पुनः देखने के लिए उत्सुक रहते थे। जीव भगवान् के गुणों की सराहना अन्तिम लक्ष्य के रूप में तो कर सकते हैं, किन्तु वे कभी उनकी समता नहीं कर सकते। यह भौतिक जगत महत्-तत्त्व की उपज है, जो भगवान् की कारण सागर में *योगनिद्रा* की स्वप्नावस्था है; फिर भी यह सारी सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न प्रतीत होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् की स्वप्नावस्था भी वास्तविक अभिव्यक्ति है। अतएव वे हर वस्तु को अपने दिव्य नियंत्रण में ला सकते हैं। वे जब कभी और जहाँ कहीं भी प्रकट होते हैं, अपने पूर्ण रूप में प्रकट होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह सब होते हुए, भगवान् सृष्टि का व्यापार चालू रखते हैं और ऐसा करते हुए वे अपने उन शत्रुओं को भी मोक्ष प्रदान करते हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं मारा है। वे सर्वोपरि मुक्तात्मा के लिए भी आकर्षक हैं, अतएव वे सभी देवताओं में महान् ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भी पूज्य हैं। यहाँ तक कि अपने पुरुष अवतार में भी वे सृजन-शक्ति के स्वामी हैं। भौतिक सृजनशक्ति उनकी अध्यक्षता में कार्यशील रहती है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.१०) में हुई है। वे भौतिक शक्ति के नियंत्रक कुन्जी समान हैं और असंख्य ब्रह्माण्डों में भौतिक शक्ति के नियंत्रण हेतु वे समस्त ब्रह्माण्डों में असंख्य अवतारों के मूल कारण हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में अन्य अवतारों के अतिरिक्त, केवल एक ब्रह्माण्ड में मनु के पाँच लाख से अधिक अवतार होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत में, जो महत् तत्त्व के परे है, अवतारों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—लेकिन विभिन्न वैकुण्ठ-लोको में भगवान् के पूर्ण अंश होते हैं। वैकुण्ठलोक में महत् तत्त्व के असंख्य ब्रह्माण्डों के भीतर पाये जानेवाले ग्रहों से तिगुनी संख्या में ग्रह हैं। और भगवान् के जितने भी नारायण-रूप हैं, वे सब उनके वासुदेव-स्वरूप के अंश हैं। इस तरह वे एक साथ वासुदेव, नारायण तथा कृष्ण हैं। वे *श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव हैं*—एक में सब। अतएव कोई चाहे कितना महान् क्यों न हो, भगवान् के गुणों की गणना नहीं कर सकता।

आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम् ।

देवान् पितृनृषीन् साधून् सर्वान् वर्णास्तथाश्रमान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; अनुशोचामि—शोक कर रही हूँ; भवन्तम्—आप; च—भी; अमर-उत्तमम्—देवताओं में श्रेष्ठ; देवान्—देवताओं के लिए; पितृन्—पितृलोक के निवासियों के लिए; ऋषीन्—ऋषियों के लिए; साधून्—भक्तों के लिए; सर्वान्—सभी; वर्णान्—जातियों के लिए; तथा—और; आश्रमान्—मानव समाज के चारों आश्रमों के लिए।

हे देवताओं में श्रेष्ठ, मैं अपने विषय में तथा आपके विषय में और उसी के साथ ही साथ सभी देवताओं, ऋषियों, पितृलोक के निवासियों, भगवद्भक्तों तथा वर्णाश्रम-धर्म के पालक सभी मनुष्यों के विषय में सोच रही हूँ।

तात्पर्य : मानव जीवन को पूर्ण बनाने में मनुष्यों, देवताओं, ऋषियों, पितृलोक के निवासियों, भगवद्भक्तों तथा वर्णाश्रम-धर्म की वैज्ञानिक पद्धति का योगदान रहता है। अतएव मानव जीवन तथा

पशुजीवन में जो अन्तर है, वह वर्णाश्रम की वैज्ञानिक प्रणाली से प्रारम्भ होता है जिसका मार्गदर्शन देवताओं के लिए ऋषियों के अनुभव द्वारा होता है और जो धीरे-धीरे उठता हुआ परम पूर्ण सत्य, पूर्ण परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नित्य सम्बन्ध की स्थापना तक पहुँचता है। जब ईश्वरकृत वर्णाश्रम धर्म, जो पशु-चेतना का मानव-चेतना में और मानव-चेतना का ईश्वरीय-चेतना में विकास के निमित्त होता है, मूर्खों की प्रगति के द्वारा छिन्न कर दिया जाता है, जिससे शान्तिपूर्ण प्रगतिशील जीवन का सारा ढाँचा चरमरा जाता है। कलियुग में, विषधर सर्प का पहला आक्रमण ईश्वरकृत वर्णाश्रम धर्म पर होता है। फलस्वरूप योग्य ब्राह्मण शूद्र कहलाने लगता है और शूद्र की योग्यता वाला ब्राह्मण बन जाता है। यह सब जन्म के झूठे अधिकार से होता है। जन्म के दावे से ब्राह्मण बनना प्रामाणिक नहीं है, भले ही इससे किसी एक शर्त की पूर्ति होती हो। ब्राह्मण की असली योग्यता तो मन तथा इन्द्रियों को वश में करना तथा धैर्य, सरलता, स्वच्छता, ज्ञान, सत्य, भक्ति तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति श्रद्धा करना इत्यादि है। आधुनिक युग में, आवश्यक योग्यता पर विचार नहीं किया जाता, यहाँ तक कि *रामचरितमानस* के अत्यन्त लोकप्रिय रचयिता द्वारा भी झूठे जन्म-अधिकार को समर्थन दिया जाता है।

यह सब कलियुग का प्रभाव है। अतएव गोरूप पृथ्वी माता दयनीय दशा पर शोक व्यक्त कर रही थीं।

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
 कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः ।
 सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
 यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥ ३२ ॥
 तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः
 श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
 त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिं
 लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा-आदयः—ब्रह्मा जैसे देवता; बहु-तिथम्—अनेक दिनों तक; यत्—लक्ष्मी देवी का; अपाङ्ग-मोक्ष—कृपा-कटाक्ष;
 कामाः—कामना करनेवाला; तपः—तपस्या; समचरन्—सम्पन्न करते हुए; भगवत्—भगवान् की; प्रपन्नाः—शरणागत; सा—
 वे (लक्ष्मी); श्रीः—लक्ष्मीजी; स्व-वासम्—अपने धाम को; अरविन्द-वनम्—कमलों के वन को; विहाय—छोड़कर; यत्—

जिनका; पाद—पाँव; सौभाग्य—कल्याणमय; अलम्—निःसंकोच भाव से; भजते—पूजती हैं; अनुरक्ता—आकृष्ट हुई; तस्य—उनका; अहम्—मैं; अब्ज—कमल पुष्प; कुलिश—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का अंकुश; केतु—झंडा; केतैः—चिह्न; श्रीमत्—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; पदैः—चरणों के तलवों से; भगवतः—भगवान् का; समलङ्कृत—अङ्गी—इस तरह से सज्जित देहवाले; त्रीन्—तीन; अति—एक से एक बढ़कर; अरोचे—सुन्दरतापूर्वक अलंकृत; उपलब्ध—प्राप्त करके; ततः—तत्पश्चात्; विभूतिम्—विशिष्ट शक्तियों को; लोकान्—लोकों को; सः—उन्होंने; माम्—मुझको; व्यसृजत्—त्याग दिया; उत्सृज्यतीम्—गर्व का अनुभव करते हुए; तत्—अन्ते—अन्त में।

सौभाग्य की देवी लक्ष्मीजी, जिनकी कृपा-कटाक्ष के लिए ब्रह्मा जैसे देवता तरसा करते थे और जिनके लिए वे दिन में अनेक बार भगवान् के शरणागत होते थे, वे कमल-वन के अपने निवासस्थान को त्याग कर भी भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न हुई थीं। मुझे वे विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे मैं ध्वज, वज्र, अंकुश तथा कमल चिह्नों से, जो भगवान् के चरणकमलों के चिह्न हैं, अलंकृत होकर तीनों लोकों की सम्पत्ति को परास्त कर सकती थी। लेकिन अन्त में, जब मैंने अनुभव किया कि मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ, तब भगवान् ने मुझे त्याग दिया।

तात्पर्य : संसार का सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य भगवान् की कृपा से ही बढ़ सकता है, किसी मानवकृत योजना से नहीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे, तब उनके चरणकमल के विशिष्ट चिह्न धूलि पर अंकित होते थे, जिस विशेष कृपा के कारण सारी पृथ्वी यथासम्भव भरी-पूरी रहती थी। दूसरे शब्दों में, नदियाँ, समुद्र, वन, पर्वत तथा खानें, जो मनुष्यों तथा पशुओं की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली हैं, अपने-अपने कर्तव्यों को भलीभाँति पूरा कर रही थीं। अतएव पृथ्वी की समृद्धि ब्रह्माण्ड के तीनों के अन्य सभी ग्रहों की समृद्धि से बढ़कर थी। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पृथ्वी पर भगवान् से सदैव कृपा बनाये रखने की याचना करे, जिससे हमें उनकी अहैतुकी कृपा प्राप्त हो और हमें जीवन की सारी सुविधाएँ प्राप्त हों, जिससे हम सुखी रहें। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब पृथ्वी पर अपना कार्य पूर्ण हो जाने पर भगवान् पृथ्वी छोड़कर अपने धाम चले जाते हैं, तो फिर हम उन्हें किस तरह रोक सकते हैं? इसका उत्तर यह होगा कि भगवान् को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् सर्वव्यापी होने के कारण, हमारे बीच उपस्थित हो सकते हैं, यदि हम उन्हें चाहते हैं। यदि हम श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि द्वारा उनकी भक्ति में अनुरक्त रहें, तो वे सदैव हमारे साथ रह सकते हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं।

संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे भगवान् जुड़े हुए न हो। हमें चाहिए कि हम जुड़ने के इस सम्बन्ध को ढूँढ़ निकालें और अपराधरहित सेवा द्वारा उनसे जुड़ जाँय। हम उनके दिव्य शब्द उच्चारण द्वारा उनसे जुड़ सकते हैं। भगवान् का पवित्र नाम तथा स्वयं भगवान् एक ही हैं और जो कोई निरपराध भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, उसे तुरन्त अनुभूति होती है कि भगवान् उसके समक्ष उपस्थित हैं। यहाँ तक कि रेडियो-ध्वनि के स्पन्दन से हम ध्वनि की आंशिक अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं और दिव्यता के ध्वनि को फिर से उच्चारित करके हम निश्चय ही भगवान् की उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं। इस युग में, जबकि प्रत्येक वस्तु कलि के कल्मष से दूषित है, शास्त्रों का आदेश है तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने भी यही उपदेश दिया है कि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन से हम तत्काल कल्मष से रहित हो सकते हैं और क्रमशः दिव्य पद तक ऊपर उठकर भगवद्धाम वापस जा सकते हैं। भगवन्नाम का निरपराध रूप से कीर्तन करनेवाला भक्त साक्षात् भगवान् के समान शुभ होता है और संसार भर में भगवद्भक्तों के विचरण करने से संसार के सारे कष्ट दूर हो सकते हैं। केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार-प्रसार द्वारा ही हम कलियुग के दुष्प्रभावों से बच सकते हैं।

यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञा-

मक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः ।

त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण

सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निश्चय ही; मम—मेरा; अति-भरम्—अत्यन्त बोझिल; आसुर-वंश—नास्तिक; राज्ञाम्—राजाओं का; अक्षौहिणी—एक अक्षौहिणी (एक अक्षौहिणी में २१,८७० रथ, इतने ही हाथी, १,०९,३५० पैदल सैनिक तथा ६५,६१० अश्वारोही होते हैं); शतम्—ऐसी सैकड़ों अक्षौहिणी; अपानुदत्—नष्ट कर डाली; आत्म-तन्त्रः—आत्म-निर्भर; त्वाम्—तुमको; दुःस्थम्—कठिनाई में डालकर; ऊन-पदम्—खड़े होने की शक्ति से रहित; आत्मनि—आन्तरिक; पौरुषेण—शक्ति के बल पर; सम्पादयन्—सम्पन्न करने के लिए; यदुषु—यदुवंश में; रम्यम्—दिव्य रूप से सुन्दर; अबिभ्रत्—स्वीकार किया; अङ्गम्—शरीर को।

हे धर्म-पुरुष, मैं नास्तिक राजाओं द्वारा नियोजित अत्यधिक सैन्य-समूह के भार से बोझिल हो उठी थी और अब भगवान् की कृपा से उससे उबर सकी हूँ। इसी प्रकार आप भी कष्टप्रद अवस्था में थे और खड़े भी नहीं हो सकते थे। इस तरह आपको भी उबारने के लिए यदुवंश में वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतरित हुए थे।

तात्पर्य : असुरगण दूसरे के सुख को लूटकर भी इन्द्रियतृप्ति का जीवन बिताना चाहते हैं। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए असुरगण, विशेषतया नास्तिक राजा या राज्य के प्रशासनिक अधिकारी, अपने को अत्यन्त घातक अस्त्रों से सज्जित करके शान्तिपूर्ण समाज में युद्ध कराना चाहते हैं। उन्हें आत्मश्लाघा के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई अभिलाषा नहीं रहती। इस प्रकार पृथ्वी माता, सैन्यशक्ति में अत्यधिक वृद्धि के कारण अत्यधिक बोझिल अनुभव करती है। असुरों की वृद्धि होने से धर्मात्मा लोग, विशेषतया भक्त या देवता, दुखी होते हैं।

ऐसी परिस्थिति में, भगवान् इन अवांछित असुरों को नष्ट करने तथा धर्म की पुनःस्थापना करने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यही उद्देश्य था और इसे उन्होंने पूरा किया।

का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य
प्रेमावलोकुरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः ।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्कितायाः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; वा—या तो; सहेत—सहन कर सकता है; विरहम्—वियोग; पुरुष-उत्तमस्य—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का; प्रेम—प्रेममयी; अवलोक—चितवन; रुचिर-स्मित—मोहक हँसी; वल्गु-जल्पैः—हृदय को भानेवाली बोली; स्थैर्यम्—गम्भीरता; समानम्—प्रणय-सम्बन्धी क्रोध; अहरत्—जीता; मधु—प्रियतमा; मानिनीनाम्—सत्यभामा जैसी स्त्रियों का; रोम-उत्सवः—प्रसन्नता से रोमांच; मम—मेरा; यत्—जिसका; अङ्घ्रि—पाँव; विटङ्कितायाः—से अंकित।

अतएव ऐसा कौन है, जो उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विरह की व्यथा को सह सकता है? वे अपनी प्रेमभरी मीठी मुस्कान, सुहावनी चितवन तथा मीठी-मीठी बातों से सत्यभामा जैसी प्रियतमाओं की गम्भीरता तथा प्रणय क्रोध (हाव-भाव) को जीतनेवाले थे। जब वे मेरी (पृथ्वी की) सतह पर चलते थे, तो मैं उनके चरणकमल की धूल में धँस जाती थी और फिर घास से आच्छादित हो जाती थी, जो हर्ष से उत्पन्न मेरे शरीर पर रोमांच जैसा था।

तात्पर्य : भगवान् तथा भगवान् की हजारों रानियों के मध्य, घर से जाने पर, वियोग की अनेक सम्भावनाएँ थीं, लेकिन जहाँ तक पृथ्वी का सम्बन्ध है, भगवान् के चरणकमलों को तो पृथ्वी पर पड़ना ही था, अतएव वियोग की कोई सम्भावना न थी। किन्तु जब भगवान् पृथ्वी को छोड़कर अपने दिव्य-धाम चले गये, तो पृथ्वी की वियोग-भावना अत्यन्त तीव्र हो गई।

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा ।

परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उनके मध्य; एवम्—इस प्रकार; कथयतोः—वार्ता में संलग्न; पृथिवी—पृथ्वी; धर्मयोः—तथा धर्म दोनों; तदा—उस समय; परीक्षित्—राजा परीक्षित; नाम—नामक; राज-ऋषिः—राजाओं में ऋषि-तुल्य; प्राप्तः—आ गये; प्राचीम्—पूर्व-वाहिनी; सरस्वतीम्—सरस्वती नदी के तट पर।

जब पृथ्वी तथा धर्म-पुरुष इस प्रकार बातों में संलग्न थे, तो राजर्षि परीक्षित पूर्व की ओर बहनेवाली सरस्वती नदी के तट पर पहुँच गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'परीक्षित ने कलियुग का सत्कार किस तरह किया' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

कलि को दण्ड तथा पुरस्कार

सूत उवाच

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।

दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; तत्र—वहाँ; गो-मिथुनम्—गाय तथा बैल को; राजा—राजा; हन्यमानम्—मारे जाते हुए; अनाथ-वत्—अपने मालिक से विलग हुए प्रतीत होनेवाले; दण्ड-हस्तम्—हाथों में लट्टु लिए; च—भी; वृषलम्—निम्न जाति के शूद्र को; ददृशे—देखा; नृप—राजा की तरह; लाञ्छनम्—वेश धारण किये।

सूत गोस्वामी ने कहा : उस स्थान पर पहुँचकर महाराज परीक्षित ने देखा कि एक नीच जाति का शूद्र, राजा का वेश बनाये, एक गाय तथा एक बैल को लट्टु से पीट रहा था, मानो उनका कोई स्वामी न हो।

तात्पर्य : कलियुग का मुख्य लक्षण यह है कि निम्न जाति के शूद्र, अर्थात् ब्राह्मण संस्कृति तथा आध्यात्मिक दीक्षा से रहित मनुष्य प्रशासकों या राजाओं का वेश धारण करेंगे और ऐसे अ-क्षत्रिय शासकों का प्रमुख व्यवसाय होगा, निर्दोष पशुओं को, विशेष रूप से ऐसी गायों तथा बैलों को जान से

मारना, जो अपने स्वामियों अर्थात् प्रामाणिक वैश्यों द्वारा अरक्षित होंगी। *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है कि वैश्यों का कार्य कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार से सम्बन्धित है। कलियुग में पतित वैश्य गायों को कसाईघरों में पहुँचाने में लगे रहते हैं। क्षत्रियों का कार्य राज्य के नागरिकों की रक्षा करना है, जबकि वैश्य गायों तथा बैलों की रक्षा करने तथा उन्हें अन्न तथा दूध-उत्पादन में उपयोग करने के लिए होते हैं। गाय दूध देने तथा बैल अन्न उत्पादन करने के लिए होता है। लेकिन कलियुग में शूद्र जाति के लोग प्रशासक-पदों पर हैं और माता एवं पिता तुल्य गाएँ तथा बैल, वैश्यों के द्वारा सुरक्षित न होने के कारण, शूद्र प्रशासकों द्वारा संचालित कसाईघरों में भेज दिये जाते हैं।

वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम् ।

वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

वृषम्—बैल को; मृणाल-धवलम्—श्वेत कमल के समान सफेद; मेहन्तम्—पेशाब करता; इव—मानो; बिभ्यतम्—अत्यधिक डरा हुआ; वेपमानम्—काँपता हुआ; पदा एकेन—एक ही पैर पर खड़ा; सीदन्तम्—डरा हुआ; शूद्र-ताडितम्—शूद्र द्वारा मारे जाने से।

बैल इतना धवल था कि जैसे श्वेत कमल पुष्प हो। वह उस शूद्र से अत्यधिक भयभीत था, जो उसे मार रहा था। वह इतना डरा हुआ था कि एक ही पैर पर खड़ा थरथरा रहा था और पेशाब कर रहा था।

तात्पर्य : कलियुग का दूसरा लक्षण यह है कि धर्म के नियम, जो श्वेत-कमल के समान निष्कलुष तथा श्वेत हैं, उन पर इस युग के असंस्कृत शूद्र जनों का आक्रमण होगा। भले ही वे ब्राह्मण या क्षत्रिय पूर्वजों की सन्तानें हों, लेकिन समुचित शिक्षा तथा वैदिक वाङ्मय की संस्कृति के अभाव में, ऐसे शूद्र-तुल्य लोग धार्मिक नियमों की अवहेलना करेंगे और धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति ऐसे लोगों से भयभीत रहेंगे। वे अपने को किसी भी धर्म के अनुयायी न होने की घोषणा करेंगे और कलियुग में धर्म-रूपी निर्मल बैल को ही मारने के लिए, अनेक 'वाद' तथा सम्प्रदाय उत्पन्न होंगे। राजसत्ता को धर्म-निरपेक्ष अर्थात् किसी विशेष धार्मिक सिद्धान्त से रहित घोषित किया जायेगा; फलस्वरूप धर्म के प्रति पूरी उपेक्षा बरती जाएगी। नागरिक मनमाना कर्म करने के लिए स्वतंत्र होंगे और वे साधु, शास्त्र तथा गुरु का सम्मान नहीं करेंगे। एक पाँव पर खड़ा बैल इस बात का संकेत है कि धर्म के नियम

क्रमशः विलुप्त हो रहे हैं। धार्मिक नियमों का आंशिक अस्तित्व भी अनेक अवरोधों से संशयपूर्ण रहेगा, मानो वह किसी समय लड़खड़ाकर गिरनेवाला है।

गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम् ।
विवत्सामाश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

गाम्—गाय को; च—भी; धर्म-दुघाम्—उससे धर्म निकालने के कारण उपयोगी; दीनाम्—अब दीन बनी हुई; भृशम्—दुखी;
शूद्र—निम्न जाति; पद-आहताम्—पाँव पर प्रहार की गई; विवत्साम्—बछड़े से रहित; आश्रु-वदनाम्—आँखों से आँसू भरे;
क्षामाम्—अत्यन्त कुश, कमजोर; यवसम्—घास को; इच्छतीम्—मानो खाने की इच्छा करती हुई।

यद्यपि गाय उपयोगी है, क्योंकि उससे धर्म प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अब वह दीन तथा बछड़े से रहित हो गई थी। उसके पाँवों पर शूद्र प्रहार कर रहा था। उसकी आँखों में आँसू थे और वह अत्यन्त दुखी तथा कमजोर थी। वह खेत की थोड़ी-सी घास के लिए लालायित थी।

तात्पर्य : कलि का अगला लक्षण है, गाय की दुखी अवस्था। गाय दुहने का अर्थ है, द्रव-रूप में धर्म प्राप्त करना। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि केवल दुग्धाहार करते थे। श्रील शुकदेव गोस्वामी गृहस्थ के यहाँ तब जाते, जब वह गाय दुहता होता और वे अपने निर्वाह भर के लिए उससे थोड़ा दूध लेते। यहाँ तक कि पचास वर्ष पहले तक, लोग साधु को एक गिलास दूध दिये बिना नहीं रहते थे। प्रत्येक गृहस्थ जल की तरह दूध देता था। सनातनधर्मी (वैदिक नियमों का अनुयायी) के लिए, यह प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि वह न केवल दूध प्राप्त करने के लिए, अपितु धार्मिक नियमों को प्राप्त करने के लिए गाएँ तथा बैल रखे। सनातनी लोग धार्मिक नियमों के आधार पर गाय की पूजा करते हैं और ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं। यज्ञ की अग्नि के लिए गो-दुग्ध की आवश्यकता होती है और यज्ञ करने से गृहस्थ सुखी रहता है। गाय का बछड़ा देखने में सुन्दर होता है और गाय को तुष्टि प्रदान करता है, जिससे वह अधिकाधिक दूध देती है। किन्तु कलियुग में, बछड़े को गाय से उन कारणों से जल्दी से जल्दी विलग कर दिया जाता है, जिसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* के इन पृष्ठों में नहीं किया जा सकता है। गाय अपनी आँखों में आँसू भर कर खड़ी रहती है और शूद्र ग्वाला कृत्रिम रीति से गाय को दुह लेता है और जब गाय दूध देना बन्द कर देती है, तो उसे काटे जाने के लिए भेज दिया जाता है। आधुनिक समाज में फैले हुए सभी कष्टों के लिए ये अत्यन्त जघन्य कृत्य ही उत्तरदायी हैं। लोगों को

यही पता नहीं चल पाता कि आर्थिक विकास के नाम पर वे क्या कर रहे हैं ? कलियुग का प्रभाव उन्हें अज्ञान के अंधकार में रखेगा। शान्ति तथा सम्पन्नता के समस्त प्रयासों के बावजूद, उन्हें चाहिए कि वे गायों तथा बैलों को सभी प्रकार से सुखी रखें। मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि गायों तथा बैलों को सुखी रखकर स्वयं सुखी कैसे बना जाये, लेकिन यह तो प्रकृति के नियम के अनुसार हकीकत है। इसके लिए हमें *श्रीमद्भागवत* को प्रमाण मानना चाहिए और मानवता के पूर्ण सुख के लिए इन नियमों को अपनाना चाहिए।

पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम् ।

मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पप्रच्छ—पूछा; रथम्—रथ पर; आरूढः—आसीन; कार्तस्वर—सोने से; परिच्छदम्—जटित; मेघ—बादल; गम्भीरया—दोष-मुक्त कराते हुए; वाचा—वाणी; समारोपित—पूरी तरह सज्जित; कार्मुकः—धनुष-बाण।

धनुष-बाण से सज्जित तथा स्वर्ण-जटित रथ पर आसीन, महाराज परीक्षित उससे (शूद्र से)

मेघ के समान गर्जना करनेवाली गम्भीर वाणी से बोले।

तात्पर्य : दुष्टों को दण्डित करने के लिए हथियारों से लैस, राजसी प्राधिकार से सम्पन्न, महाराज परीक्षित जैसा शासक या राजा ही कलियुग के एजन्टों को ललकार सकता है। तभी इस अधम युग का सामना कर पाना सम्भव हो पाएगा। ऐसे सशक्त प्रशासनाधिकारी के अभाव में, सदैव शान्ति भंग होती रहती है। चुने हुए दिखावटी प्रशासक, अधम जनता के प्रतिनिधि के रूप में, कभी भी महाराज परीक्षित जैसे बलवान राजा की समता नहीं कर सकते। राजवेष अथवा राजसी-शैली का कोई अर्थ नहीं होता। मनुष्य के कार्य ही हैं, जिनकी गिनती होती है।

कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली ।

नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाद्विजः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन हो; त्वम्—तुम; मत्—मेरी; शरणे—संरक्षण में; लोके—इस संसार में; बलात्—बलपूर्वक; हंसि—मार रहे हो; अबलान्—असहायों को; बली—यद्यपि बल से युक्त; नर-देवः—मनुष्य-रूप देवता; असि—प्रतीत होते हो; वेषेण—अपने वेश से; नट-वत्—अभिनेता जैसे; कर्मणा—कामों से; अद्वि-जः—जो द्विज न हो।

अरे, तुम हो कौन? तुम बलवान प्रतीत हो रहे हो, फिर भी तुम उन असहायों को मारने का साहस कर रहे हो, जो मेरे संरक्षण में हैं! वेष से तुम देवतुल्य पुरुष (राजा) बने हुए हो, किन्तु अपने कार्यों से तुम द्विज क्षत्रियों के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहे हो।

तात्पर्य : ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं, क्योंकि इनका पहला जन्म माता-पिता के संयोग से होता है और दूसरा जन्म प्रामाणिक आचार्य या गुरु द्वारा आध्यात्मिक दीक्षा से सांस्कृतिक संस्कार के फलस्वरूप होता है। इस तरह क्षत्रिय भी ब्राह्मण के समान द्विज होता है और उसका कर्तव्य यह होता है कि वह असहायों को संरक्षण दे। क्षत्रिय राजा असहायों को संरक्षण प्रदान करने तथा दुष्टों को दंड देने के लिए ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। जब-जब प्रशासकों द्वारा इस नैतिक कार्य में अनियमितता आती है, तब धर्म की पुनःस्थापना के लिए भगवान् का अवतार होता है। कलियुग में बेचारे असहाय पशु, विशेष रूप से गाएँ, जिन्हें प्रशासकों से सभी प्रकार का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए, वे अंधाधुंध मारी जाती हैं। इस तरह के प्रशासक, जिनकी नजरों के सामने ये घटनाएँ घटती रहती हैं, केवल नाम के ईश्वर-प्रतिनिधि हैं। ऐसे सशक्त प्रशासक वेश या पद के बल पर भले ही गरीब जनता के शासक बने रहें, लेकिन वास्तव में वे व्यर्थ के, निम्नजाति के द्विजों की सांस्कृतिक सम्पन्नता के गुणों से विहीन पुरुष हैं। निम्नजाति के एकजन्मा (असंस्कृत) व्यक्तियों से न्याय या समता की आशा करना व्यर्थ है। अतएव, राज्य के कुशासन के कारण कलियुग में प्रत्येक व्यक्ति दुखी रहता है। आधुनिक मानव-समाज द्विज नहीं है। अतएव ऐसी प्रजा द्वारा प्रजा की सरकार, जो द्विज नहीं है, कलियुग की सरकार होगी जिसमें हर कोई दुखी होगा।

यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सहगाण्डीवधन्वना ।

शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जिससे; त्वम्—तुम दुष्ट; कृष्णे—कृष्ण के; गते—चले जाने से; दूरम्—आँख से ओझल; सह—साथ; गाण्डीव—गाण्डीव नामक धनुष; धन्वना—धारण करनेवाला अर्जुन; शोच्यः—अपराधी; असि—हो; अशोच्यान्—निर्दोष; रहसि—एकान्त स्थान में; प्रहरन्—मारते हुए; वधम्—मारे जाने के; अर्हसि—पात्र हो।

अरे धूर्त, क्या तुम इस निर्दोष गाय को मारने का दुस्साहस इसीलिए कर रहे हो कि भगवान् कृष्ण तथा गाण्डीवधारी अर्जुन दृष्टि से बाहर हैं ? चूँकि तुम इस निर्दोष को एकान्त स्थान में मार रहे हो, अतएव तुम अपराधी हो और बध किये जाने के योग्य हो।

तात्पर्य : जिस सभ्यता में ईश्वर को देश निकाला दे दिया गया हो और जहाँ अर्जुन जैसा भक्त-योद्धा न हो, वहाँ कलियुग के संगी इस कानून-विहीन राज्य का लाभ उठाकर एकान्त कसाईघरों में गाय जैसे निर्दोष पशुओं का वध करने की व्यवस्था करते हैं। ऐसे पशु-हत्यारें महाराज परीक्षित जैसे पवित्र राजा द्वारा मृत्यु-दण्ड दिये जाने के पात्र हैं। जो अपराधी एकान्त स्थान में पशु का बध करता है, वह पवित्र राजा द्वारा उसी तरह मृत्यु-दण्ड पाने का भागी होता है, जिस तरह एकान्त में अबोध बालक का बध करनेवाला हत्यारा।

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन् ।

वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वा—या तो; मृणाल-धवलः—कमल की तरह सफेद; पादैः—तीन पाँवों वाले; न्यूनः—छीने जाने से; पदा—एक पाँव से; चरन्—चलते हुए; वृष—बैल; रूपेण—के रूप में; किम्—क्या; कश्चित्—कोई; देवः—देवता; नः—हमको; परिखेदयन्—क्लेश पहुँचा रहे हो।

तब उन्होंने (महाराज परीक्षित ने) बैल से पूछा: अरे, तुम कौन हो? तुम श्वेत कमल जैसे धवल बैल हो या कोई देवता हो? तुम अपने तीन पैर खो चुके हो और केवल एक पैर पर चल रहे हो। क्या तुम बैल के रूप में कोई देवता हो, जो हमें इस तरह क्लेश पहुँचा रहे हो?

तात्पर्य : कम से कम महाराज परीक्षित के समय तक कोई गाय तथा बैल की दुर्दशा की कल्पना नहीं कर सकता था। अतएव ऐसा भयावह दृश्य देखकर महाराज परीक्षित आश्चर्यचकित थे। उन्होंने जानना चाहा कि वह बैल कहीं कोई देवता तो नहीं था, जिसने गाय तथा बैल के भविष्य को सूचित करने के लिए ऐसी दुर्दशा बना रखी हो।

न जातु कौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते ।

भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; जातु—किसी समय; कौरव—इन्द्राणाम्—कुरुवंश के राजाओं का; दोर्दण्ड—बाहुबल से; परिरम्भिते—सुरक्षित किया गया; भू-तले—पृथ्वी पर; अनुपतन्ति—शोक करते हुए; अस्मिन्—अब तक; विना—रहित; ते—तुम्हारे; प्राणिनाम्—जीव का; शुचः—आँखों से अश्रु।

कुरुवंश के राजाओं के बाहुबल से सुरक्षित राज्य में, आज मैं पहली बार तुम्हें आँखों में आँसू भरे शोक करते हुए देख रहा हूँ। आज तक किसी ने पृथ्वीतल पर राजा की उपेक्षा के कारण आँसू नहीं बहाए।

तात्पर्य : मनुष्यों तथा पशुओं के प्राणों की रक्षा सरकार का सबसे पहला और महत्वपूर्ण कर्तव्य है। किसी भी सरकार को ऐसे नियमों में भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। इस कलियुग में किसी शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति के लिए राज्य द्वारा इस प्रकार की प्राणीओं की सुनियोजित कला देखना भयावह है। महाराज परीक्षित बैल की आँखों में अश्रु देखकर शोकाकुल हो रहे थे और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि उनके उत्तम शासन में ऐसी अभूतपूर्व घटना घट रही है। जहाँ तक जीवन का सम्बन्ध है, मनुष्य तथा पशु समान रूप से संरक्षित थे। यही ईश्वर के राज्य की रीति है।

मा सौरभेयात्र शुचो व्येतु ते वृषलाद् भयम् ।

मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; सौरभेय—हे सुरभि पुत्र; अत्र—मेरे राज्य में; शुचः—शोक; व्येतु—होने दो; ते—तुम्हारा; वृषलात्—शूद्र द्वारा; भयम्—भय का कारण; मा—मत; रोदी—रोओ; अम्ब—गो माता; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; खलानाम्—ईष्यालुओं का; मयि—मेरे रहते; शास्तरि—शासक या दमनकर्ता।

हे सुरभि-पुत्र, अब तुम और शोक न करो। तुम्हें इस अधम जाति के शूद्र से डरने की आवश्यकता नहीं है। तथा, हे गो-माता, जब तक मैं शासक या खलों के दमनकर्ता के रूप में हूँ, तब तक तुम्हें रोने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारा सभी तरह से कल्याण होगा।

तात्पर्य : बैलों, गायों तथा अन्य समस्त पशुओं की सुरक्षा तभी हो सकती है, जब राज्य का शासन महाराज परीक्षित जैसे शासक द्वारा चलाया जाये। महाराज परीक्षित ने गाय को माता कहकर इसीलिए सम्बोधित किया, क्योंकि वे सभ्य द्विज क्षत्रिय राजा थे। सुरभि उन गायों को कहते हैं, जो वैकुण्ठ ग्रहों में रहती हैं और जिन्हें भगवान् कृष्ण स्वयं चराते हैं। जिस प्रकार सारे मनुष्य भगवान् के रूप-आकार

के अनुसार बनाये गये, उसी तरह सारी गाएँ वैकुण्ठ की सुरभि गायों जैसी बनायी गई हैं। भौतिक जगत में मानव-समाज मनुष्य को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करता है, किन्तु सुरभि की उन सन्तानों को, जो चमत्कारिक-पेय अर्थात् दूध देकर मनुष्य को संरक्षण प्रदान करती हैं, उनको सुरक्षा प्रदान करनेवाला कोई कानून नहीं है। लेकिन महाराज परीक्षित तथा सारे पाण्डव गाय तथा बैल की महत्ता से पूर्ण रूप से अवगत थे और वे गो-हत्यारे को सभी प्रकार के दण्ड देने के लिए तैयार रहते थे, जिसमें मृत्यु-दण्ड भी सम्मिलित था। कभी-कभी गो-रक्षा के लिए आन्दोलन होते रहे हैं, किन्तु धर्मात्मा शासकों तथा पर्याप्त कानूनों के अभाव में, गाय तथा बैल को सुरक्षा प्रदान नहीं की जा सकी। मानव-समाज को चाहिए कि गाय तथा बैल की महत्ता को समझे और महाराज परीक्षित की भाँति, इन्हें सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे। गाय तथा ब्राह्मण-संस्कृति की रक्षा करने पर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होंगे और हमें वास्तविक शान्ति प्रदान करेंगे, क्योंकि वे गाय तथा ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त दयालु हैं (गो-ब्राह्मण-हिताय)।

यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः ।

तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः ॥ १० ॥

एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः ।

अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; राष्ट्रे—राज्य में; प्रजाः—जीव; सर्वाः—सारे; त्रस्यन्ते—भयभीत रहते हैं; साध्वि—हे साध्वी; असाधुभिः—दुष्टों के द्वारा; तस्य—उस; मत्तस्य—मोह-ग्रस्त का; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं; कीर्तिः—यश; आयुः—आयु, उम्र; भगः—सम्पत्ति, धन; गतिः—दूसरा जन्म; एषः—ये हैं; राज्ञाम्—राजाओं के; परः—श्रेष्ठ; धर्मः—वृत्ति, धर्म; हि—निश्चय ही; आर्तानाम्—कष्ट भोगनेवालों के; आर्ति—कष्ट; निग्रहः—दमन; अतः—अतएव; एनम्—इस आदमी को; वधिष्यामि—मैं मार डालूँगा; भूत-द्रुहम्—जीवों की हिंसा करनेवाला; असत्-तमम्—अत्यन्त दुष्ट।

हे साध्वी, यदि राजा के राज्य में भी सभी प्रकार के जीव त्रस्त रहें, तो राजा की ख्याति, उसकी आयु तथा उसका उत्तम पुनर्जन्म (परलोक) नष्ट हो जाते हैं। यह राजा का प्रधान कर्तव्य है कि जो पीड़ित हों, सर्वप्रथम उनके कष्टों का शमन किया जाय। अतएव मैं इस अत्यन्त दुष्ट व्यक्ति को अवश्य मारूँगा, क्योंकि यह अन्य जीवों के प्रति हिंसक है।

तात्पर्य : जब किसी गाँव या नगर में जंगली पशु उत्पात मचाते हैं, तो पुलिस या दूसरे लोग उन्हें मारने की कार्यवाही करते हैं। इसी तरह, सरकार का कर्तव्य है कि वह समस्त असामाजिक तत्वों को, यथा चोरों, डकैतों तथा हत्यारों को तुरन्त मार डाले। वही दंड पशु-बधिकों को भी दिया जाना चाहिए, क्योंकि पशु भी राज्य की प्रजा हैं। प्रजा का अर्थ है, जिसने राज्य में जन्म लिया हो वह, और इसमें मनुष्य तथा पशु दोनों सम्मिलित हैं। जो भी जीव राज्य में जन्म लेता है, उसका मूल अधिकार है कि वह राजा के संरक्षण में रहे। जंगल के पशु भी राजा की प्रजा हैं, अतएव उन्हें भी जीने का अधिकार है। तो भला गाय तथा बैल जैसे घरेलू पशुओं के विषय में क्या कहा जा सकता है।

यदि कोई जीव किसी अन्य जीव को डराता है, तो वह अत्यन्त दुष्ट है और राजा को चाहिए कि वह तुरन्त ऐसे उत्पाती का वध कर दे। जिस प्रकार उत्पात मचानेवाले जंगली पशु को मार दिया जाता है, उसी तरह जो व्यक्ति जंगली पशुओं या अन्य पशुओं को वृथा ही मारता या त्रस्त करता है, उसे तुरन्त दण्डित किया जाना चाहिए। ईश्वरी विधान के अनुसार सारे जीव, चाहे वे जिस स्वरूप के हों, भगवान् की संतान हैं और किसी को अन्य पशु को मारने का कोई अधिकार नहीं है, जब तक ईश्वरी विधि-संहिता उसकी आज्ञा न दे। बाघ अपने जीवन-निर्वाह के लिए छोटे-छोटे पशुओं को मार सकता है, किन्तु मनुष्य अपने निर्वाह के लिए किसी पशु को नहीं मार सकता। यह उस ईश्वर का विधान है, जिन्होंने यह नियम बनाया है कि एक पशु दूसरे को खाकर जीता है। इसी तरह शाकाहारी भी अन्य जीवों को खाकर जीवित रहते हैं। अतएव नियम यह है कि ईश्वरी-विधान में जो भी निश्चित है, उसी के अनुसार विशेष जीवों को खाकर ही जीव को जीवित रहना चाहिए। *ईशोपनिषद्* का निर्देश है कि मनुष्य को भगवान् के निर्देशानुसार रहना चाहिए, अपनी इच्छा के अनुसार नहीं। मनुष्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त तरह-तरह के अन्नों, फलों तथा दूध से जीवन-यापन कर सकता है और कुछ मामलों को छोड़कर, उसे पशु-मांस खाने की आवश्यकता नहीं है।

कभी-कभी दार्शनिक तथा विद्वान कहा जाने वाला मोह-ग्रस्त राजा या प्रशासक भी अपने राज्य में कसाईघर चलाने की अनुमति यह जाने बिना दे देता है कि पशुओं के उत्पीड़न से ऐसा मूर्ख राजा या प्रशासक नरक को जाता है। प्रशासक को अपनी प्रजा-जिसमें मनुष्य तथा पशु दोनों आते हैं, उनकी सुरक्षा के प्रति सतर्क रहना चाहिए और पूछ-ताछ करते रहना चाहिए कि कहीं पर कोई जीव किसी

अन्य जीव को सता तो नहीं रहा। सतानेवाले जीव को तुरन्त ही पकड़ कर, मार डालना चाहिए जैसाकि महाराज परीक्षित ने संकेत दिया।

जनता की सरकार को या जनता द्वारा चलाई जानेवाली सरकार को, मूर्ख सरकारी लोगों की इच्छानुसार, निर्दोष पशुओं के वध की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए। उन्हें शास्त्रोक्त ईश्वर की संहिता को जानना चाहिए। महाराज परीक्षित यहाँ उद्घरण देते हैं कि ईश्वर की संहिता के अनुसार, लापरवाह राजा या प्रशासक अपनी ख्याति, आयु, बल तथा अन्त में उन्नतिमय जीवन तथा मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त करने के अवसर को खतरे में डाल देता है। ऐसे मूर्ख लोग अगले जीवन के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं करते।

इस श्लोक की टीका करते समय, हमारे समक्ष एक महान् आधुनिक राजनेता का वक्तव्य है, जिसकी हाल ही में मृत्यु हुई और जो अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त कर गया है, जिससे महाराज परीक्षित द्वारा व्यक्त की गई ईश्वरी संहिता के विषय में उसका अज्ञान प्रकट होता है। यह राजनेता ईश्वरी संहिता से इतना अनजान था कि उसने लिखा है, “मैं ऐसे किन्हीं अनुष्ठानों में विश्वास नहीं करता और विधि के रूप में भी उनका पालन करना तो एक प्रकार का छलावा और अपने आपको तथा अन्यो को धोखा देना होगा...इस विषय में मेरी कोई धार्मिक भावना नहीं है।”

जब हम आधुनिक युग के महान् राजनेता के इस वक्तव्य एवं महाराज परीक्षित के वक्तव्य में अन्तर ढूँढते हैं, तो हमें जमीन-आसमान का अन्तर दिखता है। महाराज परीक्षित शास्त्रीय संहिता के अनुसार धर्मात्मा थे, जबकि आधुनिक राजनेता अपने निजी विश्वास तथा भावना के अनुसार चलता है। इस संसार का कोई भी महान् पुरुष आखिर बद्धजीव ही है। उसके हाथ-पैर भौतिक प्रकृति की रस्सी से बँधे हैं, फिर भी वह अपने मनमाने विचारों द्वारा कर्म करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज परीक्षित के काल में लोग सुखी थे और पशुओं को समुचित संरक्षण दिया जाता था, क्योंकि प्रशासक न तो मनमानी करता था, न ईश्वरी नियम से अनजान होता था। मूर्ख श्रद्धाविहीन प्राणी ही ईश्वर के अस्तित्व की उपेक्षा करने का प्रयत्न करते हैं और बहुमूल्य मानव-जीवन की बाजी लगाकर अपने आपको धर्म-निरपेक्ष होने का दावा करते रहते हैं। मानव-जीवन विशेष रूप से ईश्वर के विज्ञान को जानने के लिए मिलता है, लेकिन मूर्ख प्राणी, विशेषतया इस

कलियुग में, ईश्वर को यथार्थ रूप में जानने के बदले, धार्मिक विश्वास तथा ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रचार करते हैं, यद्यपि वे जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के लक्षणों द्वारा ईश्वरीय नियमों से जकड़े रहते हैं।

कोऽवृश्चत् तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद ।
मा भूवंस्त्वाटशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कः—वह कौन है; अवृश्चत्—काट लिया; तव—तुम्हारे; पादान्—पाँवों को; त्रीन्—तीन; सौरभेय—हे सुरभि पुत्र; चतुः-
पद—चौपाये हो; मा—कभी नहीं; भूवन्—ऐसा हुआ है; त्वाटशाः—जैसे कि तुम हो; राष्ट्रे—राज्य में; राज्ञाम्—राजाओं के;
कृष्ण-अनुवर्तिनाम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के आदेशों का पालन करने वाले।

उन्होंने (महाराज परीक्षित ने) बैल को बारम्बार सम्बोधित करते हुए इस तरह पूछा : हे सुरभि-पुत्र, तुम्हारे तीन पाँवों को किसने काट लिया है? उन राजाओं के राज्य में, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के नियमों के आज्ञाकारी हैं, तुम्हारे समान दुखी कोई नहीं है।

तात्पर्य : समस्त राज्यों के राजाओं या प्रशासकों को भगवान् कृष्ण की संहिताएँ (सामान्यतया भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत) जाननी चाहिए और उन्हीं के अनुसार मनुष्य को जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए, जिससे भौतिक जीवन के सारे कष्ट विनष्ट हो जाँय। जो मनुष्य भगवान् कृष्ण की संहिताओं को जानता है, उसे यह गति बिना कष्ट के मिल सकती है। भगवद्गीता में, संक्षेप में, हम ईश्वर की संहिताएँ समझ सकते हैं, और श्रीमद्भागवत में उनकी विस्तृत व्याख्या हुई है।

जिस राज्य में कृष्ण के आदेशों का पालन किया जाता है, वहाँ कोई दुखी नहीं रहता। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ प्रथम लक्षण यह है कि धर्म के प्रतिनिधि के तीन पाँव कट जाते हैं; फिर कष्टों की झड़ी लग जाती है। जब कृष्ण साक्षात् विद्यमान थे तो इन आदेशों का, निस्सन्देह, पालन होता था, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में ऐसे अन्धे लोगों के लिए, जो उच्चपद पर निहित हैं, श्रीमद्भागवत के पृष्ठों में उन्हें अंकित कर दिया गया है।

आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम् ।
आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आख्याहि—मुझसे कहो; वृष—हे बैल; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा; साधूनाम्—ईमानदारों का; अकृत-आगसाम्—अपराधहीनों का; आत्म-वैरूप्य—अपना रूप बिगाड़ना; कर्तारम्—कर्ता; पार्थानाम्—पृथा के पुत्रों का; कीर्ति-दूषणम्—यश को कलंकित करना।

हे वृषभ, तुम निरपराध हो और पूर्णतया ईमानदार हो, अतएव मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ। कृपया मुझे अंग-भंग करनेवाले दुष्ट के बारे में बताओ, जो पृथा के पुत्रों के यश को कलंकित कर रहा है।

तात्पर्य : महाराज रामचन्द्र तथा उनके पद-चिह्नों पर चलनेवाले राजा जैसे पाण्डवों तथा उनके वंशजों के यश को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उनके राज्य में निरपराध तथा ईमानदार जीव कभी कष्ट नहीं पाते थे। बैल तथा गाय अत्यन्त निरपराधी-जीवों के प्रतीक हैं, क्योंकि इनके मल तथा मूत्र को भी मानव-समाज उपयोग में लाता है। पृथा-पुत्रों के वंशज, यथा महाराज परीक्षित को भय था कि उनकी ख्याति विनष्ट होगी, किन्तु आजकल के नेता ऐसे निरपराध पशुओं का वध करने से भी डरते नहीं। यही वह अन्तर दिखता है, जो उन धर्मात्मा राजाओं के शासन में तथा ईश्वर के आदेशों के ज्ञान से शून्य गैर-जिम्मेदार शासकों द्वारा शासित आधुनिक राज्यों में होता है।

जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम् ।

साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

जने—जीवों में; अनागसि—निरपराध; अघम्—कष्ट; युञ्जन्—लगाकर; सर्वतः—सर्वत्र; अस्य—ऐसे अपराधियों का; च—तथा; मत्-भयम्—मेरा भय; साधूनाम्—ईमानदार व्यक्तियों का; भद्रम्—कल्याण; एव—निश्चय ही; स्यात्—होगा; असाधु—दुष्ट; दमने—दमन में; कृते—ऐसा किये जाने पर।

निरपराध जीवों को जो कोई भी कष्ट पहुँचाता है, उसे चाहिए कि विश्व में जहाँ कहीं भी हो, मुझसे डरे। दुष्टों का दमन करने से निरपराध व्यक्ति को स्वतः लाभ पहुँचता है।

तात्पर्य : बेईमान दुष्ट लोग राज्य के कायर तथा नपुंसक शासनाध्यक्षों के कारण फूलते-फलते हैं। किन्तु जब शासनाध्यक्ष, राज्य के किसी भी कोने के सभी प्रकार के बेईमान दुष्टों का दमन करने में समर्थ होते हैं, तो वे पनप नहीं पाते। जब दुष्टों को दृष्टान्त रूप से दण्डित किया जाता है, तो समस्त भद्रता स्वतः ही उसके पीछे पीछे आती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह राजा या प्रशासक का

मुख्य कर्तव्य है कि वह शान्त, निरपराध प्रजा को सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करे। भगवान् के भक्त स्वभाव से शान्त तथा निरपराध होते हैं, अतएव यह राज्य का मूल कर्तव्य है कि वह हर एक को भगवद्-भक्त बनने में सहायता करे। इस तरह स्वतः ही सारे नागरिक शान्त तथा निरपराध होंगे। तब राजा का एकमात्र कर्तव्य रह जायेगा बेईमान दुष्टों का दमन करना। इससे सारे मानव-समाज में शान्ति तथा एकता आयेगी।

अनागःस्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः ।

आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अनागःसु इह—निरपराध; भूतेषु—जीवों में; यः—जो व्यक्ति; आगः—कृत्—अपराध करता है; निरङ्कुशः—उच्छृङ्खल, उद्दंड; आहर्ता अस्मि—मैं काट लूँगा; भुजम्—बाँहें; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अमर्त्यस्य अपि—चाहे देवता क्यों न हो; स-अङ्गदम्—बाजू-बन्द तथा अन्य सजावट से युक्त।

जो उद्दंड व्यक्ति निरपराधियों को सता कर अपराध करता है, वह मेरे द्वारा उखाड़ फेंका जायेगा, चाहे वह बाजूबंद तथा अन्य अलंकारों से युक्त स्वर्ग का निवासी ही क्यों न हो।

तात्पर्य : स्वर्ग के निवासी अमर कहलाते हैं, क्योंकि उनकी आयु मनुष्यों की अपेक्षा काफी लम्बी होती है। मनुष्य के लिए, जिसकी आयु अधिक से अधिक सौ वर्ष होती है, लाखों वर्ष की आयु निश्चय ही अमर लगेगी। उदाहरणार्थ, भगवद्गीता से हमें पता चलता है कि ब्रह्मलोक का एक दिन ४३,००,००० × १,००० सौर वर्षों के तुल्य है। इसी प्रकार स्वर्ग के अन्य ग्रहों का एक दिन इस ग्रह के छह मास के तुल्य होता है और वहाँ के निवासियों की आयु वहाँ के एक करोड़ वर्ष की होती है। अतः स्वर्ग-लोकों में, चूँकि मनुष्य की अपेक्षा उन निवासियों की आयु काफी बड़ी होती है, अतएव कल्पना के आधार पर वहाँ के निवासी अमर कहलाते हैं, यद्यपि भौतिक ब्राह्माण्ड के भीतर अमर कोई भी नहीं है।

महाराज परीक्षित स्वर्ग के ऐसे निवासियों को भी ललकारते हैं, यदि वे निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य के शासनाध्यक्ष को महाराज परीक्षित के समान सशक्त होना चाहिए, जिससे वह सब से बलवान अपराधी को भी दंड दे सके। राज्य के शासनाध्यक्ष का यह सिद्धान्त होना चाहिए कि जो ईश्वर के आदेशों की अवमानना करने वाला अपराधी है, उसे सदैव दण्डित किया जाय।

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम् ।

शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

राज्ञः—राजा का; हि—निश्चय ही; परमः—परम; धर्मः—वृत्तिपरक कर्तव्य; स्व-धर्म-स्थ—अपने नियत कर्म के प्रति आज्ञाकारी; अनुपालनम्—सदैव शरण देनेवाला; शासतः—शासन चलाते हुए; अन्यान्—अन्यों को; यथा—जिस तरह; शास्त्रम्—शास्त्रों के अनुसार; अनापदि—बिना खतरे के; उत्पथान्—पथ-भ्रष्ट व्यक्ति; इह—एक प्रकार से।

शासक का यह परम धर्म है कि कानून-पालन करने वाले व्यक्तियों को सभी प्रकार से संरक्षण प्रदान करे और जो सामान्य दिनों में, जब आपात्काल नहीं रहता, शास्त्रों के अध्यादेशों से विपथ हो जाते हैं, उन्हें दण्ड दे।

तात्पर्य : शास्त्रों में आपद्-धर्म का उल्लेख है, जिसका अर्थ होता है असामान्य घटनाओं के समय का कर्तव्य। कहा जाता है कि किसी असामान्य भयावह परिस्थिति में ऋषि विश्वामित्र को कुत्ते का मांस खाना पड़ा था। आपात्काल में मनुष्य को किसी भी पशु का मांस खाने की छूट दी जा सकती है, लेकिन इसका अर्थ यह भी तो नहीं है कि मांस खानेवालों के लिए नियमित कसाईघर चलाया जाय और राज्य द्वारा इस प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाय। केवल स्वाद के लिए, सामान्य समय में, किसी को भी मांस खाकर जीवित रहने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करता है, तो राजा या प्रशासक को चाहिए कि इस अशिष्ट भोग के लिए उसे दण्डित करे।

विभिन्न कर्मों में रत, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए, शास्त्रों के नियत आदेश हैं और जो उनका पालन करता है, वह स्वधर्मस्थ अर्थात् अपने संस्तुत कर्तव्यों का पालन करने वाला कहलाता है। भगवद्गीता (१८.४८) में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि अपने नियत कर्मों (स्वधर्म) को न छोड़े, भले ही वे सर्वथा त्रुटिहीन न हों। ऐसे स्वधर्म का आपात्काल में उल्लंघन किया जा सकता है, यदि परिस्थितियाँ उसे विवश करें, लेकिन सामान्य दिनों में उसका उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। शासनाध्यक्ष को चाहिए कि वह देखे कि ऐसा स्वधर्म, चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, उसके पालन करने वालो द्वारा बदला न जाय और उसे चाहिए कि स्वधर्म पालक को सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करे। उल्लंघन करनेवाले को शास्त्रों के अनुसार दण्ड देना चाहिए और राजा का धर्म है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति शास्त्रों में नियत स्वधर्म का कड़ाई से पालन करता है।

धर्म उवाच

एतद् वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः ।

येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

धर्मः उवाच—मूर्तिमंत धर्म ने कहा; एतद्—ये सारे; वः—आपके द्वारा; पाण्डवेयानाम्—पांडववंशियों का; युक्तम्—के उपयुक्त; आर्त—कष्ट भोगने वाला; अभयम्—समस्त भय से मुक्ति; वचः—शब्द; येषाम्—उन; गुण-गणैः—योग्यताओं से; कृष्णः—कृष्ण ने भी; दौत्य-आदौ—दूत कर्म इत्यादि.; भगवान्—भगवान्; कृतः—सम्पन्न किया।

धर्म ने कहा : अभी आपने जो शब्द कहे हैं, वे पाण्डववंशीय व्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। पाण्डवों के भक्तिपूर्ण गुणों से मोहित होकर ही, भगवान् कृष्ण ने दूत का कर्तव्य निभाया।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित द्वारा जो आश्वासन तथा वचन दिये गये, वे उनकी वास्तविक शक्ति की अतिरंजना करनेवाले न थे। महाराज ने कहा था कि धर्म का उल्लंघन करनेवाले, यदि स्वर्ग के निवासी हों, तो भी वे उनके कठोर शासन से बच नहीं सकते। वे मिथ्या ही गर्वित नहीं थे, क्योंकि भगवद्भक्त भगवान् के ही समान और कभी-कभी उनकी कृपा से उनसे भी बढ़कर शक्तिशाली होता है और यदि भक्त कोई वचन देता है, तो भले ही सामान्य रूप से उसका पूरा होना कठिन लगे, लेकिन भगवान् की कृपा से वह ठीक से पूरा हो जाता है। पाण्डवों ने अपनी अनन्य भक्ति तथा भगवान् के प्रति पूर्ण शरणागति द्वारा भगवान् का सारथी बनना या कभी-कभी पत्रवाहक बनना सम्भव हो पाया। भक्तों के लिए भगवान् द्वारा किये गये ऐसे कार्य उन्हें अत्यन्त भाते हैं, क्योंकि भगवान् उन अनन्य भक्तों की सेवा करना चाहते हैं, जिनके पास भगवान् की प्रेम पूर्ण सेवा करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं होता। भगवान् के विख्यात सखा-सेवक अर्जुन के पौत्र, महाराज परीक्षित अपने पितामह की ही भाँति शुद्ध भक्त थे। अतएव भगवान् सदैव उनके साथ थे—यहाँ तक कि जब वे माता के गर्भ में थे और उन पर अश्वत्थामा के ज्वलन्त ब्रह्मास्त्र का प्रहार हुआ था, तब भी वे उनके साथ थे। भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहता है, अतएव महाराज परीक्षित द्वारा दिया गया संरक्षण का आश्वासन निरर्थक नहीं हो सकता था। धर्म ने इस तथ्य को स्वीकार किया और राजा को अपनी उच्च प्रतिष्ठा के अनुकूल आश्वासन देने के लिए धन्यवाद दिया।

न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ ।

पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—**नहीं**; वयम्—**हम**; क्लेश-बीजानि—**कष्टों के मूल कारण को**; यतः—**जहाँ से**; स्युः—**ऐसा होता है**; पुरुष-ऋषभ—**हे समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ**; पुरुषम्—**पुरुष को**; तम्—**उस**; विजानीमः—**जानो**; वाक्य-भेद—**मतभेद**; विमोहिताः—**मोहग्रस्त** ।

हे पुरुषश्रेष्ठ, यह निश्चित कर पाना अत्यन्त कठिन है कि किस दुष्ट ने हमें कष्ट पहुँचाया है, क्योंकि हम सैद्धान्तिक दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मतों से भ्रमित हैं ।

तात्पर्य : संसार में ऐसे अनेक सैद्धान्तिक दार्शनिक हैं, जो कार्य-कारण सम्बन्धी, विशेष रूप से कष्टों के कारण तथा जीवों पर उनके प्रभावों के विषय में, अपना-अपना मत रखते हैं । सामान्यतया छः महान् दार्शनिक हैं—वैशेषिक दर्शन के लेखक कणाद, तर्कशास्त्र के लेखक गौतम, योग के लेखक पतंजलि, सांख्य-दर्शन के लेखक कपिल, कर्म-मीमांसा के लेखक जैमिनि तथा वेदान्त-दर्शन के लेखक व्यासदेव ।

यद्यपि धर्म-रूप बैल तथा पृथ्वी-रूप गाय भलीभाँति जानते थे कि मूर्तिमंत कलि ही उनके क्लेशों का कारण है, फिर भी भगवद्भक्तों के रूप में, वे यह भी जानते थे कि भगवान् की अनुमति के बिना कोई उनको कष्ट नहीं पहुँचा सकता । *पद्मपुराण* के अनुसार, हमारे वर्तमान क्लेश पाप रूपी लता में फल लगने के कारण हैं, किन्तु शुद्ध भक्ति का आचरण करने से ये पाप के अंकुर भी धीरे-धीरे मुरझा जाते हैं । इस तरह उत्पात मचानेवालों को देखते हुए भी भक्त उन्हें कष्ट पहुँचाने का दोषी नहीं ठहराते । वे मान लेते हैं कि उत्पाती व्यक्ति किसी अप्रत्यक्ष कारण से ऐसा कर रहा है । अतएव वे कष्टों को ईश्वर द्वारा मात्र कम करके दिए गए समझकर सहन करते हैं, अन्यथा उनके क्लेश और भी भारी होते ।

महाराज परीक्षित चाहते थे कि प्रत्यक्ष उत्पीड़क के विरुद्ध आरोप प्राप्त हो ले, किन्तु उन्होंने उपर्युक्त आधार पर ऐसा करने से इनकार कर दिया । फिर भी मनोधर्मी दार्शनिक भगवान् की स्वीकृति को मान्यता नहीं देते; वे अपने खुद के ढंग से क्लेशों का कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं, जैसाकि अगले श्लोकों में बताया जाएगा । श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, ऐसे मनोधर्मी स्वयं भ्रमित रहते हैं, अतएव वे यह नहीं जान पाते कि समस्त कारणों के अन्तिम कारण परमेश्वर ही हैं ।

केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः ।

दैवमन्येऽपरे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

केचित्—उनमें से कोई; विकल्प-वसना:—सभी प्रकार के द्वैत से इनकार करनेवाले; आहुः—घोषित करते हैं; आत्मानम्—अपने आपको; आत्मनः—अपना; दैवम्—अतिमानव, दैवी; अन्ये—अन्य लोग; अपरे—और भी कोई; कर्म—कर्म; स्वभावम्—भौतिक प्रकृति; अपरे—अन्य कई; प्रभुम्—स्वामी ।

सभी प्रकार के द्वैत से इनकार करनेवाले कतिपय दार्शनिक यह घोषित करते हैं कि मनुष्य अपने सुख तथा दुख के लिए स्वयं ही उत्तरदायी हैं। अन्य लोग कहते हैं कि दैवी शक्तियाँ इसके लिए जिम्मेदार हैं, जबकि कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं कि इसके लिए कर्म जिम्मेदार है और जो निपट भौतिकतावादी हैं, वे मानते हैं कि प्रकृति ही इसका अन्तिम कारण है।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, जैमिनि तथा उनके अनुयायियों जैसे दार्शनिक स्थापित करते हैं कि सकाम कर्म ही सारे सुख तथा दुख का मूल कारण है और यदि कोई श्रेष्ठ अधिकारी, कोई अतिमानवीय शक्तिशाली भगवान् या देवता हैं, तो वे भी सकाम कर्म के प्रभाव के अधीन हैं, क्योंकि वे लोगों के कर्म के अनुसार ही फल देते हैं। उनका कहना है कि कर्म स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि कर्म किसी कर्ता द्वारा सम्पन्न होता है, अतएव कर्ता ही अपने सुख या दुख का कारण है। *भगवद्गीता* (६.५) में भी पुष्टि की गई है कि भौतिक राग से मुक्त मन के द्वारा मनुष्य संसार के कष्टों से अपना उद्धार कर सकता है। अतएव किसी को मन के भौतिक राग के कारण अपने आपको बन्धन में नहीं डालना चाहिए। इस तरह मनुष्य का मन ही उसके सुख तथा दुख में उसका मित्र या शत्रु है।

नास्तिक, भौतिकतावादी सांख्यवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भौतिक प्रकृति समस्त कारणों की कारण है। उनके मतानुसार, भौतिक तत्त्वों के संयोग ही भौतिक सुख-दुख के कारण हैं और पदार्थ का विघटन ही समस्त भौतिक तापों से मुक्त होने का कारण है। गौतम तथा कणाद परमाणुओं के संयोग को ही प्रत्येक वस्तु का कारण मानते हैं और अष्टावक्र जैसे निर्विशेषवादी यह पाते हैं कि ब्रह्म का आध्यात्मिक तेज ही समस्त कारणों का कारण है। किन्तु *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् घोषित करते हैं कि वे ही निराकार ब्रह्म के स्रोत हैं। अतएव वे अर्थात् भगवान् का व्यक्तित्व ही समस्त कारणों के परम कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् कृष्ण ही समस्त कारणों के अन्तिम कारण हैं।

अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः ।

अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अप्रतर्क्यात्—तर्कशक्ति से परे; अनिर्देश्यात्—चिन्तन-शक्ति से परे; इति—इस प्रकार; केषु—कोई; अपि—भी; निश्चयः—निश्चित रूप से; अत्र—यहाँ पर; अनुरूपम्—उनमें से सही, उचित; राज-ऋषे—हे राजर्षि; विमृश—अपने आप निर्णय लो; स्व—अपनी; मनीषया—बुद्धि की शक्ति द्वारा ।

कुछ ऐसे भी चिन्तक हैं, जिनका विश्वास है कि न तो तर्क द्वारा कष्ट का कारण निश्चित किया जा सकता है, न उसे कल्पना से जाना जा सकता है, न ही शब्दों द्वारा उसे व्यक्त किया जा सकता है। हे राजर्षि, आप अपनी बुद्धि से यह सब सोचकर अपने आप निर्णय करें।

तात्पर्य : वैष्णवमतावलम्बी अर्थात् भगवद्भक्तों का ऐसा विश्वास है, जैसाकि ऊपर कहा गया है, कि परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। वे ही परम निर्देशक हैं, क्योंकि वे भगवद्गीता (१५.१५) में पुष्टि करते हैं कि सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में वे सबों के हृदय में वास करते हैं और सारे कर्मों पर निगरानी रखते हैं तथा सारे कर्मों के साक्षी हैं। यहाँ पर नास्तिकों के इस तर्क का खण्डन होता है कि जब तक किसी न्यायाधीश के समक्ष किसी का दुष्कर्म सिद्ध न हो ले, तब तक उसे दण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि हम निरन्तर साथ रहने वाले साक्षी तथा जीव के नित्य संगी को स्वीकार करते हैं। जीव ने पूर्वजन्म में या इसी जीवन में शरीर रूपी जो कुछ किया हो, उसे वह भूल सकता है, लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि भौतिक शरीर रूपी एक ही वृक्ष में जीव तथा परमात्मा दो पक्षियों के रूप में, बैठे हुए हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव उस वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उसके कार्यकलापों का साक्षी बना हुआ है। अतएव परमात्मा ही जीव के सारे कार्यकलापों के साक्षी हैं और उनके निर्देशानुसार जीव स्मरण रख सकता है या भूल सकता है कि उसने पूर्वजन्म में क्या किया। अतएव वे सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म तथा प्रत्येक के हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वह समस्त भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, उनसे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता। भक्तगण इस सत्य को जानते हैं, अतएव वे फल की आकांक्षा न करके अपना कार्य निष्ठापूर्वक करते हैं। इसके अतिरिक्त, चिन्तन या पाण्डित्य के द्वारा भगवान् की प्रतिक्रियाओं का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। तो फिर वे क्यों कुछ को कष्ट में डालते हैं और कुछ को नहीं? वे

वैदिक ज्ञान के परम ज्ञाता हैं, और इस तरह वे वास्तविक वेदान्ती हैं। साथ ही, वे वेदान्त के संकलनकर्ता हैं। कोई भी उनसे स्वतंत्र नहीं है और हर कोई अलग-अलग ढंग से उनकी सेवा में लगा हुआ है। जीव को बद्ध अवस्था में ऐसी सेवाएँ प्रकृति की शक्ति के अधीन होकर करनी पड़ती हैं, जबकि मुक्त अवस्था में स्वेच्छा से भगवान् की सेवा के लिए आध्यात्मिक प्रकृति जीव की सहायता करती है। उनके कर्मों में किसी प्रकार असंगति या उन्माद नहीं होता। वे सब परम सत्य के पथ पर होते हैं। भीष्मेदव ने भगवान् के अचिन्त्य कर्मों का ठीक अनुमान लगाया था। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि महाराज परीक्षित के समक्ष, धर्म के प्रतिनिधि तथा पृथ्वी के प्रतिनिधि के सारे कष्टों को जानबूझ कर यह सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया था, क्योंकि वे भलीभाँति जानते थे कि आध्यात्मिक उन्नति के दो स्तम्भों—गाय (पृथ्वी) तथा ब्राह्मण (धर्म)—को किस तरह संरक्षण प्रदान करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पूरी तरह भगवान् के वश में है। वे जब किसी के द्वारा कोई काम कराना चाहते हैं, तो उनका कर्म सही होता है। इस प्रकार महाराज परीक्षित की महानता की परीक्षा ली गई। अब हमें देखना है कि वे अपने कुशाग्र मन से इसे कैसे हल करते हैं।

सूत उवाच

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राट् द्विजसत्तमाः ।

समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस तरह; धर्मे—साक्षात् धर्म; प्रवदति—इस तरह बोलकर; सः—वह; सम्राट्—राजा; द्विज-सत्तमाः—हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; समाहितेन—ध्यानपूर्वक; मनसा—मन से; विखेदः—किसी त्रुटि के बिना; पर्यचष्ट—प्रत्युत्तर दिया; तम्—उसको।

सूत गोस्वामी ने कहा : हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, धर्म को इस तरह बोलते सुनकर, सम्राट परीक्षित अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और बिना किसी त्रुटि या खेद के उन्होंने इस तरह उत्तर दिया।

तात्पर्य : धर्मरूप बैल का कथन दर्शन तथा ज्ञान से परिपूर्ण था और राजा इससे संतुष्ट हुआ, क्योंकि वह जान गया कि पीड़ित बैल कोई सामान्य जीव न था। जब तक कोई परमेश्वर के नियम से पूरी तरह अवगत न हो, तब तक वह ऐसी मार्मिक बातों का या दार्शनिक सत्य का भाषण नहीं कर

सकता। सम्राट भी समान रूप से कुशाग्र बुद्धिवाला था, अतएव उसने बिना किसी त्रुटि या संशय के उत्तर दिया।

राजोवाच

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।

यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; धर्मम्—धर्म; ब्रवीषि—जैसा तुम कहते हो; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों को जाननेवाले; धर्मः—साक्षात् धर्म; असि—तुम हो; वृष-रूप-धृक्—बैल के वेश में; यत्—जो भी; अधर्म-कृतः—अधर्म करता है; स्थानम्—स्थान; सूचकस्य—पहचान करनेवाले का; अपि—भी; तत्—वह; भवेत्—हो जाता है।

राजा ने कहा : अहो! तुम तो बैल के रूप में हो। तुम तो धर्म के सत्य को जानते हो और तुम सिद्धान्त के अनुसार बोल रहे हो कि अधार्मिक कर्मों के अपराधी के लिए वांछित गन्तव्य (गति) वही है, जो उस अपराधी की पहचान करनेवाले की है। तुम साक्षात् धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो।

तात्पर्य : भक्त का निष्कर्ष यही है कि भगवान् की इच्छा के बिना, कोई उपकारी बनने या हानि पहुँचाने वाला बनने के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होता। अतएव भक्त किसी को ऐसे कर्म के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं मानता, किन्तु वह दोनों ही किस्सों में यह मान लेता है कि हानि या लाभ ईश्वर प्रदत्त हैं और इस तरह यह उनकी कृपा है। लाभ के विषय में, इससे कोई इनकार नहीं करेगा कि वह ईश्वर प्रदत्त होता है, लेकिन हानि या पराजय के विषय में मनुष्य संशय करता है कि भला भगवान् अपने भक्त पर इतना निष्ठुर क्यों होंगे कि उसे विपत्ति में डाले? ईसा मसीह को जब अज्ञानी लोगों ने क्रूस पर चढ़ा दिया, तो वे महान् विपत्ति में पड़े प्रतीत होते थे, लेकिन वे अपराधकर्ता के ऊपर कभी क्रुद्ध नहीं हुए। अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु को स्वीकार करने की यही विधि है। इस तरह भक्त के लिए अपराधी की बुराई करनेवाला अपराधकर्ता के ही समान पापी है। भगवत्कृपा से भक्त सभी प्रकार की विपत्तियाँ सहता है। महाराज परीक्षित ने इसे देखा, इसीलिये वे समझ सके कि यह बैल और कोई न होकर, साक्षात् धर्म है। दूसरे शब्दों में, भक्त को किसी तरह का कष्ट नहीं होता, क्योंकि तथाकथित कष्ट भी भक्त के लिए भगवान् की कृपा है, क्योंकि भक्त भगवान् को हर वस्तु में

देखता है। गाय तथा बैल ने कभी राजा से यह शिकायत नहीं की कि वे कलियुग द्वारा सताये जा रहे हैं, यद्यपि राज्याधिकारियों के समक्ष सभी लोग ऐसी शिकायतें पेश करते हैं। बैल के असाधारण आचरण से ही राजा ने निष्कर्ष निकाला कि बैल साक्षात् धर्म था, क्योंकि धर्म की बारीकियों को अन्य कोई भी इस तरह नहीं समझ सकता।

अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा ।

चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अथवा—या कि; देव—भगवान्; मायायाः—शक्तियाँ; नूनम्—अत्यन्त न्यून; गतिः—चाल; अगोचरा—अचिन्त्य; चेतसः—या तो मन से; वचसः—वाणी से; च—अथवा; अपि—भी; भूतानाम्—सभी जीवों का; इति—इस प्रकार; निश्चयः—निष्कर्ष निकला।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। कोई न तो मानसिक चिन्तन द्वारा, न ही शब्द-चातुरी द्वारा उनका अनुमान लगा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि भक्त को कर्ता की पहचान करने से क्यों विरत होना चाहिए, जब वह यह निश्चित रूप से जानता है कि भगवान् ही सब वस्तुओं के कर्ता हैं। अन्तिम कर्ता को जानते हुए, मनुष्य को चाहिए कि वह वास्तविक सम्पन्नकर्ता से अनजान नहीं बना रहे। इस सन्देह का उत्तर यह है कि भगवान् भी प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं होते, क्योंकि उनके द्वारा नियुक्त मायाशक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। माया सदैव भगवान् की परम सत्ता के विषय में सन्देह उत्पन्न करती रहती है। धर्म यह अच्छी तरह जानता था कि परमेश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी सम्पन्न नहीं हो सकता, तो भी माया उसे संशय में डाल रही थी, जिससे वह परम कारण बताने से कतराता रहा। यह संशय, कलि तथा माया दोनों के कल्मष के कारण था। कलियुग का सारा वातावरण भ्रामक शक्ति के कारण विशाल रूप में दिखता है और इसकी माप अकथ्य है।

तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः ।

अधर्माशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तपः—तपस्या; शौचम्—पवित्रता; दया—दया; सत्यम्—सत्यता; इति—इस प्रकार; पादाः—पैर; कृते—सत्ययुग में; कृताः—स्थापित; अधर्म—अधर्म; अंशैः—अंशों द्वारा; त्रयः—तीनों मिलकर; भग्नाः—टूटे हुए; स्मय—अहंकार; सङ्ग—अत्यधिक स्त्री-प्रसंग; मदैः—नशे से; तव—तुम्हारा।

सत्ययुग में तुम्हारे चारों पैर तपस्या, पवित्रता, दया तथा सचाई के चार नियमों द्वारा स्थापित थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अहंकार, कामवासना तथा नशे के रूप में सर्वत्र व्याप्त अधर्म के कारण तुम्हारे तीन पाँव टूट चुके हैं।

तात्पर्य : भ्रामक शक्ति या भौतिक प्रकृति जीव पर उस अनुपात में अपना प्रभाव दिखाती है, जिस अनुपात में जीव माया के भ्रामक आकर्षण का शिकार होता है। पतिंगे प्रकाश की चमक से आकृष्ट होते हैं और इस तरह वे अग्नि के शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार, ठगिनी शक्ति माया सदैव बद्धजीवों को मोहित करके उन्हें मोह की अग्नि में झोंकती रहती है। वैदिक शास्त्र बद्धजीवों को आगाह करते हैं कि वे इस भ्रम के शिकार न बनें, अपितु इससे छुटकारा प्राप्त करें। वेद हमें आगाह करते हैं कि हम अज्ञान के अंधकार में न जाकर, प्रकाश के पथ पर अग्रसर हों। भगवान् स्वयं भी हमें आगाह करते हैं कि माया की ठगिनी शक्ति को जीतना अत्यन्त दुष्कर है, किन्तु पूरी तरह जो भगवान् की शरण में चला जाता है, वह सरलता से इसे जीत सकता है। लेकिन भगवान् के चरणकमलों के आश्रय में जाना आसान नहीं है। ऐसी शरण तो तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य से युक्त पुरुषों को ही मिल सकती है। उन्नत सभ्यता के ये चारों नियम सत्ययुग के उल्लेखनीय लक्षण थे। उस युग में, प्रत्येक मनुष्य एक तरह से उच्चकोटि का योग्य ब्राह्मण होता था और आश्रमों में सभी परमहंस, अर्थात् उच्चकोटि के संन्यासी होते थे। सांस्कृतिक आधार के कारण मनुष्यों को माया ठगती नहीं थी। ऐसे प्रबल चरित्रवान् व्यक्ति अपने को माया के पाश से दूर रखने में सक्षम थे। लेकिन धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों ब्राह्मण संस्कृति के मूल सिद्धान्तों—तपस्या, पवित्रता, दया तथा सत्य में अहंकार, कामवासना तथा नशे में आनुपातिक वृद्धि के कारण कटौती होती गई, त्यों-त्यों मोक्ष का मार्ग या तो दिव्य आनन्द का मार्ग मानव समाज से दूर और दूर होता चला गया। कलियुग की अवधि बढ़ते रहने से लोग अत्यन्त अहंकारी हो रहे हैं और वे स्त्रियों तथा नशे के प्रति आसक्त रहते हैं। कलियुग के प्रभाव से कंगाल को भी अपनी कौड़ी का अभिमान है; स्त्रियाँ पुरुषों के मन को हरने के लिए, एक से एक आकर्षक वस्त्र पहनती हैं और पुरुष को शराब पीने, धूम्रपान करने, चाय पीने तथा तम्बाखू चबाने की लत पड़ गई है। ये सारी आदतें, या सभ्यता की

तथाकथित प्रगति ही, सारे अधर्म की जड़ है और इसीलिए व्यभिचार, घूस तथा भाई-भतीजावाद व्याप्त हैं। मनुष्य इन बुराइयों को कानूनों तथा पुलिस द्वारा नहीं रोक सकता, लेकिन वह मन के रोग को सही दवा करके ठीक कर सकता है—यह दवा है, ब्राह्मण संस्कृति अर्थात् तप, पवित्रता, दया तथा सत्य के नियमों का पक्षधर बनना। आधुनिक सभ्यता तथा आर्थिक विकास से गरीबी तथा अभाव की नई स्थिति उत्पन्न हो रही है, जिससे उपभोक्ता वस्तुओं की कालाबाजारी की जा रही है। यदि समाज में नेता तथा धन-सम्पन्न व्यक्ति अपनी संचित सम्पत्ति का आधा भाग इन पथभ्रष्ट लोगों पर खर्च करें और उन्हें ईश्वर चेतना अर्थात् *भागवत्* का ज्ञान प्रदान करें, तो निश्चय ही कलियुग इन बद्धजीवों को अपने जाल में फँसाने में असफल होगा। हमें यह निरन्तर स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्या अहंकार, अपने जीवन मूल्यों के उच्च अनुमान, स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति या उनकी संगति तथा नशे से मानवीय सभ्यता शान्ति के मार्ग से विपथ हो जायेगी, चाहे लोग विश्वशान्ति के लिए कितना ही हल्लागुल्ला क्यों न करें। *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश सारे मनुष्यों को स्वतः संयमी, भीतर-बाहर से स्वच्छ, दुखियों के प्रति दयालु तथा दैनिक आचरण में सच्चा बनायेगा। मानव समाज की बुराइयाँ, जो आज के समय में स्पष्ट रूप से देखने में आती हैं, उन्हें ठीक करने का यही उपाय है।

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः ।

तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

इदानीम्—इस समय; धर्म—हे धर्मरूप; पादः—पाँव; ते—तुम्हारा; सत्यम्—सत्य; निर्वर्तयेत्—किसी तरह जीना; यतः—जिससे; तम्—उसको; जिघृक्षति—नष्ट करने का प्रयत्न करता है; अधर्मः—अधर्म रूप; अयम्—यह; अनृतेन—छल से, असत्य से; एधितः—बढ़ता हुआ; कलिः—साक्षात् कलि (कलह)।

अब तुम केवल एक पाँव पर खड़े हो, जो तुम्हारा सत्य है और तुम अब किसी न किसी तरह से जी रहे हो। किन्तु छल से फूलने-फलने वाला यह कलह-रूप कलि उस पाँव को भी नष्ट करना चाह रहा है।

तात्पर्य : धर्म के नियम किन्हीं रूढ़ियों या मानवकृत सूत्रों पर नहीं, अपितु चार मूल अनुष्ठानों पर टिके हुए हैं—ये हैं तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य। जन-साधारण को बचपन से ही इन सिद्धान्तों का अभ्यास करना सिखाना चाहिए। तपस्या का अर्थ है स्वेच्छा से ऐसी चीजें स्वीकार करना, जो भले ही

शरीर के लिए सुखकर न हों, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति के लिए लाभप्रद हों—यथा उपवास करना। मास में दो या चार बार उपवास करना एक प्रकार का तप है, जिसे केवल आध्यात्मिक अनुभूति के लिए करना चाहिए, किसी अन्य कार्य के लिए नहीं—न राजनीतिक, न अन्य कोई। *भगवद्गीता* (१७.५-६) में आत्म-साक्षात्कार के बजाय अन्य कार्य के लिए किये गये उपवास की भर्त्सना की गई है। इसी प्रकार मन तथा शरीर दोनों के लिए स्वच्छता आवश्यक है। केवल शरीर की स्वच्छता कुछ हद तक सहायक हो सकती है, लेकिन मन की स्वच्छता आवश्यक है और यह भगवान् के यशोगान् से प्राप्त की जाती है। कोई भी व्यक्ति मन के मैल को भगवान् का गुणगान किये बिना साफ नहीं कर सकता। ईश्वरविहीन सभ्यता मन को स्वच्छ नहीं कर सकती, क्योंकि इसे ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं होता और यही एक सादा कारण है कि ऐसी सभ्यता में लोगों में उत्तम गुण नहीं आते, भले ही वे भौतिक दृष्टि से पूर्णतया सुसज्ज हों। हमें वस्तुओं को उनसे परिणाम-स्वरूप कर्म से देखना है। कलियुग में असन्तोष ही मानवीय सभ्यता का परिणाम-स्वरूप कर्मफल है, अतएव सभी मन की शान्ति चाहते रहते हैं। यह मन की शान्ति सत्ययुग में पूर्ण थी, क्योंकि मनुष्यों में उपर्युक्त गुण पाये जाते थे। धीरे-धीरे ये गुण घटकर त्रेतायुग में तीन-चौथाई हो गये, द्वापर में वे आधे हुए और इस कलियुग में केवल एक चौथाई रह गये हैं और जिस तरह असत्य का बोलबाला है, उससे इसमें भी कमी आ रही है। अहंकार, चाहे कृत्रिम हो या वास्तविक, तपस्या से प्राप्त फल को विनष्ट करनेवाला है; स्त्री संसर्ग के प्रति अधिक राग होने से स्वच्छता नष्ट होती है और अत्यधिक लत या नशे से दया विनष्ट होती है और अत्यधिक झूठे विज्ञापन से सत्य नष्ट होता है। भागवत धर्म के पुनरुद्धार से ही मानव सभ्यता सभी प्रकार के दोषों से बच सकती है।

इयं च भूमिर्भगवता न्यासितोरुभरा सती ।

श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

इयम्—यह; च—तथा; भूमिः—पृथ्वी की सतह; भगवता—भगवान् द्वारा; न्यासित—स्वयं तथा अन्यो के द्वारा सम्पन्न; ऊरु—भारी; भरा—बोझ; सती—ऐसा करने पर; श्रीमद्भिः—सर्व कल्याणकारी द्वारा; तत्—वह; पद-न्यासैः—पदचिह्न द्वारा; सर्वतः—चारों ओर; कृत—किया गया; कौतुका—सौभाग्य।

निश्चय ही, पृथ्वी का बोझ भगवान् द्वारा तथा अन्यो द्वारा भी कम किया गया था। जब वे अवतार के रूप में विद्यमान थे, तो उनके शुभ पदचिह्नों द्वारा समस्त कल्याण सम्पन्न होता था।

शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिता सती ।

अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

शोचति—शोक करती है; अश्रु-कला—आँखों में अश्रु भर; साध्वी—सती; दुर्भगा—अत्यन्त अभागी; इव—सदृश; उज्झिता—त्यक्ता; सती—ऐसा किये जाने पर; अब्रह्मण्याः—ब्राह्मण संस्कृति से विहीन; नृप-व्याजाः—शासक के बहाने; शूद्राः—निम्नजाति; भोक्ष्यन्ति—भोग करेंगे; माम्—मुझको; इति—इस प्रकार।

अब यह सती दुर्भाग्यवश भगवान् द्वारा परित्यक्त होने के कारण, अपने नेत्रों में अश्रु भरकर अपने भविष्य (भाग्य) के लिए शोक कर रही है, क्योंकि अब वह शासक के जैसा स्वाँग करने वाले निम्न जाति के पुरुषों द्वारा शासित तथा भोग्य है।

तात्पर्य : क्षत्रिय अर्थात् पीड़ितों की रक्षा करने के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति राज्य के शासन के निमित्त होता है। अप्रशिक्षित अथवा पीड़ितों की रक्षा करने की इच्छा से रहित निम्न वर्ग के लोगों को प्रशासक के आसन पर नहीं बैठाया जा सकता। दुर्भाग्यवश कलियुग में निम्न वर्ग के लोग प्रशिक्षण के बिना ही जनमत (वोटों) के बल पर शासक का पद ग्रहण किये हुए हैं और ऐसे लोग पीड़ितों की रक्षा करने के बजाय ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं, जो सबों के लिए असह्य होती है। ऐसे लोग जनता के सारे सुखों की परवाह न करके अपनी ही तृप्ति करते हैं और इस तरह सती धरती माता अपने पुत्रों की—मनुष्य तथा पशुओं दोनों की—दयनीय दशा देखकर प्रलाप करती है। कलियुग में संसार का भविष्य ऐसा ही होगा और तब अधर्म का बोलबाला होगा। अधार्मिक प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए उपयुक्त राजा न होने पर लोगों को श्रीमद्भागवत की शिक्षाओं से विधिपूर्वक ज्ञात बनाकर अत्याचार, घूस, चोरबाजारी इत्यादि के मलिन वातावरण को निर्मल बनाया जा सकेगा।

इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः ।

निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; धर्मम्—धर्म को; महीम्—पृथ्वी को; च—भी; एव—जिस तरह; सान्त्वयित्वा—सान्त्वना देकर; महारथः—हजारों से अकेले लड़ने-वाला सेनापति, महारथी; निशातम्—तेज; आददे—ले लिया; खड्गम्—तलवार; कलये—कलि को मारने के लिए; अधर्म—अधर्म के; हेतवे—मूल कारण।

इस प्रकार, एक साथ हजार शत्रुओं से अकेले लड़ सकनेवाले महाराज परीक्षित ने धर्म तथा पृथ्वी को सान्त्वना दी। तब उन्होंने समस्त अधर्म के कारण साक्षात् कलि को मारने के लिए अपनी तेज तलवार निकाल ली।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, साक्षात् कलि वह है, जो जानबूझ कर शास्त्रों द्वारा वर्जित समस्त प्रकार के पापकर्मों को करता है। यह कलियुग निश्चित रूप से कलि के समस्त कार्यकलापों से भरा हुआ रहेगा, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज के सारे नेता, प्रशासक, विद्वान तथा बुद्धिमान व्यक्ति, या सबसे ऊपर भगवद्भक्त हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और कलियुग के सारे कार्यों के प्रति निश्चेष्ट हो जाँय। वर्षाऋतु में निश्चित रूप से प्रचुर वर्षा होती है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि लोग वर्षा से बचने के लिए साधन न अपनायें। राज्य के कार्यकारी अध्यक्षों का तथा अन्यो का कर्तव्य है कि वे कलि के कार्यकलापों के विरुद्ध या कलि द्वारा प्रभावित पुरुषों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करें। महाराज परीक्षित राज्य के आदर्श कार्यकारी अध्यक्ष हैं, क्योंकि वे अपनी तेज तलवार से कलि को मारने के लिए तुरन्त तैयार हो गये। प्रशासकों को चाहिए कि वे केवल भ्रष्टाचार-विरोधी प्रस्ताव पारित न करें, अपितु उन्हें चाहिए कि भ्रष्टाचार फैलानेवाले पुरुषों को प्रमाणित शास्त्रों की दृष्टि से पैनी तलवार लेकर मारने के लिए उद्यत रहें। शराब की दुकानों को अनुमति देकर प्रशासक लोग भ्रष्टाचारी गतिविधियों को नहीं रोक सकते। उन्हें चाहिए कि मादक औषधियों तथा शराब की सारी दुकानें अविलम्ब बन्द करा दें और जिन लोगों को नशे की लत हो, उन्हें मृत्यु-दण्ड तक देने से न हिचकें। कलि के कार्यकलापों को बन्द करने का यही उपाय है, जैसाकि यहाँ पर महारथी महाराज परीक्षित ने प्रदर्शित किया है।

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ।

तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; जिघांसुम्—मारने के लिए इच्छुक; अभिप्रेत्य—ठीक से जानते हुए; विहाय—छोड़कर; नृप-लाञ्छनम्—राजा के वेश को; तत्-पाद-मूलम्—उसके चरणों पर; शिरसा—सिर के बल; समगात्—पूर्ण रूप से शरणागत; भय-विह्वलः—भयभीत।

जब कलि ने समझ लिया कि राजा उसको मार डालना चाह रहा है, तो उसने तुरन्त राजा का वेश त्याग दिया और भयभीत होकर अपना सिर झुका कर पूर्णरूप से उनके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

तात्पर्य : कलि का राजवेश नकली था। राजा या क्षत्रिय के लिए राजवेश उपयुक्त होता है, किन्तु जब निम्नजाति का मनुष्य राजा का बनावटी वेश धारण कर लेता है, तो महाराज परीक्षित जैसे प्रामाणिक क्षत्रिय की ललकार से उसकी असली पहचान प्रकट हो जाती है। असली क्षत्रिय कभी आत्म-समर्पण नहीं करता। वह अपने प्रतिद्वंद्वी क्षत्रिय की ललकार को स्वीकार करता है और या तो मरते दम तक लड़ता है या जीतता है। सच्चा क्षत्रिय आत्म-समर्पण करना तो जानता ही नहीं। कलियुग में न जाने कितने ऐसे छद्मवेश धारण करनेवाले हैं, जो प्रशासकों का स्वाँग करते हैं, किन्तु उनका भेद तब खुल जाता है, जब असली क्षत्रिय उन्हें ललकारता है। अतएव जब छद्मवेशधारी कलि ने देखा कि महाराज परीक्षित से युद्ध करना उसके बूते के बाहर है, तो उसने अधीनस्थ के समान अपना सिर झुका दिया और अपना राजवेश उतार दिया।

पतितं पादयोर्वीरः कृपया दीनवत्सलः ।

शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतितम्—गिरा हुआ; पादयोः—पैरों पर; वीरः—वीर; कृपया—कृपावश; दीन-वत्सलः—दान के प्रति दयालु; शरण्यः—जो शरण स्वीकार करने में योग्य है, शरणागत का रक्षक; न—नहीं; अवधीत्—बध किया; श्लोक्यः—जो गायन किये जाने योग्य है; आह—कहा; च—भी; इदम्—यह; हसन्—मुसकाते हुए; इव—सदृश।

शरणागत के रक्षक तथा इतिहास में प्रशंसनीय महाराज परीक्षित ने उस दीन शरणागत तथा पतित कलि को मारा नहीं, अपितु वे दयापूर्वक हँसने लगे, क्योंकि वे दीनवत्सल जो हैं।

तात्पर्य : जब एक सामान्य क्षत्रिय भी शरणागत व्यक्ति को नहीं मारता, तो महाराज परीक्षित के लिए क्या कहा जाय, जो स्वभाव से दयालु तथा गरीबों पर सदय हैं। वे हँस रहे थे, क्योंकि

छद्मवेशधारी कलि ने निम्नजाति के व्यक्ति के रूप में अपनी पहचान प्रकट कर दी थी और वे सोच रहे थे कि यह कितनी विडम्बना है कि जिस पैनी तलवार से वे जिस किसी का वध कर देते थे, उससे यह दीन निम्न जातिवाला कलि सामयिक आत्मसमर्पण के कारण बचा जा रहा है। इसीलिए इतिहास में महाराज परीक्षित के यश तथा सदयता का गुणगान किया जाता है। वे सदय तथा कृपालु सम्राट थे और अपने शत्रु को भी शरण में लेनेवाले थे। इस तरह दैवी इच्छा से कलि बच गया।

राजोवाच

न ते गुडाकेशयशोधराणां

बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित् ।

न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन

क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; न—नहीं; ते—तुम्हारा; गुडाकेश—अर्जुन; यशः—धराणाम्—यश पाने वालों का; बद्ध-
अञ्जलेः—हाथ जोड़कर; वै—निश्चय ही; भयम्—भय; अस्ति—है; किञ्चित्—तनिक भी; न—न तो; वर्तितव्यम्—रहने के
लिए अनुमति दी जा सकती है; भवता—तुम्हारे द्वारा; कथञ्चन—सभी तरह से; क्षेत्रे—पृथ्वी पर; मदीये—मेरे राज्य में; त्वम्—
तुम; अधर्म-बन्धुः—अधर्म के मित्र।

राजा ने इस प्रकार कहा : हम अर्जुन के यश के उत्तराधिकारी हैं और चूँकि तुम हाथ जोड़कर मेरी शरण में आये हो, अतएव तुम्हें अपने प्राणों का भय नहीं होना चाहिए। लेकिन तुम मेरे राज्य में रह नहीं सकते, क्योंकि तुम अधर्म के मित्र हो।

तात्पर्य : सभी प्रकार के अधर्मों के मित्र कलि को क्षमा किया जा सकता है यदि वह आत्म-समर्पण करता है, लेकिन उसे किसी भी दशा में उसे कल्याण-राज्य के किसी भी कोने में नागरिक के रूप में रहने नहीं दिया जा सकता। पाँचों पाण्डव भगवान् कृष्ण के विश्वासपात्र प्रतिनिधि थे, जिनके कारण ही वास्तविक रूप से कुरुक्षेत्र का युद्ध अस्तित्व में आया, लेकिन यह उनके किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं था। वे चाहते थे कि संसार में महाराज युधिष्ठिर तथा उनके वंशज महाराज परीक्षित, जैसे आदर्श राजा राज्य करें, अतएव महाराज परीक्षित जैसे उत्तरदायी राजा, अपने राज्य में अधर्म के मित्र को पाण्डवों की कीर्ति का मूल्य चुकाकर, फूलने-फलने की अनुमति नहीं दे सकते थे। राज्य से

भ्रष्टाचार-उन्मूलन करने का यही एकमात्र उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। अधर्म के मित्रों को देश से निकाल दिया जाना चाहिए, इससे राज्य भ्रष्टाचार से बच सकेगा।

त्वां वर्तमानं नरदेवदेहे—

ष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः ।

लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो

ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; वर्तमानम्—उपस्थित; नर-देव—हे नर-देवता या राजा; देहेषु—की देह में; अनुप्रवृत्तः—सर्वत्र घटित होकर; अयम्—ये सारे; अधर्म—अधर्म; पूगः—जनमसूह में; लोभः—लोभ; अनृतम्—असत्य; चौर्यम्—डकैती; अनार्यम्—अशिष्टता; अंहः—विश्वासघात; ज्येष्ठा—दुर्भाग्य; च—तथा; माया—छल; कलहः—झगड़ा; च—तथा; दम्भः—घमंड।

यदि कलि रूपी अधर्म को नर-देवता अर्थात् किसी कार्यकारी प्रशासक के रूप में कर्म करने दिया जाता है, तो निश्चय ही लोभ, असत्य, डकैती, अशिष्टता, विश्वासघात, दुर्भाग्य, कपट, कलह तथा दम्भ जैसे अधर्म का बोलबाला हो जायेगा।

तात्पर्य : किसी भी मत के अनुयायीगण धर्म के सिद्धान्तों जैसे—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य का पालन कर सकते हैं, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। इसके लिए हिन्दू से मुसलमान या ईसाई या अन्य कोई मतावलम्बी बनने की आवश्यकता नहीं है, जिससे की स्वधर्मत्यागी बनकर धर्म के सिद्धान्तों का पालन न करना पड़े। भागवतधर्म, धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए कहता है। धर्म के सिद्धान्त न तो रूढ़ियाँ हैं, न ही किसी मत के नियामक सिद्धान्त हैं। ऐसे नियामक सिद्धान्त सम्बन्धित देश तथा काल के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। मनुष्य को इतना ही देखना है कि धर्म का उद्देश्य पूरा होता है या नहीं। वास्तविक सिद्धान्तों तक पहुँचे बिना रूढ़ियों तथा सूत्रों में चिपके रहना ठीक नहीं है। धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी भी विशेष मत के प्रति निष्पक्ष रह सकता है, किन्तु राज्य उपर्युक्त धर्म के सिद्धान्तों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। लेकिन कलियुग में राजसत्ता के कार्यकारी अध्यक्ष ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति उदासीन होंगे, अतएव उनके संरक्षण में धार्मिक सिद्धान्तों के विरोधी यथा लालच, असत्य, छल तथा चोरी स्वाभाविक रूप से पनपेंगे और ऐसे में राज्य में भ्रष्टाचार रोकने के लिए विज्ञापनबाजी के हो-हल्ले का कोई अर्थ नहीं होगा।

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो
 धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये ।
 ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै-
 र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वर्तितव्यम्—बने रहने के योग्य; तत्—अतएव; अधर्म—अधर्म; बन्धो—मित्र; धर्मेण—धर्म से; सत्येन—सत्य से;
 च—भी; वर्तितव्ये—स्थित होकर; ब्रह्मा-आवर्ते—वह स्थान जहाँ यज्ञ सम्पन्न हो; यत्र—जहाँ; यजन्ति—ठीक से करते हैं;
 यज्ञैः—यज्ञ या भक्ति से; यज्ञ-ईश्वरम्—भगवान् को; यज्ञ—यज्ञ; वितान—फैलते हुए; विज्ञाः—पटु लोग।

अतएव, हे अधर्म के मित्र, तुम ऐसे स्थान में रहने के योग्य नहीं हो जहाँ पर बड़े-बड़े पण्डित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सत्य तथा धार्मिक नियमों के अनुसार यज्ञ करते हैं।

तात्पर्य : यज्ञेश्वर या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त प्रकार के याज्ञिक अनुष्ठानों के भोक्ता हैं। ऐसे यज्ञ-अनुष्ठान विभिन्न युगों के लिए शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रूप से बताये गये हैं। दूसरे शब्दों में, यज्ञ का अर्थ है भगवान् की श्रेष्ठता का स्वीकार करना और इसके लिए ऐसे कर्म करना, जिनसे भगवान् सभी प्रकार से सन्तुष्ट हों। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और वे भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कोई यज्ञ नहीं करते। कोई भी स्थान या देश जहाँ भगवान् की श्रेष्ठता स्वीकार की जाय तथा यज्ञ सम्पन्न होता हो, वह ब्रह्मावर्त कहलाता है। विश्व के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न देश हैं और इनमें से प्रत्येक देश में परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ हो सकते हैं, लेकिन उन्हें प्रसन्न करने का मुख्य उद्देश्य भागवत में दिया गया है और यह है सत्य। धर्म का मूल सिद्धान्त सत्य है और सभी धर्मों का चरम लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। इस कलियुग में यज्ञ का सबसे महान् सामान्य सूत्र सङ्कीर्तन यज्ञ है। यह मत उन पण्डितों का है, जो यज्ञ विधि का प्रचार करना जानते हैं। भगवान् चैतन्य ने यज्ञ की इस विधि का प्रचार किया और इस श्लोक से यह जाना जा सकता है कि संकीर्तन यज्ञ को कहीं भी कलि को भगाने के लिए तथा मानव समाज को कलि के प्रभाव का शिकार बनने से बचाने के लिए सम्पन्न किया जा सकता है।

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान
 इज्यात्ममूर्तिर्यजतां शं तनोति ।
 कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-
 मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—ऐसे यज्ञोत्सवों में; हरिः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; इज्यमानः—पूजित होकर; इज्य-आत्म—समस्त पूज्य देवों के आत्मा; मूर्तिः—रूपों में; यजताम्—पूजा करनेवाले; शम्—कल्याण; तनोति—फैलाता है; कामान्—इच्छाएँ; अमोघान्—अचूक; स्थिर-जङ्गमानाम्—समस्त चरों तथा अचरों का; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; वायुः—वायु; इव—सदृश; एषः—सबों का; आत्मा—आत्मा ।

समस्त यज्ञोत्सवों में यद्यपि कभी-कभी कोई देवता की पूजा की जाती है, लेकिन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को इसलिए पूजा जाता है, क्योंकि वे प्रत्येक के अन्तरात्मा हैं और वायु के समान भीतर तथा बाहर विद्यमान रहते हैं। इस तरह केवल वे ही हैं, जो पूजा करने वाले का समग्र कल्याण करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी देखा जाता है कि इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवताओं की भी पूजा की जाती है और उन्हें यज्ञ-फल प्रदान किये जाते हैं; फिर भी ऐसे समस्त यज्ञों का फल पूजा करने वालों को परमेश्वर द्वारा ही प्रदान किया जाता है और केवल भगवान् ही पूजा करनेवाले का ऐसा कल्याण कर सकते हैं। यद्यपि देवताओं की पूजा की जाती है, किन्तु वे भगवान् की अनुमती के बिना कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान् चर तथा अचर सबों के परमात्मा हैं।

भगवद्गीता (९.२३) में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि इस प्रकार की है :

येऽप्यन्य देवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

“हे कुन्ती पुत्र, मनुष्य अन्य देवों को जो भी अर्पित करता है, वह वास्तव में मेरे निमित्त ही होता है, किन्तु यह यथार्थ को समझे बिना अर्पित किया जाता है।”

तथ्य यह है कि परमेश्वर अद्वितीय हैं। भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है। इस प्रकार भगवान् इस भौतिक सृष्टि से सदैव परे रहते हैं। लेकिन ऐसे बहुत से लोग हैं, जो सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र जैसे देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु ये तो परमेश्वर के भौतिक प्रतिनिधि मात्र हैं। ये तो परमेश्वर का अप्रत्यक्ष गुणात्मक प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु एक विद्वान या भक्त जानता है कि कौन क्या है।

अतएव वह सीधे परमेश्वर की पूजा करता है और गुणात्मक भौतिक प्रतिनिधियों के कारण इधर-उधर चित्त नहीं भटकने देता। जो इतने बुद्धिमान नहीं हैं, वे इन गुणात्मक भौतिक प्रतिनिधियों को पूजते हैं, लेकिन उनकी पूजा अनियमित होने के कारण नियम के विपरीत है।

सूत उवाच

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।

तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; परीक्षिता—महाराज परीक्षित द्वारा; एवम्—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिये जाने पर; सः—वह; कलिः—साक्षात् कलि; जात—हुआ; वेपथुः—कम्पन; तम्—उसको; उद्यत—उठी हुई; असिम्—तलवार; आह—कहा; इदम्—यह; दण्ड-पाणिम्—यमराज, मृत्युरूप को; इव—सदृश; उद्यतम्—प्रायः तैयार।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार महाराज परीक्षित द्वारा आदेश दिये जाने पर कलि भय के मारे थरथराने लगा। राजा को अपने समक्ष यमराज के समान मारने के लिए उद्यत देखकर कलि ने राजा से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : राजा कलि को तुरन्त मारने के लिए तैयार थे, यदि वह उनकी आज्ञा का पालन न करता; अन्यथा राजा को उसको जीवन दान देने में कोई आपत्ति न थी। कलि ने भी, विभिन्न प्रकार से दण्ड से बचने का उपाय लगाकर, अन्त में निश्चय किया कि अब वह राजा की शरण में जाय, अतः वह जीवन के भय से काँपने लगा। राजा या शासक को इतना प्रबल होना चाहिए कि वह कलि जैसे व्यक्ति के समक्ष काल पुरुष यमराज की भाँति खड़ा रह सके। राजा के आदेश का पालन होना चाहिए, अन्यथा अपराधी का जीवन संकट में रहता है। इसी विधि से राज्य के नागरिकों के सामान्य जीवन में उत्पात करनेवाले कलि पुरुषों के ऊपर शासन जमाया जाता है।

कलिरुवाच

यत्र क्व वाथ वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया ।

लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कलि: उवाच—कलि ने कहा; यत्र—जहाँ कहीं; क—तथा कहीं भी; वा—अथवा; अथ—फलस्वरूप; वत्स्यामि—वास करूँगा; सार्व-भौम—हे पृथ्वी के स्वामी (सम्राट); तव—तुम्हारे; आज्ञया—आदेश से; लक्षये—देखता हूँ; तत्र तत्र—वहाँ-वहाँ; अपि—भी; त्वाम्—आपको; आत्त—लिये; इषु—बाण; शरासनम्—धनुष।

हे राजा, मैं आपकी आज्ञा से चाहे जहाँ कहीं भी रहूँ और जहाँ कहीं भी देखूँ, वहाँ केवल आपको ही धनुष-बाण लिए देखूँगा।

तात्पर्य : कलि देख रहा था कि महाराज परीक्षित सारे विश्व के सम्राट थे, अतएव वह चाहे जहाँ कहीं भी रहेगा, उसे राजा उसी मुद्रा में दिखेंगे। कलि उपद्रव के निमित्त था और महाराज परीक्षित कलि जैसे उपद्रवकारियों के दमन हेतु थे। अतएव कलि के लिए तो यही श्रेयस्कर था कि राजा उसे अन्यत्र न मारकर वहीं मार डालते। अब तो वह राजा के समक्ष शरणागत के रूप में था और अब जो कुछ करना था, वह राजा के हाथों में था।

तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।

यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मेरा; धर्म-भृताम्—धर्म के समस्त रक्षकों में से; श्रेष्ठ—हे प्रमुख; स्थानम्—स्थान; निर्देष्टुम्—निश्चित करने के लिए; अर्हसि—आप समर्थ हैं; यत्र—जहाँ; एव—निश्चय ही; नियतः—सदैव; वत्स्ये—रह सकूँ; आतिष्ठन्—स्थायी रूप से स्थित; ते—आपका; अनुशासनम्—आपके शासन में।

अतएव हे धर्मरक्षकों में श्रेष्ठ, कृपा करके मेरे लिए कोई स्थान निश्चित कर दें, जहाँ मैं आपके शासन के संरक्षण में स्थायी रूप से रह सकूँ।

तात्पर्य : कलि ने महाराज परीक्षित को धर्मरक्षकों में श्रेष्ठ कहकर सम्बोधित किया, क्योंकि राजा उस व्यक्ति को मारने से रुक गये, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली थी। किसी शरणागत जीव को समस्त सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए, भले ही वह शत्रु क्यों न हो। यही धर्म का नियम है। अतएव हम कल्पना कर सकते हैं कि भगवान् अपने शरणागत व्यक्ति को किस तरह का संरक्षण प्रदान करते होंगे, जो उनकी शरण में शत्रुरूप में नहीं, बल्कि सेवक के रूप में आया हो। भगवान् शरणागत की समस्त पापों तथा पापकर्मों के फलों से रक्षा करते हैं। (भगवद्गीता १८.६६)

सूत उवाच

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।

द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; अभ्यर्थितः—इस प्रकार से निवेदित; तदा—उस समय; तस्मै—उसको; स्थानानि—स्थानों को; कलये—कलि को; ददौ—अनुमति प्रदान की; द्यूतम्—जुआ खेलना; पानम्—मद्यपान; स्त्रियः—स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध; सूना—पशु बध; यत्र—जहाँ भी; अधर्मः—पाप कर्म; चतुः-विधः—चार प्रकार के।

सूत गोस्वामी ने कहा : कलियुग द्वारा इस प्रकार याचना किये जाने पर महाराज परीक्षित ने उसे ऐसे स्थानों में रहने की अनुमति दे दी, जहाँ जुआ खेलना, शराब पीना, वेश्यावृत्ति तथा पशु-वध होते हों।

तात्पर्य : अधर्म के मूल लक्षण यथा अहंकार, वेश्यावृत्ति, मादक द्रव्य-सेवन तथा असत्य भाषण धर्म के चार सिद्धान्तों—तपस्या, स्वच्छता, दया तथा सत्य—के विपरीतार्थी हैं। कलि को जिन चार स्थानों में रहने के लिए राजा ने विशेष रूप से अनुमति दी, वे हैं—द्यूतक्रीड़ा का स्थान, वेश्यालय, मदिरालय तथा कसाईघर।

श्रील जीव गोस्वामी निर्देश देते हैं कि शास्त्रों के सिद्धान्तों विरुद्ध मद्यपान यथा *सौत्रामणी यज्ञ*, बिना विवाह के स्त्रियों की संगति तथा शास्त्रों के आदेश के विरुद्ध पशुवध, ये अधार्मिक कृत्य हैं। वेदों में, *प्रवृत्तों* अर्थात् जो भौतिक भोग में लगे हैं तथा *निवृत्तों* अर्थात् जो भवबन्धन से मुक्त हैं उनके लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के आदेश हैं। *प्रवृत्तों* के लिए वैदिक आदेश यह है कि वे धीरे-धीरे अपने कर्मों को मोक्षमार्ग की ओर नियमित करें। अतएव जो लोग निपट अज्ञानी हैं और सुरा, सुन्दरी तथा मांस के आदी हैं, उन्हें *सौत्रामणी यज्ञ* करके सुरापान करने, विवाह करके स्त्री का संसर्ग करने तथा यज्ञों द्वारा मांस खाने की कभी कभी अनुमति प्रदान की जाती है। वैदिक साहित्य की ऐसी संस्तुतियाँ एक वर्ग विशेष के लिए हैं, सर्वसाधारण के लिए नहीं। लेकिन चूँकि ये विशिष्ट व्यक्तियों के लिए वैदिक आदेश हैं, अतएव *प्रवृत्तों* द्वारा किये जानेवाले ऐसे कार्य अधर्म नहीं माने जाते। किसी एक का भोजन दूसरे के लिए विष हो सकता है, इसी तरह जो तमोगुणियों के लिए संस्तुत है, सतोगुणियों के लिए विष बन सकता है। अतएव श्रील जीव गोस्वामी प्रभु पुष्टि करते हैं कि किसी वर्ग विशेष के लोगों के लिए शास्त्रों की संस्तुतियों को कभी अधर्म नहीं मानना चाहिए। लेकिन वस्तुतः ऐसे कार्य अधर्म हैं और

उन्हें कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। शास्त्रों की संस्तुतियाँ ऐसे अधर्म को बढ़ावा देने के लिए नहीं हैं, अपितु क्रमशः अधर्म को धर्म के पथ की ओर अग्रसर कराने के निमित्त हैं।

महाराज परीक्षित के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए, राज्यों के समस्त कार्यकारी प्रमुखों का यह कर्तव्य है कि वे अपने राज्यों में धर्म के सिद्धान्तों—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य—की स्थापना करें और सभी प्रकार से अधर्म को—अहंकार, अवैध स्त्री-संसर्ग या वेश्यावृत्ति, मादक द्रव्य सेवन तथा असत्य को—रोकें। और अच्छा तो यही होगा कि कलि को द्यूत, सुरापान, वेश्यावृत्ति तथा पशु वध होनेवाले स्थानों में भेज दिया जाय, यदि ऐसे स्थान विद्यमान हों। जो लोग इन अधार्मिक आदतों से ग्रस्त हैं, उन्हें शास्त्रों के आदेशों से सुपथ पर लाया जाय। किसी भी परिस्थिति में उन्हें किसी भी राजसत्ता से प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राज्यसत्ता को द्यूतक्रीड़ा, सुरापान, वेश्यावृत्ति तथा असत्य को पूर्णरूपेण बंद करा देना चाहिए। जो राज्य बहुमत द्वारा भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना चाहता है, उसे निम्नलिखित विधि से धर्म का प्रवर्तन करना चाहिए—

१. एक मास में यदि अधिक नहीं, तो कम से कम दो दिन अनिवार्य उपवास (तपस्या)। आर्थिक दृष्टि से भी, ऐसे दो दिन के उपवास से राज्य में लाखों टन खाद्यान्न की बचत होगी और इससे नागरिकों के स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

२. तरुण बालकों तथा बालिकाओं की आयु जब क्रमशः चौबीस वर्ष तथा सोलह वर्ष की हो जाय, उनका अनिवार्यतः विवाह होना चाहिए। यदि लड़कों तथा लड़कियों का वैध विवाह हो चुका हो, तो स्कूलों तथा कालेजों में सह-शिक्षा देने में कोई हानि नहीं है। यदि लड़कों तथा लड़कियों में घनिष्ठता हो भी जाय, तो अवैध सम्बन्ध होने के पूर्व उनका समुचित रीति से विवाह कर दिया जाय। तलाक ऐक्ट से वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, अतएव इसको मिटा दिया जाय।

३. राज्य के नागरिक राज्य में या समाज में आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए अपनी-अपनी आय का पचास प्रतिशत तक दान में दें। वे *भागवत* के सिद्धान्तों का उपदेश (१) *कर्मयोग* द्वारा अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ही प्रत्येक काम करके, (२) प्रामाणिक पुरुषों या मुक्तात्माओं से *श्रीमद्भागवत* का नियमित श्रवण करके, (३) घर पर या पूजा स्थलों पर सामूहिक रूप से भगवान् की महिमा का कीर्तन करके, (४) *श्रीमद्भागवत* के उपदेश में लगे *भागवतों* की सभी प्रकार से सेवा

करके, तथा (५) ईश्वर चेतना से पूरित वातावरण वाले स्थान में रहकर करें। यदि राज्य उपर्युक्त विधि से संचालित हो, तो सहज ही सर्वत्र ईश्वर-चेतना होगी।

सभी प्रकार का जुआ (द्यूत), यहाँ तक कि सट्टेबाजी भी, पतन की ओर ले जानेवाली है और जब राज्य में जुआ खेलने को प्रोत्साहन मिलता है, तो सत्य का सर्वथा लोप हो जाता है। उपर्युक्त आयु से अधिक काल तक, तरुणों तथा तरुणियों को अविवाहित रहने की अनुमति तथा सभी तरह के कसाईघरों को लाइसेंस का, निषेध होना चाहिए। मांसाहारियों को शास्त्रानुमोदित विधि से मांस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा नहीं। सभी प्रकार का नशा, यहाँ तक कि सिगरेट पीना, तम्बाकू चबाना तथा चाय पीना भी, निषिद्ध होना चाहिए।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।

ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—भी; याचमानाय—भिक्षुक को; जात-रूपम्—सोना; अदात्—दिया; प्रभुः—राजा ने; ततः—जिससे; अनृतम्—असत्य; मदम्—नशा; कामम्—विषयवासना; रजः—रजोगुण के कारण; वैरम्—शत्रुता; च—तथा; पञ्चमम्—पाँचवाँ।

कलि ने जब कुछ और याचना की, तो राजा ने उसे उस स्थान में रहने की अनुमति प्रदान की जहाँ सोना उपलब्ध हो, क्योंकि जहाँ-जहाँ स्वर्ण होता है, वहीं-वहीं असत्य, मद, काम, ईर्ष्या तथा वैमनस्य रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि को रहने के लिए चार स्थानों में रहने की अनुमति दे दी, किन्तु उनके राज्य में ऐसे स्थानों को ढूँढ़ पाना कठिन था, क्योंकि महाराज परीक्षित के शासनकाल में ऐसे स्थान कहीं भी न थे। अतएव कलि ने राजा से कुछ ऐसा देने के लिए याचना की जो व्यावहारिक हो और उसके कपट-कार्यों के काम आ सके। इस प्रकार महाराज परीक्षित ने उसे उस स्थान में रहने की अनुमति दे दी, जहाँ सोना रहता है, क्योंकि जहाँ सोना होता है, वहाँ उपर्युक्त चारों वस्तुएँ तो पाई ही जाती हैं; उनके अतिरिक्त वैर (वैमनस्य) भी रहता है। इस तरह कलि स्वर्ण-मानकीकृत हो गया। श्रीमद्भागवत के अनुसार सोना असत्य भाषण, मादक द्रव्य सेवन, वेश्यावृत्ति, ईर्ष्या तथा शत्रुता को प्रोत्साहन देता है। यहाँ तक कि स्वर्ण-मानक विनिमय तथा मुद्रा भी बुरे होते हैं।

स्वर्ण-मानक मुद्रा भी असत्य पर आधारित है, क्योंकि मुद्रा सुरक्षित सोने के समकक्ष नहीं होती। इसका मूल सिद्धान्त झूठा है, क्योंकि मुद्रा नोटों को वास्तविक सुरक्षित स्वर्ण से अधिक मात्रा में जारी किया जाता है। अधिकारियों की इस कृत्रिम मुद्रा-स्फीति से राज्य की अर्थ-व्यवस्था का दुरुपयोग होता है। बुरे धन या कृत्रिम मुद्रानोटों के कारण वस्तुओं के दाम कृत्रिम रूप से बढ़ जाते हैं। बुरा धन अच्छे धन को बाहर निकाल फेंकता है। अतएव कागजमुद्रा के स्थान पर, असली सोने के सिक्के विनिमय हेतु, प्रयुक्त होने चाहिए। इससे सोने का दुरुपयोग बन्द हो जाएगा। स्त्रियों के स्वर्णाभूषण गुण के अनुसार नहीं, अपितु भार के अनुसार, कण्ट्रोल पर बेचे जाँय। इससे काम, ईर्ष्या तथा शत्रुता को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। जब सिक्कों के रूप में वास्तविक स्वर्णमुद्रा होगी तो असत्य, वेश्यावृत्ति इत्यादि को जन्म देने में सोने का प्रभाव स्वतः रुक जाएगा। फिर भ्रष्टाचार विरोधी मंत्रालय की जरूरत नहीं रह जाएगी, जो वेश्यावृत्ति तथा असत्य का ही दूसरा नाम है।

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः ।

औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अमूनि—ये सब; पञ्च—पाँच; स्थानानि—स्थान; हि—निश्चय ही; अधर्म—अधर्म को; प्रभवः—प्रोत्साहन देनेवाले; कलिः—कलियुग; औत्तरेयेण—उत्तरा के पुत्र द्वारा; दत्तानि—दिये गये; न्यवसत्—रहने लगा; तत्—उसके द्वारा; निदेश-कृत्—आदेश पाकर।

इस प्रकार उत्तरा के पुत्र, महाराज परीक्षित के निर्देश से कलि को उन पाँच स्थानों में रहने की अनुमति मिल गई।

तात्पर्य : इस प्रकार कलियुग का समारम्भ स्वर्ण के मानकीकरण से हुआ, अतएव विश्वभर में असत्य, नशा, पशुवध तथा वेश्यावृत्ति का बोलबाला है और बुद्धिमान लोग भ्रष्टाचार को भगाने के लिए इच्छुक हैं। ऊपर, इनसे बचाव की विधि बताई गई है और हर एक व्यक्ति इस सुझाव से लाभ उठा सकता है।

अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित् ।

विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; एतानि—इन सबों को; न—कभी नहीं; सेवेत—सम्पर्क में आए; बुभूषुः—भलाई चाहनेवाले; पुरुषः—पुरुष; क्वचित्—किसी भी दशा में; विशेषतः—विशेष रूप से; धर्म-शीलः—मुक्ति पथ पर अग्रसर होनेवाले; राजा—राजा; लोक-पतिः—जननेता; गुरुः—ब्राह्मण तथा संन्यासी-गण।

अतएव जो कोई भी, विशेष रूप से जो राजा, धर्मोपदेशक, जननेता, ब्राह्मण तथा संन्यासी जो अपनी भलाई चाहते हैं, उन्हें उपर्युक्त चार अधार्मिक कार्यों के सम्पर्क में कभी नहीं आना चाहिए।

तात्पर्य : ब्राह्मण अन्य सभी वर्णों के धर्मोपदेशक होते हैं और संन्यासी सभी वर्णों तथा आश्रमों के गुरु होते हैं। उसी प्रकार राजा तथा जननेता भी समस्त लोगों के भौतिक कल्याण के लिए उत्तरदायी होते हैं। अतएव उन्नति के इच्छुक धर्मवेत्ता तथा उत्तरदायी लोगों को अथवा उन्हें जो अपना अमूल्य मनुष्य जीवन बर्बाद नहीं करना चाहते, अधर्म के सिद्धान्तों से, विशेष रूप से स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध से बचना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण सत्यवादी नहीं है, तो ब्राह्मण होने के उसके सारे अधिकार तत्काल व्यर्थ एवं निर्मूल हो जाते हैं। यदि संन्यासी का किसी स्त्री से अवैध सम्बन्ध हो जाता है, तो तभी से उसका संन्यासी कहलाने का अधिकार झूठा हो जाता है। इसी प्रकार यदि राजा तथा जननेता अनावश्यक रूप से अहंकारी है या उसे मद्यपान तथा धूम्रपान की लत है, तो वह लोक-कल्याण के कार्य करने के लिए अयोग्य ठहरता है। सत्य (सचाई) सभी धर्मों का मूल सिद्धान्त है। मानव समाज के चार प्रकार के अग्रणी अर्थात् संन्यासी, ब्राह्मण, राजा तथा जननेता की परीक्षा उनके चरित्र तथा गुणों के आधार पर की जानी चाहिए। किसी को गुरु या समाज का स्वामी स्वीकार करने के पूर्व, उसे चरित्र की उपर्युक्त कसौटियों में परखना चाहिए। ऐसे जननेता भले ही शैक्षिक योग्यता में कम हों, लेकिन उन्हें चार अयोग्यताओं, अर्थात् जुआ, मद, वेश्यावृत्ति तथा पशुवध के दूषणों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति ।

प्रतिसन्दध आश्वास्य महीं च समवर्धयत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

वृषस्य—(धर्मरूप) बैल का; नष्टान्—विनष्ट; त्रीन्—तीन; पादान्—पाँवों को; तपः—तपस्या; शौचम्—स्वच्छता; दयाम्—दया; इति—इस प्रकार; प्रतिसन्दधे—पुनः स्थापित किया; आश्रास्य—आश्रासन देकर; महीम्—पृथ्वी को; च—तथा; समवर्धयत्—सुधार किया।

तत्पश्चात् राजा ने धर्म-रूप बैल के विनष्ट पैरों को पुनःस्थापित किया और आश्रासन देनेवाले कार्यों से पृथ्वी की दशा में काफी सुधार किये।

तात्पर्य : कलि के लिए विशेष स्थान नियत करके, महाराज परीक्षित ने उसे एक तरह से छला। कलि, धर्मरूप बैल तथा गायरूप पृथ्वी की उपस्थिति में, वे अपने राज्य की सामान्य स्थिति का आकलन कर सके। अतएव उन्होंने बैल के तीन पाँवों को पुनः स्थापित करने की तुरन्त व्यवस्था की। ये पाँव थे—तप, स्वच्छता तथा दया। और विश्वभर के लोगों के सामान्य लाभ के लिए उन्होंने स्वर्ण-भण्डार को समाज में स्थायित्व लाने के लिए प्रयुक्त किया। सोना निश्चित रूप से असत्य, मद, वेश्यावृत्ति, शत्रुता तथा हिंसा को जन्म देने वाला है, किन्तु सुयोग्य राजा या जननेता अथवा ब्राह्मण या संन्यासी के मार्गदर्शन में वही सोना धर्मरूप बैल के लुप्त पाँवों को फिर से स्थापित करने में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अतएव महाराज परीक्षित ने अपने पितामह अर्जुन की भाँति, कलि की तुष्टि के लिए रखे सारे अवैध सोने को एकत्र किया और श्रीमद्भागवत के उपदेशानुसार उसे संकीर्तन-यज्ञ में प्रयुक्त किया। जैसाकि हमने पहले सुझाव दिया है, संचित धन के वितरण के लिए इसके तीन भाग करने चाहिए—पचास प्रतिशत भगवान् की सेवा के लिए, पचीस प्रतिशत परिवारजनों के लिए तथा पचीस प्रतिशत निजी आवश्यकताओं के लिए। आय का पचास प्रतिशत भगवान् की सेवा के लिए या संकीर्तन यज्ञ के माध्यम से समाज में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार हेतु व्यय करना सर्वोच्च मानवीय करुणा का प्रदर्शन होगा। सामान्यतया विश्व के लोग आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में, विशेष रूप से भगवद्भक्ति के विषय में, अंधकार में रहते हैं। अतएव भक्तिमय सेवा के क्रमबद्ध दिव्य ज्ञान का प्रसार करना सबसे बड़ी दया है, जो विश्व के प्रति प्रदर्शित की जा सकती है। जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने संचित सोने का पचास प्रतिशत हिस्सा भगवान् की सेवा में अर्पित करने के लिए शिक्षी दी जाएगी, तो निश्चय ही तप, स्वच्छता तथा दया स्वतः पीछे पीछे आएँगे और इस तरह धर्म के खोये हुए तीनों पाँव स्वतः स्थापित हो जाएँगे।

जब पर्याप्त तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य होगा तो पृथ्वी माता पूर्णतः तुष्ट होंगी और कलि को मानव समाज के ढाँचे में घुसपैठ करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा।

स एष एतर्ह्यध्यास्त आसनं पार्थिवोचितम् ।

पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ॥ ४३ ॥

आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् ।

गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; एतर्हि—इस समय; अध्यास्ते—शासन कर रहा है; आसनम्—सिंहासन; पार्थिव-उचितम्—राजा के लिए योग्य; पितामहेन—पितामह द्वारा; उपन्यस्तम्—हस्तान्तरित होकर; राज्ञा—राजा द्वारा; अरण्यम्—वन; विविक्षता—इच्छुक; आस्ते—है; अधुना—इस समय; सः—वह; राज-ऋषिः—राजर्षि; कौरव-इन्द्र—कुरु राजाओं में प्रमुख; श्रिया—यश; उल्लसन्—फैलते हुए; गजाह्वये—हस्तिनापुर में; महा-भागः—सर्वाधिक भाग्यशाली; चक्रवर्ती—सम्राट; बृहत्-श्रवाः—अत्यन्त विख्यात।

वे ही सर्वाधिक भाग्यशाली सम्राट महाराज परीक्षित, जिन्हें महाराज युधिष्ठिर ने वन जाते समय हस्तिनापुर का राज्य सौंपा था, अब कुरुवंशी राजाओं के कार्यों से ख्याति प्राप्त करके अत्यन्त सफलतापूर्वक संसार पर शासन कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के ऋषियों ने महाराज परीक्षित की मृत्यु के कुछ समय बाद ही, दीर्घकालीन यज्ञोत्सव प्रारम्भ किया था। इस यज्ञ को एक हजार वर्ष तक चलना था और ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण के बड़े भाई बलदेव के कुछ समकालीन व्यक्ति यज्ञस्थल पर गये थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार वर्तमानकाल का प्रयोग भूतकाल की तुलना में समय की छोटी अवधि को प्रदर्शित करने के लिए भी होता है। उसी अर्थ में यहाँ पर महाराज परीक्षित के शासन के लिए वर्तमान काल का प्रयोग हुआ है। सतत तथ्य के लिए भी वर्तमान काल का प्रयोग किया जा सकता है। महाराज परीक्षित के सिद्धान्तों को अब भी लागू किया जा सकता है और यदि अधिकारियों में संकल्प हो, तो मानव समाज को अब भी सुधारा जा सकता है। अब भी, यदि हम महाराज परीक्षित की भाँति कार्यवाही करने में दृढ़ हो लें, तो कलि द्वारा प्रचारित समस्त अनैतिक कार्यकलापों को समाज से हटा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान निश्चित कर दिये थे, किन्तु कलि को संसार भर में ऐसे स्थान नहीं मिल पाये, क्योंकि महाराज परीक्षित इतने सावधान थे कि जुआ खेलने, मद्यपान करने,

वेश्यावृत्ति तथा पशुवध के लिए कोई स्थान ही न रहे। आधुनिक प्रशासक राज्य से भ्रष्टाचार समाप्त करना चाहते हैं, लेकिन वे निपट मूर्ख होने के कारण यह भी नहीं जानते कि इसे कैसे किया जाय। वे जुआ खेलने के अड्डे, मदिरा तथा अन्य नशीली औषधियों के लिए स्थान, वेश्यालय, होटल की वेश्यावृत्ति तथा सिनेमा-घर खोलने तथा हर काम में झूठ के लिए लाइसेंस देते हैं और साथ ही राज्य से भ्रष्टाचार भगाना चाहते हैं। वे ईश्वर-चेतना के बिना ईश्वर का राज्य चाहते हैं। भला दो विरोधी बातें एकसाथ कैसे सम्भव हो सकती हैं? यदि हम राज्य से भ्रष्टाचार दूर करना चाहते हैं, तो हमें सर्वप्रथम समाज को इस तरह संगठित करना होगा कि वह धार्मिक सिद्धान्तों को—तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य को—ग्रहण करे और हमें परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिए, जुआ, शराब, वेश्या तथा असत्य के सारे स्थानों को बन्द कर देना पड़ेगा। ये कुछ व्यावहारिक शिक्षाएँ हैं, जो हमें श्रीमद्भागवत से प्राप्त होती हैं।

इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः ।

यस्य पालयतः क्षौणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

इत्थम्-भूत—इस प्रकार हुआ; अनुभावः—अनुभव; अयम्—इसका; अभिमन्यु-सुतः—अभिमन्यु का पुत्र; नृपः—राजा; यस्य—जिसका; पालयतः—अपने शासन के कारण; क्षौणीम्—पृथ्वी पर; यूयम्—तुम सब; सत्राय—यज्ञ सम्पन्न करने के लिए; दीक्षिताः—दीक्षित हुए।

अभिमन्यु पुत्र, महाराज परीक्षित, इतने अनुभवी हैं कि उनके पटु शासन तथा संरक्षकत्व के बल पर तुम सब इस प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कर रहे हो।

तात्पर्य : ब्राह्मण तथा संन्यासी समाज के आध्यात्मिक उन्नयन में अत्यन्त दक्ष होते हैं, जबकि क्षत्रिय या प्रशासक मानव समाज में भौतिक शान्ति तथा सम्पन्नता लाने में दक्ष होते हैं। दोनों ही सुख के स्तम्भ समान हैं, अतएव वे जन-कल्याण में पूर्ण सहयोग के निमित्त होते हैं। महाराज परीक्षित कलि को अपने कार्यक्षेत्र से भगाने में अत्यन्त अनुभवी थे, जिससे राज्य में आध्यात्मिक प्रबुद्धता के लिए स्थान मिल सका। यदि सामान्य लोग ग्रहणशील न हों, तो आध्यात्मिक प्रबुद्धता की आवश्यकता पर बल दे पाना कठिन होता है। तप, स्वच्छता, दया तथा सत्य—ये धर्म के मूल सिद्धान्त हैं। इनसे आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करने की भूमिका तैयार होती है और महाराज परीक्षित ने इसके लिए

अनुकूल परिस्थिति बना ली थी। इस तरह नैमिषारण्य के ऋषि एक हजार वर्षों का यज्ञ करने में सक्षम बने। दूसरे शब्दों में, राज्य की सहायता के बिना, दर्शन का कोई मत या धर्म निरन्तर प्रगति नहीं कर सकता। सभी के लिए कल्याणकारी इस अच्छे कार्य के लिए ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच पूरा सहयोग होना चाहिए। महाराज अशोक के समय तक भी यह भावना बनी रही। राजा अशोक ने भगवान् बुद्ध को पर्याप्त समर्थन प्रदान किया, जिससे उनका सम्प्रदाय सारे विश्व में फैल गया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'कलि को दण्ड तथा पुरस्कार' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अठारह

ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः ।

अनुग्रहाद् भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; यः—जो; वै—निश्चय ही; द्रौणि-अस्त्र—द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा; विप्लुष्टः—जलाया गया; न—कभी नहीं; मातुः—माता के; उदरे—गर्भ में; मृतः—मरा हुआ; अनुग्रहात्—कृपा से; भगवतः—भगवान्; कृष्णस्य—कृष्ण की; अद्भुत-कर्मणः—जो अद्भुत कार्य करते हैं।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : भगवान् श्रीकृष्ण अद्भुत कार्य करनेवाले हैं। उनकी कृपा से महाराज परीक्षित द्रोणपुत्र के अस्त्र द्वारा अपनी माता के गर्भ में ही प्रहार किये जाने पर भी जलाये नहीं जा सके।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के सारे ऋषि महाराज परीक्षित के अद्भुत शासन के विषय में, विशेष रूप से कलि को दण्डित करने तथा अपने राज्य में उसे कोई भी हानि न पहुँचाने के लिए पूर्ण रूप से अक्षम बनाने के प्रसंगों से आश्चर्यचकित रह गये। सूत गोस्वामी भी महाराज परीक्षित के अद्भुत जन्म तथा मृत्यु का वर्णन करने के लिए कम आतुर न थे और यह श्लोक नैमिषारण्य के ऋषियों की उत्कंठा बढ़ाने के लिए सूत गोस्वामी ने कह सुनाया।

ब्रह्मकोपोत्थिताद् यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् ।

न सम्मुमोहोरुभयाद् भगवत्यर्पिताशयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-कोप—ब्राह्मण के क्रोध से; उत्थितात्—उत्पन्न; यः—जो था; तु—लेकिन; तक्षकात्—तक्षक सर्प द्वारा; प्राण-विप्लवात्—जीवन-क्षय से; न—कभी नहीं; सम्मुमोह—अभिभूत थे; उरु-भयात्—घोर भय; भगवति—भगवान् में; अर्पित—शरणागत; आशयः—चेतना ।

इसके अतिरिक्त, महाराज परीक्षित स्वेच्छा से सदैव भगवान् के शरणागत रहते थे, अतएव वे उड़ने वाले सर्प के भय से, जो उन्हें ब्राह्मण बालक के कोपभाजन बनने के कारण काटनेवाला था, न तो भयभीत थे, न अभिभूत थे ।

तात्पर्य : भगवान् का आत्म-शरणागत भक्त नारायण-परायण कहलाता है । ऐसा व्यक्ति किसी स्थान या व्यक्ति से, यहाँ तक कि मृत्यु से भी भयभीत नहीं होता । उसके लिए परमेश्वर से बढ़कर कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता । इस तरह वह स्वर्ग या नरक को एक समान ही महत्त्व देता है । वह अच्छी तरह जानता है कि स्वर्ग तथा नरक दोनों ही भगवान् की सृष्टियाँ हैं और इसी तरह जीवन तथा मृत्यु भी भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई जीवन की विभिन्न दशाएँ हैं । किन्तु सभी दशाओं में तथा सभी परिस्थितियों में नारायण का स्मरण आवश्यक है । जो नारायण-परायण है, वह इसका निरन्तर अभ्यास करता है । महाराज परीक्षित ऐसे ही शुद्ध भक्त थे । उन्हें एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक ने त्रुटिवश शाप दे दिया था, क्योंकि वह कलि के वशीभूत था, और महाराज परीक्षित ने इस शाप को नारायण द्वारा प्रेषित समझा । वे जानते थे कि जब वे माता के गर्भ में जलाये गये थे, तो नारायण (कृष्ण) ने ही उन्हें बचाया था और यदि उन्हें साँप के काटने से मरना है, तो यह भी भगवान् की कृपा से होगा । भक्त कभी भी भगवान् की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाता; भगवान् द्वारा भेजी गई कोई भी वस्तु भक्त के लिए वरदान होती है । अतएव महाराज परीक्षित ऐसी बातों से न तो भयभीत थे, न ही मोह-ग्रस्त थे । यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है ।

उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितिः ।

वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्सृज्य—छोड़कर; सर्वतः—चारों ओर; सङ्गम्—साथ, संग; विज्ञात—समझते हुए; अजित—जो कभी जीते न जा सके (भगवान्); संस्थितिः—वास्तविक स्थिति; वैयासकेः—व्यास के पुत्र को; जहौ—त्याग दिया; शिष्यः—शिष्य के रूप में; गङ्गायाम्—गंगा नदी के तट पर; स्वम्—अपने; कलेवरम्—भौतिक शरीर को।

तत्पश्चात्, अपने समस्त संगियों को छोड़कर, राजा ने शिष्य-रूप में व्यास के पुत्र (शुकदेव गोस्वामी) की शरण ग्रहण की और इस प्रकार वे भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ सके।

तात्पर्य : यहाँ पर अजित शब्द महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण अजित अर्थात् न जीते जा सकनेवाले कहलाते हैं और वे हर प्रकार से अजित हैं। कोई उनकी वास्तविक स्थिति को नहीं जान सकता। वे ज्ञान द्वारा भी अजित हैं। हमने उनके धाम, गोलोक वृन्दावन के विषय में सुना है, लेकिन ऐसे अनेक पंडित हैं, जो इस धाम की कई तरह से व्याख्या करते हैं। किन्तु शुकदेव गोस्वामी जैसे गुरु की कृपा से, जिनकी शरण राजा ने अत्यन्त विनीत शिष्य-रूप में ग्रहण की, मनुष्य भगवान् की वास्तविक स्थिति, उनके सनातन धाम तथा उस धाम की दिव्य साज-सामग्री को समझ सकता है। भगवान् की दिव्य स्थिति को जानते हुए तथा उस दिव्य विधि से, जिससे उस दिव्य धाम तक पहुँचा जा सकता है, राजा अपने चरम गन्तव्य के विषय में आश्चर्य थे और इसे जान लेने के कारण वे प्रत्येक भौतिक वस्तु को, यहाँ तक कि अपने भौतिक शरीर को भी किसी आसक्ति के बिना छोड़ सकते थे। भगवद्गीता में कहा गया है—परं दृष्ट्वा निवर्तते—परम अर्थात् वस्तुओं के श्रेष्ठ गुण को देख लेने पर मनुष्य सारी भौतिक आसक्ति छोड़ सकता है। भगवद्गीता से हम उन भगवान् की शक्ति के गुण को समझते हैं, जो भौतिक शक्ति के गुण से श्रेष्ठ हैं और शुकदेव गोस्वामी जैसे प्रामाणिक आध्यात्मिक गुरु की कृपा से भगवान् की इस उच्चतर शक्ति के प्रत्येक पक्ष को जाना जा सकता है, जिससे भगवान् अपने शाश्वत नाम गुण, लीलाओं, साज-सामग्री तथा विविधता को प्रकट करते हैं। भगवान् की इस उच्चतर शक्ति को समझे बिना, कोई कितना ही परम सत्य के वास्तविक स्वभाव के विषय में सैद्धान्तिक चिन्तन क्यों न करे, भौतिक शक्ति को छोड़ नहीं पाता। भगवान् कृष्ण की कृपा से, महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी जैसे महापुरुष की अनुकंपा प्राप्त हुई थी, अतएव वे अजित भगवान् की वास्तविक स्थिति को समझ पाये थे। वैदिक साहित्य से भगवान् को खोज निकालना अत्यन्त कठिन है, किन्तु शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्त भक्त की कृपा से उन्हें समझ पाना अत्यन्त सरल है।

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।

स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; उत्तम-श्लोक—भगवान्, जिनका गायन वैदिक स्तोत्रों से किया जाता है; वार्तानाम्—उन पर जीवित रहनेवालों का; जुषताम्—लगे रहनेवालों का; तत्—उसकी; कथा-अमृतम्—उनकी दिव्य कथाएँ; स्यात्—ऐसा होगा; सम्भ्रमः—भ्रान्ति; अन्त—अन्त; काले—समय में; अपि—भी; स्मरताम्—स्मरण करते हुए; तत्—उसका; पद-अम्बुजम्—चरणकमलों को।

ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि जिन्होंने वैदिक स्तोत्रों से स्तुति किये जानेवाले भगवान् की दिव्य कथाओं के लिए ही अपना जीवन अर्पित कर रखा है और जो निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का स्मरण करने में लगे हुए हैं, उन्हें अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में भी किसी प्रकार की भ्रान्ति होने का डर नहीं रहता।

तात्पर्य : जीवन के अन्तिम क्षण में भगवान् की दिव्य प्रकृति को स्मरण करके जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जाती है। जीवन की यह सिद्धि उसे ही मिल पाती है, जिसने शुकदेव गोस्वामी जैसे मुक्तात्मा द्वारा गाये जानेवाले वैदिक स्तोत्रों से या उन्हीं की गुरु-शिष्य परम्परा के किसी व्यक्ति से भगवान् की वास्तविक दिव्य प्रकृति के विषय में जाना है। वैदिक स्तोत्रों को किसी मनोधर्मी से सुनने से कोई लाभ नहीं होता। किन्तु जब उन्हें किसी वास्तविक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से सुना जाता है और सेवा तथा विनयपूर्वक उसे ठीक से समझा जाता है, तब हर बात पारदर्शी रूप से स्पष्ट हो जाती है। इस तरह विनीत शिष्य जीवन के अन्त तक दिव्य स्तर पर रह सकता है। वैज्ञानिक अनुकूलन द्वारा मनुष्य भगवान् को जीवन के अन्त समय तक स्मरण रख सकता है, जब शरीर के जर्जर होने से स्मरण शक्ति ढीली पड़ जाती है। सामान्य व्यक्ति के लिए जीवन के अन्त समय वस्तुओं को यथारूप में स्मरण रख पाना कठिन है, लेकिन भगवान् तथा उनके प्रामाणिक भक्तों या गुरुओं की कृपा से मनुष्य को यह अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है। और महाराज परीक्षित के साथ ऐसा ही हुआ।

तावत्कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोऽपीह सर्वतः ।

यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब तक; कलिः—कलि-रूप; न—नहीं; प्रभवेत्—बढ़ सकता है; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अपि—भी; इह—यहाँ; सर्वतः—सर्वत्र; यावत्—जब तक; ईशः—प्रभु; महान्—महान्; उर्व्याम्—शक्तिशाली; आभिमन्यवः—अभिमन्यु का पुत्र; एक-राट्—अकेला सम्राट्।

जब तक अभिमन्यु का महान्-शक्तिशाली पुत्र संसार का सम्राट बना हुआ है, तब तक कलि के पनपने की कोई गुंजाइश नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, कलि ने इस पृथ्वी में बहुत पहले प्रवेश पा लिया था और वह सारे संसार में अपना प्रभाव फैलाने की ताक में था। किन्तु महाराज परीक्षित की उपस्थिति के कारण वह ऐसा नहीं कर पा रहा था। यही अच्छे प्रशासन का ढंग है। कलि जैसे उपद्रवी तत्त्व सदा ही अपने निन्द्य कृत्यों को फैलाना चाहेंगे, लेकिन सक्षम राज्य का कर्तव्य है कि सभी प्रकार से इन्हें रोके। यद्यपि महाराज परीक्षित ने कलि के लिए कुछ स्थान नियत कर दिये थे, किन्तु उसी के साथ-साथ उन्होंने प्रजा को इसका अवसर नहीं दिया कि वे कलि के प्रभाव में बह जाँय।

यस्मिन्नहनि यर्होव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।

तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; अहनि—दिन में; यर्हि एव—जिस क्षण में; भगवान्—भगवान् ने; उत्ससर्ज—त्याग दिया; गाम्—पृथ्वी को; तदा—उस समय; एव—निश्चय ही; इह—इस संसार में; अनुवृत्तः—पीछे आ गया; असौ—वह; अधर्म—अधर्म; प्रभवः—तीव्र करते हुए; कलिः—कलि-रूप।

जिस दिन तथा जिस क्षण भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पृथ्वी को छोड़ा, उसी समय, समस्त अधार्मिक कृत्यों को बढ़ावा देनेवाला कलि इस संसार में आ गया।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके नाम, यश, गुण सभी अभिन्न हैं। भगवान् की उपस्थिति के कारण कलि पृथ्वी की सीमा में प्रवेश नहीं कर पा रहा था। इसी प्रकार यदि भगवान् के पवित्र नाम, गुणों आदि के सतत कीर्तन का प्रबन्ध हो, तो कलि के प्रवेश के लिए जरा भी अवसर नहीं मिल पायेगा। संसार से कलि को भगाने की यही युक्ति है। आधुनिक मानव-समाज में भौतिक विज्ञान के कारण बड़े-बड़े विकास हुए हैं, और लोगों ने वायु में ध्वनि का विस्तार करने के लिए रेडियो की खोज कर ली है। अतएव इन्द्रिय भोग के लिए किसी भेदे स्वर को प्रसारित न करके, यदि राज्य भगवान् के

पवित्र नाम, यश तथा उनके गुणों की दिव्य वाणी को, जिस तरह से वे *भगवद्गीता* या *भागवत* में प्राप्त हैं, प्रसारित करने की व्यवस्था करे, तो उचित वातावरण उत्पन्न होगा, संसार में धर्म की पुनः स्थापना होगी और इस प्रकार प्रशासक लोग, जो संसार से भ्रष्टाचार के उन्मूलन को लेकर इतने उत्सुक हैं, सफल होंगे। कोई भी वस्तु बुरी नहीं है, यदि उसका उपयोग भगवान् की सेवा के लिए किया जाय।

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।

कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुद्वेष्टि—ईर्ष्यालु; कलिम्—कलि को; सम्राट्—सम्राट; सारम्-ग—मधुमक्खियों की भाँति यथार्थवादी; इव—सदृश; सार-भुक्—सार को ग्रहण करनेवाला; कुशलानि—शुभ वस्तुएँ; आशु—शीघ्र; सिद्ध्यन्ति—सफल होते हैं; न—कभी नहीं; नेतराणि—अशुभ; कृतानि—किये जाने पर; यत्—जितना।

महाराज परीक्षित मधुमक्खियों की तरह यथार्थवादी थे, जो केवल (पुष्प के) सार को ग्रहण करती हैं। वे यह भलीभाँति जानते थे कि इस कलियुग में कल्याणकारी वस्तुएँ तुरन्त ही अपना शुभ प्रभाव डालती हैं, जबकि अशुभ कर्मों को वास्तविक रूप में सम्पन्न करना पड़ता है (जिससे प्रभाव जमा सकें)। अतएव उन्होंने कभी भी कलि से ईर्ष्या नहीं की।

तात्पर्य : कलियुग अधम युग कहलाता है। इस अधम युग में सारे जीव विचित्र स्थिति में रहते हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। अतः भगवान् की कृपा से, जब तक जीव किसी पाप-पूर्ण कार्य को वास्तव में करता नहीं है, तब तक वह उस कर्म का भागी नहीं होता। अन्य युगों में पाप-पूर्ण कर्म का विचार करने से ही मनुष्य कर्म-फल का भागी बन जाता था। इसके विपरीत, इस युग में जीव को शुभ कर्म के चिन्तन मात्र से ही उसका फल प्राप्त हो जाता है। अतएव, अत्यन्त विद्वान् एवं अनुभवी राजा होने के कारण, महाराज परीक्षित कलि से कोई अनावश्यक द्वेष नहीं रखते थे, क्योंकि वे उसे कोई पाप-कर्म करने का अवसर ही नहीं देना चाहते थे। उन्होंने अपनी प्रजा को कलियुग के पाप-कर्मों में पड़ने से बचाया और साथ ही उन्होंने कलि के लिए कुछ स्थान नियत करके उसे भी पूरी सुविधा प्रदान की। *श्रीमद्भागवत* के अन्त में कहा गया है कि यद्यपि कलि के निन्द्य कृत्य विद्यमान हैं, तो भी कलियुग में बड़े-बड़े लाभ भी हैं। मनुष्य मात्र भगवन्नाम के जप-कीर्तन द्वारा मोक्ष-लाभ प्राप्त कर सकता है। अतएव महाराज परीक्षित ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के प्रचार

हेतु संगठित प्रयास किया और उन्होंने जनता को कलि के पाश से बचा लिया। इसी लाभ के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े मुनि कलियुग की जय मनाते हैं। वेदों में भी कहा गया है कि भगवान् कृष्ण की लीलाओं की चर्चा से मनुष्य कलियुग की सारी बुराइयों से छुटकारा पा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के आरम्भ में यह भी कहा गया है कि *श्रीमद्भागवत* के पाठ से परमेश्वर मनुष्य के हृदय में स्थापित हो जाते हैं। ये कलियुग के कुछ लाभ हैं और महाराज परीक्षित ने इन सशक्त लाभों को ग्रहण किया और असली वैष्णव होने के नाते, उन्होंने कलियुग का बुरा नहीं सोचा।

किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; नु—हो सकता है; बालेषु—अल्पज्ञों में से; शूरेण—शक्तिमान; कलिना—कलि द्वारा; धीर—आत्म-संयमी; भीरुणा—डरपोक के द्वारा; अप्रमत्तः—सतर्क; प्रमत्तेषु—लापरवाहों में; यः—जो; वृकः—बाघ; नृषु—मनुष्यों में; वर्तते—विद्यमान है।

महाराज परीक्षित ने विचार किया कि अल्पज्ञ मनुष्य कलि को अत्यन्त शक्तिशाली मान सकते हैं, किन्तु जो आत्मसंयमी हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। राजा बाघ के समान शक्तिमान थे और मूर्ख, लापरवाह मनुष्यों की रखवाली करते थे।

तात्पर्य : जो भगवान् के भक्त नहीं हैं, वे लापरवाह तथा मन्दबुद्धि होते हैं। जब तक कोई पूरी तरह बुद्धिमान न हो, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं हैं, वे कलि के कार्यों के शिकार बन जाते हैं। जब तक हम महाराज परीक्षित द्वारा अपनाई गई कार्य-पद्धति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो जाते, तब तक समाज में श्रेष्ठतर परिस्थिति ला पाना सम्भव नहीं है। और यह कार्य-पद्धति है, भगवान् की भक्तिमय सेवा का प्रचार करना।

उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया ।
वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उपवर्णितम्—प्रायः हर बात का वर्णन हो चुका है; एतत्—ये सब; वः—तुमको; पुण्यम्—पवित्र; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित के विषय में; मया—मेरे द्वारा; वासुदेव—भगवान् कृष्ण की; कथा—कथाएँ; उपेतम्—के प्रसंग में; आख्यानम्—कथन; यत्—जो; अपृच्छत—तुमने मुझसे पूछा।

हे मुनियों, जैसा आपने मुझ से पूछा था, अब मैंने पवित्र राजा परीक्षित के इतिहास से सम्बन्धित भगवान् कृष्ण की कथाओं की लगभग सब बातें सुनाई हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भगवत् भगवान् के कार्यकलापों का इतिहास है। और भगवान् के कार्य-कलाप भगवद्-भक्तों को साथ लेकर ही सम्पन्न होते हैं। अतएव भक्तों का इतिहास भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों के इतिहास से भिन्न नहीं है। भगवद्-भक्त भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के कार्यकलापों को एक-सा ही समझता है, क्योंकि ये सभी दिव्य होते हैं।

या याः कथा भगवतः कथनीयोरुर्मणः ।

गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

याः याः—जो जो; कथाः—कथाएँ; भगवतः—भगवान् के विषय में; कथनीय—मुझे कहनी थीं; उरु-कर्मणः—अद्भुत कर्म करनेवाले की; गुण—दिव्य गुण; कर्म—असामान्य कृत्य; आश्रयाः—निहित; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; संसेव्याः—सुनी जानी चाहिए; ताः—वे सब; बुभूषुभिः—अपना कल्याण चाहनेवालों द्वारा।

जो लोग जीवन में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें अद्भुत कर्म करनेवाले भगवान् के दिव्य कार्यकलापों तथा गुणों से सम्बन्धित सारी कथाएँ अत्यन्त विनीत भाव से श्रवण करनी चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य कार्यकलापों, गुणों तथा नामों का नियमपूर्वक श्रवण करने से मनुष्य शाश्वत जीवन की ओर अग्रसर होता है। नियमपूर्वक श्रवण करने का अर्थ होता है, उन्हें धीरे-धीरे सही और वास्तविक रूप में जानना और उन्हें इस तरह जानने का अर्थ है, शाश्वत जीवन प्राप्त करना, जिसका उल्लेख भगवद्गीता में हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसे दिव्य यशस्वी कार्यकलाप जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के उपचार करने के लिए संस्तुत औषधि हैं, जिन्हें बद्धजीव भौतिक पुरस्कार समझता है। इस प्रकार जीवन की सिद्ध अवस्था की परिणति मानव-जीवन का लक्ष्य है और दिव्य आनन्द की उपलब्धि है।

ऋषय ऊचुः

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः ।

यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; सूत—हे सूत गोस्वामी; जीव—जीवित रहो; समाः—अनेक वर्षों तक; सौम्य—गम्भीर; शाश्वतीः—शाश्वत; विशदम्—विशेष रूप से; यशः—यश में; यः त्वम्—क्योंकि आप; शंससि—सुन्दर ढंग से कहते हो; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण की; मर्त्यानाम्—मर्त्य प्राणियों की; अमृतम्—जीवन की शाश्वतता, अक्षरता; हि—निश्चय ही; नः—हमारा ।

श्रेष्ठ मुनियों ने कहा : हे सौम्य सूत गोस्वामी! आप अनेक वर्षों तक जीएँ तथा शाश्वत यश प्राप्त करें, क्योंकि आप भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में उत्तम ढंग से बता रहे हैं। हम जैसे मर्त्य प्राणियों के लिए यह अमृत के समान है।

तात्पर्य : जब हम परमेश्वर के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनते हैं, तो हमें सदा *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् ने खुद ने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका स्मरण करना चाहिए। उनके सारे कार्य, यहाँ तक कि जब वे मानव-समाज में कार्य करते हैं, तब भी दिव्य ही होते हैं, क्योंकि वे सब भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अभिप्रेरित होते हैं, जो उनकी भौतिक शक्ति से भिन्न है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ऐसे कार्य *दिव्यम्* कहलाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य जीवों की भाँति, भौतिक शक्ति के वश में रहकर कार्य नहीं करते हैं, और जन्म नहीं लेते हैं। न ही उनका शरीर सामान्य जीवों के शरीर की भाँति भौतिक होता है, न ही परिवर्तनशील होता है। चाहे भगवान् से या किसी प्रामाणिक स्रोत से जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ लेता है, वह इस वर्तमान शरीर को त्यागने के बाद पुनः जन्म नहीं लेता। ऐसे प्रबुद्ध जीव को भगवद्धाम में प्रविष्ट होने दिया जाता है, जहाँ वह भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में लग जाता है। अतएव जिस रूप में *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में भगवान् के दिव्य कार्यकलाप उद्भूत हैं, उनके विषय में हम जितना ही श्रवण करते हैं, उतना ही हम उनकी दिव्य प्रकृति के विषय में जान पाते हैं और उतना ही भगवद्धाम के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूमात्मनां भवान् ।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सम्पन्न करने में; अस्मिन्—इस; अनाश्वासे—निश्चित रूप से नहीं; धूम—धुआँ; धूम्र—आत्मनाम्—कलुषित शरीर तथा मन; भवान्—आप; आपाययति—अत्यन्त प्रसन्न बना रहे हैं; गोविन्द—भगवान् के; पाद—पाँव; पद्म—आसवम्—कमल पुष्पों का अर्क; मधु—शहद ।

हमने अभी-अभी इस सकाम कृत्य, यज्ञ की अग्नि को सम्पन्न करना प्रारम्भ किया है और हमारे कार्य में अनेक अपूर्णताएँ होने के कारण इसके फल की कोई निश्चितता नहीं है। हमारे शरीर धुएँ से काले हो चुके हैं, लेकिन हम भगवान् गोविन्द के चरणकमलों के अमृत रूपी उस मधु से सचमुच तृप्त हैं, जिसे आप हम सबको वितरित कर रहे हैं।

तात्पर्य : नैमिषारण्य के मुनियों ने जो यज्ञाग्नि जलाई थी, वह निश्चय ही धुएँ तथा संशयों से पूर्ण थी, क्योंकि उसमें अनेक दोष थे। पहली कमी यह थी कि इस कलियुग में ऐसा यज्ञ-कार्य सम्पन्न करानेवाले पटु ब्राह्मणों का नितान्त अभाव है। ऐसे यज्ञों में यदि कोई दोष रह जाता है, तो पूरा खेल बिगड़ जाता है और फल भी अनिश्चित रहता है, जैसाकि कृषि-उद्यम में होता है। धान के खेत को जोतने से अच्छा फल तभी मिलता है, जब अच्छी वर्षा हो, अन्यथा फल अनिश्चित है। इसी प्रकार से इस कलियुग में भी किसी भी प्रकार का यज्ञ सम्पन्न कराना अनिश्चित रहता है। कलियुग के निर्लज्ज लोभी ब्राह्मण अबोध जनता को ऐसे अनिश्चित यज्ञों का दिखावा करने के लिए फुसलाते हैं और उन्हें यह शास्त्रीय आदेश नहीं बताते कि कलियुग में कोई भी सकाम यज्ञोत्सव सम्भव नहीं, किन्तु इस युग में केवल एक ही यज्ञ सम्भव है और वह है भगवन्नाम का सामूहिक कीर्तन। सूत गोस्वामी एकत्र हुए मुनियों के समक्ष भगवान् के दिव्य कार्यकलाप सुना रहे थे और वे सब इन दिव्य कार्यकलापों के सुनने के फल का अनुभव कर रहे थे। कोई भी इसे व्यावहारिक रूप से उसी तरह अनुभव कर सकता है, जिस प्रकार भोजन करके उसके फल का अनुभव किया जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति इसी प्रकार कार्य करती है।

नैमिषारण्य के मुनि यज्ञ की अग्नि से उठनेवाले धुएँ से कष्ट पा रहे थे और फल के विषय में भी संशयपूर्ण थे, किन्तु सूत गोस्वामी जैसे अनुभूत व्यक्ति से सुनने के कारण वे पूरी तरह से संतुष्ट हुए थे। ब्रह्मवैवर्त पुराण में विष्णु शिवजी से कहते हैं कि कलियुग में लोग विविध प्रकार की चिन्ताओं से घिरे

होने के कारण सकाम कर्म तथा दार्शनिक चिन्तन में व्यर्थ ही श्रम करेंगे, किन्तु यदि वे भक्तिमय सेवा में लगे तो परिणाम अधिक निश्चित होगा और शक्ति का भी क्षय नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् की भक्तिमय सेवा के बिना, आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए या तो भौतिक लाभ के लिए जो कुछ भी किया जायेगा, वह फलदायी नहीं हो सकता।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तुलयाम—के साथ तुलना करना; लवेन—क्षण मात्र से; अपि—भी; न—कभी नहीं; स्वर्गम्—स्वर्गलोक; न—न तो; अपुनः—भवम्—पदार्थ से मोक्ष; भगवत्-सङ्गि—भगवद्भक्त; सङ्गस्य—संगति का; मर्त्यानाम्—मरनेवालों का; किम्—क्या रखा है; उत—कहने में; आशिषः—सांसारिक आशीर्वाद, वर।

भगवद्भक्त के साथ क्षण भर की संगति के महत्त्व की तुलना न तो स्वर्गलोक की प्राप्ति से, न भौतिक-मुक्ति की प्राप्ति से की जा सकती है। तो फिर उन सांसारिक वरदानों के विषय में क्या कहा जाय, जो भौतिक सम्पन्नता के रूप में होते हैं और मर्त्यों के लिए हैं?

तात्पर्य : एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से तभी की जा सकती है, जब दोनों में कुछ समान बातें होती हैं। हम शुद्ध भक्त की संगति की तुलना किसी भौतिक वस्तु से नहीं कर सकते। जो लोग भौतिक सुख के आदि बन गये हैं, वे चन्द्र, शुक्र तथा इन्द्रलोक जैसे स्वर्गीय ग्रहों की कामना करते हैं, और जो भौतिक दार्शनिक चिन्तन में उन्नत होते हैं, वे भवबन्धन से मोक्ष की कामना करते हैं। जब मनुष्य सभी प्रकार की भौतिक उन्नति से हताश हो उठता है, तो वह विपरीत प्रकार के मोक्ष की कामना करता है, जो अपुनर्भव या पुनर्जन्म न होना कहलाता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त स्वर्गलोक में मिलनेवाले सुख की कामना नहीं करते, न ही वे भवबन्धन से मोक्ष चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के शुद्ध भक्तों के लिए स्वर्गलोक में प्राप्य भौतिक सुख मायाजाल के समान होता है और चूँकि वे सुख-दुख की भौतिक धारणाओं से पहले से मुक्त रहते हैं, अतएव वे यथार्थ रूप में भौतिक जगत से भी मुक्त होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के शुद्ध भक्त इस जगत तथा आध्यात्मिक जगत, दोनों ही में, दिव्य स्थिति में, अर्थात् भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं। जिस प्रकार सरकारी नौकर सदा नौकर रहता है, चाहे वह घर में हो या आफिस में या किसी अन्य स्थान में, उसी प्रकार भक्त को किसी

भी भौतिक वस्तु से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि वह अनन्य भाव से भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। चूँकि उसे किसी भौतिक वस्तु से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव उसे भौतिक वरदानों से क्या मिलनेवाला है—चाहे वह राजपद हो या इससे भी बड़ा कोई अन्य पद, जो ये शरीर के नष्ट होते ही समाप्त हो जाते हैं? भक्तिमय सेवा शाश्वत है, इसका कोई अन्त नहीं होता, क्योंकि यह आध्यात्मिक होती है। अतः, चूँकि शुद्ध भक्त की निधियाँ भौतिक निधियों से भिन्न होती हैं, अतएव दोनों की कोई तुलना नहीं है। सूत गोस्वामी भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव नैमिषारण्य के ऋषियों के साथ उनकी संगति अद्वितीय है। भौतिक जगत में निपट भौतिकतावादी की संगति गर्हित समझी जाती है। भौतिकतावादी को *योषित् सङ्गी* कहा जाता है, क्योंकि उसकी आसक्ति भौतिक मायाजाल, अर्थात् स्त्रियों तथा अन्य साज-सामान से होती है। ऐसी आसक्ति आबद्ध है, क्योंकि इससे जीवन के वरदान तथा सम्पन्नता दोनों दूर चले जाते हैं। इसका बिल्कुल उलट है *भागवत सङ्गी* जो सदैव भगवान् के नाम, यश, गुण आदि की संगति में रहता है। ऐसी संगति सदैव वांछनीय है, पूजनीय है, प्रशंसनीय है और इसे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना जा सकता है।

को नाम तृप्येद् रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपादमुख्याः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन है, वह; नाम—विशेष रूप से; तृप्येत्—पूरा सन्तोष प्राप्त कर ले; रस-वित्—अमृत-रस का आस्वाद करने में पटु; कथायाम्—कथाओं में; महत्-तम—जीवों में सबसे महान्; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; न—कभी नहीं; अन्तम्—अन्त; गुणानाम्—गुणों का; अगुणस्य—दिव्य का; जग्मुः—निश्चित कर सके; योग-ईश्वराः—योग-शक्ति के स्वामी; ये—जो; भव—शिवजी; पाद—ब्रह्माजी; मुख्याः—प्रमुख।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण (गोविन्द) समस्त महान् जीवों के एकमात्र आश्रय हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे यौगिक शक्तियों के स्वामीयों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। तो भला जो रसास्वादन में पटु है, वह क्या कभी उनकी कथाओं के श्रवण द्वारा पूरी तरह तृप्त हो सकता है?

तात्पर्य : शिवजी तथा ब्रह्माजी दो प्रधान देवता हैं। वे योगशक्ति से परिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, शिवजी ने उस विष का सागर पी लिया, जिसकी एक बूँद ही सामान्य जीव को मारने के लिए पर्याप्त थी। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने, शिवजीसमेत, अनेक देवताओं की सृष्टि की। अतएव ये दोनों ईश्वर अथवा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। किन्तु वे परम शक्तिमान नहीं हैं। परम शक्तिमान तो गोविन्द अथवा श्रीकृष्ण हैं। वे दिव्य हैं और उनके दिव्य गुणों का मापन शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली ईश्वरों द्वारा भी नहीं किया जा सकता। अतएव भगवान् कृष्ण बड़े से बड़े जीव के एकमात्र आश्रय हैं। ब्रह्मा की गिनती जीवों में की जाती है, किन्तु वे हम सबों से महानतम हैं। तो फिर महानतम जीव भगवान् कृष्ण की दिव्य कथाओं के प्रति इतना आसक्त क्यों है? इसलिए कि वे समस्त आनन्द के आगार हैं। हर व्यक्ति हर वस्तु का कुछ न कुछ आस्वाद लेना चाहता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है, वह उसी में असीम आनन्द प्राप्त करता है। भगवान् असीम हैं और उनके नाम, गुण, लीलाएँ, पार्षद, विविधता आदि अनन्त हैं और जो इनका आस्वाद करते हैं, वे असीम रूप से ऐसा करते हुए भी तृप्ति का अनुभव नहीं करते। इस तथ्य की पुष्टि *पद्मपुराण* से होती है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि।

इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

“योगीजन परम सत्य से असीम दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं, इसीलिए परम सत्य भगवान् राम भी कहलाते हैं।”

ऐसी दिव्य वार्ताओं का कोई अन्त नहीं है। संसारी मामलों में तृप्ति का नियम होता है, लेकिन अध्यात्म में ऐसी तृप्ति नहीं है। सूत गोस्वामी नैमिषारण्य के ऋषियों के समक्ष भगवान् कृष्ण की कथा को चालू रखना चाह रहे थे और ऋषियों ने भी उनसे लगातार सुनते रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की। चूँकि भगवान् दिव्य हैं और उनके गुण दिव्य हैं, अतएव ऐसी वार्ताएँ शुद्ध श्रोताओं के ग्राही भाव को बढ़ाती हैं।

तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।

हरेरुदारं चरितं विशुद्धं
शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हम सबका; भवान्—आप; वै—निश्चय ही; भगवत्—भगवान् से सम्बन्धित; प्रधानः—मुख्यतः; महत्-
तम—सबसे बड़े; एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—आश्रय का; हरेः—भगवान् का; उदारम्—निष्पक्ष; चरितम्—कार्यकलाप;
विशुद्धम्—दिव्य; शुश्रूषताम्—सुनने के इच्छुक हैं; नः—हम; वितनोतु—कृपा करके वर्णन करें; विद्वन्—हे विद्वान्।

हे सूत गोस्वामी, आप विद्वान् हैं तथा भगवान् के शुद्ध भक्त हैं, क्योंकि आपकी सेवा का प्रमुख उद्देश्य भगवान् हैं। अतएव आप कृपया हमें भगवान् की लीलाएँ कह सुनायें, जो समस्त भौतिक विचारधारा से ऊपर हैं, क्योंकि हम ऐसा संदेश प्राप्त करने के लिए आतुर हैं।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के वक्ता का एक ही लक्ष्य होना चाहिए और वह है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की पूजा तथा सेवा। और ऐसी कथाओं के श्रोताओं को इन्हें सुनने के लिए आतुर होना चाहिए। जब ऐसा संयोग संभव हो जाता है अर्थात् जब योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता का संयोग हो जाता है, तभी दिव्य के विषय में अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वार्ता हो पाती है। व्यावसायिक वक्ता तथा भौतिकता में लिप्त श्रोता ऐसी वार्ताओं से कभी वास्तविक लाभ नहीं उठा पाते। व्यावसायिक वक्ता (वाचक) अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए *भागवत* सप्ताह का दिखावा करते हैं और भौतिकताग्रस्त श्रोता *भागवत सप्ताह* की इन वार्ताओं को किसी न किसी भौतिक लाभ यथा धार्मिकता, सम्पत्ति, इन्द्रिय-तुष्टि या मोक्ष के लिए सुनते हैं—*भागवत* की ऐसी वार्ताएँ भौतिक गुणों के कल्मष से शुद्ध नहीं रहतीं। लेकिन नैमिषारण्य के मुनियों तथा श्रील सूत गोस्वामी के मध्य चल रही वार्ताएँ दिव्य स्तर पर थीं। इनमें भौतिक लाभ का कोई उद्देश्य नहीं था। ऐसी वार्ताओं में श्रोता तथा वक्ता दोनों को असीम दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। अतएव वे ऐसी वार्ताओं को हजारों वर्षों तक चालू रख सकते हैं। अब तो *भागवत* सप्ताह केवल सात दिनों तक रखा जाता है और खेल खतम करने के बाद, श्रोता तथा वक्ता दोनों पहले की तरह भौतिक कार्यों में लग जाते हैं। वे ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि वक्ता *भागवत-प्रधान* नहीं है और श्रोता भी *शुश्रूषताम्* नहीं है, जैसाकि ऊपर कहा गया है।

स वै महाभागवतः परीक्षिद्
येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।

ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन

भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; महा-भागवतः—उच्चकोटि का भक्त; परीक्षित—राजा; येन—जिससे; अपवर्ग-आख्यम्—मोक्ष नाम से; अदभ्र—स्थिर; बुद्धिः—बुद्धि; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैयासकि—व्यास पुत्र; शब्दितेन—द्वारा उच्चारित; भेजे—ले जाया गया; खग-इन्द्र—पक्षियों का राजा, गरुड़; ध्वज—पताका, झंडा; पाद-मूलम्—पैरों के तलवे।

हे सूत गोस्वामी, कृपा करके भगवान् की उन्हीं कथाओं का वर्णन करें, जिनसे महाराज परीक्षित, जिनकी बुद्धि मोक्ष पर केन्द्रित थी, उन भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त कर सके, जो पक्षिराज गरुड़ के आश्रय हैं। इन्हीं कथाओं का उच्चारण व्यास-पुत्र (श्रील शुकदेव) द्वारा हुआ था।

तात्पर्य : मोक्ष के मार्ग को लेकर जिज्ञासुओं में कुछ मतभेद है। ऐसे दिव्य जिज्ञासु निर्विशेषवादी तथा भगवद्भक्त कहलाते हैं। भगवद्भक्त भगवान् के दिव्य रूप की पूजा करते हैं, जबकि निर्विशेषवादी चमचमाते तेज या भगवान् की शारीरिक किरणों का ध्यान धरते हैं, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि महाराज परीक्षित को भगवान् के चरणकमलों की प्राप्ति व्यासदेव के पुत्र श्रील शुकदेव गोस्वामी के उपदेशों से हुई। श्रील शुकदेव गोस्वामी भी प्रारम्भ में निर्विशेषवादी थे, जैसाकि भागवत (२.१.९) में उनकी स्वयं की उक्ति है किन्तु बाद में वे भगवान् की दिव्य लीलाओं के प्रति आकृष्ट हुए और भक्त बन गये। ऐसे पूर्ण ज्ञान से युक्त भक्त महाभागवत या प्रथम कोटि के भक्त कहलाते हैं। भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—प्राकृत, मध्यम तथा महाभागवत। प्राकृत अथवा तृतीय श्रेणी के भक्तों को भगवान् तथा उनके भक्तों का कोई विशेष ज्ञान नहीं होता, वे मन्दिर में पूजा करने वाले होते हैं। मध्यम अर्थात् द्वितीय श्रेणी के भक्त भगवान् को, भगवान् के भक्तों को, नवदीक्षितों तथा अभक्तों को भी भलीभाँति जानते हैं। लेकिन महाभागवत या प्रथम श्रेणी के भक्त हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित और हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति को देखते हैं। अतएव महाभागवत एक भक्त तथा अभक्त में कोई अन्तर नहीं मानता। महाराज परीक्षित ऐसे ही महाभागवत भक्त थे, क्योंकि उनको एक महाभागवत भक्त शुकदेव गोस्वामी से दीक्षा प्राप्त हुई थी। वे सबों पर समान रूप से दयालु थे, यहाँ तक कि कलि पर भी, तो अन्यो के विषय में क्या कहा जाय।

इस प्रकार संसार के दिव्य इतिहास में ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हुए हैं, जो बाद में भक्त बन गये हैं। लेकिन एक भक्त कभी भी निर्विशेषवादी नहीं बना है। यह एक तथ्य सिद्ध करता है कि दिव्य सीढ़ियों में जिस सीढ़ी पर भक्त बैठा है, वह उस सीढ़ी से ऊपर है, जिस पर निर्विशेषवादी स्थित है। *भगवद्गीता* (१२.५) में भी कहा गया है कि निराकार की सीढ़ी पर चिपका हुआ व्यक्ति लाभ की अपेक्षा कष्ट अधिक भोगता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को प्रदत्त ज्ञान ने उन्हें भगवद्भक्ति प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई। सिद्धि की यह अवस्था *अपवर्ग* या मोक्ष की अवस्था कहलाती है। मोक्ष सम्बन्धी सरल ज्ञान भौतिक ज्ञान है। भौतिक बन्धन से वास्तविक रूप से छूट जाना मुक्ति कहलाती है, लेकिन भगवान् की दिव्य सेवा की उपलब्धि मोक्ष की पूर्ण अवस्था कहलाती है। ऐसी अवस्था ज्ञान तथा वैराग्य से ही प्राप्त हो पाती है, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं (*भागवत* १.२.१२) और श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा जिस तरह का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया जाता है, उससे भगवान् की दिव्य सेवा की प्राप्ति होती है।

तत्रः परं पुण्यमसंवृतार्थ-

माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।

आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं

पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; नः—हमें; परम्—परम; पुण्यम्—पवित्र करनेवाला; असंवृत-अर्थम्—यथारूप; आख्यानम्—वार्ता; अति—अत्यन्त; अद्भुत—आश्चर्यजनक; योग-निष्ठम्—भक्तियोग में दृढ़; आख्याहि—कहिये; अनन्त—अनन्त; आचरित—कार्यकलाप; उपपन्नम्—पूर्ण; पारीक्षितम्—महाराज परीक्षित से कहे गये; भागवत—शुद्ध भक्तों के; अभिरामम्—विशेषतया अत्यन्त प्रिय।

अतः कृपा करके हमें अनन्त की कथाएँ सुनाएँ, क्योंकि वे पवित्र करनेवाली तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्हें ही महाराज परीक्षित को सुनाया गया था और वे भक्तियोग से परिपूर्ण होने के कारण शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित को जो सुनाया गया था और जो शुद्ध भक्तों को अत्यन्त प्रिय है, वह *श्रीमद्भागवत* है। *श्रीमद्भागवत* मुख्यतः परम अनन्त के कार्यकलापों की कथाओं से पूर्ण है, अतएव यह भक्तियोग अर्थात् भगवान् की भक्तिमय सेवा का विज्ञान है। इस प्रकार यह पर अर्थात् सर्वोपरि है,

क्योंकि समस्त ज्ञान तथा धर्म से समृद्ध होने पर भी, यह भगवान् की भक्तिमय सेवा में विशेष रूप से समृद्ध है।

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म

वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।

दौष्कुल्यमाधि विधुनोति शीघ्रं

महत्तमानामभिधानयोगः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्रील सूत गोस्वामी ने कहा; अहो—कैसे; वयम्—हम; जन्म-भृतः—जन्म को प्राप्त; अद्य—आज; ह—स्पष्टतया; आस्म—हो चुके हैं; वृद्ध-अनुवृत्त्या—ज्ञान में बढ़े-चढ़े मनुष्यों की सेवा करने से; अपि—यद्यपि; विलोम-जाताः—मिश्र जाति में जन्मे; दौष्कुल्यम्—जन्मजात अयोग्यता; आधिम्—कष्ट; विधुनोति—शुद्ध करती है; शीघ्रम्—तुरन्त; महत्-तमानाम्—महानों का; अभिधान—वार्ता; योगः—सम्बन्ध।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : हे ईश्वर, यद्यपि हम मिश्र (संकर) जाति में उत्पन्न हैं, फिर भी हमें ज्ञान में उन्नत उन महापुरुषों की सेवा करने तथा उनका अनुगमन करने से ही जन्म अधिकार प्राप्त हो गया। ऐसे महापुरुषों से बातचीत करने से ही मनुष्य निम्नकुल में जन्म होने के कारण उत्पन्न अवगुणों से तुरन्त ही निर्मल हो जाता है।

तात्पर्य : सूत गोस्वामी का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं हुआ था। वे एक मिश्र जाति के परिवार (विलोमज) में या असंस्कृत निम्नकुल में जन्मे थे। किन्तु महापुरुषों की संगति से यथा श्री शुकदेव गोस्वामी तथा नैमिषारण्य के महर्षियों की संगति से, निम्नकुल में जन्म होने की उनकी अयोग्यता मिट चुकी थी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु वैदिक प्रथाओं का पालन करने में इसी सिद्धान्त का पालन करते थे और अपनी दिव्य संगति से उन्होंने अनेक निम्नकुल में जन्मे या जन्म अथवा कर्म से अयोग्य ठहराये गये व्यक्तियों को भक्ति का पद दिलाया और उन्हें आचार्य या अधिकारी पद पर स्थापित किया। वे स्पष्ट कहते थे कि कोई भी मनुष्य, चाहे वह जन्म से ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि वह कृष्ण के विज्ञान में पारंगत है, तो उसे आचार्य या गुरु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

सूत गोस्वामी ने शुकदेव तथा व्यासदेव जैसे महर्षियों तथा महापुरुषों से कृष्ण का विज्ञान सीखा था और वे इतने सुयोग्य थे कि नैमिषारण्य के मुनि भी उनसे *श्रीमद्भागवत* के रूप में कृष्ण का विज्ञान

उत्सुकता से सुनना चाह रहे थे। इस प्रकार श्रवण करने तथा उपदेश देने द्वारा उन्हें महापुरुषों की दोहरी संगति प्राप्त हुई थी। दिव्य विज्ञान या कृष्ण का विज्ञान अधिकारियों से सीखना पड़ता है और जब कोई इस विज्ञान का उपदेश देता है, तो वह और भी योग्य बनता जाता है। इस प्रकार सूत गोस्वामी को दोनों लाभ प्राप्त थे, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने के समस्त अवगुणों तथा मानसिक क्लेशों से वे पूर्ण रूप से मुक्त थे। यह श्लोक निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि श्रील शुकदेव गोस्वामी ने, न तो सूत गोस्वामी को निम्नकुल में जन्म लेने से अध्यात्म विज्ञान की शिक्षा देने से इनकार किया, न ही नैमिषारण्य के मुनियों ने उनके उपदेश सुनने से इनकार किया। इसका अर्थ यह होता है कि हजारों वर्ष पूर्व, निम्नकुल में जन्म होने से किसी को अध्यात्म विज्ञान सीखने या उपदेश देने पर कोई प्रतिबन्ध न था। हिन्दू समाज में तथाकथित जाति प्रथा की कट्टरता पिछले सौ वर्षों में प्रमुख बनी है, जब द्विजबन्धुओं अर्थात् उच्चजाति के कुल में जन्मे अयोग्य मनुष्यों की संख्या बढ़ गई। भगवान् श्री चैतन्य ने मूल वैदिक पद्धति को फिर से जीवित किया और उन्होंने ठाकुर हरिदास को *नामाचार्य* अर्थात् 'भगवान् के पवित्र नाम के महिमा का प्रचार करने वाले अधिकारी' का पद प्रदान किया, यद्यपि श्रील हरिदास ठाकुर का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था।

भगवान् के शुद्ध भक्तों का ऐसा प्रताप होता है। गंगाजल को शुद्ध माना जाता है और जो कोई गंगा के जल में स्नान करता है, वह शुद्ध हो जाता है। किन्तु जहाँ तक भगवान् के महान् भक्तों का सम्बन्ध है, वे तो निम्नकुल में उत्पन्न अधम लोगों को अपने दर्शन से ही शुद्ध कर सकते हैं, तो फिर उनका संग करने के बारे में तो कहना ही क्या! भगवान् चैतन्य महाप्रभु संसार के दूषित वातावरण को संसार भर में योग्य प्रचारकों को भेज कर शुद्ध बनाना चाहते थे और अब यह भारतीयों का कर्तव्य है कि इस कार्य को वैज्ञानिक ढंग से हाथों में लें और सर्वोत्तम मानव कल्याण का कार्य करें। आधुनिक पीढ़ी के मानसिक रोग शारीरिक रोगों से अधिक गम्भीर हैं, अतएव यह उपयुक्त समय है कि देर लगाये बिना संसार भर में *श्रीमद्भागवत* के प्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय। *महत्तमानाम् अभिधान* का अर्थ है महान् भक्तों का शब्दकोश या महान् भक्तों की वाणी से युक्त पुस्तक। महान् भक्तों की तथा भगवान् की वाणी का ऐसा कोश, वेद तथा अन्य सम्बद्ध ग्रंथ, विशेष रूप से *श्रीमद्भागवत* में है।

कुतः पुनर्गुणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुतः—क्या कहें; पुनः—फिर; गुणतः—कीर्तन करनेवाला; नाम—पवित्र नाम; तस्य—उनका; महत्-तम—महान् भक्त;
एकान्त—एकमात्र; परायणस्य—जिसका आश्रय लिया जाय; यः—वह जो; अनन्त—अनन्त है; शक्तिः—शक्ति; भगवान्—
भगवान्; अनन्तः—असंख्य; महत्—महान्; गुणत्वात्—ऐसे गुणों के कारण; यम्—जिनको; अनन्तम्—अनन्त नाम से;
आहुः—पुकारा जाता है।

और उनके विषय में क्या कहा जाय, जो महान् भक्तों के निर्देशन में अनन्त के पवित्र नाम का कीर्तन करते हैं, जिनकी असीम शक्ति है? भगवान्, जो शक्ति में असीम तथा गुणों में दिव्य हैं, वे अनन्त कहलाते हैं।

तात्पर्य : द्विजबन्धु या अल्पज्ञ, जो उच्च जातियों में उत्पन्न असंस्कृत व्यक्ति हैं, इस जीवन में निम्नजाति के लोगों के ब्राह्मण बनने के विरुद्ध अनेक दलीलें देते हैं। उनकी दलील है कि शूद्र या शूद्र से भी निम्न परिवार में जन्म पूर्व जन्म में किये गये पापकर्मों के कारण होता है। अतएव उसे इस कमी की पूर्ति निम्न-जाति में जन्म लेकर करनी होती है। किन्तु इन मिथ्या तर्क करनेवालों को उत्तर देने के लिए श्रीमद्भागवत का कथन है कि जो मनुष्य शुद्ध भक्त के निर्देशन में भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है, वह तुरन्त ही निम्न-जाति में जन्म लेने के दोष से छूट जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए कोई अपराध नहीं करता। भगवान् के नाम-जप करने में दस प्रकार के अपराध होते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त के निर्देशन में किया गया जप अपराधरहित होता है और भगवान् का अपराधरहित जप दिव्य होता है, अतएव ऐसा जप पूर्वजन्म के समस्त पापों के प्रभाव को तुरन्त दूर कर सकता है। ऐसा अपराधरहित जप यह संकेत देता है कि मनुष्य ने पवित्र नाम की दिव्य प्रकृति को ठीक से समझ लिया है और इस प्रकार भगवान् की शरण ले ली है। आध्यात्मिक रूप से, भगवान् का नाम तथा स्वयं भगवान् परम अवस्था में होने के कारण एक हैं। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् के ही तुल्य शक्तिमान है। भगवान् सर्वशक्तिमान ईश्वरीय व्यक्तित्व हैं और उनके अनन्त नाम हैं, जो उनसे अभिन्न हैं और उन्हीं के समान शक्तिमान भी हैं। भगवद्गीता के अन्त में भगवान् बल देकर कहते हैं कि जो भी उनकी शरण में पूर्ण रूप से आता है, उसकी समस्त पापों से रक्षा की जाती है।

चूँकि वे तथा उनके नाम एक हैं, अतएव भगवान् का पवित्र नाम भक्तों को पापों के समस्त प्रभावों से बचा सकता है। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन निःसन्देह मनुष्य को निम्न कुल में जन्म लेने के दोष से उबार सकता है। भगवान् की असीम शक्ति भक्तों तथा अवतारों के असीम विस्तार से बढ़ती ही जाती है और इस प्रकार प्रत्येक भगवद्भक्त तथा सारे अवतार भी भगवान् की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। चूँकि भगवान् का भक्त भगवान् की शक्ति से ओतप्रोत हो जाता है, अतएव निम्न कुल में जन्म लेने का किञ्चित् मात्र भी दोष उसके रास्ते में बाधक नहीं बन सकता।

एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एतावता—इतनी दूर तक; अलम्—अनावश्यक; ननु—यदि तनिक भी हो तो; सूचितेन—वर्णन से; गुणैः—गुणों से; असाम्य—अमाप्य; अनति—शायनस्य—जिसकी बराबरी न हो सके उसका; हित्वा—छोड़कर; इतरान्—अन्य; प्रार्थयतः—याचना करनेवालों का; विभूतिः—लक्ष्मी की कृपा; यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पैर; रेणुम्—धूल; जुषते—सेवा करता है; अनभीप्सोः—अनिच्छित का।

अब यह निश्चित हो गया कि वे (भगवान्) अनन्त हैं और उनके तुल्य कोई भी नहीं है। फलस्वरूप उनके विषय में कोई भी पर्याप्त रूप से कह नहीं सकता। बड़े-बड़े देवता भी स्तुतियों के द्वारा जिस लक्ष्मी देवी की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते, वही देवी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि भगवान् ऐसी सेवा के लिए अनिच्छुक रहते हैं।

तात्पर्य : श्रुतियों के अनुसार, भगवान् या परमेश्वर परब्रह्म को कुछ भी नहीं करना होता। उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है, न ही उनसे कोई बढ़कर है। उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं और उनका हर कार्य अपने सहज तथा सम्यक् रूप में नियमानुसार होता रहता है। इस प्रकार भगवान् अपने आप में परिपूर्ण हैं और उन्हें अन्य किसी से कुछ भी लेना नहीं होता, यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं से भी नहीं। अन्य लोग जिन लक्ष्मी देवी की कृपादृष्टि के लिए लालायित रहते हैं और अनेक प्रार्थनाओं के बाद भी, वे उन पर कृपा नहीं करतीं, वे भी भगवान् की सेवा करती हैं, यद्यपि उन्हें लक्ष्मीजी से कुछ भी लेना नहीं होता। परमेश्वर अपने गर्भोदकशायी विष्णु रूप में ब्रह्मा को अपनी नाभि से निकले

कलम से भौतिक संसार के प्रथम जीव के रूप में जन्म देते हैं, लक्ष्मीदेवी के गर्भ से नहीं, जो उनकी सेवा में निरन्तर लगी रहती हैं। उनकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा परिपूर्णता के ये कुछ उदाहरण हैं। उन्हें कुछ करना नहीं होता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वे निराकार हैं। वे दिव्य रूप से अचिन्त्य शक्तियों से इतने परिपूर्ण हैं कि केवल उनके इच्छा करने मात्र से सब कुछ हो जाता है। उन्हें कोई शारीरिक या निजी प्रयास नहीं करना होता। इसीलिए वे योगेश्वर अर्थात् समस्त यौगिक शक्तियों के स्वामी कहलाते हैं।

अथापि यत्पादनखावसृष्टं

जगद्विरिञ्चोपहतार्हणाम्भः ।

सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्

को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; अपि—निश्चय ही; यत्—जिनके; पाद-नख—पाँव के नाखून; अवसृष्टम्—निकलते हुए; जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; विरिञ्च—ब्रह्माजी; उपहत—एकत्र किया; अर्हण—पूजा; अम्भः—जल; स—सहित; ईशम्—शिवजी; पुनाति—शुद्ध करता है; अन्यतमः—और कौन; मुकुन्दात्—भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त; कः—कौन; नाम—नाम; लोके—संसार में; भगवत्—परमेश्वर; पद—पद, स्थित; अर्थः—योग्य।

भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो परमेश्वर कहलाने के योग्य हो?

ब्रह्माजी ने उनके पाँव के नाखूनों से निकलनेवाले जल को भगवान् शिवजी को मस्तक पर ग्रहण करने के निमित्त एकत्र किया। यही जल (गंगानदी) शिवजी समेत सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध बना रहा है।

तात्पर्य : अज्ञानियों द्वारा वैदिक साहित्य में अनेक देवों की अवधारणा सर्वथा भ्रान्त है। भगवान् एक एवं अद्वितीय हैं, लेकिन वे अनेक प्रकार से अपना विस्तार करते हैं और इसकी पुष्टि वेदों में होती है। भगवान् के ऐसे विस्तार असंख्य हैं, लेकिन उनमें से कुछ जीव भी हैं। जीव भगवान् के पूर्ण अंशों के समान शक्तिशाली नहीं होते, अतएव दो प्रकार के विस्तार (अंश) होते हैं। ब्रह्माजी सामान्यतया जीवों में से एक हैं और शिवजी भगवान् तथा जीवों के बीच माध्यम स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी तथा शिवजी भी, जो देवताओं में अग्रणी हैं, भगवान् विष्णु के तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं हैं। लक्ष्मी देवी तथा ब्रह्मा एवं शिव जैसे शक्तिमान देवता, विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण की आराधना में लगे

रहते हैं। अतएव मुकुन्द (भगवान् कृष्ण) के अतिरिक्त और कौन अधिक शक्तिशाली हो सकता है, जो यथार्थ रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कहला सके? लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी तथा शिवजी स्वतंत्र रूप से शक्तिमान नहीं हैं; वे परमेश्वर के विस्तार रूप में ही शक्तिमान हैं। वे सभी भगवान् की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगे रहते हैं और उन्हीं की तरह सारे जीव भी। भगवान् के पूजक भक्तों के चार सम्प्रदाय हैं, जिनमें से ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय तथा श्री-सम्प्रदाय प्रमुख हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा, शिव तथा लक्ष्मी से प्रत्यक्ष आते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त, एक चौथा सम्प्रदाय कुमार-सम्प्रदाय है, जो सनत्कुमार से आता है। ये चारों मूल आज भी भगवान् की दिव्य सेवा में लगे हुए हैं और ये सभी घोषित करते हैं कि भगवान् कृष्ण या मुकुन्द ही पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं और अन्य कोई व्यक्ति न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है।

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा

व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।

व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं

यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिनके प्रति; अनुरक्ताः—दृढ़ता से आसक्त; सहसा—एकाएक; एव—निश्चय ही; धीराः—आत्मसंयमी; व्यपोह्य—एक ओर छोड़कर; देह—स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन; आदिषु—से सम्बन्धित; सङ्गम्—आसक्ति; ऊढम्—लगे हुए; व्रजन्ति—जाते हैं; तत्—वह; पारम-हंस्यम्—सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था; अन्त्यम्—तथा उसके परे; यस्मिन्—जिसमें; अहिंसा—अहिंसा; उपशमः—तथा वैराग्य; स्व-धर्मः—परिणामी वृत्ति।

परम भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त आत्म-संयमी पुरुष, स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन सहित, एकाएक भौतिक आसक्ति से ओतप्रोत संसार को त्याग सकते हैं और जीवन के संन्यास आश्रम की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के लिए बाहर चले जाते हैं, जिसके फलस्वरूप अहिंसा तथा वैराग्य उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : केवल आत्म-संयमी व्यक्ति ही धीरे-धीरे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति अनुरक्त हो सकता है। आत्म-संयमी का अर्थ है, जो आवश्यकता से अधिक इन्द्रियभोग में लिप्त न हो। और जो लोग आत्म-संयमी नहीं हैं, वे इन्द्रियभोग में लिप्त हो जाते हैं। शुष्क दार्शनिक चिन्तन मन का सूक्ष्म इन्द्रियभोग है। इन्द्रियभोग मनुष्य को अंधकार के मार्ग की ओर ले जाता है। जो लोग आत्म-संयमी हैं,

वे भौतिक अस्तित्व के बद्ध जीवन से मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर हो सकते हैं। इसीलिए वेदों का आदेश है कि मनुष्य को अंधकार के मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, अपितु प्रकाश के मार्ग अथवा मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। आत्म-संयम इन्द्रियों को कृत्रिम ढंग से भौतिक भोग से रोकने से नहीं आता, अपितु अपनी शुद्ध इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य सेवा में लगाकर परमेश्वर में वास्तविक रूप से अनुरक्त होने से आता है। इन्द्रियों को बलपूर्वक दमित नहीं किया जा सकता, अपितु उन्हें उचित कार्य में लगाया जा सकता है। अतएव शुद्ध इन्द्रियाँ सदैव भगवान् की दिव्य सेवा में लगी रहती हैं। इन्द्रियों को संलग्न रखने की यह सिद्धावस्था भक्तियोग कहलाती है। अतएव जो लोग भक्तियोग के साधनों में अनुरक्त हैं, वे वास्तव में आत्म-संयमी हैं और वे भगवान् की सेवा करने के लिए अपना घरेलू या शारीरिक मोह सहसा छोड़ सकते हैं। यह परमहंस अवस्था कहलाती है। हंस दूध तथा पानी के मिश्रण में से केवल दूध ग्रहण करता है। इसी प्रकार जो माया की सेवा न करके, भगवान् की सेवा करना अपनाते हैं, वे परमहंस कहलाते हैं। उनमें स्वभावतः सारे सद्गुण यथा निरभिमानता, अहंकार से मुक्ति, अहिंसा, धैर्य, सरलता, विनयशीलता, पूजा, भक्ति तथा निष्ठा पाये जाते हैं। ये सारे दैवी गुण भगवद्भक्त में सहज रूप से पाये जाते हैं। ऐसे परमहंस, जो भगवान् की सेवा में ही लगे रहते हैं, अत्यन्त दुर्लभ हैं। यहाँ तक कि मुक्तात्माओं में भी ये दुर्लभ हैं। वास्तविक अहिंसा का अर्थ है, द्वेष से मुक्त होना। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने सहभागी जीव से द्वेष रखता है। किन्तु एक पूर्ण-परमहंस भगवान् की सेवा में संलग्न रहने के कारण पूर्ण रूप से द्वेषरहित होता है। वह प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर से सम्बन्धित समझते हुए प्यार करता है। वास्तविक वैराग्य का अर्थ है, ईश्वर पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। प्रत्येक जीव किसी अन्य पर आश्रित है, क्योंकि उसे ऐसा ही बनाया गया है। वास्तव में हर कोई भगवान् की कृपा पर आश्रित है, किन्तु जब वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है, तो वह प्रकृति की दशाओं पर निर्भर रहने लगता है। वैराग्य का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर निर्भरता का परित्याग और इस प्रकार भगवान् की कृपा पर पूर्ण रूप से आश्रित होना। वास्तविक स्वतंत्रता का अर्थ है, पदार्थ पर निर्भर न रहकर भगवान् की कृपा पर पूर्ण श्रद्धा। यह परमहंस अवस्था भक्तियोग की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जो परमेश्वर के लिए की जाने वाली भक्तिमय सेवा की विधि है।

अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भि-
 राचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
 नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिण-
 स्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; हि—निश्चय ही; पृष्टः—आपके द्वारा पूछा गया; अर्यमणः—सूर्य के समान शक्तिशाली; भवद्भिः—आपके द्वारा;
 आचक्षे—वर्णन करे; आत्म-अवगमः—जहाँ तक मेरी जानकारी है; अत्र—यहाँ पर; यावान्—जहाँ तक; नभः—आकाश;
 पतन्ति—उड़ते हैं; आत्म-समम्—जहाँ तक हो सकता है; पतत्त्रिणः—पक्षी; तथा—उसी प्रकार; समम्—वैसे ही; विष्णु-
 गतिम्—विष्णु का ज्ञान; विपश्चितः—विद्वानों के माध्यम से भी ।

हे सूर्य के समान शक्तिशाली ऋषियों, मैं आपको अपने ज्ञान के अनुसार विष्णु की दिव्य लीलाओं के वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा। जिस प्रकार पक्षी आकाश में उतनी ही दूर तक उड़ते हैं, जितनी उनमें क्षमता होती है, उसी प्रकार विद्वान भक्त-गण भगवान् की लीलाओं का वर्णन अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार करते हैं।

तात्पर्य : परम पूर्ण सत्य अनन्त है। कोई भी जीव अपनी सीमित क्षमता से अनन्त को नहीं जान सकता। भगवान् निराकार, साकार तथा अन्तर्यामी हैं। अपने निराकार पक्ष से वे सर्वव्यापी ब्रह्म हैं, तो अपने अन्तर्यामी स्वरूप से वे परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदय में विराजमान रहते हैं और अपने परम साकार रूप से वे अपने शुद्ध भक्त रूप में भाग्यशाली पार्षदों द्वारा उनकी दिव्य प्रेममयी सेवा के विषय बनते हैं। इन विभिन्न स्वरूपों में भगवान् की लीलाओं का आंशिक अनुमान बड़े-बड़े विद्वान भक्त ही लगा पाते हैं। अतएव श्रील सूत गोस्वामी ने अपनी अनुभूति के अनुसार भगवान् की लीलाओं का वर्णन करने का जो कार्यभार अपने ऊपर लिया है, वह उचित ही है। वास्तव में स्वयं भगवान् ही अपना वर्णन कर सकते हैं और उनके विद्वान भक्त भी उनका उतना ही वर्णन कर सकते हैं, जितने के लिए वे उन्हें शक्ति प्रदान करते हैं।

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयां वने ।
 मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥ २४ ॥
 जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
 ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; धनुः—धनुष तथा बाण; उद्यम्य—दृढ़तापूर्वक धारण करके; विचरन्—घूमते हुए; मृगयाम्—शिकार के लिए; वने—जंगल में; मृगान्—हिरणों को; अनुगतः—पीछा करते; श्रान्तः—थका हुआ; क्षुधितः—भूखे; तृषितः—प्यासे होकर; भृशम्—अत्यधिक; जल-आशयम्—जल के आगार को, तालाब को; अचक्षाणः—खोज करते हुए; प्रविवेश—प्रवेश किया; तम्—उस प्रसिद्ध; आश्रमम्—शमीक ऋषि की कुटिया में; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—आसन लगाये; शान्तम्—चुप, शान्त; मीलित—बन्द किये; लोचनम्—आँखें।

एक बार महाराज परीक्षित वन में धनुष-बाण से शिकार करते हुए, हिरणों का पीछा करते-करते अत्यन्त थक गये और उन्हें अत्यधिक भूख तथा प्यास लग आई। जलाशय की खोज करते हुए वे सुविख्यात शमीक ऋषि के आश्रम में प्रविष्ट हुए, जहाँ उन्होंने आँखें बन्द किये, शान्त भाव से बैठे मुनि को देखा।

तात्पर्य : परमेश्वर अपने शुद्ध भक्तों पर इतने कृपालु हैं कि वे उचित समय पर ऐसे भक्तों को अपने पास बुलाकर भक्त के लिए शुभ स्थिति का निर्माण करते हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के शुद्ध भक्त थे, अतएव उनके अत्यधिक थकने, भूखे तथा प्यासे होने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि भगवद्भक्त कभी ऐसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित नहीं होता। लेकिन भगवान् की इच्छा से ऐसा भक्त भी सांसारिक कार्यकलापों से वैराग्य लेने के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए, ऊपरी तौर से थका एवं प्यासा लग सकता है। मनुष्य को भगवद्धाम जाने के पूर्व सारे सांसारिक सम्बन्धों के प्रति आसक्ति का त्याग करना होता है, अतएव जब भक्त सांसारिक मामलों में अधिक तल्लीन रहने लगता है, तो भगवान् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करते हैं कि उसमें उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। परमेश्वर अपने शुद्ध भक्त को कभी भूलते नहीं, भले ही वह तथाकथित सांसारिकता में व्यस्त क्यों न हो। कभी-कभी वे विषम परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं और भक्त को सारी सांसारिकता से वैराग्य लेने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। भक्त भगवान् के संकेत को समझ लेता है, लेकिन अन्य लोग इसे प्रतिकूल एवं निराशाजनक मानते हैं। महाराज परीक्षित को भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमद्भागवत के उद्घाटन का निमित्त बनना था, जिस प्रकार उनके पितामह अर्जुन भगवद्गीता के लिए माध्यम बने थे। यदि भगवान् की इच्छा से अर्जुन में परिवार के प्रति स्नेह के फलस्वरूप मोह न उत्पन्न होता, तो भगवान् द्वारा सर्वजन हितार्थ भगवद्गीता का प्रवचन न हुआ होता। इसी प्रकार यदि इस समय परीक्षित महाराज थके, भूखे तथा प्यासे न होते, तो भागवत के प्रमुख अधिकारी श्रील शुकदेव गोस्वामी द्वारा

श्रीमद्भागवत न कहा गया होता। अतएव यह उन परिस्थितियों का उपक्रम है, जिनके अन्तर्गत सर्व जनहिताय श्रीमद्भागवत कहा गया। अतएव यह उपक्रम एकदा अर्थात् 'एक बार' से प्रारम्भ होता है।

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् ।

स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

प्रतिरुद्ध—रुका हुआ; इन्द्रिय—इन्द्रिय; प्राण—प्राणवायु; मनः—मन; बुद्धिम्—बुद्धि; उपारतम्—निश्चेष्ट; स्थान—जगह; त्रयात्—तीनों से; परम्—दिव्य; प्राप्तम्—प्राप्त किया गया; ब्रह्म-भूतम्—परब्रह्म के समान; अविक्रियम्—अप्रभावित।

मुनि की इन्द्रियाँ, श्वास, मन तथा बुद्धि सभी ने भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये थे और वे तीनों (जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्ति) स्थितियों से अलग होकर, परम पूर्ण के समान गुणात्मक दृष्टि से दिव्य पद प्राप्त करके, समाधि में स्थित थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वे मुनि, जिनके आश्रम में राजा ने प्रवेश किया था, योग समाधि में थे, यह दिव्य पद तीन विधियों से प्राप्त किया जाता है : ज्ञान अर्थात् सैद्धान्तिक अध्यात्म ज्ञान से, योग अर्थात् शरीर के क्रियात्मक तथा मनोवैज्ञानिक कार्यों को वश में करके समाधि की वास्तविक अनुभूति से तथा भक्ति योग की अत्यन्त स्वीकृत विधि अर्थात् इन्द्रियों को भगवान् की भक्तिमय सेवा में लगाने से। भगवद्गीता से भी हमें पदार्थ से जीव तक की अनुभूति के क्रमिक विकास का परिचय प्राप्त होता है। हमारे भौतिक मन तथा शरीर, जीव अर्थात् आत्मा से विकसित होते हैं और हम पदार्थ के तीन गुणों के प्रभाव में आकर अपनी असली पहचान (स्वरूप) को भूल जाते हैं। ज्ञानयोग सैद्धान्तिक रूप से आत्मा की वास्तविकता के विषय में चिन्तन है। लेकिन भक्तियोग आत्मा को सचमुच कर्म में लगाता है। पदार्थ की अनुभूति की अवस्था को पार करने के बाद इन्द्रियों की अधिक सूक्ष्म अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों की अवस्था को सूक्ष्मतर मन द्वारा, और मन को प्राण की गतिविधियाँ द्वारा और फिर उसे क्रमशः बुद्धि द्वारा पार कर दिया जाता है। बुद्धि से आगे, जीवंत आत्मा को योग पद्धति की यांत्रिक क्रियाओं के द्वारा अथवा इन्द्रियों को वश में करके ध्यान का अभ्यास, प्राणायाम साधना तथा दिव्य पद तक उठने के लिए बुद्धि के प्रयोग के द्वारा अनुभव किया जाता है। यह समाधि शरीर की

सारी भौतिक क्रियाओं को रोक देती है। राजा ने मुनि को इसी अवस्था में देखा। उन्होंने मुनि को निम्न प्रकार से भी देखा।

विप्रकीर्णजटाच्छत्रं रौरवेणाजिनेन च ।

विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

विप्रकीर्ण—बिखरे हुए; जट-आच्छत्रम्—लम्बी-लम्बी जटाओं से ढँका; रौरवेण—मृगछाला से; अजिनेन—चर्म से; च—भी; विशुष्यत्—सूखा हुआ; तालुः—तालू; उदकम्—जल; तथा-भूतम्—उस अवस्था में; अयाचत—माँगा।

ध्यान-मग्न मुनि मृग-चर्म लपेटे थे और इनकी लम्बी जटाएँ उनके सारे शरीर पर बिखरी हुई थीं। प्यास के मारे सूखे तालू वाले राजा ने उनसे जल माँगा।

तात्पर्य : प्यासे होने के कारण राजा ने मुनि से जल माँगा। ऐसे महान् भक्त राजा ने समाधि में लीन मुनि से जल माँगा यह निश्चय ही दैवकृत था। अन्यथा ऐसी विलक्षण घटना की कोई सम्भावना न थी। इस तरह महाराज परीक्षित विषम परीस्थिति में रखे गये, जिससे आगे चलकर श्रीमद्भागवत का प्राकट्य हो सका।

अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः ।

अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अलब्ध—न प्राप्त कर सकने से; तृण—दर्भासन; भूमि—स्थान; आदिः—इत्यादि; असम्प्राप्त—ठीक से स्वागत न होकर; अर्घ्य—जल दान; सूनृतः—मधुर वचन; अवज्ञातम्—इस प्रकार उपेक्षित; इव—सदृश; आत्मानम्—स्वयं को; मन्यमानः—इस प्रकार सोचते हुए; चुकोप—क्रुद्ध हुए; ह—इस तरह।

आसन, बैठने का स्थान, जल तथा मधुर वचनों के द्वारा किसी प्रकार से स्वागत न किये जाने पर, राजा ने अपने आपको उपेक्षित समझा और इस तरह सोचते हुए वे क्रुद्ध हो गये।

तात्पर्य : वैदिक नियमों की संहिता में स्वागत करने का नियम यह है कि यदि घर पर शत्रु भी आये जाये, तो उसका सभी प्रकार से सम्मान किया जाना चाहिए। उसे यह सोचने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए कि वह अपने शत्रु के घर आया है। जब भगवान् कृष्ण, अर्जुन तथा भीमसेन के साथ मगध के राजा जरासन्ध के यहाँ पहुँचे, तो उसने सम्माननीय शत्रुओं का राजकीय स्वागत किया।

अतिथि शत्रु भीम को जरासन्ध से लड़ना था, फिर भी उसका शानदार सत्कार किया गया। रात्रि में वे मित्रों तथा अतिथियों के रूप में परस्पर बातें करते और दिन में जान की बाजी लगाकर मल्लयुद्ध करते। यह था सत्कार का नियम। सत्कार नियमों में यह आदेश है कि जिस निर्धन व्यक्ति के पास अतिथि को देने के लिए कुछ भी न हो, उसे चाहिए कि बैठने के लिए चटाई दे, पीने के लिए एक गिलास जल दे तथा कुछ मधुर वचन कहे। अतएव अतिथि के सत्कार में, चाहे वह मित्र हो या शत्रु, कोई खर्च नहीं लगता। यह तो शिष्टाचार की बात है।

जब महाराज परीक्षित शमीक ऋषि के द्वार में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने ऋषि द्वारा राजोचित सत्कार की आशा नहीं की थी, क्योंकि वे जानते थे कि ऋषि-मुनि भौतिक दृष्टि से धन सम्पन्न नहीं होते। लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि उन्हें बैठने का आसन, एक गिलास जल तथा कुछ मीठे वचन भी नहीं मिल पायेंगे। वे, न तो सामान्य अतिथि थे, न ही ऋषि के शत्रु थे, अतएव ऋषि के इस शुष्क सत्कार से राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वस्तुतः जब राजा को जल की अत्यन्त आवश्यकता थी, तो उनका क्रुद्ध होना उचित था। ऐसी विकट स्थिति में क्रुद्ध होना राजा के लिए अस्वाभाविक न था, लेकिन चूँकि राजा स्वयं किसी महान् सन्त से कम न थे, अतएव उनका क्रुद्ध होना और फिर कार्यवाही करना आश्चर्यजनक था। अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि भगवान् की सर्वोपरि इच्छा से ऐसा होना ही था। राजा भगवान् के महान् भक्त थे और ऋषि भी राजा के ही समान थे। लेकिन भगवान् की इच्छा थी कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों कि जिनसे राजा को अपने पारिवारिक तथा सरकारी कार्यों से अनासक्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में पूर्ण रूप से आत्म-समर्पित होना पड़े। कभी-कभी कृपामय भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के लिए ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिससे वे उन्हें भौतिक संसाररूपी दलदल से अपने पास खींच सकें। लेकिन ऊपर से सारी परिस्थितियाँ भक्तों के लिए अत्यन्त निराशाजनक सी लगती हैं। भगवान् के भक्त सदैव भगवान् के संरक्षण में रहते हैं और किसी भी दशा में, चाहे निराशा हो या सफलता, भगवान् भक्तों के परम पथ-प्रदर्शक रहते हैं। अतएव शुद्ध भक्त, निराशा की, सारी परिस्थितियों को भगवान् के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं।

अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।

ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अभूत-पूर्वः—जो पहले कभी न हुआ हो, (पहला); सहसा—एकाएक; क्षुत्—भूख; तृड्भ्याम्—तथा प्यास से; अर्दित—पीड़ित होकर; आत्मनः—अपने आप; ब्राह्मणम्—ब्राह्मण; प्रति—के प्रति; अभूत्—हो गये; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; मत्सरः—ईर्ष्यालु; मन्युः—क्रुद्ध; एव—इस प्रकार; च—तथा ।

हे ब्राह्मणों, ब्राह्मण मुनि के प्रति राजा का क्रोध तथा द्वेष अभूतपूर्व था, क्योंकि परिस्थितियों ने उन्हें भूखे तथा प्यासे बना दिये थे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे राजा के लिए एक मुनि तथा ब्राह्मण पर इस तरह क्रुद्ध तथा द्वेषपूर्ण होना निस्संदेह अभूतपूर्व था। राजा भलीभाँति जानते थे कि ब्राह्मण, साधु, बालक, स्त्रियाँ तथा वृद्ध पुरुष दण्ड के दायरे के बाहर होते हैं। इसी प्रकार, राजा भले ही भंयकर भूल क्यों न करे, कभी गुनहगार नहीं माना जाता। लेकिन यहाँ पर महाराज परीक्षित, भगवान् की इच्छा से, अपनी भूख तथा प्यास के कारण मुनि पर क्रुद्ध हो गये। राजा का अपनी प्रजा को अपना सत्कार न होने या अपनी उपेक्षा करने के लिए दण्ड देना ठीक था, लेकिन चूँकि दोषी एक मुनि तथा ब्राह्मण थे, अतएव यह अभूतपूर्व घटना थी। जिस तरह भगवान् किसी से ईर्ष्या नहीं करते, उसी तरह भगवद्भक्त भी कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करता। महाराज परीक्षित के इस आचरण की एकमात्र सफाई यही है कि भगवान् द्वारा ऐसा पूर्वनियोजित था।

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा ।

विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—राजा; तु—किसी; ब्रह्म-ऋषेः—ब्राह्मण ऋषि के; अंसे—कंधे पर; गत-असुम्—निर्जीव; उरगम्—सर्प; रुषा—क्रोध में; विनिर्गच्छन्—जाते हुए; धनुः-कोट्या—धनुष के अग्रभाग से; निधाय—रखकर; पुरम्—महल को; आगतः—वापस आये।

इस प्रकार अपमानित होकर, राजा ने लौटते समय अपने धनुष से एक मृत सर्प उठाया और उसे क्रोधवश मुनि के कंधे पर रख दिया; तब वे अपने राजमहल को लौट आये।

तात्पर्य : राजा ने मुनि के साथ 'जैसे को तैसा' का व्यवहार किया; यद्यपि वे इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण कार्यवाही के अभ्यस्त न थे। भगवद् इच्छा से, राजा ने लौटते समय, अपने समक्ष एक मरा

हुआ सर्प देखा और सोचा कि जिस मुनि ने उन्हें इस प्रकार उपेक्षित समझा है, यदि उनके गले में मृत सर्प की माला पहना दी जाय, तो वे भी इसी प्रकार उपेक्षित हो जाय। सामान्य व्यवहार में, यह अधिक अस्वाभाविक न था, लेकिन एक ब्राह्मण मुनि के साथ महाराज परीक्षित का यह व्यवहार निश्चित रूप से अभूतपूर्व था। यह भगवान् की इच्छा से ही हुआ।

एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः ।

मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; किम्—क्या; निभृत-अशेष—ध्यानमग्न मुद्रा; करणः—इन्द्रियाँ; मीलित—बन्द, मुँदी; ईक्षणः—आँखें; मृषा—झूठी; समाधिः—समाधि; आहो—रहता है; स्वित्—यदि ऐसा है; किम्—या तो; नु—लेकिन; स्यात्—हो सकता है; क्षत्र-बन्धुभिः—निम्न क्षत्रिय के द्वारा।

लौटने पर वे सोचने लगे तथा मन ही मन तर्क करने लगे कि क्या मुनि इन्द्रियों को एकाग्र करके तथा आँखें बन्द किये सचमुच समाधि में थे, अथवा वे निम्न क्षत्रिय का सत्कार करने से बचने के लिए समाधि का स्वाँग रचा रहे थे?

तात्पर्य : भगवद्भक्त होने के कारण, राजा ने अपनी इस कार्यवाही को उचित नहीं समझा, अतएव वे सोचने लगे कि क्या मुनि सचमुच समाधि में थे, अथवा वे बहाना बना रहे थे, जिससे उन्हें राजा का स्वागत न करना पड़े, क्योंकि राजा क्षत्रिय था अतएव पद में उनसे निम्न था। उत्तम जीव जब कभी कोई त्रुटि करता है, तो उसके मन में तुरन्त पश्चात्ताप होता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर तथा श्रील जीव गोस्वामी यह नहीं मानते कि राजा का यह कार्य उनके विगत दुष्कर्मों के कारण था। यह योजना तो भगवान् ने राजा को अपने घर, भगवद्धाम में वापस बुलाने के लिए बनाई थी।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार, यह योजना भगवान् की इच्छा से बनी थी और भगवान् की इच्छा से निराशा की स्थिति उत्पन्न हुई थी। योजना यह थी कि राजा के इस तथाकथित दुष्कर्म के लिए कलि के प्रभाव से दूषित हो चुका एक अनुभव-विहीन ब्राह्मण बालक शाप देगा। इस तरह यह अच्छा ही होगा कि राजा अपने घर-बार को छोड़ सकेगा और श्रील शुकदेव गोस्वामी के साथ सम्बन्ध होने से, श्रीमद्भागवत प्रस्तुत होगा, जिसे भगवान् का ग्रंथावतार समझा जाता है। इस ग्रंथावतार से भगवान् की दिव्य लीलाओं के बारे में, विशेष रूप से ब्रजभूमि की दिव्य गोपिकाओं के साथ उनकी रासलीला

की अत्यन्त मनोहारी जानकारी प्राप्त होती है। भगवान् की इस विशिष्ट लीला का विशेष महत्त्व है, क्योंकि जो भी भगवान् की इस लीला को ठीक तरह से समझता है, वह निश्चय ही संसारी कामवासना से विरत हो जाता है और भगवान् की भक्तिमय सेवा के भव्य मार्ग पर प्रतिष्ठित हो जाता है। शुद्ध भक्त की संसारी निराशा उसे उच्चतर दिव्य स्थान प्रदान कराने के निमित्त होती है। अर्जुन तथा पाण्डवों को उनके चचेरे बन्धुओं से षड्यंत्र कराकर, भगवान् ने कुरुक्षेत्र युद्ध की भूमिका का निर्माण किया। यह सब भगवान् की वाणी की प्रतिनिधि *भगवद्गीता* का अवतार कराने के लिए था। इसी प्रकार राजा परीक्षित को विषम परिस्थिति में डालकर, भगवान् की इच्छा से *श्रीमद्भागवत* का अवतार कराया गया। भूख तथा प्यास से क्षुब्ध होना तो मात्र दिखावा था, क्योंकि राजा ने माता के गर्भ में रहते हुए भी बहुत सहन किया था। वे अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये ब्रह्मास्त्र के जाज्वल्यमान ताप से कभी विचलित नहीं हुए। राजा की यह व्यथापूर्ण स्थिति निश्चय ही अभूतपूर्व थी। महाराज परीक्षित जैसे भक्त भगवान् की कृपा से ऐसी आपदाओं को सहन करने के लिए काफी शक्तिशाली होते हैं और वे कभी विचलित नहीं होते। अतएव इस प्रसंग में सारी परिस्थिति भगवान् द्वारा नियोजित थी।

तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः ।

राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (मुनि का); पुत्रः—पुत्र; अति—अत्यधिक; तेजस्वी—शक्तिमान; विहरन्—खेलते हुए; बालकः—बालकों के साथ; अर्भकैः—जो अभी बचकाना थे; राज्ञा—राजा द्वारा; अघम्—विपत्ति; प्रापितम्—दिया गया; तातम्—पिता को; श्रुत्वा—सुनकर; तत्र—वहीं पर; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोला।

उस मुनि का एक पुत्र था, जो ब्राह्मण-पुत्र होने के कारण अत्यन्त शक्तिमान था। जब वह अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, तभी उसने अपने पिता की विपत्ति सुनी, जो राजा द्वारा लाई गई थी। वह बालक वहीं पर इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के उत्तम शासन के कारण अल्पवय-बालक, जो अभी अन्य अनुभवहीन बालकों के साथ खेल रहा था, योग्य ब्राह्मण के समान तेजस्वी हो सकता था। यह बालक श्रृंगी नाम से जाना जाता था और उसे अपने पिता से ब्रह्मचर्य की अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी, जिससे वह इसी आयु में एक ब्राह्मण के समान शक्तिशाली (तेजस्वी) हो गया था। लेकिन, चूँकि कलियुग

जीवन के चार आश्रमों की सांस्कृतिक धरोहर को विनष्ट करने के अवसर की ताक में था, अतएव इस अनुभवशून्य बालक ने कलियुग को अवसर प्रदान किया कि वह वैदिक संस्कृति के क्षेत्र में प्रविष्ट हो सके। कलि के प्रभाव से, जीवन के निम्नतर आश्रमों के प्रति घृणा के भाव का प्रारम्भ इस ब्राह्मण बालक से हुआ और इस तरह दिन-प्रति-दिन सांस्कृतिक जीवन क्षीण होता गया। इस तरह ब्राह्मण-अन्याय के पहले शिकार महाराज परीक्षित हुए और इस प्रकार कलि के आघात के प्रति राजा द्वारा दिया जाने वाला संरक्षण शिथिल पड़ गया।

अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव ।

स्वामिन्यघं यद् दासानां द्वारपानां शुनामिव ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहो—जरा देखो तो; अधर्मः—अधर्म; पालानाम्—शासकों का; पीव्नाम्—पाले गये का; बलि-भुजाम्—कौवों की तरह; इव—सदृश; स्वामिनि—स्वामी को; अघम्—पाप; यत्—जो है; दासानाम्—नौकरों का; द्वार-पानाम्—दरवाजे की रखवाली करनेवाले; शुनाम्—कुत्ते के; इव—सदृश।

[ब्राह्मण बालक शृंगी ने कहा:] अरे! शासकों के पापों को तो देखो, जो अधिशासी-दास-सिद्धान्तों के विरुद्ध, कौवों तथा द्वार के रखवाले कुत्तों की तरह अपने स्वामियों पर पाप ढाते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मणों को समाज-रूपी शरीर का शिर तथा मस्तिष्क माना जाता है और क्षत्रियों को बाहु। बाहुओं की आवश्यकता शरीर को सभी प्रकार की क्षतियों से बचाने के लिए पड़ती है, लेकिन बाहुओं को सिर तथा मस्तिष्क के निर्देशों के अनुसार कार्य करना होता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है, जो परमेश्वर द्वारा की गई है, क्योंकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि चारों वर्ण, जिनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं, मनुष्यों के गुणों तथा उनके कार्यों के अनुसार निर्धारित किये गये हैं। स्वाभाविक है कि ब्राह्मण के पुत्र के लिए अपने योग्य पिता के निर्देशन में ब्राह्मण बनने के अच्छे अवसर प्राप्त रहते हैं, जिस प्रकार एक चिकित्सक के पुत्र के लिए योग्य चिकित्सक बनने का अच्छा अवसर रहता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक है। पुत्र को पिता की योग्यता का लाभ उठाना चाहिए और एक ब्राह्मण या चिकित्सक बनना चाहिए, अन्य कुछ नहीं। योग्य हुए बिना कोई न तो ब्राह्मण बन सकता है, न चिकित्सक और यही समस्त शास्त्रों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का

अभिमत है। यहाँ पर महान् ब्राह्मण के योग्य पुत्र शृंगी ने, जन्म से तथा प्रशिक्षण दोनों से अपेक्षित ब्राह्मणशक्ति प्राप्त कर ली थी, किन्तु उसमें संस्कृति का अभाव था, क्योंकि वह अनुभव-हीन बालक था। कलि के प्रभाव से, यह ब्राह्मण बालक अपनी ब्राह्मणशक्ति से गर्वित हो उठा और गलत ढंग से महाराज परीक्षित की तुलना कौवों तथा रखवाले कुत्तों से कर बैठा। राजा निश्चय ही इस अर्थ में राज्य के रखवाले कुत्ते की भाँति ही होता है, क्योंकि उसे सीमा की सुरक्षा के लिए उस पर कड़ी निगरानी रखनी पड़ती है तथापि उसे कुत्ता कहकर सम्बोधित करना अल्प-सभ्य बालक का द्योतक है। इस प्रकार ब्राह्मणशक्ति का पतन तब से प्रारम्भ हुआ, जब वे संस्कृति के बिना जन्म-सिद्ध अधिकार पर बल देने लगे। ब्राह्मण जाति का पतन कलियुग में शुरू हुआ। चूँकि ब्राह्मण समाज-व्यवस्था के प्रमुख होते हैं, अतएव समाज के अन्य वर्ण भी पतित होने लगे। ब्राह्मणों के पतन का यह सूत्रपात शृंगी के पिता के लिए अत्यधिक पश्चात्ताप का कारण बना, जैसाकि हम आगे देखेंगे।

ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि गृहपालो निरूपितः ।

स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों द्वारा; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रियों के पुत्र; हि—निश्चय ही; गृह-पालः—रक्षक कुत्ते; निरूपितः—नामधारी;
सः—वह; कथम्—किस बल पर; तत्-गृहे—अपने (स्वामी) के घर में; द्वाः-स्थः—द्वार पर बैठा; स-भाण्डम्—उसी भाँडे में;
भोक्तुम्—खाने के लिए; अर्हति—योग्य है।

राजाओं की सन्तानें निश्चित रूप से द्वाररक्षक कुत्ते नियुक्त हुई हैं और उन्हें द्वार पर ही रहना चाहिए। तो किस आधार पर ये कुत्ते घर में घुसकर अपने स्वामी की ही थाली में खाने का दावा करते हैं?

तात्पर्य : अनुभव-हीन ब्राह्मण बालक अच्छी तरह जानता था कि राजा ने उसके पिता से पानी माँगा था और उसके पिता ने कुछ जवाब नहीं दिया। उसने एक असभ्य बालक के लिए उपयुक्त अशिष्ट ढंग से अपने पिता की असत्कारशीलता की सफाई देने का प्रयत्न किया। उसे राजा का ठीक से सत्कार न किये जाने का तनिक भी दुख न था। इसके विपरीत, वह गलत काम को कलियुग के ब्राह्मणों की भाँति, लाक्षणिक ढंग से, वैध ठहरा रहा था। उसने राजा की तुलना दरवाजे के कुत्ते से की, अतएव राजा के लिए ब्राह्मण के घर में घुसकर उसी पात्र से जल माँगना अनुचित था। कुत्ते को स्वामी ही

पालता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह स्वामी की ही थाली में खायेगा और पियेगा। यह झूठी प्रतिष्ठा की मानसिकता ही पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के पतन का कारण है और हम यह देख सकते हैं कि इसका सूत्रपात एक अनुभव-शून्य ब्राह्मण बालक ने किया था। जिस प्रकार कुत्तों को कमरे तथा चूल्हे-चौके में नहीं घुसने दिया जाता, भले स्वामी ने ही कुत्ता पाल रखा हो, उसी प्रकार शृंगी के अनुसार राजा को कोई अधिकार नहीं था कि वह शमीक ऋषि के घर में घुसता। बालक के मत से राजा ही गलती पर था, उसका अपना पिता नहीं और इस तरह उसने अपने शान्त रहने वाले पिता को न्यायपूर्ण ठहराया।

कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् ।

तद्विन्नसेतूनद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

कृष्णे—भगवान् कृष्ण के; गते—इस संसार से प्रयाण करके जाने पर; भगवति—भगवान्; शास्तरि—परम शासक; उत्पथ-गामिनाम्—उत्पातियों को; तत् भिन्न—विलग होने से; सेतून्—रक्षक; अद्य—आज; अहम्—मैं; शास्मि—दण्ड दूँगा; पश्यत—जरा देखना; मे—मेरा; बलम्—पराक्रम।

सबों के परम शासक भगवान् श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पश्चात्, हमारे रक्षक तो चले गये, लेकिन ये उपद्रवी फल-फूल रहे हैं। अतएव इस मामले को मैं अपने हाथ में लेकर उन्हें दण्ड दूँगा। अब मेरे पराक्रम को देखो।

तात्पर्य : वह अनुभवहीन ब्राह्मण, अल्प ब्रह्म-तेज से गर्वित होकर, कलियुग के जादू से प्रभावित हो उठा। महाराज परीक्षित ने कलियुग को चार स्थानों में रहने की छूट दे दी थी, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, किन्तु राजा के अत्यन्त दक्ष शासन में कलि को इन नियत स्थानों में कहीं भी रहने को स्थान न मिल पाया। अतएव कलियुग अपनी सत्ता जताने की ताक में था और भगवान् की कृपा से उसे इस गर्वित अनुभवहीन ब्राह्मण बालक रूप में छिद्र मिल ही गया। यह छोटा सा ब्राह्मण विनाश के लिए अपना तेज दिखाना चाह रहा था और उसने महाराज परीक्षित जैसे महान् राजा को दण्ड देने की घृष्टता की। वह भगवान् कृष्ण के प्रयाण के बाद उनका स्थान ग्रहण करना चाह रहा था। ये उन उपद्रवियों के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं, जो कलि के प्रभाव से श्रीकृष्ण का स्थान लेना चाहते हैं। थोड़ी सी शक्ति से सम्पन्न होकर, एक उपद्रवी भगवान् का अवतार बनना चाहता है। इस संसार से भगवान् कृष्ण के प्रयाण

के बाद, कई मिथ्या अवतार हुए हैं और वे भोली-भाली जनता की आध्यात्मिक आज्ञाकारिता का स्वीकार करके अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए जनता को गुमराह कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, कलि को इस ब्राह्मण पुत्र शृंगी के माध्यम से अपना शासन जताने का अवसर प्राप्त हो सका।

इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकः ।

कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; रोष-ताम्र-अक्षः—क्रुद्ध होने के कारण लाल-लाल आँखें किये; वयस्यान्—संगियों को; ऋषि-बालकः—ऋषि का पुत्र; कौशिकी—कौशिक नदी का; आपः—जल; उपस्पृश्य—स्पर्श करके; वाक्—शब्द; वज्रम्—वज्र; विससर्ज—फेंका; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

क्रोध से लाल-लाल आँखें किये, अपने संगियों से कहकर, उस ऋषिपुत्र ने कौशिक नदी के जल का स्पर्श किया और निम्नलिखित शब्दरूपी वज्र छोड़ा।

तात्पर्य : जैसाकि इन श्लोक से प्रकट होता है कि जिन परिस्थितियों में महाराज परीक्षित को शाप दिया गया, वे अत्यन्त बचकानी थीं। शृंगी अपने अबोध संगियों के बीच अपना अविवेक दिखा रहा था। कोई भी समझदार व्यक्ति उसे सारे मानव समाज के प्रति इतनी भारी क्षति करने से रोक लेता। किन्तु उस अनुभव-हीन ब्राह्मण-पुत्र ने अपनी अर्जित ब्रह्मशक्ति का दिखावा करने के उद्देश्य से, महाराज परीक्षित जैसे राजा का वध करके बहुत बड़ी भूल की।

इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।

दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; लङ्घित—पार करते हुए; मर्यादम्—शिष्टाचार; तक्षकः—तक्षक सर्प; सप्तमे—सातवें; अहनि—दिन; दङ्क्ष्यति—काटेगा; स्म—निश्चय ही; कुल-अङ्गारम्—वंश के दुष्ट को; चोदितः—करके; मे—मेरे; तत-द्रुहम्—पिता के प्रति शत्रुता।

उस ब्राह्मण-पुत्र ने राजा को इस प्रकार शाप दिया : आज से सातवें दिन अपने वंश के इस सर्वाधिक नीच (महाराज परीक्षित) को तक्षक सर्प डस लेगा, क्योंकि इसने मेरे पिता को अपमानित करके शिष्टाचार के नियमों को तोड़ा है।

तात्पर्य : इस प्रकार ब्राह्मण शक्ति का दुरुपयोग करना आरम्भ हो गया और धीरे-धीरे कलियुग में सारे ब्राह्मण, अपने ब्रह्मतेज तथा संस्कृति, दोनों से विहीन हो गये। ब्राह्मण बालक ने महाराज परीक्षित को कुलाङ्गार अर्थात् वंश का निकृष्ट व्यक्ति समझा, लेकिन वास्तव में ब्राह्मण बालक ही स्वयं ऐसा था, क्योंकि उसी के कारण ब्राह्मण जाति उसी तरह तेजरहित हो गई, जिस तरह विषदंत तोड़ा गया सर्प। जब तक साँप के विषदंत होते हैं, तब तक वह भयावह होता है, अन्यथा वह सिर्फ बालकों के लिए ही भयावना होता है। कलि ने सर्वप्रथम ब्राह्मण बालक को और धीरे-धीरे अन्य जातियों को जीत लिया। इस प्रकार इस युग में समाज की सारी वैज्ञानिक व्यवस्था ने दूषित जाति प्रथा का रूप धारण कर लिया, जो ऐसी ही दूसरी जाति के लोगों द्वारा उन्मूलन की जा रही है, जो कलियुग के वश में है। मनुष्य को चाहिए कि वह दूषण के मूल कारण को देखे और इस व्यवस्था के वैज्ञानिक महत्त्व को जाने बिना उसकी अवमानना करने का प्रयास न करे।

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् ।

पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभ्येत्य—प्रवेश करके; आश्रमम्—आश्रम में; बालः—बालक; गले सर्प—गले में साँप; कलेवरम्—शरीर; पितरम्—पिता को; वीक्ष्य—देखकर; दुःख-आर्तः—दुखित अवस्था में; मुक्त-कण्ठः—जोर से; रुरोद—चिल्लाया; ह—भूतकाल का सूचक शब्द।

तत्पश्चात् जब वह बालक आश्रम को लौट आया, तो उसने अपने पिता के गले में सर्प देखा और उद्विग्नता के कारण वह जोर से चिल्ला पड़ा।

तात्पर्य : वह बालक प्रसन्न तो नहीं हुआ था, क्योंकि उसने बहुत बड़ी भूल की थी और वह रोकर मन को हल्का करना चाह रहा था। अतएव आश्रम में प्रवेश करके जब उसने अपने पिता की दशा देखी तो वह जोर से चिल्लाया, जिससे उसे राहत मिल सके। लेकिन बहुत देर हो चुकी थी। पिता ने पूरी घटना पर खेद प्रकट किया।

स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् ।

उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा चांसे मृतोरगम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—भी; आङ्गिरसः—अंगिरा वंश में उत्पन्न ऋषि; ब्रह्मन्—हे शौनक; श्रुत्वा—सुनकर; सुत—अपने पुत्र का; विलापनम्—दुख में रोदन; उन्मील्य—खोलकर; शनकैः—धीरे-धीरे; नेत्रे—आँखों से; दृष्ट्वा—देखकर; च—भी; अंसे—कंधे पर; मृत—मरा हुआ; उरगम्—साँप को।

हे ब्राह्मणो, अंगिरा मुनि के वंश में उत्पन्न उस ऋषि ने अपने पुत्र का चिल्लाना सुनकर धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं और अपनी गर्दन के चारों ओर मरा हुआ सर्प देखा।

विसृज्य तं च पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि ।

केन वा तेऽपकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—एक ओर फेंककर; तम्—उसको; च—भी; पप्रच्छ—पूछा; वत्स—प्रिय पुत्र; कस्मात्—किसलिए; हि—निश्चय ही; रोदिषि—रो रहे हो; केन—किसके द्वारा; वा—अथवा; ते—वे; अपकृतम्—दुर्व्यवहार किया; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; सः—उस लड़के ने; न्यवेदयत्—सब कुछ बता दिया।

उन्होंने मरा हुआ सर्प एक ओर फेंक दिया और अपने पुत्र से पूछा कि वह क्यों रो रहा है? क्या किसी ने उसे चोट पहुँचाई है? यह सुनकर बालक ने जो कुछ घटना घटी थी, उसे कह सुनाया।

तात्पर्य : पिता ने गले में पड़े हुए सर्प को अधिक गम्भीरता से नहीं लिया। उन्होंने उसे फेंक दिया। वास्तव में महाराज परीक्षित से कोई बहुत बड़ी भूल नहीं हुई थी, लेकिन मूर्ख पुत्र ने उसे गम्भीरता से लिया और कलि के वश में होने से उसने राजा को शाप दे दिया। इस तरह उसने एक सुखद इतिहास के अध्याय का अन्त कर दिया।

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।

अहो बतांहो महदद्य ते कृतमल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; शप्तम्—शापित; अतत्-अहम्—कभी भी तिरस्कृत नहीं; नर-इन्द्रम्—मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा को; सः—वह; ब्राह्मणः—ब्राह्मण ऋषि; न—नहीं; आत्म-जम्—अपने पुत्र को; अभ्यनन्दत्—बधाई दी; अहो—हाय; बत—दुखद; अंहः—पाप; महत्—बड़ा; अद्य—आज; ते—तुम्हारा; कृतम्—किया गया; अल्पीयसि—नगण्य, क्षुद्र; द्रोहे—अपराध; उरुः—बहुत बड़ा; दमः—दण्ड; धृतः—दिया गया।

पिता ने अपने पुत्र से सुना कि राजा को शाप दिया गया है, यद्यपि उसे इस तरह दण्डित नहीं किया जाना था, क्योंकि वह समस्त मनुष्यों में श्रेष्ठ था। ऋषि ने अपने पुत्र को शाबाशी नहीं दी,

अपितु उलटे वे यह कहकर पछताने लगे, हाय! मेरे पुत्र ने कितना बड़ा पाप-कर्म कर लिया।
उसने एक तुच्छ अपराध के लिए इतना भारी दण्ड दे दिया है।

तात्पर्य : राजा सारे मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि होता है और उसे उसके किसी भी कार्य के लिए निन्दित नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता। राजा ब्राह्मण के अपराधी बालक को फाँसी की सजा का आदेश दे सकता है, तब भी वह ब्राह्मण-हत्या का पापी नहीं बन सकता। यदि राजा कभी कुछ त्रुटि कर भी बैठे, तो भी उसकी अवमानना नहीं होनी चाहिए। कोई चिकित्सक गलत उपचार से किसी रोगी को मार सकता है, लेकिन ऐसे मारनेवालों को कभी मृत्युदंड नहीं दिया जाता। अतः महाराज परीक्षित जैसे उत्तम एवं पुण्यात्मा राजा के विषय में क्या कहा जाय। जीवन की वैदिक शैली में राजा को राजर्षि बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, यद्यपि वह राजा के रूप में शासन कर रहा होता है। केवल राजा द्वारा चलाये जा रहे उत्तम शासन में प्रजा शान्तिपूर्वक तथा निर्भय रह सकती है। राजर्षिगण अपने राज्य की व्यवस्था इतने सुचारु रूप से तथा पवित्रता से करते थे कि प्रजा उनका वैसा ही आदर करती थी, मानो वे भगवान् हों। यही वेदों का आदेश है। राजा को नरेन्द्र या मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। तो फिर महाराज परीक्षित जैसे राजा को किस तरह एक अनुभवहीन गर्व से फूला ब्राह्मण बालक अपमानित कर सकता था, भले ही उसे योग्य ब्राह्मण का तेज क्यों न प्राप्त हो चुका हो?

चूँकि शमीक ऋषि एक अनुभवी श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, अतएव उन्होंने अपने इस अधम पुत्र के कार्यों का समर्थन नहीं किया, अपितु अपने पुत्र के किये हुए पर वे पश्चात्ताप करने लगे। सामान्य नियम के अनुसार, राजा श्राप की सीमा से परे होता है, तो फिर महाराज परीक्षित जैसे उत्तम राजा के विषय में क्या कहा जाय। राजा का अपराध अत्यन्त नगण्य था और उसे मृत्यु दण्ड देना सचमुच ही शृंगी के लिए बहुत बड़ा पाप था। इसीलिए शमीक ऋषि को पूरी घटना पर पश्चात्ताप किया।

न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
सम्मातुमर्हस्यविपक्रबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता

विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; वै—सचमुच; नृभिः—किसी मनुष्य द्वारा; नर-देवम्—मनुष्यरूपी देवता को; पर-आख्यम्—दिव्य;
सम्मातुम्—समान बताना; अर्हसि—तेज से; अविपक्र—अनुभवहीन, अप्रौढ़; बुद्धे—बुद्धि; यत्—जिसका; तेजसा—तेज से;
दुर्विषहेण—अलंघ्य; गुप्ताः—सुरक्षित; विन्दन्ति—भोग करता है; भद्राणि—सारी समृद्धि; अकुतः—भयाः—पूर्ण रूप से
सुरक्षित, निर्भय; प्रजाः—जनता।

हे बालक, तुम्हारी बुद्धि अपरिपक्व है, अतएव तुम्हें ज्ञान नहीं है कि राजा मनुष्यों में सर्वोत्तम और भगवान् के तुल्य होता है। उसकी तुलना कभी भी सामान्य लोगों के साथ नहीं की जा सकती। उसके राज्य के नागरिक उसके दुर्दम तेज से सुरक्षित रहकर समृद्धिमय जीवन व्यतीत करते हैं।

अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि

रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।

तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-

त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत् क्षणात् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

अलक्ष्यमाणे—समाप्त किये जाने से; नर-देव—राजा का सा; नाम्नि—नामधारी; रथ-अङ्ग-पाणौ—भगवान् का प्रतिनिधि;
अयम्—यह; अङ्ग—हे बालक; लोकः—यह संसार; तदा हि—तुरन्त; चौर—चोर; प्रचुरः—अत्यधिक; विनङ्क्ष्यति—परास्त
किया; अरक्ष्यमाणः—सुरक्षित न रहकर; अविवरूथ-वत्—मेमने की भाँति; क्षणात्—तुरन्त।

हे बालक, एकछत्र राजसत्ता द्वारा रथचक्र धारण करनेवाले भगवान् का प्रतिनिधित्व किया जाता है और जब राजसत्ता ही मिट जाती है, तो सारा संसार चोरों से भर जाता है, जो तितर-बितर मेमनों की भाँति असुरक्षित प्रजा को तुरन्त परास्त कर देते हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के अनुसार एकछत्र राजा परमेश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। राजा को भगवान् का प्रतिनिधि कहा जाता है, क्योंकि उसे जीवों की रक्षा करने के लिए दैवी-गुण अर्जित करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् ने अपने असली प्रतिनिधि महाराज युधिष्ठिर को प्रतिष्ठित कराने के लिए सुनियोजित किया था। यदि आदर्श राजा को, संस्कृति तथा भक्ति से, युद्ध-कौशल में प्रशिक्षित किया जाय, तो वह पूर्ण राजा बनता है। ऐसी व्यक्तिगत राजसत्ता तथाकथित प्रजातंत्र से श्रेष्ठ होती है, जिसमें कोई प्रशिक्षण तथा उत्तरदायित्व नहीं होता। आधुनिक प्रजातंत्र के चोर

तथा उचक्रे जनमत (वोटों) के गोलमाल द्वारा चुनाव लड़ते हैं और विजयी होने पर जनता का भक्षण करते हैं। एक प्रशिक्षित राजा हजारों व्यर्थ के धूर्त मंत्रियों से श्रेष्ठ होता है और यहाँ पर संकेत दिया गया है कि महाराज परीक्षित के से एकछत्र राज्य के उखड़ने से, जनता पर कलियुग के प्रहारों के लिए द्वार खुल जाता है। जनता कभी भी प्रजातंत्र के अति-विज्ञापित रूप में सुखी नहीं रहती। अगले श्लोकों में राजा-विहीन प्रशासन के परिणामों का वर्णन हुआ है।

तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं
यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इस कारण से; अद्य—आज से; नः—हम पर; पापम्—पाप का फल; उपैति—चढ़ेगा; अनन्वयम्—विघ्न; यत्—
क्योंकि; नष्ट—नष्ट होने पर; नाथस्य—राजा का; वसोः—सम्पत्ति का; विलुम्पकात्—लूटा जाकर; परस्परम्—एक दूसरे से;
घ्नन्ति—मारेगा; शपन्ति—हानि पहुँचायेगा; वृञ्जते—चुरायेगा; पशून्—पशुओं को; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अर्थान्—धन को; पुरु—
अत्यधिक; दस्यवः—चोर; जनाः—लोगों का समूह।

राजा की शासन-प्रणाली के समाप्त होने तथा धूर्तों एवं चोरों द्वारा लोगों की सम्पत्ति लुटने के कारण बड़े-बड़े सामाजिक विघ्न आयेंगे; लोग हताहत किये जायेंगे; पशु तथा स्त्रियाँ चुराई जायेंगी और इन सारे पापों के उत्तरदायी होंगे हम सब।

तात्पर्य : इस श्लोक में नः(हम) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजतंत्रीय शासन का अन्त करने के लिए ब्राह्मणों को एक समुदाय के रूप में जिम्मेदार बताकर मुनि ठीक ही कर रहे हैं और इस प्रकार जो तथाकथित प्रजातंत्रियों को अवसर दिया जा रहा है, जो सामान्यतया राज्य की जनता की सम्पत्ति के लुटेरे होते हैं। ये तथाकथित प्रजातंत्री लोग जनता की सम्पन्नता का उत्तरदायित्व लिए बिना प्रशासनिक तंत्र को हथिया लेते हैं। सारे व्यक्ति निजी तृप्ति के लिए पद हथिया लेते हैं और इस तरह एक राजा के स्थान पर, जनता से कर वसूलने कई राजा बन जाते हैं। यहाँ यह भविष्यवाणी की गई है कि अच्छी राजकीय सरकार के न होने से, प्रत्येक व्यक्ति धन, पशु, स्त्रियों इत्यादि को लूट कर अन्यो के लिए विघ्न खड़े करता रहेगा।

तदार्यधर्मः प्रविलीयते नृणां
 वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
 ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
 शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; आर्य—प्रगतिशील सभ्यता; धर्मः—कार्य; प्रविलीयते—समाप्त हो जाती है; नृणाम्—मनुष्यों की; वर्ण—जाति; आश्रम—समाज की व्यवस्था; आचार-युतः—शिष्टाचार से युक्त; त्रयी-मयः—वैदिक आदेश के रूप में; ततः—तत्पश्चात्; अर्थ—आर्थिक विकास; काम-अभिनिवेशित—इन्द्रिय-तृप्ति में पूरी तरह लिप्त; आत्मनाम्—मनुष्यों का; शुनाम्—कुत्तों की तरह; कपीनाम्—बन्दरों की तरह; इव—सदृश; वर्ण-सङ्करः—अवांछित प्रजा।

उस समय सामान्य लोग जाति (वर्ण) तथा समाज-व्यवस्था (आश्रम) के गुणात्मक कार्यों के रूप में प्रगतिशील सभ्यता के मार्ग से तथा वैदिक आदेशों से धीरे-धीरे गिर जायेंगे। इस प्रकार वे इन्द्रियतृप्ति के निमित्त आर्थिक विकास के प्रति अधिक आकृष्ट होंगे जिसके फलस्वरूप कुत्तों तथा बन्दरों के स्तर की अवांछित जनसंख्या को बढ़ावा मिलेगा।

तात्पर्य : यहाँ पर भविष्यवाणी की गई है कि राजतन्त्र के न रहने पर सामान्य लोगों की कुत्तों तथा बन्दरों की तरह अवांछित आबादी हो जायेगी। जिस तरह बन्दर अत्यधिक कामुक और कुत्ते संभोग करने में निर्लज्ज होते हैं, उसी प्रकार अवैध सम्बन्धों से उत्पन्न हुए सामान्य लोग वैदिक सदाचार तथा वर्णाश्रम धर्म से दूर भटक जायेंगे।

वैदिक जीवन-शैली आर्यों की सभ्यता का प्रगतिशील अभियान है। आर्यगण वैदिक सभ्यता में प्रगतिशील होते हैं। वैदिक सभ्यता का गन्तव्य भगवान् के धाम को वापस जाना है, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु, न जरा और न रोग। वेद हर एक को भौतिक जगत के अंधेरे से दूर रहने, और भौतिक आकाश से अति दूर आध्यात्मिक जगत के प्रकाश की ओर बढ़ने का आदेश देते हैं। गुण के आधार पर वर्णों की प्रथा तथा आश्रमों का वैज्ञानिक विधि से आयोजन भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि रूप महर्षियों द्वारा किया गया है। जीवन की पूर्ण शैली, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों वस्तुओं के विषय में सभी प्रकार का उपदेश देती है। वैदिक जीवन-शैली किसी भी मनुष्य को बन्दरों तथा कुत्तों की तरह रहने की अनुमति नहीं देती। इन्द्रियतृप्ति तथा आर्थिक विकास की अधम सभ्यता, ईश्वरविहीन या राजा से रहित जनता के द्वारा, जनता के लिए कहे जाने वाले जनतंत्र का उप-उत्पाद है। अतएव लोगों को अपने ही द्वारा चुने गये अधम प्रशासन के लिए चूँ-चपड़ नहीं करनी चाहिए।

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राट् बृहच्छ्रवाः ।
 साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
 क्षुत्तृश्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

धर्म-पालः—धर्म का रक्षक; नर-पतिः—राजा; सः—वह; तु—लेकिन; सम्राट्—सम्राट; बृहत्—अत्यधिक; श्रवाः—प्रसिद्ध; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; महा-भागवतः—उच्च-कोटि का भगवद्भक्त; राज-ऋषिः—राजाओं में साधु; हय-मेधयाट्—अश्वमेध यज्ञ करनेवाला; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; श्रम-युतः—थका-हारा; दीनः—विपत्ति का मारा; न—कभी नहीं; एव—इस प्रकार; अस्मत्—हमारे द्वारा; शापम्—श्राप; अर्हति—के योग्य है।

सम्राट् परीक्षित एक पवित्र राजा हैं। वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और उच्चकोटि के भगवद्भक्त हैं।

वे राजाओं में सन्त (राजर्षि) हैं और उन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये हैं। जब ऐसा राजा, भूख तथा प्यास का मारा, थका-हारा होता है, तो वह किसी भी तरह से शाप दिये जाने के योग्य नहीं होता।

तात्पर्य : राजपद-सम्बन्धी सामान्य आचार-संहिता बताने के बाद तथा यह जताने के बाद कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, अतएव कभी निन्दनीय नहीं है, मुनि शमीक राजा परीक्षित के विषय में विशेष रूप से कुछ कहना चाह रहे थे। महाराज परीक्षित के विशिष्ट गुणों को यहाँ पर संक्षेप में दिया गया है। यदि राजा परीक्षित की गणना केवल राजा के ही रूप में की जाय, तो वे अत्यन्त विख्यात शासक थे, जिन्होंने राजा के धार्मिक नियमों के अनुसार शासन चलाया। शास्त्रों में समस्त वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्य बताये गये हैं। *भगवद्गीता* (१८.४३) में क्षत्रिय के जिन गुणों का उल्लेख है, वे सारे के सारे सम्राट् परीक्षित में विद्यमान थे। वे भगवान् के महान् भक्त भी थे और स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति भी। ऐसे राजा को शाप देना कदापि उचित नहीं है, जब वह भूख और प्यास से थका-माँदा हो। इस तरह शमीक ऋषि ने सब तरह से स्वीकार किया कि महाराज परीक्षित को अत्यन्त अन्यायपूर्वक शाप दिया गया। यद्यपि सारे ब्राह्मण इस घटना से दूर थे, फिर भी उस ब्राह्मण बालक के बचकाना कार्य ने सारे विश्व की स्थिति बदल दी थी। इस प्रकार ब्राह्मण ऋषि शमीक ने संसार की उत्तम व्यवस्था के अधःपतन का सारा उत्तरदायित्व ग्रहण किया।

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्रबुद्धिना ।

पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अपापेषु—समस्त पापों से रहित व्यक्ति को; स्व-भृत्येषु—अधीन व्यक्ति को, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए; बालेन—बालक द्वारा; अपक्र—अप्रौढ़; बुद्धिना—बुद्धि से; पापम्—पाप-पूर्ण कर्म; कृतम्—किया गया; तत् भगवान्—अतएव भगवान्; सर्व-आत्मा—सर्वव्यापी; क्षन्तुम्—क्षमा के लिए; अर्हति—योग्य हैं ।

तब ऋषि ने सर्वव्यापी भगवान् से अपने अप्रौढ़ तथा बुद्धिहीन पुत्र को क्षमा करने के लिए प्रार्थना की, जिसने ऐसे व्यक्ति को शाप देने का महान् पाप किया था, जो समस्त पापों से मुक्त था और पराश्रित एवं सभी प्रकार से रक्षा किये जाने के योग्य था ।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने पवित्र या पापपूर्ण कार्य के लिए जिम्मेदार होता है । ऋषि शमीक को यह पहले से दिख गया कि उसके पुत्र ने महाराज परीक्षित को शाप देकर महान् पाप किया है, क्योंकि वे एक पवित्र शासक थे और महाभागवत होने के कारण समस्त पापों से मुक्त थे, अतएव वे ब्राह्मणों द्वारा रक्षणीय थे । जब भगवद्भक्त के प्रति अपराध किया जाता है, तो उसके फलों से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन होता है । सामाजिक व्यवस्था के प्रधान पद पर होने के कारण, ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे अपने आश्रितों को सुरक्षा प्रदान करें, न कि शाप दें । ऐसे अवसर आये हैं, जब ब्राह्मण ने अपने अधीन क्षत्रिय या वैश्य को उग्र शाप दिया है, किन्तु महाराज परीक्षित के साथ कोई ऐसी बात न थी, जैसाकि कहा जा चुका है । मूर्ख बालक ने ब्राह्मण पुत्र होने के नाते, निरे गर्व के कारण ऐसा किया था, अतएव वह ईश्वरी नियम द्वारा दण्ड का भागी था । भगवान् ऐसे व्यक्ति को कभी क्षमा नहीं करते, जो उनके शुद्ध भक्त की अवमानना करता है । अतएव राजा को शाप देकर, मूर्ख श्रृंगी ने न केवल पाप किया था, अपितु सबसे बड़ा अपराध किया था । अतएव ऋषि देख सके कि केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही उनके पुत्र को इस पाप से बचा सकते हैं । अतएव उन्होंने क्षमा याचना के लिए सीधे भगवान् से प्रार्थना की, क्योंकि भगवान् ही ऐसी बात को मिटा सकते हैं, जिसको बदलना असम्भव होता है । ऋषि ने उस मूर्ख बालक के नाम पर क्षमायाचना की, जिसमें तनिक भी बुद्धि का विकास नहीं हुआ था ।

यहाँ पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि चूँकि ऐसी भगवान् की इच्छा थी कि महाराज परीक्षित उस विषम परिस्थिति में पड़ें, जिससे इस जगत से उनका उद्धार हो सके, तो फिर क्यों एक ब्राह्मण बालक

को इस अपराध के लिए उत्तरदायी ठहराया गया ? इसका उत्तर यह है कि यह अपराध एक बालक से ही हुआ था, अतएव उसे आसानी से क्षमा किया जा सकता था। इस तरह पिता की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। लेकिन यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि सारी ब्राह्मण जाति को सांसारिक मामलों में कलि को प्रवेश देने के लिए क्यों उत्तरदायी ठहराया गया, तो इसका उत्तर *वराह पुराण* में मिलेगा। इसके अनुसार, जो असुर भगवान् के शत्रु थे, किन्तु जो भगवान् द्वारा मारे नहीं गये थे, उन्हें कलियुग का लाभ उठाने के लिए ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेने की अनुमति दी गई। परम दयालु भगवान् ने उन सबों को पवित्र ब्राह्मणों के परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया, जिससे वे मोक्ष-लाभ कर सकें। लेकिन असुरों ने, इस अवसर का लाभ न उठाकर, ब्राह्मण होने के गर्व से फूलकर, ब्राह्मण संस्कृति का दुरुपयोग किया। इसका ज्वलन्त उदाहरण शमीक ऋषि का पुत्र है। इसके द्वारा ब्राह्मणों के सारे मूर्ख पुत्रों को आगाह किया जाता है कि वे शृंगी की तरह मूर्ख न बनें और उन आसुरी गुणों से सदैव बचते रहें, जो उनमें पूर्व जन्म में विद्यमान थे। निस्सन्देह, भगवान् ने इस मूर्ख बालक को क्षमा कर दिया, लेकिन अन्य लोग जिनके पिता शमीक ऋषि जैसे नहीं हैं, वे महान् कष्ट में पड़ते रहेंगे, यदि वे ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से प्राप्त होनेवाले लाभों का दुरुपयोग करते हैं।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।

नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तिरः-कृताः—अपमानित होकर; विप्रलब्धाः—ठगा जाकर; शप्ताः—शापित होकर; क्षिप्ताः—उपेक्षा के कारण विचलित; हताः—अथवा मारे जाने पर; अपि—भी; न—कभी नहीं; अस्य—इन कृत्यों के लिए; तत्—उनको; प्रतिकुर्वन्ति—प्रतीकार होते हैं; तत्—भगवान् को; भक्ताः—भक्तगण; प्रभवः—शक्तिमान; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही।

भगवान् के भक्त इतने सहिष्णु होते हैं कि अपमानित होने, ठगे जाने, शापित होने, विचलित किये जाने, उपेक्षित होने अथवा जान से मारे जाने पर भी कभी बदला लेने का विचार नहीं करते।

तात्पर्य : ऋषि शमीक यह भी जानते थे कि भगवान् उस व्यक्ति को क्षमा नहीं करते जो भक्त के चरणों पर अपराध करता है। भगवान् इतना ही आदेश दे सकते हैं कि भक्त की शरण ग्रहण करो। उन्होंने मन में सोचा कि यदि महाराज परीक्षित बदले में शाप दे दें, तो बालक को बचाया जा सकता

है। लेकिन वे यह भी जानते थे कि शुद्ध भक्त सांसारिक लाभों या हानियों के प्रति लापरवाह होता है। अतएव भक्तगण कभी भी निजी अपयश, शाप या उपेक्षा इत्यादि का बदला नहीं लेते। जहाँ तक ऐसी बातों का सम्बन्ध है, भक्तगण निजी मामलों में उनकी परवाह नहीं करते। किन्तु यदि ऐसी चीजें भगवान् तथा भगवद्भक्तों के विरुद्ध की जाती हैं, तो भक्तगण बहुत कठोर कार्यवाही करते हैं। चूँकि यह निजी मामला था, अतएव शमीक ऋषि को पता था कि राजा इसका बदला नहीं लेंगे। अतएव अप्रौढ़ बालक के लिए भगवान् से याचना करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प न था।

ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही अपने अधीनों को शाप देने या आशीर्वाद देने में सक्षम होते हैं; भगवद्भक्त, चाहे वह ब्राह्मण न भी हो, तो भी ब्राह्मण से अधिक शक्तिशाली होता है। लेकिन शक्तिशाली भक्त कभी अपने लाभ के लिए शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता। भक्त की जितनी भी शक्ति होती है, वह भगवान् तथा उसके भक्तों की सेवा में ही लगती है।

इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः ।

स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; पुत्र—पुत्र; कृत—किया गया; अघेन—पाप से; सः—वे (मुनि); अनुतप्तः—पश्चात्ताप करते हुए; महा-मुनिः—ऋषि; स्वयम्—स्वयं; विप्रकृतः—इस तरह अपमानित होते हुए; राज्ञा—राजा द्वारा; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अघम्—पाप; तत्—वह; अचिन्तयत्—सोचा।

इस प्रकार मुनि ने अपने पुत्र द्वारा किये गये पाप के लिए पश्चात्ताप किया। उसने राजा द्वारा किये गये अपमान को गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया।

तात्पर्य : अब सारी घटना स्पष्ट हो गई है। महाराज परीक्षित द्वारा मुनि के गले में मृत सर्प लपेटना कोई गम्भीर अपराध न था, किन्तु शृंगी द्वारा राजा को शापित किया जाना गम्भीर अपराध था। यह गम्भीर अपराध एक मूर्ख बालक द्वारा ही हुआ था, अतएव वह परमेश्वर द्वारा क्षम्य था, यद्यपि पाप के फल से मुक्त होना सम्भव न था। महाराज परीक्षित ने भी मूर्ख ब्राह्मण द्वारा दिये गये शाप की ओर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने इस विषम स्थिति का लाभ उठाया और भगवान् की महद् इच्छा से, श्रील शुकदेव गोस्वामी की कृपा के माध्यम से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की। वास्तव में यह भगवदिच्छा थी और इस इच्छापूर्ति में महाराज परीक्षित, ऋषि शमीक तथा उनका पुत्र शृंगी ये तीनों

निमित्त मात्र थे। अतएव इनमें से किसी को कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि हर काम परम पुरुष के सम्बन्ध में किया गया था।

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।

न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

प्रायशः—सामान्यतया; साधवः—सन्त गण; लोके—इस संसार में; परैः—अन्यों द्वारा; द्वन्द्वेषु—द्वैत में; योजिताः—लगाये जाकर; न—कभी नहीं; व्यथन्ति—पीड़ित होते हैं; न—न तो; हृष्यन्ति—हर्ष मानते हैं; यतः—क्योंकि; आत्मा—स्वयं; अगुण-आश्रयः—दिव्य।

सामान्यतया अध्यात्मवादी अन्यों द्वारा संसार के द्वन्द्वों में लगाये जाने पर भी व्यथित नहीं होते। न ही वे (सांसारिक वस्तुओं में) आनन्द लेते हैं, क्योंकि वे अध्यात्म में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : अध्यात्मवादी-जन ज्ञानी, योगी तथा भगवद्भक्त होते हैं। ज्ञानियों का लक्ष्य ब्रह्म में तदाकार होने की सिद्धि प्राप्त करना होता है, योगी सर्वव्यापी परमात्मा की अनुभूति करना चाहते हैं और भक्तगण भगवान् के व्यक्तित्व की दिव्य प्रेममयी सेवा में लगे रहते हैं। चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् एक ही दिव्यता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, अतएव ये सारे अध्यात्मवादी प्रकृति के तीनों गुणों से परे होते हैं। भौतिक सुख-दुख तीनों गुणों के प्रतिफल हैं, अतएव ऐसे सुखों-दुखों के कारणों से अध्यात्मवादियों को कोई सरोकार नहीं रहता। राजा भक्त थे और ऋषि योगी थे। अतएव दोनों ही परमात्मा की इच्छा से उत्पन्न हुई इस दुर्घटना से अलिप्त थे। खेलने की उम्र वाला बालक भगवान् की इच्छापूर्ति में निमित्त मात्र था।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'ब्राह्मण बालक द्वारा महाराज परीक्षित को शाप' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

शुकदेव गोस्वामी का प्रकट होना

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं
विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; मही-पतिः—राजा; तु—लेकिन; अथ—इस प्रकार (घर वापस आते समय); तत्—उस;
कर्म—कार्य; गर्ह्यम्—घृणित; विचिन्तयन्—इस प्रकार सोचते हुए; आत्म-कृतम्—अपने द्वारा किया हुआ; सु-दुर्मनाः—
अत्यन्त अनमना, उदास; अहो—अहो; मया—मेरे द्वारा; नीचम्—जघन्य; अनार्य—असंस्कृत, असभ्य; वत्—सदृश; कृतम्—
किया गया; निरागसि—निर्दोष; ब्रह्मणि—ब्राह्मण के प्रति; गूढ—गम्भीर; तेजसि—शक्तिमान ।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : घर लौटाते हुए राजा (महाराज परीक्षित) ने अनुभव किया कि
उन्होंने निर्दोष तथा शक्तिमान ब्राह्मण के प्रति अत्यन्त जघन्य तथा अशिष्ट व्यवहार किया है।
फलस्वरूप वे अत्यन्त उद्विग्न थे।

तात्पर्य : शक्तिमान एवं निर्दोष ब्राह्मण के साथ अपने आकस्मिक अभद्र व्यवहार से पवित्र राजा
अत्यन्त दुखी हुए। ऐसा पश्चात्ताप राजा जैसे उत्तम व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है और ऐसे पश्चात्ताप से
भक्त आकस्मिक किए हुए पापों से उबर जाता है। भक्तगण स्वभावतः दोषरहित होते हैं। भक्त द्वारा
होनेवाले आकस्मिक पापों के लिए खेद प्रकट किया जाता है और भगवत्कृपा से ऐसे अनिच्छित पाप
पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं।

ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद्
दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं ह्यघनिष्कृताय मे
यथा न कुर्या पुनरेवमद्धा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवम्—निश्चित; ततः—अतएव; मे—मेरा; कृत-देव-हेलनात्—भगवान् की आज्ञाओं का उल्लंघन करने से; दुरत्ययम्—
अत्यन्त कठिन; व्यसनम्—विपत्ति; न—नहीं; अति—अत्यधिक; दीर्घात्—दूर; तत्—वह; अस्तु—ऐसा हो; कामम्—बिना
हिचक की इच्छा; हि—निश्चय ही; अघ—पाप; निष्कृताय—मुक्त होने के लिए; मे—मेरा; यथा—जिससे; न—कभी नहीं;
कुर्याम्—करूँगा; पुनः—फिर; एवम्—जैसे मैंने किया है; अद्धा—प्रत्यक्ष रीति से।

[राजा परीक्षित ने सोचा :] भगवान् के आदेशों की अवहेलना करने से मुझे आशंका है कि
निश्चित रूप से निकट भविष्य में मेरे ऊपर कोई संकट आनेवाला है। अब मैं बिना हिचक के

कामना करता हूँ कि वह संकट अभी आ जाय, क्योंकि इस तरह मैं पापपूर्ण कर्म से मुक्त हो जाऊँगा और फिर ऐसा अपराध नहीं करूँगा।

तात्पर्य : परमेश्वर का आदेश है कि ब्राह्मणों तथा गायों को सम्पूर्ण संरक्षण प्रदान किया जाय। भगवान् स्वयं ब्राह्मणों तथा गायों की भलाई करने के इच्छुक रहते हैं (गो-ब्राह्मण-हिताय च)। महाराज परीक्षित यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उनके द्वारा एक तेजस्वी ब्राह्मण का इस तरह अपमानित किया जाना निश्चित रूप से भगवान् के नियमों के विरुद्ध था और वे निकट के भविष्य में किसी घोर संकट की आशंका कर रहे थे। अतएव वे चाह रहे थे कि जो कुछ होना है, वह उन्हें तुरन्त हो ले, किन्तु उनके परिवारवालों को कुछ न हो। मनुष्य का दुर्व्यवहार उसके पूरे परिवार के सदस्यों को प्रभावित करता है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने कामना की कि विपत्ति अकेले उन्हीं पर आये। वे स्वयं कष्ट भोगकर भावी पापों से बच जायेंगे और साथ ही, उन्होंने जो पाप किया है, उसका निराकरण हो जायेगा जिससे उनके वंशजों को कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा। एक जिम्मेदार भक्त इसी प्रकार से सोचता है। भक्त के परिवार के सदस्य भी भक्त द्वारा भगवान् की सेवा के प्रभावों का लाभ उठाते हैं। महाराज प्रह्लाद ने अपनी भक्तिमय सेवा से अपने असुर पिता को बचाया था। परिवार में भक्त सन्तान का होना भगवान् का सबसे बड़ा वरदान है।

अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं
प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽभूत्
पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अद्य—आज; एव—ही; राज्यम्—राज्य; बलम् ऋद्ध—बल तथा धन; कोशम्—खजाना; प्रकोपित—प्रज्वलित; ब्रह्म-कुल—ब्राह्मण कुल द्वारा; अनलः—अग्नि; मे दहतु—मुझे जला दे; अभद्रस्य—अशुभ; पुनः—फिर; न—नहीं; मे—मुझको; अभूत्—होए; पापीयसी—पापपूर्ण; धीः—बुद्धि; द्विज—ब्राह्मण; देव—भगवान्; गोभ्यः—तथा गायों के प्रति।

मैं ब्राह्मण सभ्यता, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के प्रति उपेक्षा करने के फलस्वरूप अशिष्ट तथा पापी हूँ। अतएव मैं चाहता हूँ कि मेरा राज्य, मेरा पराक्रम तथा मेरा धन ब्राह्मण की

क्रोधाग्नि से तुरन्त भस्म हो जाय, जिससे भविष्य में ऐसे अशुभ विचारों से मेरा मार्गदर्शन न होने पाए।

तात्पर्य : प्रगतिशील मानवीय सभ्यता ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वरीय चेतना तथा गोरक्षा पर आधारित है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही व्यापार, वाणिज्य, कृषि तथा उद्योगों के द्वारा राज्य के सारे आर्थिक विकास को पूरी तरह उपयोग में लाना चाहिए, अन्यथा सारे तथाकथित आर्थिक विकास अवनति के साधन बन जाते हैं। गो-रक्षा का अर्थ है ब्राह्मण संस्कृति को भोजन प्रदान करना, जिससे ईश्वर चेतना प्राप्त होती है और इस तरह मानवीय सभ्यता में पूर्णता आती है। कलियुग का लक्ष्य जीवन के उच्चआदर्शों को विनष्ट करना है और यद्यपि महाराज परीक्षित ने संसार के भीतर कलि के वर्चस्व का बलपूर्वक प्रतिरोध किया, किन्तु कलि का प्रभाव उपर्युक्त समय में प्रकट हुआ, जिससे महाराज परीक्षित जैसे प्रबल राजा से भूख तथा प्यास की थोड़ी सी उत्तेजना के कारण ब्राह्मण संस्कृति की अवमानना हो गयी। महाराज परीक्षित ने इस आकस्मिक घटना के प्रति पश्चात्ताप किया और उन्होंने कामना की कि उनका सारा राज्य, उनका बल तथा उनका कोष, यदि वह ब्राह्मण संस्कृति के काम नहीं आता, तो जलकर भस्म हो जाय।

जहाँ कहीं सम्पत्ति तथा शक्ति का सदुपयोग ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के उन्नयन के लिए नहीं होता, वह राज्य तथा वह घर निश्चित रूप से विनष्ट हो जाता है। यदि हम विश्व में शान्ति तथा सम्पन्नता चाहते हैं, तो हमें इस श्लोक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। प्रत्येक राज्य तथा प्रत्येक घर को आत्म-शुद्धि के लिए ब्राह्मण संस्कृति को, आत्म-साक्षात्कार के लिए ईश्वर चेतना को तथा पूर्ण सभ्यता को चालू रखने के लिए पर्याप्त दूध तथा उत्तम भोजन प्राप्त करने के लिए गोरक्षा को प्रश्रय देने का प्रयास करना चाहिए।

स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद् यथा

मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः ।

स साधु मेने न चिरेण तक्षका-

नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—उन्होंने (राजा ने); चिन्तयन्—सोचते हुए; इत्थम्—इस प्रकार; अथ—अब; अशृणोत्—सुना; यथा—जिस तरह;
मुनेः—मुनि के; सुत-उक्तः—पुत्र द्वारा कहा गया; निर्ऋतिः—मृत्यु; तक्षक-आख्यः—सर्प-पक्षी के विषय में; सः—उन्होंने
(राजा ने); साधु—अच्छा तथा शुभ; मेने—स्वीकार किया; न—नहीं; चिरेण—दीर्घकाल तक; तक्षक—तक्षक सर्प;
अनलम्—अग्नि; प्रसक्तस्य—लिप्त रहनेवालों के; विरक्ति—उदासी का; कारणम्—कारण।

जब राजा इस तरह पश्चात्ताप कर रहे थे, तो उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ, जो मुनि पुत्र द्वारा दिये गये शाप के अनुसार सर्प-पक्षी के काटने से होनी थी। राजा ने इसे शुभ समाचार के रूप में ग्रहण किया, क्योंकि इससे उन्हें सांसारिकता के प्रति विराग उत्पन्न होगा।

तात्पर्य : सच्चा सुख आध्यात्मिक तत्त्व या जन्म-मृत्यु के चक्र के बन्द होने पर ही प्राप्त होता है। जन्म-मृत्यु के चक्र को भगवद्धाम वापस जाकर ही तोड़ा जा सकता है। भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करने पर भी जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छूटा जा सकता; तो भी हम सिद्धि प्राप्त करने के पथ को ग्रहण नहीं करते। यह सिद्धि-पथ मनुष्य को सारी भौतिक आसक्तियों से मुक्त करनेवाला है और इस तरह वह आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने के योग्य बनता है। अतएव जो दीन-हीन हैं, वे सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छे उम्मीदवार हैं। महाराज परीक्षित भगवान् के महान् भक्त थे और भगवान् के धाम जाने के लिए प्रामाणिक उम्मीदवार थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी, उनके साथ सबसे बड़ी बाधा चक्रवर्ती सम्राट के रूप में उनकी भौतिक सम्पत्ति थी, जिससे वे दिव्य आकाश में भगवान् के पार्षद के रूप में अपना असली पद प्राप्त नहीं कर पा रहे थे। भगवद्भक्त के रूप में वे यह समझ सके कि यद्यपि ब्राह्मण बालक का शाप मूर्खतापूर्ण था, फिर भी वह उनके लिए आशीर्वाद था, क्योंकि यह सांसारिकता से—राजनीतिक या सामाजिक दोनों से, विरक्ति का कारण था। शमीक मुनि ने भी घटना पर शोक प्रकट करने के बाद अपना कर्तव्य समझकर राजा को यह सूचना भेज दी थी ताकि वे भगवद्धाम जाने के लिए तैयार रहें। शमीक मुनि ने राजा को सन्देश भेजा कि यद्यपि उनका पुत्र शृंगी तेजस्वी ब्राह्मण बालक था, किन्तु मूर्ख होने के कारण उसने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का दुरुपयोग राजा को व्यर्थ में शापित करने में किया। राजा द्वारा मुनि के गले में सर्प डालना मृत्यु का शाप देने के लिए पर्याप्त कारण न था। लेकिन चूँकि शाप वापस लेने का कोई उपाय नहीं था, अतएव राजा को सूचित कर दिया गया था कि एक सप्ताह के भीतर मृत्यु के लिए तैयार रहें। शमीक मुनि तथा राजा

दोनों ही स्वरूपसिद्ध आत्मा थे। शमीक मुनि योगी थे और महाराज परीक्षित भक्त थे, अतएव उन दोनों में आत्म-साक्षात्कार के विषय में कोई अन्तर नहीं था। दोनों में से कोई भी मरने से भयभीत न था। महाराज परीक्षित को क्षमा याचना के लिए मुनि के पास जाना चाहिए था, किन्तु राजा को उनकी आसन्न मृत्यु की सूचना मुनि ने इतने खेद सहित भेजी थी कि राजा अब अपनी उपस्थिति से मुनि को अधिक शर्मिन्दा नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपनी आसन्न मृत्यु के लिए तैयारी करने तथा भगवद्धाम जाने का मार्ग खोजने का निश्चय किया।

यह मनुष्य जीवन भगवद्धाम वापस जाने या जन्म-मृत्यु के चक्र से—भवसागर से छूटने के लिए अपने को तैयार करने का सुअवसर है। इस प्रकार वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली में प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को इस कार्य के लिए शिक्षा दी जाती है। दूसरे शब्दों में, वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली सनातन-धर्म भी कहलाती है। वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली मनुष्य को भगवद्धाम वापस जाने के लिए तैयार करती है। इस तरह गृहस्थ को वानप्रस्थ बनकर जंगल में जाकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तथा अपनी अपरिहार्य मृत्यु के पूर्व संन्यास ग्रहण करने का आदेश रहता है। महाराज परीक्षित भाग्यशाली थे कि उन्हें मृत्यु के पूर्व सात दिन की पूर्व सूचना प्राप्त हो सकी। लेकिन सामान्यजनों को ऐसी कोई निश्चित पूर्वसूचना नहीं मिल पाती, यद्यपि मृत्यु सबों के लिए अवश्यम्भावी है। मूर्ख लोग मृत्यु के इस निश्चित तथ्य को भूल जाते हैं और भगवद्धाम जाने की तैयारी करने के अपने कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं। वे खाने, पीने तथा आनन्द मनाने की पाशविक वृत्तियों में ही अपना जीवन व्यर्थ कर देते हैं। ऐसा अनुत्तरदायित्व-पूर्ण जीवन कलियुग के लोगों द्वारा अपनाया जाता है, क्योंकि उनमें ब्राह्मण संस्कृति, ईश्वर चेतना तथा गोरक्षा के तिरस्कार की पापपूर्ण इच्छा घर किये रहती है और इसके लिए राजसत्ता उत्तरदायी है। राज्य को चाहिए कि इन तीनों बातों की उन्नति के लिए धन खर्च करे और लोगों को मृत्यु की तैयारी करने की शिक्षा दे। जो राज्य ऐसा करता है, वह असली कल्याणप्रद राज्य है। अच्छा हो कि भारत राज्य आदर्श प्रशासकाध्यक्ष महाराज परीक्षित के आदर्शों का पालन करे; वह अन्य भौतिकतावादी राज्यों का अनुकरण न करे जिनके पास भगवद्धाम की कोई जानकारी नहीं है, जो मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। भारतीय सभ्यता के आदर्शों में गिरावट आने से, न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी नागरिक जीवन में गिरावट आई है।

अथो विहायेमममुं च लोकं
विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान
उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अथो—इस तरह; विहाय—छोड़कर; इमम्—यह; अमुम्—तथा अगला; च—भी; लोकम्—लोक; विमर्शितौ—निर्णय होने पर भी वे सब; हेयतया—निम्नता के कारण; पुरस्तात्—इसके पूर्व; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् कृष्ण के चरणकमल की; सेवाम्—दिव्य प्रेमाभक्ति; अधिमन्यमानः—सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि के विषय में सोचनेवाला; उपाविशत्—दृढ़ता से बैठ गया; प्रायम्—उपवास के लिए; अमर्त्य-नद्याम्—दिव्य नदी (गंगा या यमुना) के तट पर।

महाराज परीक्षित आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को छोड़कर अपने मन को कृष्णभावनामृत में एकाग्र करने के लिए गंगा नदी के तट पर दृढ़तापूर्वक बैठ गये, क्योंकि कृष्ण की दिव्य प्रेममयी सेवा सर्वोच्च उपलब्धि है और अन्य समस्त विधियों को मात करनेवाली है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित जैसे भक्त के लिए कोई भी भौतिक लोक, यहाँ तक कि सर्वोच्च ब्रह्मलोक भी, उतना वांछनीय नहीं जितना कि आदि पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का धाम गोलोक वृन्दावन है। यह पृथ्वीलोक ब्रह्माण्ड के असंख्य ग्रहों में से एक है और महत् तत्त्व की परिधि में ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड होते हैं। भक्तों को भगवान् द्वारा तथा भगवान् के प्रतिनिधि गुरुओं या आचार्यों द्वारा बतलाया जाता है कि असंख्य ब्रह्मांडों में से कोई भी ग्रह भक्तों के रहने योग्य नहीं है। भक्त सदैव अपने घर भगवद्धाम वापस जाने के इच्छुक रहते हैं जहाँ वे सेवक, मित्र, माता-पिता या भगवान् के प्रेमी के रूप में, उनके पार्षदों में से एक बनकर किसी एक वैकुण्ठलोक में या भगवान् श्रीकृष्ण के धाम गोलोक वृन्दावन में रह सकें। ये सारे लोक पर-व्योम में सनातन रूप से स्थित हैं, जो महत् तत्त्व के अन्दर कारणार्णव की दूसरी ओर है। महाराज परीक्षित वैष्णव भक्तों के उच्च कुल में जन्म लेने तथा अपनी संचित धर्मनिष्ठा के कारण पहले से ही इन सारी जानकारी से अवगत थे, अतएव वे कोई भौतिक ग्रह में जाने के लिए जरा भी इच्छुक न थे। आधुनिक विज्ञानी भौतिक व्यवस्था द्वारा चन्द्रमा तक पहुँचने के अत्यन्त उत्सुक हैं, लेकिन वे इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन महाराज परीक्षित जैसा भक्त, चन्द्रमा या इस प्रकार के किसी भी भौतिक लोक की, रंच भी परवाह नहीं

करता। अतएव जब उन्हें एक निश्चित तिथि पर मृत्यु का आश्वासन दे दिया गया तो वे दिव्य यमुना नदी के तट पर, जो हस्तिनापुर की राजधानी (अब दिल्ली प्रान्त में) के पास से होकर बहती है, पूर्ण उपवास द्वारा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़-प्रतिज्ञ हो गये। गंगा तथा यमुना दोनों ही *अमर्त्या* (दिव्य) नदियाँ हैं और यमुना अब भी निम्नलिखित कारणों से अधिक पवित्र है।

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र-
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

या—जो नदी; वै—सदा; लसत्—प्रवाहित; श्री—तुलसी—तुलसी-दलों से; विमिश्र—मिश्रित; कृष्ण-अङ्घ्रि—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की; रेणु—धूल; अभ्यधिक—शुभ; अम्बु—जल; नेत्री—ले जानेवाली; पुनाति—पवित्र करता है; लोकान्—लोकों को; उभयत्र—ऊपर-नीचे अथवा भीतर-बाहर दोनों; स-ईशान्—शिवजी समेत; कः—अन्य कौन; ताम्—उस नदी को; न—नहीं; सेवेत—पूजा करते हैं; मरिष्यमाणः—आसन्न मृत्युवाला।

यह नदी (गंगा, जिसके किनारे राजा उपवास करने बैठे थे) अत्यन्त शुभ जल धारण करती है, जिसमें भगवान् के चरण-कमलों की धूल तथा तुलसीदल मिश्रित रहते हैं। अतएव यह जल तीनों लोकों को भीतर-बाहर से पवित्र बनाता है और शिवजी तथा अन्य देवताओं को भी पवित्र करता है। अतएव जिसकी मृत्यु निश्चित हो, उसे इस नदी की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित सात दिनों के भीतर अपनी मृत्यु की सूचना पाते ही तत्काल गृहस्थ जीवन से निवृत्त हो लिए और यमुना नदी के पवित्र तट पर चले गये। सामान्यतया यह कहा जाता है कि राजा ने गंगा नदी के किनारे शरण ली थी, लेकिन श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार राजा ने यमुना-तट पर शरण ली थी। भौगोलिक स्थिति की दृष्टि से श्रील जीव गोस्वामी का कथन अधिक सटीक प्रतीत होता है। महाराज परीक्षित अपनी राजधानी हस्तिनापुर में वास करते थे, जो वर्तमान दिल्ली के निकट स्थित है और यमुना नदी इस नगर के पास से होकर बहती है। स्वाभाविक है कि राजा यमुना नदी के तट पर शरण ग्रहण करेंगे, क्योंकि यह नदी उनके महल के द्वार से होकर बह रही थी। और जहाँ तक पवित्रता की बात है, यमुना नदी गंगा नदी की अपेक्षा भगवान् कृष्ण से अधिक प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। भगवान् ने इस जगत में अपनी दिव्य लीलाओं के प्रारम्भ से ही यमुना नदी को पवित्र

बनाया। जब उनके पिता वसुदेव बालक कृष्ण को लेकर यमुना पार करके मथुरा से गोकुल ले जा रहे थे, तो भगवान् इस नदी में गिर पड़े थे और भगवान् के चरणकमलों की धूलि का स्पर्श पाकर वह तुरन्त ही पवित्र हो गई थी। यहाँ पर विशेष उल्लेख है कि महाराज परीक्षित ने उस विशेष नदी की शरण ग्रहण की, जो सुन्दर ढंग से बह रही थी और तुलसीदल से मिश्रित भगवान् के चरणकमलों की धूलि लिये जा रही थी। भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर सदैव तुलसीदल चढ़े रहते हैं, अतएव ज्योंही उनके चरणकमल गंगा तथा यमुना-नदी के जल को स्पर्श करते हैं, त्योंही नदियाँ पवित्र हो जाती हैं। लेकिन भगवान् ने गंगा की अपेक्षा यमुना का ही अधिक स्पर्श किया। *वराह पुराण* के अनुसार, जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने उद्धृत किया है, गंगा तथा यमुना नदियों के जल में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु जब गंगा का जल एक सौ गुना पवित्र हो जाता है, तो वह यमुना कहलाती है। इसी तरह शास्त्रों में कहा गया है कि विष्णु के एक हजार नाम राम के एक नाम के बराबर हैं और राम के तीन नाम कृष्ण के एक नाम के तुल्य हैं।

इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः
प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दधौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो
मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवच्छिद्य—निश्चय करके; सः—राजा; पाण्डवेयः—पाण्डवों की योग्य सन्तान; प्राय-उपवेशम्—आमरण उपवास के लिए; प्रति—की ओर; विष्णु-पद्याम्—गंगा नदी के तट पर (भगवान् विष्णु के चरणों से निकल कर); दधौ—त्याग दिया; मुकुन्द-अङ्घ्रिम्—भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर; अनन्य—अविचलित; भावः—आत्मा, भाव; मुनि-व्रतः—मुनि का व्रत लेकर; मुक्त—मुक्त; समस्त—सभी प्रकार की; सङ्गः—संगति से।

इस प्रकार, पाण्डवों की सुयोग्य सन्तान, राजा ने दृढ़ संकल्प किया और आमरण उपवास करने तथा भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में अपने आप को समर्पित करने के लिए, वे गंगा नदी के तट पर बैठ गये, क्योंकि एकमात्र कृष्ण ही मुक्ति दिलाने में समर्थ हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने आपको समस्त संगतियों तथा आसक्तियों से मुक्त करके मुनि का व्रत स्वीकार किया।

तात्पर्य : गंगा का जल देवों समेत तीनों लोकों को पवित्र करता है, क्योंकि यह भगवान् विष्णु के चरणकमलों से निकलता है। भगवान् कृष्ण विष्णु तत्त्व के स्रोत हैं, अतएव उनके चरणकमलों की

शरण मनुष्य को ब्राह्मण के प्रति राजा द्वारा किये गये अपराध सहित समस्त पापों से उबार सकती है। अतएव महाराज परीक्षित ने मुकुन्द अथवा मुक्तिदाता भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करने का निश्चय किया। गंगा या यमुना नदी के तट मनुष्य को भगवान् का निरन्तर स्मरण करने का एक अवसर प्रदान करते हैं। महाराज परीक्षित ने अपने आपको सभी प्रकार की भौतिक संगति से विलग कर लिया और भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का ध्यान किया और यही मुक्ति का मार्ग है। समस्त प्रकार की भौतिक संगति से मुक्त होने का अर्थ है, आगे और कोई पाप न करना। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करने का अर्थ है, समस्त पूर्व-पापों के प्रभावों से मुक्त होना। भौतिक जगत में ऐसी परस्थितियाँ बन जाती हैं कि मनुष्यों से, जाने या अनजाने, पाप हो जाता है और इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं स्वयं महाराज परीक्षित, जो माने हुए एक निष्पाप-पवित्र राजा थे। किन्तु वे कोई त्रुटि करना न चाहते हुए भी, अपराध के शिकार हो गये। उन्हें शाप भी दिया गया, किन्तु चूँकि वे भगवान् के बहुत बड़े भक्त थे, अतएव जीवन की ऐसी प्रतिकूलताएँ भी अनुकूल हो गईं। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को जानबूझ कर अपने जीवन में कोई पाप नहीं करना चाहिए और अविचल भाव से भगवान् के चरणकमलों को स्मरण रखना चाहिए। ऐसी ही दशाओं में भक्त को मुक्ति-मार्ग में नियमित प्रगति करने में भगवान् सहायक होंगे और इस तरह भक्त को भगवान् के चरणकमल प्राप्त हो सकेंगे। यदि भक्त से कोई आकस्मिक पाप हो भी जाता है, तो भगवान् इस शरणागत को सभी पापों से बचा लेते हैं, जिसकी पुष्टि सभी शास्त्रों में हुई है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य

त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।

विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्

धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥

(भागवत ११.५.४२)

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना

महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः

स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपजग्मुः—पहुँचा; भुवनम्—ब्रह्माण्ड को; पुनानाः—पवित्र करनेवाले; महा-अनुभावाः—बड़े-बड़े मेधावी; मुनयः—विचारक; स-शिष्याः—अपने शिष्यों समेत; प्रायेण—प्रायः; तीर्थ—तीर्थस्थान; अभिगम—यात्रा; अपदेशैः—के बहाने से; स्वयम्—स्वयं; हि—निश्चय ही; तीर्थानि—तीर्थयात्रा से सारे स्थान; पुनन्ति—पवित्र बनाते हैं; सन्तः—मुनिगण।

उस अवसर पर बड़े-बड़े मेधावी विचारक, अपने शिष्यों के संग एवं अपनी उपस्थिति के द्वारा तीर्थ-स्थानों को निश्चय ही पवित्र करनेवाले मुनिगण तीर्थयात्रा के बहाने वहाँ आ पहुँचे।

तात्पर्य : जब महाराज परीक्षित गंगा के तट पर बैठ गये, तो यह समाचार ब्रह्माण्ड में चारों दिशाओं में फैल गया और अत्यन्त मेधावी मुनिगण, जो इस अवसर के महत्त्व को समझ सकते थे, तीर्थयात्रा का बहाना करके वहाँ आ पहुँचे। वास्तव में वे महाराज परीक्षित से भेंट करने आये थे, स्नान-यात्रा करने नहीं आये थे, क्योंकि वे सभी तीर्थों को पवित्र करने में सक्षम थे। सामान्य लोग अपने समस्त पापों को धोने के लिए तीर्थस्थानों में जाते हैं। इस तरह तीर्थस्थल अन्यो के पापों से बोझिल हो उठते हैं। किन्तु जब ऐसे मुनि बोझिल तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हैं, तो वे अपनी उपस्थिति से उन स्थानों को पवित्र बनाते हैं। अतएव जो मुनि महाराज परीक्षित से भेंट करने आये, उन्हें सामान्य व्यक्तियों की भाँति अपने को शुद्ध करने की परवाह नहीं थी, अपितु वे उस स्थान में स्नान करने के बहाने महाराज परीक्षित से भेंट करने आये थे, क्योंकि उन्होंने यह पूर्वानुमान लगा लिया था कि शुकदेव गोस्वामी द्वारा श्रीमद्भागवत का प्रवचन होगा। वे सभी इस महान् अवसर का लाभ उठाना चाहते थे।

अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वा-

नरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।

पराशरो गाधिसुतोऽथ राम

उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥ ९ ॥

मेधातिथिर्देवल आर्षिषेणो

भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।

मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनि-

द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥ १० ॥

अत्रि से नारद—ये सभी विभिन्न साधु पुरुषों के नाम हैं, जो ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से यहाँ आये थे।

ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से बड़े-बड़े मुनि वहाँ आये—यथा अत्रि, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, वसिष्ठ, पराशर, विश्वामित्र, अङ्गिरा, परशुराम, उत्थय, इन्द्रप्रमद, इध्मवाहु, मेधातिथि, देवल, आर्षिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, कुम्भयोनि, द्वैपायन तथा महापुरुष नारद।

तात्पर्य : च्यवन—ये महामुनि थे तथा भृगुमुनि के पुत्रों में से एक थे। उनका जन्म समय से पूर्व हुआ था, जब इनकी गर्भिणी माता का अपहरण हुआ था। च्यवन अपने पिता के छः पुत्रों में से एक थे।

भृगु—जब ब्रह्माजी वरुण की ओर से महान् यज्ञ कर रहे थे, तब महर्षि भृगु यज्ञ की अग्नि से उत्पन्न हुए थे। वे महर्षि थे और उनकी प्रिय पत्नी पुलोमा थीं। वे दुर्वासा, नारद तथा अन्यो की भाँति अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते थे और वे ब्रह्माण्ड के सारे ग्रहों में विचरने जाया करते थे। कुरुक्षेत्र युद्ध के पूर्व उन्होंने युद्ध रोकने का प्रयास किया। कभी उन्होंने भारद्वाज मुनि को खगोलशास्त्र की शिक्षा दी थी और वे महान् ज्योतिषशास्त्र बृहद् भृगुसंहिता के रचियता हैं। उन्होंने बताया कि किस प्रकार आकाश से वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। उन्होंने बताया कि उदर में वायु किस प्रकार कार्य करती है और आँतों को व्यवस्थित करती है। महान् दार्शनिक के रूप में उन्होंने जीव की शाश्वतता को तर्क से स्थापित किया (महाभारत)। वे महान् नृतत्त्वशास्त्री थे। उन्होंने बहुत काल पूर्व विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के वैज्ञानिक प्रतिपादकों में थे। उन्होंने क्षत्रिय राजा वीतहव्य को ब्राह्मण बनाया।

वसिष्ठ—देखिये श्रीमद्भागवत (१.९.६)।

पराशर—ये वसिष्ठ मुनि के पौत्र तथा व्यासदेव के पिता हैं। ये महर्षि शक्ति के पुत्र थे और इनकी माता का नाम अदृश्यती था। जब वे अपनी माता के गर्भ में थे, तब उनकी माता केवल बारह वर्ष की थीं और माता के गर्भ में ही उन्होंने वेद सीखे थे। उनके पिता का वध कल्माषपाद नामक असुर ने किया था, अतएव इसका बदला लेने के लिए उन्होंने सम्पूर्ण संसार को विनष्ट करना चाहा, किन्तु उनके पितामह वसिष्ठ ने उन्हें रोका। तब उन्होंने राक्षस-वध-यज्ञ सम्पन्न किया, लेकिन महर्षि पुलत्स्य ने उन्हें रोका। सत्यवती से आकर्षित होने पर उन्हें व्यासदेव की प्राप्ति हुई। सत्यवती बाद में महाराज शान्तनु

की पत्नी बनीं। पराशर के आशीर्वाद से ही सत्यवती मीलों तक सुगन्ध फैलाती थीं। वे भीष्म की मृत्यु के समय भी उपस्थित थे। वे महाराज जनक के गुरु थे और शिवजी के महान् भक्त थे। वे अनेक वैदिक शास्त्रों तथा समाजशास्त्रीय निर्देशों के कृतिकार हैं।

गाधिसुत या विश्वामित्र—ये तपस्या तथा योगशक्ति के महान ऋषि थे। ये गाधिसुत के नाम से विख्यात हैं, क्योंकि इनके पिता गाधि कान्यकुब्ज प्रान्त (उत्तर प्रदेश का अंग) के शक्तिशाली राजा थे। यद्यपि ये जन्म से क्षत्रिय थे, लेकिन वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों के बल पर उसी शरीर से ब्राह्मण बने। इन्होंने वसिष्ठ मुनि से झगड़ा मोल ले लिया, जब वे क्षत्रिय राजा थे। मतंग मुनि के सहयोग से इन्होंने एक महान् यज्ञ किया। इस प्रकार ये वसिष्ठ के पुत्रों का नाश कर सके। ये महान् योगी बने, किन्तु इन्द्रियों को वश में न रख सकने के कारण इन्हें शकुन्तला का पिता बनना पड़ा जो विश्व इतिहास की परम सुन्दरी है। एक बार जब वे क्षत्रिय राजा थे, तो वे वसिष्ठ मुनि के आश्रम में गये, जहाँ इनका भव्य स्वागत हुआ। विश्वामित्र वसिष्ठ से नन्दिनी नामक गाय चाहते थे, किन्तु मुनि ने उसे देने से इनकार कर दिया। तब विश्वामित्र ने गाय चुरा ली और मुनि तथा राजा के बीच युद्ध छिड़ गया। विश्वामित्र वसिष्ठ की आध्यात्मिक शक्ति से परास्त हुए, अतएव राजा ने ब्राह्मण बनने का निश्चय किया। ब्राह्मण बनने के पूर्व इन्होंने कौशिक नदी के तट पर कठिन तपस्या की। ये उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध को रोकना चाहा था।

अङ्गिरा—ये ब्रह्मा के छह मानसपुत्रों में से एक तथा स्वर्ग के देवताओं के अत्यन्त विद्वान पुरोहित बृहस्पति के पिता थे। ये ब्रह्मा के वीर्य से उत्पन्न हुए जिसे उन्होंने अग्नि के एक सुलगते अंगारे को दिया था। उत्थय तथा संवर्त उनके पुत्र हैं। कहा जाता है कि वे आज भी गंगा के तट पर अलोकानन्दा नामक स्थान पर भगवान् के नाम का कीर्तन करते हैं और तपस्या कर रहे हैं।

परशुराम—देखें *श्रीमद्भागवत* १.९.६।

उतथ्य—ये महर्षि अंगिरा के तीन पुत्रों में से एक तथा महाराज मन्धाता के गुरु थे। उन्होंने सोम (चन्द्रमा) की पुत्री भद्रा से विवाह किया था। जब वरुण ने इनकी पत्नी भद्रा का अपहरण कर लिया, तो जलदेवता वरुण के अपराध का बदला लेने के लिए ये संसार भर का पानी पी गये।

मेधातिथि—प्राचीनकाल के एक वृद्ध मुनि, राजा इन्द्रदेव के सभासद। उनके पुत्र कण्व मुनि थे, जिन्होंने वन में शकुन्तला का पालन किया था। वानप्रस्थ आश्रम का दृढ़ता से पालन करते हुए इन्होंने स्वर्गलोक की प्राप्ति की।

देवल—ये नारद मुनि तथा व्यासदेव की भाँति महान् विशेषज्ञ थे। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया, तो *भगवद्गीता* में उल्लिखित महापुरुषों की सूची में इनका नाम है। ये कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर से मिले थे। ये पाण्डव-परिवार के पुरोहित धौम्य के बड़े भाई थे। क्षत्रियों की भाँति इन्होंने भी अपनी पुत्री को स्वयंवर सभा में अपना पति स्वयं चुनने की अनुमति दी और इस उत्सव में ऋषियों के सभी कुमार पुत्रों को आमंत्रित किया गया था। कुछ लोगों के अनुसार ये असित देवल नहीं हैं।

भारद्वाज—देखें *श्रीमद्भागवत* १.९.६।

गौतम—ये ब्रह्माण्ड के सात महर्षियों में से एक थे। इनके एक पुत्र का नाम शरद्धान गौतम था। आज के गौतम गोत्र के लोग या तो इनके वंशज हैं अथवा इनकी शिष्य-परम्परा के हैं। जो ब्राह्मण अपना गौतम गोत्र बताते हैं, वे इनके वंशज हैं और जितने गौतम गोत्र वाले क्षत्रिय तथा वैश्य हैं, वे उनकी शिष्य-परम्परा के हैं। वे विख्यात अहल्या के पति थे। अहल्या इन्द्रदेव के द्वारा छेड़े जाने पर पत्थर बन गई थी, किन्तु भगवान् रामचन्द्र द्वारा इसका उद्धार हुआ। गौतम कुरुक्षेत्र युद्ध के वीरों में से एक कृपाचार्य के पितामह थे।

मैत्रेय—ये एक प्राचीन ऋषि हैं। ये विदुर के गुरु थे और एक महान् धर्माचार्य थे। इन्होंने धृतराष्ट्र को सलाह दी थी कि वे पाण्डवों से अच्छे मधुर सम्बन्ध बनाये रखें। किन्तु दुर्योधन राजी नहीं हुआ, तो इन्होंने उसे शाप दे दिया। ये व्यासदेव से मिले और उनके साथ इन्होंने धार्मिक चर्चाएँ कीं।

अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्या

राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।

नानार्षेयप्रवरान् समेता-

नभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; देवर्षि—देवताओं में ऋषि; ब्रह्मर्षि—ऋषितुल्य ब्राह्मण; वर्याः—सर्वश्रेष्ठ; राजर्षि-वर्याः—राजर्षियों में श्रेष्ठ; अरुण-आदयः—राजर्षियों में विशिष्ट पद; च—तथा; नाना—अन्य अनेक; आर्षेय-प्रवरान्—ऋषिवंशों में श्रेष्ठ; समेतान्—एकसाथ, समूहित; अभ्यर्च्य—पूजा करके; राजा—सम्राट ने; शिरसा—भूमि पर सिर झुकाकर; वन्दे—प्रणाम किया।

इनके अतिरिक्त वहाँ अन्य अनेक देवर्षि, राजा तथा विभिन्न मुनियों के वंशज विशिष्ट राजा आये थे, जिन्हें अरुणादय कहा जाता है। जब वे सब सम्राट (परीक्षित) से मिलने के लिए एकत्र हुए, तो राजा ने सबको शीश नमाकर प्रणाम करते हुए समुचित ढंग से उनका स्वागत किया।

तात्पर्य : गुरुजनों को आदर करने के लिए सिर को भूमि तक झुकाने की प्रथा अत्यन्त उत्तम शिष्टाचार है, जिससे अतिथि अपने को अत्यधिक सम्मानित समझते हैं। यहाँ तक कि उच्च-कोटि के अपराधी के ऐसा करने पर उसे क्षमा कर दिया जाता है और महाराज परीक्षित तो समस्त ऋषियों तथा राजाओं द्वारा अत्यधिक सम्मानित थे। उन्होंने इन समस्त महापुरुषों का विनीत भाव से स्वागत किया, जिससे वे अपने अपराधों के लिए क्षमा किये जा सकें। सामान्यतया जीवन की अन्तिम अवस्था में यह विनीत विधि प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति द्वारा अपनाई जाती है, जिससे प्रयाण के पूर्व उसे क्षमा किया जा सके। इस प्रकार से महाराज परीक्षित ने भगवद्धाम वापस जाने के लिए सबों की शुभ कामनाएँ प्राप्त कीं।

सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः

कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।

विज्ञापयामास विविक्तचेता

उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सुख—सुखपूर्वक; उपविष्टेषु—सभी बैठे हुए; अथ—तत्पश्चात्; तेषु—उनको (आगन्तुकों को); भूयः—फिर; कृत-प्रणामः—प्रणाम करके; स्व—अपना; चिकीर्षितम्—उपवास का निर्णय; यत्—जो; विज्ञापयाम् आस—प्रस्तुत किया; विविक्त-चेताः—सांसारिक मामलों से जिसका मन विरक्त है; उपस्थितः—उपस्थित होकर; अग्रे—उनके सामने; अभिगृहीत-पाणिः—विनीतभाव से हाथ जोड़े।

जब सारे ऋषियों तथा अन्य लोगों ने सुखपूर्वक आसन ग्रहण कर लिया, तो उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हुए राजा ने आमरण व्रत करने का अपना संकल्प बतलाया।

तात्पर्य : यद्यपि राजा ने पहले ही गंगा तट पर उपवास करने का निश्चय कर लिया था, किन्तु वहाँ पर उपस्थित महापुरुषों का अभिमत जानने के लिए नियमपूर्वक अपना निर्णय व्यक्त किया। कोई भी निर्णय कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, किसी न किसी अधिकारी द्वारा पुष्ट होना चाहिए। इससे बात पक्की हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उन दिनों जो राजा पृथ्वी पर शासन करते थे, वे गैर-जिम्मेदार तानाशाह नहीं होते थे। वे वैदिक आदेशों के अनुसार सन्तों तथा मुनियों के प्रामाणिक निर्णयों का पालन करते थे। एक पूर्ण राजा के रूप में महाराज परीक्षित ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक आचार्यों की सलाह लेकर नियमों का पालन किया।

राजोवाच

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां

महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।

राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद्

दूराद् विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—सौभाग्यशाली राजा ने कहा; अहो—ओह; वयम्—हम सब; धन्य-तमाः—अत्यन्त धन्य या कृतज्ञ; नृपाणाम्—समस्त राजाओं का; महत्-तम—महापुरुषों का; अनुग्रहणीय-शीलाः—कृपा प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित; राज्ञाम् कुलम्—राजाओं के समूह; ब्राह्मण-पाद—ब्राह्मणों के चरण; शौचात्—प्रक्षालन से बचा; दूरात्—दूर से; विसृष्टम्—सदा बचा हुआ; बत—के कारण; गर्ह्य—घृणित; कर्म—कार्य।

भाग्यशाली राजा ने कहा : निस्संदेह, मैं समस्त राजाओं में अत्यन्त धन्य हूँ, जो आप जैसे महापुरुषों का अनुग्रह प्राप्त करने के अभ्यस्त हैं। सामान्यतया, आप (ऋषि) लोग राजाओं को किसी दूर स्थान में फेंका जाने योग्य कूड़ा समझते हैं।

तात्पर्य : धार्मिक नियमों के अनुसार मल-मूत्र, धोवन इत्यादि को काफी दूर ले जाकर डालना चाहिए। भले ही घर से लगे स्नानागार, मूत्रालय इत्यादि आधुनिक सभ्यता की सुविधाएँ हों, लेकिन उन्हें रिहायशी मकानों से दूर बनाये जाने का आदेश है। यही उदाहरण यहाँ पर उन राजाओं पर लागू किया गया है, जो भगवद्धाम के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि जो लोग भगवद्धाम जाना चाहते हैं, उनके लिए करोड़पतियों के या राजाओं के घनिष्ठ सम्पर्क में रहना आत्म-हत्या से भी निकृष्ट है। दूसरे शब्दों में, अध्यात्मवादी लोग सामान्यतया ऐसे लोगों की संगति

नहीं करते, जो भगवान् की सृष्टि की बाह्य सुन्दरता द्वारा अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति में उच्च ज्ञान होने से अध्यात्मवादी जानता है कि यह सुन्दर भौतिक जगत वास्तविकता का अर्थात् भगवद्धाम का छाया रूप प्रतिबिम्ब मात्र है। अतएव वे राजसी ऐश्वर्य या इसी तरह की अन्य वस्तु से अधिक मोहित नहीं होते। किन्तु महाराज परीक्षित की बात ही कुछ और थी। ऊपरी तौर पर देखने में राजा को एक अनुभवहीन ब्राह्मण बालक द्वारा मृत्यु का शाप मिला था, किन्तु वास्तव में उन्हें भगवान् ने अपने पास बुलाया था। महाराज परीक्षित के आमरण व्रत का समाचार पाकर जितने अध्यात्मवादी, महर्षि तथा योगी वहाँ एकत्र हुए थे, वे उनका दर्शन पाने के लिए उत्सुक थे, क्योंकि वे भगवद्धाम वापस जा रहे थे। महाराज परीक्षित भी इस बात को समझते थे कि वहाँ पर जितने ऋषि एकत्र हुए हैं, वे उनके पूर्वज पाण्डवों की भगवद्भक्ति के कारण उन पर अत्यन्त कृपालु थे। अतएव परीक्षित महाराज अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में समस्त मुनियों को वहाँ उपस्थित पाकर अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे और उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि यह सब उनके पूर्वजों तथा पितामहों के प्रताप के कारण था। अतएव उन्हें गर्व हुआ कि वे ऐसे महान् भक्तों के वंशज हैं। भगवान् के भक्तों का ऐसा गर्व भौतिक समृद्धि से उत्पन्न दर्प के तुल्य नहीं होता। इनमें पहला तो वास्तविक है और दूसरा झूठा तथा व्यर्थ है।

तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो
 व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्षणम् ।
 निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो
 यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; अघस्य—पापी का; परा—दिव्य; अवर—संसारी; ईशः—नियन्ता, भगवान्;
 व्यासक्त—अत्यधिक आसक्त; चित्तस्य—मन का; गृहेषु—घरेलू मामलों में; अभीक्षणम्—सदैव; निर्वेद-मूलः—वैराग्य का
 कारण; द्विज-शाप—ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप; रूपः—के रूप में; यत्र—जहाँ; प्रसक्तः—प्रभावित; भयम्—भय; आशु—
 शीघ्र; धत्ते—घटित होते हैं।

आध्यात्मिक तथा प्राकृत जगत्‌ों के नियन्ता भगवान् ने ब्राह्मण-शाप के रूप में मुझ पर अत्यन्त कृपा की है। गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण, मुझे बचाने के लिए भगवान् मेरे समक्ष इस तरह प्रकट हुए हैं कि मैं भयवश अपने आपको संसार से विरक्त कर लूँ।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित यद्यपि महान् भक्त पाण्डवों के परिवार में उत्पन्न हुए थे और यद्यपि उन्हें भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दिव्य आसक्ति की शिक्षा प्राप्त थी, तो भी उन्हें संसारी गृहस्थ जीवन का आकर्षण इतना प्रबल लग रहा था कि उन्हें भगवान् की योजना द्वारा विलग किया जाना पड़ा। भगवान् विशिष्ट भक्त के लिए ही ऐसी प्रत्यक्ष कार्यवाही करते हैं। महाराज परीक्षित, ब्रह्माण्ड भर से आये श्रेष्ठ अध्यात्मवादियों की उपस्थिति से इसे समझ सके। भगवान् अपने भक्तों के साथ निवास करते हैं, अतएव बड़े-बड़े सन्तों की उपस्थिति भगवान् की उपस्थिति की सूचक थी। अतएव राजा ने महर्षियों की उपस्थिति को परमेश्वर के अनुग्रह का संकेत मानकर उनका स्वागत किया।

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा
गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा
दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—इस कारण; मा—मुझको; उपयातम्—शरणागत को; प्रतियन्तु—स्वीकार करें; विप्राः—हे ब्राह्मणों; गङ्गा—गंगा माता; च—भी; देवी—भगवान् की प्रत्यक्ष प्रतिनिधि; धृत—धारण किया; चित्तम्—हृदय; ईशे—भगवान् में; द्विज-उपसृष्टः—ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न; कुहकः—चमत्कार; तक्षकः—तक्षक नाग; वा—या; दशतु—काटे; अलम्—अविलम्ब; गायत—कृपया गाते रहें; विष्णु-गाथाः—विष्णु के कार्यों की कथा।

हे ब्राह्मणों, आप मुझे पूर्ण रूप से शरणागत के रूप में स्वीकार करें और भगवान् की प्रतिनिधि-स्वरूपा माँ गंगा भी मुझे इसी रूप में स्वीकार करें, क्योंकि मैं पहले से अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को धारण किये हूँ। अब चाहे तक्षक नाग, या ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न कोई भी चमत्कारी वस्तु, मुझे तुरन्त डस ले। मेरी एकमात्र इच्छा यह है कि आप सब भगवान् विष्णु की लीलाओं का गायन करते रहें।

तात्पर्य : ज्योंही कोई परमेश्वर के चरणकमलों में पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है, तो वह मृत्यु से तनिक भी भयभीत नहीं होता। गंगा नदी के तट पर भगवद्भक्तों की उपस्थिति से तथा महाराज परीक्षित द्वारा भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण शरणागति से उत्पन्न वातावरण इस बात की गारंटी थी कि राजा भगवद्धाम वापस जा रहे हैं। इस तरह वे मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त हो गये।

पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते
 रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
 महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं
 मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—तथा; भूयात्—ऐसा हो; भगवति—भगवान् श्रीकृष्ण में; अनन्ते—अनन्त शक्तिमान; रतिः—आकर्षण;
 प्रसङ्गः—संगति; च—भी; तत्—उसका; आश्रयेषु—उनके भक्तों से; महत्सु—भौतिक सृष्टि में; याम् याम्—जो जो;
 उपयामि—मैं ले सकता हूँ; सृष्टिम्—जन्म; मैत्री—मित्रता; अस्तु—हो; सर्वत्र—सभी जगह; नमः—मेरा नमस्कार है;
 द्विजेभ्यः—ब्राह्मणों को।

मैं आप समस्त ब्राह्मणों को पुनः नमस्कार करके यही प्रार्थना करता हूँ कि यदि मैं इस भौतिक जगत में फिर से जन्म लूँ, तो अनन्त भगवान् कृष्ण के प्रति मेरी पूर्ण आसक्ति हो, उनके भक्तों की संगति प्राप्त हो और समस्त जीवों के साथ मैत्री-भाव रहे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित ने यहाँ पर यह बताया है कि भगवद्भक्त ही एकमात्र परिपूर्ण जीव होता है। भगवद्भक्त किसी का शत्रु नहीं होता, भले ही उसके अनेक शत्रु हों। भगवद्भक्त अभक्तों की संगति में नहीं रहना चाहता, यद्यपि उनसे उसकी शत्रुता नहीं होती। वह भगवद्भक्तों की ही संगति चाहता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि समान विचारकों में ही मैत्री सम्भव है। और भक्त का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, समस्त जीवों के पिता भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण अनुरक्ति। जिस प्रकार एक पिता का अच्छा बेटा अपने समस्त भाइयों से मित्रवत् आचरण करता है, उसी तरह भगवद्भक्त, परम पिता भगवान् श्रीकृष्ण का अच्छा बेटा होने के कारण, अन्य समस्त जीवों को अपने परम पिता से सम्बन्धित देखता है। वह अपने पिता के उद्दंड पुत्रों को सभ्य बनाकर उनसे ईश्वर के परम पितृत्व को स्वीकार कराने का प्रयास करता है। महाराज परीक्षित निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जा रहे थे, किन्तु यदि उन्हें न भी जाना होता, तो भी उन्होंने जिस तरह के जीवन के लिए प्रार्थना की, वह भौतिक जगत के लिए परम पूर्ण विधि है। शुद्ध भक्त कभी ब्रह्मा जैसे महापुरुषों का साथ भी नहीं चाहता है, उसे तो क्षुद्र जीव की भी संगति पसन्द है, बशर्ते कि वह भगवद्भक्त हो।

इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः

प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः ।
 उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते
 समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; स्म—भूतकाल के लिए प्रयुक्त; राजा—राजा; अध्यवसाय—धीरज; युक्तः—लगे हुए; प्राचीन—पूर्वी;
 मूलेषु—जड़ के समेत; कुशेषु—कुश घास से बने आसन पर; धीरः—आत्म-संयमी; उदङ्-मुखः—उत्तराभिमुख; दक्षिण—
 दक्षिणी; कूले—किनारे पर; आस्ते—स्थित; समुद्र—समुद्र की; पत्न्याः—पत्नी (गंगा); स्व—अपना; सुत—पुत्र; न्यस्त—
 त्यागा हुआ; भारः—प्रशासन का भार।

पूर्ण आत्म-संयम से, महाराज परीक्षित पूर्वाभिमुख जड़ोंवाले कुशों के बने हुए, गंगा के दक्षिणी तट पर रखे, आसन पर बैठ गये और उन्होंने अपना मुख उत्तर की ओर कर लिया। इसके पूर्व उन्होंने अपने साम्राज्य का सारा भार अपने पुत्र को सौंप दिया था।

तात्पर्य : गंगा नदी समुद्र पत्नी के रूप में विख्यात है। कुश का बना आसन पवित्र माना जाता है, यदि उसे जड़ समेत भूमि से उखाड़ा गया हो और यदि उसकी जड़ें पूर्व की ओर हों तो उसे शुभ माना जाता है। आध्यात्मिक सफलता के लिए उत्तराभिमुख होना और भी अनुकूल होता है। महाराज परीक्षित ने घर छोड़ने के पूर्व प्रशासन का भार अपने पुत्र को सौंप दिया था। इस तरह समस्त परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थीं।

एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे
 प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः ।
 प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनै-
 र्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; नर-देव-देवे—राजा में; प्राय-उपविष्टे—आमरण उपवास में लगा; दिवि—
 आकाश में; देव—देवता; सङ्घाः—सबके सब; प्रशस्य—कार्य की प्रशंसा करके; भूमौ—पृथ्वी पर; व्यकिरन्—बरसाया;
 प्रसूनैः—फूलों से; मुदा—प्रसन्न होकर; मुहुः—निरन्तर; दुन्दुभयः—दैवी ढोल; च—भी; नेदुः—बजाये गये।

इस प्रकार महाराज परीक्षित आमरण उपवास करने के लिए बैठ गये। स्वर्गलोक के सारे देवता राजा के इस कार्य की प्रशंसा करने लगे और हर्ष-विभोर होकर पृथ्वी पर निरन्तर पुष्प-वर्षा करने लगे तथा दैवी नगाड़े बजाने लगे।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के काल तक भी अन्तर्गृहीय यातायात था और महाराज परीक्षित के मोक्ष-प्राप्ति हेतु किए जाने वाले आमरण उपवास की खबर आकाश में उच्च लोकों तक फैल गई, जहाँ बुद्धिमान देवता रहते हैं। देवतागण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक समृद्धशाली होते हैं, लेकिन वे सभी परमेश्वर की आज्ञाओं के पालक हैं। स्वर्गलोक में एक भी नास्तिक नहीं है। इस तरह पृथ्वी के किसी भगवद्भक्त की वे प्रशंसा करते हैं और महाराज परीक्षित से तो वे अत्यधिक हर्षित थे, अतएव उन्होंने पुष्पों की वृष्टि करके तथा दैवी नगाड़े बजाकर उनका सम्मान किया। कोई भी देवता किसी भक्त को भगवद्धाम जाते देखकर हर्षित होता है। वह भगवद्भक्त से सदा प्रसन्न रहता है, यहाँ तक कि वह अपनी आधिदैविक शक्ति से भक्तों की सभी प्रकार से सहायता करता है और उनके कार्यों से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान्, देवता तथा पृथ्वी पर स्थित भगवद्भक्त के बीच पूर्ण सहयोग की अदृश्य शृंखला बनी हुई है।

महर्षयो वै समुपागता ये
प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा
यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

महर्षयः—महर्षिगण; वै—सचमुच; समुपागताः—वहाँ एकत्रित; ये—जो; प्रशस्य—प्रशंसा करके; साधु—बहुत अच्छा; इति—इस प्रकार; अनुमोदमानाः—अनुमोदित करते हुए; ऊचुः—कहा; प्रजा-अनुग्रह—जीवों का कल्याण करने; शील-साराः—गुणात्मक रूप से शक्तिमान; यत्—क्योंकि; उत्तम-श्लोक—चुने हुए श्लोकों से प्रशंसित; गुण-अभिरूपम्—दैवी गुणों के समान सुन्दर।

वहाँ पर एकत्र हुए सारे ऋषियों ने भी महाराज परीक्षित के निर्णय को सराहा और “बहुत अच्छा (साधु-साधु)” कहकर उन्होंने अपना अनुमोदन व्यक्त किया। स्वभावतः मुनिगण सामान्य लोगों का कल्याण करने के लिए उन्मुख रहते हैं, क्योंकि उनमें परमेश्वर के सारे गुण पाये जाते हैं। अतएव वे भगवान् के भक्त महाराज परीक्षित को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भक्ति मय सेवा का पद प्राप्त करने पर जीव का प्राकृतिक सौन्दर्य बढ़ जाता है। महाराज परीक्षित भगवान् कृष्ण की आसक्ति में लीन थे। यह देखकर वहाँ पर एकत्र सारे ऋषि अत्यन्त प्रसन्न

थे। उन्होंने 'साधु-साधु' कहकर अपनी ओर से अनुमोदन किया। ऐसे ऋषि सामान्य लोगों का कल्याण चाहते रहते हैं और जब वे महाराज परीक्षित जैसे महानुभाव को भक्ति-पथ पर अग्रसर होते देखते हैं, तो उनके हर्ष की सीमा नहीं रहती और वे अपनी शक्ति में जो हैं, वे सब आशीर्वाद देते हैं। भगवद्भक्ति इतनी शुभ है कि सारे देवता तथा ऋषि, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् भी भक्त से प्रसन्न हो जाते हैं, इसीलिए भक्त को प्रत्येक वस्तु शुभ दिखती है। प्रगतिशील भक्त के मार्ग से सारी अशुभ बातें हटा ली जाती हैं। मृत्यु के समय महर्षियों से भेंट निश्चय ही महाराज परीक्षित के लिए शुभ थी और इस तरह वे ब्राह्मण बालक के तथाकथित शाप से धन्य हो गये।

न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं
भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं
सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—न तो; वा—इस प्रकार; इदम्—यह; राजर्षि—राजाओं के ऋषि; वर्य—प्रधान; चित्रम्—आश्चर्यजनक; भवत्सु—आप सबों को; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण; समनुव्रतेषु—उस पथ पर दृढ़ रहनेवालों को; ये—जो; अध्यासनम्—सिंहासनारूढ़; राज-किरीट—राजमुकुट; जुष्टम्—अलंकृत; सद्यः—शीघ्र; जहुः—त्याग दिया; भगवत्—भगवान्; पार्श्व-कामाः—संगति प्राप्त करने का इच्छुक।

(मुनियों ने कहा :) हे भगवान् श्रीकृष्ण की परम्परा का पालन करनेवाले पाण्डुवंशी राजर्षियों के प्रमुख! यह तनिक भी आश्चर्यप्रद नहीं कि आप अपना वह सिंहासन, जो अनेक राजाओं के मुकुटों से सुसज्जित है, भगवान् का नित्य सान्निध्य प्राप्त करने के लिए त्याग रहे हैं।

तात्पर्य : मूर्ख राजनीतिज्ञ जो प्रशासनिक पदों पर डटे हुए होते हैं, सोचते हैं कि वे जिन अस्थायी पदों पर हैं, वे जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि हैं। अतएव वे उन पदों पर जीवन के अन्तिम क्षणों तक चिपके रहते हैं, उन्हें इसका ध्यान कहाँ कि मुक्ति प्राप्त करके भगवद्धाम में भगवान् के पार्श्वों में से एक पद प्राप्त करना जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है। मनुष्य जन्म इसी के लिए मिला है। भगवान् ने भगवद्गीता में हमें कई बार आश्वस्त किया है कि सनातन भगवद्धाम वापस जाना सर्वोच्च उपलब्धि है। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंह से प्रार्थना करते हुए कहा, “हे प्रभु! मैं जीवन की भौतिकतावादी शैली से अत्यधिक भयभीत हूँ। मैं आपके इस भयावने नृसिंहदेव रूप से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ।

यह भौतिकतावादी जीवन शैली चक्री के पाट के समान है, जिसके द्वारा हम कुचले जा रहे हैं। हम जीवन की उत्ताल तरंगों के भयावह भँवर में गिर गये हैं। अतएव हे भगवान्! मैं आपके चरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे सेवक के रूप में अपने नित्य धाम में वापस बुला लें। यही इस भौतिकतावादी जीवनशैली की सर्वोच्च मुक्ति है। मुझे इस भौतिकतावादी जीवन का अत्यन्त कटु अनुभव है। मैंने अपने कर्मों के वशीभूत होकर जिस-जिस योनि में जन्म लिया है, मुझे दो बातों का पीड़ादायक अनुभव हुआ है—अपने प्रिय से विछोह तथा अवांछित से भेंट। इनके प्रतिकार के लिए मैंने जो उपचार अपनाये, वे खुद रोग से अधिक भयावह निकले। अतः मैं जन्म-जन्मांतर एक स्थान से दूसरे स्थान में फिरता रहा, और मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे अपने चरणकमलों में शरण दें।”

पाण्डव राजा, जो संसार के अनेक सन्तों से बढ़कर हैं, जीवन की भौतिकतावादी शैली के कटु परिणामों से अवगत थे। वे कभी उस राजसिंहासन की चकाचौंध से मोहित न थे, जिस पर वे बैठे। वे सदैव भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के हेतु, उनके द्वारा पुकारे जाने के लिए उत्सुक रहते थे। महाराज परीक्षित महाराज युधिष्ठिर के सुयोग्य पौत्र थे। महाराज युधिष्ठिर ने अपने पौत्र के लिए सिंहासन छोड़ दिया और इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर के पौत्र महाराज परीक्षित ने अपने पुत्र जनमेजय के लिए सिंहासन छोड़ दिया। इस वंश में सारे राजाओं का ऐसा ही रिवाज था, क्योंकि वे सभी कृष्ण की परम्परा का पालन करनेवाले थे। इस तरह भगवद्भक्त कभी भी भौतिकतावादी जीवन की चकाचौंध से मोहित नहीं होते और वे निष्पक्ष भाव से झूठे भ्रामक भौतिकतावादी जीवन के विषयों से अनासक्त रहते हैं।

सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ
 कलेवरं यावदसौ विहाय ।
 लोकं परं विरजस्कं विशोकं
 यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; वयम्—हमारा; तावत्—तब तक; इह—इस स्थान पर; आस्महे—रुकेंगे; अथ—तत्पश्चात्; कलेवरम्—शरीर; यावत्—जब तक; असौ—राजा; विहाय—त्यागकर; लोकम्—लोक को; परम्—परम; विरजस्कम्—संसारी कल्मष से सर्वथा मुक्त; विशोकम्—सभी प्रकार के शोक से पूर्ण रूप से मुक्त; यास्यति—लौटता है; अयम्—यह; भागवत—भक्त; प्रधानः—प्रमुख।

हम सभी यहाँ पर तब तक प्रतीक्षा करेंगे, जब तक भगवान् के प्रमुख भक्त महाराज परीक्षित परम लोक को लौट नहीं जाते, जो समस्त संसारी कल्मष तथा समस्त प्रकार के शोक से पूर्ण रूप से मुक्त है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि, जिसकी तुलना आकाश के बादल से की गई है, उसकी सीमा से परे परव्योम अर्थात् आध्यात्मिक आकाश है, जो वैकुण्ठ नामक ग्रहों से भरा हुआ है। ऐसे वैकुण्ठ ग्रह भी भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं यथा पुरुषोत्तमलोक, अच्युतलोक, त्रिविक्रमलोक, हृषीकेशलोक, केशवलोक, अनिरुद्धलोक, माधवलोक, प्रद्युम्नलोक, संकर्षणलोक, श्रीधरलोक, वासुदेवलोक, अयोध्यालोक, द्वारकालोक तथा अन्य अनेकानेक लाखों आध्यात्मिक लोक जहाँ भगवान् अधिष्ठाता हैं। वहाँ के सारे जीव मुक्त आत्मा हैं और उनके शरीर भगवान् के ही समान आध्यात्मिक हैं। वहाँ भौतिक कल्मष नहीं है, हर वस्तु आध्यात्मिक है। अतएव वहाँ कुछ भी शोक करने योग्य नहीं है। ये लोक दिव्य आनन्द से पूर्ण हैं। वहाँ न जन्म है, न जरा, न मृत्यु और न रोग है। उपर्युक्त समस्त वैकुण्ठलोकों में एक परम लोक है, जो गोलोक वृन्दावन कहलाता है, जो भगवान् श्रीकृष्ण तथा विशिष्ट पार्षदों का धाम है। महाराज परीक्षित के लिए यह विशिष्ट धाम पूर्वनिश्चित था और वहाँ पर एकत्र हुए सारे ऋषि इसे पहले से देख सकते थे। वे सभी महान् राजा के महाप्रस्थान के विषय में परस्पर बातें कर रहे थे और वे उन्हें अन्तिम क्षण तक देखना चाह रहे थे, क्योंकि उन्हें फिर ऐसा महान् भगवद्भक्त देखने को नहीं मिलेगा। जब भगवान् का कोई बड़ा भक्त दिवंगत होता है, तो इसमें शोक करने के लिए कुछ नहीं होता, क्योंकि भक्त का भगवद्धाम में प्रवेश पूर्वनिश्चित है। लेकिन दुख की बात तो यह है कि ऐसा महान् भक्त हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। अतएव दुखी होने की बात तो है ही। जिस तरह भगवान् विरले ही हमारी इन आँखों से दिखते हैं, उसी तरह महान् भक्त भी। अतः महर्षियों ने ठीक ही अपने-अपने स्थानों पर अन्तिम क्षण तक रहने का निश्चय किया।

आश्रुत्य तद्विषिगणवचः परीक्षित्
समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम् ।
आभाषतैनानभिनन्द्य युक्तान्
शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आश्रुत्य—सुनकर; तत्—वह; ऋषि-गण—एकत्रित मुनि; वचः—बोलते हुए; परीक्षित्—महाराज परीक्षित; समम्—निष्पक्ष;
मधु-च्युत्—सुनने में मधुर; गुरु—गम्भीर; च—भी; अव्यलीकम्—सर्वथा सत्य; आभाषत—कहा; एनान्—वे सब;
अभिनन्द्य—स्वागत किया; युक्तान्—ढंग से प्रस्तुत; शुश्रूषमाणः—सुनने के लिए उत्सुक; चरितानि—कार्यकलापों को;
विष्णोः—भगवान् के ।

महान् ऋषियों ने जो कुछ कहा, वह सुनने में अति सुमधुर, सार्थक तथा यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया पूर्ण सत्य था। अतएव उन्हें सुनने के बाद महाराज परीक्षित ने भगवान् श्रीकृष्ण के कार्यकलापों के विषय में सुनने की इच्छा से महर्षियों को अभिनन्दन दिया ।

समागताः सर्वत एव सर्वे
वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे ।
नेहाथ नामुत्र च कश्चनार्थ
ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

समागताः—एकत्रित; सर्वतः—सभी दिशाओं से; एव—निश्चय ही; सर्वे—आप सब; वेदाः—परम ज्ञान; यथा—जैसे; मूर्ति-
धराः—मूर्तिमंत; त्रि-पृष्ठे—ब्रह्मा के लोक में (जो उर्ध्व, मध्य तथा अधो तीनों लोकों के ऊपर स्थित हैं); न—नहीं; इह—इस
संसार में; अथ—तत्पश्चात्; न—न तो; अमुत्र—अन्य जगत में; च—भी; कश्चन—अन्य कोई; अर्थः—हित, स्वार्थ; ऋते—के
अतिरिक्त; पर—अन्य; अनुग्रहम्—कृपा; आत्म-शीलम्—अपना स्वभाव ।

राजा ने कहा : हे महर्षियों, आप ब्रह्माण्ड के कोने-कोने से आकर यहाँ पर कृपापूर्वक एकत्र हुए हैं। आप सभी परम ज्ञान के मूर्तिमंत स्वरूप हैं, जो तीनों लोकों के ऊपर के लोक (सत्यलोक) का वासी है। फलस्वरूप आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अन्यो का कल्याण करने की है और इसके अतिरिक्त इस जीवन में या अगले जीवन में आपकी अन्य कोई रूचि नहीं है।

तात्पर्य : छह प्रकार के ऐश्वर्य हैं—सम्पत्ति, बल, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य। ये सब मूलतः भगवान् के गुण हैं। परम पुरुष के अंश रूप जीवों में ये सारे गुण आंशिक रूप से, अधिक से अधिक अठहत्तर प्रतिशत पाये जाते हैं। भौतिक जगत में ये गुण (भगवान् के गुणों के १८% तक) भौतिक

शक्ति द्वारा उसी प्रकार ढके रहते हैं, जिस प्रकार सूर्य बादल से ढका रहता है। मेघों से आच्छन्न सूर्य की शक्ति मूल तेज की तुलना में मन्द रहती है। इसी प्रकार ऐसे गुणों से युक्त जीवों का मूल रंग प्रायः लुप्त रहता है। ब्रह्माण्ड में लोकों के तीन वर्ग हैं, जिनके नाम हैं—अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक। पृथ्वी के मनुष्य मध्यलोकों के प्रारम्भ में रहते हैं, लेकिन ब्रह्मा जैसे जीव तथा उनके समकालीन जीव ऊर्ध्वलोकों में रहते हैं, जिनमें से सत्यलोक सबसे ऊपर है। सत्यलोक के सारे निवासी वैदिक विद्या में पूर्ण रूप से निष्णात् होते हैं और इस तरह मायारूपी बादल साफ हो जाते हैं। फलस्वरूप वे साक्षात् वेद कहलाते हैं। ऐसे पुरुष संसारी तथा दिव्य दोनों प्रकार के ज्ञान से पूर्ण अवगत होने से संसारी या दिव्य लोकों में कोई रुचि नहीं रखते। वे एक तरह से इच्छारहित भक्त हैं। संसारी जगत में उन्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं रहता और दिव्य जगत में वे स्वयं में पूर्ण रहते हैं। तो फिर वे संसारी जगत में क्यों आते हैं? वे भगवान् के आदेश से विभिन्न लोकों में पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए मसीहा (उद्धारकर्ता) के रूप में आते हैं। वे पृथ्वीलोक में आते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में लोगों का कल्याण करते हैं। उन्हें इस संसार में भौतिक शक्ति द्वारा प्रवंचित सड़ रहे पतित आत्माओं का उद्धार करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं होता।

ततश्च वः पृच्छ्यमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इति कृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना प्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—इस तरह; च—तथा; वः—आपको; पृच्छ्यम्—पूछा जाने योग्य; इमम्—यह; विपृच्छे—पूछता हूँ; विश्रभ्य—विश्रसनीय; विप्राः—ब्राह्मणों; इति—इस प्रकार; कृत्यतायाम्—विभिन्न कर्तव्यों में से; सर्व-आत्मना—प्रत्येक के द्वारा; प्रियमाणैः—विशेषरूप से मरणासत्रों के द्वारा; च—तथा; कृत्यम्—आज्ञाकारी; शुद्धम्—एकदम सही; च—तथा; तत्र—वहाँ पर; आमृशत—पूर्ण विचार-विमर्श से; अभियुक्ताः—सर्वथा उपयुक्त।

हे विश्वासपात्र ब्राह्मणों, अब मैं अपने वर्तमान कर्तव्य के विषय में पूछ रहा हूँ। कृपया पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात्, मुझे सभी परिस्थितियों में हर एक के कर्तव्य के विषय में और विशेष रूप से जो तुरन्त मरनेवाला हो (मरणासत्र), उसके कर्तव्य के विषय में बतलाइये।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा ने विद्वान् मुनियों के समक्ष दो प्रश्न रखे हैं। पहला प्रश्न है कि सभी परिस्थितियों में हर एक का कर्तव्य क्या है? तथा दूसरा प्रश्न है कि मरणासन्न व्यक्ति का विशिष्ट कर्तव्य क्या है? इन दोनों में से मरणासन्न व्यक्ति विषयक प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हर व्यक्ति मर रहा व्यक्ति है—चाहे वह तुरन्त मरे या सौ वर्ष बाद। आयु अवधि निरर्थक है, किन्तु मरनेवाले व्यक्ति का कर्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाराज परीक्षित ने इन दोनों प्रश्नों को शुकदेव गोस्वामी के आने पर उनके समक्ष भी रखा। एक तरह से सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत*, द्वितीय स्कन्ध से लेकर बारहवें स्कन्ध तक, इन्हीं दोनों प्रश्नों से सम्बन्धित है। इनसे जो निष्कर्ष निकला है वह यह कि भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति मय सेवा ही जीवन में हर एक का स्थायी कर्तव्य है, जिसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के अन्तिम अंशों में की है। महाराज परीक्षित पहले से इस तथ्य से अवगत थे, लेकिन वे चाहते थे कि समागत महर्षिगण इस विषय में अपना निर्णय एक स्वर से दें, जिससे वे किसी मतभेद के बिना अपना कर्तव्य सुनिश्चित कर सकें। उन्होंने शुद्ध शब्द का विशेष उल्लेख किया है। दिव्य अनुभूति या आत्म-साक्षात्कार के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने अनेक विधियाँ बताई हैं। इनमें से कुछ प्रथम कोटि की हैं, कुछ द्वितीय कोटि की और कुछ तृतीय कोटि की हैं। सर्वोत्तम विधि में अपेक्षा की गई है कि मनुष्य अन्य सारी विधियों को त्याग कर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करे और इस तरह सम्पूर्ण पापों एवं उनके फलों से बच जाय।

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो
वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अभवत्—प्रकट हुए; भगवान्—शक्तिशाली; व्यास-पुत्रः—व्यासदेव के पुत्र; यदृच्छया—अपनी इच्छानुसार; गाम्—पृथ्वी में; अटमानः—निरन्तर विचरण करते; अनपेक्षः—उदासीन; अलक्ष्य—अव्यक्त; लिङ्गः—लक्षण; निज-लाभ—स्वरूपसिद्ध; तुष्टः—संतुष्ट; वृतः—घिरे हुए; च—तथा; बालैः—बालकों से; अवधूत—अन्यों द्वारा उपेक्षित; वेषः—वेशभूषा में।

उसी समय व्यासदेव के शक्तिसम्पन्न पुत्र वहाँ प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण पृथ्वी पर उदासीन तथा आत्म-तुष्ट होकर विचरण करते रहते थे। उनमें किसी सामाजिक व्यवस्था या जीवन-स्तर

(वर्णाश्रम-धर्म) का कोई लक्षण प्रकट नहीं होता था। वे स्त्रियों तथा बच्चों से घिरे थे और इस प्रकार का वेश धारण किये थे, मानों सभी लोगों ने उन्हें उपेक्षित (अवधूत) समझ रखा हो।

तात्पर्य : भगवान् शब्द कभी-कभी शुकदेव गोस्वामी जैसे परमेश्वर के महान् भक्तों के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसे मुक्त जीव इस भौतिक जगत के कार्य-व्यापार में उदासीन रहते हैं, क्योंकि वे भक्तिमय सेवा की महान् उपलब्धियों से ही आत्म-तुष्ट रहते हैं। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, शुकदेव गोस्वामी ने न तो कोई औपचारिक गुरु का स्वीकार किया, न ही कोई औपचारिक संस्कार सम्पन्न किये। उनके पिता व्यासदेव उनके नैसर्गिक गुरु थे, क्योंकि शुकदेव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत इन्हीं से सुना। इसके बाद वे पूर्ण रूप से आत्मतुष्ट बन गये। इस प्रकार वे किसी औपचारिक विधि पर निर्भर न थे। औपचारिक विधियाँ तो उनके लिए आवश्यक हैं, जो पूर्ण मोक्ष अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन श्रीशुकदेव गोस्वामी तो अपने पिता की कृपा से पहले से उस अवस्था में ही थे। तरुण बालक होने के नाते, उनसे समुचित वेश में रहने की आशा की जाती थी, लेकिन वे नग्न रहते और किसी सामाजिक परिपारी में रुचि न दिखाते। सामान्य जन उनकी उपेक्षा करते थे, किन्तु वे जिज्ञासु बालकों तथा स्त्रियों से ऐसे घिरे रहते जैसे की वे कोई पागल हों। इस प्रकार वे यहाँ पर तब प्रगट हुए, जब वे स्वेच्छा से पृथ्वी पर विचरण कर रहे थे। महाराज परीक्षित की जिज्ञासा से ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षिगण एकमत नहीं हो पा रहे थे कि क्या किया जाय। आध्यात्मिक मोक्ष के लिए विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की युक्तियाँ बताते हैं। किन्तु जीवन का चरम लक्ष्य भक्ति की चरम सिद्ध अवस्था प्राप्त करना है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न डॉक्टर भिन्न-भिन्न नुस्खे लिखते हैं, उसी प्रकार मुनियों में भी मत-भिन्नता होती है। जब ये सारी बातें चल रही थीं, तभी व्यासदेव के शक्तिसम्पन्न (तेजस्वी) पुत्र वहाँ पर प्रकट हुए।

तं द्रव्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्ण-
सुभ्रवाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; द्वि-अष्ट—सोलह; वर्षम्—वर्ष; सु-कुमार—कोमल; पाद—पाँव; कर—हाथ; ऊरु—जाँघें; बाहु—भुजाएँ; अंस—कंधे; कपोल—मस्तक; गात्रम्—शरीर; चारु—सुन्दर; आयत—चौड़ा; अक्ष—आँखें; उन्नस—ऊँची नाक; तुल्य—एक-से; कर्ण—कान; सुभ्रु—अच्छी भौंहें; आननम्—चेहरा, मुखमंडल; कम्बु—शंख; सुजात—अच्छी तरह बना; कण्ठम्—कण्ठ, गर्दन।

श्री व्यासदेव के इस पुत्र की आयु केवल सोलह वर्ष थी। उनके पाँव, हाथ, जाँघें, भुजाएँ, कंधे, ललाट तथा शरीर के अन्य भाग अत्यन्त सुकोमल तथा सुगठित बने थे। उनकी आँखें सुन्दर, बड़ी-बड़ी तथा नाक और कान उठे हुए थे। उनका मुखमण्डल अत्यन्त आकर्षक था और उनकी गर्दन सुगठित एवं शंख जैसी सुन्दर थी।

तात्पर्य : सम्मानित व्यक्ति का वर्णन पाँवों से शुरू किया जाता है और यह सम्मानित प्रणाली शुकदेव गोस्वामी पर भी लागू की गई है। वे केवल सोलह वर्ष के थे। व्यक्ति का सम्मान उसकी उपलब्धियों के लिए किया जाता है, न कि उसकी बड़ी आयु के लिए। व्यक्ति अनुभव के आधार पर अधिक सयाना हो सकता है, आयु से नहीं। श्री शुकदेव गोस्वामी, जिन्हें यहाँ पर व्यासदेव के पुत्र के रूप में बताया गया है, अपने ज्ञान के आधार पर वहाँ उपस्थित समस्त मुनियों से अधिक अनुभवी थे, यद्यपि अभी वे केवल सोलह वर्ष के थे।

निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षस-
मावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं
प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

निगूढ—आवृत; जत्रुम्—हँसली, कंधे की हड्डी; पृथु—चौड़ी; तुङ्ग—उठी हुई; वक्षसम्—छाती, सीना; आवर्त—भँवरदार, लहरदार; नाभिम्—नाभि; वलि-वल्गु—धारीदार; उदरम्—उदर, पेट; च—भी; दिक्-अम्बरम्—दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हों (नग्न); वक्त्र—कुंचित, घुँघराले; विकीर्ण—छितरे, बिखरे; केशम्—बाल; प्रलम्ब—काफी लम्बे; बाहुम्—हाथ; सु-अमर-उत्तम—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ (कृष्ण); आभम्—कान्ति।

उनकी हँसली मांसल थी, छाती चौड़ी तथा मोटी, नाभि गहरी तथा उदर सुन्दर धारियों से युक्त था। उनकी भुजाएँ लम्बी थीं तथा उनके घुँघराले बाल उनके सुन्दर मुखमंडल पर बिखरे हुए थे। वे नग्न थे और उनके शरीर की कान्ति भगवान् कृष्ण जैसी प्रतिबिम्बित हो रही थी।

तात्पर्य : उनकी शारीरिक संरचना उन्हें सामान्य व्यक्तियों से भिन्न बतानेवाली थी। शुकदेव गोस्वामी की शारीरिक संरचना के सम्बन्ध में जितने चिह्नों का वर्णन हुआ है, वे असामान्य लक्षण हैं और रूपाकृति विज्ञान के अनुसार महापुरुषों के लक्षण हैं। उनकी शारीरिक कान्ति भगवान् कृष्ण जैसी थी, जो देवों, देवताओं तथा समस्त जीवों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्यामं सदापीव्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या
स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्य-
स्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्यामम्—श्यामल; सदा—सदैव; अपीव्य—अत्यधिक; वयः—आयु; अङ्ग—लक्षण; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य से; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; मनः-ज्ञम्—आकर्षक; रुचिर—सुन्दर; स्मितेन—हँसी से; प्रत्युत्थिताः—खड़े हो गये; ते—वे सब; मुनयः—मुनिगण; स्व—अपने; आसनेभ्यः—आसनों से; तत्—वे; लक्षण-ज्ञाः—शरीरलक्षणों के जानने में पटु; अपि—भी; गूढ-वर्चसम्—छिपी हुई महिमा।

वे श्यामल वर्ण के तथा अपनी युवावस्था के कारण अत्यन्त सुन्दर थे। अपने शरीर की कान्ति तथा आकर्षक मुसकान के कारण, वे स्त्रियों के लिए मोहक थे। यद्यपि वे अपनी प्राकृतिक महिमा को छिपाने का प्रयत्न कर रहे थे, तो भी वहाँ पर उपस्थित सारे महर्षि रूपाकृति शास्त्र में पटु थे, अतएव सबों ने अपने-अपने आसन से उठकर उनका सम्मान किया।

स विष्णुरातोऽतिथय आगताय
तस्मै सपर्या शिरसाजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका
महासने सोपविवेश पूजितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे; विष्णु-रातः—महाराज परीक्षित (जिनकी रक्षा सदा भगवान् विष्णु करते हैं); अतिथये—अतिथि बनने के लिए; आगताय—वहाँ आये हुए; तस्मै—उन्हें; सपर्याम्—सम्पूर्ण शरीर से; शिरसा—झुके सिर से; आजहार—प्रणाम किया; ततः—तत्पश्चात्; निवृत्ताः—रुक गये; हि—निश्चय ही; अबुधाः—अल्पज्ञ; स्त्रियः—स्त्रियाँ; अर्भकाः—लड़के; महा-आसने—श्रेष्ठ आसन पर; स—वे; उपविवेश—बैठ गये; पूजितः—पूजा किये गये।

महाराज परीक्षित जिन्हें विष्णुराज (अर्थात् सदैव विष्णु द्वारा रक्षित) के नाम से भी जाना जाता है, उन्होंने मुख्य अतिथि शुकदेव गोस्वामी का स्वागत करने के लिए अपना मस्तक झुकाया। उस समय सारी अल्पज्ञ स्त्रियाँ तथा बालकों ने श्री शुकदेव गोस्वामी का पीछा करना छोड़ दिया। सबों से सम्मान प्राप्त करके, शुकदेव गोस्वामी अपने श्रेष्ठ आसन पर विराजमान हुए।

तात्पर्य : उस सभा में शुकदेव गोस्वामी के आगमन पर श्रील व्यासदेव, नारद तथा कुछ अन्य ऋषियों के अतिरिक्त सभी लोग खड़े हो गये और महाराज परीक्षित ने इस महान् भगवद्भक्त के समक्ष साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया। शुकदेव गोस्वामी ने भी सभी से, विशेषकर अपने पिता तथा नारदमुनि के समक्ष, गले मिलते हुए, हाथ मिलाकर, सिर हिलाकर तथा झुककर स्वागत का उत्तर दिया। तब उन्हें सभा का मुख्य आसन प्रदान किया गया। जब राजा तथा मुनि इस प्रकार से उनका स्वागत कर रहे थे, तो गलियों के छोकरे तथा अल्पज्ञ स्त्रियाँ जो उनके पीछे-पीछे चले आ रहे थे, आश्चर्य तथा भय से स्तम्भित रह गये। उन्होंने अपनी छिछोरी हरकतें बन्द कर दें और सब कुछ शान्त तथा गम्भीर हो गया।

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां
ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दु-
ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—श्री शुकदेव गोस्वामी; संवृतः—घिरे हुए; तत्र—वहाँ; महान्—महान्; महीयसाम्—सबसे महान् से; ब्रह्मर्षि—ब्राह्मणों में ऋषि; राजर्षि—राजाओं में साधु; देवर्षि—देवताओं में साधु; सङ्घैः—के समूह द्वारा; व्यरोचत—भलीभाँति योग्य; अलम्—समर्थ; भगवान्—शक्तिमान्; यथा—जिस तरह; इन्दुः—चन्द्रमा; ग्रह—लोक; ऋक्ष—स्वर्ग-लोक; तारा—तारे; निकरैः—समूह द्वारा; परीतः—घिरे हुए।

तब शुकदेव गोस्वामी साधु, मुनियों तथा देवताओं से इस तरह घिरे हुए थे जिस तरह चन्द्रमा तारों, नक्षत्रों तथा अन्य आकाशीय पिण्डों से घिरा रहता है। उनकी उपस्थिति अत्यन्त भव्य थी और वे सबों द्वारा सम्मानित हुए।

तात्पर्य : साधु पुरुषों की महासभा में ब्रह्मर्षि व्यासदेव, देवर्षि नारद और क्षत्रिय राजाओं के महान् शासक परशुराम इत्यादि थे। इनमें से कुछ भगवान् के शक्तिसम्पन्न अवतार थे। शुकदेव गोस्वामी न तो

ब्रह्मर्षि थे, न राजर्षि या देवर्षि, न ही वे नारद, व्यास या परशुराम के समान कोई अवतार थे। फिर भी उनका जो स्वागत किया गया, वह उनसे बढ़कर था। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में भगवान् की अपेक्षा भगवान् के भक्त का अधिक सम्मान होता है। अतएव शुकदेव गोस्वामी जैसे भक्त की महत्ता को कभी कम करके नहीं आँकना चाहिए।

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं
मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलि-
नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रशान्तम्—पूर्ण रूप से शान्त; आसीनम्—बैठे हुए; अकुण्ठ—निःसंकोच भाव से; मेधसम्—पर्याप्त बुद्धि-सम्पन्न; मुनिम्—महर्षि को; नृपः—राजा (महाराज परीक्षित) ने; भागवतः—महान् भक्त; अभ्युपेत्य—निकट जाकर; प्रणम्य—प्रणाम करके; मूर्ध्ना—शिर से; अवहितः—ठीक से; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; नत्वा—विनम्रतापूर्वक; गिरा—शब्दों से; सूनृतया—मीठी वाणी से; अन्वपृच्छत्—पूछा।

तब प्रखर मुनि श्री शुकदेव गोस्वामी पूर्ण शान्त भाव से बैठ गये। वे किसी भी प्रश्न का निःसंकोच होकर, बुद्धिमत्ता से उत्तर देने के लिए तैयार थे। तब महान् भक्त महाराज परीक्षित उनके पास पहुँचे और उन्होंने उनके समक्ष सिर झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर मधुर वाणी से विनीत होकर पूछा।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित द्वारा गुरु से प्रश्न की जो मुद्रा अपनाई गई, वह शास्त्र के आदेशों के सर्वथा उपयुक्त है। शास्त्रीय आदेश यह है कि दिव्य विज्ञान समझने के लिए मनुष्य को चाहिए कि गुरु के पास विनीत होकर जाये। महाराज परीक्षित अब मृत्यु को प्राप्त होने के लिए उद्यत थे और सात दिनों की अल्प अवधि के पश्चात् वे भगवद्-धाम में प्रवेश करने की विधि जाननेवाले थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण मामलों में मनुष्य को गुरु के पास पहुँचना पड़ता है। जब तक जीवन की समस्याओं का हल खोजने की आवश्यकता न हो, तब तक गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती है। जिसे गुरु के समक्ष प्रश्न पूछने की समझ न हो, उसे गुरु के पास नहीं जाना चाहिए। गुरु की सारी योग्यताएँ शुकदेव गोस्वामी में पूर्ण रूप से प्रकट थीं। गुरु तथा शिष्य अर्थात् श्री शुकदेव एवं महाराज परीक्षित दोनों ने श्रीमद्भागवत के माध्यम से पूर्णता प्राप्त की। शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता व्यासदेव से

श्रीमद्भागवत सीखा, लेकिन उन्हें उसे सुनाने का अवसर नहीं मिला था। अतएव उन्होंने महाराज परीक्षित के समक्ष भागवत का पाठ किया और बिना हिचक के महाराज परीक्षित के प्रश्नों के उत्तर दिये। इस प्रकार गुरु तथा शिष्य दोनों को मुक्ति प्राप्त हुई।

परीक्षिदुवाच

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः ।

कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

परीक्षित् उवाच—भाग्यशाली महाराज परीक्षित ने कहा; अहो—अहो; अद्य—आज; वयम्—हम; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; सत्-सेव्याः—भक्तों की सेवा करने योग्य; क्षत्र—शासक-वर्ग; बन्धवः—मित्र; कृपया—आपकी कृपा से; अतिथि-रूपेण—अतिथि के रूप में; भवद्भिः—आपके द्वारा; तीर्थकाः—तीर्थ-स्थल होने के योग्य; कृताः—किया गया।

भाग्यशाली राजा परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, आपने कृपा करके यहाँ पर मेरे अतिथि के रूप में उपस्थित होकर, हम सबों के लिए तीर्थस्थल बनाकर हमें पवित्र बना दिया है। आपकी कृपा से हम अयोग्य राजा भक्त की सेवा करने के सुपात्र बनते हैं।

तात्पर्य : शुकदेव गोस्वामी जैसे सन्त भक्त सामान्यतया किन्हीं भौतिक भोक्ताओं, विशेष रूप से राजाओं के पास नहीं आते। महाराज प्रतापरुद्र भगवान् चैतन्य के अनुयायी थे, किन्तु जब उन्होंने भगवान् का दर्शन करना चाहा, तो भगवान् ने उससे भेंट करने से इनकार कर दिया, क्योंकि वे राजा थे। जो भक्त भगवान् के धाम वापस जाना चाहते हैं, उनके लिए दो बातें वर्जित हैं—सांसारिक भोक्ता तथा स्त्रियाँ। अतएव शुकदेव गोस्वामी के स्तर के भक्त राजाओं से भेंट करने में कभी रुचि नहीं रखते। निस्सन्देह, महाराज परीक्षित की बात दूसरी थी। वे राजा होते हुए भी महान् भक्त थे, अतएव शुकदेव गोस्वामी उन्हें उनके जीवन के अन्तिम क्षणों में मिलने आये। महाराज परीक्षित, अपनी भक्तिमयी विनयशीलता के कारण, अपने को अपने महान् क्षत्रिय पूर्वजों का अयोग्य वंशज अनुभव कर रहे थे, यद्यपि वे अपने पूर्वगामियों के ही समान महान् थे। राजाओं की अयोग्य सन्तानें क्षत्र-बन्धव कहलाती हैं, जिस तरह ब्राह्मणों की अयोग्य सन्तानें द्विज-बन्धु या ब्रह्मबन्धु कहलाती हैं। महाराज परीक्षित शुकदेव गोस्वामी की उपस्थिति से अत्यन्त प्रोत्साहित थे। वे महान् सन्त की उपस्थिति से अपने को

पवित्र हुआ मान रहे थे, क्योंकि ऐसे सन्त की उपस्थिति किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल देती है।

येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः ।

किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—जिसके; संस्मरणात्—स्मृति से; पुंसाम्—पुरुष का; सद्यः—तुरन्त; शुद्ध्यन्ति—स्वच्छ हो जाते हैं; वै—निश्चय ही; गृहाः—सारे घर; किम्—क्या; पुनः—तब; दर्शन—भेंट; स्पर्श—छूना; पाद—पाँव; शौच—धोना; आसन-आदिभिः—आसन प्रदान करने आदि से।

आपके स्मरण मात्र से हमारे घर तुरन्त पवित्र हो जाते हैं। तो आपको देखने, स्पर्श करने, आपके पवित्र चरणों को धोने तथा अपने घर में आपको आसन प्रदान करने के विषय में तो कहना ही क्या?

तात्पर्य : पवित्र तीर्थ स्थानों का महत्त्व बड़े-बड़े मुनियों तथा सन्तों की उपस्थिति के कारण है। कहा जाता है कि पापी लोग पवित्र स्थानों में जाते हैं और अपने पापों को वहाँ छोड़ आते हैं जिससे वे वहाँ संचित हों। लेकिन बड़े-बड़े सन्तों की उपस्थिति से वह स्थान संचित पापों के संदूषण से मुक्त हो जाते हैं और इस तरह वहाँ पर उपस्थित भक्तों तथा सन्तों की कृपा से वे पवित्र स्थान पवित्र बने रहते हैं। यदि ऐसे सन्त सांसारिक लोगों के घरों में प्रकट हों, तो निश्चय ही सांसारिक भोक्ताओं के संचित पाप शमित होते जाते हैं। अतएव पवित्र सन्तों का गृहस्थों से कोई स्वार्थ नहीं रहता; उनका एकमात्र उद्देश्य गृहस्थों के घरों को पवित्र बनाना है। अतएव जब ऐसे सन्त-महात्मा द्वार पर आयें तो गृहस्थों को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। जो गृहस्थ ऐसे पवित्र आदेशों का निरादर करता है, वह महान् अपराधी है। अतएव ऐसा आदेश है कि जो गृहस्थ सन्त को देखकर सिर नहीं झुकाता, उसे अपने महान् अपराध को निष्प्रभावित करने के लिए उस दिन उपवास करना चाहिए।

सान्निध्यात्ते महायोगिन्पातकानि महान्त्यपि ।

सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सान्निध्यात्—उपस्थिति के कारण; ते—आपकी; महा-योगिन्—हे महान् योगी; पातकानि—सारे पाप; महान्ति—अभेद्य;
अपि—के बावजूद; सद्यः—तुरन्त; नश्यन्ति—नष्ट हो जाते हैं; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—व्यक्ति; विष्णोः—भगवान् की
उपस्थिति; इव—सदृश; सुर-इतराः—देवताओं के अतिरिक्त।

जिस प्रकार भगवान् की उपस्थिति में नास्तिक नहीं टिक सकता, उसी तरह हे सन्त, हे महान् योगी, मनुष्य के अभेद्य पाप भी आपकी उपस्थिति में तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं—नास्तिक तथा भगवद्भक्त। चूँकि भगवद्भक्त दैवी गुणों को प्रकट करता है, अतः वह देवता कहलाता है, जबकि नास्तिक असुर कहलाता है। भगवान् विष्णु की उपस्थिति में असुर (राक्षस) टिक नहीं सकता। असुरगण सदा ही भगवान् को नष्ट करने में जुटे रहते हैं, लेकिन तथ्य यह है कि भगवान् ज्योंही अपने नाम, रूप, गुण, लीला, साज-समान, या विविधता के माध्यम से प्रकट होते हैं, त्योंही असुर तत्काल नष्ट हो जाता है। कहा जाता है कि भगवान् के नाम का कीर्तन करते ही भूत भाग जाता है। बड़े-बड़े सन्त तथा भक्त भगवान् की साज-सामग्री की सूची में सम्मिलित होते हैं और इस प्रकार ज्योंही सन्त-रूपी भक्त उपस्थित होता है कि भूत-सदृश सारे पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। यह सारे वैदिक ग्रन्थों का निर्णय है। अतएव मनुष्य के लिए सन्त भक्तों की ही संगति करने की संस्तुति की जाती है, जिससे सांसारिक असुर तथा भूतप्रेत अपना दुष्प्रभाव न डाल सकें।

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।

पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चित रूप से; मे—मुझको; भगवान्—भगवान्; प्रीतः—प्रसन्न; कृष्णः—भगवान्; पाण्डु-सुत—राजा पाण्डु के पुत्र;
प्रियः—प्रिय; पैतृ—पिता से सम्बन्धित; स्वसेय—बहन के बेटे; प्रीति—सन्तोष; अर्थम्—के सम्बन्ध में; तत्—उनका;
गोत्रस्य—वंशज; आत्त—स्वीकृत; बान्धवः—मित्र के रूप में।

भगवान् कृष्ण जो राजा पाण्डु के पुत्रों को अत्यन्त प्रिय हैं, उन्होंने अपने महान् भाँजों तथा भाइयों को प्रसन्न करने के लिए मुझे भी सम्बन्धी की तरह स्वीकार किया है।

तात्पर्य : एक विशुद्ध अनन्य भगवद्भक्त अपने परिवार की सेवा, झूठे पारिवारिक मामलों में आसक्तों की अपेक्षा, अधिक अच्छे ढंग से करता है। सामान्यतया लोग पारिवारिक मामलों में आसक्त

रहते हैं और मानव समाज का सारा आर्थिक प्रेरक बल पारिवारिक मोह के वशीभूत होकर चलता है। ऐसे मोहग्रस्त लोगों को इतनी जानकारी नहीं रहती कि वे भगवद्भक्त बनकर परिवार की अधिक अच्छी सेवा कर सकते हैं। भगवान् अपने भक्त के पारिवारिक सदस्यों तथा वंशजों को विशेष सुरक्षा प्रदान करते हैं, भले ही ये सदस्य स्वयं अभक्त क्यों न हों! महाराज प्रह्लाद भगवान् के महान् भक्त थे, लेकिन उनका पिता हिरण्यकशिपु घोर नास्तिक तथा घोषित रूप से भगवान् का शत्रु था। किन्तु इतना सारा होते हुए भी, हिरण्यकशिपु को मोक्ष प्रदान किया गया, क्योंकि वह महाराज प्रह्लाद का पिता था। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्त के परिवारजनों को सारी सुरक्षा प्रदान करते हैं, जिससे भक्त को अपने परिवार के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यहाँ तक कि चाहे भक्ति करने के लिए वह ऐसे सदस्यों को छोड़ भी दे। महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाई कुन्ती के पुत्र थे और कुन्ती कृष्ण की बुआ थीं। महाराज परीक्षित महान् पाण्डवों के एकमात्र पौत्र होने के कारण, भगवान् कृष्ण का संरक्षण स्वीकार करते हैं।

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।

नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—अन्यथा; ते—आपका; अव्यक्त-गते:—अदृश्य गतिविधियों वाले का; दर्शनम्—मिलाप, भेंट; नः—हमारे लिए; कथम्—कैसे; नृणाम्—लोगों का; नितराम्—विशेष रूप से; म्रियमाणानाम्—मरणासन्नों का; संसिद्धस्य—परम पूर्ण का; वनीयसः—स्वेच्छा से प्राकट्य।

अन्यथा (भगवान् कृष्ण की प्रेरणा के बिना) यह कैसे सम्भव है कि आप स्वेच्छा से यहाँ प्रकट हुए, जबकि आप सामान्य लोगों से ओझल रहकर विचरण करते हैं और हम मरणासन्नों को दृष्टिगोचर नहीं होते।

तात्पर्य : निश्चित ही महर्षि शुकदेव गोस्वामी भगवान् कृष्ण द्वारा प्रेरित होकर महान् भगवद्भक्त महाराज परीक्षित के समक्ष स्वेच्छा से प्रकट हुए थे, जिससे उन्हें श्रीमद्भागवत की शिक्षा दे सकें। मनुष्य अपने गुरु तथा भगवान् की कृपा से ही भगवान् की भक्ति के सार को प्राप्त कर सकता है। गुरु भगवान् के व्यक्त प्रतिनिधि होते हैं, जो उसे अन्तिम सफलता प्राप्त करने में सहायता करते हैं। जिसे भगवान् अधिकार नहीं देते, वह गुरु नहीं बन सकता। श्रील शुकदेव गोस्वामी प्रधिकृत गुरु थे, अतएव

भगवान् ने उन्हें प्रेरणा दी कि वे महाराज परीक्षित के समक्ष प्रकट हों तथा उन्हें *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाएँ दें। मनुष्य यदि भगवान् के भेजे गये प्रधिकृत प्रतिनिधि का कृपापात्र होता है, तो वह भगवद्धाम जाने की चरम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्योंही भगवद्भक्त की भेंट भगवान् के असली प्रतिनिधि से होती है, त्योंही वह इस शरीर को त्यागने के बाद भगवद्धाम जाने की गारंटी पा जाता है। किन्तु यह भक्त की खुद की निष्ठा पर निर्भर करता है। भगवान् सभी जीवों के हृदयों में विद्यमान हैं, अतएव वे हर व्यक्ति की गतिविधियों से अवगत रहते हैं। ज्योंही भगवान् देखते हैं कि कोई जीव भगवद्धाम जाने के लिए अत्यधिक उत्सुक है, तो भगवान् तुरन्त ही अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार निष्ठावान भक्त का भगवद्धाम जाना सुनिश्चित हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि प्रामाणिक गुरु की सहायता प्राप्त करने का अर्थ है, *साक्षात् भगवान् से प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करना।*

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।

पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; पृच्छामि—पूछता हूँ; संसिद्धिम्—पूर्णता का मार्ग; योगिनाम्—सन्तों का; परमम्—परम; गुरुम्—गुरु; पुरुषस्य—पुरुष का; इह—इस जीवन में; यत्—जो भी; कार्यम्—कर्तव्य; म्रियमाणस्य—मरणासन्न का; सर्वथा—सब प्रकार से।

आप महान् सन्तों तथा भक्तों के गुरु हैं। अतएव मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप सारे व्यक्तियों के लिए और विशेष रूप से जो मरणासन्न हैं, उनके लिए पूर्णता का मार्ग दिखलाइये।

तात्पर्य : जब तक कोई पूर्णता के मार्ग के विषय में पूछने के लिए पूरी तरह उत्सुक न हो, तब तक गुरु के पास जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। गुरु, गृहस्थ के लिए अलंकरण स्वरूप नहीं होते। सामान्यतया फैशनपरस्त भौतिकतावादी बिना किसी लाभ के तथाकथित गुरु नियुक्त कर लेता है। ऐसा छद्म-रूप गुरु तथाकथित शिष्य की चापलूसी करता है और निःसन्देह इस तरह गुरु तथा शिष्य दोनों ही नरक को जाते हैं। महाराज परीक्षित अच्छे शिष्य थे, क्योंकि वे सबों के लिए और विशेष रूप से मरणासन्न के लिए लाभप्रद प्रश्न पूछते हैं। महाराज परीक्षित द्वारा पूछा गया प्रश्न *श्रीमद्भागवत* के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का मूल सिद्धान्त है। अब हमें देखना है कि महान् गुरु कितनी बुद्धिमत्तापूर्वक इसका उत्तर देते हैं।

यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; श्रोतव्यम्—सुनने योग्य; अथो—इससे; जप्यम्—उच्चरित; यत्—जो भी; कर्तव्यम्—किया गया; नृभिः—सामान्यजनों द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; स्मर्तव्यम्—स्मरण करने योग्य; भजनीयम्—पूजा के योग्य; वा—अथवा; ब्रूहि—कृपया बताएँ; यद् वा—जो कुछ भी हो; विपर्ययम्—सिद्धान्त के विरुद्ध।

कृपया मुझे बतायें कि मनुष्य को क्या सुनना, जपना, स्मरण करना तथा पूजना चाहिए और यह भी बतायें कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए। कृपा करके मुझे यह सब बतलाइए।

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—क्योंकि; भगवतः—आपका, जो शक्तिमान हैं; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; गृहेषु—घरों में; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों का; न—नहीं; लक्ष्यते—देखे जाते हैं; हि—निश्चित ही; अवस्थानम्—ठहराव; अपि—भी; गो-दोहनम्—गाय की दुहाई; क्वचित्—विरले ही।

हे शक्तिसम्पन्न ब्राह्मण, कहा जाता है कि आप लोगों के घर में मुश्किल से उतनी देर भी नहीं रुकते हैं, जितनी देर में गाय दुही जाती है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम में, सन्त तथा मुनि, गृहस्थ के घर प्रातःकाल गौवें दुहते समय जाते हैं और अपने उदर-पोषण के लिए कुछ दूध माँगते हैं। गाय का धारोष्ण एक सेर दूध एक प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर-पोषण के लिए पर्याप्त होता है। यह सभी विटामिनों से युक्त होता है, अतएव सन्त तथा मुनि केवल दूध पीकर जीवित रहते हैं। गरीब से गरीब गृहस्थ भी, कम से कम दस गौवें रखता है और प्रत्येक गाय कम से कम १२ से २० क्वार्ट दूध देती है, अतएव कोई भी साधुओं के लिए कुछ सेर दूध देने में हिचक नहीं दिखाता। यह गृहस्थों का कर्तव्य है कि बच्चों की भाँति वे संतों तथा मुनियों का पालन करें। इस तरह शुकदेव गोस्वामी जैसे सन्त को किसी गृहस्थ के द्वार पर प्रातःकाल पाँच मिनट से अधिक नहीं रुकना होता। दूसरे शब्दों में, ऐसे सन्त गृहस्थों के घरों में विरले ही देखे जाते हैं, इसीलिए महाराज परीक्षित ने उनसे प्रार्थना की कि जितनी जल्दी हो सके वे उपदेश दें। गृहस्थों को भी इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वे द्वार पर आये हुए मुनि से कुछ दिव्य संदेश प्राप्त कर लें।

गृहस्थ को सन्त से यह नहीं कहना चाहिए कि वे उस चीज के विषय में उपदेश दें; जो बाजार में भी मिलता हो। सन्तों तथा गृहस्थों में पारस्परिक आदान-प्रदान का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए।

सूत उवाच

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा ।

प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; आभाषितः—बोले जाने पर; पृष्टः—तथा पूछे जाने पर; सः—वे; राज्ञा—राजा द्वारा; श्लक्ष्णया—मीठी; गिरा—भाषा से; प्रत्यभाषत—उत्तर देना प्रारम्भ किया; धर्म-ज्ञः—धर्म के सिद्धान्तों को जाननेवाले; भगवान्—शक्तिमान पुरुष; बादरायणिः—व्यासदेव के पुत्र ने।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : इस तरह मीठी भाषा का प्रयोग करते हुए राजा ने बातें कीं तथा प्रश्न किये। तब व्यासदेव के पुत्र जो महान् तथा शक्तिसम्पन्न पुरुष एवं धर्मवेत्ता थे, उन्होंने उत्तर देना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत 'शुकदेव गोस्वामी का प्रकट होना' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।